भारतीय तथा पाश्चात्य रंगमंच

हिन्दी समिति ग्रन्थमाला---८७

भारतीय तथा पाश्चात्य रंगमंच

लेखक

पं० सीताराम चतुर्वेदी

हिन्दी समिति

सूचना विभाग, उत्तर प्रदेश

लखनऊ

प्रकाशक
हिन्दी समिति, सूचना विभाग
लखनऊ

प्रथम संस्करण : सन् १९६४
मूल्य रु० २२.५०

मुद्रक
सम्मेलन मुद्रणालय
प्रयाग

प्रकाशकीय

अभिनय या रूपक की प्रवृत्ति मनुष्य में अनादि काल से पायी जाती है। इसकी सम्यक् व्यवस्था हेतु भारत में भरत मुनि द्वारा नाट्यशास्त्र की रचना की गयी, जिसने इस विषय के परवर्ती आचार्यों और नाटककारों को प्रभावित किया। देश, काल और परिस्थितियों के अनुसार नये-नये नाट्य-प्रयोगों द्वारा रंगमंच का विकास हुआ। रंगमंच की भावात्मक, तथ्यात्मक, प्रतीकात्मक तथा रीतिवादी शैलियाँ सामने आयीं और आवश्यकतानुसार भाँति-भाँति की रंगशालाओं का निर्माण होता गया। नाट्य-शाला की समस्याओं को प्रत्येक सभ्य देश ने अपने-अपने ढंग से हल किया और आधु-निक काल के वैज्ञानिक उपकरणों ने तो रंगमंच के बाह्य एवं आभ्यन्तर रूपों का कायापलट ही कर दिया। आज हर प्रगतिशील देश में युग और परंपराओं का ध्यान रखते हुए रंगमंच की रचना हो रही है।

भारतीय नाटकों और नाटककारों की अपनी विशिष्ट परम्परा है। वस्तुतः हमारे प्राचीन नाटक भी हमारी सनातन संस्कृति की देन हैं। अतीत के पर्वोत्सवों या राजदरबारों में नाटकों के खेले जाने के प्रमाण उपलब्ध हैं; किन्तु यह पता नहीं चलता कि प्राचीन काल में यूनान या रोम जैसी रंगशालाएँ भारत में थीं या नहीं। जो हो, आज के स्वातंत्र्य-युगीन भारतीय समाज के अनुकूल लाक-मनोरंजन के लिए उपयुक्त नाटकों और रंगशालाओं की अपेक्षा स्वयंसिद्ध है। स्वदेश के आर्थिक विकास के साथ-साथ हमें उसके सामाजिक एवं सांस्कृतिक विकास के लिए भी मार्ग प्रशस्त करना है ताकि वह संसार के किसी भी प्रगतिशील देश से पीछे न रहे।

प्राच्य एवं पाश्चात्य नाट्यकला-मर्मज्ञ पं० सीताराम चतुर्वेदी ने प्रस्तुत ग्रंथ की सर्वांग-संपन्न रचना कर इस दिशा में सराहनीय योग दिया है। इसमें भारतीय तथा पाश्चात्य नाट्यशास्त्र एवं रंगमंच का विशद विवेचन हुआ है। विभिन्न नाट्य-कौशलों, रंग-सामग्रियों और अभिनय-पद्धतियों का सचित्र परिचय देकर उन्होंने

विषय को सरल, सरस और आकर्षक बना दिया है। आशा है, इसके अध्ययन से साहित्य के विद्यार्थियों तथा रंगमंच और अभिनय-कला में अभिरुचि रखने वाले जिज्ञासुओं का समान हित होगा, साथ ही नाटककारों और अभिनेताओं को अपने कर्तव्यों की समुचित प्रेरणा मिलेगी। हिन्दी समिति चतुर्वेदीजी के इस ग्रंथ को प्रकाशित कर गौरव का अनुभव करती है।

ठाकुरप्रसाद सिंह
सचिव, हिन्दी समिति

आकाश-भाषित

विधाता की इस विभूतिमयी विश्वभूति में जितनी विविधताएँ विद्यमान हैं उन सबका सुन्दर और सुव्यवस्थित समन्वय यदि कहीं एक स्थान पर प्राप्त होता है तो वह नाट्य में ही। भरत ने अपने नाट्यशास्त्र में इसी लिए कहा है कि कोई शास्त्र, शिल्प, विद्या, कला, योग और कर्म नहीं है जो नाट्य में प्रदर्शित न किया जा सके। इतने व्यापक ज्ञानक्षेत्र की विविधताओं के अक्षय्य भाण्डार से पूर्ण सर्वसमन्वित शास्त्र को एक ग्रंथ की परिधि में प्रस्तुत कर देना साधारण बुद्धि और सामर्थ्य का कार्य नहीं है। लगभग १५ वर्ष पूर्व जब अभिनव नाट्यशास्त्र की रचना की गयी थी और उसका सिद्धान्त प्रकरण अभिनव नाट्यशास्त्र के प्रथम खण्ड के रूप में प्रकाशित किया गया था उसी समय यह संकल्प भी किया गया था कि इस ग्रंथ का दूसरा भाग भी शीघ्र प्रकाशित किया जायगा, जिसमें नाट्य के प्रायोगिक रूप का विस्तार से वर्णन करते हुए नाट्य-प्रयोक्ता, नाटक के अवसर, अवसर-योग्य नाटक, नट या अभिनेता के गुण-दोष, नटों की शिक्षा अर्थात् अभिनय-कला, संगीत-प्रयोक्ता, संगीत के तत्त्व, संगीत की शिक्षा, प्रेक्षागृह-निर्माण, नेपथ्य-गृह, रंगपीठ, व्यवस्था-प्रकोष्ठ, रंग-व्यवस्थापक, दृश्य-प्रयोग, नेपथ्य-व्यवस्थापक, नेपथ्यकर्म (मुखराग), परिधान, रंग-प्रदीपन, विज्ञापन, प्रवेश-व्यवस्था, उपवेशन-व्यवस्था, प्रेक्षकों के संस्कार, रसमीमांसा, नाट्यसमीक्षा तथा संसार के प्रसिद्ध नट और नाट्यकार शीर्षक अध्यायों में नाट्य प्रयोगों की प्राचीन और नवीन पद्धतियों का विस्तृत विवेचन किया जायगा। किन्तु दैव-संयोग ऐसा हुआ कि इतने विस्तृत ग्रन्थ के लिए जितनी साधना और जितने साधन आवश्यक थे उनका संग्रह नहीं हो पाया। यों भी प्रायोगिक ग्रन्थ के लिए केवल शब्द सहायक सिद्ध नहीं होते, क्योंकि प्रत्येक क्रिया को यदि प्रत्यक्ष नहीं तो चित्र के द्वारा ही साध्य करने का प्रयत्न अपरिहार्य हो जाता है। ऐसी स्थिति में ग्रन्थ लगभग अधूरा पड़ा रहा।

इधर उत्तर प्रदेश सरकार की हिन्दी समिति ने मुझसे अनुरोध किया कि मैं उसके लिए 'भारतीय तथा पाश्चात्य रंगमंच' पर ग्रन्थ लिखकर दूँ। फलतः कुछ वर्ष पूर्व बनायी हुई योजना में स्वभावतः अन्तर करना पड़ा, क्योंकि यह ग्रन्थ अब अभिनव नाट्यशास्त्र का द्वितीय खण्ड न होकर स्वतः पूर्ण ग्रन्थ के रूप में प्रस्तुत करणीय था।

स्वभावतः इस ग्रन्थ का क्षेत्र विस्तृत भी था, क्योंकि भारतीय अथवा पौरस्त्य तथा पाश्चात्य रंगशाला, नाट्य-पद्धति, प्रयोग-पद्धति तथा तत्सम्बद्धित सभी कलाओं और कौशलों का परिचय भी देने के लिए बाध्य होना पड़ा। विशेषतः इसलिए भी कि उसका मुझे प्रत्यक्ष, प्रायोगिक और स्वयंसिद्ध ज्ञान है।

भगवान् विश्वनाथ स्वयं नटराज हैं। उन्हीं की कृपा से उन्हीं का यह प्रसाद आज महाशिवरात्रि के दिन सम्पन्न हो पाया है। अपनी समझ में विश्व भर में व्याप्त नाट्य-शैलियों में कोई ऐसी पद्धति या प्रवृत्ति अथवा उसका कोई अंग ऐसा नहीं बच पाया है जिसका यहाँ उचित मात्रा में विवेचन न किया गया हो, फिर भी कुछ अंगों का छूट जाना असंभव भी नहीं है। मुझे बड़ी प्रसन्नता होगी यदि उनकी ओर मेरा ध्यान आकृष्ट किया जायगा।

मैं उत्तर प्रदेश सरकार की हिन्दी समिति का हृदय से आभारी हूँ जिसकी सत्प्रेरणा से यह ग्रन्थ पूरा हुआ और प्रकाश में आ सका। मुझे विश्वास है कि नाट्यशास्त्र और नाट्य-प्रयोग से सम्बन्ध रखने वाली कोई ऐसी जिज्ञासा शेष नहीं रह गयी है जिसका उचित समाधान इस ग्रन्थ में न कर दिया गया हो। इस दृष्टि से यह ग्रन्थ केवल नाटककार, नाट्य-प्रयोक्ता, अभिनेता, नेपथ्य-व्यवस्थापक, रंगशाला-निर्माता, संगीत-प्रयोक्ता और रंगदीपनकार के ही लिए नहीं वरन् दर्शक और नाट्य-समीक्षक के लिए भी उतना ही उपयोगी सिद्ध होगा।

—सीताराम चतुर्वेदी

विषय-सूची

चित्र-सूची

चित्र	परिचय	पृष्ठ

अध्याय १

प्रस्तावना

केवल भारतवर्ष में ही नहीं वरन् विश्व के सभी सभ्य देशों में नाटक सदा से लोकानुरंजन का प्रमुख साधन रहा है। वाङमय के विभिन्न रूपों में नाटक ही सर्वश्रेष्ठ माना गया है। इसी लिए कहा गया है—

काव्येषु नाटकं रम्यम्

[काव्य के सब रूपों में नाटक ही सबसे अधिक रमणीय है] और उसका कारण यह है कि नाटक में काव्य के अतिरिक्त गीत, वाद्य, नृत्य, नृत्त, आलेख्य, वेश-विन्यास, दृश्य, अभिनय आदि अनेक कलाओं का एक साथ रस मिलने के अतिरिक्त काव्यानन्द भी प्राप्त होता चलता है। सब प्रकार की रुचिवाले लोग नाटक से समान आनन्द प्राप्त कर लेते हैं, इसी लिए महाकवि कालिदास ने अपने 'मालविकाग्निमित्र' नाटक के प्रथम अंक में नाट्याचार्य गणदास से नाटक की प्रशंसा में कहलाया है—

नाट्यं भिन्नरुचेर्जनस्य बहुधाप्येकं समाराधनम्।

[भिन्न रुचिवाले लोगों के लिए प्रायः नाटक ही ऐसा मनोरंजन है जिसमें सबको समान रूप से आनन्द मिलता है।]

शारदातनय ने अपने 'भावप्रकाशन' के अष्टम अधिकार में विस्तार से बताया है कि सब प्रकार के लोगों को नाट्य से किस प्रकार आनन्द मिलता है। उसने कहा है—

लोग अनेक रुचि और स्वभाव के होते हैं और इसी मानव-स्वभाव के आधार पर नाट्य की रचना भी की जाती है। इसी लिए लोग अपना-अपना काम करते हुए भी नाटक में अपने शिल्प, श्रृंगार, व्यवसाय, क्रिया और वाणी सब कुछ पा लेते हैं। यही कारण है कि कामी, चतुर, सेठ, विरागी, शूर, ज्ञानी, बड़े-बूढ़े लोग, रस और भाव के पारखी गुणी-जन, यहाँ तक कि बालक, मूर्ख और स्त्रियों को भी नाट्य में रस मिलता है, क्योंकि नाटक में उन्हें भी अपनी-अपनी रुचि के अनुसार **सामग्री** मिल जाती है। तरुणों को काम-विलास की बातों में, चतुर लोगों को नीति की बातों में, धनिकों

को द्रव्योपार्जन की बातों में, विरागियों को मोक्ष की बातों में, वीरों को बीभत्स, रौद्र और युद्ध की बातों में, बड़े-बूढ़ों को धर्म की कथाओं में और विद्वानों को सब प्रकार की सात्त्विक बातों में आनन्द मिलता है, यहाँ तक कि बालक, मूर्ख तथा स्त्रियों को हँसी-विनोद की बातें सुनने और नटों की वेश-भूषा देखने से ही आनन्द प्राप्त हो जाता है।

इस आनन्द-प्राप्ति का कारण यह है कि प्रत्येक मनुष्य को, चाहे वह बालक हो या वृद्ध, अद्भुत वस्तु देखने तथा दूसरों का अनुकरण करते देखने में बड़ा रस मिलता है। नाटक का दृश्य होना ही उसका सबसे बड़ा आकर्षण है, क्योंकि उसमें केवल कथा का ही आनन्द नहीं मिलता वरन् पात्रों और दृश्यों के द्वारा वह कथा भी प्रत्यक्ष हो जाती है। कुछ लोगों ने नाटक को केवल उपदेश का साधन माना है। ऐसे अरसिकों की चुटकी लेते हुए 'दशरूपक' के प्रारम्भ में धनंजय ने कहा है—

आनन्दनिष्यन्दिषु रूपकेषु व्युत्पत्तिमात्रं फलमल्पबुद्धिः।
योऽपीतिहासादिवदाह साधुस्तस्मै नमः स्वादुपराङ्मुखाय॥ १।६

[जो भला आदमी आनन्द बरसाने वाले रूपकों (नाटकों) का फल केवल यही बतलाता है कि इनसे इतिहास आदि पढ़ने के फल के समान केवल ज्ञान भर मिलता है, उस अरसिक को दूर से ही नमस्कार है।]

नन्दिकेश्वर ने तो अपने अभिनयदर्पण में नाट्य की उत्पत्ति के प्रसंग में नाट्य के आनन्द को ब्रह्मानन्द से भी बढ़कर बताते हुए कहा है—'ब्रह्माजी ने ऋग्वेद से पाठ्य, यजुर्वेद से अभिनय, सामवेद से गीत और अथर्ववेद से रसों का संग्रह करके यह धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष देनेवाला ऐसा नाट्य-शास्त्र बनाया, जिससे कीर्ति, वाक्-चातुर्य और विद्वत्ता बढ़ती है; उदारता, स्थिरता, धैर्य और विलास उत्पन्न होता है; दुःख, पीड़ा, शोक, असन्तोष और जी की जलन मिट जाती है तथा ब्रह्मानन्द से भी अधिक आनन्द प्राप्त होता है। नहीं तो भला ब्रह्मानन्द का अनुभव कर चुकने वाले नारद जैसे बड़े-बड़े देवर्षियों के मन को यह नाट्य कैसे मोहित कर पाता?'

यद्यपि मनोरंजन और आनन्द नाटक का प्रधान और प्रत्यक्ष उद्देश्य है, फिर भी इससे उपदेश भी मिलता है और मन को शान्ति भी, इसी लिए नाट्य को '**विनोद-जननं लोके**' (संसार में विनोद उत्पन्न करने वाला) बताने से पूर्व ब्रह्माजी ने नाट्य-वेद का उद्देश्य बताते हुए कह दिया था—'धैर्य, क्रीड़ा, सुख आदि देने वाला यह नाट्य सब रसों, भावों और क्रियाओं के द्वारा सबको उपदेश देनेवाला होगा। दुखी, थके हुए, शोकाकुल तथा तपस्वी सबके मन को इस नाट्य से परम शान्ति मिलेगी, नाट्य से

लोगों में धर्म, यश, आयु, कल्याण और बुद्धि भी बढ़ेगी तथा लोगों को उपदेश भी मिलेगा।' इसका कारण यह है कि जब हम अपनी लौकिक चिन्ताओं से मुक्त होकर अपने सम्मुख रंगमंच पर जीवन की विभिन्न अवस्थाओं का मूर्त अभिनय देखते हैं तब हमारा हृदय रंगमंच पर अभिनय करनेवाले नटों तथा उनके अभिनय से इतना विभावित हो जाता है कि हमारी चिन्ताएँ शान्त हो जाती हैं और हम तन्मय होकर उस अभिनय में रस लेने लगते हैं। केवल इतना ही नहीं, इस आनन्द और रस के साथ-साथ हम अव्यक्त रूप से अपने चरित्र, स्वभाव तथा अपनी वृत्तियों का सुधार और परिष्कार भी करते चलते हैं। इस विभावन का परिणाम यह होता है कि दर्शक किसी प्रकार का बौद्धिक विचार या तर्क-वितर्क किये बिना ही स्वयं सात्त्विक रूप से अपने आचार और विचार का संस्कार करता हुआ यह बोध करता चलता है कि हमें अमुक व्यवहार, अमुक परिस्थिति में, अमुक प्रकार से करना चाहिए और अमुक कार्य, अमुक परिस्थिति में, अमुक प्रकार से नहीं करना चाहिए। काव्य-शास्त्र की दृष्टि से इस प्रकार के विभावन से जो आत्म-संस्कार होता है वह 'कान्ता-सम्मित उपदेश' कहलाता है। ये उपदेश नाटक में होनेवाली घटनाओं और पात्रों की क्रियाओं के परिणाम-स्वरूप अपने आप दर्शक या सामाजिक के चरित्र में बिना अध्यवसाय के घुलते-मिलते बैठते चले जाते हैं।

नाटक दृश्य काव्य है। दृश्य काव्य का अर्थ है वह काव्य जो देखा जा सके। दृश्य काव्य को देखे जा सकने योग्य बनाने के लिए ऐसा स्थान चाहिए जहाँ उसे इस व्यवस्थित रूप से प्रस्तुत किया जा सके कि नाटक का उद्देश्य स्पष्ट रूप से सिद्ध हो सके, दर्शक उस नाटक के काव्यत्व और उससे समुद्भूत रस का आनन्द ले सकें, उनका मनोरंजन और मानसिक विभावन हो सके। नाटक की इस वृत्ति का उद्देश्य पूर्ण करने के लिए ही रंगशाला की स्थापना की गयी और नाटक के इस अद्‌भुत, स्वाभाविक तथा महत्त्वपूर्ण प्रभाव को देखकर ही विश्व के सभी सभ्य देशों में केवल मनोरंजन के लिए ही नहीं वरन् शिक्षा के लिए भी रंगशालाओं की स्थापना की जाने लगी।

यूरोप में सोलहवीं और सत्रहवीं शताब्दी में धार्मिक और नैतिक प्रचार के लिए गिरजाघरों की ओर से नाटकों का प्रचलन हुआ और रहस्यमय तथा नैतिक नाटक खेले जाने लगे। आजकल के मनोवैज्ञानिक लोग मानते हैं कि नाटक ऐसा बहु-कौशल-समन्वित खेल है जिसमें शिक्षा, ज्ञानार्जन, उपदेश और नैतिक संस्कार सभी की सम्भावनाएँ भरी हुई हैं, इसी लिए सभी प्रगतिशील देशों के विद्यालयों के या तो सभा-भवन में रंगमंच बना होता है या उनकी अपनी रंगशालाएँ होती हैं जहाँ वे समय-समय पर नाटक खेलते हैं।

हमारे देश में नाटकों के समुचित विकास और नाट्य साहित्य के उचित संवर्धन न होने का कारण यही रहा है कि हमारे यहाँ व्यवस्थित रंगशालाओं का बड़ा अभाव रहा है। इस दिशा में जो कुछ कार्य हुआ भी वह सब अंग्रेज़ी या यूरोपीय रंगशालाओं और नाट्य पद्धतियों के अनुकरण पर हुआ। किन्तु अब हमारा देश स्वतंत्र हो गया है और हमारे यहाँ सांस्कृतिक कार्यक्रमों में नाटक का समावेश होने लगा है। फिर भी आदर्श रंगशाला कैसी हो, उसमें किस प्रकार अभिनेताओं को शिक्षा दी जाय, किस प्रकार अभिनय-कला सिखायी जाय, किस प्रकार प्रेक्षा-गृह का निर्माण किया जाय, किस प्रकार रंगपीठ का निर्माण हो, दृश्य-विधान का क्या रूप हो, नेपथ्य-कर्म किस प्रकार प्रभावशाली बनाया जाय, रंग-प्रदीपन किस रीति से व्यवस्थित हो, संगीत-योजना किस प्रकार की जाय, विभिन्न रुचि और वृत्ति के प्रेक्षकों को किस प्रकार संतुष्ट और सुसंस्कृत किया जाय, नाटक की समीक्षा-पद्धति को किस प्रकार अधिक हितकर और सशक्त बनाया जाय और रंगशालाओं की व्यवस्था किस प्रकार सुन्दर की जाय, इस सम्बन्ध में व्यवस्थित रूप से विचार नहीं किया गया। फिर भी भरत तथा अन्य नाट्यशास्त्रियों ने इसके विभिन्न विषयों पर इतने विस्तार से विचार किया है कि अन्य किसी भी देश में उतनी सूक्ष्मता और विशदता के साथ विचार नहीं हुआ है। इसलिए इस ग्रंथ में रंगशाला से और रंगशाला पर नाटक प्रस्तुत करने के व्यवहार से सम्बन्ध रखनेवाले सभी विषयों पर संसार भर में जितना कुछ लिखा या विचार किया गया, व्यवहृत किया गया और प्रयोग किया जा रहा है, उस सबका सूक्ष्म और विस्तृत विवरण दिया जा रहा है, जिससे रंगशाला, अभिनय और नाट्य-शास्त्र में रुचि रखने वाले प्रत्येक व्यक्ति की जिज्ञासा तृप्त हो सके।

अध्याय २

नाट्य की उत्पत्ति

यद्यपि नाट्यशास्त्र को पंचम वेद बताया गया है (**नाट्यस्तु पंचमो वेदः**) और नाट्यशास्त्र के अनुसार इस पंचम वेद की रचना भी ब्रह्माजी ने ही अन्य वेदों से सामग्री लेकर की, तथापि शुक्ल यजुर्वेद की वाजसनेयी संहिता के तीसवें अध्याय में पुरुषमेध (पुरुष रूप परमात्मा के लिए यज्ञ) प्रकरण में यह विवरण आया है कि यज्ञ के समय किस प्रकार के कार्य के लिए किसे नियुक्त किया जाय। उसी प्रसंग में, छठी कंडिका में यह मंत्र आया है—

नृत्ताय सूतं गीताय शैलूषं धर्म्माय सभाचरन्नरिष्ठायै
भीमलन्नर्म्माय रेभं हसाय कारिमानन्दाय स्त्रीषखम्प्रमदे
कुमारीपुत्रम्मेधायै रथकारन्धैर्य्याय तक्षाणम्॥

[नृत्त (ताल-लय के साथ नाचने) के लिए सूत को, गीत के लिए शैलूष (नट) को, धर्म की बातें बताने के लिए सभा-चतुर व्यक्ति को, सबको ठीक से बैठाने के लिए लम्बे-चौड़े जवान को, लोगों के विनोद के लिए वाक्चतुर को, शृंगार की बातों के लिए कलाकार को, आनन्द के लिए नपुंसकों को, समय बिताने के लिए कुमारीपुत्र को, चतुराई के कामों के लिए रथकार को और धीरज से काम करने के लिए बढ़ई को नियुक्त करना चाहिए।]

इसका अर्थ यह है कि आज से सहस्रों वर्ष पूर्व वैदिक काल में भी नाटक अपने पूर्ण विस्तार के साथ हमारे देश में विद्यमान था और यहाँ नाटक के प्रयोग होते थे।

भरत ने अपने नाट्यशास्त्र के पहले ही अध्याय में नाट्य की उत्पत्ति का विवरण देते हुए बतलाया है—

एक दिन नाट्य का मर्म जाननेवाले भरतजी पूजा-पाठ से निवृत्त होकर अपने पुत्र-पौत्रों से घिरे हुए अवकाश मना रहे थे। उसी दिन आत्रेय आदि तपस्वी और बुद्धिशाली मुनि लोग उनके पास आकर पूछने लगे—हे ब्रह्मन्! आपने जो वेद-सम्मत नाट्य-वेद का सम्पादन किया है वह क्यों और किसके लिए रचा गया है, उसके कितने

अंग हैं? उसका क्या प्रमाण है और उसका प्रयोग किस प्रकार किया जाता है? उनके उत्तर में भरत मुनि ने बताया—स्वायंभुव मनुवाला कलियुग बीतने और वैवस्वत मनु के त्रेतायुग प्रारम्भ होने के समय संसार में ऐसी अव्यवस्था छा गयी कि सब लोग बुरे-बुरे काम करने लगे तथा काम, क्रोध, लोभ, मोह, ईर्ष्या आदि में फँसे हुए किसी-किसी प्रकार सुख-दुःखमय जीवन बिताने लगे। इसी बीच लोकपालों से भली प्रकार पाले जानेवाले इस जम्बू-द्वीप पर देव, दानव, गन्धर्व, यक्ष और महोरगों ने धावा बोलकर इस पर अधिकार जमा लिया। उन्हीं दिनों इन्द्र आदि देवताओं ने ब्रह्माजी से जाकर कहा **'क्रीडनीयकमिच्छामो दृश्यं श्रव्यं च यद् भवेत्।'** [हम कोई ऐसा खेल चाहते हैं जो सुना भी जा सके और देखा भी जा सके] अतः आप एक ऐसा पाँचवाँ वेद बनाइए जिसमें सब वर्णों के लोग सम्मिलित होकर आनन्द ले सकें, क्योंकि जितने वैदिक उत्सव हैं उनका आनन्द शूद्र नहीं ले पाते। यह प्रस्ताव स्वीकार करके और इन्द्र को बिदा देकर तत्त्व जाननेवाले ब्रह्माजी ने समाधि लगाकर चारों वेदों का स्मरण करके संकल्प किया कि मैं इतिहास से युक्त ऐसा नाट्य नामक वेद बनाता हूँ जिससे धर्म, अर्थ और यश की प्राप्ति होगी, जिसमें सुन्दर उपदेश भरे होंगे, आगे होनेवाले संसार के सब कार्यों को भी अनुकरण करके दिखाया जा सकेगा, सब शास्त्रों के तत्त्व भरे होंगे और संसार के सभी शिल्पों का प्रदर्शन हो सकेगा। यह संकल्प करके उन्होंने ऋग्वेद से पाठ्य या बोलने का अंश, सामवेद से गीत, यजुर्वेद से अभिनय और अथर्ववेद से शृंगार आदि रस लिये। इस प्रकार ब्रह्माजी ने वेद और उपवेदों से सम्बन्ध रखनेवाला सभी सुन्दरताओं से भरा हुआ यह नाट्य वेद बनाया।

धनंजय ने अपने 'दशरूपक' के प्रारम्भ में नाट्यवेद की महत्ता प्रतिपादित करते हुए प्रसंग से यह भी बता दिया है कि इस नाट्यवेद को पूर्ण करने में और किस-किस ने योग दिया—

'सम्पूर्ण वेदों का तत्त्व निकालकर ब्रह्माजी ने जिस नाट्यवेद की रचना की, भरत जी ने जिसका प्रयोग या अभिनय कराया, महादेवजी ने जिसमें ताण्डव या उद्धत नृत्य और पार्वतीजी ने जिसमें लास्य या कोमल नृत्य जोड़ा, उस नाट्यवेद के पूरे लक्षण भला कौन कह सकता है?'

शारदातनय ने ग्यारहवीं शताब्दी में रचे हुए अपने ग्रंथ 'भावप्रकाशन' के दशम अधिकार में संगीत की उत्पत्ति के प्रसंग में नाट्यवेद की उत्पत्ति और उसके विकास का नये ढंग से परिचय देते हुए बताया है—'अत्यन्त प्राचीन काल में स्वायंभुव मनु ने अपने पिता सूर्य से कोई मनोविनोद का साधन पूछा। इस पर सूर्य ने उन्हें बताया कि सृष्टि कर चुकने पर ब्रह्माजी ने भी महाविष्णु से यही प्रार्थना की थी। महाविष्णु ने उन्हें

शिवजी के पास भेज दिया। शिवजी ने अपने गण नन्दी को पहले ही गान्धर्व विद्या सिखा दी थी इसलिए उन्होंने नन्दी को आदेश दिया कि गान्धर्व वेद के सब तत्त्व ब्रह्मा जी को बता दो। वह सीख चुकने पर ब्रह्माजी ने एक नट की कल्पना की। तत्काल पाँच शिष्यों के साथ एक मुनि वहाँ आकर प्रकट हो गये जिन्हें ब्रह्माजी ने सांगोपांग नाट्यवेद सिखा दिया। मुनि और उनके शिष्यों ने नाट्यवेद सीखकर गीत और रसों से भरे हुए अनेक नाटक दिखाकर ब्रह्माजी को प्रसन्न कर दिया। इस पर ब्रह्माजी ने उन्हें वरदान दिया कि आप लोग तीनों लोकों में भरत कहलायेंगे और यह नाट्यवेद भी आप लोगों के ही नाम पर 'भारत' कहलायेगा। यह कथा सुनकर स्वायंभुव मनु ने ब्रह्मा के रचे हुए नाट्यवेद का प्रचार करने के लिए भरतों को आज्ञा दी कि तुम लोग इसके साथ भारतवर्ष में चले जाओ। उन्होंने अयोध्या में जाकर अनेक नाटक खेले और भारत के विभिन्न प्रदेशों में नाट्यशास्त्र का प्रचार किया।'

इन सब वर्णनों से निम्नांकित महत्त्वपूर्ण तत्त्वों का ज्ञान होता है—

१—नाटक ऐसा खेल है जो देखा और सुना जा सके, पढ़ने की वस्तु नहीं है।

२—उसका प्रयोग किया जाता है अर्थात् वह दर्शकों के सम्मुख खेला जाता है जिसे सब वर्णों के लोग समान रूप से देख सकते और उसका आनन्द ले सकते हैं।

३—इसमें इतिहास से भी कथाएँ ली जाती हैं।

४—इसके द्वारा लोग धर्म, अर्थ और यश प्राप्त कर सकते हैं।

५—इसके द्वारा सुन्दर उपदेश दिये जा सकते हैं।

६—केवल भूतकाल के ही नहीं, वर्तमान और भविष्यकाल के कार्यों की कल्पना करके उनका अनुकरण भी दिखाया जा सकता है।

७—इससे सभी शास्त्रों के तत्त्वों का निरूपण और सभी शिल्पों का प्रदर्शन हो सकता है।

८—इसके चार प्रमुख अंग हैं—पाठ्य, गीत, अभिनय और रस।

९—आगे चलकर इसमें ताण्डव और लास्य नृत्य का भी संयोग हुआ है।

१०—पहले केवल पुरुष ही सब अभिनय करते थे।

यदि ऊपर दिये हुए पौराणिक आख्यानों को हम काल्पनिक भी मान लें तब भी इसमें कोई सन्देह नहीं कि नाट्य का प्रयोग हमारे देश में अत्यन्त प्राचीन काल से होता चला आया है और उसकी परम्परा कभी लुप्त नहीं हुई। वेद के अतिरिक्त सर्वप्रथम आदि-कवि महर्षि वाल्मीकि ने ही अयोध्या को 'वधूनाटक-संघैश्च संयुक्ताम्' (गणिका और नाटक-मण्डलियों से युक्त) कहा है और राम के अभिषेक के समय बताया है कि 'नटों, नर्तकों और गायकों के गीत और मनोहर वचन जनता सुन रही थी।'

महाभारत के हरिवंश पर्व में इक्यानबे से सत्तानबेवें अध्याय तक **वज्रनाभ के वध** और प्रद्युम्न के विवाह-प्रकरण में रामायण नाटक और कौबेर-रम्भाभिसार नाम के नाटक के प्रयोग का बड़ा अद्‌भुत विवरण मिलता है, यथा—श्री कृष्ण ने अपनी माया से भद्र नाम का एक नट उत्पन्न करके उसके साथ भीमवंशी यादवों को नट बनाकर वज्रनाभ के वज्रपुर में भेजा, जहाँ प्रद्युम्न ही नायक बने, साम्ब यादव विदूषक बने, गद पारिपार्श्विक बने और अन्य यादव नटी बन-बनकर रामायण नाटक खेलने लगे, जिसमें नटों ने दशरथ, ऋष्यश्रृंग, शान्ता, राम, लक्ष्मण, भरत और शत्रुघ्न का ऐसा सटीक अभिनय किया कि सब दानव-समाज विस्मित हो गया। उनकी प्रशंसा सुन-कर वज्रनाभ ने उन्हें अपने यहाँ नाटक खेलने का निमंत्रण दिया जहाँ उन्होंने कौबेर-रम्भाभिसार नाटक खेला। वह नाटक इतना सुन्दर हुआ कि दैत्यों और उनकी स्त्रियों ने अपने-अपने आभूषण तक उतारकर दे डाले।

पाणिनि ने अपनी अष्टाध्यायी में शिलाली और कृशाश्व के नट-सूत्रों का नाम लिया है, किन्तु उन सूत्रों का कोई उल्लेख नहीं मिलता। वात्स्यायन ने अपने कामसूत्र के नागरकवृत्त-प्रकरण में 'घटानिबन्धन' (मेले) पर लिखा है—'पखवाड़े या महीने के निश्चित या प्रसिद्ध पर्व के दिन सरस्वती के मन्दिर में (या विद्यालयों में) राजा की ओर से नियुक्त नटों के द्वारा नाटक या उत्सव हुआ करें।' उसी ग्रंथ के 'धूपविलेपन-घटा-प्रकरण' में कहा गया है—'बाहर से आये हुए नटों को चाहिए कि पहले दिन नागरों को अपना नाटक दिखायें और जो कुछ ठहराव हुआ हो उसे दूसरे दिन ले लें। यदि फिर भी लोग देखना चाहें तो व्यवस्था के साथ उनका खेल देखें, अन्यथा उन्हें बिदा कर दें। संकट और उत्सवों में उनके साथ वही व्यवहार करना चाहिए जो राज्य की ओर से नियुक्त नटों के साथ किया जाता है।'

कौटिल्य के अर्थशास्त्र में भी अध्यक्ष-प्रचार-अधिकरण के सत्ताईसवें अध्याय में लिखा है—'नट (अभिनय करनेवाले), नर्तक, गायक, वादक, वाग्जीवक (कथा, चुटकुले या कहानी कहकर जीविका कमानेवाले), कुशीलव (नृत्य दिखाकर गानेवाले), प्लवक (रस्सी पर चढ़कर खेल दिखानेवाले), सौभिक (ऐन्द्रजालिक नट), चारण (भाट, भाँड़, मल्ल आदि) तथा स्त्रियों के द्वारा अपनी जीविका कमानेवालों की स्त्रियों और छिपकर व्यभिचार आदि से जीविका कमानेवाली स्त्रियों के साथ भी गणिकाओं के लिए प्रयुक्त होनेवाले नियमों का व्यवहार किया जाय और यदि नट आदि की कोई मण्डली किसी दूसरे देश से नाटक या खेल दिखाने के लिए आये तो प्रत्येक खेल दिखाने का पाँच पण कर राजा को दे।'

इतना ही नहीं, अभिनय-कला तथा अन्य कलाएँ सिखाने के लिए राजा की ओर

से व्यवस्था का विधान भी अर्थशास्त्र में दिया है—'राजा को चाहिए कि गणिका, दासी तथा रंगमंच पर अभिनय करके जीविका कमानेवाली स्त्रियों को गाना, बजाना, नाचना, अभिनय करना, लिखना, चित्रकारी करना, वीणा, विशेष रीति से वेणु तथा मृदंग बजाना, दूसरे के चित्र को पहचानना, गन्ध बनाना, माला गूँथना, शरीर दबाना, साज-सज्जा करना और चौंसठ कलाएँ आदि सिखाने के लिए आचार्य नियुक्त करे और उस पर राजमण्डल (नगर या ग्रामों) से आनेवाली आय से व्यय करे।'

इन सब विवरणों से स्पष्ट है कि चाणक्य के समय में अर्थात् तीसरी शताब्दी ई० पू० में हमारे देश में नाट्य-विद्या को राजाश्रय मिला हुआ था, उसके शिक्षण की व्यवस्था थी, उसके प्रयोग व्यापक रूप से किये जाते थे, जनता की उसमें रुचि थी, नाट्य-मण्डलियाँ घूम-घूमकर नाटक करती थीं, राजा की ओर से उनका संरक्षण होता था, स्त्रियाँ भी नाटकों में भाग लेने लगी थीं, पक्के नाट्य-भवन नहीं थे, विभिन्न पर्वों और अवसरों पर तात्कालिक रंगशालाएँ बना ली जाती थीं और अनेक आचार्यों ने नट-सूत्र लिखे थे।

जैनियों के रायपसेणीय सुत्त नामक ग्रंथ में कथा आयी है कि 'जब भगवान् महावीर आमलकप्पा नगरी के अम्बसाल वन में अशोक वृक्ष के नीचे बड़ी सी काली शिला पर आकर बैठे उस समय सूर्योपदेव ने वहाँ आकर गा-बजा और नाचकर पहले वन्दना की और फिर बत्तीस प्रकार के अभिनयात्मक नाटक खेले जिनमें सागर की तरंग, चन्द्रोदय, सूर्योदय, हाथी की गति और लिपि आदि के अभिनय भी थे।' इसका अर्थ यह है कि जैनियों में महापुरुषों के समक्ष अभिनय करके उनका आदर करने की परम्परा विद्यमान थी। महावीर स्वामी के लगभग दो या सवा दो सौ वर्ष बाद भद्रबाहु स्वामी ने भी कल्पसूत्र में जड़वृत्ति साधुओं का उल्लेख करते हुए बताया है कि कोई साधु मार्ग में नटों का नाटक देखने के लिए रुक गया था। जब उससे कहा गया कि नटों का नाटक नहीं देखना चाहिए तब वह नटियों का नाटक देखने लगा। इसका अर्थ यह है कि चौथी शताब्दी ई० पू० में नटों और नटियों की अलग-अलग नाट्य-मण्डलियाँ बनी हुई थीं जो स्थान-स्थान पर नाटक किया करती थीं।

बौद्धों में भी नाटक का बड़ा सम्मान रहा है क्योंकि राजगृह में एक बार बुद्धदेव के समक्ष उनके पट्टशिष्य मौद्गलायन और उपतिष्य ने भी अभिनय करके दिखाया था। इसके पश्चात् हमें भास के नाटकों से नाटक-रचना और उनके प्रयोगों की पूरी लिखित परम्परा ही मिल जाती है। महाभाष्यकार पतंजलि ने अपने महाभाष्य में कंस-वध और बलि-वध नाटकों के प्रयोगों का संकेत दिया है। ललितविस्तर, अवदानजातक, सद्धर्मपुंडरीक आदि बौद्ध ग्रंथों में विशेष पर्वों पर नाटकों के अभिनय का स्पष्ट

'यात्राओं' में मिलता है।' कीथ ने इस मत का खण्डन करते हुए कहा है—'ये नाटकीय संवाद नहीं, वैसे ही कर्मकाण्डीय संवाद हैं जैसे ईसाई गिरजाघरों में आज भी होते हैं।' विन्टरनित्स ने इन सूक्तों को नाटक का स्थानापन्न तो नहीं पर नाटक का दूसरा रूप माना है।

अभिनव-भरत का मत है कि ये दोनों सिद्धांत भ्रामक हैं, क्योंकि नाट्य तो स्वतः चाक्षुष यज्ञ और उसका शास्त्र पंचम वेद है जिसकी पूर्णतः अलग सत्ता है। नाट्यशास्त्र के प्रारम्भ में बता भी दिया गया है कि चारों वेदों से चार तत्त्व लेकर ही नाट्य की रचना हुई। अतः वेदों को नाट्य का मूल स्रोत तो मान सकते हैं किन्तु वैदिक कर्मकाण्ड को नाटक कहना या उसके संवादों को नाटकीय बताना भ्रम है।

मैक्डौनल ने बताया है कि नट और नाटक शब्द नट् धातु से निकले हैं जो संस्कृत की नृत् (नाचना) धातु का प्राकृत या देशी रूप है। यही नाच सम्भवतः भारतीय नाटक का पूर्वरूप है जिसमें पहले नाच या शरीर-संचालन के साथ, हाथ तथा मुख के भावों का अभिनय होता रहा होगा और जिसमें फिर गीत भी जुड़ गये होंगे। इसी प्रकार नाटक के पौराणिक आविष्कर्ता का नाम भी भरत पड़ गया होगा जिसका अर्थ नट है। आज भी गुजराती में नट को 'भरोत' कहते हैं। किन्तु मैक्डौनल का यह मत भ्रामक है। संस्कृत में नट्, नृत् और णट् तीन धातुएँ हैं जिनसे क्रमशः नाट्य, नृत्य और नृत्त शब्द बने हैं और इन तीनों के अर्थ भी भिन्न हैं। **वाक्यार्थाभिनयं रसाश्रयं नाट्यम्,** 'पूरे वाक्य के अर्थ को अभिनय द्वारा प्रदर्शित करके रस उत्पन्न करने को नाट्य कहते हैं।' **पदार्थाभिनयं भावाश्रयं नृत्यम्,** 'केवल किसी शब्द के अर्थ का अभिनय करके उसका भाव प्रदर्शित करने को नृत्य कहते हैं।' **नृत्तं ताललयाश्रयम्,** 'ताल और लय के साथ हाथ-पैर चलाने को नृत्य कहते हैं।' इन तीनों शब्दों को एक दूसरे का पर्याय नहीं समझना चाहिए।

पिशेल का मत है कि 'हिन्दू नाटकों की उत्पत्ति कठपुतलियों के नाच से हुई। ये पुतलियाँ प्राचीन भारत में ऊन, लकड़ी, भैंस के सींग और हाथी-दाँत की बनी होती थीं। यहीं तक नहीं, बोलनेवाली पुतलियाँ भी रंगमंच पर लायी जाती थीं जिनका विवरण राजशेखर की बालरामायण में मिलता है। ये पुतलियाँ डोरे से चलायी जाती थीं और वह चलानेवाला 'सूत्रधार' कहलाता था। अतः नाटकों के प्रारम्भ में आनेवाला सूत्रधार शब्द ही इस बात का प्रमाण है कि पुत्तलिका-नृत्य से ही नाटक का प्रारम्भ हुआ।' पाण्डुरंग पण्डित ने भी पिशेल के इस मत का समर्थन किया है। किन्तु रिजवे ने इसका खण्डन करते हुए बताया है कि पुत्तलिका नाटक और छाया नाटक तो वास्तविक नाटक के सस्ते अनुकरणात्मक प्रदर्शन-मात्र हैं। भरत ने अपने नाट्यशास्त्र

के 'भूमिका-पात्र-विकल्प' नामक ३५वें अध्याय में सूत्रधार का वर्णन करते हुए लिखा है--'आशीर्वाद से युक्त मधुर वाक्य और मंगलाचार के साथ जिसमें सब लोगों की स्तुति हो उसे नान्दी कहते हैं। गीत, वाद्य और पात्र सबको समान रूप से जानने-वाले तथा शास्त्र के अनुसार उनका प्रयोग करनेवाले व्यक्ति को सूत्रधार कहते हैं।' सूत्र शब्द का अर्थ केवल डोरा ही नहीं है। सूत्र की व्याख्या यह की गयी है—

स्वल्पाक्षरमसंदिग्धं सारवद्विश्वतोमुखम्।
अस्तोभमनवद्यं च सूत्रं सूत्रविदो विदुः॥

[जिसमें थोड़े और निश्चित अक्षर हों, किसी सार्वभौम सिद्धांत का तत्त्व निहित हो, जिसका अर्थ स्पष्ट और निर्दोष हो उस कथन के ढंग को सूत्रज्ञाता लोगों ने सूत्र कहा है।] अतः सूत्रधार को पुतली नचानेवाला समझना बड़ा भारी भ्रम है। नञ्जराज-यशोभूषण के रचयिता 'अभिनव कालिदास' ने भी सूत्रधार का लक्षण बतलाते हुए कहा है--'नायक के गुण तथा कवि की रचना को सूत्र में वर्णन करने और रंगमंच की सजावट करने में जो चतुर हो वह सूत्रधार कहलाता है'—

आसूत्रयन् गुणान्नेतुः कवेरपि च वस्तुनः।
रंगप्रसाधनप्रौढः सूत्रधार इतीरितः॥

डाक्टर पिशेल का यह भी मत है कि मलाया, कम्बोदिया, स्याम, चीन, बरमा, जापान, अरब, लघु एशिया और उत्तरी अफ्रीका में जिन छाया-नाटकों का बड़ा प्रचार है उन्हीं से नाटकों की उत्पत्ति हुई। ल्यूडर्स और डाक्टर कोनो ने भी इसका समर्थन किया है। किन्तु संस्कृत के नाट्य-लक्षण-ग्रन्थों में छाया-नाटक का कोई विवरण प्राप्त नहीं होता। संस्कृत साहित्य में सात छाया नाटकों का विवरण मिलता है जिनमें सबसे प्राचीन **दूतांगद** है। विल्सन की कल्पना है कि छाया-नाटक वास्तव में नाटक की रूप-रेखा को कहते होंगे। प्रोफेसर लेवी ने भी बहुत संकोच के साथ यही बात मानी और पिशेल ने भी आगे चलकर छाया-नाटक को अर्ध-नाटक माना है। किन्तु एक अन्य लेख में उन्होंने बताया है कि छाया-नाटक का शुद्ध और केवल अर्थ छाया द्वारा नाटक दिखाना है। नीलकण्ठ ने महाभारत की टीका में 'रूपोपजीवनम्' की व्याख्या करते हुए इस प्रकार के नाटकीय प्रयोग का उल्लेख किया है जिसे दक्षिण में 'जलमण्डपिका' कहते हैं जिसमें एक महीन कपड़ा टाँगकर उसके पीछे चमड़े की मूर्तियों द्वारा राजाओं, मंत्रियों आदि का अभिनय दिखाया जाता था। किन्तु प्रमाण के अभाव में इस मत का कोई महत्त्व नहीं है।

डाक्टर रिजवे ने नाट्य की उत्पत्ति के सब सिद्धान्तों का खण्डन करके संस्कृत नाटक, रामलीला, रासलीला और यात्रा के उत्सवों की उत्पत्ति का सिद्धांत निकाला है कि वीरों के पराक्रमों और कष्टों की स्मृति को समाज में बने रहने देने के लिए उनकी कथाओं को नाटकीय स्वरूप दिया गया। यद्यपि डा० रिजवे ने इस मत का प्रतिपादन यूनानी त्रासदों की उत्पत्ति के सम्बन्ध में किया था पर बाद में उन्होंने उसी मत को भारतीय नाटक की उत्पत्ति के लिए भी मान लिया और भारतीय साहित्य से उदाहरण दे-देकर यही दिखलाने का प्रयत्न किया कि सब नाटकीय प्रवृत्तियों के पीछे मृत वीर पुरुषों के प्रति आदर दिखलाने की भावना है। यह मत भी भ्रामक है, क्योंकि यद्यपि नाटक में इतिहास का भी संयोग माना गया है किन्तु नाटकों के अनेक रूप काल्पनिक और पौराणिक भी होते हैं। अतः केवल वीरों के समादर को ही नाटक की उत्पत्ति मानना उचित नहीं है।

रिजवे के उपर्युक्त मत का खण्डन करते हुए कीथ ने एक विचित्र मत सुझाया है कि जाड़ा, गर्मी, वर्षा आदि प्रकृति के परिवर्तन और एक ऋतु पर दूसरी ऋतु का आधिपत्य दिखलाने के लिए नाटकों की रचना हुई। महाभाष्य में आये हुए कंस-वध नाटक की व्याख्या करते हुए उन्होंने बताया है कि उसमें कंस-रूपी हेमन्त पर कृष्ण-रूपी ग्रीष्म की विजय दिखलाकर उद्भिज्ज प्रकृति के वास्तविक जागरण का रूपकात्मक प्रदर्शन दिखलाया गया है। किन्तु स्वयं कीथ ने ही आगे चलकर इस मत को अमान्य घोषित कर दिया। कुछ विद्वानों ने नेपाल राज्य का इन्द्रध्वज महोत्सव देखकर यह सिद्धांत निकाला कि जैसे यूरोप के मेपोल नृत्य से यूनानी नाटक की उत्पत्ति हुई, उसी प्रकार इन्द्रध्वज उत्सव से भारतीय नाटक की उत्पत्ति हुई। नाट्य-शास्त्र में तो कथा ही आयी है कि महेन्द्रध्वजोत्सव के अवसर पर नाटक खेला गया। किन्तु इससे तो नाटक के अवसर का संकेत मिलता है, उसका कारण नहीं।

वेवर ने यवनी, यवनिका और शकारि शब्दों के आधार पर यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया कि भारत के हिन्दुओं ने उस समय नाट्य-कला सीखी जब यूनानियों से भारतवासियों का सम्पर्क स्थापित हुआ। विण्डिश, सिल्वाँ लेवी, डा० कीथ और ई० ब्रान्दे ने भी इसका समर्थन किया है। किन्तु भारतीय नाटकों पर यनानी नाटकों का कोई प्रभाव नहीं पड़ा, क्योंकि न तो यूनानी नाटकों के समान भारतीय नाटकों में सम-गान (कोरस) होता था, न इनमें एक-एक करके अभिनेताओं का क्रम बढ़ा, न यहाँ मुख पर मुखौटा और पैरों में ऊँची खड़ाऊँ बाँधने का प्रचलन था, न हमारी रंगशालाओं का निर्माण उनके समान था और न हमारे यहाँ भय और करुणा उत्पन्न करने वाले त्रासद और फूहड़ गीतों से भरे हुए प्रहसन ही चले। अतः यह कहना नितान्त भ्रामक है कि भारत ने यनान से नाट्य-कला सीखी।

यूनान में नाटक की उत्पत्ति

अरस्तू ने अपने काव्यशास्त्र (अरिस्तौतलउस पेरि पोइतिखीस) में यूनानी नाटकों की उत्पत्ति के सम्बन्ध में कहा है कि त्रासद तो उन स्तोत्रों के साथ उत्पन्न हुआ जो यूनान के दि अनसुस या बाखस देवता की उपासना में गाये जाते थे। ये गानेवाले अपना आधा शरीर बकरे की खाल से ढककर उग्र स्तोत्र (दिथुरंब) गाया करते थे। इसलिए उनके गीतों को त्रैगोदा (अजागीत) कहने लगे और जब उन गीतों में नाटककारों ने अभिनेताओं का समावेश करके नाटकों की रचना की तब वे नाटक त्रैगोदी या ट्रेजेडी (त्रासद) कहलाने लगे। यूनानी प्रहसनों का प्रादुर्भाव उन फूहड़ गीतों के साथ हुआ जो अब भी यूनान के बहुत से नगरों में गाये जाते हैं। यूनानी प्रहसनों में बहुत पीछे तक यह अभद्र प्रथा रही कि उनके अभिनेता कृत्रिम पुरुष-जननेन्द्रिय लगा कर अभिनय करते थे। आगे चलकर इस जननेन्द्रिय को ढकने की भी व्यवस्था की गयी किन्तु जिन प्रहसनों के समवेत गीतों में पक्षियों का या पशुओं का वर्णन होता था उनमें वे ज्यों के त्यों बने रहे।

प्रारम्भ में वहाँ एक प्रजननोत्सव हुआ करता था जिसमें लोग मानव-प्रजनन के प्रतीक के रूप में पुरुष-जननेन्द्रिय का कृत्रिम रूप बनाकर कृषि के उत्पादन के निमित्त खेत में चारों ओर घुमाते थे और तत्सम्बन्धी फूहड़ गीत गाया करते थे। आगे चलकर मीनेन्द्र (मिनेण्डर) के समय तक जननेन्द्रिय का प्रदर्शन पूर्णतया बन्द हो गया।

रोम के नाटक

रोम के नाटकों की उत्पत्ति के सम्बन्ध में कथा है कि जब ३६४ ई० पू० में रोम में महामारी का प्रकोप हुआ उस समय रोमवालों ने इत्रूरिया के लूदियों को नृत्य और अभिनय के द्वारा महामारी दूर करने का निमंत्रण दिया। यह बात सत्य न भी हो तब भी रोम के नाटकों पर इत्रूरियावालों का बड़ा प्रभाव था और यह बहुत सम्भव है कि वहाँ की नाटकीय कृतियाँ फेसेनाइन पद्यों से ही प्रादुर्भूत हुई हों। इसी प्रकार अतेला के तास्तन नगर में सम्भवतः यूनानी प्रभाव से ही 'फ़ेबुला अतेलाना' नाम का एक ऊटपटाँग प्रकृति का नाटक प्रचलित हुआ और इत्रूरिया के लूदियों के बेढंगे विनोद से भरे हुए फेसेनाई पद्यों के मेल से 'सतूरा' नामक नाटकीय रूप विकसित हुआ जिसमें वंशी के साथ अन्य वाद्यों और अभिनय की शैलियों का प्रयोग हुआ। किन्तु ये सभी अटकलें ही हैं।

चीनी नाटक

एक मत यह है कि चीनी नाटक ईसा से अठारह शताब्दी पहले प्रयुक्त किये जाते

रहे। दूसरा मत यह है कि ५८० ईसवी में वाङ ते नामक चीनी सम्राट् ने नाटक का आविष्कार किया। किन्तु अधिकांश विद्वान् इसका श्रेय ७२० ईसवी के सम्राट् यूवेन्तशून को देते हैं। त-आङ परिवार के (७२०-९०० ईसवी) सम्राटों ने त्साव, वेनखि नाम के वीर नाटक लिखवाये थे। इसके पश्चात् शुंग परिवार वालों ने खिव नाम के नाटक लिखवाये। चीनी नाटकों की उत्पत्ति नृत्य और गीत के संयोग से मानी जाती है। आठवीं शताब्दी ईसवी में चीन में फ-आङ परिवार के एक सम्राट् ने 'नाशपाती का उद्यान' नाम की एक संगीत-परिषद् भी स्थापित की थी जिसमें बाद को नाटक की भी चर्चा होने लगी किन्तु वास्तविक नाट्यकला वहाँ बहुत पीछे प्रवर्तित हुई। वहाँ के सभी नाटक सद्गुणों का प्रचार और उच्च आदर्शों की प्रशंसा के लिए लिखे गये, इसलिए वे सब रूढ बने रहे।

जापानी नाटक

जापानियों का कथन है कि सन् ८०५ ई० में ज्वालामुखी के फटने से जब पृथ्वी धँसने लगी तब उसकी रक्षा के लिए जो सम्बासों नामक नृत्य प्रचलित किया गया वही जापानी नाटक का मूल है, किन्तु प्राचीन विषयों के लेख (कोंजिके ७१२ ईसवी) में एक कबूरा नाम के दैवी संगीत का वर्णन दिया हुआ है जो सम्भवतः परस्पर देवताओं के बीच या उनके सम्मुख गाया जानेवाला गीत रहा होगा। यद्यपि जापानी नाटकों में कथाएँ जापानी ही रहती हैं किन्तु कहा जाता है कि छठी शताब्दी के अन्त में हादाकावत्सु नाम के एक चीनी ने जापानियों के निमंत्रण पर विनोदात्मक उत्सव के रूप में तेतीस नाटक लिखकर जापानी नाटक का श्रीगणेश किया। सन् ११०८ में इस्सोनो लोलजी नाम की जापानी स्त्री ने भी नाटक का एक रूप चलाया था, जिसके कारण जापानी लोग उसे जापानी नाटक की माता कहते हैं। वह पुरुषों का वेष धारण करके नृत्य या अभिनय (बोरेकोमाइ) किया करती थी। किन्तु सर्वसम्मति से जापानी नाटक के प्रथम प्रयोग का श्रेय सरुवाका काडबुरो को दिया जाता है, जिसने १६२४ में ये-दो नगर में पहली रंगशाला स्थापित की।

पंटुन और चरित्र

मलाया, जावा और सुमात्रा में जो नाटक या नाटकीय प्रदर्शन मिलते हैं उन सब का आधार भारतीय कथा-साहित्य है। जावा में लोक-विनोद के लिए उपस्थित किये जाने वाले काव्यों के दो रूप हैं—एक तो पंटुन, जो उपमाओं से भरी छोटी सी आख्यायिका होती है और दूसरा होता है चरित्र, जिसमें संवाद भी होता है और संगीत भी।

कहते हैं कि इन चरित्रों से ही जावा के उन नाटकों की उत्पत्ति हुई है जिनमें देवताओं और राजाओं के श्रेष्ठतम रूपों का वर्णन मिलता है।

तमाशा या तग़लीद

फ़ारस, तुर्किस्तान, अरब आदि पश्चिमी एशिया के देशों में प्राचीन नाटकीय साहित्य का कोई प्रमाण नहीं मिलता, किन्तु आगे चलकर दो प्रकार के नाटकीय रूप प्रचलित हुए; एक धार्मिक और दूसरा लोकप्रिय प्रहसन या भँड़ैती का खेल। फ़ारस में अली और उनके परिवार की वीरगति के सम्बन्ध में ताज़िया नाम के गीत और संवाद गाये जाते हैं। उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भ तक तो ये ताज़िए (रोदन-गीत) केवल शहीदों के सम्मान में शोकगीत या मर्सिए के रूप में थे किन्तु आगे चलकर ये हसन और हुसेन के जीवन सम्बन्धी रहस्यमय नाटक के रूप में नाटकीय दृश्यावली के साथ प्रस्तुत किये जाने लगे। इस नाटक के प्रारम्भ में रौज़े खाँ नाम के अर्ध-मौलवी जैसे एक सज्जन आते हैं जो अपने को मुहम्मद साहब का वंशज बताकर नाटक की प्रस्तावना में गद्य और पद्यमय भाषा में अत्यन्त करुणाजनक ढंग से वीरों का गुणगान करते हुए और कथा का विषय बताते हुए जनता को उत्तेजित करते हैं। दूसरे प्रकार का फ़ारसी नाटक 'तमाशा' कहलाता है जो प्रहसन या भँड़ैती के ढंग का होता है और जिसे तग़लीद (छद्म-वेश) कहते हैं। इसका खानाबदोश (भ्रमणशील) नट अभिनय करते फिरते हैं। वर्तमान फ़ारसी नाटकों पर पश्चिमी प्रभाव भी दिखाई पड़ने लगा है, किन्तु अभी तक अच्छे नाटक वहाँ नहीं लिखे गये।

यद्यपि मिस्र की सभ्यता बहुत ही पुरानी है, फिर भी नाटक की भावना वहाँ लुप्त रही। हाँ, मिस्र की देहाती जनता वहाँ के प्रधान देवता ओसिरिस के सम्मान में यात्राएँ (जुलूस) निकाला करती थी जिनमें से कुछ में पुरुषों की जननेन्द्रिय के कृत्रिम रूप हाथ में लेकर स्त्रियाँ खेत में घूमा करती थीं।

अमरीका की आदि-निवासी, पोलिनेशिया तथा अन्य प्रदेशों की जातियों के नृत्यों में नाटक के कुछ छिटपुट तत्त्व मिल जाते हैं। इसी प्रकार दक्षिण समुद्र के द्वीपों में नृत्य-गीत के साथ संवाद से युक्त कुछ उत्सव और प्रदर्शन होते हैं। पिरूविया वालों के 'इनका' नाटकों में से अपुबालेन्ते नामक एक नाटक होता है जिसके साथ अज़ेतक नाटकीय नृत्य रबेनालअचि की तुलना क. जा सकती है, जिसमें संग्राम की विभीषिका का वर्णन अधिक होता है, नाटकीय चरित्र-चित्रण की भावना कम। फ्रांस, जर्मनी, इंग्लैंड, स्पेन और रूस आदि अन्य यूरोपीय देशों के नाटकों का मूल यूनान और रोम ही है।

अभिनव-भरत का मत है कि उल्लासपूर्वक नाचना, कूदना, कोलाहल करना, अनुकरण करना आदि मनुष्य की स्वाभाविक क्रियाएँ हैं। इन स्वाभाविक आदिम क्रियाओं का व्यवस्थित रूप ही रूपक या नाटक के रूप में विकसित हुआ और लोगों को चिन्ता-मुक्त करने, संगीत-कथा-अभिनय के संयोग से जनता का मनोविनोद करने, उन्हें उपदेश देने तथा उनकी वृत्तियों का संस्कार करने के उद्देश्य से विशेष पर्वों और उत्सवों पर प्रयोग करने के लिए व्यवस्थित नाट्य की उत्पत्ति हुई, जिसमें आगे चलकर विभिन्न वृत्तियों के अनुसार नाटकों के भेद हुए और सब प्रकार के लोकजीवन का इसमें अनुकरण किया जाने लगा। जब पहले-पहल भरत ने महेन्द्र-विजयोत्सव के अवसर पर 'दैत्यदानवनाशनम्' नाम का नाटक खेला तब उसे देखने के लिए जो दैत्य और दानव आये थे उन्हें अपने पराभव की कथा सुनकर और देखकर बड़ा क्रोध आया और उन्होंने कुछ ऐसी माया रची कि नटों की बोली बन्द हो गयी, उनके हाथ-पैर जकड़ गये, वे पाठ भूल गये और नाचने के लिए उनके पैर ही नहीं उठे। इन्द्र को जब इसका ज्ञान हुआ तब उसने सब दैत्यों को पीट-पीटकर बाहर निकाल दिया और नाट्यशाला की रक्षा का पूरा प्रबन्ध कर दिया। तब देवताओं ने ब्रह्माजी से कहा कि आप दैत्यों को शांति के साथ समझा दें। उस समय दैत्यों को समझाते हुए ब्रह्माजी ने नाट्य का स्वरूप बताते हुए कहा कि 'इस नाट्यवेद में दैत्य तथा देवता दोनों के भले-बुरे कार्यों, भावों और चेष्टाओं का समावेश है, अकेले तुम दैत्यों का या अकेले देवताओं का ही नहीं। नाट्य में तो तीनों लोकों के भावों का अनुकरण हो सकता है। इसके द्वारा अनेक प्रकार के भाव तथा अनेक प्रकार की अवस्था वाले इस संसार की दशाओं का अनुकरण किया जा सकेगा और उतम, मध्यम, अधम सभी प्रकार के लोगों का चरित्र दिखाया जा सकेगा। ऐसा कोई ज्ञान, शिल्प, विद्या, कला, योग और कर्म नहीं है जो नाट्य में न दिखाया जा सके। इस नाट्य में सब शास्त्र, शिल्प और अनेक कर्म एक साथ दिखाये जा सकते हैं। सातों द्वीपों के निवासियों, देवताओं, राजाओं, ऋषियों और गृहस्थों के कार्यों का सब अनुकरण नाट्य कहलाता है।' नाट्य की व्याख्या भी उन्होंने यही की है— **'अवस्थानुकृतिर्नाट्यम्'** (किसी भी अवस्था के अनुकरण को नाट्य कहते हैं) और इस नाट्य में केवल आंगिक और वाचिक अनुकरण ही नहीं, सात्त्विक और आहार्य अनुकरण भी होता है, इसीलिए साहित्यदर्पणकार ने काव्य के दृश्य और श्रव्य दो भेद बताते हुए दृश्य काव्य का लक्षण ही यह किया है—

दृश्यं तत्राभिनेयं तद्रूपारोपात्तु रूपकम्।

[दृश्य काव्य अभिनय के लिए लिखा जाता है और उसमें नट लोग राम आदि

का स्वरूप धारण करते हैं जिन्हें नाटक के समय दर्शक लोग राम आदि मानते हैं, इसलिए इस रचना को रूपक भी कहते हैं।]

इसका तात्पर्य यह है कि नाटक को रूपक और दृश्य बनाने के लिए उसका अभिनय आवश्यक है। साथ ही अभिनय करनेवाले गायकों, वादकों, नर्तकों तथा अभिनेताओं की आवश्यकता और अभिनेताओं को अभिनय की शिक्षा देने के लिए नाट्य-प्रयोक्ता या सूत्रधार की आवश्यकता है। फिर उस तैयार किये हुए नाटक को प्रस्तुत करने के लिए रंगशाला की आवश्यकता है जिसमें दर्शकों के बैठने का स्थान और उनकी सुख-सुविधा की व्यवस्था हो, नाटक के प्रयोग के लिए दृश्य-सज्जा तथा प्रकाश-व्यवस्था से सम्पन्न रंगमंच हो और अभिनेताओं की वेष-भूषा तथा साज-सज्जा के लिए नेपथ्य-गृह हो। अतः दृश्य काव्य को दृश्य बनाने के लिए उपर्युक्त सब साधनों से सम्पन्न रंग-शाला की जब तक उचित और नियमित व्यवस्था न हो तब तक किसी भी सुन्दर दृश्य काव्य या नाटक का अस्तित्व सफल नहीं माना जा सकता। इसलिए रंगशाला के विवरण के अन्तर्गत नाटककार, नाटक, नाट्य-प्रयोक्ता, अभिनेता, अभिनय-कला-प्रेरक, रंगशाला-व्यवस्थापक, प्रेक्षा-गृह, रंगपीठ, दृश्य-विधान, रंगदीपन, संगीत, नेपथ्य-कर्म, प्रेक्षक, रस-भोग और नाट्य-समीक्षा सभी का परिचय देना आवश्यक है।

शास्त्रीय दृष्टि से विश्लेषण करते हुए कहा जा सकता है कि वास्तविक ऐतिहासिक, पौराणिक या कल्पित कथा ही नाटक का आधार है जिसके सहारे नाटककार शब्दार्थ को साधन बनाकर, कथा के पात्रों के अनुरूप चरित्रों और घटनाओं को छाँटकर, पात्रों के संवाद और उनकी क्रियाओं के लिए रंगनिर्देश देकर, विभिन्न स्थानों तथा अवसरों पर होनेवाली घटनाओं को अंक और दृश्यों में विभक्त करके तथा न दिखायी जानेवाली घटनाओं की सूचना सूच्यविधान से देकर किसी विशेष सामाजिक, नैतिक अथवा सार्वभौम उपदेश के लिए नाटक की रचना करता है। उसके पश्चात् नाट्य-प्रयोक्ता उस नाटक को लेकर, उसके अनुसार पात्र चुनकर, उन्हें शिक्षा देकर नाटक की प्रकृति के अनुकूल रंगमंच पर दर्शकों के सम्मुख नाटक का प्रयोग करके दर्शकों का मनोविनोद करता हुआ उन्हें रस-मग्न करता है। इस प्रकार नाट्य-प्रयोक्ता तो गुरु है, नट या अभिनेता साधक हैं, नाटक ही साधना-मन्त्र है, अभिनय, संगीत, दृश्य-सज्जा, नेपथ्य-कर्म और रंगदीपन ही साधन हैं, रंगमंच ही सिद्धिपीठ है, दर्शकरूपी देवताओं को तुष्ट करना ही उद्देश्य है और रस (आनन्द) ही साध्य है। जिस प्रकार सिद्धि प्राप्त करने के लिए गुरु, साधक शिष्य, मन्त्र, साधन, पीठ सबकी शुद्धता आवश्यक है उसी प्रकार नाट्य-मंत्र की सिद्धि के लिए सब अंगों, उपांगों और साधनों की शुद्धि परमावश्यक है।

प्राचीन काल में भारत में जो रंगशालाएँ बनती थीं उनका कहीं कोई अस्तित्व नहीं है। यूनान और रोम की रंगशालाओं के जो भग्नावशेष आजकल प्राप्त हैं वे हमारे बहुत काम के नहीं हैं किन्तु इधर पिछले दो सौ वर्षों से पूर्व और पश्चिम में व्यावसायिक, अर्ध-व्यावसायिक और अव्यावसायिक नाट्यमण्डलियों के नाट्य-प्रयोक्ताओं ने तथा नाट्य-शास्त्रियों ने अनेक वैज्ञानिक तथा मनोवैज्ञानिक परीक्षण करके रंगशाला के निर्माण और उसकी व्यवस्था के सम्बन्ध में जो अनेक प्रयोग किये हैं उनका ज्ञान प्राप्त करना नाट्य-कला से सम्बद्ध प्रत्येक व्यक्ति के लिए अनिवार्य है। इसलिए इस ग्रन्थ में भारतीय नाट्य-शास्त्र के साथ-साथ संसार के अन्य देशों की तत्सम्बद्ध प्रवृत्तियों का भी पूरा परिचय दिया जा रहा है जिससे यह ग्रन्थ विश्व की समस्त नाट्य-प्रवृत्तियों के ज्ञान के लिए पूर्णतः प्रामाणिक और पर्याप्त सिद्ध हो सके।

अध्याय ३

नाटककार और नाटक-रचना के सिद्धान्त

भरत ने अपने नाट्यशास्त्र के 'भूमिका-पात्र-विकल्प' नामक पैंतीसवें अध्याय में कहा है—

यस्माद्यथोपदिष्टान् तांश्च भावांश्च सत्त्वसंयुक्तान्।
भूमि-विकल्पो नयति च नाट्यकारसंज्ञितस्तस्मात्॥

[जो व्यक्ति शास्त्रों में बताये हुए सात्त्विक भावों को पात्रों में प्रतिष्ठित करता है वह नाट्यकार कहलाता है।]

नाट्यकार के गुण

यह पहले ही कहा जा चुका है कि तीनों लोकों की सभी व्यवस्थाओं का अनुकरण नाट्य में होता है, अर्थात् संसार में जो कुछ दुःख-सुख हैं उन सबको व्यवस्थित रूप में प्रकट करना ही नाट्य कहलाता है। ये सभी सुख और दुःख प्राणिमात्र के सात्त्विक भाव है। इन्हीं सात्त्विक भावों को जो पात्रों में ढालता या आरोप करता है वही नाट्यकार कहलाता है। इसका अर्थ यह हुआ कि नाट्यकार को मनुष्य के सब भावों का ठीक-ठीक ज्ञान होना चाहिए। उसे यह ज्ञान होना चाहिए कि किस प्रकार का, कौन सा व्यक्ति, किस साधारण या असाधारण परिस्थिति में, किस प्रकार बात-चीत या व्यवहार करता था, करता है, कर सकता है, या उसको करना चाहिए। इस दृष्टि से प्रत्येक नाट्यकार को विभिन्न देशों के भूत और वर्तमान सामाजिक व्यवहारों का यथार्थ ज्ञान होना चाहिए। यह ज्ञान पुराण तथा इतिहास आदि के अनुशीलन तथा वर्तमान काल के सामाजिक आचारों के पर्यवेक्षण से ही हो सकता है। इस ज्ञान के अन्तर्गत उन समाजों से सम्बद्ध सब शास्त्र, शिल्प और विद्याएँ भी आ जाती हैं। अतः नाट्यकार को इतिहास, समाज और मानस-शास्त्र का पूर्ण पण्डित होना चाहिए।

किन्तु नाट्यकार की योग्यता यहीं तक परिमित नहीं होती। उसमें भूमि-विकल्प करने की भी योग्यता, अर्थात् नाटकीय पात्रों में सात्त्विक भावों का उचित आरोप करने

की योग्यता भी होनी चाहिए। इसका अर्थ यह हुआ कि नाट्यकार अपने नाटक के चरित्रों में इस प्रकार के सात्त्विक भाव भरे कि उससे नाटक के उद्देश्य और रस का निर्वाह हो सके। यह तभी सम्भव है जब नाट्यकार रंगपीठ का सम्पूर्ण विधान जानता हो और लोकमानस अर्थात् लोगों की मनोवृत्ति को भली-भाँति पहचानता और समझता हो कि कौन सी घटना किस प्रकार के पात्रों के द्वारा किस ढंग से रंगपीठ पर दिखायी जाय कि जनता उससे विभावित हो सके।

रंगपीठ के आचार और विधान के अन्तर्गत दृश्य-विधान, अभिनय-कौशल, रंग-दीपन, नेपथ्य-कर्म और संगीत आदि सभी तत्सम्बद्ध व्यापार आ जाते हैं। जब तक नाट्यकार को इन बातों का ज्ञान न हो तब तक वह अपने पात्रों में सात्त्विक भावों का आरोपण कैसे कर सकता है। अतः नाट्यकार का लक्षण यह हुआ कि उसे भूत और वर्तमान समाज का अर्थात् पुराण-इतिहास का, वर्तमान काल के सामाजिक आचार-व्यवहार, शास्त्र, शिल्प और विद्याओं का तथा रंग-विधान के समस्त कौशल का पूर्ण पण्डित होना चाहिए।

चार प्रकार के नाटककार

नाटककार प्रकृतित. चार प्रकार के होते हैं—आदर्शवादी, सम्भावनावादी, वस्तुवादी और भाग्यवादी।

आदर्शवादी नाटककार

आदर्शवादी नाटककार अपने प्रधान पात्र में केवल गुणों का ही आरोप करते हैं। इनमें से कुछ तो अपने देश की प्राचीन संस्कृति के अनुरूप आदर्श नायक और आदर्श परिणाम ढूँढ़ते हैं, कुछ नाटककार समय और युगधर्म के अनुसार आदर्श पात्रों की सृष्टि करते हैं, कुछ आदर्शवादी केवल उपयोगिता ढूँढ़ते हैं, अर्थात् अपने नायक में केवल उन गुणों का आरोप करते हैं जो अपने समाज के लिए उपयोगी हों और कुछ नाटककार ऐसे आदर्श पात्रों की कल्पना करते हैं जो लोक-सुख या प्राणिमात्र के कल्याण की भावना रखते हों।

सम्भावनावादी नाटककार

सम्भावनावादी नाटककारों के अनुसार संसार में कोई वस्तु असम्भव नहीं है। उनका कहना है कि नाटकीयता उत्पन्न करने के लिए सम्भावना ही एकमात्र सिद्ध मार्ग है, क्योंकि साधारणत. सामाजिक नियम, राजदण्ड, लोकशील, शारीरिक निर्बलता

तथा अक्षमता आदि के कारण मनुष्य बहुत से इच्छित कार्य नहीं कर पाता, किन्तु उसे यदि छूट मिले तो वह कुछ भी करने को उद्यत हो सकता है। सम्भावनावादी नाटककार मानते हैं कि नाटक में नाटकीयता उत्पन्न करने के लिए ऐसे अद्भुत दृश्य ही दिखलाने चाहिए जो असाधारण होते हुए भी संभव और अपरिहार्य जान पड़ें। नाटककार को ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न करनी चाहिए कि उनमें पड़नेवाला व्यक्ति चाहे जिस भी प्रकृति का क्यों न हो, वह विवश होकर वही मार्ग ग्रहण करे जो नाटककार को अभीष्ट हो और जिसे देखकर प्रत्येक दर्शक भी यही समझे कि 'यदि मैं भी इस स्थान पर होता तो यही करता।' ये लोग उस प्रकार के आकस्मिक संयोग के प्रयोग को नाटक के लिए बहुत महत्त्वपूर्ण मानते हैं कि जहाँ जिस बात की तनिक भी आशा या आशंका न हो, वहाँ वह बात हो जाय, जैसे वर्षों से बिछुड़े हुए आत्मीयों का अथवा खोयी हुई वस्तु का अकस्मात् मिल जाना आदि। इनका कहना है कि इस प्रकार की घटनाओं से दर्शकों के मन में कुतूहल के आवेग की तृप्ति से कुछ विचित्र ही चमत्कारपूर्ण आनन्द मिलता है।

वस्तुवादी नाटककार

वस्तुवादी सब नाटककार तथ्यवादी तथा प्रत्यक्षवादी हैं। उनका विश्वास है कि संसार में चारों ओर इतना पाप और दुःख छाया हुआ है कि उसमें पड़कर सधे हुए लोग पाप को पाप और दुःख को दुःख नहीं समझते। अतः रंगमंच पर दुःख को दुःख और पाप को पाप के रूप में देखकर ही उन्हें दुःख और पाप की वास्तविक अनुभूति होगी और वे उससे विरत होने की चेष्टा करेंगे। ये नाटककार भाग्य के बदले पौरुष में अधिक विश्वास करते हैं। इनका मत है कि मनुष्य जाति के कुछ स्वार्थी वर्गों ने छल तथा अन्याय के साथ अपने वर्ग के लिए कुछ विशेष सुविधाएँ सुरक्षित कर ली हैं और दूसरों को दुःख भोगने के लिए छोड़ दिया है। यदि समाज का विधान बदल दिया जाय तो वे सब दुःख दूर हो सकते हैं जिन्हें लोग भूल से ईश्वर-प्रदत्त या भाग्य-प्रदत्त समझते हैं। ये वस्तुवादी, तथ्यवादी, बुद्धिवादी या प्रकृतिवादी नाटककार केवल उन्हीं वास्तविक तथ्यों और वस्तुओं को ग्रहण करने के पक्ष में हैं जिन्हें तर्क की कसौटी पर बुद्धि ग्रहण कर सके।

भाग्यवादी नाटककार

भाग्यवादी नाटककारों का मत है कि 'मनुष्य तथा संसार के सब प्राणी परवश हैं। कोई अलौकिक सत्ता विशेष अवधि तक के लिए विशेष प्रयोजनों से सबको संसार में

भेजती है और प्रयोजन तथा अवधि पूर्ण हो जाने पर उनका संहरण कर लेती है। सारी सृष्टि इसी क्रम से चलती रहती है।' ये लोग कर्म-फल में विश्वास करते हैं। इनमें से कुछ तो इस जन्म के जीवन को पिछले जन्म और कर्म के संस्कार का फल मानते हैं। कुछ मानते हैं कि हमारे जीवन में जितनी क्रियाएँ होती हैं उतनी ही प्रतिक्रियाएँ होती हैं और ये सब क्रिया-प्रतिक्रियाएँ दैवाधीन होती हैं। तीसरे भाग्यवादी नाटककार वे हैं जो भाग्य और पौरुष दोनों का समन्वय करते हुए मूलतः भाग्य को ही पुरुषार्थ से अधिक प्रबल मानते हैं।

वास्तव में श्रेष्ठ नाटककार वही है जो किसी वाद का पल्ला थामकर चलने के बदले लोक-विनोद को आधार मानकर जीवन के उदात्त आदर्शों का उपदेश भी देता चलता है।

स्वभाव के अनुसार नाटककार

स्वभाव के अनुसार नाटककार दो प्रकार के होते हैं--गम्भीर और अगम्भीर। गम्भीर नाटककारों में से कुछ तो समाज के महापुरुषों, महत्त्वपूर्ण घटनाओं और उदात्त इतिवृत्तों से अपने नाटक की सामग्री इकट्ठी करते हैं और कुछ नाटककार समाज में व्याप्त पाप, भ्रष्टाचार और अन्याय से असन्तुष्ट होकर उस सामग्री के द्वारा अत्याचारियों और अन्यायियों का भण्डाफोड़ करते हुए उनका पतन दिखाते हैं। अगम्भीर स्वभाव के नाटककार एक तो वे होते हैं जो स्वभाव से ही हँसमुख, प्रसन्नचित्त और विनोदप्रिय होते हैं। ऐसे नाटककार विनोदपूर्ण प्रहसन लिखते हैं। कुछ अगम्भीर स्वभाव के नाटककार ऐसे भी होते हैं जिनमें व्युत्पत्ति अर्थात् बहु-विषयक ज्ञान की कमी होती है, जिनका अध्ययन परिमित और सम्पर्क निम्न कोटि के मानव-समाज से अधिक होता है। ऐसे नाटककार मनुष्य की दुर्बलताओं की खिल्ली उड़ाते हैं और मानव-समाज की क्षुद्रताओं का प्रदर्शन करके क्षुद्र मनुष्यों को समाज की आँखों में नीचा दिखाने का प्रयत्न करते हैं। ऐसे ही लोग प्रहसन तथा व्यंग्यात्मक और निन्दात्मक नाटकों की सृष्टि करते हैं। कुछ ऐसे सुलझे हुए प्रतिभाशाली नाटककार भी होते हैं जो उदात्त और गम्भीर नाटकों के साथ-साथ प्रहसनों की भी रचना करते हैं। वास्तव में ऐसे कुशल नाटककार ही महाकवि और नाट्याचार्य कहलाते हैं।

लेखकों के स्वभाव के अनुसार नाटक के भेद

अरस्तू ने काव्य के दो भेद--गम्भीर और हास्यजनक--बताते हुए कहा है--'लेखकों के व्यक्तिगत स्वभाव के अनुसार काव्य दो दिशाओं की ओर चला है। गम्भीर

प्रकृतिवाले लेखकों ने काव्य के रूप में श्रेष्ठ कार्यों तथा श्रेष्ठ मनुष्यों के आचार का अनुकरण उपस्थित किया तथा अधिक सामान्य श्रेणी के लेखकों ने निम्नतर मनुष्यों के आचरणों का। इनमें से दूसरे प्रकार के लेखकों ने व्यंग्य काव्यों की रचना की और गम्भीर लेखकों ने देवताओं की स्तुतियों तथा प्रसिद्ध पुरुषों की प्रशंसा में काव्यों की सृष्टि की। किन्तु वास्तविक नाटककार वही है जिसने मानव-जीवन के सभी पक्षों और अंगों का भली प्रकार अनुभव प्राप्त कर लिया हो, क्योंकि इतना व्यापक अनुभव होने पर ही वह अपने नाटकों में उपयुक्त स्थलों पर उनका उचित समावेश कर सकता है।'

अनभिनेय नाटक

जिन लेखकों को रंगमंच का अनुभव नहीं होता किन्तु जिनमें काव्य-प्रतिभा होती है वे प्रायः ऐसे पाठ्य नाटक लिखते हैं जिनका अभिनय हो ही नहीं सकता अथवा जिनका प्रयोग यदि किया भी जाय तो असफल होता है। इसीलिए चौथी शताब्दी ई० पू० में खैरेमोन नामक यूनानी नाटककार को लोगों ने पाठ्य-त्रासदकार (रीडिंग ट्रेजी-डियन) का दुर्नाम दे दिया था, क्योंकि उसके नाटकों में अभिनेयता की कमी थी और काव्यत्व अधिक था। इस प्रकार के नाटककार हिन्दी में भी बहुत हैं जिनकी प्रसिद्धि नाटककार के रूप में इसलिए हो गयी कि उनके नाटक किसी कारण-वश विभिन्न परीक्षाओं के पाठ्यक्रम में निर्धारित कर दिये गये हैं। ऐसे नाटकों में अभिनय-व्यापार-युक्त संवादों के बदले भावपूर्ण, रहस्यमय, लाक्षणिक भाषा में दार्शनिक संवाद रहते हैं। यही कारण है कि हिन्दी में रंगमंच और नाट्य साहित्य का उचित विकास नहीं हो पाया।

भूमिका-विकल्प

नाटक में पात्रों का चरित्रारोपण या भूमिका-विकल्प करते समय नाटककार को इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि पात्र थोड़े और उतने ही हों जितने परम आवश्यक हों। उनके कुल, वर्ग, देश, वृत्ति, देह, लिंग, मनःस्थिति, सामाजिक पद, स्वास्थ्य, परिस्थिति, संगति. कुल-परम्परा तथा संस्कार की भावना का योग देकर इस प्रकार उनकी सृष्टि की जाय कि विभिन्न नाटकीय परिस्थितियों में पड़कर वे निर्दिष्ट युग के अनुरूप स्वभावोचित, सम्भव तथा विश्वसनीय कार्य करते हुए नाटकीय व्यापार के उद्दिष्ट फलागम को सिद्ध कर सकें। किसी पात्र की बातचीत और उसका कार्य किसी भी प्रकार अस्वाभाविक, असम्भव तथा अविश्वसनीय न हो।

इस सम्बन्ध में यूरोप के नाट्याचार्यों ने चार सिद्धान्त प्रतिपादित किये हैं: १—दुष्ट को भयानक चित्रित करो और सज्जन को देव-तुल्य, २—रंगशाला तो चित्रक (फ़ोटो के केमरे) का बिम्बग्राही काचफलक है जो सामने पड़े हुए समस्त पदार्थ को ग्रहण करके दिखाता है; इसलिए जिन परिस्थितियों में जैसा व्यवहार होता हो वैसा ही दिखाना चाहिए, ३—सुन्दर का चित्रण करो; असुन्दर स्वयं लुप्त हो जायगा, ४—दोष दिखाओ, उन्हें देखकर मनुष्य स्वयं अपना सुधार कर लेगा। इनमें से पहला और तीसरा सिद्धान्त तो ग्राह्य है क्योंकि दुष्ट में श्रेष्ठता का आरोप करना नीति और औचित्य दोनों के विरुद्ध है। तीसरा सिद्धान्त भी ठीक है क्योंकि यदि हम सुन्दर को सुन्दरतम तथा अत्यन्त प्रभावशाली रूप में उपस्थित करें तो उसके प्रभाव से असुन्दर स्वयं लुप्त हो जायगा, क्योंकि सुन्दर तथा उदात्त की ओर मनुष्य का स्वाभाविक आकर्षण होता है और उससे ऊपर उठने की प्रेरणा मिलती है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भी निरन्तर सुन्दर वस्तु देखते-देखते सौन्दर्य-बोध इतना प्रबल हो जाता है कि असुन्दर की कल्पना ही समाप्त हो जाती है और मनुष्य विभावन के द्वारा अपना संस्कार कर लेता है। दूसरा और चौथा सिद्धान्त यथार्थवादियों या वस्तुवादियों का है, जिसकी व्याख्या पीछे की जा चुकी है और जिसे हम ग्राह्य नहीं समझते, क्योंकि मनुष्य अनुकरण-शील प्राणी है। हो सकता है कि निम्न-कोटि के पात्रों और उनके आचरणों को देख-कर वह भी वैसा ही आचरण करने लगे।

भूमिका-विकल्प के तीन सिद्धान्त

पात्र चुनने और उन्हें चित्रित करने के सम्बन्ध में तीन सिद्धान्त प्रसिद्ध हैं—क्या है, क्या हो सकता है और क्या होना चाहिए। जो है उसी को ज्यों का त्यों चित्रित करना यथार्थवादी पद्धति है। क्या हो सकता है, यह दैववाद या संयोगवाद है। क्या होना चाहिए, यह आदर्शवाद है। नाटककार को इन वादों के पचड़ों से ऊपर उठकर इस दृष्टि से पात्रों में चरित्रारोपण करना चाहिए कि दर्शकों को वे स्वाभाविक प्रतीत हों और उनका मनोरंजन करते हुए उनका भाव-संस्कार कर सकते हों।

सिद्ध-भूमिका-विकल्प

नाट्य-मण्डलियों से सम्बद्ध नाटककार के सम्मुख सधे-सधाये चरित्र-प्रकारों का अभिनय करनेवाले अभिनेता रहते हैं। इसलिए वह उन परिचित चरित्रों के आधार पर नवीन नाटक की सृष्टि कर डालता है। सिद्ध अभिनेताओं के स्वाभाविक अभिनय

से काव्य का दृश्यत्व सिद्ध करके रस उत्पन्न करने में बड़ी सुविधा होती है। अभिनव-भरत ने काशी की अपनी अभिनव रंगशाला में इसी प्रकार के नाटक स्वयं लिखकर उनका प्रयोग कराया और यही कारण है कि वे सब के सब अत्यन्त सफल हुए।

बहुत से नाटककार मुख्य नायक या नायिका के लिए अधिक वाचिक और आंगिक अभिनय-व्यापार का विधान करते हैं और शेष के लिए बहुत थोड़ा। यह नीति ठीक नहीं है। नाटककार को यह ध्यान रखना चाहिए कि नाटक के लिए जो भी थोड़े पात्र चुने जायँ उनमें से प्रत्येक की नाटक में कुछ न कुछ व्यक्तिगत विशेषता, आवश्यकता और महत्ता हो तथा सब पात्रों के लिए इतना और ऐसा अभिनय-व्यापार निर्दिष्ट हो कि सभी को आंगिक, वाचिक और सात्त्विक अभिनय के द्वारा अपना अभिनय-कौशल प्रदर्शित कर सकने का समान अवसर मिल सके। नाटककार को नियमतः इस सिद्धान्त का पालन करना चाहिए कि नाटक में बहुत से निरर्थक पात्र न रखे जायँ, क्योंकि अनेक सिपाही, नागरिक, दास-दासियों और सखियों आदि की योजना करने से नाट्य-प्रयोक्ता के लिए बड़ा बखेड़ा खड़ा हो जाता है।

स्थान-योजना

नाटककार को रंगमंच के परिमाण, प्रदर्शन की सम्भावना, सामग्री की सुविधा तथा नाटकीय कथा की आवश्यकता के अनुकूल ऐसे स्थानों का निर्देश करना चाहिए जिनका प्रबंध करना नाट्यव्यवस्थापक के लिए सम्भव हो। आकाश का युद्ध, समुद्र पर जलयान की घटना अथवा लम्बे-चौड़े उद्यान या व्यस्त सड़क का दृश्य आदि दिखाने के निर्देशों का पालन नहीं किया जा सकता।

रंगमंच की मर्यादा

रंगमंच पर नाटकीय कथा के सब अंश नहीं दिखलाये जा सकते। अतः कथा की प्रकृति, आवश्यकता, सामाजिक शील तथा रंगमंच की सीमा देखकर व्यापार-योजना करनी चाहिए। अर्थात् जो घटनाएँ और क्रियाएँ रंगमंच पर सुविधा के साथ दिखायी जा सकें, जिनका दिखाना सामाजिक शील के विरुद्ध न हो और जिनका प्रदर्शन अनिवार्य हो, केवल उन्हीं को प्रदर्शित करने का विधान हो, शेष कथा-भाग पात्रों द्वारा सूचित करा दिया जाय, जैसा संस्कृत नाटकों में प्रवेशक, विष्कम्भक, अंकास्य, अंकावतार और चूलिका आदि अर्थोपक्षेपकों के द्वारा कराया जाता था। इन्हीं कारणों से भारतीय नाट्य-शास्त्रियों ने राज्य-विप्लव तथा युद्ध आदि असम्भव दृश्यों को हटाने के साथ-साथ चुम्बन, आलिंगन, भोजन, वध, दूराह्वान आदि अश्लील और अप्रिय दृश्य भी

रंगमंच पर वर्जित कर दिये। नाटककार को ध्यानपूर्वक यह भी देख लेना चाहिए कि जिस युग और देश का चित्रण किया गया हो उसकी मर्यादा और सीमा से बाहर की किसी वस्तु, रीति, नीति तथा सामाजिक व्यवहार से भिन्न बातों का समावेश न कर दिया जाय, जैसे राम के विवाह के प्रसंग में शहनाई का प्रयोग।

संवादों की प्रकृति

नाटकीय संवादों में भी पात्रों की मनःस्थिति, परिस्थिति और योग्यता के अनुसार श्रेष्ठ जनों की भाषा के विभिन्न रूपों का प्रयोग तो किया जाय किन्तु विभिन्न प्रकृति के पात्रों के संस्कार के अनुसार उनकी भाषा में उच्चारण-दोष या अशुद्ध प्रयोग आदि का संयोजन करके पात्रों के चरित्र का स्पष्टीकरण भी कर दिया जाय। इससे नाटक में स्वाभाविकता के कारण रस आता है। किन्तु स्वाभाविकता के फेर में पड़कर इतनी ग्राम्य या प्रादेशिक भाषा का प्रयोग न किया जाय कि वह अश्लील और अस्पष्ट हो जाय।

रंगनिर्देश की प्रकृति

नाटक में अभिनय, रंग-व्यवस्था, प्रकाश-व्यवस्था, संगीत-व्यवस्था तथा नेपथ्य-व्यवस्था के लिए जो निर्देश दिये जायँ वे सूक्ष्म और उपयोगी हों। आजकल के बहुत से नाटककार रंगभूमि पर उपस्थित की जाने वाली दृश्य-सज्जा तथा अन्य सामग्रियों, दृश्यों और परिस्थितियों का इतना लम्बा और विस्तृत विवरण देते हैं कि रंग-व्यव-स्थापक को उनका संग्रह करना कठिन हो जाता है। अतः अभिनय के लिए केवल उतना ही निर्देश दिया जाय जो अभिनेताओं को नाटकीय कथा-प्रवाह, रस और भाव का प्रभाव बनाये रखने के लिए तथा आंगिक, वाचिक और सात्त्विक अभिनय के द्वारा नाटक के पात्रों के चरित्रों और व्यापारों को विकसित करने में सहायता दे सके। नाटक में जो व्यापार जिस परिस्थिति में दिखलाना अभीप्ट हो उस प्रभाव या परिस्थिति को उत्पन्न करने के लिए आडम्बरहीन शब्द-संकेत या निर्देश को ही रंग-निर्देश कहते हैं। इसी प्रकार रंग-व्यवस्था, संगीत-व्यवस्था तथा प्रकाश-व्यवस्था के लिए अत्यन्त सरल भाषा में स्पष्ट और सूक्ष्म निर्देश दिये जायँ जिससे व्यवस्थापकों को इतनी स्वतंत्रता रहे कि वे अपनी सुविधा के अनुसार रंगपीठ के नाटकीय व्यापार को समृद्ध कर सकें।

नाटक का स्वरूप

नाटककार को नाटक-रचना की प्रकृति का ज्ञान आवश्यक है। नाटक का परिमाण

केवल इतना ही होना चाहिए कि वह अधिक से अधिक तीन घण्टे में खेला जा सके। नाटक में पात्र कम हों जिससे उनके संग्रह, उनकी वेश-भूषा, नेपथ्य-कर्म तथा शिक्षा में कम सामग्री तथा कम समय लगे। नाटक में बहुत कम दृश्य इस क्रम से हों कि दृश्य-विधान में न बहुत द्रव्य लगे न समय और सुविधा के साथ दृश्य-व्यवस्था की जा सके। नाटक में केवल संवाद ही न हो वरन् उसमें ऐसी अभिनेयता होनी चाहिए कि वह खेला जा सके। एक ही प्रधान कथा या इतिवृत्त हो, अन्त सुखमय हो तथा ऐसे दृश्य न हों जो अश्लील, भयोत्पादक या आवेशजनक हों। उसमें सज्जन का अभ्युदय और दुर्जन का पतन दिखाया जाय। उसके संवाद गद्यात्मक हों। संवाद और घटनाएँ स्वाभाविक, संभव और विश्वसनीय हों। नाटक के बीच-बीच में विनोद का भी पुट हो जिससे भावों का तनाव शिथिल होता चले। नाटक के सब संवाद केवल सर्वश्राव्य हों, नियत-श्राव्य, जनान्तिक, अपवारित या स्वगत-कथन न हों। नाटक में यथास्थान गीत, नृत्य, पृष्ठ-वाद्य आदि की योजना भी संगत और प्रसंगानुकूल हो। नाटक में आदि से अन्त तक इतना कुतूहल व्याप्त हो कि जो आकर बैठ जाय वह अन्त तक बिना पूरा देखे न उठे और उसके मन में निरन्तर यह जिज्ञासा बनी रहे कि आगे क्या होगा। नाटक से दर्शकों का विनोद हो, उनके भावों का परिष्कार हो और उन्हें नाटक के परिणाम से संतोष और तृप्ति हो।

नाटक-रचना के अंग

नाटक-रचना के तीन अंग हैं—कथा, संवाद और व्यापार (क्रिया)। नाटक की कथा ऐसी होनी चाहिए जो प्रसिद्ध हो और जिसमें किसी प्रसिद्ध नायक के जीवन के किसी एक इतिवृत्त अर्थात् एक पूरी घटना से सम्बद्ध व्यापारों का वर्णन हो, क्योंकि नाटक में दर्शकों की रसात्मक तन्मयता तभी होती है जब कथा दर्शकों को ज्ञात हो और नायक में स्वाभाविक संस्कारगत उनकी श्रद्धा हो। नायक, नायिका, अन्य पात्र, स्थान तथा व्यापार या घटनापूर्ण जिस वर्णन को कथा कहते हैं उसी की घटनाओं को जब अंक तथा दृश्यों के अनुसार संयोजित कर लिया जाता है तब उसे कथावस्तु या संविधानक कहते हैं। दूसरा अंग है संवाद, कथा में आये हुए विभिन्न पात्रों की मर्यादा और योग्यता के अनुकूल परस्पर उतना ही जोड़-तोड़ का वार्तालाप संवाद कहलाता है जो पात्रों के चरित्र और कथा के प्रसार में योग देता हो। इसके अतिरिक्त संवाद निरर्थक होता है। तीसरा अंग है रंग-निर्देश या नाटकीय व्यापार के लिए शब्द-संकेत।

त्रासद के छः तत्त्व

अरस्तू ने त्रासद (ट्रेजेडी) में छः तत्त्व माने हैं—इतिवृत्त (प्लाट); आचार (मैनर); विचार (थॉट); वर्णन-शैली (डिक्शन); दृश्य (स्पेक्टेकिल) और गीत (सौंग)। किन्तु वर्तमान नाट्याचार्य इन से कुछ भिन्न अग्रांकित छः तत्त्व मानते हैं—कथा-वस्तु, चरित्र-चित्रण, संवाद, शैली, देश-काल और उद्देश्य। किन्तु कुछ अधिक वैज्ञानिक नाट्याचार्यों ने चरित्र-चित्रण के बदले पात्र और चार नये तत्त्व कुतूहल, घात-प्रतिघात, द्वन्द्व और अभिनय-शीलता बढ़ा दिये हैं।

दो प्रकार की कथाएँ

कथाएँ दो प्रकार की होती हैं—एक नायक-प्रधान, दूसरी घटना-प्रधान, जैसे रामायण तो नायक-प्रधान है और महाभारत घटना-प्रधान। इनमें से किसी भी प्रकार की कथा लेकर जब कोई नाटककार उस कथा का इस क्रम से संयोजन करता है कि कब, किस प्रकार के, कौन-कौन से पात्र, किस ढंग से, किन-किन घटनाओं के साथ, नाटक में उपस्थित किये जायँ; उस संयोजन-कौशल को रचना-कौशल कहते हैं। इस कौशल में नाटककार को यह देखना पड़ता है कि कथा को कितने मुख्य भागों या अंकों में बाँटा जाय, उन मुख्य भागों को कितने उप-भागों या दृश्यों में बाँटा जाय, उन दृश्यों में कितनी बातें सूच्य हों, कितनी श्रव्य हों और कितनी दृश्य हों। इनमें से सूच्य और श्रव्य को संवाद के द्वारा तथा दृश्य को आंगिक, सात्त्विक और आहार्य अभिनय के विधान तथा रंग-निर्देश के द्वारा व्यवस्थित किया जाता है।

वस्तु-रचना की पाँच रीतियाँ

आज तक विश्व में जितने भी नाटकों का निर्माण हुआ है उन सबमें निम्नांकित पाँच रीतियों में से किसी न किसी रीति से वस्तु-रचना की गयी है—नायक-केंद्रता, घटना-चक्रत्व, मनोवैज्ञानिक अभिव्यक्ति, कुतूहल-निर्वाह तथा दृश्या-नुकूलता।

१. नायक केन्द्र रीति—किसी नायक को केन्द्र बनाकर सारी कथा उसी पर अवलम्बित की जाती है। इसमें इस क्रम से नाटकीय कथा-वस्तु की घटनाओं का गुम्फन किया जाता है कि प्रत्येक भावी घटना नायक या नायिका के किसी कार्य, विचार या कथन के परिणामस्वरूप प्रकट होती चलती है और प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से उस घटना में दर्शकों को नायक या नायिका का महत्त्व प्रतीत होता चलता है। इस प्रकार के नाटक प्रायः पौराणिक और ऐतिहासिक घटनाओं को लेकर लिखे जाते हैं, क्योंकि उन

सबमें व्यापक रूप से व्यक्ति का महत्त्व अधिक होता है, घटना का कम। ऐसे नाटकों में व्यक्ति के चरित्र से घटना का विकास होता है।

२. **घटना-चक्र-रीति**—घटनाओं का क्रम और घटनाओं के प्रकार इस ढंग से जोड़े जाते हैं कि उन घटनाओं के चक्र में पड़े हुए व्यक्ति, घटना-प्रवाह में उलझकर, उसमें बहकर या उसके विरुद्ध चलकर अपने व्यक्तित्व या चरित्र की अभिव्यक्ति करते हैं। नाटकीय दृष्टि से ऐसे नाटक सर्वश्रेष्ठ समझे जाते हैं। ऐसी कथा-वस्तुओं में इस प्रकार की स्वाभाविक तथा आकस्मिक बाधाएँ डाली जाती हैं कि कथा-वस्तु का प्रवाह फिर घूमकर जहाँ का तहाँ पहुँच जाय और इस अद्भुत ढंग से फलागम हो कि उसकी कल्पना भी किसी ने न की हो।

३. **मनोवैज्ञानिक अभिव्यक्ति-रीति**—केवल उन्हीं कथा-वस्तुओं के ग्रथन में काम आती है जहाँ मानसिक द्वन्द्व या घात-प्रतिघात दिखाना अभीष्ट हो। यह रीति प्राय: उन कथा-वस्तुओं के लिए प्रयुक्त की जाती है जिनके सब पात्र परस्पर निकट सम्बन्धी हों, फिर भी उनमें द्वन्द्व उपस्थित हो गया हो, जैसे रामायण में राम के वनवास की कथा।

४. **कुतूहल-निर्वाह-रीति**—इसे प्राय: आजकल के नाटककारों और चलचित्र वालों ने अपनाया है। सस्ता भावावेग उत्पन्न करने के लिए इन कथा-वस्तुओं में सम्भव-असम्भव तथा अप्रत्याशित घटनाओं के समूह का एक ढाँचा खड़ा करके इस प्रकार क्रम-बद्ध कर दिया जाता है कि आदि से अन्त तक कौतूहल बना रहे। ऐसी कथा-वस्तु से दर्शक तो बहुत प्रभावित होते हैं, किन्तु कला की दृष्टि से यह हेय होती है।

५. **दृश्यानुकूल रीति**—ऐसी कथा-वस्तुओं की रचना में काम आती है जहाँ एक ही दृश्यपीठ पर पूरा नाटक दिखाने की योजना हो, जैसे अभिनव-भरत के वाल्मीकि और देवता नाटक। इस रीति में नाटककार को इस कौशल से कथा-वस्तु की घटनाओं का संयोजन करना पड़ता है कि नाटक की विभिन्न मुख्य घटनाएँ एक ही स्थान पर दिखला दी जा सकें। इस प्रकार की वस्तु-रचना में दो बातों का ध्यान रखना पड़ता है—एक तो यह कि थोड़े-थोड़े समय के पश्चात् नाटकीय व्यापार में परिवर्तन होता चलना चाहिए जिससे नाटक नीरस न होने पाये, और दूसरे, कोई भी घटना असम्भव तथा बलपूर्वक लायी हुई न प्रतीत हो।

नाट्य-स्वातंत्र्य

कवि या नाटककार को काल्पनिक कथा-वस्तु की रचना में तो पूर्ण स्वतंत्रता रहती है, किन्तु ऐतिहासिक और पौराणिक कथाओं में उसे कुछ बन्धन मानना ही पड़ता है।

ऐसे नाटकों में नाटककार को इतनी स्वतंत्रता तो अवश्य रहती है कि वह नायक के चरित्र के विकास के लिए स्वतंत्र और संगत कथा तथा सम्भावित प्रासंगिक घटनाओं और पात्रों की कल्पना कर ले अथवा इतिहास में जिन बातों का केवल संकेत भर हो उनके लिए पात्रों और घटनाओं की योजना कर ले, किन्तु उसे यह अधिकार नहीं कि वह उसके इतिहासगत चरित्र को भी उलट दे। उसका कर्तव्य यही है कि वह ऐतिहासिक या पौराणिक नाटकों के वृत्त और चरित्रों की मर्यादा का निर्वाह करते हुए नायक के गुणों का उत्कर्ष दिखलाये। किन्तु यदि इतिहासकारों ने ही किसी घटना, चरित्र या व्यक्ति के सम्बन्ध में अशुद्ध या भ्रमात्मक निर्णय दे दिया हो तो उसे सप्रमाण उलटने और सत्य की स्थापना करने का भी नाटककार को पूर्ण अधिकार है।

संघर्ष की योजना

नाटकीय कथा प्रारम्भ करने के अनन्तर नाटककार को कई परस्पर-विरोधी घटनाएँ या शक्तियाँ इस प्रकार इकट्ठी कर देनी चाहिए कि ज्यों-ज्यों नाटक के पात्र उस संघर्ष के लिए परस्पर उलझते जायँ त्यों-त्यों कथा-वस्तु की उलझनें भी बढ़ती चलें। नाटक में कुतूहल की स्थापना और वृद्धि के लिए इस प्रकार की उलझन उत्पन्न करना अत्यन्त आवश्यक है। स्वयं कालिदास ने अपने अभिज्ञानशाकुन्तल में यही किया है। इसी उलझन (ट्विस्टिंग) को यूनानी में 'देसिस' कहते हैं और यही त्रासद का प्रथम पक्ष माना गया है।

एफ़्० ब्रूनेतिए का कथन है कि किसी नाटक के पात्र या कथा-व्यापार का स्वरूप निश्चय करने के लिए संघर्ष का संयोजन अत्यन्त आवश्यक है। विलियम आर्चर ने इस संघर्ष (कौन्फ़्लिक्ट) को 'क्राइसिस', क्लेटन हेमिल्टन ने 'कन्ट्रास्ट' तथा कुछ अन्य लोगों ने 'स्ट्रगिल' और 'अपोजिशन' कहा है। इस संघर्ष में केवल दो ही विरोधी पक्ष होने चाहिएँ अधिक नहीं, क्योंकि श्रोता या दर्शक का भाव एक पक्ष की ओर खिंचता चलता है और सब घटनाएँ उसे सहायता देने या उसमें बाधा देने में सहायक होती हैं। यह विरोध परस्पर दो व्यक्तियों में, परस्पर एक व्यक्ति या समाज में या एक ही व्यक्ति के मन में उत्पन्न होनेवाले द्वन्द्वात्मक भावों में होता है। कभी-कभी कुछ नाटककार नाटक के मुख्य संघर्ष को बदलने या घुमा देने के लिए एक दूसरा प्रतिकथानक (काउण्टर प्लौट) या तुलनात्मक संघर्ष जोड़ देते हैं अर्थात् दूसरे स्तर पर उसी प्रकार का एक संघर्ष प्रारम्भ करके जटिलता बढ़ा देते हैं। इसे विचक्र (इन्ट्री) कहते हैं। इसमें विभिन्न घटनाएँ विरोधी शक्तियों के संघर्ष में परस्पर गुँथी रहती हैं। संघर्ष उत्पन्न करने के लिए नाटककार को घटनाओं का 'संयोग' अर्थात् आकस्मिक प्रवेश

दिखाना पड़ता है जिसके लिए बहुत-से नाटककार सभी घटनाओं को सम्भव मान लेते हैं। किन्तु 'संयोग' केवल ऐसी ही घटना को कहते हैं जिसके सम्बन्ध में यह कहा जा सके कि ऐसा भी हो सकता है। इस सम्बन्ध में अरस्तू का मत है कि 'अविश्वसनीय सम्भव के बदले विश्वसनीय असम्भव का प्रयोग अधिक अच्छा होता है और वह केवल आरभटी नाटक (मैलो ड्रामा) में ही नहीं, अन्य नाटकों में भी होता है। इसे ही कुछ लोगों ने दुर्दैव (फ़िंगर औफ़ फ़ेट) कहा है।

नाटक में भूल या दोष की योजना

किसी नाटक में किसी भले आदमी का पतन किसी भयंकर भूल या दोष (हामार्तिया) के कारण होता है जो उस व्यक्ति या नायक के मन के भीतरी संघर्ष से समुद्भूत हो और यह भूल भी या तो अनजाने हो जाय या अविचारिता के कारण जान-बूझकर की जाय या पूर्णतः जान-बूझकर हो। इसके अतिरिक्त यह भूल मनुष्य की आकांक्षा या अपनी शक्ति का उचित ज्ञान न होने से भी उत्पन्न हो सकती है जो दुर्बल और दृढ़-चरित्र दोनों में संभव है। कभी-कभी आदर्शों और इच्छाओं के दबाव से भी इस प्रकार की भूल संभव है। इन सब परिस्थितियों में ऐसी विचित्र भावधारा उत्पन्न हो जाती है जो मुख्य पात्र को विवेक से विचलित कर देती है और उसी से 'प्रतिचक्रीय त्रासद' (ट्रेजेडी औफ रीक्वॉयल) की सृष्टि होती है जिसमें नायक की अपनी भूलें अपरिहार्य रूप से उसके विनाश की सामग्री इकट्ठी कर देती हैं।

चरमोत्कर्ष (क्लाइमेक्स)

अधिकांश नाटकों में बाह्य और आन्तरिक दोनों संघर्षों का समन्वय होता है। इस संघर्ष की स्थापना के लिए कोई विरोध का कारण और लक्ष्य अर्थात् नाटकीय द्वन्द्व उत्पन्न करनेवाली घटना होनी चाहिए, जिसे 'उत्तेजनात्मक वेग' (एक्साइटिंग फ़ोर्स) कहते हैं। इन्ही संघर्ष की घटनाओं को मिलाकर यूरोपीय नाटकों के संविधानक की रचना की जाती है और इन्हीं का निर्णयकारी स्थल नाटक का 'चरमोत्कर्ष' (क्लाइमेक्स) होता है। किसी नाटक या कथा में वह कार्य या वह परिस्थिति ही चरमोत्कर्ष कहलाती है जहाँ से नाटक की घटना सहसा दूसरी ओर मुड़ जाय। नाटकीय संघर्ष का यही निर्णयात्मक स्थल होता है। पाँच अंक वाले नाटक में यह परिस्थिति प्रायः तृतीय अंक के आसपास उत्पन्न होती है और भारतीय नाट्यशास्त्र के अनुसार प्राप्त्याशावस्था में होती है। चरमोत्कर्ष का उत्पादन करनेवाली इस परिस्थिति को 'खूंटा' या फ्रान्सीसी भाषा में 'क्लाउ' कहते हैं जिस पर सम्पूर्ण कथा या आगे की शेष

कथा लटकती रहती है और जिसका परिणाम जानने के लिए श्रोता या पाठक साँस रोककर उत्सुकता-पूर्वक प्रतीक्षा करते रहते हैं।

विषमावसर (क्राइसिस)

द्वन्द्व को अत्यन्त प्रबल करनेवाली उस परिस्थिति को द्वन्द्ववाहिनी (ऐपितासिस) कहते हैं जो कथावस्तु या संविधानक में वेग और शक्ति भरकर उसे चरमोत्कर्ष की ओर बलपूर्वक ढकेल ले चलती है। इसी परिस्थिति को विषमावसर (क्राइसिस) कहते हैं जब नाटकीय कथा की विरोधी शक्तियाँ अन्तिम बार उलझकर निर्णयात्मक स्थल या चरमोत्कर्ष (क्लाइमेक्स) की ओर बढ़ती हैं। इसी के आधार पर 'विषमावसर नाटक' (ड्रामा औफ क्राइसिस) लिखे गये जिनमें मुख्य दुर्घटना नाटक की कथा प्रारंभ होने से पूर्व या नाटक के प्रारम्भ में हो चुकी रहती है और जिसका ज्ञान पात्रों को चरमोत्कर्ष के समय होता है। ऐसे नाटक 'विकास-गतिक नाटक' (ड्रामा औफ़ डेवलपमेन्ट) कहलाते हैं जिनमें प्रारम्भ से लेकर अन्त तक संघर्ष चलता रहता है, जैसे अभिनव-भरत का 'अजन्ता' नाटक। इसी विषम अवसर की योजना के लिए फ्रांस में 'आकस्मिक हृदय-मन्थन' (कूप दे थिएत्र) की अर्थात् नाटक में जनता के हृदय को उद्वेलित करने वाला कोई भी आकर्षक या रोमांचकारी दृश्य रखने की प्रथा चली और इसी आधार पर फ्रांस में अत्यन्त नाटकीय तनाव के स्थल को और अत्यन्त सफल नाटक को भी 'कूप दे थिएत्र' कहने लगे।

उलझन और सुलझन

चरमोत्कर्ष के पश्चात् नाटक की उलझन (कौम्प्लिकेशन) का पक्ष समाप्त हो जाता है और उसकी कथा सुलझन (डिनूवमेन्ट) की ओर घूम जाती है जहाँ नाटक की उलझनें दूर होने लगती हैं और नाटकीय कथा उपसंहार की ओर बढ़ चलने लगती है। अभिज्ञानशाकुन्तल के अन्तिम दृश्य में भरत को सिंह के बच्चे के साथ खेलते हुए दिखाना उसी सुलझन का प्रारम्भ है।

दुष्काण्ड (कतास्त्रोफ़ी)

दुःखान्त नाटकों में जब चरमोत्कर्ष के तत्काल पश्चात् नाटक का दुःखमय अन्त या दुष्काण्ड (कतास्त्रोफ़ी या कैटेस्ट्रौफ़ी) अर्थात् नायक या नायिका का अन्त अथवा नाटकीय संघर्ष समाप्त करनेवाली घटना होती है, उसे निर्वहण (डिनूवमेन्ट या अनरेवलिंग) कहते हैं। इस धारा-परिवर्तन या चरमोत्कर्ष (क्लाइमेक्स) से अन्तिम परि-

णाम की ओर लुढ़कने की क्रिया को प्रपतन क्रिया (फौलिंग ऐक्शन) कहते हैं और जब नाटक में उपस्थित की हुई सब कठिनाइयाँ और उलझनें दूर करके नाटक का उपसंहार स्पष्ट कर दिया जाता है तब उसे फलागम कहते हैं।

नाटक के चार भाग

नाटक रचना के इन सिद्धान्तों के आधार पर पाश्चात्य देशों में नाटक के चार भाग माने गये हैं —१. प्रोतासिस (प्रारम्भ), २. एपितासिस (परिणाम की ओर ले जाने वाला मुख्य काम), ३. गतास्तासिस (चरमोत्कर्ष तक उठा देने वाला व्यापार) और ४. कतास्त्रोफ़ी (दुःखमय अन्त)।

चरमोत्कर्ष-(क्लाइमैक्स)
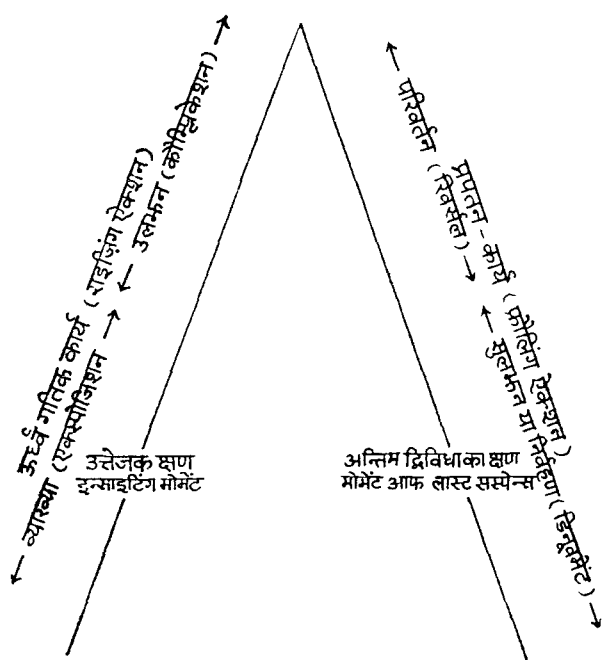
गुस्टाव का पिरैमिड

जर्मन उपन्यास-कार फ्रेटाग गुस्टाव ने 'नाट्य-कौशल' (टेकनिक-डेस ड्रामास,

१८६३) नामक ग्रन्थ में पाँच अंकवाले नाटक की रचना का स्वरूप समझाने के लिए यह त्रिकोण (पिरैमिड) बनाया है जिसे व्यापक रूप से अमरीका और यूरोप के नाटककार मान्य समझते हैं।

भविष्यवाणी (प्रोफ़ेसी)

नाटक में कभी-कभी भविष्यवाणी का और उन अदृश्य शक्तियों का भी प्रयोग किया जा सकता है जो मनुष्य के अधिकार से परे हैं। अतः उनका काम केवल भविष्य के लिए वचन देना मात्र नहीं है। नाटककार चार प्रकार से उनका प्रयोग कर सकता है—१. भविष्य में होनेवाली घटना के लिए साधारण संकेत, जो किसी प्रकार व्यवस्थित रूप से पूरा किया जा सकता है और जिसमें भावी योजना को जाननेवाला कोई व्यक्ति अथवा भविष्यवक्ता ही सूचना दे देता है, जैसे जूलियस सीज़र के प्रथम अंक में एक भविष्यवक्ता आकर कह जाता है—'मार्च के मध्य से सावधान।' २. पहले हो चुके रहनेवाले कार्य की सूचना देना, जिसका शनैः-शनैः उद्घाटन ही नाटक का विकास करता चलता है। ३. ऐसा वचन जो सुनने में आशा-जनक प्रतीत हो किन्तु वास्तव में मिथ्या हो, जैसे मैकबेथ में चुड़ैल (विच) का यह वचन कि स्त्री से उत्पन्न कोई पुरुष मैकबेथ को हानि नहीं पहुँचा सकता। ४. ऐसी भविष्यवाणी जो स्वतः अपने को सत्य करा देती है, जैसे लेडी मैकबेथके होते हुए चुड़ैलों (विचेज) के वचन घटनाओं को इस प्रकार चलाते हैं कि वे सत्य हो जाते हैं। इनमें से अन्तिम प्रकार सबसे अधिक नाटकीय होते हैं किन्तु इनके उदाहरण कम मिलते हैं। वास्तव में भविष्यवाणी का प्रयोग इनमें से चाहे जिस प्रकार भी किया जाय, वह नाटकीय कुतूहल को निश्चय ही नष्ट कर डालता है और दर्शक उस भविष्यवाणी को सूत्र मानकर घटनाओं के परिणाम की कल्पना करने लगते हैं।

देश-काल की योजना

नाटककार को बहुत सावधान होकर देखना चाहिए कि नाटक में कहीं कोई ऐसी बात न आ जाय जो वर्ण्य युग या समाज की प्रकृति से भिन्न हो, जैसे शेक्सपियर ने अपने जूलियस सीज़र नाटक में घड़ी की चर्चा कर दी। इसी प्रकार किसी ऐसी बात का न तो पहले से आभास दे देना चाहिए और न किसी ऐसे भावी कार्य का परिणाम पहले से मान लेना चाहिए जिसकी वास्तविक संगति आगे प्रकट होने वाली हो। यह

पूर्वाभास (प्रोलेप्सिस या प्रोकोनिज्म) नाटक का बहुत बड़ा दोष होता है। इससे नाटकीय कुतूहल की हत्या हो जाती है।

पश्चावर्तन कौशल

आजकल नाटककारों ने प्रायः चल-चित्रों से पश्चावर्तन कौशल (फ्लैश बैक टेकनीक) ग्रहण कर लिया है कि नाटक का आरम्भ किसी प्रमुख घटना के अन्त या मध्य से किया जाय। जैसे न्यायालय का प्रदर्शन करके फिर सहसा रंगमंच पर अँधेरा करके न्यायालय में विचार के लिए प्रस्तुत की जाने वाली घटना दृश्य-परिवर्तन करके दिखा दी जाय। कभी-कभी जब कोई पात्र अपनी पिछली घटना सुनाता या स्मरण करने लगता या स्वप्न में देखने लगता है उस समय भी इस कौशल का प्रयोग किया जा सकता है। इस प्रकार के नाटकों में जिस स्थल से नाटक या कथा में सीधा कार्य प्रारम्भ हो जाता है उसे प्रारम्भ-सूत्र (पौइन्ट औफ़ ए टेक) कहते हैं।

मौन का प्रयोग

कुछ नाटककारों का मत है कि नाटक में 'रंगमंच पर मौन' (साइलेंस औन दि स्टेज) के लिए भी विधान रखना चाहिए। इस मौन से नाटक का दृश्य भी प्रारम्भ किया जा सकता है, आगे आनेवाले दृश्य का संकेत भी किया जा सकता है और किसी विशेष क्षण पर मौन का विधान करके, संवाद रोक कर या संवाद के बदले केवल अभिनेताओं की विशेष मुखाकृति और उनकी चेष्टाओं से ही बहुत-सा अर्थ व्यक्त कराया जा सकता है। जैसे किसी उदार व्यक्ति से उसके निर्धन हो जाने पर कोई आकर परामर्श दे कि आप हाथ रोककर दान दीजिए, इस पर वह मौखिक उत्तर के बदले केवल मौन होकर रह जाय, लम्बी साँस ले या उसकी ओर देखकर मुस्करा भर दे जिसका यह अर्थ होगा कि अब यह कैसे संभव है। इसका दर्शकों पर बहुत गम्भीर प्रभाव पड़ सकता है क्योंकि मौन से उनके मन में तत्काल एक तनाव उपस्थित हो जाता है और उनके मन में यह कुतूहल जागरित हो जाता है कि आगे क्या होनेवाला है। इस मौन से दर्शक की भावना और मानसिक वृत्ति गम्भीर हो जाती है, जैसे वनवास के समय जब सीता और लक्ष्मण के साथ रामचन्द्रजी राज-भवन की सीढ़ियों से धीरे-धीरे उतरते हैं तो जनता दैव-दुर्विपाक के अपरिहार्य विधान से विकंपित होकर 'हाय' कर उठती है। इसी लिए आन्तोन चेखव और हाउप्टमान ने अपने नाटकों में नाटकीय व्यापार कम देकर गम्भीर मानस वृत्ति के मौन-प्रदर्शन का अधिक विधान किया है।

रंगमंच पर बहुत-से लोगों का या मुँह ढके हुए हत्यारों का मौन प्रवेश करना,

दर्शकों पर बहुत प्रभाव डालता है। किसी घटना के फल-स्वरूप रंगमंच पर नायक या किसी प्रधान अभिनेता का चिन्तायुक्त होकर टहलना, बैठ जाना, खिड़की खोलना और बन्द करना, कक्ष की सामग्री इधर-उधर करना, सिगरेट जलाकर बुझा देना, ध्यान से किसी चित्र को देखते रह जाना, मुँह फेर लेना या हाथ उठा भर देना आदि मौन क्रियाओं का रंगनिर्देश देकर नाटककार अपने नाटक में बड़ी सजीवता और भयानक गम्भीरता उत्पन्न कर सकता है। प्रसिद्ध मनोविश्लेषणशास्त्री सिगमण्ड फ्रौयड ने बताया है कि प्रसिद्ध अभिनेत्री इलियोन्योरा ड्यूज ने अपनी भूमिका में स्वयं ऐसी मौन संकेतात्मक चेष्टाओं का समावेश करके अपना अभिनय गम्भीर और प्रभावशाली बना लिया था। यों तो नाट्यप्रयोक्ता और अभिनेता भी मौन के ऐसे स्थलों का प्रयोग कर लेते हैं, किन्तु अच्छा यही है कि नाटककार स्वयं ऐसे स्थलों का निर्देश कर दे जिन्हें अभिनेता अपने मुखज अभिनय के द्वारा ही प्रदर्शित करके इष्ट प्रभाव उत्पन्न कर सकें। मानसिक संघर्ष, प्रसन्नता और सन्देह की अभिव्यक्ति शब्द की अपेक्षा मौन से अधिक सशक्त होकर व्यक्त हो सकती है। किसी बात को सुनकर मौन धारण करना, रंगमंच को रहस्यमय व्यापार के अपरिमित भंडार से भर देता है। इतना ही नहीं, कभी-कभी मौन विधान से नाटक के चरमोत्कर्ष (क्लाइमेक्स) की भी सिद्धि की जा सकती है। 'सन्देहास्पद' (सस्पेक्ट) नामक नाटक में एक महिला पर सन्देह किया जाता है कि उसने पागलपन की अवस्था में एक कुल्हाड़ी से किसी की हत्या कर दी है। अभियोग चलने पर वह मुक्त हो जाती है, किन्तु अन्तिम परदा गिरने से पूर्व वह किसी पर क्रुद्ध हो जाती है और कुल्हाड़ी उठा लेती है। इस क्रिया में कुछ भी स्पष्ट नहीं कहा जाता, किन्तु दर्शक इतने से ही भाँप लेते हैं कि हत्या इसी ने की है।

इतिवृत्त और संविधानक

नाटककार का सबसे बड़ा कौशल संविधानक या कथावस्तु के ग्रथन में है। कथा या इतिवृत्त में जो पात्र, स्थान, घटना और परिणाम नामक चार अंग होते हैं वे ही संविधानक में भी रहते हैं, किन्तु संविधानक में कथा की अपेक्षा पात्र अधिक या कम हो सकते हैं, या स्थान-योजना के क्रम में परिवर्तन हो सकता है, घटनाएँ अधिक, कम या परिवर्तित हो सकती हैं और परिणाम भी पूर्णतः बदला जा सकता है। कथा में यदि नायक स्त्रैण और कायर हो तो नाटककार इस कौशल से कथावस्तु की रचना कर सकता है कि नायक की स्त्रैणता पर ही श्रद्धा हो, उसकी कायरता उसके चरित्र के लिए आवश्यक और अनिवार्य प्रतीत हो। अरस्तू ने नाटकीय क्रिया या व्यापार को ही त्रासद का प्रधान सिद्धांत और आत्मा माना है। इसका यह अर्थ हुआ कि संविधानक

(कथा-वस्तु) की रचना ही नाटक-रचना का मुख्य कौशल है। यह रचना-कौशल आठ बातों पर अवलम्बित है—१. नायक या नायिका के प्रति नाटककार की विशेष अभिरुचि, २. कथा का विषय, ३. प्रदर्शन करने का ढंग, ४. रंगपीठ, ५. अवसर, ६. नाटक का विस्तार, ७. जनता की रुचि और ८. नाटककार के अपने सिद्धांत। ये सब बातें मिलकर नाटक की कथा-वस्तु का ढाँचा बनाने में योग देती हैं। आजकल वैज्ञानिक साधनों ने हमारे रंगपीठ को इतना सम्पन्न कर दिया है कि नाटककार को और भी अनेक प्रकारों से संविधानक रचने की सुविधाएँ मिल गयी हैं।

तीन एकत्व (थ्री यूनिटीज़)

अरस्तू ने अपने काव्य-शास्त्र में घोषणा की है कि त्रासद में नाट्य-व्यापार का एकत्व हो अर्थात् नाटक में एक ही कार्य हो। उसने कहा है कि 'नाटक की कथा में किसी एक ही कार्य का और उस कार्य के भी पूरे अंश का अनुकरण होना चाहिए। उस कार्य से सब अंग इस प्रकार से व्यवस्थित हों कि यदि उनमें से एक भी इधर-उधर कर दिया जाय या निकाल लिया जाय तो वह पूरे का पूरा भिन्न प्रतीत होने लगे और परिवर्तित हो जाय।' अरस्तू ने यह भी कहा है कि नाटक में एक ही समय का वर्णन होना चाहिए। इस सम्बन्ध में उसने इतना ही कहा है—'त्रासद सूर्य की एक परिक्रमा में ही अपने को परिमित करने का प्रयत्न करता है या इससे थोड़ा अधिक भी हो सकता है।' इसका तात्पर्य यह है कि नाटक में किसी एक समय का कार्य दिखाना चाहिए, भिन्न समयों का नहीं। उसने यह भी कहा है कि 'नाटक में एक ही स्थान का कार्य दिखाया जाय' अर्थात् एक ही स्थान पर कार्य दिखाया जाय, कई स्थानों पर नहीं। इस सम्बन्ध में उसने इतना ही संकेत किया है कि 'महाकाव्य की तुलना में त्रासद की कथाएँ अत्यन्त छोटी और थोड़ी परिधि में व्याप्त होती हैं।' पुनर्जागरण काल (१५७०) में कास्तेलवेत्रो ने कार्य (एक्शन), समय (टाइम) और स्थान (प्लेस) के तीनों एकत्वों को क्रमशः सजा कर उनकी परिभाषा बना दी और यह माना जाने लगा कि अरस्तू ने इन तीन एकत्वों का वर्णन ही नहीं किया है, वरन् आग्रहपूर्वक सब लेखकों को उन्हें नियमित रूप से मान लेने के लिए बाध्य भी किया है। उदात्तवादी-सम्प्रदायवालों (क्लासिकलिस्ट्स) ने तो यह घोषणा ही कर दी थी कि अरस्तू यह चाहता था कि किसी भी नाटक का नाट्य-व्यापार एक, अखण्ड और पूर्ण हो जिसमें चौबीस घण्टे का ही कार्य-व्यापार हो (कुछ लोग छत्तीस घण्टे का भी मानते हैं।) और दृश्य भी एक ही अपरिवर्तित रहे अथवा कम-से-कम एक नगर की परिधि तक ही परिमित हो। स्पेन में लोप डि वेगा (१६०९) ने घोषणा की थी कि 'जब मुझे कोई नाटक लिखना होता है तो मैं इन नाट-

कीय एकत्वों के नियम को छः तालियों में बन्द कर देता हूं और जनता से प्रशंसा चाहने-वाले लोगों की कला के अनुसार लिखता हूँ।' उसके थोड़े ही वर्षों पीछे इस समस्या का समाधान करते हुए मौलिए ने फ्रांस में यह प्रश्न किया था कि 'क्या नाटक-रचना के सब नियमों से बड़ा यह नियम नहीं है कि दर्शकों को प्रसन्न किया जाय ?' उसने अपने एक पात्र के मुंह से कहलवाया है कि 'जहाँ तक मेरा सम्बन्ध है, जब कोई नाटक देखने पर उसकी बात मुझे प्रभावित करती है और मेरा पूर्ण मन-बहलाव हो जाता है, तब मैं यह नहीं पूछता हूँ कि मुझसे भूल तो नहीं हो गयी और अरस्तू के नियम मुझे हँसने से रोकते तो नहीं हैं।' वास्तव में ये 'तीन एकत्व के नियम' अरस्तू के उद्दिष्ट थे भी नहीं और न इन तीनों में बाँधकर नाटक का संविधानक रचा ही जा सकता है। केवल एकांकी नाटकों में इनका निर्वाह सम्भव है और एकांकी नाटक वास्तव में नाटक नहीं, नाटक के पुछल्ले हैं।

रंगमंच का अनुभव आवश्यक

किसी नाटककार को यह नहीं समझना चाहिए कि घर में बैठकर उसने जो कुछ संवाद अंक और दृश्य में विभाजित करके रंग-निर्देश के साथ लिख दिया है वह नाटक हो गया। किसी भी रचना को नाटक बनाने के लिए यह आवश्यक है कि नाटककार को रंगमंच का प्रत्यक्ष और चिरकालिक अनुभव हो, अर्थात् वह या तो किसी नाट्य-मण्डली में अभिनेता रहा हो या उसने नियमित रूप से नाट्यशाला, नाट्यशास्त्र और नाट्यसाहित्य का अध्ययन किया हो या उसकी शिक्षा पायी हो। क्योंकि जब तक रंगमंच का प्रत्यक्ष अनुभव नहीं होता, तब तक कोई भी व्यक्ति नाटक नहीं लिख सकता, क्योंकि नाटक लिखते समय नाटककार अपने पात्रों के द्वारा जो संवाद कहलाता है और उनके अभिनय के लिए रंगनिर्देश देता है उसे अपनी कल्पना की आँखों से वह रंगमंच पर देखता चलता है कि उस संवाद को अभिनेता किस प्रकार कह रहा है, रंग-निर्देश के अनु-सार कैसे अभिनय कर रहा है और दर्शकों पर उसकी क्या प्रतिक्रिया हो रही है। जो व्यक्ति स्वयं अभिनेता नहीं रहा होता और जिसे रंगमंच का अनुभव नहीं होता वह इस प्रकार की कल्पना ही नहीं कर सकता और जब कल्पना नहीं कर सकता तब वह नाटक की रचना भी नहीं कर सकता।

बैठकी नाटक

इधर कुछ लोगों ने पढ़ने योग्य साहित्यिक नाटकों को नाटक (ड्रामा) और खेलने-योग्य सर्वबोध नाटकों को खेल या मंच-खेल (प्ले या स्टेज प्ले) कहना प्रारम्भ

किया है। किन्तु नाटक तो नाटक ही होता है अर्थात् उसमें काव्यतत्त्व भी होना चाहिए और दृश्य तत्त्व भी। ललित और लाक्षणिक भाषा-शैली से लदे हुए संवादों को दृश्यों में विभाजित करने मात्र से कोई रचना नाटक नहीं कहला सकती। वास्तव में वही रचना नाटक कहला सकती है जो इस कौशल से लिखी गयी हो कि अभिनेता अपने अभिनय के द्वारा उसे रंगमंच पर लोगों के सम्मुख प्रस्तुत करके उनके हृदय में रस की निष्पत्ति करे। इसी लिए कुछ लोगों का मत है कि अभिनेय नाटक वह है जो नट-सिद्ध (ऐक्टर प्रूफ) हो अर्थात् वह चाहे जैसे अभिनेताओं को दे दिया जाय, वह सफल हो। आजकल इनसे भिन्न वे पठनीय नाटक (क्लोजेट ड्रामा) भी हैं जो खेले जाने के लिए नहीं, पढ़े जाने के लिए ही लिखे जाते हैं। किन्तु इस प्रकार की रचनाएँ नाट्य की श्रेणी में नहीं रखी जा सकतीं। उन्हें नाटकीय कथा कहा जा सकता है, नाटक नहीं। नाटक की रचना होती ही इसलिए है कि वह खेलकर दिखायी जा सके।

नाटक की परिभाषा

भरत ने अपने नाटयशास्त्र में दो स्थानों पर नाटक की परिभाषा दी है। इक्कीसवें अध्याय में उन्होंने कहा है—

यस्मात्स्वभावं संहृत्य सांगोपांगगतिक्रमैः।
अभिनीयते गम्यते च तस्माद्वै नाटकं स्मृतम्॥

[क्योंकि नाटक में सब अंगों, उपांगों और गतियों को क्रम से व्यवस्थित करके उसका अभिनय किया जाता है अर्थात् उसे दर्शकों तक पहुँचाया जाता है, इसलिए उसे नाटक कहते हैं।] सत्रहवें अध्याय के अन्त में उन्होंने पूरी व्याख्या के साथ नाटक की पहचान बतायी है—

मृदुललितपदार्थं गूढशब्दार्थहीनं
बुधजनसुखयोग्यं बुद्धिमन्नृत्तयोग्यम्।
बहुरसकृतमार्गं सन्धिसन्धानयुक्तं
भवति जगति योग्यं नाटकं प्रेक्षकाणाम्॥

[जिसमें कोमल तथा ललित पद और अर्थ हों, गूढ़ शब्दार्थ न हों, जो विद्वानों को सुख देने योग्य हो, जिसे बुद्धिमान् खेल सकें, जिसमें अनेक रसों के प्रदर्शन के लिए अवकाश हो, जिसकी सब संधियों के जोड़ ठीक हों, वही प्रदर्शन के लिए श्रेष्ठ नाटक होता है।] अर्थात् भरत ने सरस और सरल संवाद, सुखदायक कथा, अभिनेता, रस तथा रचना-

कौशल को नाटक के लिए आवश्यक माना है। अभिनव-भरत ने भी अपने अभिनव-नाट्यशास्त्र में नाटक की यह सर्वश्रेष्ठ तथा पूर्ण परिभाषा दी है—

"किसी प्रसिद्ध या कल्पित कथा के आधार पर नाट्यकार द्वारा रचित रचना के अनुसार नाट्य-प्रयोक्ता द्वारा सिखाये हुए नट जब दर्शकों के सम्मुख अभिनय, संवाद तथा संगीत आदि के द्वारा प्रेक्षकों के मन में रस उत्पन्न करके उन्हें तन्मय करते, उनका मनोविनोद करते तथा उस विनोद से उपदेश और मनःशांति प्रदान करते हैं, तब वह सम्पूर्ण प्रयोग ही नाटक या रूपक कहलाता है।"

नाटक के दो पक्ष

नाटक के दो पक्ष होते हैं—काव्य-रचना और प्रयोग। इसमें साध्य है रस, साधन हैं अभिनय, संवाद तथा संगीत आदि, निमित्त हैं नट, भोक्ता हैं दर्शक, आधार है कथा और इन सबका संयोग करने वाले हैं नाट्यकार और नाट्य-प्रयोक्ता। इनमें से नाट्यकार तो संविधानक (कथावस्तु), संवाद और गीत रचना करके अभिनय-सम्बन्धी रंग-निर्देश करता है, और नाट्य-प्रयोक्ता उस रचना के आधार पर रंगपीठ की व्यवस्था करके, नटों को शिक्षा देकर, उन्हें अभिनय, संवाद और संगीत सिखाकर दर्शकों के सम्मुख उनका प्रयोग कराता है। अतः नाटक के दो पक्ष होते हैं—(१) रचना और (२) प्रयोग।

नाटक सुखान्त हो या दुःखान्त

भरत ने अपने नाट्यशास्त्र में नाटक को सुखाश्रयम् (सुख की बातों से भरा) बताया है। मधुरेण समापयेत् (अन्त मधुर हो) की भावना भी इतनी प्रबल होकर हमारे संस्कार में पड़ गयी है कि अमंगलकारी परिणाम की ओर हमारे कविगण प्रवृत्त ही नहीं हुए। इसी लिए भारतीय नाट्य-रचना पर यथार्थवादियों की एक यह भी बड़ी आपत्ति है कि साधारण जीवन में प्रायः प्रत्येक मनुष्य का जीवन दुःखमय ही दिखाई देता है। अतः वे कहते हैं कि सत्यनिष्ठ लेखक को सत्य की रक्षा करने के लिए ही दुःखमय जीवन का वास्तविक रूप उपस्थित करना चाहिए। एक यह भी प्रश्न है कि स्वयं भरत ने जब कहा है कि नाटक में सभी अवस्थाओं का अनुकरण दिखाया जायगा तब उन्होंने ही यह व्यवस्था क्यों दी कि—**न वधस्तत्र स्यात् यत्र तु नायकः ख्यातः** (प्रसिद्ध नायक का वध नाटक में नहीं दिखाना चाहिए)। उत्तर यह है कि नाटक का उद्देश्य तो जन-मन रंजन है। जन-मन रंजन उसी व्यापार से होगा जिसमें अपने इष्ट के लिए पीड़ा, बाधा, विपत्ति आदि का विधान होने पर भी उसका अन्त हर्षमय हो। हम लोग साधारण जीवन में तो अनेक प्रकार के दुःखमय अनुभव करते ही हैं और उस नरकमय

दुःखसमुदाय से छुटकारा पाने के लिए कुछ क्षण अपना मन किसी दूसरी ओर लगाकर जी बहलाने के लिए रंगशाला में जाते हैं। वहां जाकर भी यदि वही सब देखने को मिले तो हमारा जीवन बृहत्तर नरक बन जायगा। इसी लिए दुःखात्मक अन्त हमारे कवियों ने ग्राह्य नहीं किया।

दुःखान्त नाटक क्यों नहीं

कुछ लोग ऐसी कोमल प्रकृति के होते हैं कि वे भयानक दृश्य सह नहीं सकते। किसी की हत्या या किसी की विपत्ति देखकर उनके धैर्य और साहस का बाँध टूट जाता है और वे अधीर होकर या तो रंगशाला में ही रोने लगते हैं या मूर्च्छित हो जाते हैं। अतः लोक-हित की दृष्टि से भी कोई लोक-विषाद का व्यापार अथवा दुःखान्त नाटक त्याज्य है। दुःखान्त नाटक का सबसे बड़ा दोष यह होता है कि उसमें इष्ट या प्रिय नायक या सद्वृत्त की हत्या और दुष्टों की विजय दिखायी जाती है। यह विजय चाहे जितनी स्वाभाविक और अपरिहार्य हो, किन्तु दर्शकों के मन पर इसका सबसे बुरा मानसिक प्रभाव और संस्कार यह पड़ता है कि जीवन में सज्जनता का कोई महत्त्व नहीं है, सज्जन लोग दुष्टों के हाथ के खिलौने होते हैं, सत्य के आगे असत्य की विजय होती है और अन्याय के आगे न्याय घुटने टेक देता है। ऐसे दृश्य देखकर लोगों का आत्म-विश्वास शिथिल हो जाता है, न्याय और सत्य में श्रद्धा नहीं रह जाती, पशुबल और स्वेच्छाचारिता को ही वे वास्तविक शक्ति मान बैठते हैं और उनका परिणाम वही होता है जो यूरोप में रहा है कि अहिंसा को धर्म माननेवाली ईसाई जातियाँ आज विश्व-संहार के लिए कमर कसे बैठी हैं। इस महान् नैतिक कारण से भी दुःखान्त नाटक न लिखना चाहिए, न दिखाना।

दुःखद परिणाम आवश्यक नहीं

अरस्तू भी भयानक या त्रासजनक कार्य दिखाने के पक्ष में तो है, किन्तु नाटक को त्रासद बनाने के लिए नायक या इष्ट पात्र की हत्या कराना वह आवश्यक नहीं बताता। जिन चार प्रकार की त्रासद अवस्थाओं का उसने वर्णन किया है उनमें से उसने चौथी अवस्था को ही श्रेष्ठतम बताया है, जिसमें अभिज्ञान या पहचान हो जाने के कारण भयानक परिणाम होते-होते रुक जाय। इसका अर्थ यही होता है कि अरस्तू त्रासजनक तथा भयानक स्थिति उत्पन्न करने के पक्ष में तो है, किन्तु सदा दुःखद अन्त करने के पक्ष में नहीं है।

जहां तक त्रासात्मक तथा भयानक घटनाओं के सन्निवेश की बात है, उसमें तो

हमारे नाटक भी पीछे नहीं हैं। 'मालतीमाधव' नाटक में मालती का वध करने को कापालिक तैयार होता है और मृच्छकटिक नाटक में चारुदत्त के लिए शूली का विधान होता है। ये अवस्थाएँ कम त्रास-जनक या भयानक नहीं हैं। इनके अतिरिक्त व्यायोग या डिम-जैसे रूपकों और उपरूपकों में कुछ ऐसे भी हैं जिनमें मार-काट, भयानक कृत्य, अभिचार, मंत्र-तंत्र तथा युद्ध आदि का ही वर्णन होता है। किन्तु इतना सब होने पर भी उनका अन्त सुखाश्रित ही होता है। जहां अरस्तू चौथे प्रकार की स्थिति अर्थात् भयानक काण्ड होते-होते सहसा पहचान के द्वारा नाटक सुखान्त करने को सर्वश्रेष्ठ समझता है, वहां वह यूनानी साहित्य के संस्कार से प्रभावित होने तथा इतिहास की रक्षा का पक्षपाती होने के कारण बलपूर्वक, अस्वाभाविक रीति से नाटक को सुख में समाप्त करने के पक्ष में नहीं था। उसका कहना है कि 'प्राय: दर्शकों की दुर्बलता का पक्षपात करके कवि अपने नाटकों का अन्त सुखमय करते हैं, किन्तु यह बड़ा भारी दोष है और ऐसे अन्त केवल प्रहसनों के लिए ही उपयुक्त होते हैं।' किन्तु यह मत ठीक नहीं है। ऊपर जो अनेक नैतिक तथा मनोवैज्ञानिक कारण दिये जा चुके हैं उनकी दृष्टि से नाटक को दु:खान्त नहीं करना चाहिए।

नाटक की परीक्षा

नाटक-रचना की उपर्यंकित सभी विधियों और विधानों का पालन कर लेने पर भी नाटककार को यह नहीं समझ लेना चाहिए कि उसका नाटक पूर्ण हो गया, क्योंकि नाटक की सफलता का स्वरूप कुछ तो प्रशिक्षण-काल अर्थात् अभिनेताओं को सिखाने के समय ही स्पष्ट हो जाता है और शेष नाटक खेलने और प्रयोग करने पर होता है। प्रशिक्षण के समय तो यह ज्ञात होता है कि कहाँ संवाद शिथिल है, कहाँ अभिनय में गति नहीं है, कहाँ दृश्य बढ़ाना या घटाना अथवा संवाद में परिवर्तन करना आवश्यक है। किन्तु यह ज्ञान प्रयोग के पश्चात् ही होता है कि कौन-सा अंश शक्तिहीन रहा और किस अंश में क्या परिवर्तन करने से वह अधिक प्रभावशाली हो सकता है, अथवा कौन-सा अंश लोक-रुचि के प्रतिकूल अथवा शिथिल होने के कारण निकाल देना चाहिए।

कौशलपूर्ण नाटक

आजकल कुछ कौशलपूर्ण नाटक लिखने की प्रथा भी चल पड़ी है। इसके लिए कुछ तो रंगमंच भी उत्तरदायी है और कुछ नाटककार की अपनी प्रवृत्ति भी। आजकल एक ही दृश्य में खेले जाने योग्य, चक्रिल रंगमंच पर खेले जाने योग्य, एक दृश्य बहुपीठात्मक रंगमंच के योग्य, बिना नायकवाले, बहुत नायकोंवाले, नायिका-प्रधान, रूपात्मक,

प्रतीकात्मक, व्यवसायात्मक, केवल बालकों अथवा अन्य किसी विशेष वर्ग के लिए, केवल पुरुष पात्रोंवाले, केवल स्त्री पात्रोंवाले, केवल बालक पात्रोंवाले, शुद्ध शिक्षा-सम्बन्धी, शुद्ध ऐतिहासिक, वैज्ञानिक, मनोविश्लेषणात्मक, वर्गवादी, सिद्धांतवादी, प्रचारवादी आदि अनेक प्रकार के नाटकों का निर्माण किया जा रहा है, जिनका रचना-कौशल अलग-अलग है।

नाट्य-ग्रथन की रूढ़ियाँ

भारतीय नाट्यशास्त्र के अनुसार नाट्यग्रथन के कुछ विशेष सिद्धांत और कुछ रूढ़ियाँ हैं जिनका प्रयोग भारतीय नाटककारों ने नियमतः नहीं तो अधिकाधिक अवश्य किया ही है।

नाट्य-रूढ़ियाँ

संस्कृत के सभी नाटककारों ने कुछ निश्चित नाट्य-रूढ़ियों का नियमित रूप से पालन किया है, जैसे नान्दी, पूर्वरंग-प्रस्तावना, नाटकवस्तु और नाटककार का परिचय, कुछ गिने-चुने कार्यों का निषेध, सूत्रधार और नटी का प्रयोग, स्वगत-कथन और भरत-वाक्य आदि बातें जो समान रूप से हमारे सभी नाटकों में पायी जाती हैं। जिस प्रकार हमारे यहां प्रारम्भ में पूर्वरंग-प्रस्तावना और अन्त में भरतवाक्य का विधान है, उसी प्रकार यूनानी नाटकों में पूर्वकथन (प्रोलोग) और उपसंहार (एपीलोग) का विधान था, किन्तु वहां के उपसंहार में वैसी लोकमंगल की कामना नहीं रहती थी जैसी हमारे यहां भरतवाक्य में। उसमें तो बड़ी लच्छेदार भाषा में केवल क्षमा-याचना तथा जनता की चाटुकारी मात्र रहती थी, जिसका तात्पर्य यह होता था कि 'जो कुछ अच्छा-वुरा है हमने कर दिखाया है। आप लोग बड़े रसिक और गुणज्ञ हैं। आप हमारे दोष क्षमा कीजियेगा।' इस क्षमा-याचना का तात्पर्य यही था कि रंगशाला से बाहर जाकर जनता कुछ न कहे, बुराई न करे।

पूर्वरंग

जहां तक पूर्वरंग या दैवत-पूजन का विधान है वह तो प्रत्येक देश की अपनी-अपनी रूढ़ि, अपने-अपने विश्वास की बात है। भारत की पारसी रंगशालाओं में भी नाटक प्रारम्भ होने से पहले रंगपूजा करने का और ईश्वर-विषयक स्तुति से नाटक प्रारम्भ करने का चलन था। चीन और जापान में भी इस प्रकार की पूर्वरंग-क्रियाओं की प्रथा है। पूर्वरंग के समान ही यूनान में भी धार्मिक क्रिया हुआ करती थी, क्योंकि बहां के

नाटक दिअनुसस देवता के सम्मान में ही खेले जाते थे। वहां नाटक प्रारम्भ करने से पूर्व उस देवता की भली प्रकार पूजा की जाती थी और उसके निमित्त बलि चढ़ायी जाती थी, विशेषतः सुरा के देवता बारबस के लिए तो बलि चढ़ायी ही जाती थी। हमारे यहां पूर्वरंग की क्रिया में और भी बहुत-सी क्रियाएँ होती थीं जिनका परिचय यथास्थान दिया जायगा।

प्रस्तावना

नाटक की प्रस्तावना में नाटक और कवि का परिचय देना भी प्राचीन रूढ़ि रही है। प्रायः संस्कृत के सभी नाटकों में नाटककारों ने तीन का परिचय अवश्य दिया है— १. नाटककार का, २. नाटक की वस्तु का और ३. नाटक खेलने के अवसर का। कभी-कभी इस परिचय में नाटककार ने अपने परिचय के साथ अपने कुल और गोत्र का भी परिचय दे दिया है और अवसर की चर्चा करते हुए यह भी निर्देश कर दिया है कि किस व्यक्ति या समाज की आज्ञा से नाटक खेला जा रहा है। इस प्रकार की प्रस्तावना से बहुत सी जिज्ञासाओं की परितुष्टि हो जाती है और नाटक का विवेचन तथा परीक्षण करनेवालों को बड़ी सुविधा मिल जाती है। नाटक खेला ही इसलिए जाता है कि जनता उसमें रस ले और रस तभी प्राप्त हो सकता है जब जनता उसकी कथा भली प्रकार समझ सके। इसलिए नाटकों में प्रस्तावना अवश्य होनी चाहिए और यह प्रस्तावना नाट्य-प्रयोक्ता या सूत्रधार के द्वारा ही होनी चाहिए। नाटक की कथा यदि इतनी सर्वविदित हो कि वह प्रस्तावना के बिना ही समझ में आ सके तो प्रस्तावना की आवश्यकता नहीं है। यह देखा भी गया है कि कभी-कभी बिना प्रस्तावना वाले नाटकों की कथा समझने में दर्शकों को कोई असुविधा नहीं होती, किन्तु यह ध्यान अवश्य रखना चाहिए कि प्रस्तावना में नाटककार या नाट्यवस्तु की ही चर्चा हो, नाटक की कथा या उसका परिणाम न बताया जाय, अन्यथा दर्शकों की कुतूहल-वृत्ति पहले से तृप्त हो जायगी और रस नष्ट हो जायगा। अतः प्रस्तावना में बताया जाय कि नाटक की कथा किस प्रकार चलायी गयी है, उसमें क्या-क्या घटनाएँ हुई और उनका क्या परिणाम हुआ है।

सूत्रधार-नटी

प्रस्तावना सूत्रधार-नटी से करायी जाय या किसी भी प्रयोक्ता या स्थापक के द्वारा कहला दी जाय, इस विषय में पाँच बातें स्मरण रखनी चाहिए—

१. नाटक के प्रत्येक पात्र को तो रंगपीठ पर उपस्थित होकर अपनी कला दिखाने

का अवसर मिलता है, किन्तु अभिनेताओं को विभिन्न प्रकार के अभिनय सिखाने-वाले सूत्रधार की कला देखने का अवसर जनता को प्राप्त नहीं होता।

२. सूत्रधार ही अभिनेय नाटक के अंग-प्रत्यंग और सूक्ष्म भेदों से परिचित रहता है। वही वास्तव में नाटक का सच्चा पारखी होता है, क्योंकि नाटक की अभिनेयता के वह गुण परख चुकता है, इसी लिए उसे ही अधिकार है कि वह नाटक और नाटककार के विषय में अपनी सम्मति दे।

३. नाटक खेलते समय नाटक के सभी अभिनेता अपनी-अपनी तैयारी में व्यस्त हो जाते हैं। किसी को इतना अवसर नहीं रहता कि वह रंगपीठ पर आकर प्रस्तावना करे और अपनी भूमिका भी सँभाले। अतः सूत्रधार ही एक ऐसा व्यक्ति बच रहता है जिसके पास इसके लिए अवकाश रहता है।

४. प्रत्येक नाटक का प्रयोग आरम्भ होने से पहले अभिनेताओं को तैयार होने में प्रायः विलम्ब हो जाया करता है। इस परिस्थिति में ऐसा कोई एक व्यक्ति अवश्य चाहिए जो जनता का मनोरंजन भी कर सके और उसके समय का उपयोग भी। इसी लिए नटी का भी विधान किया गया है कि वह इतने समय में कुछ ऋतु-सम्बन्धी गीत गाकर या नाचकर जनता को रिझा सके और अभिनेताओं को तैयार होने का अवसर दे सके।

५. मुख्य बात यह है कि नाटक देखनेवाली जनता विज्ञ नहीं होती कि वह झट किसी कथा का सूत्र पकड़ सके। इसलिए ऐसी प्रस्तावना होनी ही चाहिए जिससे नाटक की कथा समझते चलने में सुविधा हो।

निषेध

हमारे यहां कुछ बातें नाट्य-निषिद्ध भी बतायी गयी हैं। नाट्यशास्त्र के बीसवें अध्याय में भरत कहते हैं—

> **क्रोधप्रमादशोकाः शापोत्सर्गौ च विद्रवोद्वाहौ।**
> **अद्भुतसंश्रयदर्शनमङ्कप्रत्यक्षजानि स्युः॥**
> **युद्धं राज्यभ्रंशो मरणं नगररोधनं चैव।**
> **अप्रत्यक्षकृतानि प्रवेशकैः संविधेयानि॥**

[क्रोध, पागलपन, शोक, शाप, परित्याग, भगदड़ या खलबली, विवाह और अद्भुत रस से सम्बन्ध रखने वाली बातें तो प्रत्यक्ष दिखलायी जायँ, किन्तु युद्ध, राज्य-विप्लव, मरण, नगर के घेरे आदि को प्रत्यक्ष न दिखला कर केवल उनकी सूचना 'प्रवे-

शक' द्वारा दे देनी चाहिए।] साहित्यदर्पण के छठे परिच्छेद में नाट्य-निषिद्ध क्रियाओं को गिनाते हुए कहा गया है—

> दूराह्वानं वधो युद्धं राज्यदेशादिविप्लवः।
> विवाहो भोजनं शापोत्सर्गौ मृत्यू रतं तथा॥
> दन्तच्छेद्यं नखच्छेद्यमन्यद्व्रीडाकरं च यत्।
> शयनाधरपानादि नगराद्यवरोधनम्॥
> स्नानानुलेपने चैभिर्वर्जितो नातिविस्तरः॥

[दूर से पुकारना, वध, युद्ध, राज्यविप्लव आदि, विवाह, भोजन, शाप, परित्याग, मृत्यु, मैथुन, दन्तच्छेद, नखच्छेद, शयन, चुम्बन, नगर आदि का घेरा, स्नान और अनुलेपन इत्यादि काम नाटक में नहीं दिखाने चाहिए।] इन दोनों में सबसे बड़ा अन्तर यह प्रतीत होता है कि साहित्यदर्पणकार ने दूर से पुकारना, विवाह, भोजन, शाप, परित्याग, स्नान और अनुलेपन भी त्याज्य बताये हैं। इन सब विवरणों से इतना स्पष्ट है कि तीन प्रकार के कार्य निषिद्ध माने गये हैं, १–जो साधारण लोगों में भी सब के सामने नहीं किये जाते, जैसे अधरपान, रति आदि। २—जो भयंकर, बीभत्स और लोम-हर्षक हों, जैसे मृत्यु। ३—जिन्हें किसी भी प्रकार रंगमंच पर दिखाना संभव न हो, जैसे युद्ध और राज्य-विप्लव। इन सब निषिद्ध बातों में दूराह्वान अर्थात् दूर से पुकारने की बात सभी नाटकों में होती है। अतः सम्भवतः इसी लिए भावप्रकाशनकार और दशरूपककार ने दूराह्वानम् के बदले 'दूराध्वानम्' अर्थात् दूर तक का चलना दिखाना निषिद्ध बताया है। लोक-शील और लोकमर्यादा के अनुसार सभी देशों में यह बात मान्य है कि स्नान, मैथुन आदि क्रियाएँ नाटक में नहीं दिखानी चाहिए, किन्तु यूरोप में भोजन का दृश्य दिखाना या रंगपीठ पर चुम्बन करना अनुचित नहीं समझा जाता। युद्ध और राज्य-विप्लव तथा नगरावरोध के दृश्यों के लिए इतनी अधिक भूमि चाहिए कि उन्हें रंगपीठ पर उपस्थित करना अत्यन्त दुरूह कार्य है। इसी प्रकार युद्ध का दृश्य दिखाना भी रंग-व्यवस्था की सीमा से बाहर का कार्य है। वध, मृत्यु आदि बीभत्स काण्ड दिखाना भी मनोवैज्ञानिक और लोक-मंगल की दृष्टि से उचित नहीं है। तात्पर्य यह है कि देश, समाज और काल के अनुकूल जो चेष्टा घृणित, लज्जाजनक, अश्लील, बीभत्स या भयंकर हो, जिन दृश्यों को रंगमंच पर दिखलाना सम्भव न हो और जिनसे लोकहित के बदले लोक का अहित होता हो उनका विधान नाटक में नहीं करना चाहिए।

कथा-वस्तु; आधिकारिक और प्रासंगिक

ऊपर बताया जा चुका है कि नाटककार का सबसे बड़ा कौशल कथावस्तु के ग्रथन में है। हमारे यहाँ कथावस्तु दो प्रकार की मानी गयी है: १—आधिकारिक और २—प्रासंगिक। कथावस्तु के मुख्य व्यापार (कार्य) को आधिकारिक और गौण व्यापार को प्रासंगिक कथावस्तु कहते हैं। प्रासंगिक कथावस्तु का उद्देश्य आधिकारिक कथावस्तु की सौन्दर्यवृद्धि करना और मूल कार्य या व्यापार के विकास में सहायता देना है। रूपक का फल प्राप्त करने की योग्यता ही अधिकार है और उस फल का स्वामी (प्राप्त करनेवाला) ही अधिकारी कहलाता है। उसी अधिकारी की कथा को आधिकारिक वस्तु कहते हैं। इस आधिकारिक वस्तु के साधक वर्णनों को प्रासंगिक वस्तु कहते हैं, जैसे रामायण में रामचन्द्र का चरित्र आधिकारिक वस्तु है और सुग्रीव का चरित्र प्रासंगिक वस्तु है। प्रासंगिक वस्तु से किसी दूसरे की भी अर्थसिद्धि होती है और प्रसंग के मूल नायक का स्वार्थ भी सिद्ध होता है।

प्रासंगिक कथावस्तु के दो भेद हैं, १—पताका और २—प्रकरी। जब कथावस्तु सानुबन्ध होती है अर्थात् बराबर चलती रहती है तब उसे पताका कहते हैं। जब वह थोड़े काल तक चलकर रुक जाती या समाप्त हो जाती है तब उसे प्रकरी कहते हैं। प्रासंगिक वस्तु में चमत्कारपूर्ण धारावाहिकता लाने के लिए पताका-स्थानक का प्रयोग किया जाता है।

पताका-स्थानक

जहाँ प्रयोग करनेवाला पात्र कुछ और ही कार्य करना चाहता हो, किन्तु समान विवरण वाले अथवा समान गुण वाले किसी नये पदार्थ या भाव के कारण कोई दूसरा ही कार्य हो जाय, अर्थात् जहाँ प्रस्तुत भाव कुछ हो किन्तु सहसा कोई नया भाव प्रकट होकर कुछ और ही कार्य करा डाले, वहाँ पताका-स्थानक होता है। संक्षेप में इसका भाव यही है कि जहाँ करना कुछ हो परन्तु अकस्मात् कोई कारण आ पड़ने से कुछ और ही करना पड़े वहाँ अथवा उस कार्य को पताका-स्थानक कहते हैं। साहित्यदर्पणकार के अनुसार यह चार प्रकार का होता है—

१—जहाँ किसी प्रेमयुक्त व्यवहार से सहसा कोई बड़ी इष्टसिद्धि हो जाय।

२—जहाँ अनेक चतुर वचनों से गुम्फित और अतिशय श्लिष्ट, दुहरे अर्थवाले वाक्य हों।

३—जहाँ किसी दूसरे अर्थ को सूचित करनेवाला, अप्रत्यक्ष अर्थवाला तथा विशेष निश्चययुक्त ऐसा वचन कहा जाय जिसका उत्तर भी श्लेषयुक्त हो।

४—जहाँ सुन्दर श्लेषयुक्त या दो अर्थवाले वचनों का प्रयोग हो और जिसमें प्रधान फल की सूचना होती हो।

ये चारों पताका-स्थानक किसी सन्धि में मंगलार्थक और किसी में अमंगलार्थक होते हैं किन्तु होते सब सन्धियों में हैं।

आधिकारिक, पताका और प्रकरी नाम के तीनों प्रकार के इतिवृत्तों के तीन-तीन भेद होते हैं; १—प्रख्यात आधिकारिक, २—उत्पाद्य आधिकारिक, ३—मिश्र आधिकारिक; १—प्रख्यात पताका, २—उत्पाद्य पताका, ३—मिश्र पताका; १—प्रख्यात प्रकरी, २—उत्पाद्य प्रकरी, ३—मिश्र प्रकरी। ये इतिवृत्त भी या तो दिव्य अर्थात् देव-सम्बन्धी होते हैं या मर्त्य अथवा लोक-सम्बन्धी।

अर्थ-प्रकृति

कथा-वस्तु को प्रधान फल की प्राप्ति की ओर अग्रसर करनेवाले चमत्कारयुक्त अंशों को अर्थ-प्रकृति कहते हैं। मानव-जीवन का उद्देश्य है अर्थ, धर्म और काम की प्राप्ति। नाटक के अर्थ में प्रदर्शित इन उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए जो उपाय किये जायँ वे ही अर्थ-प्रकृति कहलाते हैं। इनके पांच भेद माने गये हैं, १—बीज; मुख्य फल के लिए जो कथाभाग क्रमशः विस्तृत होता जाता है उसे बीज कहते हैं। इसका पहले बहुत ही सूक्ष्म कथन किया जाता है, परन्तु ज्यों-ज्यों व्यापारशृंखला आगे बढ़ती जाती है त्यों-त्यों इसका भी विस्तार होता जाता है। २—बिन्दु; जो बात कारण बनकर बीच की कथा को आगे बढ़ाती है और प्रधान कथा को भी बनाये रखती है उसे बिन्दु कहते हैं। ३—पताका; निरन्तर चलती हुई प्रासंगिक कथा को पताका कहते हैं। पताका में नायक का अपना कोई भिन्न फल नहीं होता। उसकी समस्त चेष्टाएँ प्रधान नायक के फल को सिद्ध करने के लिए ही होती हैं। गर्भ या विमर्श सन्धि में उसका निर्वाह कर दिया जाता है, जैसे सुग्रीव को राज्य-प्राप्ति । ४—प्रकरी; प्रसंग में आये हुए एक-देशीय अर्थात् छोटे-छोटे वृत्तों को प्रकरी कहते हैं, जैसे रामायण में रावण और जटायु का संवाद। प्रकरी के नायक का भी कोई स्वतन्त्र उद्देश्य नहीं होता। ५—कार्य; जिस परिणाम के लिए सब उपायों का आरम्भ किया गया हो और जिसकी सिद्धि के लिए सब सामग्री इकट्ठी की गयी हो उसे कार्य कहते हैं, जैसे रामायण में रावण का वध।

अवस्था

प्रत्येक नाटक में कार्य या व्यापार-शृंखला की पांच अवस्थाएँ होती हैं, १—आरम्भ; जिसमें किसी फल की प्राप्ति के लिए औत्सुक्य होता है, २—प्रयत्न; जिसमें उस फल

की प्राप्ति के लिए शीघ्रता का उपयोग किया जाता है, ३—प्राप्त्याशा अथवा प्राप्ति-सम्भव; जिसमें सफलता की सम्भावना जान पड़ती हो, किन्तु साथ ही विफलता की आशंका भी बनी रहती हो, ४—नियताप्ति; जिसमें सफलता निश्चित हो जाती है, ५—फलागम; जिसमें सफलता प्राप्त हो जाती है और उद्देश्य की सिद्धि के साथ ही अन्य समस्त संचित फलों की प्राप्ति हो जाती है। साधारणतः सुव्यवस्थित कथा-वस्तु वाले नाटक वे ही समझे जाते हैं जिनमें प्राप्त्याशा अवस्था लगभग मध्य में आती है। नाटक का पहला आधा अंश आरम्भ तथा प्रयत्न में और पिछला आधा अंश नियताप्ति तथा फलागम में प्रयुक्त किया जाता है।

सन्धियाँ

कथा की उपर्यंकित पांच अवस्थाओं के योग से अर्थ-प्रकृतियों के रूप में फैले हुए कथानक के पांच अंश हो जाते हैं। एक ही प्रधान प्रयोजन को साधने वाली विभिन्न कथाओं के नाटक के किसी एक प्रयोजन के साथ सम्बन्ध होने को सन्धि कहते हैं। ये पांच प्रकार की होती हैं—

(क) मुख-सन्धि—प्रारम्भ नामक अवस्था के साथ संयोग होने से जहाँ अनेक अर्थों और रसों की व्यंजक बीज नामक अर्थ-प्रकृति की उत्पत्ति हो उसे मुख-संधि कहते हैं। मुखसंधि के बारह भेद माने गये हैं—(१) उपक्षेप—बीज का न्यास अर्थात् संक्षेप में इतिवृत्त की सूचना, (२) परिकर—बीज की वृद्धि अर्थात् सूक्ष्म इतिवृत्त का विषय-विस्तार, (३) परिन्यास—बीज की निष्पत्ति या सिद्धि अर्थात् वर्णनीय विषय को निश्चय के रूप में प्रकट करना, (४) विलोभन या गुण-कथन, (५) युक्ति—प्रयोजनों या उद्देश्यों का सम्यक् निर्णय, (६) प्राप्ति—सुख की प्राप्ति, (७) समाधान—बीज को ऐसे रूप में पुनः प्रदर्शित करना जिससे वह नायक अथवा नायिका को अभिमत प्रतीत हो, (८) विधान—सुख-दुःख के कारणों का प्रस्तुत होना, (९) परिभव या परिभावना—किसी आश्चर्यजनक दृश्य को देखकर कुतूहल-युक्त बातों का कथन, (१०) उद्भेद—बीज के रूप में छिपी हुई बात खोलना, (११) कारण—प्रस्तुत अर्थ का आरम्भ, (१२) भेद—प्रोत्साहन देना।

ये बारहों अंग हमारे आचार्यों के सूक्ष्म भेदोपभेद करने की रुचि के सूचक मात्र हैं। इन सब अंगों का किसी नाटक में निर्वाह होना कठिन है इसलिए यह कह भी दिया गया है कि उपक्षेप, परिकर, परिन्यास, युक्ति, समाधान और उद्भेद इन छः अंगों का होना तो आवश्यक है, शेष छः भी रहें तो अच्छा ही है, नहीं तो इन्हीं से मुख-संधि का उद्देश्य सिद्ध हो जायगा।

(ख) प्रतिमुख सन्धि—मुख-सन्धि में दिखलाये हुए बीज का जिसमें कुछ लक्ष्य और कुछ अलक्ष्य रीति से उद्भेद हो, अर्थात् नाटकीय प्रधान फल का साधक इतिवृत्त कभी गुप्त और कभी स्पष्ट हो, उसे प्रतिमुख सन्धि कहते हैं। प्रयत्न अवस्था और बिन्दु अर्थ-प्रकृति के समान प्रतिमुख सन्धि भी कार्य-शृंखला को अग्रसर करती है। प्रयत्न अवस्था में फल-प्राप्ति के लिए शीघ्रता से उद्योग होता है। बिन्दु अर्थ-प्रकृति में कथा अविच्छिन्न रहकर आगे बढ़ती है तथा प्रतिमुख सन्धि में मुख-सन्धि के प्रधान फल का किंचिन्मात्र विकास होता है। इस सन्धि के तेरह अंग माने गये हैं—(१) विलास—आनन्द देनेवाले पदार्थ की कामना, (२) परिसर्प—पहले विद्यमान किन्तु पीछे खो चुकी हुई या नष्ट वस्तु की खोज, (३) विधूत—सुखप्रद वस्तुओं का तिरस्कार, (४) शम—सुखप्रद वस्तुओं के तिरस्कार का लोप। साहित्यदर्पणकार ने इस अंग के स्थान पर 'तापन' अंग का उल्लेख किया है जिसका अर्थ है उपाय का अदर्शन या अभाव। (५) नर्म—परिहास-वचन, (६) द्युति या नर्मद्युति—परिहास से उत्पन्न आनन्द, अथवा दोष छिपानेवाला परिहास, (७) प्रगमन—उत्तर-प्रत्युत्तर के उत्कृष्ट वचन, (८) निरोध—हितरोध अर्थात् हितकर वस्तु की प्राप्ति में रुकावट। साहित्यदर्पणकार ने इसके बदले विरोध लिखा है। (९) पर्युपासन—क्रुद्ध को मनाना, (१०) पुष्प—विशेष अनुराग उत्पन्न करनेवाला वचन, (११) उपन्यास—युक्तिपूर्ण वचन, (१२) वज्र—सम्मुख निष्ठुर वचन, (१३) वर्ण-संहार—चारों वर्णों का सम्मेलन। अभिनवगुप्तपादाचार्य का मत है कि वर्ण-संहार के वर्ण शब्द से नाटक के पात्र लक्षित होते हैं। अतः पात्रों के सम्मेलन को वर्णसंहार कहना चाहिए, न कि भिन्न-भिन्न जाति के लोगों का समागम; यही ठीक भी है।

(ग) गर्भ-सन्धि—इसमें प्रतिमुख सन्धि के किंचित् प्रकाशित बीज का बार-बार आविर्भाव, तिरोभाव तथा अन्वेषण होता रहता है। इस सन्धि में प्राप्त्याशा अवस्था और पताका अर्थ-प्रकृति रहती है। प्राप्त्याशा अवस्था में सफलता की सम्भावना के साथ विफलता की आशंका भी बनी रहती है और पताका अर्थ-प्रकृति में प्रधान फल को सिद्ध करनेवाला प्रासंगिक वृत्तान्त रहता है। यदि इस संधि में पताका अर्थ-प्रकृति न हो तो प्राप्त्याशा अवस्था भी उत्पन्न नहीं हो सकती। गर्भ-सन्धि के बारह अंग माने गये हैं—(१) अभूताहरण; कपट-वचन, (२) मार्ग; सच्ची बात कहना, (३) रूप; वितर्कयुक्त वाक्य, (४) उदाहृति या उदाहरण; उत्कर्षयुक्त वचन, (५) क्रम; जिसकी अभिलाषा हो, उसकी प्राप्ति अथवा किसी के भाव को ठीक ठीक समझ लेना, (६) संग्रह; साम-दान से युक्त उक्ति, (७) अनुमान; किसी चिह्न-

विशेष से किसी बात का अनुमान करना, (८) अधिबल; धोखा होना, (९) त्रोटक; क्रोध का वचन, (१०) उद्वेग; शत्रु का डर, (११) सम्भ्रम; शंका और त्रास, (१२) आक्षेप; गर्भ-स्थित बीज का स्पष्ट होना।

साहित्यदर्पण में गर्भ-संधि के जो तेरह अंग माने गये हैं उनमें 'आक्षेप' अंग नहीं है। 'संभ्रम' के लिए 'विद्रव' शब्द का प्रयोग है और 'प्रार्थना' तथा 'क्षिप्ति' ये दो अंग अधिक हैं। प्रार्थना का अर्थ है रति, हर्ष और उत्सवों के लिए अभ्यर्थना तथा क्षिप्ति का अर्थ है 'रहस्य का भेद खोलना'। जो लोग निर्वहण-सन्धि में 'प्रशस्ति' नामक अंग नहीं मानते, वे गर्भसन्धि में तेरह अंग मानते हैं।

(घ) अवमर्श या विमर्श-सन्धि--गर्भ-सन्धि की अपेक्षा बीज का अधिक विस्तार होने पर उसके फलोन्मुख होने में जब शाप, क्रोध, विपत्ति या विलोभन के कारण विघ्न उपस्थित होते हैं तब विमर्श-सन्धि होती है। इसमें नियताप्ति अवस्था और प्रकरी अर्थ-प्रकृति होती है। इसके तेरह अंग माने गये हैं--(१) अवपाद; दोष का फैलना, (२) सम्फेट; दोष भरे वचन (खिसियानी बातें), (३) विद्रव; वध, बन्धन आदि, (४) द्रव; गुरुजनों का अपमान, (५) शक्ति; विरोध का शमन, (६) द्युति; तर्जन और उद्वेजन (डाटना-फटकारना), (७) प्रसंग; गुरुजनों का कीर्तन, (८) छलन; अपमान का अनुभव, (९) व्यवसाय अपनी शक्ति का कथन, (१०) विरोधन; कार्य में विघ्न का ज्ञापन, (११) प्ररोचना; भावी अर्थसिद्धि की सूचना अर्थात् सफलता के लक्षण देखकर भविष्य का अनुमान, (१२) विचलन; बढ़-बढ़कर बातें करना, (१३) आदान; कार्य का संग्रह अर्थात् अपने अर्थ का साधन।

(ङ) निर्वहण-सन्धि--इसमें प्रधान प्रयोजन की सिद्धि के लिए समाहार हो जाता है, पूर्व-कथित चारों सन्धियों में यथास्थान वर्णित अर्थ और मुख्य फल की प्राप्ति भी हो जाती है। इसमें फलागम अवस्था और कार्य अर्थ-प्रकृति आती है। इसके चौदह अंग माने गये हैं--

(१) सन्धि; बीज का आगमन (उद्भावना) अर्थात् बीज डालना, (२) विबोध; कार्य का अनुसन्धान या जांच, (३) ग्रथन; कार्य की चर्चा या वार्ता, (४) निर्णय; अनुभव-कथन, (५) परिभाषण; एक दूसरे को अपना ही अपराध कह सुनाना, (६) प्रसाद; कुछ कह या करके प्रसन्न करना, (७) आनन्द; अभिलषित अर्थ की प्राप्ति, (८) समय; दुःख दूर होना, (९) वृत्ति; लब्ध अर्थों द्वारा शोक आदि का शमन अथवा शोकादि से उत्पन्न अस्थिरता का निवारण, (१०) भाषण; प्रतिष्ठा, मान, यश आदि की प्राप्ति अथवा साम, दान आदि, (११) पूर्वभाव; कार्य का दर्शन, (१२)

उपगूहन; अद्‌भुत वस्तु की प्राप्ति या अनुभव, (१३) काव्य-संहार; वर-प्राप्ति, (१४) प्रशस्ति; आशीर्वाद।

सन्ध्यन्तर

कुछ शास्त्रकारों का मत है कि सन्धियों के अन्तर्गत उपसन्धियाँ, अन्तःसन्धियाँ या सध्यन्तर भी होते हैं। इनका उद्देश्य भी व्यापार-शृंखला की शिथिलता दूर करके उसे अग्रसर करना और उसमें चमत्कार भरना होता है। ये अन्तःसन्धियाँ इक्कीस बतलायी गयी हैं—(१) साम; अपनी अनुवृत्ति को प्रकाशित करनेवाला प्रिय वाक्य, (२) दान; अपने प्रतिनिधि स्वरूप भूषणादि का समर्पण, (३) भेद; कपट-वचनों द्वारा सुहृदों में भेद डालना, (४) दण्ड; अभिनय सुन या देखकर डाटना, (५) प्रत्युत्पन्नमतित्व; अवसर के अनुकूल उचित आचरण करना, (६) वध; दुष्ट का दमन, (७) गोत्रस्खलन; नाम का व्यतिक्रम, अर्थात् जिसे संबोधन करना हो उसके नाम के बदले अपने प्रिय का नाम लेना, (८) ओज; अपनी शक्ति के सूचक वचन, (९) धी; इष्ट कार्य सिद्ध न होने तक चिन्ता, (१०) क्रोध, (११) साहस, (१२) माया, (१३) संवृत्ति; अपने कथन को छिपाना, (१४)?, (१५) भ्रान्ति, (१६) दौत्य, (१७) हेत्ववधारण; किसी कारण से कोई निश्चय करना, (१८) स्वप्न, (१९) लेख, (२०) मद, (२१) चित्र। इनमें से स्वप्न, लेख और चित्र आदि का उपयोग संस्कृत नाटकों में प्रायः किया गया है।

सन्ध्यंगों और सन्ध्यन्तरों का उद्‌देश्य

इस प्रकार पांच सन्धियों के चौंसठ अंग और इक्कीस सन्ध्यन्तर होते हैं। इनका प्रयोग छः निमित्तों से होता है, १—इष्टार्थ; रचना को पुष्ट करने के लिए, २—गोप्य-गोपन; जिस बात को गुप्त रखना हो, उसे छिपाने के लिए, ३—प्रकाशन; जिस बात को प्रकट करना हो, उसे स्पष्ट करने के लिए, ४—राग; भावों का संचार करने के लिए, ५—आश्चर्य प्रयोग; चमत्कार लाने के लिए और ६—वृत्तान्त का अनुपक्ष; कथा को ऐसा विस्तार देने के लिए जिससे उसमें लोगों की रुचि बनी रहे।

साहित्यदर्पणकार का कहना है कि जैसे अंगहीन मनुष्य कोई काम करने के लिए अयोग्य होता है वैसे ही अंगहीन काव्य भी प्रयोग के योग्य नहीं होता। सन्धि के अंगों का सम्पादन नायक या प्रतिनायक द्वारा कराना चाहिए। उनके अभाव में पताका-नायक द्वारा कराया जाय। वह भी न हो तो कोई दूसरा ही करे। सन्धि के अंग प्रायः प्रधान पुरुषों के द्वारा प्रयोग करने योग्य होते हैं। उपक्षेप, परिकर और परिन्यास अंगों

(सुख-सन्धि) में बीज-भूत अर्थ बहुत थोड़ा रह जाता है। अतएव उनका प्रयोग अप्रधान पुरुषों के द्वारा हो सकता है। इन अंगों का प्रयोग रसाभिव्यक्ति के निमित्त होना चाहिए, केवल शास्त्रपद्धति का अनुकरण करने के लिए नहीं। जो वृत्तान्त इतिहासप्रसिद्ध होने पर भी रसाभिव्यक्ति में अनावश्यक या प्रतिकूल होते हों उन्हें पूर्णतः बदल देना चाहिए।

अवस्थाएँ तो कार्य अर्थात् व्यापार-शृंखला की भिन्न-भिन्न स्थितियों की द्योतिका हैं, अर्थ-प्रकृतियाँ कथा-वस्तु के तत्त्वों की सूचिका हैं और सन्धियाँ नाटकरचना के विभागों का निदर्शन करती हैं। तीनों बातें एक ही अर्थ की सिद्धि करती हैं, पर तीनों के नामकरण और विवेचन तीन दृष्टियों से किये जाते हैं——एक में कार्य का, दूसरी में वस्तु का और तीसरी में नाटक-रचना का ध्यान रखा जाता है। इस प्रकार अर्थ-प्रकृति, अवस्था और सन्धि तीनों के पाँच-पाँच भेद होते हैं और वे एक-दूसरे के सहायक या अनुकूल होकर आते हैं। वस्तु के तत्त्वों से अर्थ-प्रकृतियों का, कार्य-व्यापार से अवस्थाओं का और रूपक-रचना के विभागों से सन्धियों का सम्बन्ध होता है।

वस्तु तत्त्व (अर्थ-प्रकृति)	कार्य व्यापार की अवस्था	सन्धि
१——बीज	१——आरम्भ	१——मुख
२——बिन्दु	२——प्रयत्न	२——प्रतिमुख
३——पताका	३——प्राप्त्याशा	३——गर्भ
४——प्रकरी	४——नियताप्ति	४——विमर्श
५——कार्य	५——फलागम	५——निर्वहण

अंक और दृश्य

भरत ने अपने नाट्यशास्त्र के संध्यंग-विकल्प नामक इक्कीसवें अध्याय में अवस्था, सन्धि और अर्थप्रकृतियों का बड़ा लम्बा-चौड़ा विवरण देकर दशरूपक-विधान में नाटक-रचना के सम्बन्ध में यही कहा है कि नाटक की कथा अंकों में बाँट देनी चाहिए। अंक की व्याख्या करते हुए वे कहते हैं——

'अंक' रूढ शब्द है। भावों और रसों के द्वारा जो काव्यार्थों को ऊपर चढ़ाता हो और अनेक प्रकार के विधानों से युक्त हो उसे अंक कहते हैं।

कथा-वस्तु को अंकों में बाँटने की प्रथा प्रायः सभी देशों के नाटककारों ने स्वीकार की है, क्योंकि एक ही कथा में बहुत दिनों, महीनों या वर्षों तक की घटनाएँ हो सकती हैं। अतः एक-एक समय की कथा एक-एक अंक में रखी जानी चाहिए। इस सम्बन्ध में भरत ने कहा है—कथावस्तु या काव्य की घटनाओं के क्षण, प्रहर, मुहूर्त्त आदि लक्षणों

से युक्त दिनों के अनुसार पूरे काव्य को भलीभाँति अलग-अलग अंकों में बांट देना चाहिए। दिन समाप्त होने तक का पूरा काम यदि अंक में न आ सकता हो तो अंक समाप्त करके शेष काम प्रवेशक के द्वारा कहला देना चाहिए। एक महीने या एक वर्ष के काम पर अंक तोड़ देना चाहिए और वह सब काम एक-एक अंक में समाप्त कर देना चाहिए। किन्तु एक वर्ष से ऊपर का काम कभी एक अंक में नहीं करना चाहिए।

नाटक-लक्षण-रत्नकोशकार ने लिखा है—

एक अंक में एक दिन का ही काम दिखाना चाहिए। कथा में जितनी बातें दिखानी हों उनमें से एक-एक दिन की कथा एक-एक अंक में दिखानी चाहिए। एक आचार्य कहते हैं कि अंक में आधे दिन की कथा दिखानी चाहिए। दूसरे आचार्य का कहना है कि एक रात-दिन की घटना एक अंक में ही कही जा सकती है। जहाँ आवश्यकतावश अधिक काल की कथा कहलानी हो वहाँ प्रवेशक द्वारा कहलानी चाहिए। किन्तु एक वर्ष से ऊपर की घटना एक अंक में नहीं होनी चाहिए अर्थात् बहुत दिनों की बात एक ही अंक में नहीं आनी चाहिए।

अंकों के निर्माण का यह सिद्धान्त इस युग में स्वीकार्य नहीं हो सकता। भवभूति ने अपने महावीर-चरित नाटक के पाँचवें अंक में शबरी-प्रसंग, दनु की मुक्ति, बालि-वध इत्यादि अनेक घटनाएँ एक साथ दिखाई हैं, यद्यपि इन घटनाओं के होने में बहुत दिन लगे हैं। दूसरी बात यह है कि संस्कृत के नाटकों में 'परिक्रामति' या 'सर्वे परिक्रामन्ति' का निर्देश देकर नाटककार काल-परिवर्तन और स्थान-परिवर्तन का निर्देश एक साथ कर देता था। यूरोप के नाटककारों ने अंकों का निर्माण इस सिद्धान्त पर किया है कि किसी भी कथावस्तु में कुछ निश्चित गति होती है। वह गति जहाँ तक एक धारा में चलती है वहाँ तक का अंश एक अंक में मान लिया जाता है और जहाँ से वह बदलती है वहाँ से दूसरा अंक मान लिया जाता है। संस्कृत नाटकों में जहाँ एक दृश्यात्मक अंक में कई दृश्यों का समावेश कर देते हैं वही यूरोपीय नाटककार अंकगत स्थान के अनुसार एक-एक अंक में उतने ही दृश्य बना लेते हैं।

एक-एक अंक में नाटकीय कार्य की एक पूरी गति हो और वह गति जितनी बैठकों या स्थितियों में पूर्ण हुई हो उतने ही दृश्यों में दिखायी जाय। प्रयोग की सुविधा के अनुसार दृश्यों का क्रम ऐसा हो कि रंग-व्यवस्थापक उनकी व्यवस्था कर सकें अर्थात् यदि एक दृश्य गहरा हो जिसमें बहुत सजावट हो, पात्र आकर बैठते, लेटते या सोते हों अथवा उसमें दृश्यात्मक वस्तुएँ ऐसी लगी हों जिनके हटाये बिना अगला दृश्य पूरा न बन सकता हो, तो ऐसे दृश्यों के पश्चात् नियमतः ऐसा संकीर्ण दृश्य रखना चाहिए जिसमें खड़े-खड़े नाटकीय व्यापार हो जाय या पात्र भूमि पर बैठकर अभिनय करें

अथवा पात्र बैठने आदि के आसन साथ ले आयें और स्वयं साथ ले जायँ। यद्यपि जापान के चक्रिल रंगमंच (रिकल्विन्ग स्टेज) और संसर्पी रंगपीठ (शिफ्टिंग स्टेज) पर लगातार गहरे दृश्य भी दिखाये जा सकते हैं, तथापि साधारणतः नाटककार को किसी विशेष रंगपीठ के अनुकूल नाटक नहीं लिखना चाहिए। अतः अंक में दृश्यों की योजना इस प्रकार होनी चाहिए कि एक गहरे दृश्य के पश्चात् एक संकीर्ण दृश्य अवश्य ही हो और यह संकीर्ण दृश्य इतने समय तक चलता रहे कि रंग-व्यवस्थापक अगले गहरे दृश्य की पूरी सजावट और व्यवस्था कर सके। कभी-कभी नाटककारों की इस भूल से नाटक दिखानेवालों को बलपूर्वक बाहर से कोई प्रहसन या गीत लाकर रखना पड़ता है और कथा के प्रवाह में बाधा पड़ जाती है।

दृश्य का परिमाण

एक दृश्य कितना बड़ा हो इस विषय में कोई नियम नहीं बनाया जा सकता। किन्तु कुछ नाटकीय सिद्धान्त उसका परिमाण निश्चित करने में सहायक हो सकते हैं। एक ही दृश्य को अधिक समय तक देखते रहने से दर्शक ऊब जाते हैं। अतः एक दृश्य को थोड़े-थोड़े समय में बदलते रहना चाहिए, जिसकी अवधि आधी घड़ी या बारह मिनट से अधिक न हो। इस आधी घड़ी के दृश्य में भी किन्हीं दो या तीन पात्रों की बातें ही बातें न भरी हों, वरन् उसमें मिनट-मिनट पर भाव, कार्य, घटना इत्यादि का परिवर्तन होता रहना चाहिए, जैसे पात्रों का उठना, चलना, क्रोध करना, किसी का किसी को भेजना, कुछ वस्तुओं को उठाना या रखना आदि। वर्तमान नाटकों में एक अवांछनीय प्रवृत्ति यह चल पड़ी है कि उनके पात्र अकारण ही पीठासनों के रहते हुए भी चलते-फिरते रहते हैं, किन्तु यह अत्यन्त अस्वाभाविक और अनुचित है। पात्रों की जितनी भी गति हो सब स्वाभाविक और आवश्यक हो। अतः नाटककार का यह धर्म है कि वह वाचिक अभिनय के साथ-साथ आंगिक और सात्त्विक अभिनय के लिए बीच-बीच में अवसर देता रहे, जहाँ तक सम्भव हो एक अंक में तीन या चार दृश्य से अधिक न हों।

अंकों की संख्या

एक नाटक में कितने अंक हों इस विषय में भी हमारे यहाँ के नाट्याचार्यों ने सीमा बाँध दी है, जैसे नाटक में पाँच से दस तक, भाण में एक, समवकार में तीन और ईहामृग में चार अंक आदि। किन्तु अंकों की संख्या इस प्रकार बाँधना ठीक नहीं है। जहाँ तक सम्भव हो नाटक का आख्यान तीन धाराओं में बाँटकर तीन अंकों में स्थापित

कर देना चाहिए, क्योंकि बहुत बार अंकों का व्यवधान तथा यवनिका-पतन दर्शकों को बहुत खलता है। आजकल प्रायः नाटककार तीन अंक के नाटक लिख रहे हैं। किन्तु जैसा हम ऊपर कह आये हैं, अंकों की संख्या निर्धारित नहीं की जा सकती। नियम यह होना चाहिए कि जितने सुविधाजनक भागों में नाट्य-कथा विभाजित की जा सके उतने ही अंक होने चाहिए, किन्तु प्रयत्न यही करना चाहिए कि पाँच से अधिक अंक न हों और कुल नाटक ढाई या तीन घंटे तक के भीतर समाप्त हो जाय।

इसका तात्पर्य यह है कि एक स्थान पर एक समय निरन्तर होनेवाली घटना का अंश ही नाटक का अंक कहलाता है। एक अंक में एक दिन से अधिक की घटनाएँ नहीं होनी चाहिए। यह सम्भव न हो तो उसे इस प्रकर से संक्षिप्त करना चाहिए कि वह काव्य के सौष्ठव को नप्ट न करने पाये। सब अंक परस्पर इस प्रकार सम्बद्ध होने चाहिए कि प्रथम अंक की घटना दूसरे अंक की घटना से साधारणतः निकलती हुई जान पड़े। अंकों में वस्तुविन्यास इस रीति से होना चाहिए कि जहाँ कहीं किसी अंक में किसी कार्य की समाप्ति अथवा किसी फल की प्राप्ति होती जान पड़े वहाँ कोई बात ऐसी आ जानी चाहिए जो कार्य-व्यापार को अग्रसर कर दे। परन्तु यह आवश्यक नहीं है और न ऐसा प्रायः देखने में ही आता है कि एक अंक के अनन्तर दूसरा अंक आ जाय और दोनों में जिन घटनाओं का वर्णन हो उनके बीच के समय की घटनाओं का उल्लेख ही न हो। प्रायः दो अंकों के बीच एक वर्ष तक का समय अन्तर्हित रहता है। यदि उससे अधिक का समय इतिहास से अनुमोदित हो तो नाटककार को उसे घटाकर एक वर्ष या उससे कम का कर देना चाहिए। सामाजिकों को इस अन्तर की सूचना देने के लिए शास्त्रकारों ने पाँच प्रकार के दृश्यों का विधान किया है, जिन्हें अर्थोपक्षेपक कहते हैं।

अर्थोपक्षेपक

अर्थोपक्षेपक के द्वारा वे बातें भी प्रकट की जाती हैं जो सूच्य वस्तुओं में गिनी जाती हैं और जिनका अभिनय करके दिखाना या तो शास्त्र से अनुमोदित नहीं है या नाटककार को इष्ट नहीं होता। ये अर्थोपक्षेपक पाँच हैं—

१. विष्कम्भक

जिसमें पहले हो चुकी रहनेवाली अथवा अभी होनेवाली कथा की सूचना मध्यम पात्रों के द्वारा दी जाती है या उसका संक्षिप्त वर्णन किया जाता है। यह दो प्रकार का होता है—शुद्ध और संकर। जब एक अथवा अनेक मध्यम पात्र इसका प्रयोग करते

हैं तब यह शुद्ध कहलाता है और जब मध्यम तथा नीच पात्रों के द्वारा इसका प्रयोग होता है तब यह संकर कहा जाता है। शुद्ध विष्कम्भक में मध्यम पात्रों का भाषण या वार्तालाप संस्कृत में और संकीर्ण विष्कम्भक में मध्यम तथा नीच पात्रों का संवाद प्राकृत में होता है।

२. प्रवेशक

इसमें बीती हुई या आगे आनेवाली बातों की सूचना नीच पात्रों द्वारा दी जाती है। यह सदा अंकों के बीच में आता है, अतः पहले अंक में आ ही नहीं सकता। जो बातें छूट जाती या छोड़ दी जाती हैं उन्हीं की सूचना इसके द्वारा दी जाती है। इसमें पात्रों की भाषा उत्कृष्ट नहीं होती।

३. चूलिका

नेपथ्य से किसी रहस्य की सूचना देने को चूलिका कहते हैं। रसार्णवसुधाकर में 'खण्ड चूलिका' का भी उल्लेख है जिसका प्रयोग उस समय होता है जब किसी अंक के आरम्भ में रंगमंच पर स्थित एक पात्र नेपथ्य में स्थित दूसरे पात्र से बात करता है।

४. अंकास्य

जिसमें आगे के अंक में होनेवाली बातों के आरम्भ की सूचना किसी अंक के अन्त में उपस्थित पात्रों के द्वारा दी जाती है।

५. अंकावतार

जिसमें एक अंक की कथा अगले अंक में बराबर चलती रहती है, केवल पहले अंक के अन्त में पात्र बाहर जाकर अगले अंक के आरम्भ में पुनः आ जाते हैं।

अंकास्य और अंकावतार में इतना ही भेद है कि अंकास्य में तो आगे के अंक की बातों की सूचना मात्र दी जाती है और अंकावतार में पहले अंक के पात्र अगले अंक में पुनः आकर उसी कार्य-व्यापार को अग्रसर करते हैं। साहित्यदर्पणकार ने अंकावतार का जो लक्षण लिखा है वह अंकास्य के लक्षण से बहुत कुछ मिलता है। इसी लिए उन्हें इन दोनों में परस्पर भ्रम हो जाने की ऐसी आशंका हुई कि उन्होंने 'अंकास्य' के स्थान पर 'अंकमुख' नाम का एक भिन्न अर्थोपक्षेपक मानकर उसकी व्याख्या इस प्रकार की है—

'जहाँ एक ही अंक में सब अंकों की अविकल सूचना दी जाय और वही अंक बीजभूत

अर्थ का सूचक भी हो, उसे अंकमुख कहते हैं।' इससे स्पष्ट है कि अंकास्य और अंकमुख में इतना ही भेद है कि अंकास्य में केवल आगे के अंक की कथा सूचित की जाती है और अंकमुख में संपूर्ण नाटक की।

विश्लेषण

नाट्यशास्त्र के भारतीय आचार्यों ने कथानक या कथावस्तु को आधिकारिक और प्रासंगिक दो प्रकार की बतलाकर मौलिक भूल की है। वास्तव में कथावस्तु या नाटकीय इतिवृत्त एक ही होता है। उन्होंने आधिकारिक और प्रासंगिक (पताका और प्रकरी) नाम से जो भेद किये हैं वे वास्तव में इतिवृत्त के अंग हैं, प्रकार नहीं। प्रत्येक कथानक में कुछ मूलकथा होती है और कुछ ऐसी घटनाएँ होती हैं जो उस कथा को पुष्ट करने में योग देती हैं। ये सब कथा को पुष्ट करनेवाले प्रसंग या तो नाट्यनायक के चरित्र-विकास में योग देते हैं या कथा के प्रसार में सहायता पहुँचाते हैं, किन्तु उन्हें इतिवृत्त या कथावस्तु का प्रकार नहीं माना जा सकता। इसी प्रकार की भूल वहाँ भी की गयी है जहाँ संवाद के भेदों (श्रव्य, अश्रव्य और नियतश्रव्य) को भी नाटकीय वस्तु का भेद मान लिया गया है।

भारतीय नाट्याचार्यों ने अर्थ-प्रकृति, अवस्था और सन्धि की व्यवस्था करके अत्यन्त सूक्ष्म विवेचना के साथ नाट्यवस्तु की रचना का ढंग विस्तार से बताते हुए यह भी आदेश दे दिया है कि किस क्रम से, किस कौशल से और किस प्रकार से वाक्य-प्रयोग के द्वारा वस्तु का विन्यास करके नाट्य-कथा की रचना की जाय। इतने से ही सन्तुष्ट न होकर उन्होंने संध्यंगों और संध्यन्तरों की भी विस्तृत योजना बनायी है जिसके अनुसार कोई भी नाटककार अपनी नाट्य-कथा को सुन्दर और सुडौल बना सकता है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि नाट्य-ग्रथन के सम्बन्ध में इतनी मीमांसा कहीं नहीं हुई किन्तु यह इतना सूक्ष्म, विस्तृत और अव्यावहारिक हो गया कि कोई नाटककार इसका निर्वाह नहीं कर सकता।

नाटकीय इतिवृत्त-रचना का यूरोपीय सिद्धान्त

अरस्तू ने त्रासद (ट्रेजेडी) की कथावस्तु की रचना के लिए कहा है—'त्रासद उस कार्य का अनुकरण है जो पूर्ण तथा निश्चित परिमाण का हो, क्योंकि सर्वांगपूर्ण कार्य ऐसा भी हो सकता है जिसका कुछ भी विस्तार न हो। सर्वांगपूर्ण उसे कहते हैं जिसमें आरम्भ हो, मध्य हो और अन्त हो। आरम्भ उसे कहते हैं जो स्वतः आवश्यक रूप से किसी वस्तु का अनुगमन न करे वरन् जिसके पीछे स्वभावतः ही कोई घटना होती

हो। अन्त उसे कहते हैं जो स्वभावतः किसी घटना का अनुगमन करे, चाहे वह आवश्यकताओं के कारण हो या नियमतः हो और उसके पीछे कुछ शेष न हो। मध्य उसे कहते हैं जो स्वभावतः किसी घटना के पीछे आता हो और जिसके पीछे भी कोई घटना होती हो। अतः अच्छे प्रकार से बना हुआ इतिवृत्त न तो रचयिता की स्वेच्छा मात्र से अचानक आरम्भ हो और न समाप्त हो, वरन् उसे इन उपर्युक्त सिद्धान्तों का अनुसरण करना चाहिए। फिर एक सुन्दर पदार्थ का एक निश्चित परिमाण भी होना चाहिए, क्योंकि सुन्दरता भी परिभाषा और क्रम पर अवलम्बित है। परिमाण की दृष्टि से वही इतिवृत्त अधिक सुन्दर होगा जो पूरा का पूरा भली प्रकार समझ में आ सके। उचित परिमाण वहीं तक परिमित है जहाँ तक सम्भावना (प्रोबेबिलिटी) और आवश्यकता (नेसिसिटी) के नियम के अनुसार घटनाओं के क्रम में दुर्भाग्य का सौभाग्य में अथवा सौभाग्य का दुर्भाग्य में परिवर्तन हो जाय।'

कार्य का एकत्व (यूनिटी आफ़ ऐक्शन)

'इतिवृत्त भी एक ही पूर्ण कार्य का अनुकरण होना चाहिए। उसके अंग परस्पर ऐसे गुँथे हों कि यदि उनमें से एक भी स्थानच्युत हो जाय या निकाल दिया जाय तो वह पूरा का पूरा असम्बद्ध और असंगत हो जाय। कवि का यह काम नहीं है कि वह वास्तविक घटनाओं का वर्णन करे, वरन् उन घटनाओं का वर्णन करे जो सम्भवतः हुई होतीं, अर्थात् सम्भावना और आवश्यकता के नियम के अनुसार जो सम्भाव्य हों।'

प्रासंगिक इतिवृत्त

अरस्तू का कथन है कि 'साधारण इतिवृत्तों और व्यापारों में प्रासंगिक इतिवृत्त सबसे बुरे होते हैं। प्रासंगिक इतिवृत्त मैं उसे कहता हूं जिसमें सम्भावना और आवश्यकता के क्रम के बिना ही कथानक और व्यापार एक दूसरे के पीछे आते हों।'

'त्रासद केवल पूर्ण व्यापार का अनुकरण ही नहीं है, वह ऐसी घटनाओं का अनुकरण है जो भय और करुणा का संचार करें। ऐसा प्रभाव सर्वश्रेष्ठ रीति से तभी सम्पन्न किया जा सकता है जब हमारे पास ऐसी घटनाएँ हों जो केवल आकस्मिक ही नहीं वरन् एक दूसरी के अतर्कित परिणामस्वरूप उपस्थित हों। इस प्रकार उनमें स्वतः उत्पन्न तथा दैव-योग से उत्पन्न घटनाओं की अपेक्षा बहुत अधिक त्रासात्मक आश्चर्य होगा, क्योंकि घटना-संयोग तभी आकर्षक होता है जब उसमें किसी विलक्षणता का समावेश हो।'

दो प्रकार के इतिवृत्त

अरस्तू के अनुसार 'इतिवृत्त दो प्रकार के होते हैं, १—साधारण और २—गूढ़। जो व्यापार पूर्व-कथित सिद्धान्त के अनुकूल पूर्ण, एक और सम्बद्ध हो, वह उस समय साधारण कहलाता है जब उसमें परिवर्तन (पेरिपेताया) और अभिज्ञान (रिकग्निशन) के बिना ही निर्वहण या फल-लाभ (डिनूवमेण्ट) हो जाता है। गूढ़ व्यापार वह है जिसमें परिवर्तन या अभिज्ञान अथवा दोनों के संयोग से निर्वहण होता हो। परिवर्तन और अभिज्ञान अथवा दोनों ही इतिवृत्त के भीतरी ढाँचे से इस प्रकार प्रकट होने चाहिए कि जो कुछ आगे आनेवाला हो वह बीते हुए कार्य का आवश्यक अथवा सम्भाव्य परिणाम हो।'

परिवर्तन (पेरिपेताया)

अरस्तू के मतानुसार 'व्यापार की परिस्थितियों से जिस परिणाम की आशा की जाती हो वह यदि सम्भावना तथा आवश्यकता के नियम के अनुसार नितान्त विपरीत दिशा में चलने लगे तो उस दिशा को स्थिति-परिवर्तन (पेरिपेताया) कहते हैं।'

अभिज्ञान (रिकग्निशन या डिस्कवरी)

अरस्तू कहता है—'जैसा कि शब्द से ही स्पष्ट है, अज्ञात से ज्ञात में परिवर्तित होने को अभिज्ञान कहते हैं और वह उन व्यक्तियों के बीच प्रेम या घृणा उत्पन्न करता है जिन्हें कवि सौभाग्यशाली या दुर्भाग्यशाली बनाना चाहता हो। सर्वोत्कृष्ट अभिज्ञान स्थिति-परिवर्तन के साथ ही घटित होता है। इसके और भी बहुत से रूप होते हैं। अत्यन्त निम्न श्रेणी की निर्जीव वस्तुएँ भी इस प्रकार के अभिज्ञान का आधार हो सकती हैं। फिर हम यह बात भी पहचान या खोज निकाल सकते हैं कि अमुक मनुष्य ने वह कार्य किया है या नहीं। किन्तु जिस अभिज्ञान का इतिवृत्त और कार्य से अत्यन्त निकट सम्बन्ध हो वह मनुष्यों का ही अभिज्ञान होता है। यह अभिज्ञान प्रतिकूलता से मिल कर या तो करुणा उत्पन्न करता है या भय। हमारी परिभाषा के अनुसार ऐसी करुणा या भय का प्रभाव उत्पन्न करनेवाले कार्यों को ही त्रासद प्रदर्शित करता है, क्योंकि अभिज्ञान व्यक्तियों के बीच होता है। अतः या तो यह हो सकता है कि केवल एक ही व्यक्ति द्वारा वह दूसरा पहचाना जाय जो पहले से ज्ञात हो, अथवा यह भी आवश्यक हो सकता है कि पहचान दोनों ओर से हो।'

यूनानी त्रासदों में वह क्षण अभिज्ञान (रिकग्निशन) कहलाता है जब नायक को यह ज्ञान हो जाता है कि अब मेरे ऊपर विपत्ति आ रही है, अथवा वह स्थल जहाँ

नायक को अपनी प्रचण्ड भूल का ज्ञान होता जाता है, जैसे वह स्थल जहाँ ओडिपस को यह ज्ञान हो जाता है कि मैंने अपने पिता की हत्या कर डाली है और माता से विवाह कर लिया है। वर्तमान आरभटी नाटकों (मैलो ड्रामा) में भी इसका प्रयोग होता है, जब दयालु महिला (काइन्ड लेडी) सहसा यह जान जाती है कि मेरे घर में आये हुए अपरिचितों ने मुझे बन्दी बना रखा है। इसका प्रयोग कभी-कभी सुखान्त नाटकों में भी होता है, जैसे शेक्सपियर के 'ऐज यू लाइक इट' नाटक में वह दृश्य जहाँ रोजालिन्ड अपने मर्दाने कपड़े उतार देती है। अरस्तू का मत है कि आवेगात्मक कुतूहल उत्पन्न करने के लिए यह अत्यन्त शक्तिशाली तत्त्व है, क्योंकि यही ऐसी वस्तु है जिसके कारण त्रासद से मनुष्यों की आत्मा को मार्ग-निर्देश प्राप्त होता है।

तो इतिवृत्त के दोनों अंग (स्थिति-परिवर्तन और अभिज्ञान) आकस्मिकता पर अवलंबित हैं। इतिवृत्त का एक तीसरा भाग है दुःखान्त दृश्य। लोमहर्षक अथवा दुःखजनक कार्य ही दुःखान्त दृश्य होते हैं, जैसे रंगमंच पर हत्या, शारीरिक पीड़ा, घातक चोट लगना तथा अन्य ऐसी ही कोई घटना।

निर्दोष त्रासद की रचना साधारण ढंग पर न होकर गूढ़ होनी चाहिए। उसमें ऐसे कार्यों का अनुकरण होना चाहिए जिनसे करुणा और भय का संचार हो, क्योंकि यही त्रासात्मक अनुकरण का एक विशिष्ट लक्षण है। इससे स्पष्ट है कि जो भाग्य-परिवर्तन प्रदर्शित किया जाय वह ऐसा न हो कि किसी भले मनुष्य को सुख की अवस्था से दुःख की अवस्था में ला दिया जाय। क्योंकि इससे न तो करुणा ही उत्पन्न होती है और न भय ही। इससे तो हमारे हृदय में बड़ा धक्का लगता है। साथ ही ऐसा भी दृश्य नहीं दिखाना चाहिए जिसमें किसी बुरे मनुष्य का दुःख की अवस्था से सुख की अवस्था में पहुँचना दिखा दिया जाय, क्योंकि इससे बढ़कर त्रासद के स्वरूप के विरुद्ध और हो ही क्या सकता है; क्योंकि इसमें एक भी त्रासात्मक गुण नहीं है। इससे न तो नैतिक भावना की तुष्टि ही होती है और न करुणा और भय की उत्पत्ति ही। फिर, अत्यन्त दुष्ट मनुष्य का पतन भी नहीं दिखलाना चाहिए। यद्यपि इस प्रकार के इतिवृत्त से नैतिक भावना की तुष्टि तो अवश्य होगी, किन्तु इससे न तो करुणा का संचार होगा न भय का ही, क्योंकि करुणा वहीं उत्पन्न होती है जहाँ किसी ऐसे मनुष्य पर विपत्ति आ जाय जिस पर नहीं आनी चाहिए। भय वहाँ उत्पन्न होता है जहाँ किसी हमारे जैसे साधारण मनुष्य पर सहसा विपत्ति आ जाय। इसलिए ऐसी घटना न तो करुणाजनक होगी और न भयावह ही। तो इन दोनों छोरों का मध्यवर्ती चरित्र ही शेष रह जाता है और वह ऐसे मनुष्य का, जो बहुत विशिष्ट और विवेकी न हो, जिस पर दुर्व्यसन अथवा चरित्रहीनता के कारण विपत्ति न आकर किसी भूल या

दुर्बलता के कारण आयी हो। वह व्यक्ति ऐसा होना चाहिए जो अत्यन्त प्रसिद्ध और सुखी हो।

अतः सुनिर्मित इतिवृत्त का फल इकहरा होना चाहिए दुहरा नहीं। भाग्य-परिवर्तन बुरे से अच्छे में न होकर उलटा अच्छे से बुरे में होना चाहिए। वह दुर्व्यसन (दुर्गुण) का परिणाम न होकर किसी भूल अथवा मानसिक दुर्बलता (हामार्तिया) का परिणाम होकर प्रकट होना चाहिए और यह परिणाम या तो उस प्रकार के चरित्र में हो जिसका वर्णन ऊपर किया जा चुका है अथवा बुरे की अपेक्षा अच्छे मनुष्य में हो।

दूसरी श्रेणी में उस प्रकार के त्रासद आते हैं जिनसे अदूसिया के समान इतिवृत्त का दुहरा धागा चलता हो और जिनमें अच्छे-बुरे दोनों के लिए उलटा ही अन्त होता हो। ऐसे नाटकों को लोग सर्वश्रेष्ठ समझते हैं। ऐसे नाटक दर्शकों की दुर्बलता के कारण ही सर्वश्रेष्ठ कहे जाते हैं, क्योंकि कवि जो कुछ लिखता है उसमें दर्शकों की रुचि का ध्यान रखता है। ऐसे नाटकों से दर्शकों को जो आनन्द प्राप्त होता है वह वास्तविक त्रासात्मक आनन्द नहीं होता। वह आनन्द तो प्रहसन के लिए ही उपयुक्त होता है।

यद्यपि दृश्यात्मक साधनों से भी भय और करुणा की उत्पत्ति की जा सकती है तथापि वे नाटक की आन्तरिक रचना से भी उत्पन्न हो सकते हैं और यही विधान भी है। इतिवृत्त की रचना ऐसी होनी चाहिए कि बिना आँख की सहायता के भी केवल वर्णित घटना सुनने मात्र से ही हृदय भय से काँप उठे अथवा करुणा से द्रवित हो जाय। केवल दृश्य के द्वारा ऐसा प्रभाव उत्पन्न करने की रीति कम कलात्मक और बाह्य सहायता पर अवलंबित होती है। जो लोग दृश्यात्मक साधनों के द्वारा भयावह भाव की अपेक्षा अद्भुत का भाव अधिक उत्पन्न करते हैं वे त्रासद का अभिप्राय नहीं जानते, क्योंकि हमें त्रासद से सब प्रकार के आनन्द की नहीं वरन् तदनुकूल आनन्द की ही आशा रखनी चाहिए, क्योंकि कविप्रदत्त आनन्द तो कवि-अनुकरणजन्य करुणा और भय से उत्पन्न होता है।

त्रासद की परिस्थितियाँ

त्रासद की परिभाषा देते हुए अरस्तू ने कहा है—'त्रासद उस व्यापार विशेष का अनुकरण है जो गम्भीर हो, पूर्ण हो, एक निश्चित परिणाम का हो, प्रत्येक प्रकार के कलात्मक अलंकारों से सजी हुई भाषा से युक्त हो और ये सब प्रकार के कलात्मक अलंकार नाटक के भिन्न-भिन्न भागों में पाये जाते हों, जो वर्णनात्मक न होकर दृश्या-

त्मक हो, जो करुणा और भय का प्रदर्शन करके इन मनोविकारों (करुणा और भय) का उचित रेचन या परिष्कार (कथार्सिस) कर सके।' भयानक और करुणाजनक परिस्थितियों का वर्णन करते हुए वह लिखता है—'त्रासद का प्रभाव उत्पन्न करने की क्षमता उन लोगों के व्यापार में होती है जो या तो परस्पर मित्र हों या परस्पर शत्रु हों या एक दूसरे की ओर से उदासीन हों। यदि एक शत्रु दूसरे का वध कर डालता है तो उससे वध-कार्य के अतिरिक्त न तो कार्य में ही कोई करुणोत्पादक बात होती है और न उद्देश्य में ही। यही बात परस्पर उदासीन मनुष्यों के विषय में भी है। किन्तु जब त्रासात्मक घटना उन लोगों के बीच घटित होती है जो एक दूसरे के अत्यन्त निकट सम्बन्धी हों, जैसे यदि एक भाई दूसरे भाई की या माँ अपने पुत्र की या पुत्र अपनी माँ की हत्या का विचार करे अथवा इसी प्रकार का कोई दूसरा कार्य करे तो ये स्थितियाँ ऐसी हैं जिन पर कवि को विशेष ध्यान देने की आवश्यकता है।'

त्रासात्मक परिस्थितियों की योजना

इन उपर्युक्त स्थितियों का किस कौशल से प्रयोग करना चाहिए, इसकी व्याख्या करते हुए अरस्तू कहता है—'एक स्थिति यह है कि जान-बूझकर एक दूसरे का परस्पर ज्ञान होने पर भी कोई त्रासात्मक भयानक कार्य करा दिया जाय, जैसे इउरीपिदेस ने जान-बूझकर मीदिया के द्वारा अपने बच्चों का वध कराया। दूसरी स्थिति यह है कि भयानक कार्य एक दूसरे के अज्ञान में कराकर, सम्बन्ध या मित्रता का परिचय पीछे दिलाया जाय, जैसे सोहराब को घातक चोट पहुँचा देने पर रुस्तम को ज्ञात हुआ कि यह मेरा पुत्र है। तीसरी स्थिति यह है कि एक दूसरे को परस्पर जानकर कोई कार्य करने तो चलें किन्तु रुक जायँ। चौथी अवस्था वह है जब किसी प्रकार का अपरिहार्य कार्य करने से पहले ही उसमें लिप्त व्यक्ति का ज्ञान हो जाय। ये ही सम्भव मार्ग हो सकते हैं क्योंकि व्यापार या तो हो या न हो और वह भी या तो जानकर हो या अनजान में हो। किन्तु इन सब मार्गों में सबसे बुरा यह है कि एक दूसरे को जानकर कोई भयानक कार्य करने को उद्यत हो और फिर उसे न करे। इससे अच्छा मार्ग वह है जहाँ कार्य हो जाय। इससे भी अच्छा यह है कि अज्ञान में कार्य हो चुके और पीछे भेद खुले। किन्तु अन्तिम मार्ग सर्वश्रेष्ठ है, जैसे क्रस्फ़ोन्तेस में ज्यों ही मरोपी अपने पुत्र की हत्या करने को तैयार होती है त्यों ही उसे अचानक वह छोड़ देती है।'

इसका तात्पर्य यह है कि नाटककार को भाषा और साहित्य पर पूर्ण अधिकार होने के साथ-साथ रंगमंच, अभिनय, दर्शकों की मनोवृत्ति, इतिहास, देश-काल और

समाज की रीति-नीति, मानव स्वभाव, लोकरंजन के प्रकार, गीत-वाद्य एवं नृत्य का ज्ञान और काव्यशास्त्र तथा नाट्यशास्त्र का परिचय भली-भाँति होना चाहिए। यही कारण है कि अच्छे नाटककार और अच्छे नाट्य-प्रयोक्ता वे ही लोग हो सके हैं जिन्होंने या तो स्वयं अभिनेता होकर रंगमंच का अनुभव प्राप्त किया है अथवा किसी न किसी रूप में जो रंगमंच से सम्बद्ध रहे हैं।

अध्याय ४

नाटक-वृत्तियाँ और नाटकों के प्रकार

भारतीय नाट्यशास्त्र के पण्डितों ने नाटक की प्रकृति के अनुसार उसकी रचना-शैली या रचना के ढंग को वृत्ति बताया है। जैसे हम किसी क्रोध करनेवाले व्यक्ति को क्रोधी वृत्ति वाला, दया करने वाले व्यक्ति को दया-वृत्ति वाला कहते हैं, वैसे ही नाटक में जिस प्रकृति की प्रधानता होती है वही उस नाटक की वृत्ति होती है। इसी लिए भरत ने वृत्तियों को नाट्य की माता (वृत्तयो नाट्य-मातरः) कहा है, क्योंकि वृत्ति से ही नाटक का जन्म होता है और इसी के अनुसार पात्रों का संयोजन, दृश्यों का विधान, सवाद, अभिनय, गीत-वाद्य आदि सबकी योजना होती है। साहित्यदर्पण के टीकाकार तर्कवागीश ने कहा है—'वर्तते रसोऽनयेति वृत्तिः' (जिसके कारण कोई रस वर्तमान हो वही वृत्ति है)।

भारतीय नाट्यशास्त्रियों ने चार वृत्तियाँ मानी हैं—कैशिकी (या कौशिकी), सात्त्वती, आरभटी और भारती। इनमें से भारती को शब्द-वृत्ति और शेष तीन को अर्थ-वृत्तियाँ कहते हैं, अर्थात् भारती वृत्ति शब्द-प्रधान या भाषा-शैली-प्रधान होती है, शेष तीन भावप्रधान होती हैं।

कैशिकी वृत्ति

कैशिकी या कौशिकी वृत्ति के नाटकों में केवल गीत, नृत्य, विलास, रति आदि का वर्णन ही होता है, इसलिए यह मधुरा वृत्ति कहलाती है। इसके चार भेद हैं, १--नर्म; प्रिय को प्रसन्न करनेवाली परिहासपूर्ण क्रीडा, जिसमें केवल हास्य (हास्यनर्म), शृंगारपूर्ण परिहास (शृंगारनर्म) और भययुक्त परिहास (भयनर्म) होता है, २—नर्मस्फूर्ज या नर्मस्फिंज; जिसमें नायक-नायिका के प्रथम सम्मिलन से सुख का आरम्भ तथा भय से अन्त होना दिखलाया जाता है, ३—नर्मस्फोट; जिसमें थोड़े भावों से अल्प रस सूचित हो, ४--नर्मगर्भ; जिसमें नायक का गुप्त व्यवहार दिखाया जाय। तात्पर्य यह है कि जिन नाटकों में शृंगारपूर्ण हास-परिहास, चेष्टा, क्रीडा, प्रेम-प्रदर्शन तथा रस-विलास दिखलाया जाय वे कैशिकी वृत्ति वाले नाटक होते हैं।

सात्त्वती वृत्ति

जिन नाटकों में नायक का व्यवहार शोकरहित तथा सत्त्व, शौर्य, दया, त्याग और सरलता आदि गुणों से युक्त दिखाया जाय उनमें सात्त्वती वृत्ति होती है। इसके चार प्रकार होते हैं, १--संलापक; जिसमें अनेक प्रकार के भावों और रसों से युक्त गम्भीर उक्तियाँ या वार्तालाप हों, २--उत्थापक; जिसमें नायक दूसरों को युद्ध के लिए ललकारे या उभाड़े, ३--सांघात्य; जिसमें मंत्र, धन या दैवी शक्ति के बल से किसी समाज में फूट या भेद-भाव डालना दिखाया जाय, ४—परिवर्तक; जिसमें हाथ में लिये हुए किसी कार्य को छोड़कर दूसरा काम आरम्भ करना दिखाया जाय।

आरभटी वृत्ति

आरभटी वृत्ति में माया, इन्द्रजाल, संग्राम, क्रोध, उद्भ्रान्ति, प्रस्ताव आदि क्रियाएँ होती हैं। मंत्र के बल से कुछ कर दिखलाने को माया, तंत्रबल या हाथ के कौशल से कुछ कर दिखलाने को इन्द्रजाल और चकित होकर इधर-उधर चक्कर काटते रहने अथवा घूमते रहने को उद्भ्रान्ति कहते हैं। आरभटी वृत्ति के नाटक चार प्रकार के होते हैं, १—संक्षिप्त; जिसमें कुछ नयी माया चलाकर किसी को भेड़-बकरा आदि बना दिया जाय। धनिक और धनंजय ने इस पर बड़ी अटकलें लड़ायी हैं, २—सम्फेट; जिसमें क्रोध से उत्तेजित दो व्यक्तियों का पारस्परिक युद्ध हो, ३—वस्तूत्थापन; जिसमें माया-मंत्र आदि से वस्तु उत्पन्न की जाय, ४—अवपात; जिसमें प्रवेश, भय और भागना आदि बातें हों।

भारती वृत्ति

दशरूपक में भारती वृत्ति का यह लक्षण दिया है—

भारती संस्कृतप्रायो वाग्व्यापारो नटाश्रयः।
भेदैः प्ररोचनायुक्तैर्वीथीप्रहसनामुखैः॥

[भारती वृत्ति वह है जिसमें नटों का वाग्व्यापार या बातचीत अधिकांश संस्कृत में हो। इसके चार अंग होते हैं; १—प्ररोचना, २—वीथी, ३—प्रहसन और ४—आमुख।]

साहित्यदर्पण में इसका लक्षण इस प्रकार लिखा गया है—

भारती संस्कृतप्रायो वाग्व्यापारो नराश्रयः।
तस्याः प्ररोचना वीथी तथा प्रहसनामुखे॥

[भारती वृत्ति में नरों की संपूर्ण बातचीत संस्कृत में होती है। इसके चार अंग होते हैं—प्ररोचना, वीथी, प्रहसन, आमुख।]

भरत मुनि ने अपने नाट्यशास्त्र में भारती वृत्ति का वर्णन इस प्रकार किया है—

या वाक्प्रधाना पुरुषप्रयोज्या स्त्रीवर्जिता संस्कृतवाक्ययुक्ता।
स्वनामधेयैर्भरतैः प्रयुक्ता सा भारती नाम भवेत्तु वृत्तिः॥

[भारती वृत्ति में स्त्रियों को छोड़कर पुरुषों का संस्कृत वाक्यों में संवाद अधिक होता है और भरतों (नटों) द्वारा प्रयुक्त होने के कारण यह भारती कहलाती है।]

इन तीनों लक्षणों के मिलाने से स्पष्ट हो जाता है कि भारती वृत्ति उस रूपक-रचना-शैली या भाषा-प्रयोग-युक्त नाट्य-रूप को कहते हैं जिसे भरत (नट) लोग प्रयोग में लाते हैं, नटियाँ नहीं, और जिसमें संस्कृत भाषा के वाक्यों की ही अधिकता रहती है। धनंजय और साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ की परिभाषाएँ तो प्रायः मिलती-जुलती हैं किन्तु दशरूपक का 'नटाश्रय' शब्द साहित्यदर्पण में आकर 'नराश्रय' हो गया है। भारती वृत्ति के चार अंगों में से प्ररोचना और आमुख का सम्बन्ध तो स्पष्ट ही पूर्वरंग से है। प्रस्तुत विषय की प्रशंसा करके लोगों की उत्कंठा बढ़ाने के कृत्य को प्ररोचना और आपस की बातचीत के द्वारा कौशलपूर्वक मुख्य नाटकीय वस्तु आरम्भ करने के कृत्य को आमुख कहते हैं। पर वीथी और प्रहसन की व्याख्या आचार्यों ने स्पष्ट रूप से नहीं की है। हाँ, वीथी के जो तेरह अंग बताये गये हैं उनका सम्बन्ध उतना पूर्वरंग से नहीं है जितना स्वयं रूपक के कथानक से। प्रहसन और वीथी के नाम रूपक के भेदों में भी आये हैं। प्रहसन एक अंक का होता है जिसमें हास्य रस प्रधान रहता है। वीथी में भी एक ही अंक होता है पर प्रधानता शृंगार रस की होती है। दोनों के इति-वृत्त कवि-कल्पित होते हैं। अतः ऐसा जान पड़ता है कि आरम्भ में प्रहसन और वीथी प्रस्तावना के अंग-मात्र थे जिसमें हँसी या विनोद की बातें कहकर अथवा विशेष प्रयोग से युक्त कोई छोटा सा कथानक लेकर तथा शृंगार-रसयुक्त और विचित्र उक्ति-प्रत्युक्ति से पूर्ण कोई कल्पित पात्र लाकर दर्शकों का चित्त प्रसन्न किया जाता था, जैसे यूरोप में 'कर्टेन-रेज़र्स' चलते थे। आगे चलकर प्रहसन और वीथी ने स्वतंत्र रूप धारण कर लिया और ये रूपक के भेद-विशेष माने जाने लगे। यह भी हो सकता है कि साहित्य-दर्पण का 'नराश्रय' शब्द दशरूपक के 'नटाश्रय' का नहीं वरन् भरत के 'स्त्रीवर्जिता' का स्थानापन्न हो। भारती वृत्ति में स्त्रियों का पात्रत्व इसी लिए वर्जित है कि भारती वृत्ति संस्कृत-प्रधान होती है और भारतीय नाट्य-शास्त्र के अनुसार स्त्रियाँ संस्कृत में बोलतीं नहीं।

धनंजय ने पहली तीन वृत्तियों को ही सच्ची या क्रिया-वृत्ति माना है, भारती वृत्ति को नहीं, क्योंकि नाटकीय व्यापार से भारती वृत्ति का कोई सम्बन्ध नहीं, वह तो केवल वाचिक वृत्ति मात्र है।

उब्वट और उनके अनुयायियों ने एक पाँचवीं 'अर्थ-वृत्ति' भी मानी है किन्तु अन्य नाट्याचार्यों ने उसे मान्य नहीं समझा। वृत्ति का अत्यन्त सीधा-सादा अर्थ है 'होना', अर्थात् जिस रूप में नाटक उपस्थित हो वही उसकी वृत्ति, ढंग या रूप है। इसे यों कह सकते हैं कि नाटक की कथावस्तु में जिस प्रकार के कार्य अधिक प्रदर्शित किये जायँ वही उसकी वृत्ति कहलाती है।

भारती वृत्ति के लिए 'नटाश्रय' पाठ ही ठीक है। उसका अर्थ यह है कि जिस नाटक में नट के अनुसार, सारा वाग्व्यापार अर्थात् संवाद संस्कृत में हो वह भारती वृत्ति का नाटक कहलाता है। नाट्यशास्त्र के अनुसार भारती वृत्ति 'स्त्रीवर्जित संस्कृत-वाक्ययुक्त' हो अर्थात् उसमें स्त्रियों के संवाद को छोड़कर शेष का वाग्व्यापार संस्कृतप्राय हो। यही 'नराश्रय' का भी तात्पर्य है। इसमें 'स्त्री-वर्जिता' का अर्थ स्त्रियों से हीन नाटक नहीं है। 'स्वनामधेयैर्भरतैः प्रयुक्ता' का भी अर्थ 'नटाश्रय' ही है। नटाश्रय वाग्व्यापार को भी संस्कृतप्राय इसलिए कहा कि निम्न कोटि के पात्र और विदूषक तो प्राकृत में ही बोलेंगे, इसलिए भरत का शुद्ध मत यही है कि भारती वृत्ति में जितने संवाद हों वे नटों की प्रकृति के अनुकूल हों, अर्थात् जैसी उनकी योग्यता, उनका पद हो, उसी के अनुकूल उनका संवाद हो और यह संवाद जहाँ तक सम्भव हो, संस्कृत में ही हो, या इसमें अधिकांश ऐसे पात्र रखे जायँ जिनके मुख से संस्कृत कहलायी जा सके। क्योंकि संस्कृत तो सब समझ सकते थे, प्राकृत को केवल प्रादेशिक लोग ही समझ पाते थे। संस्कृत में बोलने का बन्धन स्त्रियों के लिए नहीं रखा गया, वे प्राकृत में ही बोलती थीं। आज के नाटकों की दृष्टि से 'संस्कृतप्राय' का अर्थ होगा शिष्ट जनभाषा, जिसे सभी लोग समान रूप से समझ सकें, क्योंकि प्राकृतों या प्रादेशिक बोलियों का संवाद सबके लिए बोधगम्य नहीं होगा। इन वृत्तियों के अनुसार नाटक चार प्रकार के होते हैं—

१—संवादप्रधान नाटक (भारती वृत्ति)

२—संगीत-शृंगार-प्रधान नाटक (कैशिकी वृत्ति)

३—व्यक्तिप्रधान या भावप्रधान नाटक (सात्त्वती वृत्ति)

४—संघर्षप्रधान नाटक (आरभटी वृत्ति)

हमारे यहाँ के सभी रूपक और उपरूपक इसी आधार पर लिखे गये हैं, यद्यपि उनमें कथावस्तु, नायक तथा रस के अनुसार भी भेद माना गया है। इस आधार पर हमारे यहाँ दस रूपकों और अठारह उपरूपकों की सृष्टि की गयी है।

रूपक

रूपकों के दस भेद बताये गये हैं--नाटक, प्रकरण, भाण, प्रहसन, डिम, व्यायोग, समवकार, वीथी, अंक, ईहामृग।

१--नाटक की कथा ख्यात अर्थात् इतिहास-प्रसिद्ध होती है। उसका नायक उत्तम गुणों से युक्त, धीर, गम्भीर, उदात्त, प्रतापी, कीर्तिशाली, अभिमानी, अत्यन्त उत्साहवाला, वेदों का रक्षक (त्रयीत्राता), राजा अथवा राजर्षि या कोई दिव्य या दिव्यादिव्य पुरुष होता है। उसके प्रधान कार्य में चार या पाँच सहायक होते हैं। नाटक में पाँच से दस तक अंक हो सकते हैं। (पाँच से अधिक अंक वाले नाटक महानाटक कहलाते हैं।) नाटक की रचना गौ की पूँछ के अग्रभाग के समान होती है अर्थात् अंक उत्तरोत्तर छोटे होते जाते हैं।

नाटक में यथास्थान पाँचों सन्धियों और अर्थ-प्रकृतियों का प्रयोग हो और निर्वहण-सन्धि अत्यन्त अद्भुत हो। अभिनव-भरत का मत है कि गौ की पूँछ के समान का अर्थ यह है कि अल्प से नाटक प्रारम्भ किया जाय, उसके आगे का भाग अधिक क्रियाशील, बहुव्यापार-गुम्फित हो और फिर धीरे-धीरे क्रमशः यह कार्यकलाप एक परिणाम में समाप्त हो जाय।

२--प्रकरण का कथानक लौकिक और कविकल्पित होता है, जिसका नायक धीर, शान्त (मंत्री, ब्राह्मण या वैश्य) धर्म और काम की प्राप्ति के लिए तत्पर रहकर तथा बाधाओं का सामना करके अभीष्ट की प्राप्ति करता है। इसकी नायिका कुलकन्या या वेश्या या दोनों हो सकती हैं। इस दृष्टि से प्रकरण के तीन भेद होते हैं--(क) कुलकन्या-नायिका वाला शुद्ध, (ख) वेश्या-नायिका वाला विकृत और (ग) दोनों वाला संकीर्ण। संकीर्ण प्रकरण में धूर्त, जुआरी, विट, चेट आदि पात्र अधिक भरे रहते हैं। अन्य शेष बातों में प्रकरण भी नाटक के ही समान होता है।

३--भाण में कल्पित कथानक, एक अंक और एक बुद्धिमान् विट ही पात्र होता है, जो अपने तथा दूसरों के धूर्ततापूर्ण कृत्यों को किसी कल्पित व्यक्ति के साथ वार्तालाप के रूप में आकाश की ओर देखकर सुनने का नाट्य करके आकाश-भाषित के द्वारा कल्पित पुरुष की उक्तियों को स्वयं दुहराता और उनका उत्तर देता हुआ बातचीत करता है। वह शौर्य और सौन्दर्य के वर्णन से वीर एवं शृंगार रस का आविर्भाव करता है। भाण में प्रायः भारती वृत्ति का किन्तु कहीं-कहीं कैशिकी का भी प्रयोग होता है। इसमें मुख और निर्वहण दो सन्धियों का प्रयोग होता है तथा लास्य के दस अंगों का भी व्यवहार हो सकता है।

४--प्रहसन भी भाण के ही समान होता है किन्तु इसमें हास्य रस की अधिकता

होती है। वीथी के तेरह अंगों में से सभी इसमें आ सकते हैं। आरभटी वृत्ति, विष्कम्भक और प्रवेशक का इसमें प्रयोग नहीं होता। यह तीन प्रकार का होता है—१—शुद्ध, २—विकृत और ३—संकर। शुद्ध प्रहसन में पाखण्डी संन्यासी, तपस्वी अथवा पुरोहित नायक की योजना होती है। इसमें चेट, चेटी, विट आदि नीच पात्र भी आते हैं। इसमें अधिकांश प्रभाव बेढंगी वेश-भूषा और बोलने के ढंग से ही डाला जाता है। हास्यपूर्ण उक्तियों का इसमें बाहुल्य होता है। विकृत प्रहसन में नपुंसक, कंचुकी और तपस्वी लोग कामुकों के वेश में उन्हीं की सी बातें करते दिखाये जाते हैं। संकीर्ण प्रहसन में हँसी-विनोद की विशेषता होती है। धूर्त नायक, प्रपञ्च-छल और स्पर्धायुक्त बातें, अस्पष्ट अर्थ वाले परिहास-वचन, बेसिर-पैर की बातें, हँसी उड़ाने की वृत्ति तथा गुण को अवगुण और अवगुण को गुण बनाकर कहने का व्यवहार अधिक रहता है।

५—**डिम** की कथा पुराण या इतिहास-प्रसिद्ध होती है। इसमें माया, इन्द्र-जाल, संग्राम, क्रोध, उन्मत्त लोगों तथा सूर्य-चन्द्रग्रहण आदि बातों का वर्णन होता है। देवता, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, भूत, प्रेत, पिशाच, महोरग आदि सोलह उद्धत नायक होते हैं। कैशिकी को छोड़कर शेष तीनों वृत्तियों और हास्य तथा शृंगार को छोड़कर शेष सब रसों का इसमें परिपाक होता है, चार अंक और चार ही संधियाँ होती हैं, विमर्श सन्धि नहीं होती।

६—**व्यायोग** की कथा-वस्तु पुराण या इतिहास-प्रसिद्ध होती है और उसका नायक धीरोद्धत राजर्षि अथवा दिव्य पुरुष होता है। इसमें बहुत से नर पात्र होते हैं, स्त्री एक भी नहीं होती। इसमें युद्ध तो होता है, पर स्त्री के कारण नहीं। इसमें एक ही दिन के वृत्तान्तवाला एक ही अंक होता है जिसमें कैशिकी वृत्ति तथा हास्य और शृंगार की योजना नहीं होती। शेष सब बातों में व्यायोग भी डिम के ही समान होता है।

७—**समवकार** का कथानक इतिहास-प्रसिद्ध परन्तु देवता तथा असुरों से संबद्ध होता है, जिसमें बारह देवता और असुर नायक होते हैं और प्रत्येक नायक को पृथक्-पृथक् फल मिलता है। इस में वीर रस प्रधान होता है, जिसकी पुष्टि अन्य सब रस करते हैं। इसमें कैशिकी का तो थोड़ा किन्तु अन्य वृत्तियों का प्रयोग अधिक होता है। इसके तीन अंकों में से पहले अंक में छः घड़ी का वृत्तान्त तथा दो सन्धियाँ, दूसरे तथा तीसरे अंक में क्रमशः दो और एक घड़ी का वृत्तान्त तथा एक-एक सन्धि होती है। विमर्श-सन्धि को छोड़कर शेष चारों सन्धियाँ होती हैं।

८—**वीथी** में एक ही अंक, उत्तम या मध्यम पुरुष नायक और पात्र एक ही

दो होते हैं। भाण के समान कैशिकी वृत्ति तथा शृंगार रस से युक्त आकाश-भाषित के द्वारा उक्ति-प्रत्युक्ति होती है। इसमें मुख और निर्वहण सन्धियों, पाँचों अर्थ-प्रकृतियों और वीथ्यंगों का समावेश होता है।

९--अंक या उत्सृष्टकांक में एक ही अंक, साधारण पुरुष नायक एवं कवि की कल्पना से प्रस्तुत प्रख्यात इतिवृत्त होता है जिसमें स्त्रियों का विलाप, जय-पराजय का वर्णन तथा मौखिक द्वन्द्व होता है। इसमें वैराग्य उत्पन्न करने वाली भाषा और भाण के समान मुख तथा निर्वहण-सन्धि और कहीं भारती तथा कहीं कैशिकी वृत्ति एवं लास्य के दसों अंगों का प्रयोग होता है।

१०--ईहामृग का नायक किसी हरिणी के समान अलभ्य नायिका की इच्छा करता है। इसमें कथानक मिश्रित (अंशतः प्रसिद्ध, अंशतः कविकल्पित), चार अंक, मुख, प्रतिमुख तथा निर्वहण नामक तीन सन्धियाँ तथा नायक और प्रतिनायक प्रसिद्ध धीरोद्धत मनुष्य या देवता होते हैं। इसमें प्रतिनायक छिपकर पापाचरण करता हुआ किसी ऐसी दिव्य नारी को चाहता है जो उसे नहीं चाहती और जिसे वह खुलकर अपना प्रेम नहीं जता सकता। नायक उसे हरण करने की सोचता है। युद्ध की पूरी सम्भावना होती है पर वह युद्ध किसी बहाने टल जाता है।

उपरूपक

उपरूपक के अठारह भेद होते हैं—नाटिका, त्रोटक, गोष्ठी, सट्टक, नाटचरासक, प्रस्थानक, उल्लास, काव्य, रासक, प्रेंखण, संलापक, श्रीगदित, शिल्पक, विलासिका, दुर्मल्लिका, प्रकरणिका, हल्लीश, भाणिका।

१--नाटिका--यह नाटक और प्रकरण का मिश्रण मात्र है। नाटिका की कथा कविकल्पित होती है, जिसमें चार अंक, अधिकांश पात्र स्त्रियाँ, नायक धीरललित राजा और नायिका कोई रनिवास से सम्बन्ध रखने वाली या राज-वंश की कोई गायनप्रवीण अनुरागवती कन्या होती है। इसमें प्रधान रस शृंगार होता है और कैशिकी वृत्ति के विभिन्न रूपों का क्रमशः चारों अंकों में पालन किया जाता है। विमर्श संधि बहुत कम या नहीं होती है। शेष चारों संधियाँ होती हैं।

२--त्रोटक में पाँच, सात, आठ या नौ अंक, देवता या मनुष्य पात्र, प्रधान रस शृंगार तथा प्रत्येक अंक में विदूषक का व्यापार रहता है। शेष रूप नाटक के समान होता है।

३--गोष्ठी में नौ-दस मनुष्यों तथा पाँच या छः स्त्रियों के व्यापार वाला एक अंक होता है, काम तथा शृंगार की प्रधानता और कैशिकी वृत्ति का प्रयोग होता है

पर उदात्त वचनों की योजना नहीं होती। इसमें गर्भ और विमर्श सन्धियाँ नहीं होतीं।

४—**सट्टक** की रचना प्राकृत में होती है। इसमें प्रवेशक और विष्कम्भक नहीं होते, अद्‌भुत रस की प्रचुरता रहती है, इसका अंक जवनिका कहलाता तथा अन्य बातें नाटिका के सदृश होती हैं।

५—**नाट्यरसिक** में एक ही अंक, उदात्त नायक, पीठमर्द उपनायक, वासक-सज्जा नायिका और प्रधान रस हास्य किन्तु शृंगार का भी समावेश रहता है। इसमें मुख और निर्वहण सन्धियाँ तथा लास्य के दसों अंगों की योजना होती है। कोई-कोई इसमें प्रतिमुख सन्धि को छोड़कर शेष चारों सन्धियों का होना मानते हैं परन्तु यह दो सन्धियों का भी मिलता है।

६—**प्रस्थानक** में दो अंक और दस नायक, हीन पुरुष उपनायक, नायिका दासी तथा कैशिकी और भारती वृत्ति का प्रयोग होता है। सुरापान के संयोग से उद्दिष्ट अर्थ की सिद्धि होती है।

७—**उल्लाप्य** में एक अंक, दिव्य कथा, धीरोदात्त नायक, चार नायिकाएँ तथा शृंगार और करुण रस होते हैं।

८—**काव्य** में केवल एक अंक, व्यापक हास्य रस, गीतों का बाहुल्य, नायक और नायिका दोनों उदात्त तथा मुख, प्रतिमुख और निर्वहण सन्धियाँ होती हैं।

९—**रासक** में एक ही अंक, पाँच पात्र तथा मुख और निर्वहण सन्धियाँ होती हैं। इसमें कैशिकी और भारती वृत्ति तथा विभिन्न प्रकार की प्राकृतों का विशेष प्रयोग होता है। इसमें सूत्रधार नहीं होता। नायिका प्रसिद्ध और नायक मूर्ख होता है तथा उदात्त भाव उत्तरोत्तर प्रदर्शित किये जाते हैं।

१०—**प्रेंखण** में एक अंक और हीन पुरुष नायक होता है। इसमें सूत्रधार का तथा विष्कम्भक, प्रवेशक, गर्भ और विमर्श सन्धि का अभाव होता है, नान्दी और प्ररोचना नेपथ्य से पढ़ी जाती है और वृत्तियाँ सब होती हैं।

११—**संलापक** में तीन या चार अंक, पाखण्डी नायक, भारती तथा कैशिकी वृत्तियाँ और नगर के घेरे, संग्राम तथा भगदड़ का वर्णन रहता है।

१२—**श्रीगदित** में एक अंक, प्रसिद्ध कथा, धीरोदात्त नायक तथा भारती वृत्ति का आधिक्य होता है। गर्भ और विमर्श सन्धि नहीं होती।

१३—**शिल्पक** में चार अंक, चारों वृत्तियाँ, शान्त और हास्य को छोड़कर सब रस, नायक ब्राह्मण तथा उपनायक कोई हीन पुरुष होता है। इसमें शव, श्मशान आदि का वर्णन अधिक रहता है।

१४—**विलासिका** में एक अंक, दस लास्यांगों का विनिवेश, विदूषक, विट तथा पीठमर्द आदि का व्यापार और हीन गुण वाला नायक होता है। गर्भ और विमर्श सन्धियाँ इसमें नहीं होतीं।

१५—**दुर्मल्लिका** में चार अंक होते हैं। पहले अंक में छः घड़ी का व्यापार तथा विट की क्रीड़ा, दूसरे में दस घड़ी का विदूषक का विलास, तीसरे में दो घड़ी का पीठमर्द का विलास और चौथे में दस घड़ी की नागरिक पुरुषों की क्रीड़ा रहती है। इसमें कैशिकी और भारती वृत्तियाँ होती हैं, गर्भ-सन्धि नहीं होती, पुरुष सब चतुर होते हैं पर नायक छोटी जाति का होता है।

१६—**प्रकरणिका** में नायक व्यापारी और नायिका उसकी सजातीया होती है। शेष बातें प्रकरण के समान होती हैं।

१७—**हल्लीश** में एक अंक, सात, आठ या दस स्त्रियाँ और उदात्त वचन बोलने वाला एक पुरुष होता है। इसमें कैशिकी वृत्ति तथा मुख और निर्वहण सन्धियाँ होनी हैं एवं गान, ताल, लय का अधिकता से प्रयोग होता है।

१८—**भाणिका** में एक अंक, मन्दमति नायक तथा नायिका उदात्त और प्रगल्भ होती है। इसमें मुख तथा निर्वहण सन्धियाँ एवं भारती और कैशिकी वृत्तियाँ होती हैं। यह भाण की जोड़ का उपरूपक है।

अन्य देशों में नाटकों के प्रकार

भारत से बाहर के अन्य देशों में नाटकों के प्रकारों का इतना सूक्ष्म न तो वर्णन ही किया गया है न इतनी सूक्ष्मता के साथ उनका रूप-निर्धारण ही। सभी देशों में नाट्य-कला के विकास, नाटककारों की विशिष्ट प्रतिभा, दर्शकों की रुचि तथा रंगमंच के साथ-साथ अनेक प्रकार के नाटकों की रचना हुई, किन्तु विचित्र बात यह रही कि नाटकीय प्रकारों के असंख्य भेद होते हुए भी हम वृत्तियों की दृष्टि से उन्हें चार ही श्रेणियों में विभाजित कर सकते हैं। यथा--

१—भारती वृत्ति वाले वे नाटक, जिनमें भाषा-शैली और उदात्त सवाद की प्रधानता होती है।

२—कैशिकी वृत्ति वाले वे नाटक, जिनमें गीत, नृत्य तथा शृंगार-चेष्टाओं की प्रमुखता होती है, जैसे औपेरा या बैले।

३—आरभटी वृत्ति वाले वे त्रासद नाटक, जिनमें मार-काट, भयानक व्यापार तथा युद्ध आदि होते हैं, जैसे मैलो ड्रामा।

४—सात्त्वती वृत्तिवाले वे नाटक, जिनमें मनोवैज्ञानिक दृष्टि से पात्रों का भूमिका-विकल्प किया जाता है और मानवीय भावों का प्रदर्शन होता है।

विभिन्न देशों में नाटकीय प्रकारों का इतना विकास हुआ है कि नाटककार, अभिनेता तथा रंग-व्यवस्थापकों के प्रातिभ उन्मेष के लिए उनमें बहुत सामग्री प्राप्त हो सकती है।

मिस्र के नाटक

मिस्र में ईसा से दो सहस्र वर्ष पूर्व ओसरिस देवता के कथानक के आधार पर नाटक खेले जाने का विवरण मिलता है। वे नाटक यूरोप के वीरकाव्य नाटकों के उन धार्मिक नाट्यों (पैशन प्ले) से मिलते-जुलते थे जिनमें किसी देवता के जीवन की घटना होती थी।

यूनानी नाटक

पहले बताया जा चुका है कि यूनान में दो प्रकार के नाटक होते थे; त्रासद और प्रहसन, जिन्हें भूल से लोग दुःखान्त और सुखान्त कहते हैं। साधारणतः त्रासद का अन्त दुःखान्त होता है और प्रहसन का सुखमय, किन्तु दोनों में विशेष अन्तर यह है कि त्रासद में गम्भीर कथाओं को गम्भीरता के साथ ग्रहण किया जाता है तथा उनमें मनुष्य के कष्टों और विपत्तियों का विशेष विवरण होता है। प्रहसन में हास्यास्पद और निम्न कोटि के लोगों की मूर्खताओं और असंगत कार्यों का प्रदर्शन होता है। त्रासद में करुणा (पिटी) और भय (टैरर) के भावों को उत्तेजित करके रसानुभूति करायी जाती है और प्रहसन में हास्य के भाव को उत्तेजित करके। किन्तु बाद के लेखकों ने इस प्रकार के भेद नहीं माने, जिससे इन दोनों प्रकारों के अतिरिक्त भी अनेक प्रकार के रूपक प्रकट होने लगे। इन विभिन्न प्रकारों में ऐतिहासिक और काल्पनिक नाटक तो अपने नाम से ही स्वयं स्पष्ट हैं। आरभटी नाटक (मैलो-ड्रामा) वास्तव में इतालिया में उत्पन्न हुए, जिनमें त्रासद और प्रहसन दोनों का सम्मिश्रण है और जो हमारे अत्यन्त निम्नतम भावों को संतुष्ट करते हैं। त्रासद की प्रकृति लेकर फ़ान्सीसी द्रामे (नाटक) दो प्रकार के चले; १—त्राजेदी बोर्जुवा और २—कौमेदी लार्मोयान्ते, जिनमें जीवन के वास्तविक स्वरूप का बहुत कम अनुकरण रहता है। प्रहसन के भी अनेक रूप यूरोप में प्रचलित हुए जो अठारहवीं शताब्दी में आचारविषयक प्रहसनों (कौमेडी ऑफ़ मैनर्स) से प्रारम्भ होकर फ़ार्स (भँड़ैती), बर्लेस्क (स्वाँग), वादेविले (हास्य-प्रधान नृत्य-गीत नाटक), मूकाभिनय (पान्तोमीम) तथा नृत्याभिनय

(बाले) तक अनेक रूपों में विकसित हुए। ये सभी रूप प्राचीन नाटकों से उद्भूत हुए। मुँह बनाना या व्यंग्यानुकरण (मिमिक्री) भी नाटक का एक स्वरूप चला जिसका प्रयोग सर्वसाधारण में किसी का अपमान करने, खिझाने या मूर्ख बनाने के लिए किया जाता है।

मगोदी, लिसियोदी, हिलारोदी और सिमोदी

त्रासद और प्रहसन के अतिरिक्त यूनान में और भी अनेक नाटकीय रूप प्रचलित थे जिनमें मगोदी, लिसियोदी, हिलारोदी और सिमोदी अधिक प्रसिद्ध हैं। मगोदी के साहित्यिक रूप वे थे जो मूकाभिनय (माइम) के विविध रूपों और दृश्यात्मक नाटकीय प्रदर्शन के गीतों से बहुत मिलते-जुलते हैं। इन मगोदी लिखनेवालों ने अपनी कथाएँ उन प्रहसनों से ली थीं, जिनमें पात्र तो पुरुष और स्त्री दोनों ही होते थे किन्तु मगोदी अभिनेता की वेश-भूषा सब महिलाओं की सी ही होती थी। लिसियोदी में वंशी के साथ गाते हुए पुरुषोचित वेश-भूषा में स्त्रियों की भूमिका का अभिनय किया जाता था। हिलारोदी नाटक अत्यन्त गम्भीर शैली में लिखे जाते थे। इनका अभिनेता पुरुष की वेश-भूषा ग्रहण करके सुनहरा मुकुट लगाकर तथा आधी टाँग तक का ऊँची एड़ी का जूता पहनकर त्रासद की परिवृत्ति (पैरोडी) करता था। स्त्राबो ने सिमोदी को हिलारोदी का ही दूसरा नाम बताया है।

फ़ान्स में सत्रहवीं से उन्नीसवीं शताब्दी तक धनिकों की बैठक में एक प्रकार के 'नाटकीय कहावत' (ड्रामेटिक प्रोवर्ब) नामक नाट्य-प्रदर्शन होते रहे, जिनमें अव्यावसायिक लोग पहेली-बुझौवल के रूप में छोटी नाटकीय श्लिष्ट कहावतों का प्रदर्शन करते थे। उनमें अलिखित और श्लिष्ट सद्यः संवाद हुआ करते थे जिनका समझना जनता पर छोड़ दिया जाता था।

रोम के नाटक

रोम में प्रहसन अधिक ग्रहण किये गये, त्रासद कम। प्रहसनों के ये तत्त्व सतूरी नामक प्रहसनों में अधिक मिलते हैं। इनके अतिरिक्त अतेल्लाना नामक जो प्रहसन प्रचलित थे, वे ओस्कनों से प्राप्त हुए थे जिन्होंने माइम (वास्तविक जीवन पर लिखे हुए प्रहसन) मेगना ग्रीसा से लिये थे। प्रहसनों में भी 'पल्लियाती' वर्ग के प्रहसन तो यूनानी आदर्शों पर लिखे गये और 'तोगाती' प्रहसन रोम के सामाजिक जीवन और इतिहास से संबद्ध विषयों पर लिखे गये थे। उन नाटकों की एक विशेषता यह भी थी कि उनमें से प्रस्तावना का बहिष्कार हो गया था और उसके स्थान पर एक असम्बद्ध

व्याख्या मात्र जुड़ी रहती थी। त्रासदों में भी 'प्रातेबस्ती' प्रकार के वे नाटक थे जिनमें रोम के ऐतिहासिक विषयों से सम्बद्ध कथावस्तु ग्रहण की जाती थी। शेष सब प्रकार के त्रासद यूनानी पौराणिक कथाओं पर ही अवलम्बित होते थे। रोम साम्राज्य के पतन के पश्चात् ये व्यवस्थित नाटक समाप्त हो गये और रंगमंच पर नर्तकों तथा मूकाभिनयकारियों ने अधिकार जमा लिया।

रोम में एक प्रकार का लातिन सुखान्त नाटक 'फ़ेबुला पालियाता' भी चलता था जो या तो यूनान के सुखान्त नाटकों का स्वतंत्र अनुवाद होता था या उनके आधार पर रचा जाता था। उसमें दृश्य और चरित्र तो सब यूनानी होते थे किन्तु आचार-विचार यूनानी और रोमी मिश्रण के होते थे। इन नाटकों में पहले तो बड़ी अश्लीलता भरी रहती थी किन्तु बाद के लेखकों ने उनमें बहुत परिवर्तन कर दिया। द्वितीय शताब्दी के अन्त में जनता के अनुरोध से कवि-गण इसे छोड़कर 'तोगाता' या अधिक विषय लेकर 'अतेला' लिखने लगे। चौथी शताब्दी ईसवी तक प्राचीन प्रहसनों और त्रासदों के बदले इतालिया (इटली) भर में मूक प्रहसन (माइम्स) खेले जाने लगे जिनमें साधारण जीवन के वास्तविक दृश्य और विषय केवल मुख-मुद्रा द्वारा अभिनीत किये जाते थे। ये मूक प्रहसन आगे चलकर अत्यन्त कामुकतापूर्ण और अश्लील हो गये।

किन्तु सांस्कृतिक नाटकों का पुनरुद्धार सर्वप्रथम इतालिया (इटली) में ही हुआ। सोलहवीं शताब्दी के प्रारम्भ में ही वहाँ प्लाउतीय प्रहसनों का जीर्णोद्धार किया गया, किन्तु वास्तविक इतालवी नाटकों का प्रारम्भ किया अरिस्तीनो ने अपने अतुकान्त पद्य में लिखे हुए रूढिवादी त्रासद सोफ़ोनिस्बा से। इसके पश्चात् तोराकातो तासो ने पास्तोरल प्लेज़ (ग्रामीण नाटक) लिखे। उसी शताब्दी के अन्त में गियमबत्तिस्ता दे ला पोर्ता ने अपने मनोहर व्यंग्यात्मक प्रहसन प्रारम्भ किये। यद्यपि कल्पनात्मक या स्वैरवादी (रोमांटिक) नाटक का प्रारम्भ तो यूनान में हुआ तथापि उसका प्रचार इतालिया (इटली) में ही हुआ और प्राचीन रूढिवादी नाटकों के विरोध में एक दल ही खड़ा हो गया। उसी समय रिच्यूविनी और उसके अनुयायियों ने इन स्वैरवादी (रोमांटिक) नाटकों में संगीत का पुट देकर आरभटी नाटक (मैलो ड्रामा) की सृष्टि की। फल यह हुआ कि त्रासद और प्रहसन का स्थान ले लिया यूम्जिनका अपेरा (संगीत-नृत्यमय नाटक) ने, जिसे साहित्यिक स्तर पर पहुँचाया ज़ेनो ने।

किन्तु थोड़े दिन बाद फ्रान्सीसी नाट्य-कला ने इटली के रंगमंच को प्रभावित करना प्रारम्भ कर दिया, विशेषतः अभिनेता नाट्यकार रिच्यूविनी ने और गोजी ने तो सार्वजनिक कोमीदिया दे लार्त (मुखौटों के प्रहसन) को साहित्यिक रूप ही प्रदान कर दिया।

चीना नाटक

चीन में केवल दो ही प्रकार के नाटक होते रहे हैं—(१) नागरिक और (२) सैनिक। चीनी नाटकों का प्रधान उद्देश्य यही रहा है कि मनुष्य के सम्पूर्ण गुणों का उत्कर्ष और अभ्युदय दिखलाया जाय। वहाँ के सब नाटक प्रायः रूढिगत ही होते हैं। चीनी नाटकों की बड़ी भारी विशेषता यह है कि खेलते समय अभिनेता लोग उनमें मनमाने ढंग से जितना चाहें संवाद बढ़ा-घटा लेते हैं, इसलिए वहाँ लिखे हुए तथा खेले हुए नाटकों के पाठों में बड़ा अन्तर मिलता है। नागरिक नाटकों में सामाजिक जीवन के सर्वसाधारण पक्ष का प्रदर्शन किया जाता है और उनकी प्रकृति शान्त तथा प्रहसनात्मक होती है। सैनिक नाटकों में द्वन्द्वयुद्ध तथा सब प्रकार के उत्तेजनात्मक व्यापार होते हैं। वास्तविकता या रंगविधान की ओर वहाँ बहुत कम ध्यान दिया जाता है। स्त्रियों की भूमिका पुरुष ही ग्रहण करते हैं। वहाँ एक साथ बिना अन्तराय के अनेक नाटक खेले जाते हैं और इसलिए जब कोई कार्य बहुत काल तक लम्बा किया जाता है तो उसके लिए उक्ति ही प्रचलित हो गयी है कि 'चीनी नाटक खेला जा रहा है।'

जापानी नाटक

जापानियों का सबसे प्राचीन नाटकीय रूप था कगूरा, जिसमें देवताओं के सम्मुख गीत और नृत्य का प्रदर्शन किया जाता था। यह आज तक उसी रूप में शिन्तो मूर्तियों के सम्मुख खेला जाता रहा है। पीछे इसमें कुछ मन्द तथा कुछ तालयुक्त क्रियाएँ भी समाविष्ट कर दी गयीं। **तामाएँ** अर्थात् क्षेत्रनृत्य और **देंगाकू** के छः नाटकीय रूप हैं—**शिबा** (घासवाले खेत), **दाई** (महान्), **शो** (लघु), **मइको** (नर्तकियाँ), **मारू** (ग्राम) और **काची** (टहलना)। ये छः प्रकार के नाटक **एन्नेन** नामक नृत्य-नाटक के साथ मिलकर बौद्ध धर्म की उन्नति के साथ अधिक व्यवस्थित हो गये और इन्होंने **नोह** (योग्यता नाटक) का रूप धारण कर लिया। **सारूगाकू नोह** (वानर संगीत) प्रारम्भ में प्रहसनात्मक था किन्तु बौद्ध भिक्षुओं के हाथ में पड़कर उसकी प्रहसनात्मिका प्रकृति समाप्त हो गयी। **नोह** में दो या दो से अधिक अभिनेता होते हैं, नाटक गद्यमय होता है और मंत्रों के समान उसका पाठ किया जाता है। अभिनेता प्रायः मुखौटे बाँधे रहते हैं और उनकी सम्पूर्ण गति एक नियम में बँधी चलती है। पन्द्रहवीं शताब्दी के अन्त तक चार प्रकार के नोह नाटक प्रचलित थे; १—**शिन्तो नोह**, जिसमें पौराणिक विषय होते थे, २—**शुगेन नोह**, जिसमें प्राचीन लोकाचार दिखाया जाता था, ३—**यूरेई शेरेई नोह**, जिसमें भूत-प्रेतों की कथा होती थी और

४—**गेंजाई मोनो नोह**, जिसमें कोई नैतिक लक्ष्य प्रतिपादित करने के लिए लौकिक जीवन का तत्त्व प्रतिपादित किया जाता था। बौद्धों के हाथ में रहने के कारण इनमें से प्रहसनात्मक तत्त्वों का पूर्णतः बहिष्कार कर दिया गया था। प्रहसनात्मक नाटक मौखिक होते थे और **क्योगेन** में संक्षिप्त कर दिये जाते थे। **क्योगेन** का अर्थ है सरल वाणी। ये अत्यन्त वास्तविक तथा असाहित्यिक सामाजिक प्रहसन गद्य में होते हैं और प्रायः नोह नाटकों के बीच-बीच में दिखा दिये जाते हैं।

यूरोप के मध्ययुगीन नाटक

मध्यकाल में यूरोप के ईसाई पादरियों ने बहुदेववादियों के मनोविनोदात्मक प्रदर्शनों के समकक्ष कुछ ऐसे नाटकों की प्रतिष्ठा की, जो थोड़े दिनों में 'मिरेकिल प्लेज़' (अलौकिक चमत्कारपूर्ण नाटक), 'मिस्टरीज़' (रहस्यात्मक नाटक) और 'पैशन प्लेज़' (भावात्मक नाटक) के रूप में प्रचलित हुए। इन्हीं के साथ-साथ 'मोरेलिटीज़' (नैतिक नाटक) नाम के उन नाटकों का प्रादुर्भाव हुआ जो भ्रमणशील पादरी खेलते थे। इन्हीं से नवीन यूरोपीय नाटकों की उत्पत्ति हुई।

नवीं शताब्दी के लगभग यूरोप में या तो इधर-उधर घूमने वाले आवारा लोग या तो कुछ मूकाभिनय करते फिरते थे या कभी-कभी ग्रामों और गिरजाघरों के उत्सवों में कुछ नाटकीय प्रदर्शन हो जाते थे। नवीं शताब्दी में गिरजाघरों की सामूहिक प्रार्थनाओं के समवेत-गान के साथ कुछ थोड़े भावात्मक संवाद (ट्रोप) जोड़ दिये गये थे जिनके बदले दसवीं शताब्दी में कुछ मूकाभिनय होने लगे। धीरे-धीरे ईस्टर के ट्रोप भी लैटिन के बदले देशी भाषाओं में होने और नाटक के रूप में चौराहों में प्रदर्शित किये जाने लगे। आगे चलकर उनमें लौकिक तथा यथार्थवादी विवरण और प्रहसन के अंश भी जोड़ दिये गये। इस प्रकार बाइबिल में रहस्यात्मक कथाएँ जोड़-जोड़कर पूर्ण नाट्य-चक्र बना लिये गये। नाटकीय दृष्टि से ये रहस्य-नाटक (मिस्टरी प्लेज़) शिथिल, अक्रम और अनुपात-हीन होते थे, जिनमें कला कम थी, उपदेश अधिक। इनमें सर्वसाधारण यथार्थवादी दृश्यों के सुन्दर प्रदर्शन (पेजिएंट्री) और यात्राओं (प्रोसेशन) की भी व्यवस्था होती थी। ये सभी नाटक भावात्मक संवाद (ट्रोप) से ही प्रारम्भ हुए। इन नाटकों में यात्रा के उत्सव (पेजिएंट्री), सरकस तथा विद्रूप और निम्न कोटि के प्रहसन का मेल होता था जिसमें महात्मा ईसा, किसी राजा, सन्त या वीर का जीवनचरित्र प्रदर्शित किया जाता था।

अद्भुत नाटक (मिरैकिल प्ले)

नियमित अर्थ में अधिक अनाटकीय और धार्मिक प्रकृति की अपेक्षा अधिक वास्तविक

तथा लौकिक था अद्भुत नाटक (मिरैकिल प्ले)। यह नाटकीय प्रकार बारहवीं शताब्दी के प्रारम्भ में बहुत लोकप्रिय हुआ। इस शैली के नाटकों में किसी ऐसी अद्भुत घटना का प्रदर्शन होता था जिसमें शुद्ध रूप से उन मानवीय क्रियाओं का वर्णन रहता था, जिनकी समस्याओं का समाधान किसी सन्त या देवी कुमारी (वर्जित) की कृपा से हो जाता था। फ्रान्सीसी अद्भुत नाटकों में यथार्थवादी मध्य-वर्गीय नाटक (बुर्जुआ नाटक) की छाया स्पष्ट मिलती है। धीरे-धीरे इन नाटकों में अद्भुत रूप से सन्तों को प्रकट कराने के बदले पहले तो केवल सन्तों की सम्मति ही दिलाना पर्याप्त समझा जाने लगा किन्तु इसके पश्चात् वह भी बन्द हो गया और अन्य मनुष्य के सहारे ही मनष्य के जीवन का आन्तरिक युद्ध दिखाया जाता रहा। दूसरे प्रकार के ऐसे भी लौकिक नाटक लिखे गये जिनमें सन्त को राष्ट्रवीर भी बनाया गया। अतः धीरे-धीरे सन्तों की महत्ता से राष्ट्रीय वीरों की महत्ता बढ़ने लगी और इस राष्ट्रीयता की भावना के अनुसार उन वीरों, विशेषतः राजाओं के सम्बन्ध में नाटक लिखे जाने लगे जिनका धर्म से कोई संबंध नहीं था और इस प्रकार ऐतिहासिक नाटकों का सूत्रपात हो गया।

नैतिक नाटक (मौरेलिटी प्लेज़)

पन्द्रहवीं और सोलहवीं शताब्दी में यूरोप में कुछ नैतिक नाटक लिखे गये जिनमें प्राचीन व्यंग्य-लेखकों और नीति-लेखकों के उद्देश्य को रंगमंच पर उपस्थित किया जाता था। इनके अन्तर्गत गम्भीर, अर्ध-ऐतिहासिक और अद्भुत नाटकों से मिलते-जुलते नाटकों से लेकर हलके व्यंग्यात्मक चित्रणों से पूर्ण नाटक तक प्राप्त होते हैं। वास्तव में सटीक नैतिक नाटक में मृत व्यक्ति के शव के साथ मूर्त भावों (शान्ति, क्षमा, दया) आदि के बीच उनके गुण और दोषों से पूर्ण लम्बा शास्त्रार्थ कराकर कोई नैतिक निष्कर्ष निकाला जाता था। इसी का पुराना नाम 'मौरेल प्ले' भी है। ऐसा ही 'ज्यू' नाम का लोकप्रिय प्रदर्शन पेरिस में चला जो प्रारम्भ में घुमन्तू नाटक (सोती) रहा, उसके पश्चात् नैतिक हुआ, और फिर व्यंग्यात्मक भँड़ैती के रूप में चल निकला। सोलहवीं शताब्दी में इन नैतिक नाटकों में नैतिक उपदेश के बदले लौकिक शिक्षा प्रारम्भ कर दी गयी और इनके द्वारा भूगोल तथा विज्ञान भी सिखाया जाने लगा, प्रायः इसी रूप में ये सब अन्तरिम रूपक (इन्टरल्यूड) के रूप में प्रसिद्ध हुए। धार्मिक उत्सवों से इनका सम्बन्ध टूट गया और ये किसी भोज, खेल या उत्सव के बीच में खेले जाने लगे।

स्पेनी नाटक

स्पेन को कल्पनात्मक नाटक की जन्मभूमि समझना चाहिए। इन नाटकों का

प्रारम्भ किया सन्तिलाना, लोपे दे, रुएदा और नाहारो ने, जो स्पेनी रंगमंच के पिता समझे जाते हैं। कल्पनात्मक नाटकों के अतिरिक्त वहाँ कुछ तो त्रासद लिखे गये किन्तु कुछ ऐसे धार्मिक नाटक भी लिखे गये जिन्हें आउतास सेक्रामेन्तालिस कहते हैं और जिनमें यूखारिस्त के रहस्यों को नाटकीय रूप दिया गया है।

उसी समय मोरेतो ने अनेक प्रहसन भी लिखे जो 'चोगा और तलवार' श्रेणी (क्लोक एण्ड सोर्ड टाइप) के कहे जाते हैं और जिनके लिए स्पेनी रंगशाला प्रसिद्ध है।

स्पेन के इस उच्च श्रेणी के मिश्र-रूपक 'लबादे और तलवार' के नाटक (कौमिडिया दे कापाई ए स्पादा या क्लोक एण्ड सोर्ड कैमडी) में घुड़सवार लोग किसी उच्च वर्ग की महिला से प्रेम करते थे, उसके लिए परस्पर द्वन्द्व-युद्ध करते थे और अपनी मान-प्रतिष्ठा का ऐसा आदर्श बनाये हुए थे कि यदि परिवार के मान पर तनिक सा भी कलंक लगने की संभावना होती थी तो अपनी भोली-भाली पत्नियों तक को भी मार डालने में संकोच नहीं करते थे। एक विशेष प्रकार की वीरता, साहसपूर्ण कार्यों के प्रति रुचि, सौन्दर्य, शिष्टता, कोमलता, सेवकों की प्रत्युत्पन्नमतिता, सुन्दर अवगुण्ठित महिलाओं की जीवटभरी चालें इन नाटकों के वातावरण को अत्यन्त मनोहारी बना देती थीं।

इसके पश्चात् यह विद्रोही दल खड़ा हुआ जिसने इन प्राचीन 'पुन्तो दे औनर' नामक प्राचीनतावादी नाटकों का विरोध किया, यहाँ तक कि वैनीतो पैरेज गाल्दोस् नें तो रंगमंच के विधानों की भी अवहेलना की।

फ्रान्सीसी नाटक

फ्रान्स ने देश, काल और कार्य के एकत्व (यूनिटी ऑफ प्लेस, टाइम ऐण्ड ऐक्शन) के सिद्धान्त को स्वीकार करके सांस्कृतिक नाटकों का पुनरुद्धार किया। उनके मिस्तेरे (रहस्यात्मक नाटक), मोरालिते (नैतिक नाटक), सोतीस् (मूर्खतापूर्ण नाटक) तथा फार्स (व्यंग्यात्मक प्रहसन) में संस्कृति-विरोधी या कल्पनात्मक प्रवृत्तियाँ स्पष्ट दिखलाई पड़ती थीं, किन्तु कोई विशेष उन्नति उनके यहाँ नहीं हुई। वहाँ भी अन्य यूरोपीय देशों की भांति त्रासद लिखे गये। बहुत दिन पीछे बोल्तेया ने अपने कल्पनात्मक त्रासद लिखे और इसके पश्चात् तो कल्पनावादी तथा काव्यात्मक नाटक लिखनेवालों की बाढ़ ही आ गयी। बीसवीं शताब्दी के नाटककारों ने कामशास्त्र तथा मन:शास्त्र के आधार नाटक लिखे, किन्तु जितने प्रकार के नाटक लिखे जाने चाहिए थे उतने प्रकार वहाँ न पनप सके।

जर्मन, आस्ट्रियन और ज़ेकोस्लोवाकियन नाटक

जर्मनी, आस्ट्रिया और ज़ेकोस्लोवाकिया में भी प्रारम्भ में त्रासद ही लिखे गये। गेटे ने अपने फ़ाउस्ट में आत्मसंस्कार को अधिक महत्त्व दिया है और अपने नाटक की प्रस्तावना में बतलाया है कि नाटकीय रूप में रचना करते हुए भी मैं सार्वजनिक रंग-शाला की आवश्यकताओं के साथ इसका समन्वय नहीं कर सका। हाउप्टमान ने उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त में प्रकृतिवादी और काव्यात्मक नाटक लिखे और वेडेमिन्ड ने अभिव्यंजनात्मक नाटक लिखे, जो माक्स रीनहार्ट की रंगशाला के इतिहास में अत्यन्त प्रसिद्ध हैं। नाटक-प्रदर्शन करने के लिए जो उसने दृश्य-पीठों का रूप-विधान किया है वह सारे संसार में अद्वितीय है।

स्केण्डीनेवियन और फ्लेमिश नाटक

फ़्लेमिश नाटक तो फ्रान्स के कल्पनात्मक नाटकों के अनुकरण मात्र हैं। बेल्जियम के प्रसिद्ध कवि मेटरलिंक ने प्रतीकवादी आन्दोलन का नेतृत्व किया और नाटक में अतिशय प्रतीकवाद (सिम्बोलिज़्म) की प्रतिष्ठा की। नाटक के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण प्रवृत्तियों का आन्दोलन प्रारम्भ किया स्केण्डीनेविया ने। ब्योर्नसन और इब्सन ने मनोवैज्ञानिक और सामाजिक समस्याओं पर जो समस्या-नाटक लिखे उनका प्रभाव व्यापक रूप से यूरोपीय नाटकों पर पड़ा है। इनके अतिरिक्त स्ट्रिण्डवर्ग ने इब्सन के महिलावाद के विरोध में अनेक शक्तिशाली नाटक लिखे।

रूसी नाटक

किसी युग में रूस में भी धार्मिक नाटक खेले जाते रहे किन्तु वहाँ व्यवस्थित रूप से अठारहवीं शताब्दी में ही नाटकों का विकास हुआ और त्रासद लिखे गये। उन्नीसवीं शताब्दी में ग्रीवोयेडौफ और गोगोल ने प्रहसन लिखे, पुश्किन ने शेक्सपियरी शैली पर नाटकों की रचना की, आस्ट्रीवस्की ने जनता के मनोभावों का स्वाभाविक निरूपण किया, अलेग्ज़ेण्डर तॉल्स्ताय ने रूसी राजाओं की कथाओं पर नाटक लिखे, काउन्त लियो तॉल्स्ताय ने सब रूढ़ियों को तोड़ते हुए केवल चरित्र-चित्रण की दृष्टि से नाटक रचे, आन्तोन चेखव ने मास्को आर्ट थिएटर के लिए अत्यन्त स्वाभाविकतापूर्ण कलात्मक नाटक लिखे, जिनमें सरल किन्तु भावात्मक अभिनय की आवश्यकता होती है। नवीन नाटककार एव्रोनफ ने अपने मोनोड्रामा (एकनटीय नाटक) के सिद्धान्त पर अपने प्रेरक नाटक लिखे। सन् १९१७ की क्रान्ति के पश्चात् रूस में नयी रंगशालाओं की स्थापना हुई, जिनमें सस्ते उपकरणों तथा ज्यामितीय आकारों की सामग्रियों

पर विभिन्न प्रकार से प्रकाश देकर दृश्य-प्रभाव उत्पन्न करने की चेष्टा की गयी, साथ ही रंगशाला को प्रचार का साधन भी बना लिया गया। मेयरहोल्ड जैसे लेखकों ने साधारण जनता के लिए ऐसे नाटक लिखे जो सार्वजनिक रूप से खुले मैदान में खेले जा सकते हैं। वहाँ के विभिन्न प्रान्तों में छोटी या उठौवा रंगशालाएँ भी हैं और घुमन्तू अभिनेता घूम-घूमकर नाटक दिखाते हैं। इनके अतिरिक्त प्रयोगात्मक राजकीय रंगशालाएँ भी हैं जहां निरन्तर नाटकीय प्रयोग होते रहते हैं।

अंगरेज़ी नाटक

इंग्लैंड में भी प्रारम्भ में ईसाई पादरियों द्वारा धार्मिक नाटक खेले जाते रहे जिनमें अलौकिक नाटक (मिरैकिल प्लेज़) और रहस्यात्मक नाटक (मिस्टरीज़) मुख्य थे। किन्तु सोलहवीं शताब्दी में पुनरुद्धार-काल (रिनैसाँ पीरियड) में ये बन्धन टूट गये और प्रहसन तथा त्रासद भी लिखे जाने लगे। इन सब लेखकों में सर्वाधिक ख्याति पायी शेक्सपियर ने। यद्यपि जौन्सन ने प्रहसन और त्रासद दोनों लिखे थे किन्तु उसे प्रसिद्धि मिली उस कलात्मक मास्क (मुखौटेवाले प्रहसन) से, जिसकी राजद्वार में बड़ी प्रशंसा हुई। इस प्रकार त्रासद और प्रहसन निरन्तर लिखे जाते रहे। पीछे अन्ना वेली, कोलरिज, बायरन, शेली और हेनरी टेलर जैसे लेखकों ने पाठ्य नाटक लिखे जो केवल पढ़ने के लिए अच्छे थे, रंगमंच पर नहीं खेले जा सकते थे। टेनीसन, ब्राउनिंग और स्विनबर्न जैसे कवियों ने भी नाटकीय काव्यों की रचना की और शेरिडन जैसे लोगों ने दृश्यात्मक शक्ति से पूर्ण नाटक लिखे। इनके पश्चात् जोन्स पिनरो और औस्कर वाइल्ड जैसे नाटककारों ने वाग्वैदग्ध्य से पूर्ण सुखान्त नाटक लिखे। उसके पश्चात् आये बर्नर्ड शा और गाल्सवर्दी जिन्होंने रंगशाला को नया रूप दिया, अनेक विवादास्पद विषयों पर निर्भीकता और व्यंग्यपूर्वक आलोचना की तथा सामाजिक समस्याओं का नये ढंग से समाधान किया। जे० एम० बारी ने अपने नाटकों में अलौकिक रहस्यात्मक तत्त्वों का अधिक प्रयोग किया। हाल में ग्रेनविल बार्कर ने रंग-विधान की योजना में महत्त्वपूर्ण प्रतिष्ठा प्राप्त की। बाद के कवियों में कुछ ऐसे भी थे जिन्होंने व्यंग्यात्मक प्रहसन भी लिखे हैं।

आयरिश नेशनल थियेटर में दो प्रकार के नाटक लिखे गये—१. साहित्यिक नाटक और—२. लोक नाटक (फोक प्लेज़)

ट्रेजी-कोमेडी (त्रास-हास नाटक)

कुछ लोगों ने, विशेषतः शेक्सपियर ने ऐसे भी नाटक लिखे जिनमें त्रास का अंश

भी भरपूर रहता था और प्रहसन का भी। ऐसे नाटक लिखनेवालों का विश्वास है कि त्रासद के कारण दर्शक के मन में जो भावों का तनाव आ जाता है उसे शिथिल और शान्त करने के लिए प्रहसन-विश्राम (कौमिक रिलीफ) देना आवश्यक है।

अमरीका के नाटक

अभी पचास वर्ष पहले तक अमरीका के नाटकों पर फ्रान्सीसी और अँगरेज़ी प्रभाव विद्यमान था किन्तु डेन्मन टोम्सन के सार्वजनिक गीति-नाट्य के आ जाने से और हैरिगन तथा हार्ट के निम्न कोटि के जीवन के देशी प्रहसनों के प्रादुर्भाव से देशी मौलिकता जागने लगी। जेम्स हर्न ने सर्वप्रथम न्यूइंग्लैंड के ग्राम्य जीवन पर अत्यन्त स्वाभाविक नाटक लिखा। वर्तमान अमरीका के नाटककारों की विशेषता यह है कि वे मानवीय प्रकृति का अत्यन्त सच्चा और निःसंकोच चित्रण करते हैं। इधर अमरीका की जनता के मत का प्रतिनिधित्व करने वाले भी कुछ नाटक लिखे जा रहे हैं जिनकी लोकप्रियता अधिक बढ़ रही है, किन्तु प्रभावशाली, नयी सम्भावनाओं को समझने वाला, वास्त-विकतावादी नाटककार है यूजेन ओ' नील, जो अभिव्यंजनात्मक कौशल का भी प्रयोग करता है किन्तु पूर्णतः अभिव्यंजनावादी नाटककार है एलमेर राइस।

लोकनाट्य (फ़ोक ड्रामा)

प्रारम्भ में बहुदेववादियों के धार्मिक कर्मकांड और जादू-टोने, उत्सवों के नृत्य और गीत के आदिम काल में ही लोक-नाट्य का प्रादुर्भाव हो गया था। पश्चिमी यूरोप में इसी से मिलते-जुलते सभी उत्सव लोकनाट्य के ही प्रारम्भिक रूप थे। इंग्लैंड में खड्ग-नृत्य (मोरिस डान्स), फ़्रांस में विदूषक नृत्य (दान्से देस्, बफून्स), स्पेन में दे गोलादा और इटली में माताचिनो एक ही नाट्य-शैली के विभिन्न रूप थे जो अंग्रेज़ीभाषी संसार में मुखौटा-नाट्य (मास्क) या विदूषक-नाट्य (ममर्स प्ले) के रूप में विकसित होकर आये। दक्षिण-पश्चिमी संयुक्त अमरीका में इन नाटकों को पास्तोराला (ग्रामीण) कहते हैं क्योंकि इनके बहुत से पात्र गड़रिये होते हैं। दक्षिण-पश्चिमी अमरीका में लैसमौरोस नाम के वे नाटक भी अत्यन्त लोकप्रिय हैं जिनमें मूरों और ईसाइयों का संघर्ष दिखलाया जाता है। लातिन अमरीका में लौकिक विषयों पर भी नाटक खेले जाते हैं, जैसे न्यूमैक्सिको का लौस कोमाचेस। कैथोलिक देशों में ऐसे 'स्टास' नाटक भी लोक-नाट्य के रूप में प्रचलित होने लगे हैं जो गाँव के किसी मान्य सन्त के स्मारक रूप में खेले जाते हैं। दीन ग्रामीण वर्ग की कथा लेकर वास्तविक यथार्थवादी लोकनाट्य संयुक्तराज्य अमरीका में १४ मार्च,

सन् १९१८ से चले, जब 'कैरोलिना प्ले मेकर्स' ने सर्वप्रथम कैरोलिना लोक-नाटकों का प्रदर्शन किया। इनमें उन निम्न श्रेणी के लोगों की रूढ़ियों तथा रीतियों का प्रदर्शन है जो वर्तमान जटिल सामाजिक रूढ़ि से अधिक प्रभावित नहीं हो पाये। इन नाटकों में लोक-कथाओं, अन्ध-विश्वासों, रीतियों, परिस्थिति के भेदों तथा साधारण लोगों की भाषा का प्रयोग किया जाता है। इनमें से अधिकांश नाटक यथार्थवादी, त्रासद या उग्र प्रहसन होते हैं जो कभी-कभी कल्पनात्मक और काव्यात्मक भी हो जाते हैं। इनके मतानुसार वास्तविक लोक-नाट्य वह है जिसमें अस्तित्व के लिए मनुष्य का परम संघर्ष और प्रकृति के संसार का आनन्द दिखलाया जाय।

सुखान्त नाटक (कौमेडी)

प्रारम्भ में तो 'कौमेडी' शब्द का अर्थ प्रहसन था किन्तु आगे चलकर यूरोप में कौमेदी (कौमेडी) शब्द दो अर्थों में प्रयुक्त होने लगा—१. प्रहसन, जिसमें मूर्खता, व्यंग्य और धूर्तता के कृत्यों द्वारा विनोद उत्पन्न किया जाता है और—२. सुखान्त नाटक, जिसमें किसी नाटक का अन्त सुखमय हो। इन सुखान्त नाटकों में जितने
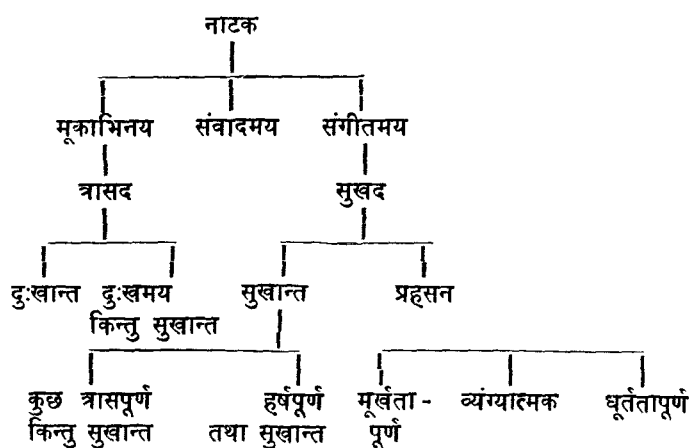
कार्य होते हैं वे सब गम्भीर भी हो सकते हैं, अगम्भीर भी, किन्तु उनके व्यापार मूर्खता, व्यंग्य और धूर्तता के द्वारा विनोद करने वाले न होकर पात्रों की मस्त, विनोदशील और प्रसन्न प्रकृति के कारण ही होते हैं। ये नाटक भी या तो गद्य-संवादात्मक होते थे या संगीतात्मक या मूकाभिनयात्मक। इसी प्रकार फ़्रान्स में 'कौमेदी' शब्द

प्रहसन के बदले प्रयुक्त न होकर व्यापक अर्थ में सभी त्रासदीय रचनाओं के लिए प्रयुक्त होने लगा, जैसे दिदरो के 'कुलपिता' (दि फ़ादर ऑफ़ फैमिली) के लिए। जिन काव्यों की शैली और विषय-योजना निम्न कोटि की होती थी किन्तु अन्त सुखमय होता था उन्हें भी कौमेदी कहने लगे, जैसे दांते की 'दिवाइन कौमेदी', या बालजक की 'ला कौमेदी ह्यूमन।' अतः यूरोपीय नाटकों की प्रकृति हम ऊपर के चित्र द्वारा समझ सकते हैं।

तरल नाटक (वौदेविले)

पन्द्रहवीं शताब्दी में वौदेविले नौर्मंडी में एक प्रकार के व्यंग्यात्मक मदिरा-गीत रचे गये थे। अठारहवीं शताब्दी के प्रारम्भ में ये गीत भँड़ैतियों या प्रहसनों में डाल दिये गये जो 'कौमेडीज़ आवेक वौदेविले' और आगे चलकर केवल 'वौदेविले' कहलाने लगे। उन्नीसवीं शताब्दी में उन नाटकों को वौदेविले कहते थे जो बीच-बीच में गेय दुपदियों से भरे हों, पर अब तो उन सभी हलके, तरल नाटकों को वौदेविले कहने लगे हैं जिनमें कौशलपूर्ण तथा वेगशील कथा-वस्तु हो। इस वौदेविले का प्रारम्भ कुछ नटविद्या या सिखायी हुई सील मछली के मूकाभिनय से कराया जाता है और वह भी इसलिए कि विलम्ब से आने वाले लोगों के प्रवेश से नाटक में बाधा न हो और जो सबसे महत्त्वपूर्ण अंग हो वह अन्तिम अंक से ठीक पहले दिखाया जा सके। इसमें जादूगर, मन के ज्ञाता, छिट-पुट कलाकार, कुत्ते, खच्चर, नट, बाजीगर, फिसलने वाले, विशेषतः बाइ-सिकिल का दृश्य दिखानेवाले लोगों की कला ही मुख्यतः दिखायी जाती है। इनमें विनोदकारी संवाद के साथ नृत्य और गीत भी रहते हैं। ऐसा ही सोती नामक वह नाटकीय प्रदर्शन होता है, जिसे सोत (लोकमण्डली) दिखाती फिरती है। पन्द्रहवीं और सोलहवीं शताब्दी में विशेषतः इन बासोख की सोतियों के प्रारम्भ में वौदेविले नाट्य हुआ करता था जो मण्डलियों के भ्रमण के समय उनके नाटकों में नमक-मिर्च मिलाने के लिए खेला जाता था। धीरे-धीरे इसमें छोटे-छोटे व्यंग्यात्मक और नीति के नाटक भी खेले जाने लगे, जिनमें सोतों के कुछ मण्डल नटों के साथ मिलकर संवादों द्वारा तत्कालीन घटनाओं और परिस्थितियों का प्रदर्शन करते थे।

मूकाभिनय, मूक-प्रदर्शन तथा स्थिर दृश्य

यद्यपि पैन्टोमीम का अर्थ है सबका अनुकरण करना, किन्तु आजकल इसका अर्थ मूकाभिनय अर्थात् बिना मुँह से शब्द निकाले अभिनय करना ही है। इसके अभिनेता अपने शरीर, हाथ और भावभंगी से ही सब कुछ बता देते हैं। इसके लिए वाणी की

आवश्यकता नहीं, वरन् मुखमुद्रा, हाथ और शरीर की गति सब कुछ कह देती है। गम्भीर कथाओं के गायन के साथ होनेवाले मूकाभिनय में एकांकी अभिनेता अनेक पात्रों के भावों की मूक व्याख्या करता हुआ नाचता था। आगे चलकर माइम के समान ही ये अभिनय अत्यन्त कामुकतापूर्ण और अश्लील हो गये। हस्त-संचालन तथा भाव-पूर्ण मौन-मुख के साथ इसके अभिनेता ऐसी मूक भाषा में बोलते हैं कि वे सम्पूर्ण विश्व में समझे जाते हैं। इसी को 'मीमोड्रामा' भी कहते हैं।

एक प्रकार का मूकाभिनय 'डम्ब शो' (मूक प्रदर्शन) भी है, जिसके बीच-बीच में या दो अंकों के बीच में नाटकीय कथा-वस्तु और उसके भाव को आगे बढ़ानेवाला संगीत भी होता था। इसी मूकाभिनय का एक रूप है 'टेबलो' (स्थिर दृश्य) जिसमें किसी घटना या दृश्य को शांत और क्रियाहीन व्यक्ति या मण्डली द्वारा प्रदर्शित किया जाता है या अभिनेता तथा दृश्य-पीठ को मिलाकर एक विशिष्ट चित्रात्मक प्रभाव उत्पन्न किया जाता है।

मूक नाट्य

मूक नाट्य में दो अंग होते हैं—१. कथा या प्रस्तावना और २. अभिनय। यदि कथा अप्रसिद्ध हो तो पूरी कथा पहले दे दी जाती है और यदि प्रसिद्ध हो तो उसके सम्बन्ध में इतना कथा-संकेत दे दिया जाता है कि कथा-प्रसंग समझने में सुविधा हो। इसमें गीत का पूर्ण अभाव होता है। कथा के क्रमानुसार सब पात्र आ-आकर केवल आंगिक अभि-नय के द्वारा कथा व्यक्त करते हैं। बीच-बीच में आवश्यकता-वश यदि नर्तन का विधान हो तो उसके साथ वाद्य का प्रयोग होता है और यों भी मौन की एकरसता भंग करने के लिए भावानुसार पक्ष-वाद्य, पृष्ठ-संगीत या वाद्य-ध्वनि सुनाई देती रहती है। इसके लिए यह अवश्य संकेत कर देना चाहिए कि कब-कब, किस-किस राग, ताल और लय में कौन से वाद्य बजाने चाहिए।

मूक संवाद-नाट्य तथा नेपथ्यवाक्

मूक संवाद-नाट्य तथा साधारण नाटक की रचना में कोई अन्तर नहीं होता। केवल उसके प्रस्तुत करने के ढंग में यह अन्तर हो जाता है कि साधारण नाटक में तो संवाद और अभिनय दोनों कार्य अभिनेता ही करते हैं, किन्तु मूक संवाद-नाट्य में संवाद का वाचिक अभिनय अर्थात् पाठ नेपथ्य में प्रत्येक पात्र के प्रतिनिधि (संवाद-पाठक) करते हैं और रंगमंच पर पात्रों की भूमिका धारण करनेवाले केवल अभिनय करते हैं। इसे ही नेपथ्यवाक् (प्ले बैक) कहते हैं। आजकल अनेक चलचित्र वाले

प्रायः संगीत-ज्ञानहीन अथवा कंठहीन सुन्दरी अभिनेत्रियों के गीतों के लिए इसी पद्धति का प्रयोग करते हैं।

ऐतिहासिक नाटक

यद्यपि वास्तविक घटनाओं पर लिखे हुए नाटकों को ही ऐतिहासिक नाटक कहते हैं किन्तु कुछ नाटक ऐसी घटनाओं पर भी अवलम्बित होते हैं जिन्हें लोग सत्य मान लेते हैं। अतः आगे चलकर उन शिथिल नाटकों को भी इतिहास-नाटक कहने लगे जिनकी कथा-वस्तु भली प्रकार व्यवस्थित न हो। अतः इतिहास में वर्णित घटना के आधार पर ज्यों का त्यों जो नाटक रचा जाता है, उसे ही ऐतिहासिक नाटक कहते हैं। इसी आधार पर शेक्सपियर के नाटक मुख्यतः तीन भागों में विभक्त हैं—१. सुखान्त और त्रास-हास (कौमेडी और ट्रेजी-कौमेडी), २. त्रासद (ट्रेजेडी) और ऐतिहासिक (हिस्टोरिकल)। इसी श्रेणी में रोम की कथाओं पर आश्रित नाटक 'फ़ेबुला तो-गाता' भी आते हैं। इतालिया में सर्वप्रथम नोबियस ने छद्म-नाटक (फ़ेबुला प्रतेवस्ता) नामक रोमी ऐतिहासिक नाटक लिखा था और उसमें राजनीतिक प्रसंग डाल देने के कारण वह बन्दी कर लिया गया था। इसका प्रयोग यूनानी 'फ़ेबुला पालियाता' को अपदस्थ करने तथा उसके स्थान पर शुद्ध राष्ट्रीय रोमीय सुखान्त नाटक स्थापित करने और दृश्यों में वास्तविक चरित्र स्थापित करने के लिए किया गया। इन नाटकों में रसोइये, दर्ज़ी, नाई, दासत्व से मुक्त व्यक्ति, नीबूनिचोड़ (जो दूसरों के यहाँ अपने भोजन करने का प्रबन्ध कर लेते हों) और वास्तविक व्यक्ति लाकर रंगमंच पर उपस्थित किये जाते थे, किन्तु पालियाता में तो सिपाही, रसोइये, दलाल और धूर्त नौकर पात्र होते थे जो अपने स्वामियों को ही धोखा देते थे। इन तोगाता नाटकों का स्वरूप त्रासद और प्रहसन दोनों के बीच का होता था। आगे चलकर यह तोगाता भी पालियाता के प्रभाव में पड़ गये। क्लौपस्टौक ने अपने उन ऐतिहासिक नाटकों को चारण-नाटक (बार्डिक ड्रामा या बार्डेनास्टूंग) कहा है, जो प्राचीन जर्मन जातियों की युद्ध की ललकार (बार्डिट्स) के प्रबन्धात्मक गेय काव्यों से लिये गये थे और जिनमें आदिम जर्मन जातियों की सभ्यता और संस्कृति का बहुत गुण बखाना गया है।

लीला और नाटक

लीला और नाटक में भेद है। किसी काव्य या इतिहास पर आश्रित दृश्य रूपक को लीला कहते हैं, और नाटककार द्वारा निर्मित कथा-वस्तु के साथ नाट्य-संयोजन की दृष्टि से रची हुई रचना के आधार पर खेले हुए रूपक को नाटक कहते

हैं। रामलीला या रासलीला तो रामायण और भागवत के मूल कथानक के आधार पर होने के कारण लीलाएँ हैं, किन्तु कालिदास की कल्पना द्वारा निर्मित होने के कारण अभिज्ञानशाकुन्तल नाटक है, यद्यपि उसकी कथा-वस्तु महाभारत की कथा पर आश्रित है।

नाटकों के कुछ अन्य प्रकार

कुछ लोगों ने भावुकतापूर्ण सुखान्त नाटक (सेन्टीमेन्टल कौमेडी) भी लिखे हैं, जिनका विश्वास है कि मनुष्य पूर्ण प्राणी है। इन नाटकों में पात्रों की सज्जनता और शालीनता की दुहाई देकर उनका कार्य प्रदर्शित किया जाता है। कुछ स्वैरवादी सुखान्त नाटक (रोमान्टिक कौमेडी) भी लिखे गये, जिनमें यथार्थवादी दृश्य दिखाकर भावात्मक जटिलता या मानसिक द्वन्द्व अधिक दिखाया जाता है। इनमें प्रेम-काण्ड की प्रधानता होती है तथा अत्यन्त कृत्रिम उपायों से सुखमय अन्त किया जाता है। फ़ेबुला स्तातारिया उस प्रकार का सुखान्त नाटक होता है जिसमें नाटकीय व्यापार अत्यन्त स्थिर या अचल गति से चलता है। ये उस फ़ेबुला मुतोरिया नाटक की अपेक्षा अधिक हीन हैं, जिनमें कुछ गिने-चुने चरित्रों के द्वारा नाटकीय व्यापार अत्यन्त तीव्र गति से चलता हो, जैसे कोई दास दौड़ा आ रहा हो, कोई बुड्ढा क्रोध से विक्षुब्ध हो, आदि। समीक्ष्यवादियों ने यह स्तातारिया और मोतोरिया का अन्तर केवल रंगमंच पर नाटक की सजीवता और निर्जीवता या सक्रियता और निष्क्रियता के अनुसार किया है। यह तीव्र-गत्यात्मक व्यापार वाला नाटक सदा लोकप्रिय रहा है और बढ़ते-बढ़ते उस अनुधावन (चेज़) के रूप में पहुँच गया जिसका प्रयोग चलचित्रों में किया गया, जहाँ नायक को प्रतिनायक या प्रतिनायक को नायक ढूँढ़ता या मोटर आदि यानों पर उसका पीछा करता हुआ चलता है।

आरभटी नाटक (मेलोड्रामा या ब्लड ऐण्ड थण्डर)

पहले मेलोड्रामा भी संगीत-काव्य-पाठ मात्र ही था जो आगे चलकर संगीत-नाट्य [यूनानी मेलो (गीत), फ्रांसीसी ड्रामे (नाटक)] का पर्याय हो गया। इसी लिए जी० एफ़० हैण्डिल ने अपनी इस प्रकार की कृतियों को 'औपेरा' और 'मेलोड्रामा' कहा है। वास्तव में पहले पिग्माली लोग गालातिया की मूर्ति के आगे ऐसा संक्षिप्त संवाद करते थे जिसके अन्त में वह पत्थर की मूर्ति सहसा स्त्री के रूप में सजीव हो जाती थी और वह स्त्री अपने प्रेमी की गोद में आ गिरती थी। आगे चलकर इसमें पात्र बढ़े, संवाद बढ़ा, दृश्य-विधान भी बढ़ गया, संगीत को अधिक महत्त्व दिया जाने लगा और देखते-

देखने लोमहर्षक घटना, तीव्र भावावेग तथा सुखमय अन्त से पूर्ण सर्वांग-व्यवस्थित ऐसा 'मेलोड्रामा' चल निकला कि खल-नायक से पूर्ण रोमांच उत्पन्न करनेवाले नाटकों में इसका कोई प्रतिद्वन्द्वी नहीं रहा। हाँ, विक्टोरिया काल में कुछ नाटक ऐसे अवश्य लिखे गये जिनमें हृदय दहलानेवाली भयंकरताएँ भरी हुई थीं। ऐसे बहुत से मेलोड्रामा वास्तविक अपराधों के आधार पर भी लिखे गये, जिनमें सारा नाटकीय व्यापार संगीतभावित रहता है, जैसे आजकल कुछ चलचित्रों में नायिका की विपत्ति के अवसर पर करुण संगीत भी होता चलता है और सब प्रकार के भाव तदनुकूल राग से अनुप्राणित रहते हैं। ऐसे एक नाटक में गिरजाघर की समाधि-भूमि में ढाँचे टहलते हैं, गुलाब की माला पहने हुए एक सुन्दरी परी सहसा हड्डी का ढाँचा बन जाती है। इसी प्रकार इनमें भूत, प्रेत, डाइन तथा दैत्य आदि का भी प्रयोग होता है। दूसरी ओर शुद्ध घरेलू आरभटी नाटक (डोमेस्टिक ड्रामा) वे हैं, जिनमें नित्य प्रति के जीवन की ऐसी घटनाएँ दिखायी जाती हैं, जिनमें आप अपना दर्शन कर सकते हैं। बड़े नगरों की छोटी रंगशालाओं में कभी-कभी अत्यन्त लोमहर्षक और कभी-कभी अत्यन्त अरुचिकर घटनाओं का प्रदर्शन करके भी ऐसे नाटक का प्रारम्भ करते थे जिसका अन्त किसी जादू की कहानी से होता था। कुछ स्थानों में घरेलू आरभटी नाटक (डोमेस्टिक मेलोड्रामा) के पश्चात् विनोद-नाट्य (बर्लेटा या फ़ार्स) दिखा दिया जाता था जिससे आरभटी नाटक (मेलोड्रामा) का भयंकर प्रभाव मन पर न बना रहे। इन मेलोड्रामाओं में चोर, डाकू, गुण्डे, जेबकट, तोड़-फोड़ करनेवाले, चोरी से सामान लाने-ले जानेवाले काल्पनिक और यथार्थ अपराधी भरे रहते थे। कुछ दिनों तक लन्दन की रंगशालाओं में इनकी बड़ी धूम रही किन्तु जब दर्शक लोग इन नाटकों से प्रेरणा पाकर वास्तविक जीवन में भी दुष्काण्ड करने लगे तब इनका प्रयोग अवैध घोषित कर दिया गया। इन नाटकों में घोड़े भी आ जाते थे, कुछ पानी की लीलाएँ भी हो जाती थीं, कुछ समुद्री झंझा के दृश्य भी दिखा दिये जाते थे तथा कुछ दास-प्रथा, मद्य-निषेध आदि की बातें भी होती थीं। इन नाटकों का लिखित रूप पढ़ना बड़ा कठिन है क्योंकि इनमें रंग-निर्देश इतना अधिक होता है कि उसे कार्यरूप में परिणत करने पर ही नाटक बन पाता है। कभी-कभी तो पूरे दृश्य में इतना रंगनिर्देश रहता है कि संवाद की पंक्ति कहीं एक दो ही हों तो हों। इन्हीं में अंग्रेज़ी के वे आरभटी-वृत्ति वाले 'रक्तमय त्रासद' (सेनेकन ड्रामा या ट्रेजेडी ऑफ़ ब्लड) भी आते हैं जो सोलहवीं शताब्दी के नाटककार सेनेका के आदर्श पर लिखे गये थे, जिनमें लच्छेदार भाषा और आरभटी नाटक (मेलोड्रामा) वाली उत्तेजना भर रहती थी, उच्च नैतिक उद्देश्य का अभाव होता था। इन नाटकों में भयानकता की भावनाओं का निर्वाह शवों या प्रेतों के संवाद से किया जाता है अथवा भयंकर निर्दयता या आधारहीन दुर्भाग्य

का प्रदर्शन किया जाता है, जिसका समाचार कोई दूत आकर देता है। इनमें बड़े लम्बे-लम्बे दुरूह संवाद भरे होते हैं। इसी प्रकार के प्रतिहिंसात्मक नाटक प्रारम्भिक एलिज़ाबेथीय नाटक (ट्रेजेडी ऑफ़ रेवेन्ज) हैं, जिनमें मार-काट, हत्याकाण्ड, भूत-प्रेतों की कथा, वास्तविक या कृत्रिम पागलपन तथा भयानक घटनाएँ रंगमंच पर ही दिखायी जाती हैं। इसी से मिलते-जुलते वे भाग्यवादी नाटक (फ़ेट ड्रामा) हैं जिनमें नियति या भाग्य (जर्मनी 'मोयर') ही प्रधान तत्त्व होता है और जिनमें प्रायः पूरे परिवार का ही सर्वनाश हो जाता है। अठारहवीं और उन्नीसवीं शताब्दी में इसका एक विशेष रूप विकसित हुआ जिसमें नायक श्रेष्ठ नहीं होता, इसलिए इसमें मध्यम श्रेणी के लोगों पर आश्रित नाटकों (ड्रामे तथा कौमेदी लार्मोयान्ते) का श्रीगणेश हुआ। इन नाटकों में भाग्य ही प्रधान रहता है और कभी-कभी यह नियति एक प्रतीक ही बन जाती है, जैसे कटार या कोई तिथि, या जैसे मुलेनर के 'फ़ेब्रुअरी २९' नाटक में प्रत्येक चौथे वर्ष (लीप-इयर) को किसी की मृत्यु हो जाती है। किन्तु ग्रिल पार्जर के 'डी आइन फ़्राउ' (१८-१७) के पश्चात् इसकी प्रथा ही बन्द हो गयी। इसी 'मेलोड्रामा' का एक विशिष्ट रूप टेन्टवेन्टथर्ट है, जिसमें नायिका को रेलगाड़ी से या किसी दुर्घटना से बचाने के लिए अन्तिम क्षण पर रक्षा का प्रयोग किया जाता है। इसी श्रेणी में फ्रांस के वे भावुकतापूर्ण करुण नाटक (कोमेदी लार्मोयान्ते) लिखे गये, जिनमें दर्शक रोते-रोते त्राहि कर देते थे। इसी से प्रभावित होकर मध्यवर्गीय (बुर्जुवा या मिडिल क्लास) नाटक प्रारम्भ हुए, जिनमें अठारहवीं शताब्दी में मध्यवर्गीय लोगों की बढ़ती हुई तत्कालीन महत्ता के कारण उनकी समस्याएँ रंगशाला पर प्रारम्भ में तो केवल प्रहसन के लिए प्रयुक्त हुईं किन्तु आगे चलकर उनमें गम्भीर समस्याएँ भी चित्रित की जाने लगीं और जिनमें एक सामाजिक वर्ग का दूसरे सामाजिक वर्ग से संघर्ष दिखाने के बदले व्यक्ति का समाज से संघर्ष अधिक दिखाया जाने लगा। इसी श्रेणी में फ़्रांस के वे रोमांचक एकांकी नाटक 'गुइग्नोल' भी आते हैं जिनमें अत्यन्त लोमहर्षक, प्रकम्पक और रक्त जमानेवाली घटनाएँ भरी रहती हैं।

समस्या-नाटक (प्रौब्लेम प्ले)

समस्या-नाटक का रूप गम्भीर तो होता है किन्तु त्रासद नहीं होता। इसमें जीवन की हँसी और आँसू मिले-जुले चलते हैं अथवा किसी सामयिक मुख्य समस्या को लेकर किसी ऐसे समाज से संघर्ष दिखलाया जाता है जिसका आचार-विचार अधिक समय से रूढ़ हुआ चला आ रहा हो। ऐसे मनोवैज्ञानिक और मनोविश्लेषणात्मक नाटक भी इन्हीं समस्या-नाटकों के अन्तर्गत आते हैं, जिनमें कर्तव्य और प्रेम अथवा आत्म-

सम्मान और सत्य में मानसिक संघर्ष दिखाया जाता है। इनमें या तो नाटककार स्वयं मनोवैज्ञानिक और मानवीय दृष्टि से समस्या का समाधान कर देता है या इस प्रकार परिस्थितियाँ उपस्थित करता है कि दर्शक स्वयं उस समस्या का समाधान कर ले। ये सब नाटक बुद्धिवादी, यथार्थवादी और प्रकृतिवादी होते हैं। इसी श्रेणी में वे आचार-नाटक (कौमेदी द म्यों या कौमेडी ऑफ़ मैनर्स) भी आते हैं जिनमें फ्रांस के सामाजिक आचार का प्रदर्शन होता है और जो विशेष रूप से समस्या-नाटकों के रूप में व्यक्त हुए हैं। इन्हीं से आगे चलकर ऐसे यथार्थतापूर्ण समस्या-नाटक (थीसिस प्ले) बने जिनमें नाटककार स्वतः समस्या का समाधान कर देता है, जैसे इब्सन या बर्नर्ड शा के नाटक।

प्रहसन

यूरोप, चीन, जापान तथा अन्य देशों में जो प्रहसन चले, वे सब तीन श्रेणियों में बाँटे जा सकते हैं—१. विनोदात्मक, २. व्यंग्यात्मक और ३. भँड़ैती या फूहड़ नाटक। इन सभी प्रहसनों का मुख्य उद्देश्य दर्शकों को गुदगुदाकर हँसाना होता है। यह हँसाने का काम तीन ढंग से होता है—१. मूर्खता के कार्य और मुद्राएँ प्रदर्शित करके, २. दूसरे को मूर्ख बनाकर और ३. किसी प्रमत्त का मद दूर करके। इन प्रहसनों में 'सातिर' नाम के दोरियन प्रहसन यूनानी पुराण के किसी चरित्र या घटना की खिल्ली उड़ाने के लिए लिखे हुए गीतों में मिलते हैं। इन गीतों के समवेत गायक पशुओं की खाल ओढ़कर और घोड़े या बकरे की पूँछ लगाकर चलते थे। ये 'सातिर' नाटक प्रहसनात्मक विश्रान्ति (कौमिक रिलीफ़) देने के लिए त्रासदों के पश्चात् खेले जाते थे।

प्रहसनात्मक विश्रान्ति (कौमिक रिलीफ़)

कुछ आचार्यों का मत है कि गम्भीर त्रासद नाटकों में जब दर्शकों के भाव बहुत तन जायें तब उस तनाव को शिथिल करने और विश्राम देने के लिए बीच में या अन्त में कोई विनोदात्मक दृश्य अवश्य डाल देना चाहिए। इस प्रकार के दृश्य (१) कभी तो नाटक की घटना से सम्बद्ध होते हैं और (२) कभी नाटक की घटना से पूर्णतः भिन्न होते हैं। एक तीसरे प्रकार के भी हास्यात्मक दृश्य चले हैं (३) जिनमें कोई नौकर या देहाती हास्यपात्र बनकर आता है और नाट्य-कथा का तट छूकर सहसा लुप्त हो जाता है, जैसे हेमलेट में कब्र खोदनेवाले। किन्तु ये अन्तिम दोनों प्रकार इस आधार पर उचित नहीं माने जाते कि इनका प्रभाव स्थायी नहीं होता, उलटे दाल-भात में

मूसलचन्द बनकर ये भावधारा को भी तोड़ देते हैं। अतः गम्भीर नाटकों में बीच-बीच में कथा से सम्बद्ध प्रहसनात्मक दृश्य भी आने चाहिए। इस प्रकार का विनोदात्मक विश्राम देने के लिए संगीत का भी प्रयोग होता है।

प्रहसनों के रूप

प्रहसनों में कुछ तो अत्यन्त उच्च शैली के मूक अभिनय द्वारा प्रदर्शित किये जाने वाले तथ्यवादी प्रहसन होते हैं, जिनमें लातिन का 'गड़रिया' (बूकालिक) प्रसिद्ध है। ऐसा ही माइम से बहुत मिलता-जुलता एक कारडाक्स बर्लेस्क नृत्य है जिसमें बहुत से पात्र गीत के साथ या बिना गीत के ही नाचते गाते हैं। यह बहुत अश्लील होता था। कहा जाता है कि इन्हीं गीतों से यूनानी प्रहसनों का विकास हुआ। इन प्रहसनों में सबसे अधिक प्रसिद्ध विनोद-प्रहसन (बर्लेस्क) था जो पहले स्वस्थ विनोद के अर्थ में और हास्य-नाट्य (ड्रौल) के पर्याय अर्थात् अत्यन्त हास्यजनक नाटक के रूप में प्रयुक्त हुआ, किन्तु अब इसका प्रयोग परिवृत्ति (पैरोडी), व्यंग्य-चित्रण (कैरिकेचर) और हास्यानुकरण (त्रावेस्ती या त्रेवेस्तिया) के अर्थ में होता है। इसमें असंगत अनुकरण के द्वारा प्राचीन रीतियों, संस्थाओं, व्यक्तियों या साहित्यिक पद्धतियों की शैली और भावों में जान-बूझकर अनुपातहीनता या असंगतता दिखायी जाती है। इनमें से उच्च विनोद-प्रहसन (हाई बर्लेस्क) में तो तुच्छ वस्तु को भी व्यंग्यात्मक गम्भीरता के साथ व्यक्त किया जाता है, और निम्न प्रहसन (लो बर्लेस्क) वह है जिसमें गम्भीर वस्तु को तुच्छ रूप में व्यक्त किया जाता है और प्रायः दूसरों की हँसी उड़ायी जाती है। यदि इनकी कथा काल्पनिक होती है तो इन्हें 'एक्स्ट्रावेगांज़ा' कहते हैं। किन्तु बर्लेस्क में परिवृत्ति, हास्यानुकरण और व्यंग्यानुकरण तीनों का प्रयोग होता है। वास्तविक बर्लेस्क तो अब समाप्त हो गया किन्तु कभी-कभी उसका प्रदर्शन कहीं-कहीं दिखाई पड़ जाता है, जिसका एक नया रूप 'स्ट्रिपटीज़' है, जिसमें नर्तक एक के पश्चात् दूसरे वस्त्र उतारता जाता है और दर्शक ताली पीटते जाते हैं। अत्तिक प्रहसनों में एक ऐसा ही 'गलाघोंट' (प्निगोस) प्रहसन था जो आजकल के संगीतात्मक प्रहसन की 'हड़बड़ गीत-गति' (पैटर सौंग या नाइट मेयर सौंग) के समान एक ही साँस में पढ़ दिया जाता है। इटली में 'फ़ेबुला अतेलाना' नाम के कुछ प्रहसन चले जिनमें विशिष्ट मुखौटे ही प्रसिद्ध पात्रों का प्रतिनिधित्व करते थे और जिनके अभिनय में अश्लीलतापूर्ण मूकाभिनय होता था। ये भँड़ैतियाँ लगभग दूसरी शताब्दी ई० पू० में लातिन में आयीं और फिर मार भगा दी गयीं। नाटकों के दो अंकों के बीच लोगों का जी बहलाने के लिए कुछ अन्तराल-विनोद (ऐंत्र एक्ते) नाम के

विनोद चले जो उसी प्रकार के थे जैसे स्पेन में तासो। यह प्रहसन की प्रकृति यूरोप में यहां तक चली कि लोग मुखौटे लगाकर भोजों में जाने लगे और फिर लन्दन में 'नाव पर मुखौटे' वाले नाटक ही बन गये, जिनका नाम ही पड़ गया छद्मवेश (डिसगाइज़िंग)।

मुखौटों का प्रहसन (कमीदिया देलार्ते)

सोलहवीं शताब्दी में व्यावसायिक इतालवी अभिनेताओं ने कुछ छोटे-छोटे कथानक लेकर और उनमें संवाद भरकर एक प्रकार के ऐसे नाटक बना लिये जिनमें आठ या नौ पुरुष, तीन या चार स्त्रियाँ और दो या तीन बूढ़े निश्चित भूमिकाएँ ग्रहण करते थे। इनमें से प्रधान बूढ़े प्रायः 'दोत्तोरे ग्राजियानो' और 'पैन्तालोन' कहलाते थे। इनमें दो या तीन युवा प्रेमी होते थे जिनके अलग-अलग भावात्मक नाम होते थे, जैसे 'फ्लेवियो, औरेतियो और फ्रेमिनियो', दो या तीन विदूषक होते थे जो सबके सब 'जौमी' कहलाते थे, जिनमें सबसे अधिक चण्ट अर्लेच्चिनो (हार्लेक्विन) होता था जो अन्य मूर्खतर लोगों, जैसे ब्रिघेला, पेद्रोलिनो और पुल्सिनेला की तुलना में श्रेष्ठ माना जाता था। इनमें एक दम्भी केपितानो होता था जो प्लाउतस के ब्रैगर्ट के आदर्श पर ढाला जाता था। प्रधान महिलाएँ सुन्दरी और युवती आइज़ाबेला, फ्लेमीनिया या सीलिया होती थीं जिनके साथ दासियाँ (सर्वेन्ते) होती थीं जिनमें से एक फ्रांसेसिना सोलहवीं और सत्रहवीं शताब्दी में नाटक के अन्त में अर्लेच्चिनो के साथ व्याह दी जाती थी और अन्य युवतियाँ अपने-अपने प्रेमियों के साथ व्याही जाती थीं। इस 'कौमीदिया देलार्ते' नाटक में एक या दो ऐसे युवा प्रेमियों के जोड़े भी मिलते हैं जो अपने चतुर नौकरों की सहायता से अपने बूढ़े पिताओं को मूर्ख बनाते हैं। इनमें जौनी और अर्लेच्चिनो उछल-कूद, नटविद्या, धूर्तता, खिड़कियों या छज्जों से कूदना, द्वन्द्व-युद्ध और मल्ल-युद्ध अधिक करते हैं। अनेक प्रकार की वेश-भूषा के साथ विदूषक तथा वृद्ध मनुष्य अनेक प्रकार के चित्र-विचित्र मुखौटे पहनते थे जो इसी लिए 'ल मासेर' कहलाते थे। प्रेमी लोग भी कभी-कभी अपना स्वरूप छिपाने के लिए उन मुखौटों का प्रयोग करते थे। मुखौटे के समान ही इसमें विचित्र प्रकार की वेश-भूषा भी होती थी, जैसे प्रायः लाल और काली लम्बी पतलून (पैन्तालोन), चोग़े और वेनिस के धनी सौदागर की टोपी। अर्लेच्चिनो भी अत्यन्त सुन्दर थेगली या चकत्ती लगी हुई जाकट या पतलून पहनता था, हाथ में लकड़ी की तलवार लिये रहता था और ऐसी टोपी पहनता था जिसमें आगे की ओर खरहे की पूँछ झूलती रहती थी। मूर्ख जौनी भी प्रायः ग्रामीण कुर्ती पहनता था और नोकदार या चौड़े किनारे का टोप लगाता था।

कैंपितानो (स्पावेन्तो, कोकोद्रिलो आदि) कवच और शस्त्रों से सुसज्जित होते थे किन्तु उनका प्रयोग करने में डरते थे क्योंकि वे प्रायः दम्भी, भीरु होते थे। डाक्टर सदा यूनिवर्सिटी का लबादा पहने रहता था और प्रेमी युवा-युवतियाँ यथासम्भव मण्डली की शक्ति या आश्रयदाता के सामर्थ्य के अनुसार सुन्दरतम वेश-भूषा धारण करते थे। वेश और मुखौटों के समान ही उनकी वाणी भी अत्यन्त नियमबद्ध होती थी। युवा प्रेमी लोग प्रेम, सम्पत्ति, मृत्यु आदि विषयों पर बँधे-बँधाये व्याख्यान या स्वतंत्रता-पूर्वक गीतों से सजायी हुई अत्यन्त कोमल टस्कन भाषा का प्रयोग करते थे और वृद्ध तथा विदूषक ऐसी शपथों और फूहड़ बातों से भरे हुए, इटली की प्रांतीय भाषाओं में संवाद बोलते थे कि कभी-कभी भले आदमी उससे त्रस्त हो जाते थे। उन्नीसवीं शताब्दी में पंच, जुडी शो, पैन्टोमीम, हार्लेकिनेड्स आदि अनेक ऐसे नाट्यरूप इंग्लैण्ड में प्रचलित हुए जिनमें हार्लेक्विन (पियरो), कोलम्बाइन (पियरेते) और पैन्टालून का चित्रण होता था और इस प्रकार अनेक रूपों में ये लोग वही परिपाटी चलाते रहे। आज भी पुनर्जागर्तिकाल के इतालवी मुखौटों की छाया हम गीति-नाट्य और नृत्य-नाट्य (बाले और औपेरा), सरकस और संगीत (म्यूज़िकल रेव्यू) में पा सकते हैं।

भँड़ैती (फ़ार्स)

प्रहसनों में सबसे भद्दे और अश्लील भंड़ैती (फ़ार्स) प्रहसन होते हैं जिनमें अनेक प्रकार की अश्लील, असंगत तथा निम्न कोटि की मुख-मुद्राएँ तथा बातचीत या क्रिया करके हास्य उत्पन्न किया जाता है। इनमें किसी को डण्डे से पीटना, किसी का धुँआधार पीछा करना, अनवसर काम आदि क्रियाएँ होती हैं। इनमें तीन प्रकार की क्रियाएँ होती हैं—१. जिनमें स्वयं अभिनेता स्वयं मूर्ख बनता है, २. जिनमें विदूषक का साथी मूर्ख बनता है और ३. जिनमें जनता को ही मूर्ख बनाया जाता है। इस प्रकार से मार-पीट, उछल-कूद तथा अज्ञानियों की भूलें दिखाकर उनकी मूर्खताओं और उजड्डताओं की हँसी उड़ानेवाले ये प्रहसन निम्न कोटि के प्रहसन (लोकौमेड्री) कहलाये। इसी श्रेणी में एक चपतमार (स्लैपस्टिक) प्रहसन भी था जिसमें प्रायः दो चपटे बाँसोंवाली छड़ी से किसी को इस प्रकार पीटते थे कि उसकी फट-फट की ध्वनि से लोग हँसते थे। अतः हास्यजनक मार-पीट से भरे हुए प्रहसनों को ही लोग 'स्लैप-स्टिक' कहने लगे। इसी श्रेणी में ड्रौल (ड्रौलरी या ड्रौल ह्यूमर) भी थे।

व्यंग्य-नाटक (सैटायर)

व्यंग्य-नाटकों का विषय प्रायः मनुष्य की दुर्बलताओं की निन्दात्मक आलोचना

करना तथा उसका सुधार करना होता है। इस सुधार को भी व्यंग्य का कलात्मक और नैतिक उद्देश्य समझना चाहिए। इनमें व्यक्ति और समाज की दुर्बलताएँ दिखा-दिखाकर उन पर छींटे कसे जाते थे और उनके दोषों की खिल्ली उड़ायी जाती थी। यह व्यंग्य केवल शब्दों के द्वारा ही नहीं, वरन् नृत्य, गीत तथा अन्य गतिशील कलाओं के द्वारा भी व्यक्त किया जाता था। सुना जाता है कि यूनान में मध्य प्रहसन (मिडिल-कौमेडी) नामक व्यंग्य-नाटक भी चले थे, जिनमें पौराणिक कथाओं का उपहास किया जाता था। उससे भी पूर्व अरिस्तोफ़नेस आदि के वे यूनानी प्राचीन प्रहसन (बोल्ड-कौमेडी) थे जिनमें किसी विशेष व्यक्ति पर आक्षेप किया जाता था और असंगत कल्पनाएँ की जाती थीं। इन सबके पश्चात् यूनान में वास्तविक जीवन पर, विशेषतः प्रेम-काण्ड पर व्यंग्यात्मक प्रहसन लिखे गये जिन्हें 'न्यू कौमेडी' कहते हैं। इस प्रकार प्रहसन तीन रूपों में व्यक्त हुआ। फ़ारस में थोड़े दिनों से अत्यन्त लोकप्रिय प्रहसन लिखे गये हैं जिन्हें शबबाज़ी (रात्रि-विनोद) कहते हैं। इनमें भी निम्न कोटि का फूहड़ हँसी-विनोद भरा रहता है।

अन्य प्रकार के नाटक

इटली में प्रारम्भ में 'साक्रा रेप्रेज़ेन्ताज़ियोनी' नामक धार्मिक नाटक चले जो पीछे प्रहसन बन गये। जर्मनी का एक गम्भीर हाउप्टाविटयन नाटक था जिसे बर्लेस्क से भिन्न समझना चाहिए और स्टाट्साविटयन नामक ऐतिहासिक या राजनीतिक नाटक था जिसे गौटशैड ने अभद्र बताया था, क्योंकि स्टाट्साविटयन झकाझक झलकता था और उसका विशद, भव्य रूप साधारण जनता की वासना तृप्त करता था क्योंकि उसमें जनता के एकच्छत्र स्वामियों की राजसभाओं का सौन्दर्य और वैभव दिखलाया जाता था। कुछ सुखान्त नाटकों में .वैज्ञानिक सटीकता का ध्यान रखे बिना कल्पना से भूत-प्रेत आदि का प्रयोग किया जाता है। उन्हें फैन्टेस्टिक कौमेडी कहते हैं। ऐसा ही एक राजसी नाटक (कोर्ट कौमेडी) नामक कृत्रिम नाटक होता था जिसमें अभिनय कम और अध्यवसान (एलेगरी) के रूप में पौराणिक कथाओं का प्रयोग अधिक होता था। ये नाटक राजसभाओं में अत्यन्त ठाट-बाट की वेश-भूषा और संगीत के साथ अभिनीत किये जाते थे। एक नये प्रकार के रहस्यात्मक नाटक (मिस्टरी प्ले) भी लिखे गये जिनमें साधारणतः तीन अंक होते थे—१. किसी पर सन्देह नहीं, २. सब पर सन्देह है, और ३. अपराधी पकड़ा गया। इनके अतिरिक्त ऐसे सुखान्त नाटक (हाई कौमडी) भी प्रारम्भ हुए जो अत्यन्त शिष्ट तथा कुलीन लोगों के सम्मुख ही खेले जा सकते थे। इनके पात्र प्रायः वास्तविक

व्यक्तियों के प्रतिरूप होते थे जो अत्यन्त विदग्धतापूर्ण शिष्ट संवादों में बातचीत करते थे।

अँग्रेज़ी के जिन सुधारयुगीन नाटकों (रेस्टोरेशन प्ले) में वीरता, सौंदर्य और प्रेम के अत्यन्त अतिशयपूर्ण, कृत्रिम और कठिन शैली में अनेक प्रकार के दृश्यात्मक विधान रहते थे उन्हें वीर-नाट्य (हीरोइक ड्रामा) कहते हैं। यद्यपि ये नाटक गम्भीर होते थे किन्तु इनका अन्त सुखमय होता था। इनके अतिरिक्त कुछ साधारण बुद्धि के प्रहसन (कौमेडी ऑफ़ कौमन-सेन्स) चले जिनमें मानव-जीवन के सैद्धान्तिक पक्षों और समाज के व्यावहारिक रूपों का सुन्दर, बुद्धि-संगत संतुलन बैठाया जाता है। इन्हीं में एक भावात्मक प्रहसन (कौमेडी ऑफ़ ह्यूमर्स) भी है जिसमें मानव-प्रकृति के प्रधान लक्षणों को एकत्र किया जाता है और फिर विशिष्ट पात्रों के रूप में तदनुसार उसका नामकरण करके उपस्थित किया जाता है और फिर उसका पूर्ण विश्लेषण कर दिया जाता है।

इनके साथ-साथ एक आचारमूलक प्रहसन (कौमेडी ऑफ़ मैनर्स या कौमडी द मूवा) है जिसमें विशेष सामाजिक नियमों के अनुसार रूढ़ आचरण करनेवाले पुरुष और स्त्रियों का चित्रण होता है। इन नाटकों में मौलिक नैतिकता के बदले शिष्ट व्यवहार ही अधिक महत्त्वपूर्ण समझा जाता है। इनका प्रयोग पहले तो समस्या-नाटक (प्रोब्लम प्ले) में हुआ जिनसे समाधानयुक्त नाटक (थीसिस प्ले) उत्पन्न हुए।

सुसंबद्ध नाटक (वैल-मेड प्ले)

इन विशिष्ट प्रकारों के अतिरिक्त विद्यालयों की आवश्यकता के अनुसार कुछ अध्यापकों ने बाइबिल की कथा के आधार पर अधिक संवाद वाले, कम अभिनेताओं वाले और परदे-विहीन रंगमंचों पर खेले जा सकने वाले यूनिवर्सिटी ड्रामा और शूले ड्रामा (विद्यालय नाटक) लिखे। उन्नीसवीं और बीसवीं शताब्दी में अगस्तीन यूज़ीन स्क्राइबे ने फ़्रांस में लगभग चार सौ सुरचित नाटक (पीसे बिए फ़ैते या वैल-मेड प्ले) लिखे जिनकी कथा-वस्तु सुसम्बद्ध, घटना अत्यन्त स्पष्ट और व्यवस्थित तथा कुतूहल अत्यन्त स्वाभाविक होता था। इस नाट्य-शैली ने हैनरिक इब्सन और बर्नड शा जैसे नाटककारों को अत्यन्त प्रभावित किया। प्रकृतिवादियों ने इन पर यह आक्षेप किया कि ये अधिक बुद्धिसंगत तो प्रतीत होते हैं किन्तु वास्तविक जीवन से बहुत दूर हैं। इस शैली का व्यवस्थित रूप 'स्क्राइबिया' कहलाता है। एक दूसरे प्रकार के विश्लेषणात्मक (ऐनेलिटिकल) नाटक चले हैं जिनमें केवल परिणाम या अन्त ही रंगमंच पर उपस्थित किया जाता है, शेष घटना उससे पूर्व की मान ली जाती है, किन्तु जितना भाग प्रस्तुत

किया जाता है उसी में अभिनय के द्वारा सब कारणों का विवरण दे दिया जाता है, जैसे इब्सन के 'हाउप्टमान' में। वौदेविले के समान एक नया 'प्रोटियन' नाटक चला जिसमें अभिनेता अत्यन्त वेग से एक के पश्चात् दूसरी भूमिका ग्रहण करते चलते हैं और ये वेग-वेशधारी अभिनेता विद्युद्दाम कलाकार (लाइटनिंग-चेंज आर्टिस्ट) कहलाते हैं। इसी प्रकार का वह 'मोनोपोलीलोग' होता है जिसमें एक ही अभिनेता कई व्यक्तियों का अभिनय करता है। कभी-कभी विशेष उत्सव के अनुकूल भी नाटक लिखे और खेले जाते हैं, जैसे जर्मनी के 'फेस्टस्पील' होते हैं। बहुत से एक-दृश्यात्मक नाटक भी रचे गये हैं जिनमें एक ही अभिनेता अकेले 'भाण' रूपक के समान अकेला ही अभिनय करता है, जिसका संवाद एकांकी संवाद 'मोनोलोग' और अभिनेता 'मोनोलोगिस्ट' कहलाता है। ऐसे नाटकीय एकांकी संवादवाले नाटक 'मोनोड्रामा' कहलाते हैं किन्तु इन्हें एकांकी नाटकों से भिन्न समझना चाहिए। फ्रांस में 'क्वार्त द ह्यू रे' और अँग्रेज़ी में 'कर्टेन-रेज़र्स' नाम के दस मिनट के नाटक लिखे गये जो नाटकों से पहले जनता को बहलाये रखने के लिए और विलम्ब से आनेवालों को मुख्य नाटक से वंचित न होने देने के लिए खेले जाते हैं। इसी प्रकार के नाटकों को फ्रांस में 'सीने आ फ़ेयरे' कहते हैं। कुछ नवीन नाटकीय प्रक्रियाओं के साथ कुछ नयी नाटकीय शैलियाँ भी चलीं, जैसे अभिव्यंजनावादी नाटकों में आधे टूटे हुए खण्डित वाक्यों का प्रयोग, छोटे-छोटे दृश्य, यथार्थ और कल्पना का मेल तथा प्रत्यावर्तन-कौशल (फ़्लैश-बैक टेकनीक) जिसमें सम्पूर्ण नाट्य-व्यापार वर्तमान से भूत में परिवर्तित होता दिखाया जाता है अथवा जिसमें एक ही पात्र के चेतन और अचेतन दोनों पक्ष दिखाये जाते हैं। एक नयी नाट्य-शैली 'सजीव समाचारपत्र' (लिविंग न्यूज़पेपर) की चली है जिसमें वास्तविक या प्रामाणिक घटनाएँ अत्यन्त सटीकता के साथ रंगमंच पर दिखायी जाती है। इसी प्रकार स्पेन में अंग्रेज़ी अन्तराल-नाटक (इन्टर-ल्यूट) के समान एक छोटा सा उदात्त श्रेणी का 'ऐन्त्रेमे' नाटक होता था जो आगे चलकर बड़े नाटकों के बीच में व्यंग्यात्मक आलोचनापूर्ण प्रहसनों के रूप में प्रयुक्त होने लगा। इसी प्रकार के कुछ बुद्धिवादी नाटक (ग्रोटेस्को) लिखे गये जिनमें यह दिखलाया गया कि जीवन की प्रत्येक परिस्थिति साधारण और स्वच्छन्द होती है और यह जीवन अत्यन्त अबुद्धिसंगत तथा असम्बद्ध है। तेरहवीं से सत्रहवीं तक स्पेन में 'प्रतीकात्मक' (आउटो-सेक्रामेन्टल) नाटक खेले जाया करते थे जिनमें धार्मिक, पौराणिक, ऐतिहासिक तथा भावात्मक विषयों का चित्रण किया जाता था। इन सब विचित्र प्रकार के नाटकों में सबसे विलक्षण है 'लड़के-लड़की का मिलन' (ब्वाय मीट्स गर्ल) नाटक। ये नाटक सन् १९३५ में बैला और साम स्पेवाक ने लिखे थे जिनमें साधारण कथा यही होती थी कि प्रथम अंक में एक लड़का किसी लड़की

से मिलता है, दूसरे अंक में उनका वियोग होता है और तीसरे अंक में दोनों मिल जाते हैं। अमरीका में आजकल ऐसे नाटकों की बाढ़ सी आ गयी है। इनके अतिरिक्त वैज्ञानिक आविष्कारों या कल्पनाओं के आधार पर शुद्ध काल्पनिक वैज्ञानिक नाटक लिखे गये और विभिन्न साहित्यिक तथा राजनीतिक वादों के आधार पर समाजवादी, लोकवादी और मध्यमवर्गीय नाटक भी लिखे जाने लगे। आजकल नाटककारों की विशेष प्रवृत्ति यह है कि वैज्ञानिक सुविधाओं का अधिक से अधिक प्रयोग करके नाटकीय प्रभाव अधिक उत्पन्न किया जाय और अधिक पात्र तथा घटनाएँ साधारण जीवन से ली जायँ।

श्रव्य नाटक (रेडियो प्ले या फ़ीचर)

आजकल रेडियो पर अनेक नाटक सुनवाये जाते हैं जो पूर्णतः श्रव्य होते हैं। इन नाटकों में कम पात्र, कम घटनाएँ और थोड़े से स्वाभाविक संवाद रखे जाते हैं। इसलिए इनकी अवधि भी आध या पौन घण्टे तक की ही होती है। इन नाटकों में कथा-प्रसंग का कथन (नेरेशन) होता है जिसके द्वारा बीच की कथा सुना दी जाती है। यद्यपि नाटक तो दृश्य और श्रव्य दोनों होना चाहिए किन्तु रेडियो पर जो नाटक प्रस्तुत किये जाते हैं वे दृश्य-श्रव्य यन्त्र (टेलिविज़न) के प्रचलित होने तक तो श्रव्य नाटक ही प्रस्तुत करते रहेंगे। ऐसे श्रव्य नाटकों के चार अंग होते हैं; १—सूचना, २—संवाद, ३—ध्वनियुक्त व्यापार-योजना, ४—संगीत (गीत, वाद्य तथा नृत्य)। इनकी रचना करते समय संवाद करनेवाले पात्रों के अतिरिक्त एक सूचक भी होता है जो बीच-बीच में कथा-क्रम सूचित करता रहता है। उसकी भाषा अत्यन्त काव्यमय और प्रभावशाली होते हुए भी इतनी सरल होती है कि सूचक उसे पढ़ते समय स्वर के उतार-चढ़ाव के द्वारा उसके भाव व्यक्त करता चलता है। इसमें रंगनिर्देश तथा संवाद-कार्य ठीक वैसा ही होता है जैसे अन्य साधारण नाटकों में, किन्तु संवाद ऐसे होते हैं जिनमें अधिक से अधिक वाचिक अभिनय का अवसर हो। इसका विशेष ध्यान देने योग्य अंग है ध्वनियुक्त व्यापार-योजना। साधारण दृश्य-नाटक में तो अभिनेताओं की सारी क्रिया प्रत्यक्ष होती है इसलिए कोई असुविधा नहीं होती, किन्तु उठकर कहीं जाना, चलना, सोचना आदि क्रियाएँ श्रव्य नाटक में तो देखी नहीं जा सकतीं और प्रत्येक ऐसी क्रिया सूचित भी नहीं की जा सकती, क्योंकि उससे भावधारा टूटने की आशंका पग-पग पर बनी रहती है। इसलिए इसमें ध्वनियुक्त व्यापारों की योजना करनी पड़ती है जिससे श्रोता उस व्यापार को कान से सुनकर ही समझ जाय, जैसे प्याले धोने की खनखनाहट, थाली गिरने की टनटनाहट, मोटर का भोंपा, विमान की घरघराहट, चिड़ियों या

अन्य जीवों की बोली, किवाड़ की भड़भड़ाहट, घड़ी की टिक-टिक, घण्टाध्वनि, घोड़े की टाप, तलवारों की खन-खन, बन्दूक की धाँय-धाँय, युद्ध या भीड़ का कोलाहल आदि। इन नाटकों में संगीत वैसा ही होता है जैसा अन्य नाटकों में, किन्तु इसमें यह संकेत कर दिया जाता है कि कहाँ, किस राग, किस ताल और किस लय में वाद्य के साथ नृत्य या गीत हो या केवल वाद्य अथवा केवल नृत्य हो।

शास्त्रार्थ नाटक (डिस्कशन ड्रामा)

अफ़लातून (प्लेटो) के समय से ही कुछ ऐसे भी संवाद लिखे जाने लगे थे जिनका उद्देश्य परस्पर-विरोधी विचारों का विश्लेषण करना या व्यंग्यात्मक टिप्पणी करना होता था। दियोगेनेस ने इन विचारात्मक संवादों की यह परिभाषा की है—प्रश्नोत्तर के रूप में विभिन्न पात्रों द्वारा होनेवाली जिस बातचीत में किसी सिद्धान्त का खण्डन या मण्डन हो उसे विचारात्मक संवाद कहते हैं। आगे चलकर लूसियन ने प्रहसन के साथ इन संवादों को मिलाकर शास्त्रार्थ नाटक (डिस्कशन ड्रामा) ही लिख डाले। किन्तु इस प्रकार के नाटकों का आदर नहीं हुआ।

पाठ्य नाटक (क्लोज़ेट ड्रामा)

'पाठ्य नाटक' शब्द उन पढ़े जानेवाले नाटकों अर्थात् उन नाटकीय काव्यों के लिए निन्दा के रूप में प्रयुक्त होता है जो खेले न जा सकें। इसमें से बहुत से नाटक लिखे तो गये रंगमंच पर खेले जाने के लिए ही किन्तु भाषा की जटिलता के कारण सफलता न मिलने पर वे 'पाठ्य नाटक' बने रह गये। कुछ नाटक केवल पढ़े जाने के उद्देश्य से ही लिखे गये किन्तु रंगमंच पर भी अत्यन्त सफलता के साथ खेले गये। कभी-कभी यह भी होता है कि जो नाटक किसी एक देश या एक विशेष युग में लिखे और सफलतापूर्वक खेले जा चुके हों, वे किसी दूसरे देश या युग में सफलतापूर्वक न खेले जा सकें। जो लोग केवल पढ़े जानेवाले ही नाटक लिखते हैं वे अनधिकार चेष्टा करते हैं, क्योंकि नाटक दृश्य काव्य है, वह खेला ही जाना चाहिए। कुछ लोगों ने खेले जाने योग्य नाटकों में रंग-निर्देश, अन्तराल-व्याख्या तथा दृश्य-व्याख्या देकर नाटक को अभिनेय बनाने के साथ-साथ पठनीय भी बना दिया है और अभिनेताओं को अपनी भूमिका और दर्शकों को पात्रों का चरित्र भली प्रकार समझने में सहायता भी दी है, जैसे अभिनव-भरत के 'अनारकली' नाटक में। कभी-कभी सफल नाटककार भी ऐसा नाटक लिख देता है जिसे वह समझता है कि यह रंगमंच पर नहीं खेला जा सकता, क्योंकि वह रंगशाला, अभिनेता और दर्शक की आवश्यकताओं के बन्धन में अपने को बाँधना नहीं चाहता।

फिर भी उसे काट-छाँटकर सुन्दर नाटक बनाया जा सकता है, जैसे इब्सन का 'पीअर गिंट' या गेटे का 'फ़ाउस्ट'।

प्रयोजनवादी नाटक (ईपिक थिएटर)

बीसवीं शताब्दी में एक नया आन्दोलन प्रारम्भ हुआ जिसमें रचना-रूप (फ़ौर्म) की अपेक्षा विषय (कन्टेन्ट) को और भ्रम (इल्यूज़न) उत्पन्न करने की अपेक्षा सत्य को प्रधानता दी गयी है। यह प्रवृत्ति मूलतः प्रयोजनवादी (प्रैग्मेटिस्टिक) है। ये लोग विभिन्न शैलियों और रंगशाला के तत्त्वों (नाटक, नाट्य-प्रयोक्ता, अभिनेता, दृश्य-विधायक, नर्तक, गायक, संगीत-प्रयोक्ता तथा दर्शक आदि) का ऐसी सक्रिय शक्तियों के रूप में प्रयोग करना चाहते हैं कि वे नाटककार द्वारा रंगमंच पर प्रस्तुत सत्य की व्याख्या करने में समर्थ हों। ये नाटक मूलतः कथात्मक और उपदेशात्मक होते हैं इसलिए इनके साथ कथात्मक (ईपिक) शब्द जोड़ दिया गया है। इनके प्रदर्शनों की परिधि बड़ी व्यापक होती है और उसमें उसी कौशल से काम लिया जाता है जिस कौशल से उपन्यास या चलचित्र में निर्घोषक या बीच-बीच में टिप्पणी तथा बीच की कथा कहने वाला वक्ता परिचय देता चलता है। इन नाटकों में स्वगत-भाषण, समवेत गान और उसके साथ चलचित्र, रेडियो, लैण्टर्न स्लाइड और ट्रेडमिल (पद-चक्र) आदि के द्वारा प्रभाव उत्पन्न किया जाता है। जर्मनी में प्रथम महायुद्ध की बेकारी के समय इसका अधिक प्रचार हुआ और लोगों ने राजनीतिक विचारों के प्रचार के लिए रंगशाला को मंच बनाया। बेयरटोल्ट ब्रेख़्त ने ही इस सिद्धान्त का विशेष प्रचार किया तथा नाट्यप्रयोक्ता अरविन पिस्केटर ने विभिन्न नाटकों में इसका प्रयोग किया। इस ईपिक थिएटर के अन्तर्गत कई प्रकार आते हैं—१ सूचनावादी नाटक (रिपोर्टियल थिएटर) जो केवल पत्रकारितावादी है और जिसमें नृत्य के द्वारा प्रमुख घटनाएँ दिखा दी जाती हैं। २—घटनावादी नाटक (डोक्युमेन्टरी थिएटर) जिसमें किसी ऐतिहासिक घटना को स्पष्ट दिखाने के लिए तत्सम्बन्धी प्रामाणिक खेल तथा विवरण प्रस्तुत किये जाते हैं। ३—सजीव समाचार नाटक (लिविंग न्यूज़पेपर) जिसके द्वारा जनता को किसी वास्तविक घटना के माध्यम से कोई सामाजिक उपदेश या सीख दी जाती है। ४—प्रचार नाटक (थिएटर ऑफ़ ऐक्शन) जिसके अन्तर्गत एगित प्रोप और फ़ाइटिंग थिएटर भी आ जाते हैं और जिनमें केवल प्रचार की प्रवृत्ति अधिक होती है। ५—न्याय-मंच (डाइलेक्टिक थिएटर) जो रंगमंच को समाज के दोष बताने का न्यायालय बना देता है और विशेष रूप से समाज के दोष ढूँढ़ता है। ६—प्रशिक्षण मंच (डाइडेक्टिक थिएटर) जिसका सबसे प्रधान व्याख्याता ब्रेख़्ट है, जो जनता को संगत रूप

से सोचने और सामाजिक चेतना उत्पन्न करने के लिए शिक्षा देने का प्रयत्न करता है। ७—शिष्टाचार नाटक (पोलिटिक थिएटर) जो पूर्ण जाति का सेवक है। यह ईपिक थिएटर मानव-जीवन की सभी समस्याओं का समाधान करने के लिए नये रूपों और कौशलों का प्रयोग करता चला जा रहा है।

नवीन प्रयोग

नवीन नाटकों में वैज्ञानिक कौशल के द्वारा जो नये प्रयोग हुए उनमें एक चौथी दीवार (फ़ोर्थ वौल) की योजना है। वर्तमान चौखटे वाले रंगमंच (पिक्चर फ़्रेम स्टेज) पर आगे का परदा ही कल्पित बाधा के रूप में चौथी दीवार बना रहता है किन्तु उसके उठते ही वह चौथी दीवार दूर हो जाती है। इसलिए आजकल के कुछ नाटकों में ऐसे घरों के दृश्य दिखाये जाते हैं जिनके आगे की दीवार (चौथी दीवार) तब तक तो लगाये रखते हैं जब तक उसके सामने का दृश्य दिखाना हो किन्तु जब उसके भीतर का दृश्य दिखाना होता है तो यंत्र की सहायता से चौथी दीवार लुप्त कर देते हैं। इसके अतिरिक्त कुछ परिवर्तन-दृश्य (ट्रान्सफ़ौर्मेशन सीन) होते हैं जिनमें किन्हीं पात्रों की आकृति में या नाट्य-व्यापार में सहसा परिवर्तन हो जाता है।

एक और भी अभिनेता-सिद्ध (एक्टर प्रूफ़) नाटक चले हैं जिन्हें चाहे जिस प्रकार के अभिनेता खेलें किन्तु वे सफल अवश्य होंगे। इसी प्रकार दिवर्तिसेमेन्त नामक दो अंकवाले या उससे कुछ बड़े नृत्य-नाट्य या बड़े नाटकों के संक्षिप्त रूप चले। प्रहसनों या सुखान्त नाटकों में समरस दृश्य (सीना इक्वीवोका) रखने की प्रथा भी चली, जिसमें दो पात्र विरोधी बातें करते हैं और अपनी-अपनी दृष्टि से एक दूसरे की बात का अर्थ लगाते हैं, जैसे दो पात्र परस्पर बातें करते हुए यही नहीं समझते कि दोनों एक ही प्रेयसी के सम्बन्ध में बातें कर रहे हैं।

संगीत नाट्य (औपेरा)

संगीत नाट्य के अन्तर्गत वे सब नाटक आते हैं जिनमें १—अभिनेता स्वयं गीत गाकर या २—पीछे से गाये हुए या गाये जाते हुए गीत के साथ मूकाभिनय या नृत्य करते हैं। इनमें से 'औपेरा' सबसे मुख्य है। कहा जाता है कि स्पेन में संगीत के साथ जो जार्जूवेला नामक नाटक खेले जाते थे, उन्हीं से यूरोप में संगीत-नाट्यकी उत्पत्ति हुई। संगीत-नाट्य (औपेरा) वह कला-रूप या नाटक है जिसके संवाद गीतमय होते हैं। वह सर्वप्रथम यूनानी उदात्तवादी त्रासद को पुनर्जीवित करने के प्रयत्न में फ़्लोरेन्स में संगीत-नाट्य के रूपों में खेला गया। पुनर्जागरण काल (रिनैसाँ

पीरियड) ने औपेरा को जन्म दिया और बारोक काल ने उसका विकास किया, विशेषत: रोम, नेपुल्स और वेनिस में, जहाँ सन् १६३७ से १७०० तक लगभग तीन सौ संगीत-नाट्य खेले गये। फिर तो पेरिस और वियना इनके केन्द्र बन गये और ये यूरोप भर में फैल गये। इनमें एक बारोक औपेरा था, जिसमें सब कलाओं का समन्वय करके सौन्दर्यात्मक प्रभाव डालने के लिए चित्र, गीत, बाले (नृत्य) यंत्र, रंगपीठ आदि का प्रयोग किया गया। इनके विषय प्राचीन इतिहास या यूनानी पुराणों से लिये जाते थे किन्तु नाटकीय प्रभाव उत्पन्न करना ही इनका मुख्य लक्ष्य रहता था। स्वैरवादी आन्दोलन (रोमांटिक-मूवमेन्ट) ने इस औपेरा को नये विषय और नयी शैलियाँ दीं, जिनके कारण ऐतिहासिक औपेरा, प्रकृतिवादी औपेरा, स्वैरवादी-लोक-औपेरा (रोमांटिक फ़ोक औपेरा) तथा भूत औपेरा (घोस्ट औपेरा) आदि अनेक रूप चले। इधर के साहित्यिक आन्दोलनों को भी औपेरा ने सहायता दी जिसके कारण इन रचनाओं में प्रकृतिवाद, फ़ांसीसी प्रभाववाद (इम्प्रेशनिज़्म) तथा यंत्रवाद (कन्स्ट्रक्टिविज़्म) भी दिखाई पड़ने लगा। इस प्रकार संगीत और रंगशाला के सब साधनों का समन्वय करके 'औपेरा' हमारे युग की कलात्मक और आध्यात्मिक शक्तियों की प्रभावात्मक अभिव्यंजना का साधन बन गया और औपेरा के इसी समुन्नत रूप का नाम महासंगीत-नाट्य (ग्रैण्ड औपेरा) पड़ गया।

कथकली

यूरोप का यह औपेरा प्रकृतित: ठीक वैसा ही होता है जैसा दक्षिण भारत का कथकली नामक नृत्य-नाट्य, जिसमें किसी कथा के आधार पर बने हुए गीतों का अभिनय एक या अनेक नट-नटी अपने नृत्य, नृत्त और नाट्य द्वारा व्यक्त करते हैं। इस प्रकार का संगीत-नाट्य हमारे यहाँ अत्यन्त प्राचीन काल से होता आया है जिसका भव्य वर्णन महाभारत के हरिवंश पर्व में दिया गया है कि किस प्रकार प्रद्युम्न के लिए वज्रनाभ की कन्या प्रभावती का हरण करने के लिए यादवों ने वज्रपुर में वाद्यों के साथ देव-गांधार राग में गंगावतरण और कौबेर-रंभाभिसार नामक संगीत-नाटक खेले थे।

संगीत-नाटिका (औपरेत्ता)

सामन्तवादी बड़े औपेरा (ग्रैण्ड औपेरा) की प्रतिक्रिया में संवाद तथा संगीत-खण्डों से सँवारी हुई कुछ लोकप्रिय छोटी संगीत-नाटिकाएँ (औपरेत्ता) प्रस्तुत की गयीं। नेपुल्स में अठारहवीं शताब्दी से ही गम्भीर औपेरा (औपेरा सीरिया) के

अंगों के बीच आन्तरिक दृश्य (इन्तरमेजी) डाले जाते रहे। धीरे-धीरे इन्हीं से स्वतंत्र रूप से विकसित होकर इंग्लैण्ड में प्रहसन औपेरा (कौमिक औपेरा), जर्मनी में स्वैरवादी औपेरा (रोमांटिक औपेरा) और फ़्रांस में 'औपरेत्ता' तथा संगीतात्मक प्रहसन चल पड़ा।

रोम में एक प्रकार का मूक नृत्याभिनय (फ़ेबुला साल्तिका) हुआ करता था। लूकन ने भी एक ऐसा मूक नाट्य (लिब्रेती) लिखा है जिसमें समवेत गायक पाठ गाते हैं और अभिनेता मुद्राओं और भावभंगियों के साथ नाचते हैं। ऐसे ही मध्ययग में फ़्रांस में एक प्रकार का नृत्यात्मक गीत (ऐस्ताम्पी) गाया जाता था जिसके साथ नृत्य भी हुआ करता था और उस नृत्य के बीच जहाँ-जहाँ उन्हें सम देना होता था वहाँ वे पैर खटखटा कर ताल दे देते थे। ऐसा ही एक नृत्य (बलादे या बलादा) तेरहवीं शताब्दी में फ़्रांस में प्रचलित था।

मूक नाट्य (बैले, बाले या बल्ला)

मध्य काल में यूरोप में एक प्रेम सम्बन्धी नृत्य-गीत (बल्लेत) चले जिन्हें मूक-नाट्य (बैले या बल्ला) का पूर्व रूप समझना चाहिए और जिनसे मूक नाट्य या मूक-नृत्याभिनय (बैलेट या बेले) नाम के वे संवादहीन संगीताभिनय चले जिनमें नृत्य, मूकाभिनय (पैन्टोमीम) या संगीत के द्वारा कथा का वर्णन होता है। पहले तो इनका प्रचलन रोम में हुआ। फिर इटली में गीत के साथ औपेरा (नृत्य-नाट्य) में इसका प्रयोग किया गया और फिर ये अन्य देशों में जा पहुँचे। अठारहवीं शताब्दी में साधारण नाटक के समान ही यह बैले (संगीताभिनय) भी अत्यन्त लोकप्रिय विनोद था जिसमें नाटकीय कथा-वस्तु, सुन्दर वेश-भूषा और सजावट की धूम होती थी। इसमें तारे जड़ी हुई बारीक खुली हुई झीनी मलमल के साये और चौकोर पंजों के जूते पहने हुए, सीधी तनी हुई कमर और तने हुए नृत्य-रूपों में अभिनेता मुख्यतः अपने पैर और पंजों पर ही नाचते हैं। ये अभिनेता प्रायः पैर के अँगूठे पर ही चक्कर लगाते हैं और अपने हाथ की झटकेदार गतियों से अपने को संतुलित करते चलते हैं। उछलना, एक पैर के अँगूठे पर चक्कर काटना, सीधे ऊपर कूदकर अपने पैरों को कैंची के समान वेग से चढ़ा लेना और बीच में अपनी एड़ियों को जितनी बार सम्भव हो सके उतनी बार खटकाना (एन्त्रेशात) ही इसकी विशेषता है। इसके साथ जो समवेत गीत (कोरियोग्रेफ़ी) होता था वह एक प्रकार की मानसिक भावना या प्रवृत्ति का निर्माता होता था या सुन्दर जगमगाती वेश-भूषाओं और दृश्य-विधानों से प्रभावित सजीव चित्र होता था। वर्तमान रूसी बैले में कथा के अनुसार वेश-भूषा धारण की जाती है, अँगूठे पर

चक्कर देना बहुत कम होता है और उसका उद्देश्य यही होता है कि वह हमारे युग की गति ग्रहण कर सके। इसमें तीव्र गतियों और लहरेदार सम्मिलित ध्वनियों का प्रदर्शन अधिक होता है। अभी थोड़े दिन पहले प्रसिद्ध अभिनेता और संचालक सोनिया हेनी के प्रयत्नों ने हिम पर फिसलने की गति और झोंक में विनोद और सौन्दर्य दोनों की सृष्टि संभव कर दी है। इस प्रकार के विभिन्न रूपों से शास्त्रीय बैले का एक रूप में बँधे रहने का संकट टल गया और उसमें प्रत्येक यग की नयी-नयी प्रेरणाएँ, भावनाएँ और योजनाएँ आ-आकर उसे गतिशील बनाती जा रही हैं।

संगीत-प्रहसन (बैलेड औपेरा) लन्दन के नाटकीय प्रदर्शनों में सबसे अधिक लोकप्रिय रहा है। इसकी रचना में इतालवी औपेरा को हास्यात्मक बनाकर उसमें नये-नये राग और नयी हास्यात्मक योजनाएँ भर दी गयी हैं। इसे हास्य-नृत्य (कौमिक औपेरा) का पूर्वज समझना चाहिए।

इटली के औपेरा बुफ्फा, फ्रांस के वौदेविले और इंग्लैण्ड के बेलेड औपेरा से एक नया रूप संगीत-विनोद (म्यूज़िकल कौमेडी) विकसित हुआ जिसमें किसी अत्यन्त सरल कथा-वस्तु के सहारे संवादयक्त हास्य, विनोद तथा प्रहसनात्मक परिस्थितियों के साथ बँधे हुए गीत, नृत्य और अत्यन्त तड़क-भड़क के दृश्य भरे रहते हैं। संगीत-नाटिका (लाइट औपेरा या औपरेटा) में गाये हुए संवाद पर अधिक बल दिया जाता है और उसका संगीत भी अधिक शास्त्रीय होता है। किन्तु संगीत-विनोद (म्यूजिकल कौमेडी) उतना शास्त्रीय नहीं होता। इसकी कथा-वस्तु चों-चों (रेव्यू) से भिन्न होती है जिसमें बहुत से इधर-उधर के दृश्य लाकर मिला दिये जाते हैं, अभिनेता ही समवेत गान करते हैं, पशुओं तथा नाटकों की संख्या अधिक होती है और दृश्य-पीठ तथा वेश-भूषा कम भड़कीली होती है। म्यूज़िकल कौमेडी, औपरेटी और रेव्यू तीनों में वर्तमान व्यक्तियों और घटनाओं का व्यंग्य-चित्रण भी होता है। इनमें भँड़ैती और श्लिष्ट शब्द-प्रयोग के साथ थोड़ी किन्तु सुन्दर वेश-भूषा में हाव-भाव और सुन्दरता का प्रदर्शन अधिक किया जाता है।

संगीत-नाट्य के निम्नांकित अंग होते हैं—१-प्रस्तावना, २-कथा, ३-संवादाभिनय, ४-गीत, ५-नर्तन। गीति-नाट्य में सब कुछ गीतों में होता है। ये गीत अभिनेता नहीं वरन् एक गायक-मण्डली गाती है। इस गायक-मण्डली में प्रत्येक पात्र के प्रतिनिधि गायक होते हैं जो उस पात्र के संवाद या अभिनय का अंश गाते हैं और पात्र केवल गीतों के भाव का अभिनय मात्र करते हैं। संवाद के अतिरिक्त जितना कथा-भाग है उसे या तो गायक-मण्डली गीत द्वारा व्यक्त करती है अथवा एक भावनटी या भावनट आकर कथा-भाग को नृत्य द्वारा प्रस्तुत करता है

अर्थात् इसके प्रदर्शन-विधान में तीन दल होते हैं—१—अभिनेता, २—भावनट, भावनटी अथवा कथाभिनेता, और ३—गायक-वादक-मण्डली के दो वर्ग (क) पात्र-प्रतिनिधि, (ख) समवेत गायक।

संगीत-नाट्य की प्रस्तावना में केवल कथा-विषय अर्थात् मुख्य पात्र या घटना का गीत-नृत्यात्मक परिचय मात्र दे दिया जाता है जो भावनटी अपने नर्तन से व्यक्त करती है। मुख्य संगीत-नाट्य की रचना में कुछ तो गीतिमय संवाद होते हैं, कुछ विभिन्न दृश्यों के बीच की कड़ी जोड़नेवाली गीति-कथा होती है, कुछ विशेष अवसरों के मानसिक आवेगों को व्यक्त करनेवाले गीत होते हैं और कुछ गीतहीन नृत्य होते हैं। इसका रचना-विधान यह है कि नाटककार यथास्थान पद्यमय कथा-भाग देकर यह संकेत कर देता है कि इसे भावनटी अपने नृत्य द्वारा प्रस्तुत करेगी अथवा गायक ही गाकर समझा देंगे। इसके संवाद भी गीतिमय होते हैं। इनमें पात्रों का उल्लेख उसी प्रकार होता है जैसे गद्य-नाटक में होता है। जहाँ किसी पात्र का विशेष भावावेग अथवा मानसिक आवेग दिखाना होता है वहीं गीत दिया जाता है और जहाँ संवादहीन उत्सव आदि अथवा विशेष उपद्रव आदि दिखाना हो वहां केवल नृत्य का संकेत कर दिया जाता है कि यहाँ अमुक ताल में अमुक वाद्यों के साथ कोमल अथवा उद्धत नृत्य किया जाय। यदि कहीं कोई विशेष रंग-निर्देश करना हो कि अमुक व्यक्ति घोड़े पर चढ़ा प्रवेश करता है या युद्ध होता है तो यह गद्य में ही व्यक्त किया जाना चाहिए। इसका सर्वश्रेष्ठ उदाहरण अभिनव-भरत का 'सिद्धार्थ' है। इसमें ध्यान रखने की बात यही है कि संवाद-विधान अत्यन्त अल्प होना चाहिए।

नृत्य-नाट्य

आजकल यूरोप की रात्रि-गोष्ठियों में तथा छोटे-छोटे जलपान-गृहों में खेले जाने वाले नाटकों में एक प्रकार के व्यंग्यात्मक तथा धृष्टतापूर्ण गीत थोड़े लोगों के सम्मुख कक्ष-नृत्य (बाल-रूम-डांस) के रूप में आये, पर अब वे गीत-नृत्य (काबारे) बनकर पूर्ण रूप से व्यावसायिक हो चले हैं।

जर्मनी में प्रारम्भ के उत्पत्ति-मूलक नृत्यों में अथवा शीत पर हरित वस्त्रों से अलंकृत वसन्त की विजय मनाने के लिए जो नृत्य होते हैं वे ही फास्टनाख्टस-पील कहलाते हैं, इनमें धीरे-धीरे नृत्य भी गौण हो गया और उसमें द्वन्द्व तथा संवाद ने अड्डा आ जमाया। ये अधिकांशतः नाटक-रूप में व्यंग्यात्मक अश्लील कथाएँ हैं, इनमें किसान की हँसी उड़ायी जाती है और लगभग ३०० से ३६० तक छन्द होते हैं। ये उत्सवों के समय खेले जाते हैं। इन्हें खेलनेवाले लोग मुखौटे लगाकर, वेश बना-

कर मण्डलियों में एक होटल से दूसरे होटल और एक घर से दूसरे घर बिना रंगमंच के खेलते फिरते हैं।

इसी प्रकार का फ्रांसीसी नृत्य-गीत-नाटच 'वेवरदी' था जिसमें वसन्त के सौन्दर्य का उत्सव मनाते हुए बुलबुलें गाती हैं और हरियाली का दृश्य दिखाया जाता है। इन नाटकों में आगे चलकर प्रेम के देवता तथा अन्य रूपात्मक मूर्तियों का सन्निवेश होने लगा।

पन्द्रहवीं शताब्दी में ब्रिटिश द्वीप-समूह (ब्रिटिश आइल्स) में एक 'ममर्स प्ले' या 'ममरी' नामक लोक-नाट्य होता था जिसमें विनोद, गर्वोक्तियाँ, खड्ग-संचालन, तलवार के नृत्य, द्वन्द्व-युद्ध (डूएल) और सेंट जार्ज की कथाएँ होती थीं और जिसके अन्त में एक वैद्य आकर सबको सजीव कर देता था। कभी-कभी मूकाभिनय (पेन्टोमीम) के अभिनय को भी 'ममरी' कहते थे।

दूसरा था इंग्लैण्ड का नृत्य-नाट्य (मास्क) जिसमें पुनर्जागरण काल के ग्रामीण नाटक और प्रारम्भिक नृत्य-नाट्य का भी योग था। इसमें अत्यन्त धूमधाम की एक चक्रिल यंत्रावली (मशीना वर्सातलिस्) का प्रयोग किया जाता था जिससे तत्काल दृश्य-परिवर्तन कर दिया जा सकता था। इसमें वेश-भूषा बड़ी भड़कीली होती थी। इसके ठीक उलटे भीषण नृत्य-नाट्य (एन्टी मास्क) में कुछ चुड़ैलें होती थीं (जैसे मैकबेथ में), जिनमें से एक के सिर पर सर्प होते और शेष मुर्दे की खोपड़ी की मशाल लिये रहती थीं। मास्क के ये अभिनेता अत्यन्त सुन्दर नृत्य करते थे। दर्शकों में से ही पुरुषों और स्त्रियों को छाँटकर यह नृत्य किया जाता था। ऐसा ही अमरीकी इंडियनों में एक वीर-नृत्य (स्काल्प डान्स) होता है जिसमें प्रायः स्त्रियाँ ही नाचती हैं और बीच-बीच में अपने वीरों के कृत्यों का गाना गाती जाती हैं।

वायाङ्वोंङ

जावा का वायाङ्वोङ् संसार का सर्वश्रेष्ठ नृत्य-नाट्य है। वहां इसके लिए नियमित 'क्रीडावेक्ष-विराम' (संगीत और नृत्य-मण्डल) बने हैं जिनमें निश्चित नियमों और सिद्धान्तों का पालन किया जाता है। इसके वर्तमान नृत्य-नाटक का रूप पूर्णतः व्यवस्थित कर दिया गया है। पहले तो 'वायाङ्-तोपेङ' या 'राकते' का विकास हुआ जिसमें अभिनेता मुखौटे लगाते थे और जिसमें जादू तथा पूर्व पुरुषों की पूजा की प्रधानता थी। तदनन्तर आया 'वायाङ् पूर्व' या छाया-नाटक जो प्रायः 'वयाङ्लित' या 'वायाङ् गेदोग' कहलाता है। इसके पश्चात् चमड़े की पुतलियाँ नाचने लगीं जो वायाङ् क्लितिक या वायाङ् क्रायत्यिल कहलाती हैं। इनसे लकड़ी की पुतलियाँ (वायाङ् गोलेक) बनीं

जिनका सूत्रधार (दलाङ्) इन गुड़ियों के संवाद बोलता चलता है। वायाङ् के जिन रूपों में पुतलियों या मुखौटे लगाये हुए मनुष्यों के द्वारा अभिनय होता है वे अधिक गम्भीर और रहस्यात्मक समझे जाते हैं। इनके पश्चात् तोपेङ् दलाङ् या तापेङ् वारंगन का विकास हुआ जिनमें सूत्रधार संकेत देता चलता है और मुखौटे लगाये हुए अभिनेता अभिनय करते चलते हैं। ये सभी रूप अभी तक चलते हैं और सब मिलकर वायाङ् वोङ् या नृत्य-नाट्य कहलाते हैं।

नाटक (रिंगित स्याङ्) में इस वायाङ् वोङ् को बिना मुखौटे वाले मानव अभिनेता प्रस्तुत करते हैं। इनका निर्दिष्ट अभिनेता यह दिखलाने के लिए केवल हाथ भर उठाता है कि अब मेरा संवाद प्रारम्भ हो रहा है और तब संवाद को दलाङ् (सूत्रधार) पढ़ता है। इसमें प्रसंगवशात् द्वन्द्व-नृत्य (पोकोक) और अलंकरण नृत्य (मिराग) भी होते हैं। ये नाटक कई-कई घंटों यहाँ तक कि कई-कई दिनों तक होते रहते हैं। इनमें सारा कौशल है शरीर की भाव-भंगिमा का, जिसमें गति की सरल, स्निग्ध, सुन्दर धारा बहती चलती है। इसका उद्देश्य है शान्ति देना, उत्तेजित करना नहीं। इन नाटकों के विषय रामायण या महाभारत से ही लिये जाते हैं। इनमें पाँच विभिन्न प्रकार के कौशलों की शैलियाँ चलती हैं: १—स्त्रियों की, २—प्रगीत नायक (द्योगेद अल्लस) की, ३—नाटकीय नायक (द्योगेद कासर) की, ४—राक्षसी की और ५—दैत्यों की। इसमें विदूषक का कोई निश्चित नाट्य-कौशल नहीं होता। वह जैसा चाहे वैसा अभिनय कर सकता है। महिला नर्तकियों के तीन प्रकार होते हैं: १—सम्पिस, जो राजसी परिवार की युवतियाँ होती हैं और चार-चार के मण्डल में नाचती हैं। २—बादाय, जो राजद्वारों से सम्बद्ध रहती हैं और नौ-नौ के मण्डल में नाचती हैं, और ३—रोगेंग या व्यावसायिक नर्तकियाँ, जिन्हें क्रीडा-वेक्ष-विरामवाले पहले स्वीकार नहीं करते थे किन्तु अभी थोड़े दिन से उन्हें यह अधिकार मिला है कि वे बादाय का रूप धारण कर सकती हैं। जावा में नृत्य-नाटकों के आज दो केन्द्र हैं; १—सोयराकाता (सोलो) और २—द्योक्याकारता। इन अनेक कौशलात्मक क्रियाओं और शैली में भी भेद हुए। द्योक्याकारता अधिक गतिशील और वेगशील होता है। इसमें पुरुष ही स्त्रियों की भूमिका ग्रहण करते हैं पर सोलो में स्त्रियाँ ही पुरुष की भूमिका ग्रहण करती हैं और रँगी हुई मूछें लगाती हैं। इसमें दलाङ (सूत्र-धार) मूल ग्रन्थों से उसी प्रकार कथाएँ पढ़ता चलता है जैसे हमारे यहाँ रामलीलाओं में व्यास लोग। यह वायाङवोङ संसार भर में सबसे अधिक पूर्ण नृत्य-नाट्य है।

नाट्य-नृत्य (डांस बैल)

नाट्य-नृत्य के रचना-विधान में दो अंग होते हैं; १—कथा, २—नृत्य-संकेत। नाट्य-नृत्य में प्रस्तुत की जानेवाली वस्तु के कथा-भाग में कथा अत्यन्त काव्यमयी, प्रभावमयी किन्तु स्पष्ट तथा सरल भाषा में पहले किसी वाग्विदग्ध सूत्रधार अथवा विशेष व्यक्ति (स्थापक या प्रस्तोता) द्वारा कहलायी जाती है। दूसरे भाग में वाद्य-संकेत, ताल-संकेत तथा नृत्त-नृत्य-संकेत दे दिये जाते हैं, अर्थात् यह क्रम बताया जाता है कि कथा की किसी घटना को किस प्रकार के नृत्य द्वारा, किस वाद्य के साथ, किस राग, ताल और गति के सहारे प्रस्तुत किया जाय।

एकांकी नाटक

यूरोपीय साहित्य में बोलपट के आविष्कार की प्रतिक्रिया के रूप में एकांकी नाटकों की सृष्टि हुई। जिन्होंने संस्कृत साहित्य का अध्ययन नहीं किया है उनका यही विश्वास है कि एकांकी नाटक भी वैज्ञानिक आविष्कारों के समान ही बीसवीं शताब्दी की देन है। किन्तु एकांकी नाटकों का आरम्भ ईसा से बहुत पहले भास ने कर दिया था जिसका 'मध्यम-व्यायोग' उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है। यूरोप में भी छोटे, सम्बद्ध तथा कलात्मक नाटक कोई नये नहीं हैं। प्राचीन यूनान और इतालिया में छोटे प्रहसन स्वतन्त्र रूप से विकसित हुए थे और यह प्रमाणित है कि छोटे-छोटे प्रहसन पन्द्रहवीं शताब्दी से सत्रहवीं शताब्दी तक 'कोमीदिया दे लार्ते' के नाम से इतालिया में तथा दूसरे यूरोपीय देशों में प्रचलित थे।

सबसे पहले अंग्रेज़ी एकांकी नाटक यूनानी साहित्यिक नाटकों के समान धार्मिक पूजा से विकसित हुए थे और मध्ययुग में प्रचलित थे। रहस्यात्मक नाटक (मिस्टरीज), अलौकिक नाटक (मिरैकिल प्लेज़) और गर्भांक नाटक (इन्टरल्यड्स) सभी एकांकी नाटक ही थे।

जब रूढ़िवादियों ने १६४२ में अपनी रंगशालाएँ कीलित कर दीं, उस समय भ्रमणशील अभिनेता प्रायः स्थान-स्थान पर 'ड्रौल्स' नाम के छोटे-छोटे प्रहसन खेलते हुए घूमते थे। अठारहवीं तथा उन्नीसवीं शताब्दी में भी परदा उठाऊ (कर्टेन-रेजर्स)-या पुछल्ले नाटक (आफ़्टर-पीसेज) कहलाने वाले बहुत से एकांकी नाटक व्यावसायिक रंगशालाओं के लिए अथवा अव्यावसायिक रंगशालाओं के लिए चित्ररेखा के रूप में रचे गये थे जो अब भी कभी-कभी दर्शकों पर लादे जाते हैं। वे मुख्यतः भंड़ैती (बर्लेस्क) या प्रहसन होते थे और सामूहिक रूप से एकांकी रूप में विगलित प्रतिनिधि प्रतीत होते थे। यद्यपि ऐसे बहुत से उदाहरण दिये जा सकते हैं किन्तु फिर भी इसका कोई

प्रमाण नहीं मिलता कि इनका विकास या विस्तार कब से नियमित तथा सक्रम रहा है क्योंकि अभी तक इस विषय पर पूरी खोज नहीं हो पायी है। हाँ, इतना तो निश्चित है कि बीसवीं शताब्दी में एकांकी नाटक का निर्माण इंग्लैण्ड, फ्रांस, रूस तथा इतालिया में पुनः हुआ, नाटकीय रूप की दृष्टि से उसका आदर हुआ और यह भी समझा जाने लगा कि वह त्रासद, प्रहसन, उपदेशात्मक नाटक अथवा किसी भी विशिष्ट नाटकीय प्रभाव के लिए उपयुक्त है। जेकोस्लोवाकिया और अमरीका की छोटी रंगशालाओं (लिटिल थिएटर्स) में उनका बड़ा आदर हुआ और इंग्लैण्ड की अव्यावसायिक नाटक-मण्डलियों में भी उनका प्रचार बढ़ रहा है।

टाल्बोट का सिद्धान्त

एकांकी नाटक की रचना के सम्बन्ध में टाल्बोट ने दो सिद्धान्त निर्धारित किये हैं--१. एकांकी नाटक में यदि चरित्र-चित्रण सुन्दर हो तो नाटक कभी असफल नहीं हो सकता। २. यदि एकांकी नाटक में विनोद न हो तो उसे नाटक नहीं समझना चाहिए। टाल्बोट ने प्रचार-नाटक तथा भावपूर्ण नाटकों को इसलिए त्याज्य कहा है कि वे सब अत्यन्त सत्यता दिखाने तथा किसी विशेष सिद्धान्त या मत के प्रचार के लिए लिखे जाते हैं।

टाल्बोट का सिद्धान्त है कि उन नाटकों को भी नाटकों में सम्मिलित कर लेना चाहिए जो रूढि में ढले नहीं होते, अर्थात् जिनके व्यापार रंगमंच के उपयुक्त नहीं होते और जिनके चरित्र भी रूढ़िगत नाटकों के चरित्र के समान नहीं होते। ये सिद्धान्त ड्रिंकवाटर के सावयव नाटकों (और्गेनिक ड्रामा) के विरोधी हैं और ये सावयव नाटक कृत्रिम नाटकों के विरोधी हैं। टाल्बोट का दूसरा सिद्धान्त है कि उन तथाकथित तीव्र नाटकों अथवा विनोद रहित गम्भीर नाटकों और प्रचार-नाटकों का बहिष्कार करना चाहिए जो अत्यन्त अस्वाभाविक रूप से प्रभावशाली बनाये जाते हैं। उसका कहना है कि त्रासद में भी कुछ हँसी-विनोद होना ही चाहिए, कुछ तो मानसिक भावों तथा भावावेशों को शान्त कर देने के लिए और कुछ वैपरीत्य द्वारा उस पर बल देने के लिए। जो नाटककार विनोद से ऊपर उठा रहता है वह ऐसा लगता है मानो उसमें 'अनुपात' की बुद्धि ही नहीं है, क्योंकि विनोद एक प्रकार का दार्शनिक उन्माद है जो केवल नाटकों में ही नहीं वरन् इस रूखी दुनिया के लिए भी आवश्यक है।

यूरोप में एकांकी नाटक इतने अधिक लिखे गये कि उनके कई वर्ग बन गये —

१—सभ्य प्रहसन (पोलाइट फ़ार्सेज़), जैसे आर्नोल्ड बेने का 'दि स्टेप मदर'। २—देवताओं और मनुष्यों के नाटक (प्लेज़ ऑफ़ गौड्स ऐण्ड मेन), जैसे लार्ड

डनसेनी का 'ए नाइट ऐट ऐन इन'। ३—खुले मैदान के नाटक—(ओपेन एयर प्लेज़), जैसे हेरोल्ड ब्रिगहाउस का 'हाउ दि वेदर इज़ मेड'। ४—परिधान नाटक (कौस्ट्यूम प्लेज), जैसे ओलाइव कौन्वे का 'मिमी'। ५—गद्य-पद्यमय नाटक (प्ले इन प्रोस ऐण्ड वर्स), जैसे डब्लू० बी० यीट्स का 'दि पौट ऑफ ब्रौथ'। ६—गोचर भूमि तथा हरे मैदानों के लिए नाटक (प्ले ऑफ़ दि मीडो ऐण्ड प्ले आंफ दि लौन), जैसे हेरोल्ड ब्रिग-हाउस का 'दि प्रिन्स हू वास ए पाइपर'। ७—दूर और पास के नाटक (प्ले ऑफ़ फ़ार ऐण्ड नीयर), जैसे लार्ड डलसेनी का 'दि फ़्लाइट ऑफ़ दि क्वीन'। ८—प्रत्युत्पन्न मतित्वपूर्ण नाटक (विटी प्लेज़), जैसे जी० जी० टाल्बोट का 'दि स्पार्टन गर्ल'।

इनके अतिरिक्त कुछ नागरिक जीवन सम्बन्धी, विशेषतः लन्दन के आचार से सम्बद्ध एकांकी नाटक भी लिखे गये हैं। इन नाटकों का प्रारम्भ किया था हेरोल्ड चैपिन ने, जिसका 'मे फेयर' नाटक बड़ा प्रसिद्ध है। स्वर्गीय विलियम आर्चर का 'दि डम्ब ऐण्ड दि ब्लाइण्ड' तो एकांकी नाटकों में सर्वश्रेष्ठ है जिसका कारण उसकी सरलता और स्पष्टता है।

इन सभी प्रकार के एकांकी नाटकों की रचनाएँ साधारण दृश्य मात्र से लगाकर नाटक के सभी तत्त्वों से पूर्ण छोटे नाटक तक हुई हैं और विभिन्न नाटककारों ने अपने नाटकों को यथासम्भव प्रभावशाली बनाने का प्रयत्न किया है। इस प्रभाव को उत्पन्न करने के लिए उन्होंने प्रायः भाषा का आश्रय लिया है और दृश्य-विधान गुम्फित बना दिया है, अर्थात् उसमें घटनाओं, पात्रों अथवा स्थितियों का परिवर्तन दिखलाकर उन्हें सरल, बोधगम्य, कुतूहलपूर्ण तथा प्रभावपूर्ण बनाया है। इनकी रचना के भी दो रूप हैं—एक तो वे हैं जो केवल एक दृश्य में ही समाप्त हो जाते हैं, दूसरे वे हैं जो एक अंक में तो समाप्त होते हैं किन्तु उनमें दृश्य कई होते हैं। किन्तु वास्तविक एकांकी वही है जिसमें एक ही कार्य एक ही स्थिति में एक ही भाव उत्पन्न करे और एक ही दृश्य में पूर्ण हो।

कलावादी तथा वास्तविकतावादी नाटक

यूरोप में जिन बुद्धिवादियों ने समस्याएँ लेकर नाटकों की रचना प्रारम्भ की, उनके दो पक्ष हुए—१. शुद्ध वास्तविकतावादी और २. कलावादी।

कलावादियों का यह तर्क है कि नाटक मनोरंजन का साधन है किन्तु साथ-साथ उसमें तथ्य की मात्रा समूची रहनी चाहिए, हाँ, तथ्य को प्रकट करने के साधनों में कला की पूर्ण सहायता ली जा सकती है। इन लोगों का विश्वास है कि संसार स्वयं

संघर्ष और द्वन्द्व का क्षेत्र है, मनुष्य चारों ओर अनेक वैषम्यों को नित्य देखता-भोगता चला आ रहा है इसलिए उन्हें देखने तथा सहन करने का उसे अभ्यास हो गया है। उनके आवेगमय प्रत्यक्षीकरण से उसके हृदय पर विशेष प्रभाव नहीं पड़ता। इसलिए नाटककार का जो उद्देश्य है वह भी इन लोगों के हृदय तक नहीं उतर पाता है। अतः इन कलावादियों का यह प्रस्ताव है कि नाटक में विनोद के कलात्मक साधनों का अर्थात् गीत, नृत्य और नृत्त का प्रचुर प्रयोग किया जाय। इसी आधार पर गीति-नाट्यों की सृष्टि हुई। इन गीति-नाट्यों की विशेषता यही थी कि इनमें सब बातें पद्य में ही होती थीं। किन्तु केवल पद्यबद्धता ही इन गीति-नाट्यों की विशेषता नहीं है। इनके दो स्पष्ट स्वरूप हैं—१. मूक अभिनय के साथ गीति-नाट्य और २. शुद्ध संवादात्मक गीति-नाट्य। इनमें से पहले में एक दल विशेष भावयुक्त, संवादयुक्त, वाद्ययंत्रों की सहायता से गीत गाता है और दूसरा दल उन गीतों के अनुरूप भूमिका में गीत के भावों के अनुरूप अभिनय करता है। दूसरे प्रकार के गीति-नाट्य वे हैं जिनमें पद्यबद्ध संवाद मात्र रहते हैं।

नवीन वर्गीकरण

जितने प्रकार के नाटक भारत तथा अन्य देशों में प्राप्त हुए हैं और हो रहे हैं, उनका वर्गीकरण कई दृष्टियों से किया जा सकता है; १—विषय, २—रंगमंच, ३—प्रदर्शन-विधि, ४—प्रभाव, ५—रचना, ६—उद्देश्य, ७—समाज या दर्शक तथा ८—पात्र।

१—विषय के अनुसार नाटक निम्नलिखित प्रकार के हो सकते हैं—

(क) पौराणिक, (ख) ऐतिहासिक, (ग) प्रतीकात्मक, (घ) रूढ, (ङ) मौलिक (सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक, वैज्ञानिक, घरेलू, आर्थिक तथा नैतिक)।

२—रंगमंच के अनुसार नाटक निम्नलिखित प्रकार के हो सकते हैं—

(क) खुले मैदान योग्य नाटक (प्लेज़ फ़ार औपेन एयर ऐण्ड मीडोज), (ख) चक्रिल रंगमंच (रिवौल्विंग स्टेज) के योग्य, (ग) छोटे रंगमंच के योग्य, (घ) बड़े रंगमंच के योग्य, (ङ) पक्षहीन रंगमंच के योग्य, (च) दुहरे रंगपीठ के योग्य और (छ) खुली रंगशाला के योग्य।

३—प्रदर्शन-विधि के अनुसार ये प्रकार हो सकते हैं—

(क) छाया नाटक, (ख) पुत्तलिका नाटक, (ग) मूकाभिनय नाटक, (घ)

गीति-नाट्य नाटक, (ङ) नृत्य-नाट्य नाटक, (च) श्रव्य नाटक (रेडियो प्ले) और (छ) दृश्य-श्रव्य नाटक।

४—प्रभाव के अनुसार ये भेद हो सकते हैं—

(क) शृंगारात्मक, (ख) वीरतापूर्ण, (ग) त्रासजनक, (घ) हास्यजनक, (ङ) कुतूहलोत्पादक, (च) विनोदात्मक, (छ) उपदेशात्मक, (ज) करुण, (झ) घृणोत्पादक, क्रोधजनक या भावोत्तेजक (किसी व्यक्ति, समाज, वर्ग, जाति, देश, वस्तु, जीव, क्रिया आदि के विरुद्ध) और (ञ) वैराग्यजनक।

५—रचना के अनुसार निम्नलिखित भेद किये जा सकते हैं—

(क) एकांकी, (ख) अनेकांकी, (ग) दृश्यात्मक, (घ) एकदृश्यान्तर्गत बहु-दृश्यपीठात्मक तथा बहु-व्यापारात्मक और (ङ) आलंकारिक तथा लाक्षणिक भाषायुक्त पठनीय नाटक।

६—उद्देश्य के अनुसार ये भेद हो सकते हैं —

(क) समाज-सुधार, (ख) किसी की निंदा या स्तुति, (ग) किसी विशेष सिद्धान्त या लक्ष्य का प्रतिपादन, (घ) मनोविनोद मात्र और (ङ) प्रचार।

७—सामाजिक या दर्शक के अनुसार निम्नलिखित भेद किये जा सकते हैं—

(क) बालकों के योग्य, (ख) स्त्रियों के योग्य, (ग) सैनिकों के योग्य और (घ) किसी विशेष वर्ग के योग्य।

८—पात्र के अनुसार निम्नलिखित भेद हो सकते हैं—

(क) देवता या अलौकिक पात्र वाले, (ख) उच्च कोटि के पात्र वाले, (ग) निम्न वर्ग के पात्र वाले (घ) मध्य वर्ग के पात्र वाले और (ङ) निकृष्ट श्रेणी के पात्र वाले।

वर्तमान वर्गीकरण

इतने सब भेद होते हुए हम सामान्यतः विश्व भर के नाटकों को निम्नलिखित छः वर्गों में बाँट सकते हैं—(१) कथा-प्रधान, जिनमें मुख्यतः किसी प्रसिद्ध कथा को उपस्थित करना ही नाटककार का लक्ष्य हो। (२) चरित्र-प्रधान, जिनमें किसी विशिष्ट नायक या नायिका के गुणों का विकास प्रदर्शित करना इष्ट हो अथवा किसी की निन्दा करके उसके अवगुणों का भण्डाफोड़ करना उद्देश्य हो। (३) व्यापार-प्रधान, जिनमें घटनाओं और क्रियाओं का अधिक समावेश हो, संवाद कम हो और क्रियाओं

के परिणामस्वरूप कोई विशेष स्वाभाविक तथा अनिवार्य फल प्राप्त हो। इस प्रकार के मौलिक नाटक सर्वश्रेष्ठ होते हैं और वास्तविक नाटकीयता तथा नाट्यकौशल इसी प्रकार की रचनाओं में प्रकट होता है। (४) संगीत-प्रधान, जिनमें गीत, वाद्य, नृत्य आदि के द्वारा ही नाट्य-व्यापार प्रदर्शित किया जाय। (५) उद्देश्य-प्रधान, जिनमें किसी विशेष उद्देश्य का प्रतिपादन किया जाय। (६) संवाद-प्रधान, जिनमें अधिकांश नाटकीय व्यापार संवाद द्वारा सिद्ध हो और जिनमें भाषा-शैली पर अधिक ध्यान दिया गया हो।

अध्याय ५

नाटक-ग्रथन

मम्मट ने अपने काव्यप्रकाश में काव्य का उद्देश्य बताते हुए लिखा है—

काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये ।
सद्यः परनिर्वृत्तये कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे ।।

[काव्य लिखा जाता है यश के लिए, धन अर्जित करने के लिए, व्यवहार का ज्ञान देने के लिए, अकल्याण या अमंगल दूर करने के लिए, तत्काल परमानन्द प्राप्त करने के लिए और कान्तासम्मित उपदेश देने के लिए।] नाटक तो दृश्य काव्य होता है इसलिए नाटककार का प्रत्यक्ष उद्देश्य यही होता है कि विद्वान् तथा गुणी जन इसे देखें, रस-मग्न हों और प्रशंसा करें। संसार के अधिकांश नाटकों की प्रस्तावनाओं में जनता और विद्वान् दर्शकों से यही निवेदन किया गया है कि विद्वान् लोग देखकर उसका गुणानुवाद करें। कालिदास ने अभिज्ञानशाकुन्तल के प्रारम्भ में कहा ही है—

आ परितोषाद् विदुषां न साधु मन्ये प्रयोगविज्ञानम् ।
बलवदपि शिक्षितानां आत्मन्यप्रत्ययं चेतः ।।

[जब तक विद्वान् लोग कह न दें कि नाटक बढ़िया है तब तक मैं नाटक को सफल नहीं मानता, क्योंकि पात्रों को चाहे कितने भी अच्छे ढंग से क्यों न सिखाया जाय, फिर भी उन्हें अपने ऊपर विश्वास नहीं होता।] अपने दूसरे नाटक मालविकाग्निमित्र की प्रस्तावना में भी कालिदास ने कहा है—

पुराणमित्येव न साधु सर्वं न चापि काव्यं नवमित्यवद्यम् ।
सन्तः परीक्ष्यान्यतरद् भजन्ते मूढः परप्रत्ययनेयबुद्धिः ।।

[पुराने होने से ही न तो सब अच्छे हो जाते हैं, न नये होने से सब बुरे हो जाते हैं। समझदार लोग तो दोनों को परखकर उनमें से जो अच्छा होता है उसे अपना लेते हैं और जिन्हें अपनी समझ होती ही नहीं, उन्हें तो जैसा दूसरे समझा दें उसे ही वे ठीक मान बैठते हैं।]

इसका तात्पर्य यह है कि सब प्रकार के साहित्यकारों के समान नाटककार भी यश का लोभी होता है। उसे नाटक से अर्थ भी प्राप्त होता है इसमें कोई सन्देह नहीं किन्तु उसका मुख्य उद्देश्य जनता का मनोरंजन करके यश प्राप्त करना ही होता है, व्यवहार-ज्ञान सिखाना गौण। यद्यपि आजकल के बहुत से नाटककार किसी विशेष सामाजिक अथवा राजनीतिक सिद्धान्त का प्रचार करने के लिए नाटक लिखते हैं, किन्तु ये सभी निम्न कोटि के होते हैं। नाटककार को नाटक का ग्रथन इस प्रकार करना चाहिए कि सब प्रकार के दर्शकों को उससे तृप्ति हो और वह सबको रसमग्न किये रखे। काव्य के अन्य रूपों की अपेक्षा नाटक के लिए यह आवश्यक भी है क्योंकि जिस कान्तासम्मित उपदेश की बात मम्मट ने कही है उसका ठीक निर्वाह नाटक में ही हो सकता है।

नाटक की कथा

नाटक लिखने से पूर्व नाटककार को ऐसी कथा लेनी चाहिए जो नाटक में आद्यंत कुतूहल उत्पन्न कर सके, नाटक के परिणाम को प्रभावशाली बना सके, दर्शकों को रसमग्न कर सके। यह तभी संभव है जब नाटक की कथा प्रसिद्ध हो। इसी लिए भारतीय आचार्यों ने पहले ही यह नियम बना दिया था कि नाटक की कथा इतिहास-प्रसिद्ध हो, किन्तु सभी प्रसिद्ध कथाएँ नाटक के योग्य नहीं होतीं। ध्रुव के चरित्र पर कहानी अच्छी लिखी जा सकती है किन्तु नाटक नहीं लिखा जा सकता, क्योंकि ध्रुव के चरित्र में न तो नाटकीय संघर्ष है, न घटनाओं का द्वंद्व और न भावों का उतार-चढ़ाव। ध्रुव के मन में आत्म-ग्लानि होती है। वह तपस्या करता है और ध्रुव लोक चला जाता है। इस प्रकार का कथानक, जिसमें सीधा उत्थान या सीधा पतन या एक ही दिशा में घटना का प्रवाह बढ़ता चला जाता दिखाया गया हो, वह नाटक के लिए उपयक्त नहीं होता। नाटक के लिए ऐसी कथा चाहिए, जिसमें मानसिक अन्तर्द्वन्द्व हो, बाह्य द्वन्द्व हो, कथा के प्रवाह में बीच-बीच में बाधाएँ उपस्थित हों, कुतूहल बढ़ता चलता हो, नाटकीय परिणाम की समस्या सम्भव और संगत रूप से उलझती चली जाती हो और अन्त में इस कौशल के साथ उस समस्या का समाधान हो कि वह समाधान विश्वसनीय, संभव और स्वाभाविक प्रतीत हो। इस दृष्टि से प्रह्लाद की कथा नाटक के लिए अधिक उपयुक्त है क्योंकि प्रह्लाद अपने गुरु से संघर्ष करता है, पिता से संघर्ष करता है, अत्यन्त नाट-कीय रूप से अनेक संकटों से उसकी रक्षा होती है और अन्त में नृसिंह के द्वारा उसके अन्यायी पिता का नाश हो जाता है। रामायण में राम-सीता-विवाह, राम-वनवास और सीता-वनवास की घटनाएँ अत्यन्त ही नाटकीय हैं, क्योंकि तीनों में अन्तर्द्वन्द्व और बाह्य द्वन्द्व चरम सीमा तक पहुँचा रहता है। शेष घटनाएँ जैसे राम-जन्म, धनुष-

भंग, सीता-हरण, लंका-दहन आदि घटनाएँ खण्ड-काव्य, गद्य, चम्पू-काव्य या कहानी के लिए तो ठीक हैं किन्तु नाटक के लिए उपयुक्त नहीं हैं। महाभारत में तो सैकड़ों कथाएँ नाटक के लिए ग्राह्य हो सकती हैं, जैसे शकुन्तलोपाख्यान, नल-दमयन्ती, सावित्री-सत्यवान्, भीष्म-प्रतिज्ञा, द्रौपदीचीर-हरण आदि।

संविधानक

कोई भी कथा ज्यों की त्यों नाटक के लिए नहीं ली जा सकती। नाटक की रचना करने से पूर्व नाटककार को चाहिए कि कथा में उचित संशोधन, परिवर्तन और परिवर्धन करके संविधानक (प्लाट) बना ले, जिसमें उद्देश्य की सिद्धि, नाटकीय पात्रों के चरित्र, परिणाम तथा कुतूहल का निर्वाह करने के लिए कथा में आवश्यक घटनाओं का सन्निवेश करके सुघटित व्यापार-योजना कर ली जाय। ऐतिहासिक नाटक में यह कार्य कुछ कठिन हो जाता है क्योंकि नाटककार को ऐतिहासिक संगति का भी ध्यान रखना पड़ता है। यों भी संविधानक बनाते समय इस बात का तो ध्यान रखना ही चाहिए कि कथा का कोई व्यापार असंगत और असंभाव्य न हो। प्रत्येक घटना देश, काल और पात्रों की मर्यादा के पूर्णतः अनुकूल हो।

नाटक का ग्रथन

नाटक का ग्रथन करने में निम्नांकित कार्य सावधानी से कर लेने चाहिए; १—नाटक का नामकरण, २—संविधानक का निर्माण, जिसमें घटनाओं का क्रम देकर नाटक की कथा लिख ली जाय। ३—पूर्ण नाटकीय घटना का नाटकीय व्यापारों के अनुसार अंकों और दृश्यों में विभाजन। ४—पात्रों का नामकरण, उनका परिचय, अवस्था और चरित्र की प्रकृति का निर्धारण। ५—प्रत्येक अंक के प्रत्येक दृश्य का स्थान और उसके दृश्यपीठ का विवरण। ६—नाटक की प्रस्तावना का रूप। ७—स्पष्ट और संक्षिप्त रंग-निर्देश जिसमें प्रवेश, निर्गम, अभिनेता का व्यवहार या व्यापार, नेपथ्य से सुनायी जानेवाली बातों, गीतों या ध्वनियों का उल्लेख तथा रंगमंच की सीमा और विस्तार के अनुकूल रंग-व्यवस्थापक, प्रकाश-व्यवस्थापक और संगीत-व्यवस्थापक के लिए स्पष्ट निर्देश हो। ८—संवाद-योजना ऐसी हो कि प्रत्येक वक्ता और सम्बोध्य पात्र की योग्यता, परिस्थिति, आवश्यकता और भाव के अनुकूल आवश्यक, संगत, सम्बद्ध, स्वाभाविक, जोड़-तोड़ की, वाग्वैदग्ध्य, विनोद तथा व्यंग्य से संपन्न, नाटकीय परिस्थिति को प्रभावशाली बनाने की क्षमतावाली होने के साथ ही सरलता से दर्शकों की समझ में आ सके। संवाद में लंबे व्याख्यान न हों और कोई भी संवाद इतना निर-

न्तर न चले कि दर्शक ऊब जायँ, उसमें बराबर किसी न किसी प्रकार का अभिनयात्मक परिवर्तन होता रहना चाहिए, अर्थात् बीच-बीच में किसी का आना, जाना, उठना, कोई वस्तु लाना, समाचार देना, संघर्ष आदि कुछ न कुछ स्वाभाविक और सम्भव नाटकीय क्रिया का पुट देकर संवाद का प्रवाह बीच-बीच में बदलते रहना चाहिए। संवाद की भाषा-शैली ऐसी होनी चाहिए कि उसका आनन्द विद्वान् से लेकर मूर्ख तक सब समान रूप से उठा सकें। ९—नाटक का प्रारम्भ नाटकीय होना चाहिए अर्थात् रस के अनुकूल पहले ही दृश्य में नृत्य, गीत, झूला, उत्सव, अन्धकार के पश्चात् एक दीप का प्रकाश, तांत्रिक का भयानक कक्ष, जलती हुई अग्नि, प्रेत-नृत्य, वैज्ञानिक-कक्ष, चमत्कारपूर्ण घटना या सूचना, अथवा ऐसे दृश्य से होना चाहिए कि तत्काल दर्शकों का चित्त एकाग्र हो जाय। १०—नाटक लिखने से पूर्व प्रत्येक दृश्य का सारांश लिख लिया जाय और दृश्यों का क्रम इस प्रकार रखा जाय कि यदि एक दृश्य गहरा, बहुत सजावट वाला हो जिसमें बहुत से लोग आकर बैठते हों, तो दूसरा दृश्य ऐसा हो कि आगे परदा डालकर उसके आगे खड़े होकर अभिनेता अभिनय कर सकें, जिससे रंग-व्यवस्थापक को दृश्य-विधान में बड़ी सुविधा हो। चक्रिल रंगमंच (रिवौल्विंग स्टेज) पर कई गहरे दृश्य एक साथ रखे जा सकते हैं किन्तु सर्वत्र चक्रिल रंगमंच प्राप्त नहीं होते। दृश्य भी बहुत अधिक नहीं रखने चाहिए। एक अंक में तीन से पाँच तक दृश्य बहुत पर्याप्त होते हैं। प्रत्येक दृश्य इतना बड़ा अवश्य होना चाहिए कि वह आठ से बारह मिनट तक दिखाया जा सके। बहुत से नाटक ऐसे भी लिखे जा सकते हैं जिनमें एक अंक एक ही दृश्य का हो। उनमें घटना-गुम्फन के लिए अधिक सावधानी और अधिक कौशल की आवश्यकता होती है।

नाटक का नामकरण

चाहे नाटक का नाम पहले रखकर या सोचकर संविधानक की रचना की जाय अथवा संविधानक की रचना कर लेने के पश्चात् नामकरण किया जाय, दोनों दशाओं में कोई अन्तर नहीं हो जाता, किन्तु अच्छा यही है कि पहले संविधानक (प्लाट) की रचना करके पीछे नामकरण किया जाय, क्योंकि यह बहुत सम्भव है कि संविधानक की रचना करते समय उसमें कोई ऐसा व्यापार आ जाय जिसके कारण नामकरण में सुविधा हो जाय। क्योंकि प्रायः ऐतिहासिक नाटक में पात्र ही प्रधान होता है किन्तु नाटक की प्रकृति उस पात्र के नाम से उतनी स्पष्ट नहीं होती जितनी विशिष्ट घटना से, जैसे ऊरुभंग नाटक का नाम 'भीमसेन' भी हो सकता था पर उसका प्रभावशाली नामकरण 'ऊरुभंग' ही उचित है। महाकवि कालिदास ने 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' का

नामकरण अँगूठी के कारण ही किया था, क्योंकि सम्पूर्ण घटना-प्रवाह का आधार वही अँगूठी का अभिज्ञान है। कभी-कभी सनक में आकर नाटककारों ने निरर्थक नाम भी रख दिये हैं, जैसे शेक्सपियर ने अपने एक नाटक का नाम रखा है 'ऐज़ यू लाइक इट' (जो तुम चाहो)।

नाटक के नामकरण के सिद्धान्त

नाटक का नाम रखते हुए इतनी बातों का ध्यान रखना चाहिए—

१—नायक-प्रधान या पात्र-प्रधान नाटक का नाम उस नायक या पात्र पर ही होना चाहिए, जैसे अभिनवभरत का 'सेनापति पुष्यमित्र' या गेटे का 'डा० फ़ाउस्ट'। यदि नायक-नायिका दोनों प्रधान हों तो दोनों के सम्मिलित नाम से भी नाटक का नामकरण हो सकता है जैसे 'विक्रमोर्वशीय; मालविकाग्निमित्र; एण्टनी एण्ड क्लियोपेट्रा; नल-दमयन्ती'।

२—व्यापार-प्रधान नाटक में मुख्य घटना या व्यापार पर नामकरण करना चाहिए, जैसे 'वेणीसंहार; ऊरुभंग; सुभद्रा-हरण; क्रौंचवध; मार-मार कर हकीम (ठोक-पीटकर वैद्यराज या फिज़ीशियन इन स्पाइट ऑफ हिमसैल्फ) या मध्यम-व्यायोग।' प्रहसन (कौमिक या फार्स) या व्यंग्यात्मक नाटक (सैटायर) में व्यापार या घटना के अनुसार ही नामकरण होना चाहिए, जैसे 'मत्त-विलास-प्रहसन; सूम के घर धूम, मच एडू एबा-उट नथिंग, मिडसमर नाइट्स ड्रीम', किन्तु ऐसा नाम न हो जैसे भवभूति का 'महावीर-चरित' जिसमें सारी रामलीला आ गयी है।

३—जिन नाटकों में पात्र और घटना दोनों प्रधान हों उनका नामकरण घटना के अनुसार या घटना और पात्र के सम्मिलित नाम पर होना चाहिए, जैसे 'अभिज्ञान-शाकुन्तलम् या स्वप्न-वासवदत्ता।'

४—यदि नाटक में किसी जाति-विशेष की वृत्ति दिखायी गयी हो तो उस जाति के संकेत से नामकरण करना चाहिए, जैसे 'नाई की करतूत; कायस्थ-कौशल; मर्चेन्ट ऑफ़ वेनिस।'

५—उद्देश्य-प्रधान नाटकों में उद्देश्य या परिणाम के अनुसार नामकरण करना चाहिए, जैसे 'विश्वास; कन्याविक्रय; मङ्गल-प्रभात; दीन के आँसू; प्रायश्चित्त; बलिदान; परित्याग; आत्मोत्सर्ग; सत्य की विजय।'

६—कभी-कभी कुछ वस्तुएँ या स्थान नाटकीय घटनाओं या पात्रों की क्रियाओं के आधार होते हैं। ऐसी दशा में उन वस्तुओं या स्थानों के अनुसार भी नाम हो सकते हैं, जैसे 'हीरे का हार; हाथीदाँत का डिब्बा; भोजन पेटिका; रेशमी रूमाल।' किन्तु

ऐसी वस्तुओं के आधार पर नाम न हो जिनका नाटक में कम महत्त्व हो, जैसे 'मृच्छकटिक'। कभी-कभी स्थान का नाम भी नाटक के नामकरण के लिए ग्रहण किया जा सकता है। किन्तु प्रायः बड़े-बड़े नगरों में या स्थानों में अनेक महत्त्वपूर्ण घटनाएं हो चुकी रहती हैं इसी लिए उन नगरों या स्थानों के अनुसार नामकरण में यह कठिनाई हो जाती है कि नाटककार उस नगर या स्थान की किस घटना को आधार बना रहा है। किन्तु यदि कोई ऐसा स्थान हो जो किसी एक विशिष्ट घटना के लिए प्रसिद्ध हो तब उस स्थान के नाम पर नाटक का नामकरण सदा उचित होगा, जैसे 'कुरुक्षेत्र; वारणावत; पंचवटी; नन्दिग्राम या चित्रकूट।' नाटकों के नाम अयोध्या; मथुरा; वृन्दावन आदि नहीं रखे जा सकते क्योंकि इन नामों से यह भले ही व्यक्त हो जाय कि इसमें राम की या कृष्ण की कथा होगी किन्तु कौन सी कथा होगी यह व्यक्त नहीं होगा। इसलिए ऐसे भ्रामक नाम नहीं रखने चाहिए।

७—प्रतीकात्मक नाटक यद्यपि नाटकीय दृष्टि से अत्यन्त गर्हित और हेय होते हैं किन्तु यदि कोई लिखना ही चाहे तो उसके नाम से उसके विषय की ध्वनि स्पष्ट होनी चाहिए, जैसे 'प्रबोध-चन्द्रोदय।'

तात्पर्य यह है कि नाटक का नामकरण इस प्रकार करना चाहिए जिससे दर्शक या सामाजिक नाटक का नाम सुनते ही उसके विषय का आभास पाकर उसे देखने को उत्कंठित हो जाय। ऐतिहासिक और पौराणिक नाटकों के नाम तो प्रायः व्यक्तियों, घटनाओं और स्थानों पर रखे जाते हैं और रखे जाने भी चाहिए किन्तु मौलिक सामाजिक नाटकों में पात्र या स्थान के बदले घटना या परिणाम के आधार पर नाटक का नामकरण होना चाहिए और यथासम्भव इन नामों को इतना आकर्षक बना देना चाहिए कि दर्शक उसे देखने के लिए आतुर हो उठें। जैसे अंगद का पैर; हत्यारा; पिशाच; राक्षस का पिता; देवता; प्यार के आँसू; विश्वासघात; प्रतिहिंसा; अत्याचार; सती का शाप; आग की चिनगारी; हृदय-मंथन; जीवित-समाधि; स्वर्ग में नरक; नरक की आग; उजड़ा हुआ स्वर्ग; नयनों की प्यास आदि।

आजकल खण्डित या पूर्ण वाक्यों में नामकरण करने की मनोहर प्रथा भी चल निकली है। जैसे——

'आओ प्रियतम, मैं तुम्हारा हूँ; इधर न देखोगी; चलो दिल्ली; देश हमारा है; दुर्ग टूट रहा है; बोलो, सखी बोलो; बिजली चमक गयी; जब तारे भी रोये थे; यह आप का पत्र है; मैं आ गया रानी; वह सुनो हाहाकार; हृदय पर ताण्डव; धरती काँप उठी।'

स्नेहावेश, भय, आश्चर्य तथा रोमांचकारी घटनाओं से भरे नाटकों के लिए ऐसे नाम अधिक उपयुक्त होते हैं।

पात्रों का नामकरण

जहाँ तक ऐतिहासिक नाटकों में पात्रों के नामकरण की बात है, इस सम्बन्ध में भरत ने अपने नाट्यशास्त्र में कहा है—

'जो जिसका लिंगस्थ (पुकारने का) नाम हो वही नाम नाटक में रखना चाहिए, उसकी उत्पत्ति का बोधक नाम जैसे राम का दाशरथि या अर्जुन का कौन्तेय नहीं रखना चाहिए, क्योंकि इसमें बड़ा भ्रम हो सकता है; दाशरथि तो राम, लक्ष्मण, भरत, शत्रुघ्न चारों थे और कौन्तेय भी युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन, कर्ण चार थे। ब्राह्मण के नाम के साथ 'शर्मा' और क्षत्रिय के नाम के साथ 'वर्मा' जोड़कर गोत्र और कर्म के अनुरूप उनका नाम रखना चाहिए। वैश्यों के नाम के साथ दत्त लगाना चाहिए जैसे धनदत्त। राजाओं और रानियों के नाम विजयवादी रखने चाहिए जैसे जयसिंह या विजया। वेश्याओं के नाम में दत्ता, मित्रा या सेना लगाना चाहिए, जैसे सुदत्ता, चारु मित्रा और वसंतसेना। दूतियों के नाम फूलों पर रखने चाहिए, जैसे मालती, माधवी या मंजरी। चेटों के नाम मंगलार्थ हों जैसे श्रीधर। श्रेष्ठ लोगों के नाम गम्भीर अर्थ वाले हों, जैसे श्रुतिधर या ज्योतिर्धर, शेष लोगों के नाम उनके व्यवसाय, जाति और आचरण के अनुसार रखने चाहिए।

पौराणिक और ऐतिहासिक नाटकों के लिए अधिकांश नाम तो पुराण और इतिहास से मिल ही जाते हैं। शेष नामों का प्रयोग उन देशों की नाम-प्रकृति के अनुसार ही करना चाहिए। इसी लिए नाटकीय नामों के कुछ सिद्धान्त निर्धारित कर दिये गये हैं—

१—उदात्त चरित्र वाले नायकों के नाम भी उदात्त अर्थवाले हों, जैसे महाराणा प्रताप, रामचन्द्र, विक्रमादित्य आदि। ऐसे पात्रों के नाम छोटूराम, नकछेद सिंह आदि न हों।

२—प्रहसनों के लिए प्रायः हास्यजनक नाम रखने चाहिए, जैसे मंकण, चिथरू, घसीटे, छज्जू, लपेटू, पलटू, तीनकौड़ी, गोबरा, पिंडोल।

३—क्रूर तथा दुष्ट चरित्र वाले पात्रों के नाम क्रूरता या दुष्टता के द्योतक ही होने चाहिए, जैसे दुर्योधन, दुर्जन सिंह, गर्जन सिंह, पहाड़ सिंह, भयावन-देव, विकरालजंग, डरावन सिंह, जंगीराम, शार्ङ्गरव, दुःशासन।

४—यदि नाटककार व्यंग्य के लिए चाहे तो कुछ दुष्ट पात्रों के नाम अच्छे भी रखे जा सकते हैं, जैसे किसी कपटी का नाम निर्मलप्रसाद रखा जाय और फिर किसी

दूसरे पात्र के द्वारा यह कहला दिया जाय कि इसका नाम निर्मलप्रसाद नहीं, मल-प्रसाद होना चाहिए था। इसी प्रकार किसी चाटुकार का नाम नवनीतलाल रखा जा सकता है।

५——साधारण पात्रों के नाम के सम्बन्ध में कोई नियम नहीं बनाया जा सकता किन्तु इस बात का ध्यान अवश्य रखना चाहिए कि यथासम्भव पात्र के गुण या अवगुण की व्यंजना नाम में अवश्य आ जाय, जैसे कालिदास ने शकुन्तला की दोनों सखियों के नाम 'अनसूया और प्रियंवदा' सप्रयोजन रखे हैं और उनका यथानाम निर्वाह भी किया है। स्त्रियों के नामकरण के सम्बन्ध में भी ये ही नियम व्या त समझने चाहिए।

पात्र-योजना

संविधानक बना लेने के पश्चात् नाटककार को तत्काल निश्चय कर लेना चाहिए कि संविधानक का निर्वाह करने के लिए कितने और किस प्रकार के पात्रों की आवश्यकता है। इस आवश्यकता के अनुसार उसे पात्र छाँटकर उनका नामकरण, उन पात्रों का परस्पर सम्बन्ध, परिचय और उनकी अवस्था स्थिर कर देनी चाहिए और जिस युग का नाटक हो उस युग की प्रवृत्ति के अनुरूप उनकी वेश-भूषा और प्रकृति का निर्देश कर देना चाहिए।

पात्र यथासम्भव कम हों। सभी संगृहीत पात्रों को इस क्रम से संविधानक में बैठाना चाहिए कि सबका पाठ्य भाग और अभिनय समानुपाती हो। ऐसा न हो कि किसी का पाठ्य भाग बहुत अधिक हो और किसी का स्वल्प; नाटक में सिपाही, नागरिक, दास, दासी या सखी आदि छोटे पात्रों का भी नाटक की कथा-वस्तु के प्रसार में कोई विशेष योग और प्रयोजन होना चाहिए, केवल गिनती कराने और रंगमंच पर भीड़ इकट्ठी करने के लिए ही उनका आयोजन न हो, विशेषतः उन नाटकों में जिनमें किसी विशेष युग की किसी विशेष प्रकार की वेश-भूषा के साथ पात्रों का संग्रह हो, क्योंकि इससे अव्यावसायिक नाट्य-मंडलियों के नाट्य-प्रयोक्ता, रंग-व्यवस्थापक तथा नेपथ्य-व्यवस्थापक के सम्मुख बड़ी कठिनाई उपस्थित हो जाती है। हाँ, यदि समसामयिक सामाजिक नाटक प्रस्तुत करना हो तो ऐसे अभिनेता अधिक बढ़ाये जा सकते हैं जिनकी वेश-भूषा और मुखराग के लिए कोई विशेष झंझट न हो और जो स्वयं अपनी वेश-भूषा संग्रह कर सकें। फिर भी कुशल नाटककार की पहचान यही है कि वह कम पात्र ले और उन सबके चरित्रों का पूरा निर्वाह करे। इससे नाटककार को भी पात्रों का चरित्र-चित्रण करने में सरलता होती है और दर्शकों को भी कथा, पात्रों का चरित्र तथा कथा-प्रवाह समझते चलने में सुविधा रहती है। प्रायः ऐतिहासिक नाटक लिखने

वालों के मन में यह प्रलोभन अधिक होता है कि जितने ऐतिहासिक नाम मिलें उतने पात्र भर दिये जायें किन्तु यह प्रवृत्ति उचित नहीं है। अधिक पात्र भरने से कथा भी अस्पष्ट हो जाती है और पात्रों के चरित्र भी।

अंक-विभाजन

संविधानक का निर्माण, पात्रों का चयन तथा उनका नामकरण कर चुकने के पश्चात् संविधानक को अंकों में विभाजित कर लेना चाहिए। यदि राम के विवाह की कथा पर नाटक लिखना हो तो नाटककार को मुख्य कार्यों का निर्धारण करके प्रत्येक मुख्य कार्य को एक-एक अंक में स्थापित कर देना चाहिए। ये मुख्य कार्य चार हैं—

१—विश्वामित्र का दशरथ के पास जाना और यज्ञ की रक्षा के निमित्त राम और लक्ष्मण को माँगकर ले जाना। दशरथ के हृदय का अन्तर्द्वन्द्व, वशिष्ठ द्वारा समाधान।

२—विश्वामित्र के आश्रम में ताड़का और सुबाहु के वध के पश्चात् वहीं जनकपुर से धनुषयज्ञ का निमंत्रण आना और प्रस्थान।

३—जनकपुरी की फुलवारी में राम और सीता का साक्षात्कार और उसके पश्चात् दोनों के हृदय में अन्तर्द्वन्द्व।

४—धनुषयज्ञ में राम को देखकर जनक, जानकी, जानकी की माता और पुरवासियों के मन में जनक की प्रतिज्ञा और धनुष की कठोरता के कारण अन्तर्द्वन्द्व। धनुष तोड़ने पर राम के गले में सीता का जयमाल डालना। अतः 'राम-विवाह' नाटक में चार अंक होंगे।

अंक का विभाजन कर चुकने पर नाटककार को यह देखना चाहिए कि प्रत्येक अंक के मुख्य कार्य को पूर्ण करने वाली कौन-कौन सी प्रमुख घटनाएँ हैं। ऐसी प्रमुख घटनाएँ नाटक की दृष्टि से तीन प्रकार की होती हैं। संवाद के द्वारा प्रकट होनेवाली (वाच्य), अभिनय या क्रिया के द्वारा दिखायी जाने वाली (द्रष्टव्य), और सूचित की जानेवाली (सूच्य)। नाटककार को यह निश्चित कर लेना चाहिए कि एक अंक में पूर्ण होनेवाले कार्य की घटनाओं में से कितनी घटनाएँ संवाद तथा अभिनय के द्वारा प्रत्यक्ष रंगमंच पर दिखानी-सुनानी हैं और कितनी ऐसी हैं जिनकी केवल सूचना दिलानी है। जितनी घटनाएँ रंगमंच पर दिखानी हैं वे जितने स्थलों पर या जितने विभिन्न कालों में हुई हों उतने ही दृश्यों में उन्हें प्रस्तुत करना चाहिए, अर्थात् एक अंक में उतने ही दृश्य निर्धारित कर लेने चाहिए। यदि एक अंक का कार्य कुछ कुटिया में, कुछ नदी-तट पर, कुछ वन में और कुछ यज्ञशाला में हुआ हो तो उस अंक के चार दृश्य हुए—

१—कुटिया, २—नदीतट, ३—वन, ४—यज्ञशाला।

यदि दो घटनाएँ एक ही स्थान पर किन्तु दो विभिन्न कालों में हुई हों तो भी दो दृश्य होने चाहिए और इन दोनों दृश्यों के बीच एक अन्य दृश्य प्रस्तुत कर देना चाहिए जिससे दोनों घटनाओं के समय का व्यवधान हो जाय। जैसे यदि एक अंक की दो घटनाएँ कुटिया में हुई हों, एक वन में और एक नदी-तट पर हुई हो तो नाटककार को चाहिए कि कुटिया के दो दृश्यों के बीच वह किसी अन्य दृश्य की अवतारणा करके ऐसी कल्पित घटना प्रस्तुत करे जो मूल कथा के साथ संगत जान पड़े। अनेक नाटककार इसीलिए असफल हुए हैं कि उन्होंने अपने नाटकों में दृश्यों का क्रम ठीक नहीं रखा।

यदि एक अंक का पूरा कार्य एक ही स्थान में निर्बाध रूप से होता हो तो एक दृश्य का भी एक अंक हो सकता है। नाटककारों ने एक ही स्थान पर होनेवाले कार्य के लिए एक ही दृश्य के अंक का बहुधा प्रयोग किया है। वास्तव में एक अंक में अनेक दृश्य रखने की प्रणाली हमारे यहाँ यूरोप से आयी, जिसका अनुवर्तन वर्तमान भारतीय नाटककार कर रहे हैं। किन्तु यह न तो सर्वदा आवश्यक ही है न श्लाध्य ही, किन्तु जहाँ एक अंक के लिए एक दृश्य से काम न चलता हो वहाँ अनेक दृश्यों का प्रयोग अवश्य करना चाहिए। नाटककार को रंगमंच की सुविधा का ध्यान रखते हुए आगे का एक दृश्य ऐसा दिखाना चाहिए जिसमें रंगपीठ पर सजावट या हटायी जानेवाली सामग्री न हो और दूसरा दृश्य गहरा हो, जिसमें कुटिया, चौकी, आसन, पीढ़ा आदि ऐसी सामग्री लगायी गयी हो जिस पर लोग आकर बैठते, लेटते या सोते हों। जिन दृश्यों में कोई सजावट, परीवाप या दृश्यपीठ न हो, ऐसे आगे दिखाये जा सकने वाले दो दृश्य एक साथ रखे जा सकते हैं, क्योंकि उसमें रंग-व्यवस्थापक को कोई झंझट नहीं होती, किन्तु दो गहरे अर्थात् सजावट वाले दृश्य कभी एक साथ नहीं लाने चाहिए। यद्यपि चक्रिल रंगमंच पर यह सुविधा होती है कि वहाँ तीन-तीन गहरे दृश्य एक साथ लगातार दिखाये जा सकते हैं किन्तु सब नाट्य-मण्डलियों के पास तो चक्रिल रंगमंच होते नहीं, इसलिए नाटककार को इस दृष्टि से नाटक लिखने चाहिए कि वे सबके लिए ग्राह्य और सुकर हों। इसके अतिरिक्त लगातार दो या कई गम्भीर, उत्तेजनात्मक, आवेशात्मक दृश्य एक साथ नहीं रखने चाहिए। इससे या तो दर्शक ऊब जाते हैं या उनके मानसिक भावों में इतना तनाव उत्पन्न हो जाता है कि उनके मस्तिष्क और हृदय पर उसका बड़ा बुरा प्रभाव पड़ता है। इसलिए अच्छा यही है कि यदि एक दृश्य हमारे भावों को अत्यन्त तान देनेवाला हो तो दूसरा इतना विनोदात्मक अथवा मनोरंजक हो कि भावों का तनाव शिथिल होता रहे।

इस प्रकार दृश्य-विभाजन करके प्रत्येक दृश्य में होने या दिखाये जानेवाले तथा सूचित किये जानेवाले व्यापारों या कार्यों को क्रम से लिखकर यह भी अंकित कर लेना चाहिए कि किस क्रम से, किस प्रयोजन से, कौन-सा पात्र, कब प्रवेश करता है, कब चला जाता है, कहाँ, किस पात्र से गीत गवाना है, कहाँ नृत्य कराना है या कहाँ किस प्रकार का वाद्य बजवाना है—

उपर्युक्त दृष्टि से राम-विवाह नाटक के चार अंकों में से दो का दृश्य-विभाजन इस प्रकार होगा—

प्रथम अंक

प्रथम दृश्य—विश्वामित्र का आश्रम। यज्ञ हो रहा है। सहसा कोलाहल। यज्ञ-मण्डप में उत्पात। विश्वामित्र का प्रवेश। कारण पूछने पर कई ऋषि विश्वामित्र को सूचना देते हैं कि सुबाहु, मारीच और ताड़का ने आज पुनः उपद्रव किया। विचार-विमर्श। एक ऋषि का प्रस्ताव कि जाकर महाराज दशरथ से कहा जाय। विश्वा-मित्र चल देते हैं।

द्वितीय दृश्य—अयोध्या का प्रमुख गोपुर। कुछ नगरवासी राम की चौदहवीं वर्ष-गाँठ पर महोत्सव मना रहे हैं। केकय देश के एक सज्जन से लोग हँसी कर रहे हैं। विश्वामित्र के आगमन की चर्चा होती है। सब उनके आगमन के विचित्र-विचित्र, हास्यजनक तथा गंभीर अर्थ लगाते हैं और यह समाचार पाकर दूसरी ओर चल देते हैं कि उधर नट-विद्या हो रही है। (यह कल्पित है)

तृतीय दृश्य—दशरथ की राज-सभा। दशरथ के दोनों ओर सिंहासन पर राम और लक्ष्मण तथा यथास्थान विशिष्ट सभासद् बैठे हैं। संगीत हो रहा है। एक प्रतीहार आकर विश्वामित्र के आगमन की सूचना देता है। राजा दशरथ, वशिष्ठ, राम, लक्ष्मण सब उठकर द्वार तक जाकर विश्वामित्र की अगवानी करते हैं। कुशल-मंगल के पश्चात् विश्वामित्र कहते हैं कि राक्षसों का उपद्रव शान्त करने के लिए राम-लक्ष्मण को साथ भेज दीजिए। दशरथ झिझकते हैं और सेना देने का आग्रह करते हैं। विश्वामित्र रोष दिखाते हैं और चलने को तैयार होते हैं। वशिष्ठ बीच में पड़कर विश्वामित्र को शान्त करके दशरथ को समझाते हैं। विश्वामित्र के साथ राम-लक्ष्मण चले जाते हैं।

द्वितीय अङ्क

प्रथम दृश्य—भीतर यज्ञशाला में वेद-ध्वनि सुनाई दे रही है। बाहर कोलाहल।

एक ऋषि आकर ताड़का के आगमन का समाचार देते हैं, राम धनुष-बाण लेते हैं। भयानक वेष में स्त्री ताड़का को देखकर राम संकुचित होते हैं किन्तु विश्वामित्र के आदेश से बाण चलाते हुए राम निकल जाते हैं। ताड़का-सुबाहु नेपथ्य में हाहाकार करके प्राण छोड़ते हैं।

दूसरा दृश्य--सब ऋषि-मुनि राम-लक्ष्मण को प्रसन्न होकर आशीर्वाद देते हैं और विश्वामित्र उन्हें बला और अतिबला विद्याएँ प्रदान करते हैं।

तीसरा दृश्य--राम को अयोध्या भेजने की सब व्यवस्था हो रही है। सब ऋषि लोग कन्द-मूल, फल ला-लाकर राम को दे रहे हैं। इतने में जनकपुर का दूत आकर धनुषयज्ञ का निमंत्रण देता है। विश्वामित्र उन्हें अयोध्या ले जाने के बदले जनकपुर के लिए चल देते हैं।

इसी प्रकार अन्य दो अंकों का भी दृश्य-विभाजन किया जा सकता है।

कुछ नाटक ऐसे भी होते हैं जिनमें एक ही स्थान पर अर्थात् एक ही दृश्य या दृश्य-पीठ पर नाटक के सभी कार्य दिखलाये जाते हैं, जैसे अभिनव-भरत के 'देवता' और 'विश्वास' नाटक में। ऐसे नाटकों में मुख्य कार्यों के अनुसार समय तो भिन्न हो सकते हैं किन्तु दृश्य-भेद की आवश्यकता नहीं है। कहीं-कहीं कुछ नाटककार एक ही अंक में प्रकाश-भेद के द्वारा समय-भेद, दृश्य-भेद या सहायक कार्य-भेद दिखाने की योजना करते हैं। यह भी बहुत बुरा तो नहीं है किन्तु इससे कार्य-भिन्नता की उतनी व्यंजना नहीं हो पाती जितनी अंक समाप्त करके दूसरा नया अंक नियमित रूप से प्रारम्भ करने अथवा दृश्य बदलने से होती है। इसी लिए संस्कृत नाटककारों ने अत्यन्त चतुरता के साथ अंकावतार की सृष्टि की थी जिसमें एक अंक के ही पात्र दूसरे अंक में भी आते तो हैं किन्तु पिछला कार्य पूर्ण होने के कारण वह अंक समाप्त करके दूसरे अंक के लिए आते हैं।

पीछे नाटककार और नाटक प्रकरण में भारतीय पद्धति से नाटक-ग्रथन की पद्धति के विवेचन के साथ विस्तार से अंक, सन्धि, अवस्था, अर्थप्रकृति, संध्यंग, अर्थोपक्षेपक (विष्कम्भक, प्रवेशक, चूलिका, अंकास्य, अंकावतार) आदि सबका विवरण दिया जा चुका है।

प्रस्तावना

संविधान-रचना, पात्र-चयन, पात्रों का नामकरण, अंक-विभाजन तथा दृश्य-विभाजन कर चुकने पर ही नाटक लिखना प्रारम्भ करना चाहिए। प्रायः सभी देशों में नाटक के प्रारम्भ में प्रस्तावना देने की प्रथा रही है। भरत ने नाट्यशास्त्र के पंचम

अध्याय में नाटक के प्रयोग-प्रारम्भ के विषय में कहा है कि रंग-प्रयोग से पहले होनेवाली क्रिया को पूर्वरंग कहते हैं। पूर्वरंग का सम्बन्ध सूत्रधार या नाट्य-प्रयोक्ता से है अतः उसका परिचय नाट्य-प्रयोग के प्रसंग में दिया जायगा, किन्तु नान्दी और प्रस्तावना का सम्बन्ध नाटककार से है।

नान्दी, पूर्वरंग और प्रस्तावना

भावप्रकाशन-कार ने पूर्वरंग के अन्तर्गत ही उत्थापक अर्थात् नान्दी-पाठकों के द्वारा नाटक का प्रयोग प्रारम्भ करने और परिवर्तन अर्थात् लोकपालों को प्रणाम करने के लिए चारों ओर घूमने का भी विधान बताया है। इस प्रसंग में उन्होंने कहा है कि जगत्पति महादेवजी के वाहन नन्दी ने सृष्टि के आदि में नाचते हुए कल्पना के योग से रंगता प्राप्त कर ली थी, इसलिए नन्दी के उस रूप के सम्बन्ध से जो देवता आदि को नमस्कार या नाटक के प्रारम्भ में मंगलाचरण किया जाता है वह नान्दी कहलाता है, अथवा जो क्रिया सामाजिकों को प्रसन्न करे वह अथवा पूर्वरंग के सम्बन्ध से नाटक के आरम्भ में सबको प्रसन्न करनेवाली बाईस अंगोंवाली क्रिया ही नान्दी कहलाती है। इसके पश्चात् प्रस्तावना होती है जिसमें दर्शकों को नाटक की प्रसिद्ध उदात्त कथा की प्रशंसा करके उसकी ओर उन्मुख करते हैं, जिसे प्ररोचना कहते हैं; सूत्रधार, नट और पारिपार्श्विक के वार्तालाप को त्रिगत कहते हैं। बाहरी गीत का विधान करने को आसारित और वाद्य परस्पर के साथ विधान करने को गीत कहते हैं। वाणी और अंग के अभिनय का शृंगार-रसपूर्ण सुकुमार अभिनय ही रंगद्वार कहलाता है। इस प्रकार के और भी कार्यों को लेकर बाईस अंगवाला कार्य पूर्वरंग कहलाता है, अर्थात् नाटक की मुख्य कथा आरम्भ करने से पूर्व की क्रियाओं को पूर्वरंग कहते हैं जिसके अन्तर्गत नान्दी-पाठ और प्रस्तावना भी आ जाती है। सूत्रधार किसी देवता की कृपा प्राप्त करने के लिए जो स्तुति-पाठ करता है उसे नान्दी कहते हैं। इसके अनन्तर उस देवता की स्तुति की जाती है जिसके उत्सव के उपलक्ष्य में नाटक होने वाला रहता है अथवा राजा या ब्राह्मण की वन्दना की जाती है। नान्दी समाप्त हो जाने पर रंगद्वार नामक कृत्य आरम्भ होता है जिसमें नाटक के आरम्भ की सूचना दी जाती है। उसके अनन्तर सूत्रधार श्लोक पढ़कर इन्द्र के ध्वज की वन्दना करता है। फिर पार्वती और भूतों की प्रशंसा के लिए नृत्य हो चुकने पर सूत्रधार, विदूषक तथा सूत्रधार के सेवक में परस्पर बातचीत होती है और नाटक के कथानक की सूचना देकर सूत्रधार और विदूषक आदि चले जाते हैं।

भरत के अनुसार इस क्रिया के अनन्तर सूत्रधार के ही रूप-गुण के समान स्थापक का प्रवेश होता है जो अपने वेश से इस बात का आभास देता है कि नाटक के विषय का

सम्बन्ध देवताओं से है अथवा मनुष्य से। वह सुन्दर छन्दों में देवताओं आदि की वन्दना करता हुआ नाटक के विषय, नाम तथा नाटककार के गुणों का वर्णन करके तथा किसी उपयुक्त ऋतु का विवरण देकर नाटक का आरम्भ करा देता है।

भरत के पश्चात् आनेवाले नाटककारों ने इन क्रियाओं को सूक्ष्म करके नान्दी-पाठ से ही नाटक का आरम्भ कर दिया है, जिनमें देवता, ब्राह्मण तथा राजा की आशीर्वाद-युक्त स्तुति करके तथा शंख, चन्द्र, चक्रवाक और कुमुद आदि मंगल-वस्तुओं का वर्णन करके नाटक प्रारम्भ कर दिया जाता है। यह वर्णन आठ या दस पदों का होता है। वास्तव में इस स्तुति को रंगद्वार कहना चाहिए, क्योंकि इसमें तो नाटक का अवतरण ही हो जाता है। अतः इसे नान्दी नहीं कहना चाहिए, क्योंकि नान्दी में तो केवल मंगल-पाठ मात्र होता है और नाटक के रस का सूक्ष्म आभास दे दिया जाता है, जैसे मुद्राराक्षस की नान्दी में छल-कपट की तथा मालतीमाधव की नान्दी में 'शृंगार रस' की सूचना मिल जाती है। नान्दी-पाठ के अनन्तर ही रंगद्वार का आरम्भ होता है जिसमें पहले स्थापक रंगमंच पर आकर काव्य की स्थापना करता था। यदि वर्णनीय कथा-वस्तु दिव्य होती थी तो देवता का रूप धारण करके, अदिव्य होती थी तो मनुष्य का रूप धारण करके और यदि मिश्र होती थी तो दोनों में से किसी एक का रूप धारण करके यह स्थापक नाटक की कथा-वस्तु, बीज, अमुख या पात्र की सूचना देता था। किन्तु आगे चलकर सूत्रधार ही यह काम करने लगा।

नाट्य-शास्त्र के अनुसार इन कृत्यों में भारती वृत्ति का अनुसरण करना चाहिए जिससे दर्शकों का चित्त आकृष्ट हो जाय। भारती वृत्ति के चार अंग माने गये हैं—प्ररोचना, वीथी, प्रहसन और आमुख। प्रस्तुत की प्रशंसा करके लोगों की उत्कण्ठा बढ़ाने को प्ररोचना कहते हैं। इसमें देश-काल की प्रशंसा को अचेतनाश्रय और कथा-नायक, कवि, सभ्य तथा नटों की प्रशंसा को चेतनाश्रय प्ररोचना कहते हैं। अपनी प्रकृति के अनुसार अपने सम्बन्ध में कवि चार प्रकार से प्ररोचना या प्रशंसा का प्रयोग करते हैं। यदि उदात्त कवि हुए तो मन में छिपे हुए अभिमान से भरी हुई उक्ति का प्रयोग करते हैं, उद्धत प्रकृति के हुए तो दूसरे कवियों को तुच्छ बताकर अपने उत्कर्ष का वर्णन करते हैं। प्रौढ कवि हुए तो किसी युक्ति से अथवा स्पष्ट रूप से अपनी महत्ता जतलाते हैं और यदि विनीत हुए तो विनयपूर्वक अपने अपकर्ष का उल्लेख करते हैं।

इसी प्रकार सभ्य अर्थात् दर्शक या सामाजिक दो प्रकार के होते हैं; एक प्रार्थित जिनके आगमन के लिए नाट्य-प्रयोक्ता उत्कण्ठित रहते हैं और जिन्हें निमंत्रित करके बुलाया जाता है, और दूसरे प्रार्थक वे हैं जो स्वयं नाटक देखने के लिए उत्कण्ठित और

नाट्य-प्रयोक्ताओं के अनगृहीत रहते हैं। ये प्ररोचनाएँ किसी नाटक में संक्षिप्त रहती हैं और किसी में विस्तृत। वीथी और प्रहसन का परिचय पीछे दिया जा चुका है। आमुख के द्वारा उत्कण्ठा बढ़ाकर सूत्रधार भी नटी, पारिपार्श्विक या विदूषक के साथ प्रस्तुत विषय पर विचित्र उक्तियों द्वारा वार्तालाप करता और कौशल के साथ नाटक का आरम्भ करा देता है। इस आमुख के दो अंग होते हैं—प्रस्तावना और स्थापना। श्रृंगार रस के नाटकों में आमुख, वीर और अद्भुत रस के नाटकों में प्रस्तावना तथा हास्य, बीभत्स और रौद्र रस के नाटकों में स्थापना की जाती है। यह कार्य तीन प्रकार से किया जाता है; १—कथोद्घात के द्वारा, जहाँ सूत्रधार के वचन या उसके भाव को लेकर नाटक का कोई पात्र कुछ कहता हुआ रंगमंच पर नाटक प्रारम्भ कर देता है। २—प्रवृत्तक या प्रवर्तक द्वारा, जहाँ सूत्रधार किसी ऋतु का वर्णन करके उसी के आश्रय से किसी पात्र का प्रवेश कराये। ३—प्रयोगातिशय द्वारा, जहाँ सूत्रधार प्रथम दृश्य में प्रविष्ट होने वाले पात्र को यह कहकर या इस ढंग से साक्षात् निर्देश करे कि 'यह देखो, नीचे, यह उनके समान या यह तो अमुक व्यक्ति हैं।'

साहित्यदर्पण में प्रस्तावना के पाँच भेद गिनाये गये हैं—उद्घाटक, जहाँ इच्छित अर्थ का बोध कराने में असमर्थ पदों के साथ इच्छित अर्थ की प्रतीति कराने के लिए और भी पद जोड़ लिये जायँ, जैसे—मुद्राराक्षस में 'कौन मेरे जीते जी चन्द्रमा को बल-पूर्वक ग्रस सकता है', कहता हुआ चाणक्य प्रवेश करता है।

कथोद्घात और प्रवर्तक के लक्षण वे ही हैं जो ऊपर दिये गये हैं। प्रयोगातिशय का लक्षण साहित्यदर्पणकार ने यह माना है—'जहाँ एक प्रयोग में दूसरा प्रयोग आरम्भ हो जाय और उसी के द्वारा पात्र का प्रवेश हो, जैसे कुंदमाला में नटी को बुलाने सूत्रधार जा ही रहा था कि उसने नेपथ्य में 'आर्ये, इधर-इधर' की पुकार सुनी और फिर यह कहते हुए कि 'कौन आर्या को पुकारकर मेरी सहायता करता है' उसने नेपथ्य की ओर देखा और एक श्लोक पढ़कर लक्ष्मण और सीता के प्रवेश की सूचना दी।

जहाँ एक प्रयोग में किसी प्रकार के सादृश्य आदि की उद्भावना के द्वारा किसी पात्र के प्रवेश की सूचना दी जाय उसे अवगलित कहते हैं जैसे अभिज्ञानशाकुन्तल में सूत्रधार का यह श्लोक —

तवास्मि गीतरागेण हारिणा प्रसभं हृतः।
एष राजेव दुष्यन्तः सारंगेणातिरंहसा।।

[तुम्हारे मनोहर गीत-राग ने मुझे वैसे ही आकृष्ट कर लिया है जैसे हरिण ने इस राजा दुष्यन्त को।]

तात्पर्य यह है कि दशरूपक का 'प्रयोगातिशय' वही है जो साहित्यदर्पण का 'अवगलित' है। कथोद्घातक और उद्घातक में इतना ही भेद है कि एक में तो सूत्रधार या कवि के वचन लेकर पात्र का प्रवेश होता है और दूसरे में सूत्रधार के अन्यार्थक कथन को अपने अर्थ में लेता हुआ कोई पात्र प्रवेश करता है।

नखकुट्ट का कथन है कि नेपथ्य के वचन या आकाशभाषित को सुनकर भी उसके आशय पर नाटकों में पात्रों का प्रवेश कराया जाता है। कहने का तात्पर्य यह है कि नाटक का प्रारंभ सैकड़ों प्रकार से नाटककार के कौशल के बल पर कराया जा सकता है।

वीथ्यंग

ऊपर बताया गया है कि प्रस्तावना में भारती वृत्ति का प्रयोग करना चाहिए। इस भारती वृत्ति के तेरह वीथ्यंग माने गये हैं—१—उद्घात्य—अर्थात् गूढ़ार्थक शब्द तथा उनके पर्यायवाची अन्य शब्दों का अर्थ समझने के लिए अथवा वस्तु-विशेष के ज्ञान के लिए प्रश्नोत्तर-माला की योजना करना। २—अवगलित, जहाँ सादृश्य आदि होने के कारण एक साथ दूसरे कार्य का साधन हो या प्रस्तुत व्यापारों में कोई दूसरा ही व्यापार हो जाय, जैसे उत्तररामचरित में गर्भिणी सीता को ऋषियों का आश्रम देखने की इच्छा होती है किन्तु इससे हो जाता है उनका वनवास। ३—प्रपंच, जहाँ असत् कर्मों के कारण एक दूसरे की उपहासपूर्ण अल्प प्रशंसा होती है, जैसे कर्पूरमंजरी में भैरवानन्द का कथन। ४—त्रिगत, जहाँ शब्दों की श्रुति-समता के कारण अनेक अर्थों की कल्पना हो। यह पूर्वरंग में नट आदि तीन पात्रों की बातचीत से पूर्ण होती है। ५—छलन, जहाँ देखने में प्रिय किन्तु वास्तव में अप्रिय वाक्यों द्वारा धोखा दिया जाता हो। कुछ शास्त्रकारों के मत के अनसार किसी का कार्य नष्ट करके धोखा देने वाले हास्य अथवा रोषकारी वचन बोलना ही छलन है, जैसे वेणीसंहार में भीम और अर्जुन दोनों का एक ही वचन कहना। ६—वाक्केलि, जहाँ किसी बात को कहते-कहते रुक जायँ, जैसे उत्तररामचरित में वासन्ती की उक्ति, अथवा दो-तीन व्यक्तियों की हास्यजनक उक्ति-प्रत्युक्ति, जैसे रत्नावली में विदूषक और मदनिका की चर्चरी पर बातचीत। कुछ लोग वहाँ भी वाक्केलि मानते हैं जहाँ अनेक प्रश्नों का एक ही उत्तर हो। ७—अधिबल, जहाँ दो व्यक्ति बढ़-बढ़कर स्पर्धायुक्त बातें करें, जैसे वेणीसंहार में अर्जुन का धृतराष्ट्र और गान्धारी को प्रणाम करना और उसके पश्चात् दुर्योधन का उत्तर आदि। ८—गण्ड, जहाँ प्रस्तुत विषय से सम्बन्ध रखनेवाला, भिन्न अर्थ का सूचक त्वरायुक्त वाक्य कहा जाय, जैसे उत्तर-

रामचरित में राम के मुख से 'वियोग' शब्द निकलते ही प्रतिहार आकर कहता है—उपस्थित है महाराज। ९—अवस्यन्दित, जहाँ सीधे कहे हुए किसी वाक्य का सँभालकर दूसरे प्रकार से अर्थ लगाया जाय, जैसे 'छलित राम' नाटक में सीता अपने पुत्रों से कहती है—'पुत्रो ! वे तुम दोनों के पिता हैं।' इस पर जब लव पूछता है—'क्या रघुपति हमारे पिता हैं ?' तब तत्काल सीता सावधान होकर कहती हैं—'वे तुम्हारे ही नहीं, सारी पृथ्वी के पिता हैं।' १०—नालिका—गूढ भाववाली हास्यपूर्ण पहेली को कहते हैं, जैसे मुद्राराक्षस के पहले अंक में दूत और शिष्य की बातचीत। ११—असत्प्रलाप, जहाँ बेसिर-पैर की बात, असम्बद्ध उत्तर या मूर्ख के आगे ऐसे हित वचन कहना जिन्हें वह न समझता हो (स्वप्न में बर्राते हुए की, पागल की, उन्मत्त की और बच्चों की बातें इसी श्रेणी में आती हैं)। १२—व्यापार, दूसरे का प्रयोजन सिद्ध करने के लिए हास्यपूर्ण और लोभ-जनक वचन कहना, जैसे मालविकाग्निमित्र में मालविका के नृत्य के अनन्तर विदूषक का उसे रोक रखना। १३—मार्दव जहाँ दोष भी गुण और गुण भी दोष समझ पड़े, जैसे अभिज्ञानशाकुन्तल में मृगया के दोष भी गुण बनाकर कहे गये हैं।

वीथी और प्रहसन दोनों का यही एक उद्देश्य है कि सामाजिकों को अभिनय की ओर आकृष्ट करें। अतएव साहित्यदर्पणकार के अनुसार वीथी के अंग भी प्रहसन के अंग हो सकते हैं। हाँ, इतना है कि वीथी में उसकी योजना आवश्यक है पर प्रहसन में ऐच्छिक। किन्तु रसार्णव-सुधाकर में प्रहसन के पूर्णतः भिन्न दस अंग माने गये हैं—१—अवगलित, जहाँ किसी ग्रहण किये हुए आचार-व्यवहार को अज्ञान अथवा मोह के कारण छोड़ दिया जाय अथवा उसमें दोष निकाले जायँ, जैसे 'आनन्दकोष' नामक प्रहसन में भ्रष्ट यति यति-आश्रम को ही दोष देता है या प्रबोधचन्द्रोदय में मोह-वश या कामवश क्षपणक अपना मार्ग छोड़ देता है। २—अवस्कन्द, जहाँ अनेक पुरुष किसी अयोग्य वस्तु के सम्बन्ध में अपने-अपने मत के अनुसार विचार व्यक्त करते हैं, जैसे एक प्रहसन में यति, बौद्ध और जैन किसी वेश्या के अंगों में अपने-अपने धर्म के सिद्धान्त का आरोप करते हैं। ३—व्यवहार, जहाँ दो-तीन व्यक्ति अलग-अलग हास्योत्पादक स्वगत संवाद कहते हैं। ४—विप्रलम्भ, जहाँ भूत-प्रेत के प्रवेश या बहाने से छल किया जाय। ५—उपपत्ति, जहाँ किसी प्रसिद्ध वाक्य को लोक-प्रसिद्ध उक्ति के द्वारा हास्यास्पद बना दिया जाय। ६—भय, जहाँ नगर-रक्षकों आदि के कारण उत्पन्न भय को दूर करने के लिए पाखण्ड रचा जाय। ७—अनृत, जहाँ अपने मत की झूठी स्तुति की जाती हो। ८—विभ्रान्ति, जहाँ वस्तु-साम्य से मन में भ्रम होना दिखाया जाय, जैसे एक प्रहसन में किसी सुन्दरी को देखकर बौद्ध भिक्षुक को

किसी नगरी का भ्रम हो जाता है। ९—गद्गद वाक्य, झूठे रोदन से मिले हुए कथन को गद्गद वाक्य कहते हैं। १०—प्रलाप, अयोग्य का योग्यता से अनुमोदन करना।

धनंजय ने इन वीथ्यंगों का प्रयोग प्रस्तावना के अन्तर्गत माना है किन्तु यह उनका भ्रम है। वास्तव में इन वीथ्यंगों और प्रहसनांगों का प्रयोग तो नाटक के ही भीतर होना चाहिए, प्रारम्भ में नहीं। प्रस्तावना में भारती वृत्ति का प्रयोग करने का यही तात्पर्य है कि प्रस्तावना में शब्द-वृत्ति या भारती वृत्ति होनी चाहिए, अर्थात् जितना कुछ कहलाना हो वह सब बातचीत के द्वारा हो, उसमें अन्य क्रियाएँ न हों। वीथी और प्रहसन के अंगों का प्रयोग नाटक के बीच में ही कराना चाहिए, जिससे नाटकीय कुतूहल का निर्वाह किया जा सके, क्योंकि संस्कृत के किसी भी नाटक की प्रस्तावना में इन अंगों का प्रयोग नहीं किया गया है। इसके अतिरिक्त वीथी और प्रहसन स्वतः रूपक के भेद हैं। उनमें स्वतंत्र रूप से वीथी और प्रहसन के उपर्युक्त अंगों का निश्चय ही प्रयोग किया जा सकता है और वह अवश्य ही सफल भी होगा—

प्रस्तावना के अन्य प्रकार

आजकल प्रस्तावना के और भी अनेक प्रकार हो गये हैं—

१—नेपथ्य से नाटक की कथा सुना देना। २—जहाँ से नाटक की कथा प्रारम्भ होने वाली है उससे पूर्व का प्रसंग बताकर दर्शकों के मन में नाटक देखने की उत्सुकता भर देना। ३—दो साधारण पात्र प्रस्तुत करते हुए उनके द्वारा नाटकीय कथा की जिज्ञासा उत्पन्न करके उस वार्तालाप के परिणाम-स्वरूप नाटक आरम्भ कराना। ४—रंगमंच पर एक विशेष प्रस्तोता व्यवस्थित करके नाटक के सम्बन्ध में ज्ञातव्य बातें कहला देना जैसे यूरोपीय नाटकों में पूर्व-कथन (प्रोरोग) होता है।

५—एक ऐसी प्रतीकात्मक घटना प्रस्तावना रूप में प्रदर्शित करना जो प्रस्तुत नाटक के परिणाम की बोधक हो, जैसे एक नाटक की प्रस्तावना में एक साँड़ चीनी बरतनों की दुकान में घुसकर सब तोड़-फोड़ डालता है। इससे दर्शकों को यह इंगित मिल जाता है कि नाटक का परिणाम इसी प्रकार का होगा कि कोई उद्दण्ड या प्रचण्ड व्यक्ति पशुबल के सहारे समाज का संहार करता है। किन्तु यह प्रणाली अत्यन्त निषिद्ध है क्योंकि इससे परिणाम के कौतूहल की सद्यः निवृत्ति हो जाती है।

६—सूत्रधार-नटी या केवल सूत्रधार के द्वारा प्रस्तावना कराना।

७—कोई आकस्मिक घटना दिखाकर नाटक प्रस्तुत करना।

८—प्रस्तावना में सम्पूर्ण नाटकीय पात्रों को उनके चरित्र के अनुरूप स्थिर मुद्रा

में प्रस्तुत करके उनका इस प्रकार परिचय देना कि नाटकीय कथा के विषय का आभास मिल जाय, जैसे अभिनव-भरत के 'देवता' नाटक में है।

प्रस्तावना का विषय

प्रस्तावना चाहे जिस ढंग से भी की जाय किन्तु उसमें तीन बातों का मुख्य रूप से संकेत होना चाहिए ; १—नाटक की कथा का, जिसमें नाटक की मूल कथा तो न आये किन्तु उतनी दूर तक की कथा अवश्य आ जाय जहाँ से नाटक प्रारम्भ होनेवाला हो। २—यदि प्रधान नायक लोक-प्रसिद्ध न हो तो उसका भी परिचय दे देना चाहिए किन्तु उसके जीवन की जो कथा नाटक में दी जानेवाली हो वह न बतायी जाय। ३—कवि का परिचय भी मिल जाय। बहुत से लोगों का मत है कि प्रस्तावना में कवि का परिचय नहीं देना चाहिए किन्तु यह अत्यन्त भ्रामक मत है। अन्य सब प्रकार के ग्रन्थों के प्रारम्भ में भूमिका लिखकर कवि अपनी प्रशंसा या अपनी मनोभावना व्यक्त कर लेता है किन्तु नाटक में उसे प्रस्तावना में ही अवसर मिलता है। नाटयशाला के बाहर विज्ञापनों में दिये हुए कवि के नाम से उसे संतोष नहीं होता। किन्तु दर्शकों के सम्मुख कवि का जो वर्णन दे दिया जाता है उससे यशःप्रार्थी कवि को बहुत मानसिक सन्तोष मिलता है और वह सन्तोष उसके प्रोत्साहन के लिए अत्यन्त आवश्यक भी है। ध्यान रखने की बात केवल यही है कि प्रस्तावना में द्रष्टव्य नाटकीय कथा-वस्तु का कोई अंश नहीं आना चाहिए। इसके अतिरिक्त अवसर, पोषक या संरक्षक का परिचय तथा दर्शकों की प्रशंसा भी प्रस्तावना में आ सकती है। मुख्य बात यह है कि प्रस्तावना इस प्रकार समाप्त होनी चाहिए कि उसके उपसंहार से नाटक प्रारम्भ हो जाय।

घटना, संवाद, प्रवेश, निर्गम

नाटक में संवाद की अपेक्षा कार्य या व्यापार अधिक होना चाहिए। प्रति एक-डेढ़ मिनट के संवाद के पश्चात् उठना, जाना, आना, चलना, लड़ना-झगड़ना, कुछ लाना, रखना, रूठना, मनाना, किसी पात्र का प्रवेश, निर्गम आदि कुछ न कुछ ऐसा कार्य या ऐसी चेष्टा निरंतर होती रहनी चाहिए कि कोरे संवाद की नीरसता के कारण दर्शकों का जी न ऊबे। बहुत से नाटककार भ्रम से संवाद को ही नाटक समझते हैं किन्तु नाटक मुख्यतः दृश्य-व्यापार है, उसमें श्रव्यता गौण है।

विशेष नाटक-ग्रथन

साधारण नाटक के अतिरिक्त कुछ विशेष प्रकार के नाटक होते हैं जिनके ग्रथन का प्रकार कुछ भिन्न होता है।

नाट्य-नृत्य

नाट्य-नृत्य के रचना-विधान में दो अंग होते हैं—१. कथा, २. नृत्य-संकेत। नाट्य-नृत्य में प्रस्तुत की जाने वाली वस्तु के कथा-अंग में अत्यन्त काव्यमयी, प्रभावमयी किन्तु स्पष्ट और सरल भाषा में पहले किसी वाग्विदग्ध सूत्रधार अथवा विशेष व्यक्ति (स्थापक या प्रस्तोता) द्वारा कहलाने के लिए कथा लिखी जाती है। दूसरे अंग में वाद्य-संकेत, ताल-संकेत, नृत्त-नृत्य-संकेत दिये जाते हैं, अर्थात् यह क्रम बताया जाता है कि कथा की किस घटना को किस प्रकार के नृत्त द्वारा किस वाद्य के साथ, किस राग, ताल और गति के सहारे प्रस्तुत किया जाय। इस प्रकार के नाट्य में सारी कथा नृत्य (भाव-मुद्रा) और नृत्त (ताल-गति) के साथ प्रस्तुत कर दी जाती है।

गीति-नाट्य (ओपेरा)

गीति-नाट्य के निम्नलिखित अंग होते हैं—प्रस्तावना, कथा, संवादाभिनय, गीत तथा नर्तन।

गीति-नाट्य में सब कुछ गीतों में होता है। ये गीत अभिनेता नहीं गाते वरन् एक गायक-मण्डली गाती है। इस गायक-मण्डली में प्रत्येक पात्र के प्रतिनिधि गायक होते हैं जो उस-उस पात्र के संवाद या अभिनय का अंश गाते हैं और पात्र केवल गीत के भाव का अभिनय करते हैं। इस संवाद के अतिरिक्त जितना कथाभाग है उसे या तो गायक-मण्डली गीत द्वारा व्यक्त करती है अथवा एक भावनटी या भावनट आकर नृत्य द्वारा प्रस्तुत करता है। अतः इसके प्रदर्शन-विधान में तीन दल होते हैं—१. अभिनेता, २. भावनट या भावनटी अथवा कथाभिनेता और ३. गायक-वादक-मण्डक के दो मंडल, जिनमें से एक पात्र के प्रतिनिधि होते हैं दूसरे समवेत गायक। गीति-नाट्य की प्रस्तावना में भावनटी केवल कथा के विषय अर्थात् मुख्य पात्र या घटना का परिचय मात्र गीत-नृत्य के साथ देती है। मुख्य गीति-नाट्य की रचना में कुछ तो गीतिमय संवाद होते हैं, कुछ विभिन्न दृश्यों के बीच की कड़ी जोड़ने वाली कथा होती है, कुछ विशेष अवसरों के मानसिक आवेगों को व्यक्त करने वाले गीत होते हैं और कुछ गीतहीन नृत्य होते हैं। इसका रचना-विधान यह है कि नाटककार को यथास्थान पद्यमय कथा-भाग देकर यह संकेत करना चाहिए कि इसे भावनटी अपने नृत्य द्वारा प्रस्तुत करेगी अथवा गायक ही गायेंगे। इसके संवाद भी गीतिमय होते हैं। इसमें पात्रों का उल्लेख उसी प्रकार होता है जैसे गद्य नाटक में होता है। इसमें जहाँ किसी पात्र का विशेष भावावेग अथवा मानसिक आवेग दिखाना हो वहाँ गीत देना चाहिए और जहाँ संवादहीन उत्सव अथवा विशेष उपद्रव आदि दिखाना हो वहाँ केवल नृत्य का संकेत करना चाहिए कि यहाँ कोमल

अथवा उद्धत नृत्य अमुक ताल में अमुक वाद्यों के साथ किया जाय। यदि कहीं कोई विशेष रंगनिर्देश करना हो कि अमुक व्यक्ति घोड़े पर चढ़कर प्रवेश करता है या युद्ध होता है तो वह गद्य में ही किया जाता है। इसका सर्वश्रेष्ठ उदाहरण अभिनव-भरत का 'सिद्धार्थ' है। इसमें संवाद-विधान अत्यन्त अल्प होना चाहिए।

मूक नाट्य (पेंटोमीम)

मूक नाट्य में दो अंग होते हैं; १—कथा या प्रस्तावना। २—अभिनय। यदि कथा अप्रसिद्ध होती है तो पूरी कथा पहले नेपथ्य से या रंगमंच पर सुना दी जाती है और यदि प्रसिद्ध हो तो उसके सम्बन्ध में उतना कथा-संकेत दे दिया जाता है जितने से कथा-प्रसंग समझने में सुविधा हो। इसमें गीत का पूर्ण अभाव होता है। कथा के क्रमानुसार सब पात्र आ-आकर केवल आंगिक अभिनय के द्वारा कथा व्यक्त करते हैं। बीच-बीच में आवश्यकता-वश यदि नर्तन का विधान हो तो उसके साथ वाद्य का प्रयोग होता है और यों भी मौन की एकरसता भंग करने के लिए भावानुसार पक्षवाद्य, पृष्ठ-संगीत या वाद्य-ध्वनि सुनाई देती रहती है। इसके लिए यह अवश्य संकेत कर देना चाहिए कि कब-कब किस-किस राग-ताल और लय में कौन से वाद्य बजाने चाहिए।

पृष्ठ-संवाद-नाट्य या अनुनाट्य (प्रो-डायलौग ऐक्शन)

पृष्ठ-संवाद-नाट्य या अनुनाट्य तथा साधारण नाटक की रचना में कोई अन्तर नहीं होता, केवल उसके प्रस्तुत करने के ढंग में यह अन्तर हो जाता है कि साधारण नाटक में संवाद और अभिनय दोनों कार्य अभिनेता ही करते हैं किन्तु पृष्ठ-संवाद का वाचिक अभिनय अर्थात् पाठ तो नेपथ्य में प्रत्येक पात्र के प्रतिनिधि संवाद-पाठक करते हैं और रंगमंच पर पात्रों की भूमिका धारण करने वाले अभिनेता केवल अभिनय करते हैं। इसे नेपथ्य-वाक् (प्ले बैक) भी कह सकते हैं। आजकल अनेक चलचित्र वाले प्राय: संगीत-ज्ञान-हीन अथवा कण्ठहीन सुन्दरी अभिनेत्रियों के गीतों के लिए इसी पद्धति का प्रयोग करते हैं।

श्रव्य नाट्य (रेडियो प्ले या रेडिया फ़ीचर)

यद्यपि नाटक तो दृश्य और श्रव्य दोनों होता है किन्तु रेडियो पर जो नाटक प्रस्तुत किये जाते हैं वे दृश्य-रेडियो (टेलीविज़न) के प्रचलित होने तक तो श्रव्य नाटक ही प्रस्तुत करते रहेंगे। ऐसे श्रव्य नाटकों में चार अंग होते हैं—

१—सूचना, २—संवाद, ३—ध्वनियुक्त व्यापार-योजना, ४—संगीत (गीत-वाद्य तथा नृत्य)।

श्रव्य नाटक की रचना करते समय संवाद के अतिरिक्त शेष सब कार्य एक सूचक के द्वारा बीच-बीच में सूचित कराते रहना चाहिए और इस सूचना की भाषा काव्यमय और प्रभावशाली होने के साथ ही इतनी सरस और सरल हो कि सूचक उसे पढ़ते समय वाचिक स्वर के उतार-चढ़ाव के द्वारा उसके भाव व्यक्त करता चल सके। इसके ग्रथन में रंग-निर्देश तथा संवाद-कार्य ठीक वैसा ही होता है जैसे अन्य साधारण नाटकों में किन्तु संवादों में अधिक से अधिक वाचिक अभिनय का अवसर होता है। इसका तीसरा अंग 'ध्वनियुक्त व्यापार-योजना' ही विशेष ध्यान देने योग्य है। साधारण दृश्य नाटक में तो अभिनेताओं की सारी क्रिया प्रत्यक्ष होती है इस लिए दर्शकों को कोई असुविधा नहीं होती, किन्तु वह उठकर जाता है, चलता है, सोचता है आदि क्रियाएँ न तो श्रव्य नाटक में देखी ही जा सकती हैं, न सूचित ही की जा सकती हैं, क्योंकि उससे भावधारा छूटने की संभावना पग-पग पर बनी रहती है। इसलिए श्रव्य नाटकों में ऐसे ध्वनियुक्त व्यापार की योजना करनी चाहिए जिससे श्रोता उस व्यापार को कान से सुनकर समझ सकें, जैसे प्याले धोना, थाली गिराना, मोटर का भोंपा, चिड़ियों या अन्य जीवों की बोली, किवाड़ की भड़भड़ाहट, घड़ी की टिक-टिक, घंटाध्वनि, घोड़े की टाप, तलवारों की खनखनाहट, पिस्तौल की धाँय-धाँय आदि।

चौथा अंग संगीत तो वैसा ही होता है जैसा अन्य प्रकार के नाटकों में। किन्तु इसमें यह संकेत अवश्य कर दिया जाता है कि कहाँ, किस राग, ताल और लय में, किस वाद्य के साथ नृत्य या गीत या केवल वाद्य अथवा केवल नृत्य हो। इसी प्रकार संवाद, अभिनय, संगीत और भाषा-शैली का आश्रय लेकर अन्य अनेक प्रकार के नाट्यरूपों की सृष्टि भी हुई है जिनका विवरण पिछले अध्याय में दिया जा चुका है।

नाटकीय संवाद

नाटक में जितनी बातें कहलायी जाती हैं वे भूत, भविष्य और वर्तमान तीनों कालों की, सब देशों की और काल्पनिक होती हैं। भूत काल की घटनाओं की या तो सूचना दे दी जाती है या पश्चावर्तन कौशल (फ़्लैश बैक टेकनिक) से दिखा दी जाती हैं। इसमें वे बातें भी होती हैं जो हो रही हों या जिनका प्रारम्भ पहले हो चुका हो या जिनका प्रारम्भ अभी हुआ हो। तीसरी वे बातें होती हैं जो आगे स्वतः होने वाली हों, जिनके होने की सम्भावना हो, जिनके किये जाने की योग्यता हो या जिनके किये जाने का आदेश हो या जो अभी प्रारम्भ होनेवाली हों। प्राचीन नाट्याचार्यों ने सूच्य घटनाओं के लिए

अर्थोपक्षेपकों की योजना की थी और वे प्रवेशक, विष्कम्भक, चूलिका, अंकास्य और अंकावतार के द्वारा भूत और भविष्य की सूचना दे देते थे। आजकल इनका प्रयोग अस्वाभाविक माना जाने लगा है। अब तो भूत घटनाओं की सूचना संवाद के बीच में ही दूसरे किसी प्रकार से दे डालते हैं और उसमें उत्तम, मध्यम और अधम बात का भी विचार नहीं किया जाता। इसी प्रकार आजकल स्वगत-कथन, आकाश-भाषित, अपवारित और जनान्तिक आदि के प्रयोग भी अस्वीकार कर दिये गये हैं। चेतना-धारा (स्ट्रीम ऑफ़ कौंशसनेस) वाले नाटकों में स्वगत-भाषण के समान प्रत्यक्षतः 'उच्च स्वर से सोचने' (लाउड थिंकिंग) की प्रणाली चली है जिसमें किसी व्यक्ति के चिन्तन को ध्वनिविस्तारक यन्त्र द्वारा पीछे से उसी के स्वर को तवे में भरकर सुनवाते हैं। इन नयी प्रकार की चेतना-धारा (स्ट्रीम ऑफ़ कौंशसनेस) या एकाकी अन्तः-प्रवचन का प्रयोग तथ्यातिरेकवादी (सुपर-रीअलिस्ट) नाटकों में अधिक होने लगा है जैसे अभिनव-भरत के 'पाप की छाया' में किन्तु साधारणतः इनका प्रयोग कम होता है।

यूरोप में नाटकीय संवाद तीन रूपों में रूढ हो गये हैं—१. बीसवीं शताब्दी तक संवाद केवल पद्यात्मक रहे, यद्यपि कभी-कभी एलिजाबेथिय नाटकों में साधारण जन और प्रहसन के पात्रों से गद्य भी कहलाया गया। किन्तु आजकल तो कुछ इने-गिने नाटक-कारों को छोड़कर शेष सब गद्य में ही संवाद लिखने लगे हैं। २. दूसरे प्रकार के संवाद बड़े लम्बे-लम्बे और वास्तविक जीवन की व्यावहारिक बातचीत से मिलत-जुलते किन्तु उनकी अपेक्षा अधिक जोड़-तोड़ के और तुले हुए होते हैं अर्थात् कोई एक बात कहता है तो दूसरा भी उसी आवेग में वैसे ही बल से उसी जोड़ की बातचीत करता है। पुनःस्थापन (रेस्टोरेशन) युग के नाटकों के संवाद छोटे और अधिक संतुलित होने लगे। एक पात्र के मुख से एक पद या पंक्ति और उसकी जोड़ में दूसरे के मुख से भी एक कड़ी या एक पंक्ति पर्याप्त और सुन्दर समझी जाने लगी। इन संवादों में जोड़-तोड़ से वाग्वैद-ग्ध्यपूर्ण उत्तर-प्रत्युत्तरों की शृंखला बनी रहती है। ३—तीसरे प्रकार के संवादों में स्वाभाविकता का पूर्ण अभाव होता है। जार्ज बर्नर्ड शा के अधिकांश नाटकों में बड़े लम्बे-चौड़े शास्त्रार्थ हैं जिनसे जी ऊब जाता है और वे कभी-कभी बड़े तीखे भी होते हैं। इसी लिए बर्नर्ड शा के नाटक शास्त्रार्थ-नाटक (डिस्कशन ड्रामा) कहलाते हैं।

किन्तु अच्छे प्रभावशाली नाटकों में प्रत्येक पात्र की योग्यता और अवसर की आवश्यकता के अनुकूल यथासम्भव ऐसी स्वाभाविक बातचीत होनी चाहिए जिसमें जोड़-तोड़ के उत्तर, तुल्य तर्क या शिष्ट पंक्तियाँ होती हैं और इस प्रकार संवाद चलाया जाता है कि आंगिक तथा सात्त्विक अभिनय-व्यापार की अपेक्षा केवल संवाद से ही नाटकीय द्वन्द्वों का निर्वाह हो।

नाटकीय संवाद दो या दो से अधिक व्यक्तियों की उस बातचीत को कहते हैं जिसमें दो या दो से अधिक व्यक्ति प्रसंग, आवश्यकता, योग्यता, परिस्थिति और पद के अनुरूप भाषा में बातें करते हों। शब्द-नाट्य या वाचिक अभिनय की दृष्टि से इस भाषा के चार प्रकार होते हैं–१—जिसका अर्थ सम्बोध्य (जिसको सम्बोधन किया जाय अर्थात् सुनने वाला) व्यक्ति ठीक समझ ले। २—जिसका अर्थ सम्बोध्य व्यक्ति उलटा समझे। ३—सम्बोध्य व्यक्ति के अतिरिक्त रंगमंच पर उपस्थित अन्य पात्र तो ठीक समझें किन्तु सम्बोध्य व्यक्ति या तो न समझे या उलटा समझे। ४—जहाँ कई व्यक्तियों के बीच कही हुई बात निर्दिष्ट व्यक्ति ठीक समझ लें और अन्य व्यक्ति या तो न समझें या उलटा समझें। संवाद को कुतूहलजनक बनाने के लिए प्रायः नाटककार इसी चौथी प्रकार की शब्दावली का प्रयोग करते हैं। कहीं-कहीं ऐसी श्लिष्ट पदावली का भी प्रयोग किया जाता है जहाँ दोनों अर्थ स्पष्ट तथा सार्थक हों और जहाँ वक्ता और सम्बोध्य दोनों ही दोनों अर्थों को ग्रहण करते हों। शेक्सपियर के जूलियस सीज़र नाटक के प्रारम्भ में एक चर्मकार कहता है, मैं बिगड़ों की मरम्मत करता हूँ, इसमें 'बिगड़े जूतों की मरम्मत करना' और 'बिगड़े हुए राज-पुरुषों की मरम्मत करना' दोनों अर्थ ध्वनित होते हैं और दोनों अर्थों को राजपुरुष ग्रहण भी करता है। अतः नाटकीय संवाद के शब्द या वाक्य में ही इष्ट अर्थ होता है, वह चाहे एक हो या अनेक और इसी प्रकार बोध्य अर्थ भी सम्बोध्य व्यक्ति की योग्यता, बाह्य परिस्थिति, मनःस्थिति तथा प्रसंग के अनुसार एक या अनेक हो जाते हैं।

अभिनव-भरत का मत है कि नाटककार के जिस इष्ट अभिप्राय तथा भाव को अभिनेतागण अपने अभिनय के द्वारा दर्शकों या सामाजिकों के हृदय तक पहुँचाकर उसका विभावन करा देते हैं वहाँ उन सामाजिकों के हृदय तक पहुँचा हुआ भाव ही संवाद का वास्तविक अर्थ होता है।

कभी-कभी किसी उन्मत्त, सनकी, अर्धनिद्रित, रुग्ण या पीड़ित व्यक्ति के प्रलाप या चीत्कार अथवा नेपथ्य से की हुई पुकार, कोलाहल या वाणी का भी प्रयोग किया जाता है। कुछ रहस्यात्मक नाटकों में आकाशवाणी आदि अलौकिक कारणों से उद्-भूत शब्दों और वाक्यों का भी प्रयोग होता है। इस संपूर्ण आवश्यक और अपरिहार्य वाक्-संयोग को ही नाटकीय संवाद कहते हैं। इन सब संवादों की प्रकृति पात्रों की योग्यता, मर्यादा और मानसिक स्थिति के अनुकूल रखी जाती है, किन्तु नाटकीय संवाद उतना ही होना चाहिए जितने से कथा का प्रसार, पात्रों का चरित्र और घटनाओं का क्रम तथा स्वरूप स्पष्ट हो। इससे अधिक संवाद को वार्तालाप, शास्त्रार्थ, वाद-विवाद, तर्क-वितर्क तो कह सकते हैं, नाटकीय संवाद नहीं।

सम्बोधन

नाटक में कोई वाक्य कहने से पूर्व सम्बोध्य व्यक्ति को उसके पद के अनुसार सम्बोधन किया जाता है। भारतीय शिष्टाचार में निम्नांकित सम्बोधनात्मक शब्द रूढ हो गये हैं।

निर्देशक	निर्दिष्ट	निर्देश-वचन
सभी देवता	मुनि, संन्यासी बहुश्रुत	भगवन्
	उनकी स्त्रियाँ	भगवती
	ब्राह्मण	आर्य
	वृद्ध	तात
	उपाध्याय	आचार्य
	गणिका	अज्जुका
	भूपाल	महाराज
	विद्वान्	भाव
ब्राह्मण	नराधिप	नाम लेकर या राजन्
परिजन	नृपति	भट्ट, भट्टारक
भृत्य, प्रजा	नृपति	देव
मुनि	नृपति	राजन्, अथवा अपत्य-प्रत्यय लगाकर, जैसे पृथा के पुत्र को पार्थ, गंगा के पुत्र को गांगेय, दशरथ के पुत्र को दाशरथि
विदूषक	राजा	सखे, राजन्
ब्राह्मण	सचिव	अमात्य, सचिव
सारथि	रथी	आयुष्मन्, आर्य
	साधु, महात्मा	तपस्विन्, साधो
	युवराज	स्वामिन्
	भगिनीपति	आवुत्त
परिचारक	रानी	भट्टिनी, स्वामिनी
राजा	महिषी	देवी, भट्टारिका
राजा	अन्य रानियाँ	देवी, प्रिया

निर्देशक	निर्दिष्ट	निर्देशवचन
पुत्र	पिता	तातपाद
पुत्र	माता	अम्ब
लघु भ्राता	ज्येष्ठ भ्राता	आर्य
पुत्र	माता	आर्या

समान के प्रति निर्देश-वचन

पुरुष	पुरुष	वयस्य
स्त्री	स्त्री	हला, सखी

कनिष्ठ के प्रति निर्देश-वचन

गुरुजन	पुत्र, शिष्य आदि	दीर्घायु, वत्स, पुत्र, तात
गुरुजन	अन्य जन	शिल्प अथवा अधिकार का नाम लेकर या भद्र, भद्रमुख
स्वामी	नीच	हंडे
	दासी	हंजे
	भृत्य	नाम लेकर

इस युग के नाटककार उपर्यंकित प्रकार से सम्बोधन नहीं करते। साधारणतः ये सब सम्बोधन अब सभी देशों में निम्नांकित पाँच प्रकार से किये जाते हैं—

१. पद के अनुसार, जैसे महाराज, गुरुजी आदि। २. अवस्था के अनुसार, जैसे ओ लड़के, ए बुढ़िया आदि। ३. सम्बन्ध के अनुसार, जैसे पिताजी, माताजी, भाई जी आदि। ४. व्यवसाय के अनुकूल, जैसे ओ तरकारी वाले, वकील साहब आदि। ५. साधारण लोक-व्यवहार के अनुसार, जैसे बड़ी स्त्रियों को माताजी, समान अवस्था की स्त्रियों को बहन जी और लड़कियों को बेटी, ब्राह्मण को पण्डितजी, क्षत्रियों को ठाकुर साहब या बाबू साहब, वैश्यों को साहुजी या सेठजी या लालाजी और शूद्रों को चौधरी या सरदार। इसके अतिरिक्त कुछ अनुद्दिष्ट सम्बोधन होते हैं जैसे अरे, अजी, ओ, ए आदि। कुछ अशिष्ट सम्बोधन भी होते हैं जैसे अबे, बे, क्यों बे आदि। कभी क्रोध में आकर गधे, उल्लू, सूअर, साले, ससुरे आदि गालियों का प्रयोग करके संबोधन किया जाता है। कभी-कभी स्नेह, सम्मान और आत्मीयता में लल्ला, मुन्ना, बच्चा, लाल, प्यारे, प्रियतम, प्रिये, साजन, बालम आदि सम्बोधन भी होते हैं। कुछ शब्द देश-

भेद के अनुसार सम्बोधन में प्रयुक्त होते हैं, जैसे काशी में 'गुरु' शब्द, सिन्धी में 'साईं' आदि।

आचार-सूचक वाक्य

सम्बोधन के पश्चात् लौकिक शिष्टाचार के अनुसार नमस्कार-प्रणाम और कुशल-मंगल के लिए शब्दों तथा वाक्यों का प्रयोग होता है, जैसे बड़ों को प्रणाम, समान को नमस्कार और छोटों को चिरंजीव हो, आयुष्मान् हो या जियो। कहीं-कहीं लोकाचार के अनुसार राम-राम, जयरामजी की, जय सियाराम, जय श्री कृष्ण, जय शिव, पालागन, दण्डवत, आदाबअर्ज़, तस्लीमातअर्ज़, सलामवालेकुम, गुड मौर्निंग, गुड ईवनिंग या गुड नाइट का भी प्रयोग करते हैं। सौभाग्यवती स्त्रियों को सावित्री भव, या बूढ़ सोहागिन हो और लड़कियों को स्वस्तिमती हो कहने का शिष्टाचार है। नाटकों में इस अभिनन्दन-शिष्टाचार का यथावसर अवश्य प्रयोग करना चाहिए।

भाव के अनुसार वाक्य

साधारणतः वाक्य दो प्रकार के होते हैं—विधिवाची और निषेधवाची। 'मैं जा रहा हूँ' यह विधिवाची वाक्य है और 'मैं नहीं जा रहा हूँ' यह निषेधवाची है। कभी-कभी सम्बोध्य व्यक्ति से कोई निश्चित कार्य कराने के लिए विधिमुखेन प्रवृत्ति भी करायी जा सकती है, जैसे 'आप कृपा कर मेरा यह काम अवश्य कर दीजिए' और निषेधमुखेन प्रवृत्ति भी, जैसे 'आप भला मेरे लिए यह काम नहीं करेंगे ?'

वाक्य की एक तीसरी काकु प्रवृत्ति या बोलने के ढंग की प्रवृत्ति होती है, जैसे—'अच्छा! आप थे?' इसकी अर्थ-व्यंजना बोलने के ढंग पर अवलंबित होती है। ये वाक्य भी प्रश्नवाची और पूर्तिवाची दो प्रकार के होते हैं और ये सभी विधि-निषेधात्मक होते हैं। इन सभी प्रकार के वाक्यों में यही ध्यान रखना चाहिए कि निर्दिष्ट प्रभाव उत्पन्न करने के लिए किस प्रकार के, कौन से शब्द, किस क्रम से रखे जायँ। जैसे 'मैं तुम्हें जानता हूँ', 'मैं जानता हूँ तुम्हें', 'तुम्हें मैं जानता हूँ' और 'तुम्हें जानता हूँ मैं', ये चारों वाक्य चार विभिन्न भावों की व्यंजना करते हैं।

नाटक में अन्य अनेक भावों के अनुसार वाक्यों का प्रयोग होता है, जैसे सूचना, विनय, प्रश्न, समर्थन, आदेश, सम्मति, शिक्षा, उपदेश, ताड़न, तर्जन, समाह्वान, ललकार, अधिकार-कथन, प्रार्थना, अनुरोध, आग्रह, अभ्यर्थना, लालसा, कामना, अनुनय, व्यग्रता, उन्माद, हास, परिहास, उपेक्षा, व्यंग्य, चाटुकारिता, ग्लानि, शंका, असूया, उत्साह, उल्लास, श्रम, आलस्य, विषाद, चिन्ता, स्मृति, विचार, तर्क, क्षोभ,

आक्रोश, शाप, वरदान, निन्दा, अपमान, आदर, उत्सुकता, दीनता, हर्ष, घृणा, रोष, चपलता, स्तुति, प्रशंसा, वितर्क, भय, संकोच, विस्मय, उपालम्भ, प्रेम-प्रदर्शन, आह्वान, आवाहन, पुचकार, लालन, बहलाना, चतुर-वचन, (अवस्थाओं और भावों में) फुसलाना, बहकाना, प्रवंचना, छल, धूर्तता, स्पष्टवादिता, प्रियवादिता, कूटवादिता, प्रपंच, पांडित्य-प्रदर्शन, आक्रन्द, आक्रोश, कलह, शोक-पीड़ा आदि। नायक-नायिका तथा पात्रों की प्रवृत्ति, प्रकृति, परिस्थिति, अवसर, मर्यादा और उद्देश्य के अनुसार उपर्युक्त विभिन्न भावों और कार्यों के अनुकूल वाक्यों का प्रयोग तथा पात्र की प्रकृति के अनुकूल भाषाशैली की योजना करनी चाहिए। कुछ अनुभवी नाटककारों ने अपने पूरे नाटक की भाषा-शैली एक सी रखी है। इससे पात्रों का चरित्र अस्वाभाविक हो जाता है और रसानुभूति में बाधा पड़ती है।

संवाद-योजना

संवाद-योजना के संबंध में निम्नांकित सिद्धान्त सर्वमान्य हैं—

१. संवाद स्वाभाविक हो अर्थात् पात्र की प्रकृति और परिस्थिति के अनुरूप हो।

२. संवाद उतना ही हो, जितने से कथा का विस्तार और नाटकीय चरित्रों का विकास हो।

३. भाषा लोकबोध्य हो, उसमें दार्शनिक तथा पारिभाषिक शब्दों के प्रयोगों और विषयों का विवेचन न हो।

४. संवादों में जोड़-तोड़ के उत्तर-प्रत्युत्तर हों जिनसे संवाद में सजीवता आये। केवल विभिन्न व्यक्तियों के वक्तव्य, बातचीत या शास्त्रार्थ-मात्र न हों।

५. संवाद लम्बे न हों, केवल उतने ही हों, जितने उस परिस्थिति में आवश्यक, अनिवार्य और स्वाभाविक हों।

६. संवाद निरन्तर दो या तीन व्यक्तियों के बीच में ही नहीं चलता रहना चाहिए। उसमें थोड़ी-थोड़ी देर के पश्चात् नये पात्रों के प्रवेश और पुरानों के निष्क्रमण के साथ ही आंगिक व्यापार होता रहना चाहिए, जैसे--उठना, बैठना, घूमना, फूल चुनना, कुछ उठाना, रखना आदि।

७. संवादों में आंगिक और सात्त्विक अभिनय के लिए तथा मौन द्वारा भाव व्यक्त करने के लिए भी पर्याप्त अवकाश रहना चाहिए, अर्थात् संवाद केवल वाचिक मात्र न हों।

संवाद के लक्षण

भरत ने अपने नाट्यशास्त्र के सत्रहवें अध्याय में संवाद के निम्नांकित लक्षण बताये हैं, जिन्हें उन्होंने काव्यविभूषण या काव्य का अलंकार बताया है—

"भूषण, अक्षर-संहति, शोभा, उदाहरण, हेतु, संशय, दृष्टांत, प्राप्ति, अभिप्राय, निदर्शन, निरुक्ति, सिद्धि, विशेषण, गुणातिपात, अतिशय, तुल्यतर्क, पदोच्चय, दृष्टि, उपदिष्ट, विचार, विपर्यय, भ्रंश, अनुनय, माला, दाक्षिण्य, गर्हण, अर्थापत्ति, प्रसिद्धि, पृच्छा, सारूप्य, मनोरथ, लेश, क्षोभ, गुणकीर्तन, सिद्धि और प्रियवचन—इन छत्तीस विभूषणों का प्रयोग काव्य-बन्ध अर्थात् रूपककाव्य-रचना में करना चाहिए। जो वाक्य बहुत-से अलंकारों और गुणों से सजा हुआ और विचित्र अर्थों से भरा हुआ हो उसे भूषण कहते हैं। जिस वाक्य में थोड़े ही श्लेषभरे अक्षरों से कुछ विचित्र बात कह दी गयी हो वहाँ अक्षर-संहति होती है। जहाँ सिद्ध अर्थों के साथ असिद्ध अर्थ भी निकाला जाता हो और वह विशिष्ट अर्थ श्लेष से भरा हो वहाँ शोभा होती है। जब थोड़े ही अर्थ वाले वाक्यों के प्रयोग से चतुर लोग अपनी-अपनी बात कह जाते हैं उसे उदाहरण कहते हैं। जहाँ अपने मन का अर्थ व्यक्त करने वाला संक्षेप में कहा हुआ वाक्य ऐसा आकर्षक हो कि उसमें अपना प्रयोजन सिद्ध करने की समर्थता हो वहाँ हेतु होता है। जहाँ कोई वाक्य इस प्रकार समाप्त किया जाय कि उसमें एक ही बात अनेक प्रकार से विचारी गयी हो वहाँ संशय होता है। सब लोगों को अच्छा लगने वाला, अलग-अलग पक्षों के अर्थ को और कारण को स्पष्ट करने वाला वाक्य दृष्टांत कहलाता है। जहाँ किसी बात के कुछ अंगों को देखकर उसके भाव का अनुमान कर लिया जाता है वहाँ प्राप्ति अलंकार होता है। जहाँ समानता के कारण किसी नये मनोहर अर्थ की कल्पना कर ली जाती है वहाँ अभिप्राय होता है। जहाँ प्रसिद्ध अर्थों की गिनती की जाती है और पिछले अर्थ की अपेक्षा अगले अर्थ को महत्त्व दिया जाता है वहाँ निदर्शना होती है। जहाँ पिछले अस्पष्ट वाक्य के स्पष्टीकरण के लिए कोई वचन कहा जाता है उसे निरुक्ति कहते हैं। जहाँ बहुत से प्रयुक्त नामों का वर्णन करके कोई इष्ट अर्थ निकाला जाता है वहाँ सिद्धि होती है। जहाँ बहुत से सिद्ध और प्रधान अर्थ वाले शब्दों और वाक्यों का प्रयोग करके कोई विशेष भाव-युक्त वचन व्यक्त किया जाता है वहाँ विशेषण होता है। जहाँ अनेक प्रकार के गुण वाले और विपरीत अर्थ वाले शब्दों से मधुर और निष्ठुर दोनों अर्थ निकलें वहाँ गुणातिपात होता है। जहाँ सामान्य मनुष्यों में होने वाले बहुत से गुणों का वर्णन करके किसी एक की बड़ाई की जाय वहाँ अतिशय होता है। जहाँ समान अर्थवाले रूपकों और उपमानों से ऐसे अर्थ व्यक्त किये जायँ जिनसे सहसा विश्वास न हो सके उसे तुल्यतर्क कहते हैं। जहाँ बहुत से शब्दों से युक्त बहुत से वाक्यों का प्रयोग हो और सबका अर्थ भी समान ही हो उसे पदोच्चय कहते हैं। जो बात देश-काल और रूप के अनुसार प्रत्यक्ष या परोक्ष कही जाय उसे दृष्टि कहते हैं। जहाँ किसी शास्त्र के अर्थ को ग्रहण करके विद्वत्तापूर्ण मनोहर वाक्य कहा जाता है

उसे उपदिष्ट कहते हैं। जहाँ पहले कही हुई बातों के समान अर्थों से भरा, प्रत्यक्ष अर्थ साधने वाला और अनेक प्रकार के तर्क-वितर्क से युक्त वाक्य हो उसे विचार कहते हैं। जहाँ पहले से चली हुई बात से भिन्न और सन्देश से युक्त अर्थ प्रकट किया जाय वहाँ अर्थ-विपर्यय होता है। जहाँ वाच्य या प्रत्यक्ष अर्थ को छोड़कर अनेक प्रकार से कुछ अर्थ की प्रतीति करायी जाय वहाँ भ्रंश होता है। जहाँ दो व्यक्तियों में परस्पर प्रीति उत्पन्न करने वाले, एक दूसरे के विरोध को शान्त करनेवाले अर्थ की साधना हो वहाँ अनुनय होता है। जहाँ इच्छित अर्थ की अभिव्यक्ति के लिए अनेक प्रयोजनों की गिनती करा दी जाय उसे माला कहते हैं। जहाँ प्रसन्न होकर दूसरे के कथनानुसार क्रिया या चेष्टाएं की जायँ वहाँ दाक्षिण्य होता है। जहाँ दोषों की गिनती करते हुए अर्थ-गुण प्रकट किया जाता है वहाँ गर्हण होता है। जहाँ किसी दूसरे अर्थ की अभिव्यक्ति कराते हुए कोई दूसरा ही माधुर्ययुक्त अर्थ प्रकट हो, वहाँ अर्थापत्ति होती है। जब वाक्य और अर्थ को सजानेवाले अतिरंजित और लोक-प्रसिद्ध वाक्यों से कोई बात कही जाय, तब वह लोक-प्रसिद्ध कहलाती है। जहाँ मूल वाक्यों से अपनी या दूसरे की कोई बात पूछी या समझी जाय उसे पृच्छा कहते हैं। जहाँ देखी, सुनी और अनुभव की हुई बातों को इस ढंग से कहा जाय कि वह प्रत्यक्ष सी जान पड़े उसे सारूप्य कहते हैं। जहाँ अपने मन की कोई छिपी हुई बात किसी दूसरे को लक्ष्य करके व्यक्त कर दी जाय वहाँ मनोरथ होता है। जहाँ शास्त्रार्थ की कला में कुशल लोग कौशल से इस प्रकार कहते हैं कि उससे समान अर्थ ही प्रकट होता हो वह लेश कहलाता है। जहाँ दूसरों के दोषों की अपेक्षा विचित्र प्रकार से अपना वर्णन किया जाय या किसी अन्य अदृष्ट व्यक्ति का वर्णन हो उसे दोष कहते हैं। समाज में जब हम एक ही व्यक्ति का, उसके वास्तविक गुणों के अतिरिक्त गुणों का नाम ले-लेकर वर्णन करते हैं तो उसे गुण-कीर्तन कहते हैं। जहाँ किसी वाक्य के आरम्भ मात्र में उसका पूरा अर्थ प्रतीत हो जाता है वही सिद्धि कहलाती है। जब प्रसन्न मन से किसी पूज्य व्यक्ति की पूजा करने या प्रसन्नता व्यक्त करने के लिए कोई वाक्य प्रयुक्त होता है तब वह प्रियोक्ति कहलाता है। नाटककारों का धर्म है कि ऊपर जो ३६ काव्य के विभूषण बताये गये हैं उनका प्रयोग वे जहाँ आवश्यक हो वहाँ अवश्य करें।"

नाट्यशास्त्र के एक दूसरे ग्रंथ में विभूषण, अक्षर-संहति, शोभा, अभिमान, गुण-कीर्तन, प्रोत्साहन, उदाहरण, निरुक्ति, गुणानुवाद, अतिशय, हेतु, सारूप्य, मिथ्याध्यवसाय, सिद्धि, पदोच्चय, आक्रन्द, मनोरथ, आख्यान, यांञ्चा, प्रतिषेध, पृच्छा, दृष्टान्त, भाषण, संशय, आशीर्वाद, प्रिय-वचन, कपट, क्षमा, प्राप्ति, पश्चात्ताप, अर्थानुवृत्ति,

उपपत्ति, युक्ति, कार्य, अनुनीति, परिदेवन, ये छत्तीस लक्षण लिखे हैं और कहा गया है कि रस के अनुसार इनका प्रयोग होना चाहिए।

संवाद के वाक्यों की व्याख्या करते हुए ऊपर बताया जा चुका है कि भावों के अनुसार इतने प्रकार के वाक्य कहे जा सकते हैं कि उनकी कोई निश्चित गणना नहीं की जा सकती। कभी-कभी एक ही प्रकार का भाव मनुष्य के सात्त्विक, राजस और तामस स्वभाव के अनुसार भिन्न-भिन्न रूप धारण कर लेता है। सात्त्विक प्रकृति वाला व्यक्ति किसी बात पर खीझकर कहेगा—क्षमा कीजिए, मैं आप से शास्त्रार्थ नहीं करना चाहता। राजसी प्रकृति का व्यक्ति क्षुब्ध होकर कहेगा—'अब यदि आप ऐसा कहेंगे तो बुरा होगा'। तामसी प्रकृति का व्यक्ति क्षुब्ध होकर हाथ चला देगा और कहेगा—'फिर तो कह।' इस प्रकार जितने भी संवाद होते हैं उनमें वक्ता और सम्बोधन की प्रकृति के अनुसार वाक्य की रचना करनी चाहिए, चाहे उन वाक्यों में सम्बोधन, प्रश्न, उत्तर, सहमति, सन्देश, निर्देश, आदेश, उपदेश, अभ्यर्थना, प्रार्थना, दैन्य-प्रदर्शन, चाटुकारी, विषाद, क्षोभ, तर्जन, आक्रोश, शाप, क्रोध, व्यंग्य, विनोद, हास, परिहास, उपहास, उल्लास, प्रेमालाप, मंत्रणा, षड्यंत्र, कूटालाप, मिथ्यालाप, विलाप, प्रलाप, स्वप्नालाप, याञ्चा, मुग्धालाप, वाचालता, शास्त्रार्थ, कलह, छिद्रान्वेषण, आश्चर्य, भय, व्याकुलता, करुणा, घृणा, सन्देह, उत्साह, क्षमा, सन्ताप आदि कोई भी दशा या भाव क्यों न हो।

अलंकार

अन्य काव्य-शास्त्रों में काव्य के जिन अनेक गुणों और अलंकारों का वर्णन किया है और जिनका प्रयोग संवाद में शक्ति भर सके उनका प्रयोग करना ही चाहिए। भरत ने अपने नाट्यशास्त्र में केवल 'उपमा, रूपक, दीपक और यमक' ये चार ही अलंकार नाटक के लिए उपयोगी माने हैं, किन्तु इनके अतिरिक्त अन्य शास्त्रकारों ने उल्लेख, उत्प्रेक्षा, अतिशयोक्ति, तुल्ययोगिता, दीपिका-वृत्ति, निदर्शना, विनोक्ति, समासोक्ति, परिचय, परिकरांकुर, श्लेष, अप्रस्तुत-प्रशंसा, प्रस्तुतांकुर, पर्यायोक्ति, व्याजस्तुति, व्याज-निन्दा, आक्षेप, विरोधाभास, विभावना, विशेषोक्ति, असम्भव, असंगति, विषम, विचित्र, अधिक, अल्प, विशेष, व्याघात, कारण-माला, एकावली, सार, पर्याय, परिवृत्ति, परिसंख्या, विकल्प, कारक, दीपक, समाधि, प्रत्यनीक, पूर्वरूप, तद्गुण, असद्गुण, अनुगुण, मीलित, सामर्थ्य, उन्मीलित, विशेपक, गूढ़ांतर, सूक्ष्म, पिहित, व्याजोक्ति, गूढ़ोक्ति, विशेषोक्ति, युक्ति, लोकोक्ति, छेकोक्ति, वक्रोक्ति, स्वभावोक्ति, भाविक, उदात्त, निरुक्ति, प्रतिषेधनिधि, हेतु आदि अर्थालंकार और अनुप्रास, यमक और श्लेष आदि शब्दालंकारों का भी निर्देश किया है।

काव्य के दोष

यों तो काव्य के बहुत-से दोष काव्य-शास्त्रियों ने गिनाये हैं किन्तु उनमें से तीन बहुत प्रमुख हैं—क्लिष्टत्व, ग्राम्यत्व और अश्लीलत्व। 'गाल' और 'जाँघ' शब्द ग्राम्य दोष के शब्द हैं। इनके बदले कपोल और जंघा का प्रयोग किया जा सकता है। क्लिष्ट शब्द उसे कहते हैं जहाँ दो-तीन शब्दों को मिलाकर ऐसा अर्थ निकाला जाय जो एक शब्द से निकल सकता है, जैसे 'बादल' के लिए तर्वर्यरिप्रद (तरु अरि + अरि + प्रद, अर्थात् तरु के शत्रु अग्नि और अग्नि के शत्रु जल को देने वाला बादल)। नाटक में ऐसे क्लिष्ट शब्दों और वाक्यों का भी प्रयोग नहीं करना चाहिए जो तत्काल सुनते ही श्रोताओं की समझ में न आ सकें।

अश्लीलता के अन्तर्गत तीन बातें आती हैं; घृणात्मक, अमंगलात्मक और जुगुप्सात्मक। घृणात्मक के भीतर 'लिंग' आदि शब्दों का प्रयोग, अमंगलात्मक के अन्तर्गत 'मृत्यु, विनाश' आदि का प्रयोग और जुगुप्सात्मक के अन्तर्गत 'वायु खुलने' आदि का प्रयोग आता है। भरत ने अपने नाट्य-शास्त्र में दस दोष गिनाये हैं–१. अगूढ़—जहाँ गूढ़ अर्थ वाला मूल शब्द कहने के बदले ऐसा पर्याय कह दिया जाय कि उसकी गूढ़ता नष्ट हो जाय। २. अर्थान्तर—जहाँ जिस वस्तु का वर्णन न करना हो वहाँ उस वस्तु का अनावश्यक वर्णन कर देना। ३. अर्थहीन—जहाँ संवाद में असम्बद्ध बातें भरी हों और उसके लिए बहुत बातें की जाती हों। ४. भिन्नार्थ—जहाँ असभ्य और ग्राम्य शब्द या वाक्य हों या जहाँ बीच-बीच में ऐसे वाक्य आ गये हों जो कवि द्वारा अवर्णनीय और इष्ट अर्थ में बाधक हों। ५. एकार्थ—जहाँ एक ही अर्थवाले अर्थात् वाच्यार्थ से युक्त पदों का प्रयोग हो। ६. अभिप्लुतार्थ—जहाँ वाक्य के एक चरण में संक्षेप से कोई बात ऐसी कह दी जाय कि अर्थ स्पष्ट न हो। ७ न्यायादपेत—जहाँ ज्ञान-विज्ञान के विरुद्ध अप्रामाणिक बात कही जाती हो। ८. विषम—जहाँ छन्द में दोष हो। ९. विसन्धि—जहाँ एक-एक शब्द कह-कहकर उसकी विशेषता भी बतलाते चला जाय। १०. शब्दच्युत—जहाँ आवश्यक शब्द छोड़ दिया गया हो।

कभी-कभी ऐसे दोषों का प्रयोग मूर्ख या विदूषक पात्र के पाठ में विनोद के लिए रखा जा सकता है जिससे कि उसके चरित्र का रूप प्रकट हो। अभिनव-भरत का मत है कि असम्बद्ध, निरर्थक, अप्रासंगिक, अश्लील, धाराबाधक, अप्रामाणिक, किसी व्यक्ति, समाज, जाति या राष्ट्र की निन्दा से पूर्ण, अबोध्य तथा अमंगल पदों और वाक्यों का प्रयोग नाटक में नहीं करना चाहिए।

रंग-निर्देश

संवाद के अतिरिक्त भाषा का प्रयोग रंग-निर्देश के लिए किया जाता है। यह रंग-निर्देश अभिनेता, रंग-व्यवस्थापक, प्रकाश-व्यवस्थापक, संगीत-व्यवस्थापक तथा नेपथ्य-व्यवस्थापक के लिए होता है। आजकल बहुत से नाटककारों की प्रवृत्ति लम्बे-लम्बे रंग-निर्देश देने की हो चली है जिससे वे रंगमंच पर प्रस्तुत किये जाने वाले दृश्य, दृश्यपीठ तथा अन्य परीवाप (सामग्री) का इतना विस्तृत विवरण देते हैं कि रंग-व्यवस्थापक के लिए उनका एकत्र करना असंभव हो जाता है और इसी लिए ऐसे नाटक लोग खेल नहीं पाते। रंग-निर्देश का सर्वप्रथम सिद्धान्त यही है कि अभिनय के लिए केवल उन्हीं बातों का निर्देश किया जाय जो नाटकीय कथा-प्रवाह को तथा आंगिक, वाचिक और सात्त्विक अभिनय के द्वारा पात्रों के चरित्रों और व्यापारों को विकसित करने में तथा आहार्य अभिनय के द्वारा उचित रूप धारण करने में अभिनेताओं को सहायता दें।

आजकल के बहुत से नाट्याचार्यों ने रंग-निर्देश के साथ रंगपीठ का मानचित्र देने का विधान चलाया है जिसमें रंगपीठ पर प्रस्तुत की जाने वाली सब वस्तुओं का तथा प्रवेश और निर्गम के विभिन्न द्वारों का विवरण होता है। इस प्रकार के निर्देश और मानचित्र अभिनेता और नाट्य-प्रयोक्ताओं के लिए सहायक होते हैं। किन्तु वर्तमान सामाजिक नाटककारों ने जो लम्बे-चौड़े वर्णनात्मक रंग-निर्देश दिये हैं वे न तो रंग-व्यवस्थापक के लिए ही बहुत सहायक हो सकते हैं और न नाटक के प्रयोजन में ही उनसे बहुत सहायता मिल सकती है। जैसे जार्ज बर्नर्ड शा के 'सीज़र ऐण्ड क्लियोपैट्रा' के प्रथम अंक के प्रथम दृश्य में रंग-विधान तथा अभिनय का निर्देश। वास्तव में नाट्य के प्रयोग में जो व्यापार जिस परिस्थिति में दिखलाया जाने वाला हो उस परिस्थिति के अनुकूल रंगपीठ पर सामग्रियों का संकलन करके उद्दिष्ट प्रकार से सजाने और क्रिया करने के आडम्बरहीन शब्द-संकेत या निर्देश को ही रंग-निर्देश कहते हैं, जैसे संस्कृत नाटकों में प्रवेश, निष्क्रमण तथा अभिनय के सम्बन्ध के निर्देश होते थे।

रंग-व्यवस्थापकों के लिए ये रंग-निर्देश तीन प्रकार के होते हैं—१. रंगपीठ पर दृश्य खुलने से पूर्व रंग-व्यवस्थापक को कौन सा दृश्य या दृश्यपीठ किस सजावट के साथ, कितने प्रकार के पीठासनों तथा अन्य पदार्थों से युक्त करके किस क्रम से रंगपीठ पर स्थापित करना चाहिए। २. नेपथ्य से परदा उठाने-गिराने, बदलने, आँधी, पानी, वर्षा, कोलाहल, घण्टानाद, आकाशवाणी आदि कराने के लिए। ३. अभिनेता भीतर जाकर क्या लाता है इसका निर्देश, क्योंकि वह सामग्री भी रंग-व्यवस्थापक को ही तैयार रखनी चाहिए। इधर कुछ प्रगतिशील नाटककारों ने बड़े असंगत नाट्य-

निर्देशों की रीति प्रारम्भ की है, जैसे 'कमरे में एक चारपाई विधवा की करुण आह के समान, एक टूटा हुआ मोढ़ा जर्जर वृद्ध की अन्तिम साँस का प्रतिनिधि बना हुआ और एक घड़ा विपत्तियों के बोझ से लदे हुए के समान रखा है।' ये सब भावात्मक और आलंकारिक रंग-निर्देश पाठ्यनाटक (क्लोज़ेट ड्रामा) के लिए भले ही ठीक हों किन्तु अभिनेय नाटक के लिए निरर्थक हैं।

रंग-निर्देश के अन्तर्गत नाटककार को सर्प, वानर, बिल्ली, सिंह आदि जीव-जन्तु तथा प्रज्वलित अग्नि और विस्फोटक पदार्थ लाने का निर्देश नहीं देना चाहिए, क्योंकि इससे या तो अनायास दुर्घटना हो जाती है या दर्शकों का ध्यान नाटक से हटकर उनकी ओर लग जाता है।

अभिनेताओं के लिए रंग-निर्देश पाँच प्रकार के होते हैं— १. क्रिया या व्यापार का निर्देश, जैसे—आता है, जाता है, उठता है, घूमता है, लाठी उठाता है, अमुक वस्तु लाता है इत्यादि। २. सात्त्विक अभिनय के रंग-निर्देश, जैसे—'हँसते हुए, सिसकियाँ लेते हुए, विस्मय के साथ' आदि। ३. भावों के साथ-साथ विशिष्ट चेष्टाओं के लिए निर्देश, जैसे 'खिड़की में से झाँककर घृणा और रोष के भाव प्रकट करता है और फिर जड़ की भाँति आँखें फाड़कर उधर देखता रह जाता है।' ४. स्वर सम्बन्धी निर्देश, जैसे—'गुनगुनाते हुए, बर्राते हुए, कान में कहते हुए, चिल्लाकर' आदि। ५. संकेत या आंगिक चेष्टाओं के द्वारा वाक्य की व्यंजना करने का निर्देश, जैसे अभिनव-भरत के अजन्ता नाटक में—पिंडोल मुँह में पान भरे होने के कारण ऊँ ऊँ करके हाथ और आँख चलाकर यह पूछता है कि किधर से आते हैं, ऊँऊँ ऊँ? इस प्रकार के निर्देश गूँगों के लिए भी किये जाते हैं और इसके साथ वह वाक्य भी दे दिया जाता है जिसका भाव चेष्टाओं के द्वारा व्यक्त कराना हो।

अभिनय-निर्देश के सम्बन्ध में बर्नर्ड शा ने एक नयी निर्देशयुक्त संवाद-शैली चलायी है जिसमें एक-एक वाक्य पर क्रियाओं और चेष्टाओं के लिए अत्यन्त विशद विवरण रहता है। यद्यपि कहीं-कहीं विशेषतः लम्बे संवादों में इस प्रकार के निर्देश से अभिनेता को अभिनय का संकेत मिल जाता है किन्तु यह प्रणाली भी मान्य नहीं है, क्योंकि इसमें अभिनेता को स्वयं अनुभूति के अनुसार वाक्याभिनय करने की स्वतंत्रता नहीं रह जाती। इस शैली का परिचय बर्नर्ड शा के 'विधुर का घर' (विडोवर्स' हाउस) के तृतीय अंक के प्रथम दृश्य से मिलता है।

प्रकाश या समय-निर्देश तीन प्रकार का होता है—१. समय की सूचना, जैसे—'प्रातःकाल, सन्ध्या, अर्धरात्रि' आदि। २. विशिष्ट प्राकृतिक प्रकाश, जैसे—'खुली चाँदनी', 'चन्द्रमा धीरे-धीरे ऊपर चढ़ रहा है' आदि। ३. विशिष्ट रंग-प्रकाश,

जैसे 'मन्दिर में दीपक टिमटिमा रहा है, बायीं ओर से लाल प्रकाश' आदि। ४. विस्तृत आलोक-विधान, जैसे—'बैंगनी प्रकाश पीछे के जंगल के परदे पर डाला जाय, दाहिनी ओर से ऊपर से लाल प्रकाश पात्रों पर पड़े, हिंसा-प्रदर्शन के समय प्रकाश-निक्षेपक से प्रतिनायक के मुख पर गोल केन्द्रित प्रकाश और हत्या करते ही धीरे-धीरे सारा प्रकाश मन्द हो जाय।'

ये सब प्रकाश भी चल और अचल दो प्रकार के और ये दोनों भी दो-दो प्रकार के होते हैं। नाट्यगत चल प्रकाश का अर्थ है वे प्रकाश जो स्वयं या किसी के सहारे चलते हों, जैसे—चन्द्रमा ऊपर चढ़ रहा है। दीपक लेकर तांत्रिक प्रवेश करता है। इनमें से पहला तो व्यवस्था-चल-प्रकाश कहलाता है और दूसरा नाट्यगत चल-प्रकाश। अचल प्रकाश एक स्थान पर होता है। वह नाट्यगत तब होता है जब अभिनेता उस प्रकाश का प्रयोग करे, जैसे—'रमेश मेज़ पर बत्ती जला देता है और बैठकर पढ़ता है।' व्यवस्थागत अचल प्रकाश वह है जिसका प्रयोग विशेष प्रभाव उत्पन्न करने के लिए प्रकाश-व्यवस्थापक करता है। इनका विस्तृत विवरण रंग-दीपन के प्रकरण में दिया गया है।

नाटककार को एक दृश्य में कई प्रकार के प्रकाश बदलने का निर्देश नहीं देना चाहिए। कुछ प्रभावशाली नाटककारों और प्रकाश-व्यवस्थापकों का विचार है कि विशेष भाव या रस के अनुकूल प्रकाश का रंग बदलना वांछनीय है। किन्तु अभिनव-भरत का मत है कि बार-बार रंग बदलना अस्वाभाविक और असंगत होता है। उससे दर्शकों की भाव-धारा भी विशृंखल हो जाती है। किन्तु यदि संवाद-काल में ही संध्या होने का प्रसंग हो तो धीरे-धीरे मन्दक यंत्र (डिमर) के द्वारा प्रकाश कम कर दिया जाय या प्रातःकाल होने के समय धीरे-धीरे प्रकाश बढ़ाकर उजाला कर दिया जाय। एक दृश्यात्मक नाटक में दिन के विभिन्न भागों की क्रियाएँ अलग-अलग दृश्य बदलकर दिखाने के बदले केवल प्रकाश की मन्दता और तीव्रता के द्वारा दृश्य-परिवर्तन और समय-परिवर्तन के संकेत से दिखायी जा सकती हैं।

प्रकाश-व्यवस्थापकों ने विशिष्ट प्रकार के दृश्यों के लिए विशिष्ट प्रकार के रंगों का निर्देश किया है, जैसे उत्सव, शृंगार-लीला अथवा हर्ष के दृश्यों में आकाशी नीले रंग का प्रकाश; भयानक और रोमांचकारी दृश्यों के लिए गहरा लाल; षड्यंत्र वाले दृश्यों में गहरा नीला या परदे के पीछे प्रकाश देकर छाया-रेखा (सिलहूट) का प्रदर्शन; नीरवता के दृश्यों में पीला, नारंगिया या गुलाबी रंग का प्रकाश; जंगल, वन-विहार, जल-विहार अथवा खुले मैदान के दृश्यों में हरा या पीला प्रकाश। कुछ नाट्य-प्रयोक्ताओं ने मोमबत्ती के प्रकाश में ही गम्भीर दृश्य के छोटे नाटक खेलने की सम्मति दी है।

रात्रि के दृश्य में एक तैलदीप से दृश्य प्रारम्भ करने से रात्रि की निःस्तब्धता भयानक रूप से साकार हो जाती है। इस सम्बन्ध में एक नया छाया का सिद्धांत (शैडो थिअरी) है जिसका प्रयोग रंग-दीपन के प्रसंग में समझाया गया है।

अभिनव-भरत का मत है कि स्वाभाविक प्रकाश के लिए केवल एक ओर से प्रकाश डाला जाय और उसी में पात्रों के मुख का जितना भाग आलोकित हो वही अधिक स्वाभाविक होगा अथवा एक ओर से दिये हुए प्रकाश की व्यवस्था इस प्रकार हो कि पात्र का पूरा मुख उससे आलोकित किया जा सके, क्योंकि सूर्य या चन्द्रमा का प्रकाश एक ओर से ही आता है। शेष भाग प्रकाशित करने के लिए प्रतिबिंबित प्रकाश देना चाहिए, सीधा नहीं।

संगीत-व्यवस्थापक के लिए रंग-निर्देश

संगीत के रंग-निर्देश चार प्रकार के होते हैं---१. गीतों के साथ वाद्य-योजना के लिए। २. विशिष्ट रसों के अनुकूल पीछे से उस रस के प्रभाव को उत्तेजित करने वाली वाद्य-ध्वनि के लिए, जिसे आजकल पृष्ठ-संगीत (बैक-ग्राउन्ड म्यूज़िक) कहते हैं और जिसका प्रयोग प्रायः करुण और भयानक दृश्यों में किया जाता है। ३. नेपथ्य से संगीत-विधान जैसे घण्टा, घड़ियाल, नगाड़े या बिगुल की ध्वनि के लिए। ४. नेपथ्य से गवाये जाने वाले गीत के लिए। इस प्रकार के निर्देशों में यह स्पष्ट कर देना चाहिए कि किस दृश्य में, कहाँ, कितनी देर तक, किस प्रकार के वाद्य से, किस विशेष राग या ताल में संगीत की योजना की जाय।

किस अवसर के लिए कौन सा राग उचित होता है, इस सम्बन्ध में भारतीय संगीत के आचार्यों का मत—संगीत-योजना के प्रकरण में आगे बताया गया है।

नेपथ्य-विधायक के लिए रंग-निर्देश

वास्तव में नेपथ्य-विधायक के लिए कोई विशेष रंग-निर्देश नहीं होते किन्तु कभी-कभी अभिनेताओं के लिए ही इस प्रकार के निर्देश किये जाते हैं जिन्हें नेपथ्य-विधायक के लिए ही समझना चाहिए। प्रायः नाटकों में इस प्रकार के आदेश मिलते हैं—

'वह भीतर जाता है और कपड़े बदलकर, नयी मूंछ-दाढ़ी लगाकर आता है' अथवा 'कुबड़े का वेश बनाकर आता है।' इसका अर्थ यह है कि नेपथ्य-विधायक को रूप-विन्यास और वेश-विन्यास की सब सामग्री लेकर वहाँ उपस्थित रहना चाहिए जिससे अभिनेता के भीतर आते ही उसका रंगोचित संस्कार कर सके।

प्राय: देखा गया है कि जब ऐसे निर्देश के अनुसार अभिनेता भीतर आता है तो न उसे नेपथ्य-विधायक या शृंगारी का ही दर्शन होता है न यथोचित सामग्री ही मिल पाती है और इस विभ्रम में वह किंकर्तव्यविमूढ़ हो जाता है, उसका मनोभाव क्षुब्ध हो जाता है जिसका उसके अभिनय पर भी बुरा प्रभाव पड़ता है।

नेपथ्य-विधान का निर्देश देने की आवश्यकता इसलिए पड़ गयी है कि आजकल बहुत से लोग बिना समझे-बूझे जो मन में आता है वह वस्त्र उसे पहना देते हैं। दुष्यन्त को चूड़ीदार पाजामा और अचकन पहने शकुन्तला नाटक में अभिनय करते देखा गया है। अतः नाटककार को अपने नाटक के प्रारम्भ या अन्त में प्रत्येक पात्र की वेश-भूषा का पूरा विवरण दे देना चाहिए, क्योंकि प्रत्येक नाट्य-समिति के पास इतने सर्वज्ञ लोग नहीं मिल सकते जो यह बताते चलें कि नाटक में वर्णित देश-काल के अनुसार वेश ठीक है या नहीं।

संस्कृत के नाटककारों ने प्रत्यक्ष रंग-निर्देश के रूप में नेपथ्य-विधान अर्थात् अलं-करण-विधान का परिचय तो नहीं दिया है किन्तु दूसरे पात्रों के द्वारा वर्णन कराकर वे पूरे नेपथ्य-विधान का परिचय दे देते थे। भास ने अपने मध्यम व्यायोग में ब्राह्मण के पुत्रों से ही घटोत्कच का वर्णन करा दिया है—

प्रातःकाल के सूर्य की किरणों के समान इसके बाल बिखरे हुए हैं, भौंहों के नीचे उजली-पीली बड़ी-बड़ी आँखें हैं और गले में कण्ठसूत्र पहने हुए ऐसा जान पड़ता है जैसे बादल में बिजली हो। इस वेश में यह ऐसा भयंकर दिखाई पड़ता है जैसे प्रलय के समय वाले रुद्र की प्रतिमा हो। दो ग्रहों के समान चमकती आँखों वाला, मोटी और चौड़ी छाती वाला, सुनहरे और कपिल (नीले-पीले) बालों वाला, पीताम्बर धारी, काला-कलूटा, पीले-पीले उठे हुए दाँतों वाला यह कौन है जो ऐसे नये जल भरे बादल के समान दिखाई पड़ रहा है जो चन्द्रमा को निगले जा रहा हो। हाथी के बच्चे के दाँतों के समान दाढ़ीवाला, हल के समान नाकवाला, हाथी की सूँड के समान (खुरदरी, मोटी, लम्बी) भुजाओं वाला, काले बादल के रंग वाला, आहुति दी हुई अग्नि के समान जलता हुआ यह कौन है जो त्रिपुरासुर को मारने के लिए उद्यत महादेव जी के क्रोध के समान दिखाई दे रहा है।

उपर्युक्त वर्णन में भास ने ब्राह्मण के पुत्रों के मुख से घटोत्कच का रूप, रंग, आकार, प्रकार, बाल, दाँत, आँख, हाथ, वक्ष, वस्त्र, कण्ठसूत्र सभी का विवरण दिला दिया है और नेपथ्य-व्यवस्थापक के लिए पूर्ण सज्जा-विधान समझा दिया है।

आजकल के बहुत से नाटककार रंग-निर्देश के अन्तर्गत ही वेश तथा अलंकार का विधान दे देते हैं, जैसे गाल्सवर्दी के 'खिड़कियाँ' (विन्डोज़) नाटक के प्रथम अंक में

मार्च महोदय के भोजनालय के विवरण में मार्च परिवार का परिचय देखिए—'श्रीमती मार्च सुदर्शन हैं। ४८ वर्ष की इनकी अवस्था है, सुभूषित हैं—श्रीयुत मार्च भी ५० वर्ष के सुदर्शन व्यक्ति हैं, लाल भूरी मूँछें और केश हैं जो कुछ तो स्वभाव से ही हिलते-जुलते हैं और कुछ बार-बार हाथ फेरने से हिलाये जाते हैं। जौनी—नितान्त साधारण युवक है—लम्बा मुँह, लम्बा शरीर और स्वच्छ-सुथरा। मेरी भी लम्बी है, सुन्दर और गोरी है।' इसमें नाटककार ने कुछ तो नाट्य-प्रयोक्ता के लिए निर्देश दिया है कि वह इस प्रकार के पात्र ढूँढ़कर लाये और कुछ बालों के सम्बन्ध में स्पष्ट निर्देश करके, सुभूषित और स्वच्छ-सुथरा कहकर, उनकी सजावट का भार अभिनेता और नेपथ्य-व्यवस्थापक की रुचि, कला तथा सुविधा पर छोड़ दिया है और यही उचित भी है।

नाट्य-प्रयोक्ता के लिए रंग-निर्देश अनावश्यक

कुछ नाट्य-निर्देश नाट्य-प्रयोक्ता के लिए भी नाटककार कर देता है जिनमें वह इस प्रकार निर्देश देता है—'नायिका बड़ी लद्धड़ सी लड़की है जिसके बाल गोल कंघी से एक बाल से दूसरे बाल तक कसे हुए हैं। उसका मुँह गोल, भरा हुआ, गुलाबी और भोला सा है। उसके ओठ मोटे हैं और कुछ खुले हैं जो उसके झूँतरे बालों और गोल नीली आँखों के साथ अविरल आश्चर्य की मुद्रा बनाये रखते हैं।' इस रंग-निर्देश से नाटककार ने नाट्य-प्रयोक्ता के लिए एक नयी समस्या ही खड़ी कर दी है। वह कहाँ घूम-घूमकर ऐसी नायिका ढूँढ़ता फिरेगा जिसके झूँतरे बाल हों, खुले हुए ओठ हों, नीली आँखें हों और ये सब लक्षण मिलकर उसके मुख पर अविरल आश्चर्य की मुद्रा अंकित किये हों। कोई आश्चर्य नहीं कि ऐसी नायिका मिले ही नहीं। अतः नायिका या नायक आदि का रूप निर्देश करना अत्यन्त असंगत, व्यर्थ और अवांछनीय है। इसी प्रकार यह निर्देश करना कि अमुक पात्र काना, लँगड़ा, लूला, नाटा, मोटा, लम्बा, दुबला, लाल बालों वाला, भूरे बालों वाला है, अत्यन्त अनावश्यक है क्योंकि जब तक पात्र की विकलांगता या विशेषांगता नाटकीय कथा-वस्तु को प्रभावित नहीं करती तब तक इस प्रकार का निर्देश व्यर्थ है। किन्तु जहाँ इस प्रकार की विकलांगता अथवा विशेषांगता से नाटक के संविधानक का सम्बन्ध हो वहाँ इस प्रकार का निर्देश आवश्यक है, जैसे अभिनव-भरत के 'विश्वास' नाटक में लँगड़ा ब्रह्मेश्वर।

जार्ज बर्नर्ड शा तथा जेम्स बारी आदि कुछ यूरोपीय नाटककारों ने अपने नाटकों को पठनीय बनाने के उद्देश्य से उनमें वर्णन की रोचकता उत्पन्न करके पाठकों को नाटक में उपन्यास का रस देने का जो प्रयोग किया है, वह नाटक की दृष्टि से उचित और

श्रेयस्कर नहीं कहा जा सकता। प्रत्येक नाट्य-समिति प्रायः अपने परिमित सदस्यों में से ही नाटक की भूमिका बाँट लेती है और यह उन पर अत्याचार करना है कि उन्हें विशिष्ट आकार, प्रकार, स्वरूप तथा विशेष लक्षण से युक्त पात्र खोजने और प्रस्तुत करने को विवश किया जाय। इसी प्रकार यह निर्देश देना कि 'जाड़े के दिन हैं या लू चल रही है या गुलाब का फुलेल मँहक रहा है' नितान्त व्यर्थ है। यदि नाटककार को इसका भान कराना है तो वह पात्रों के संवाद में—'आः! जाड़ा लग रहा है, शरीर अकड़ा जा रहा है। कितनी सनसनाती हुई लू चल रही है, एक लोटा जल मँगाओ, यहाँ गुलाब के फुलेल की गन्ध बड़ी गमक रही है' आदि वाक्य कहलाकर उस उद्देश्य की पूर्ति कर सकता है। किन्तु नाटककार को इस प्रकार के निर्देश नहीं देने चाहिए जो नाट्य-प्रयोक्ता के लिए निरर्थक हों।

सारांश यह है कि नाटक की रचना करना केवल साधारण लेखन मात्र नहीं है इसके लिए नाट्यशास्त्र, रंगमंच, संगीतशास्त्र और काव्यशास्त्र का अध्ययन होने के साथ मानव-व्यवहार और मनस्तत्त्व का भी ज्ञान आवश्यक है।

नाटक में गद्य के साथ-साथ गीत और नृत्य का भी प्रयोग होता है। गीति-नाट्य में तो पूरा नाटक ही गीत में होता है, इसलिए उसमें केवल रस या भाव और गीत का ही ध्यान रखा जाता है किन्तु गद्य नाटक में गीत के प्रयोग के लिए अवसर की अनुकूलता आवश्यक है। इधर कुछ वर्षों पूर्व पारसी नाटकों में ऐसी प्रणाली चल पड़ी थी कि विवाह के मंगल अवसर से लेकर अन्तिम संस्कार तक सब में गीत गवाया जाता था। अभी तक भी बहुत से नाटककार गीत के लिए अवसर का विचार नहीं करते। वे सभी अवसरों पर नाटक में गीत का प्रयोग लोकाराधन के लिए आवश्यक समझते हैं। वर्तमान चल-चित्रों ने इस प्रवृत्ति को और भी अधिक प्रोत्साहन दिया है।

नाटक में पात्रों द्वारा गीत के प्रयोग का विवरण संगीत-योजना के प्रकरण में दिया गया है।

कविता के प्रयोग-स्थल

संस्कृत के नाटककारों ने अत्यन्त उदारता के साथ अपने पात्रों से गद्य संवादों के साथ श्लोक भी कहलाये हैं और ये श्लोक व्यापक रूप से सब प्रकार के नाटकों में आते हैं, किन्तु प्रारम्भ में ही इस शैली को अस्वाभाविक बताते हुए इसे अमान्य ठहरा दिया गया है। फिर भी कुछ स्थलों पर नाटक में कविता का प्रयोग किया भी जा सकता है, जैसे—

१. किसी कवि का उद्धरण देते समय।
२. किसी बात के या घटना के समर्थन में किसी कवि की उक्ति।
३. किसी विशेष भाव के पोषण में।
४. नाटक में वर्णित दो या कई कवियों की काव्य-प्रतिद्वन्द्विता के अवसर पर।
५. पहेली-बुझौवल, चरणपूर्ति या अन्त्याक्षरी-प्रतियोगिता में।
६. देव-स्तुति या राज-स्तुति में।
७. पागलपन में किसी कवि की कविता कहना या गीत आलापना।
८. प्रेमातिशय अथवा प्रेम की अभिव्यक्ति के लिए।
९. भय के कारण किसी देवता की स्तुति करते समय।
१०. रणांगण में वीरों को उत्तेजित करने के समय।
११. प्रसंगवश किसी कवि की कविता का पारायण करते समय।

उपर्युक्त अवसरों पर स्वाभाविक रूप से कविता का प्रयोग किया जा सकता है। इनमें से कुछ स्थलों पर पुराने कवियों की कविता का और कहीं नाटककार स्वयं अपनी रची हुई कविता का प्रयोग कर सकता है। इन कविताओं के प्रयोग में भी उनके औचित्य और अवसर का ध्यान रखना अत्यन्त आवश्यक है, क्योंकि इनके बिना उस कविता का कोई प्रयोजन और महत्त्व ही नहीं है। यह कविता ऐसी अवश्य होनी चाहिए जो ठीक-ठीक सबकी समझ में आ सके, अर्थात् उसमें इतनी अधिक लाक्षणिकता न हो कि दर्शकों को उसका समझना कठिन हो जाय।

गीत का प्रयोग

नाटक में गीत का प्रयोग संगीत के साथ-साथ आता है और इसी लिए नाटककार का यह धर्म है कि वह गीत का निर्माण करते समय इस बात का ध्यान रखे कि किस अवसर के लिए, कितनी मात्रा में, किस लय में, किस राग और काल में गीत बाँधे जायँ। इसके लिए संगीत-शास्त्र का इतना ज्ञान आवश्यक है कि किस समय, किस अवस्था में, किस भाव के अनुसार, किस राग और ताल में गीत होना चाहिए। आजकल पृष्ठ-संगीत द्वारा भी नाटकीय प्रभाव उत्पन्न करने का आयोजन किया जाता है इसलिए नाटककार को यह भी जानना चाहिए कि किस समय, कौन से वाद्य द्वारा, किस गीत से, किस राग से, कितने समय में पृष्ठ-संगीत का प्रयोग करना उपयुक्त है। इसका विवरण संगीत-योजना के प्रकरण में विस्तार से दिया गया है।

भरत-वाक्य या फल-कथन

संस्कृत नाटकों में यह प्रथा रही है कि नाटक के अन्त में भरत-वाक्य कहकर लोक-

मंगल की कामना की जाती है। यूरोप के नाटकों में भी प्रथा रही है कि वहाँ नाटक के अन्त में दर्शकों से क्षमा-याचना, फल-कथन, परिणाम का संकेत करके उनसे आशा करते थे कि वे सहानुभूतिपूर्वक नाटक देखें, उसकी समीक्षा करें और त्रुटियों को क्षमा करें। आजकल अंतिम अंक या दृश्य के पूर्व आत्म-निवेदन, क्षमा-प्रार्थना, जनता का सहयोग तथा आगे होने वाले नाटकों में सम्मिलित होने की अभ्यर्थना की जाती है। यह कार्य कभी तो नाट्य-प्रयोक्ता या सूत्रधार ही करता है और कभी नाटक का नायक अपनी नाटकीय वेश-भूषा में ही उपस्थित होकर करता है। कभी-कभी यह कार्य नेपथ्य से भी किया जाता है। प्रायः इस प्रकार की अभ्यर्थना और निवेदन नाटककार नहीं लिखते। किन्तु यूरोप में जो उपसंहार (एपिलोग) लिखे या कहे जाते थे वे नाटककार ही लिखते थे और वे भी उसी प्रकार नाटक के अंग समझे जाते थे जैसे हमारे यहाँ संस्कृत नाटकों में भरत-वाक्य था। आजकल अधिकांश नाटकों में इसका प्रयोग नहीं होता।

यद्यपि नाटक-ग्रथन की दृष्टि से इतना विवरण पर्याप्त है किन्तु नाटक-ग्रथन कला है जो नियम बनाकर नहीं सिखायी जा सकती। ऐसी परिस्थितियों की कल्पना करना, जिनमें स्वाभाविक कौतूहल हो, यह नाटककार की कल्पना-शक्ति, प्रतिभा और अनुभव पर अवलम्बित है। अनुभव ही नाटककार का सबसे बड़ा गुरु है। उसी के सहारे अपने कक्ष में नाटक लिखता हुआ वह अपनी कल्पना के नेत्रों से देखता चलता है कि मैंने जिस दृश्य की अवतारणा की है वह ऐसा है, इस प्रकार की वेश-भूषा धारण करके अमुक पात्र मंच पर आते हैं, अमुक चेष्टा करते हैं, अमुक संवाद कहते हैं और देख-सुनकर दर्शक अमुक प्रतिक्रिया करते हैं। जिस कवि में इस मानस-दृष्टि का अभाव है वह नाटककार नहीं हो सकता और यह मानस-दृष्टि रंगमंच के प्रत्यक्ष अनुभव से आती और सधती है।

अध्याय ६

नाट्य-प्रयोक्ता और नाट्य-प्रयोग

नाटक दृश्य काव्य है इसलिए नाटक की रचना करना मात्र पर्याप्त नहीं है। वह खेला भी जाना चाहिए और इसलिए उसे नाट्याचार्य तथा नाट्य प्रयोक्ता या सूत्र-धार के हाथ में पहुँच जाना चाहिए, जिससे वह नाटक के अनुरूप पात्रों का चयन, नाटक के योग्य अवसर, नाटक दिखाने के लिए उपयुक्त दर्शक, नाट्य के योग्य सामग्री तथा अपने अन्य सहयोगियों को एकत्र करके और नाट्य की शिक्षा देकर उसका प्रयोग कराये। पहले नाट्याचार्य और नाट्य-प्रयोक्ता या सूत्रधार अलग-अलग होते थे किन्तु अब दोनों एक हो गये हैं।

भरत ने नाट्यशास्त्र के छब्बीसवें अध्याय में नाट्याचार्य के भी छः गुण बतलाये हैं—'गीत, नृत्य, वाद्य, ताल, अभिनय-कौशल और शिष्य को सिखाने की कला जानने-वाला ही नाट्याचार्य होता है।' इन गुणों के साथ भरत ने आचार्य के पाँच लक्षण बताये हैं कि जो निम्नांकित पाँच बातें जानता हो वही आचार्य कहलाता है—१-२. ऊहापोह (भली भाँति सब पक्षों पर सोच-विचार करना), ३. मति (समझना), ४. स्मृति (स्मरण रखना), ५. मेधा (बतायी या जानी हुई बात को तत्काल ग्रहण कर लेना)।

भरत मुनि ने अपने नाट्यशास्त्र के भूमिका-पात्रविकल्प नामक ३५वें अध्याय में सूत्रधार का वर्णन करते हुए लिखा है—

'जो समान रूप से गीत, वाद्य और पाठ्य को नाट्यशास्त्र में वर्णित नियम के अनु-सार सिखाकर उनका प्रयोग कर सके उसे सूत्रधार कहते हैं।'

उसके आगे सूत्रधार का गुण बताते हुए भी भरत मुनि ने लिखा है—

सूत्रधार का लक्षण यह है कि प्रारम्भ में मंगलाचरण कहे, उसमें इच्छित वाणी बना सकने का संस्कार हो, ताल, स्वर, बाजे इत्यादि का पूरा ज्ञान हो, चारों प्रकार के बाजे बजाने में चतुर हो, शास्त्र का व्यवहार भली-भाँति जानता हो, अनेक प्रकार के ढोंग कर सकता हो, नीति और शास्त्र का मर्म जाननेवाला हो, वेश्याओं का आदर करने में निपुण हो, कामशास्त्र भली-भाँति जानता हो, अनेक प्रकार के गीतों का विस्तार जानता हो, रस और भाव को भली-भाँति समझता हो, नाटक खेलने की सब क्रियाएँ भली

भाँति जानता हो, अनेक प्रकार के शिल्प जानता हो, पिंगल और छन्द के नियम जानता हो, सब शास्त्रों का पण्डित हो, ग्रहों और नक्षत्रों की चाल समझता हो, शरीर की सब गतियाँ जानता हो, पृथ्वी, द्वीप, वर्ष, पर्वत तथा राजकुल के लोगों के प्रामाणिक जीवन-चरित जानता हो, शास्त्र के अर्थ करनेवालों की बात भली भाँति सुनता हो, सुनकर समझता हो, समझकर उसका प्रवचन करता हो और उसका प्रदर्शन कर सकता हो। ये सब गुण जिसमें हों वही सूत्रधार हो सकता है।

आगे सूत्रधार के स्वाभाविक गुण बताते हुए भरत ने वहीं बताया है कि सूत्रधार को मेधावी, बुद्धिमान्, धैर्यवान्, उदार, अपनी बात का पक्का, कवि, स्वस्थ, मृदुभाषी, शान्त, सदाचारी, प्रियवक्ता, कभी क्रोध न करने वाला, सत्य बोलने वाला, सबसे समान व्यवहार करने वाला, उदार, पवित्र और प्राप्ति के अवसरों में भी निर्लोभी होना चाहिए। नञ्जराज-यशोभूषण के रचयिता अभिनव-कालिदास ने भी सूत्रधार का लक्षण बतलाते हुए कहा है कि 'नेता के गुणों को तथा कवि की रचना को जो सूत्र रूप में वर्णन करे और रंगमंच की सजावट करने में चतुर हो वह सूत्रधार कहलाता है।'

आसूत्रयन् गुणान्नेतुः कवेरपि च वस्तुनः।
रंगप्रसाधनप्रौढः सूत्रधार इतीरितः॥

शारदातनय ने अपने भावप्रकाशन के नाट्य-प्रयोग-भेद-प्रकार-विशेष-निर्णय नामक दशम अधिकार में सूत्रधार शब्द का निर्वचन इस प्रकार किया है—

सूत्रयन काव्यनिक्षिप्तवस्तुनेतृकथारसान्।
नान्दीश्लोकेन नांद्यन्ते सूत्रधार इति स्मृतः।

[जो व्यक्ति नाट्य-काव्य अर्थात् नाटक में आयी हुई कथा-वस्तु, नायक और कथा के रसों को भली प्रकार व्यवस्थित करता है और नान्दीश्लोक के पश्चात् नान्दी के अन्त में संक्षेप में नायक, कथा-वस्तु और रसों का संक्षेप में वर्णन करता है वह सूत्रधार कहलाता है।]

भरत ने जो सूत्रधार के लक्षण बताये हैं उनमें कई बातें बड़े महत्त्व की हैं। सर्व-प्रथम तो है इच्छित वाणी का संस्कार, अर्थात् उसकी वाणी इतनी सधी हुई हो कि वह सब प्रकार के पात्रों को सब भावों का वाचिक अभिनय सिखा सके। दूसरी बात है ताल, स्वर, वाद्य का ज्ञान और उनका प्रयोग करने की निपुणता; अन्यथा वह संगीत-योजना नहीं कर सकता। इसके अतिरिक्त शास्त्र का व्यवहार और नीतिशास्त्र का ज्ञान तो आवश्यक ही है किन्तु साथ ही वह नटियों का आदर करने में, उन्हें मनाने में,

अपने मन के अनुकूल उनसे काम लेने में चतुर हो, क्योंकि यह समस्या सभी सूत्रधारों के सम्मुख सदा रहती है। वह रस और भाव को भली भाँति समझता हो कि कहाँ किस रस में कौन सा भाव कैसे प्रदर्शित करना चाहिए। नाटक खेलने की सब क्रियाएँ अर्थात् रंग-व्यवस्था, नेपथ्य-व्यवस्था, अभिनय, रंगप्रदीपन, सामाजिकों को व्यवस्थित रूप से बैठाने और उन्हें प्रसन्न करने की कला, विज्ञापन, दृश्य-चित्रण आदि सब कुछ भली-भाँति जानता हो। चित्रकला, मूर्तिकला और चमड़े-लकड़ी तथा अन्य पदार्थों से विभिन्न प्रकार के आभूषण बनाने का शिल्प जानता हो। छन्दः-शास्त्र तथा अन्य शास्त्र जानता हो। ज्योतिष का पण्डित हो। शरीर सम्बन्धी सब गतियों से परिचित हो, सब गतियों के अनुसार अंग-संचालन कर सकता हो। इतिहास, भूगोल, कथा-वार्ता, प्रवचन आदि सब गुणों में पारंगत हो। ऐसा ही सर्वगुणसम्पन्न व्यक्ति सूत्रधार हो सकता है।

सूत्रधार के जो स्वाभाविक गुण भरत ने गिनाये हैं वे भी बड़े महत्त्व के हैं। नाट्य-प्रयोक्ता को मेधावी होना चाहिए कि एक बार पढ़ने-सुनने या जानने पर उस बात को स्मरण रख सके। बुद्धिमान् तो होना ही चाहिए, साथ ही धैर्यवान् भी होना चाहिए क्योंकि नाटक की तैयारी में कभी बड़ी-बड़ी बाधाएँ खड़ी हो जाती हैं। कभी तो वर्षा आदि दैवी प्रकोप होता है, कभी अभिनेताओं में खटपट और विद्रोह हो जाता है, कभी दर्शक ही बिगड़ खड़े होते हैं। ऐसी सब परिस्थितियों में उसे बड़े धैर्य से काम लेना चाहिए। धीर होने के साथ-साथ उसे उदार भी होना चाहिए कि वह आवश्यकता पड़ने पर दूसरों की बात मान सके, आर्थिक सहयोग दे सके अथवा अन्य प्रकार से अपने सहयोगियों को प्रसन्न रख सके। इससे भी अधिक आवश्यक गुण है अपनी बात का पक्का होना। यदि किसी निश्चित दिन, निश्चित समय पर, अभिनेताओं को शिक्षण के लिए बुलाया जाय या नाटक करने की घोषणा की जाय तो उस दिन और समय पर शिक्षण और नाटक का प्रयोग होना ही चाहिए, अन्यथा सूत्रधार या नाट्य-प्रयोक्ता का विश्वास छूट जाता है और उसका अपयश होता है। नाट्य-प्रयोक्ता को कवि भी होना चाहिए जिससे वह आवश्यकता पड़ने पर नाटक के शिथिल अंश को ऊर्जस्वी कर सके, उसमें प्राण भर सके, यथावसर गीत तथा श्लोक जोड़ सके तथा और भी जो इस प्रकार की त्रुटियाँ हों उन्हें पूर्ण कर सके क्योंकि नाटककार तो सर्वत्र और सब युगों में प्राप्त नहीं हो सकता। सूत्रधार को स्वस्थ, मधुरभाषी, शान्त, सदाचारी, प्रिय वक्ता, अक्रोधी और सत्यवादी भी होना चाहिए, क्योंकि उसे अपने व्यवसाय से सम्बन्ध रखने वाले अनेक प्रकार के व्यक्तियों से सम्बन्ध रखना पड़ता है जिनमें अभिनेता, कार्यकर्ता, सेवक, दर्शक, विशिष्ट नागरिक, विद्वान् और कवि सभी सम्मिलित होते हैं। सदा-

चारी होना सूत्रधार के लिए अत्यन्त आवश्यक है। ऐसा न होने से न तो जनता की श्रद्धा उसके प्रति होगी न अभिनेताओं की। सबसे बड़ी बात यह है कि प्राप्ति के अवसर पर भी उसे निर्लोभी होना चाहिए क्योंकि जो नाट्य-प्रयोक्ता या सूत्रधार लोभी होता है वह आगे चलकर कला को गौण कर देता है और द्रव्य को प्रधान मान लेता है। आज हमारी नाट्य-कला, वह चाहे रंगमंच की हो, चाहे चलचित्र की, इसी लिए दूषित हो गयी है कि नाट्य-प्रयोक्ताओं का प्रधान उद्देश्य यह हो गया है कि वे जनता की निम्नतम वृत्तियों को तृप्त करके केवल धन-संग्रह करें।

आज के नाट्य-प्रयोक्ता के सम्मुख एक दूसरा प्रश्न भी उपस्थित हुआ है कि वह चलचित्रों के सम्मुख रंगमंच को किस प्रकार लोकप्रिय बनाये। यह लोकप्रियता अब कई बातों पर अवलम्बित होने लगी है। वे हैं——लोकप्रिय रागों में बँधे हुए गीतों और नृत्यों की बहुलता, विशेष अभिनेताओं द्वारा प्रदर्शन, तड़क-भड़क के परदे, भड़कीली वेश-भूषा, अधिक प्रेम-प्रसंग और जोड़-तोड़ के सरल मुहावरेदार संवाद। इनमें से अन्तिम तो ठीक है किन्तु अन्य साधन एकत्र करना साधारण नाट्य-प्रयोक्ता के लिए कठिन है।

आजकल रंगशालाओं और रंगमंचों पर रंगप्रदीपन, पृष्ठ-वाद्य-प्रभाव, चलचित्र और नाटक का संयोग, अनेक प्रकार के बहुव्ययसाध्य और यंत्रचालित रंगपीठ, खुली रंगशालाएँ आदि का इतना प्रचलन हो चला है कि नाट्य-प्रयोक्ता को विभिन्न प्रकार की रंगशालाओं के अनुकूल नाट्य-प्रयोग करने का कौशल और विभिन्न प्रकार की कलाओं का प्रत्यक्ष ज्ञान भी होना चाहिए। साधारण बाँस-बल्ली से बना लिये जानेवाले चित्रित लपटौवा परदों से लेकर मास्को आर्ट थिएटर, या न्यूयार्क के रेडियो म्यूज़िक हॉल में होनेवाले नाटकों तक का उसे पूर्ण ज्ञान होना चाहिए, क्योंकि नाट्य सम्बन्धी सब कलाओं के सम्बन्ध में इधर जो अनेक वैज्ञानिक और मनोवैज्ञानिक प्रयोग हुए हैं उनका उपयोग जानकर ही नाट्य-प्रयोक्ता अधिक सफलता के साथ अपने नाटक का प्रयोग कर सकता है।

यह युग विज्ञान का ही नहीं, विज्ञापन का भी युग है। अतः नाट्य-प्रयोक्ता को यह कला भी आनी चाहिए कि किस प्रकार अपने नाटक का विज्ञापन करके अधिक से अधिक लोगों को अपनी ओर आकृष्ट करे और उस विज्ञापन में नाटक की कथा का भाव, अभिनेताओं का परिचय, नृत्य, हास्य और विनोद का परिचय और शुल्क की सुविधा, बैठने की सुव्यवस्था, दृश्य और वेश-भूषा की समृद्धता आदि सब दे दे, क्योंकि आजकल जनता विज्ञापन के बल पर ही किसी नाटक या प्रदर्शन को दर्शनीय मानती है।

चन्द्रगुप्त मौर्य के समय में और उसके बाद भी नट-नर्तक-मण्डलियाँ विशेष पर्वों पर ही स्थान-स्थान पर पहुँचा करती थीं, क्योंकि नियमतः इस प्रकार के विनोदों से जनता के व्यवसाय में बाधा पड़ने की आशंका से न तो हमारे यहाँ नाट्यशालाएँ बनीं और न नित्य प्रदर्शन की सुविधाएँ थीं। किन्तु आज तो प्रायः सभी छोटे नगरों में चलचित्र-शालाएँ बन गयी हैं जहाँ एक-एक चित्र लगातार चार-चार दिन और एक दिन में चार-चार बार चलता है और बड़े नगरों में तो स्थायी रंगशालाएँ भी हैं जो नित्य नाटक खेलती हैं। इससे नाट्य-प्रयोक्ता के लिए एक कठिनाई बढ़ गयी है कि वह अच्छे, सदुपदेशपूर्ण किन्तु साथ ही लोक-रंजक नाटक प्रस्तुत नहीं कर सकता। दूसरी कठिनाई यह है कि नाटक देखने वाली जनता प्रायः नगर की ही होती है। अतः यह प्रयत्न करना चाहिए कि ऐसे नये, मौलिक तथा अभिनेतासिद्ध (ऐक्टर प्रूफ़) नाटक लिखवाये जायें जिन्हें सब लोग समान रूप से सब स्थानों पर सफलता से खेल सकें।

इन सब गुणों से युक्त नाट्य-प्रयोक्ता तब तक प्राप्त नहीं हो सकते जब तक व्यवस्थित रूप से राजकीय प्रबन्ध से ऐसे विद्यालय नहीं खोल दिये जाते जहाँ उचित स्वभाव वाले व्यक्तियों को चुनकर उन्हें उचित तथा पूर्ण नाट्य संबन्धी शिक्षा दी जाय।

नाटक का अवसर ढूँढ़ना

नाट्य-प्रयोक्ता का काम केवल यही नहीं है कि वह अभिनेताओं को नाट्य की शिक्षा मात्र दे। उसका काम यह भी है कि वह ऐसे अवसर ढूँढ़े जब किसी विशेष नाटक का प्रयोग किया जाय और ऐसे नाटकों का विवरण अपने पास रखे जो विशेष अवसरों पर खेले जा सकें। प्रायः व्यावसायिक नाट्यमण्डलियाँ गिने-चुने नाटक तैयार रखती हैं और उन्हीं को अदल-बदलकर या निरन्तर खेलती रहती हैं। किन्तु उचित यही है कि विशेष अवसरों पर ही नाटक खेले जायँ। व्यवसायियों के हाथ में नाट्यशालाओं के चले जाने से अच्छे नाटकों का प्रकाशन और प्रयोग बन्द हो जाता है क्योंकि अच्छे नाटकों की रचना केवल नाटककार की कृतिमात्र तक नहीं रह जाती, वह तो रंगमंच पर प्रयोग होने के पश्चात् रूप ग्रहण करती है। फिर भी उस रचना में ऐसे मौलिक गुण तो होने ही चाहिए जो नाट्य-प्रयोक्ता को प्रभावित कर सकें। नाट्य-प्रयोक्ता को ऐसा नाटक ढूँढ़ना चाहिए जिसमें पात्र कम हों और ऐसे हों जिन्हें नाट्य-प्रयोक्ता अपने अभिनेताओं में ठीक बैठा सकें। साथ ही उसमें संवाद ऐसे हों जिन्हें सब प्रकार के दर्शक समझकर उसका समान रूप से रस ले सकें। उसका दृश्य-विधान भी ऐसा होना चाहिए जिसकी व्यवस्था सुविधा के साथ की जा सके। उसमें हास्य, व्यंग्य तथा विनोद का ऐसा पुट भी होना चाहिए कि जनता का मनोरंजन हो

सके और जिस अवसर पर वह नाटक खेला जाय उस अवसर के साथ उसकी उचित संगति हो।

पात्र-चयन

नाट्य-प्रयोक्ता का दूसरा और सबसे अधिक महत्त्व का काम है किसी नाटक के पात्रों की विभिन्न भूमिकाओं के अनुरूप ऐसे अभिनेता चुनना जो शरीर, बुद्धि, अभिनय-कौशल और वाणी के द्वारा अपनी ग्रहण की हुई भूमिका का उचित निर्वाह कर सकें। पतले-दुबले व्यक्ति को भीम या कुम्भकर्ण चुनना वैसा ही असंगत है जैसे किसी प्रौढ़ को राम और कृष्ण की भूमिका देना। प्रायः नाट्य-प्रयोक्ता लोग केवल वाणी और अभिनय की परीक्षा लेकर ही किसी को भी भूमिका दे डालते हैं। इसका दुष्परिणाम यह होता है कि वे जिस विशिष्ट पात्र की भूमिका ग्रहण करते हैं उसका ठीक रूप प्रस्तुत न कर पा सकने के कारण असफल सिद्ध होते हैं। अतः अभिनेता का चयन करते समय पात्र की भूमिका के अनुसार उसके शरीर, आकृति और वाणी का भी विचार करना चाहिए।

भूमिका-वितरण

अभिनेताओं का चयन करने के पश्चात् नाट्य-प्रयोक्ता का सबसे कठिन कार्य प्रारम्भ होता है भूमिका बाँटना और शिक्षा देना। अव्यावसायिक नाट्य-मण्डलियों में इस प्रकार की असुविधा प्रायः सदा उठ खड़ी होती है क्योंकि सभी अभिनेता यह चाहते हैं कि मुख्य भूमिका मुझे ही दी जाय। ऐसी स्थिति में उनकी तुलनात्मक परीक्षा लेकर उन्हें भूमिका प्रदान कर दी जाय और स्वयं उन्हें यह विश्वास दिला दिया जाय कि वे अमुक भूमिका के ही योग्य हैं और अमुक भूमिका के योग्य नहीं हैं।

नाट्य-शिक्षण

नाट्य-शिक्षण में आंगिक, वाचिक और सात्त्विक तीनों प्रकार का अभिनय सिखाना चाहिए। वर्तमान विदेशी नाट्यशास्त्रों के अनुसार तो मुखराग और आहार्य अभिनय अर्थात् वेश-भूषा और रूप-सज्जा का कार्य भी अभिनेताओं को सिखा देना चाहिए। अभिनेताओं का चयन करते समय कुछ ऐसे अभिनेता भी चुन रखने चाहिए जो विशिष्ट भूमिका वाले पात्रों के रुग्ण होने, दुर्घटना-ग्रस्त होने अथवा चले जाने की अवस्था में उसी कौशल के साथ उनकी भूमिकाओं का निर्वाह कर सकें, क्योंकि ऐसी परिस्थितियाँ प्रायः उत्पन्न हो जाती हैं कि कोई अभिनेता किसी काम से या रुष्ट

होकर बाहर चला जाय अथवा अपने माता-पिता या अन्य किसी प्रभावशाली व्यक्ति के दबाव से न आये। इन सब अवस्थाओं के लिए विशेष अभिनेताओं का संग्रह करना अत्यन्त आवश्यक है। स्वयं सूत्रधार को ही इतना तैयार रहना चाहिए कि आवश्यकता पड़ने पर वह कोई भी भूमिका ग्रहण कर ले।

पहले तो केवल पुरुष ही अभिनय करते थे इसलिए समस्या उतनी विकट नहीं थी, किन्तु जब से स्त्रियाँ भी अभिनय करने लगी हैं तब से नाट्य-प्रयोक्ता के सम्मुख बड़ी जटिल समस्याएँ खड़ी होने लगी हैं। यूनान में भी पहले पुरुष ही सब भूमिकाएँ ग्रहण करते थे और केवल स्त्री-पात्र का मुखौटा लगाकर वे स्त्री बन जाते थे। हमारे यहाँ भी प्रारम्भ में और मध्ययुग में इस प्रकार की प्रथा थी, जैसा कि भरत के नाट्य-शास्त्र में और मालतीमाधव नाटक की प्रस्तावना में ही कहा गया है, जहाँ पुरुष पात्र ही कामन्दकी का अभिनय करने के लिए तैयार किया जाता है। हमारे यहाँ यद्यपि प्रारम्भ में ही यह अनुभव कर लिया गया कि केवल पुरुष पात्रों से नाटक की शोभा नहीं होती इसलिए अप्सराओं की मानसी सृष्टि की गयी, किन्तु पहले ही 'लक्ष्मी-स्वयंवर' नाटक में यह सिद्ध हो गया कि स्त्रियाँ नाटक में विघ्न उपस्थित कर सकती हैं क्योंकि वे पुरुष की अपेक्षा अधिक अधीर, भावुक और आवेगपूर्ण होती हैं। इस घटना का उल्लेख कालिदास ने अपने विक्रमोर्वशीय नाटक के प्रारम्भ में ही किया है कि किस प्रकार उर्वशी ने लक्ष्मी की भूमिका ग्रहण करते हुए जहाँ 'पुरुषोत्तम' कहना चाहिए था वहाँ 'पुरूरवा' कह दिया, जिस पर रुष्ट होकर भरत ने उसे मर्त्य-लोक में जाने का शाप दे दिया। वर्तमान काल में भी जहाँ-जहाँ स्त्रियाँ अभिनय करती हैं वहाँ अभिनेत्रियों की पारस्परिक ईर्ष्या, किसी विशेष अभिनेता के साथ भूमिका ग्रहण करने के लिए दुराग्रह या न करने के लिए हठ, अभिनेताओं और अभिनेत्रियों का परस्पर प्रेम-प्रसंग तथा अन्य इस प्रकार की अनेक समस्याएँ नाट्य-प्रयोक्ताओं के सम्मुख खड़ी हो जाती हैं जिनका परिणाम कभी-कभी यह होता है कि सुखान्त नाटक भी दुःखान्त हो जाता है, यहाँ तक कि नाटक होता ही नहीं।

नाटक के पूर्व नाट्य-प्रयोक्ता का मुख्य कार्य है किसी विशिष्ट शिक्षण-स्थान (रिहर्सल हॉल) में अभिनेताओं को अभिनय की व्यक्तिगत और सम्मिलित शिक्षा देना। साधारणतः व्यक्तिगत शिक्षा देने की प्रणाली लयवादियों (क्यूबिस्टस) और स्तानिस्तलवस्की के अनुयायियों को छोड़कर कहीं नहीं है किन्तु व्यक्तिगत शिक्षण की पद्धति भी है परम आवश्यक, क्योंकि सामूहिक शिक्षा में व्यक्तिगत सूक्ष्म अभिनय के विशेष प्रयोग नहीं सिखलाये जा सकते। बहुत से अभिनेता तो स्वयं अपने सामने दर्पण रखकर अभिनय का अभ्यास करते हैं। यद्यपि यह पद्धति सिद्ध अभिनेताओं के

लिए ही अधिक उपयुक्त है किन्तु अन्य अभिनेता भी सिखाये हुए अभिनय का अभ्यास दर्पण के आगे कर सकते हैं।

महाकवि कालिदास ने मालविकाग्निमित्र नाटक में नाट्याचार्य का यह लक्षण भी बताया है—

श्लिष्टा क्रिया कस्यचिदात्मसंस्था संक्रान्तिरन्यस्य विशेषयुक्ता।
यस्योभयं साधु स शिक्षकाणां धुरि प्रतिष्ठापयितव्य एव॥

[कुछ गुणी तो ऐसे होते हैं जो अपनी कला को स्वयं भली भाँति जानते हैं पर दूसरों को नहीं सिखा सकते। कुछ ऐसे होते हैं जो स्वयं तो क्रिया करके नहीं दिखा सकते किन्तु दूसरों को सिखाने में बड़े चतुर होते हैं, पर जिसमें ये दोनों बातें हों उसे ही सब गुणियों का सिरमौर समझना चाहिए।] इससे पूर्व इसी नाटक में महाकवि कालिदास ने इसका महत्त्व भी बताया है—

पात्रविशेषे न्यस्तं गुणान्तरं व्रजति शिल्पमाधातुः।
जलमिव समुद्रशुक्तौ मुक्ताफलतां पयोदस्य॥

[सिखानेवाले की कला अच्छे शिष्य के पास पहुँचकर उसी प्रकार खिलती है जैसे बादल का जल समुद्र की सीपी में पहुँचने पर मोती बनकर चमक उठता है।] इसी प्रसंग में नाट्य-शिष्य का लक्षण बताते हुए मालविका के सम्बन्ध में गणदास से कालिदास ने कहलाया है—

यद्यत् प्रयोगविषये भाविकमुपदिश्यते मया तस्यै।
तत्तद् विशेषकरणात् प्रत्युपदिशतीव मे बाला॥

[मैं जो-जो भाव उसे सिखलाता हूँ उन्हें जब वह और भी सुन्दरता के साथ करके दिखलाने लगती है तब ऐसा जान पड़ता है मानो वह उलटे मुझे ही सिखा रही हो।] इस प्रकार का समझदार और मेधावी शिष्य या अभिनेता पाने पर ही नाट्य-प्रयोक्ता का शिक्षण सफल होता है।

अभिनेताओं को शिक्षा

नाट्य-प्रयोक्ता को प्रेक्षागृह, रंगपीठ और दृश्य-विधान की सब व्यवस्था से भी परिचित होना चाहिए और उन्हीं की दृष्टि से नाट्य-शिक्षण की व्यवस्था करनी चाहिए। इसी लिए अधिकांश नाट्य-प्रयोक्ता रंगमंच पर ही नाट्य-शिक्षण करते

हैं। किन्तु कुछ ऐसी भी प्रसिद्ध नाट्यशालाएँ हैं जहाँ शिक्षण के लिए अलग रंगमंच और प्रेक्षागृह बना रहता है और जिसमें गिने-चुने नाट्य-मर्मज्ञ लोग नाट्य-शिक्षण के समय सुझाव और समीक्षा के लिए बुलाये जाते हैं। इस नाट्य-प्रशिक्षण में वेशभूषा को छोड़कर शेष सब आयध, उपकरण, दृश्य, दृश्यपीठ और संगीत-योजना के साथ प्रशिक्षण देना चाहिए जिससे सब अभिनेताओं को अभिनय-क्रिया, संगति और क्रम का ज्ञान हो जाय।

प्रेरक को शिक्षा

नाट्य-प्रयोक्ता को चाहिए कि वह अभिनेताओं के साथ-साथ प्रेरक को भी शिक्षा दे जिससे वह वाक्य-प्रेरणा का सिद्धान्त और कौशल भली-भाँति समझ ले और यह जान ले कि रंगपीठ पर किस स्थान से, किस प्रकार, कैसे स्वर से वह अभिनेता को वाक्य-प्रेरणा दे। नवीन प्रकार की रंगशालाओं में प्रेरक के लिए रंगमंच के सामने ढका हुआ लकड़ी का प्रकोष्ठ बना रहता है जिसे 'प्रौम्प्टर्स केबिन' कहते हैं। अतः उसे यह भी सिखा देना चाहिए कि इस प्रेरक-प्रकोष्ठ से किस प्रकार वाक्य-प्रेरणा दी जाती है।

रूपसज्जा का ज्ञान

यद्यपि नाट्य-प्रयोक्ता को स्वयं नेपथ्य-कर्म या मुखराग का काम नहीं करना पड़ता किन्तु उसे नेपथ्य-गृह की व्यवस्था और नेपथ्य-कर्म का भी पूर्ण ज्ञान होना चाहिए जिससे वह नेपथ्य-व्यवस्थापक को यह निर्देश दे सके कि अमुक पात्र की मुख-सज्जा और केश-सज्जा अमुक प्रकार से की जाय, क्योंकि वर्तमान नाट्य-कला में रूप-सज्जा (मेकअप) का बड़ा महत्त्व माना गया है।

रंगदीपन और संगीत का ज्ञान

नाट्य-प्रयोक्ता को रंग-प्रदीपन का भी पूर्ण ज्ञान होना चाहिए। उसे प्रकाश की दृष्टि से भी अभिनेताओं को शिक्षा देनी चाहिए कि कब, किसे, किस प्रकाश के सम्मुख, किस मुद्रा में, कितनी देर तक रंगमंच पर खड़ा रहना चाहिए या कैसा अभिनय करना चाहिए। यही बात संगीत के सम्बन्ध में भी है क्योंकि संगीत तो नाटक का भी अंग होता है और नेपथ्य से पृष्ठ-वाद्य द्वारा प्रभाव डालने का साधन भी।

नाट्य-प्रयोक्ता को प्रेक्षकों की मनोवृत्ति और उनके संस्कार का ज्ञान भी होना चाहिए कि वे किस प्रकार प्रभावित किये जा सकते हैं और किन-किन उपायों तथा साधनों से उन्हें प्रसन्न और रस-मग्न किया जा सकता है।

निर्देशन (डाइरेक्शन)

तात्पर्य यह है कि नाट्य-प्रयोक्ता को सब प्रकार का निर्देश देना चाहिए। नाटक में अभिनेय नाटक के सब तत्त्वों और साधनों को व्यवस्थित रूप से एकत्र करने और उन्हें अभिनय के लिए ठीक करने के पूर्ण शिक्षण को निर्देशन कहते हैं, अर्थात् दृश्य-विधान करना, अभिनेताओं को वाचिक, आंगिक और सात्त्विक अभिनय सिखाना, कहाँ बोलना और कहाँ मौन रहना इसकी शिक्षा देना, किस क्रम से कौन सा रंग-व्यापार करना, कहाँ किस प्रकार वाद्ययंत्र का प्रयोग करना, किस प्रकार कहाँ किस रंग के प्रकाश का प्रबन्ध करना आदि सब बातें निर्देशन के अन्तर्गत आ जाती हैं। वर्तमान निर्देशक को प्राचीन आचार्यों ने नाट्य-प्रयोक्ता कहा है क्योंकि नाटक और अभिनेता छाँटने से लेकर नाटक प्रस्तुत करने तक का सारा कार्य यही करता था, यही 'रेज़ीसो' कहलाता है और वर्तमान रंगशाला में यह केवल नाट्य-प्रयोक्ता ही नहीं रह गया, वरन् अभिनेता, दृश्य-विधाता (डिज़ाइनर), संगीत-प्रयोक्ता, शिल्प-प्रयोक्ता (टेकनी-शियन) और नाटककार सभी कुछ हो गया है। उसका कार्य यह है कि वह नाटक के पाठ का सब दृष्टि से अध्ययन करे, उसका साहित्यिक महत्त्व समझे, उस विषय के अन्य ग्रन्थों को पढ़े, नाटक सिखाने की परिस्थितियों और संभावनाओं का विचार करे और नाटककार की दृष्टि से देखने के साथ-साथ सामाजिक, आर्थिक और नाटककालीन सांस्कृतिक पृष्ठभूमि का भी विचार करे और यह भी ध्यान दे कि वर्तमान युग की परिस्थितियों से उसका क्या सम्बन्ध जोड़ा जा सकता है। यदि उसने यह बात समझ ली कि इस नाटक का हमारे दर्शकों पर क्या प्रभाव पड़ेगा, उनके जीवन से यह कहाँ तक सम्बद्ध है तो उसने नाटक का तत्त्व पा लिया। तब से उसे केवल यह विचार करना रह जाता है कि रंगमंच पर नाटक कैसे उपस्थित किया जाय कि उससे निर्दिष्ट उद्देश्य की सिद्धि हो। इसके लिए उसे रंगमंच का मानचित्र (स्टेज डिजाइन), दृश्यों के मानचित्र (सीनिक डिज़ाइन), संगीत-योजना, रूप-सज्जा की विवरणी आदि सब बातें बैठकर स्पष्ट रूप से नाट्य-प्रयोक्ता की पोथी (डाइरेक्टर्स बुक) में अंकित कर लेनी चाहिए। इस पोथी में अभिनेताओं के अभिनय की पूरी रूपरेखा भी उपस्थित रहनी चाहिए जिसमें शिक्षा (रिहर्सल) के समय आवश्यक सुधार कर लिये जा सकते हैं।

इसके पश्चात् उसका सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण काम है अभिनेताओं का चुनाव। प्रायः नाट्य-प्रयोक्ता लोग इस विषय में बड़े असावधान होते हैं और वे केवल किसी अभिनेता का अभिनय-कौशल या वाचिक अभिनय की कुशलता देखकर ही उसे चुन लेते हैं और यह विचार नहीं करते कि आकार-प्रकार और शारीरिक दृष्टि से भी वह योग्य है या नहीं। जो नाट्य-प्रयोक्ता स्वयं संचालक होते हैं वे प्रायः मुख्य अभिनेता

की भूमिका ग्रहण कर लेते हैं चाहे उनका रूप-रंग, आकार-प्रकार उसके योग्य हो या नहीं। नाट्य-प्रयोक्ता का पहला धर्म यह है कि वह पात्र के शरीर, डील-डौल आदि का सर्वप्रथम ध्यान रखे, क्योंकि पात्र की वपुष्मत्ता उसकी भूमिका की सर्वप्रथम और प्रत्यक्ष परिचायिका होती है। यह कर चुकने पर वह प्रत्येक अभिनेता की व्यक्तिगत भूमिका के अनुरूप तथा अन्य पात्रों से सम्बद्ध वाणी, उसकी चाल-ढाल और गतिविधि की शिक्षा दे।

इसके पश्चात् दृश्य-विधान, रंगदीपन आदि अन्य आवश्यक नाटक सम्बन्धी विधान करके जब नाटक प्रस्तुत किया जाय और दर्शक उससे प्रभावित हो जायँ तब समझना चाहिए कि नाटक सफल हुआ।

इसलिए नाट्य-प्रयोक्ता को ऐसे संस्कारशील अभिनेता चुनने चाहिए जिन्हें सिखाने में कम परिश्रम पड़े और जिन्हें सीखने में स्वाभाविक अभिरुचि हो।

नटनायक (प्रोटेगोनिस्ट)

यूनान में यह प्रथा थी कि किसी भी नाटक के प्रधान अभिनेता का चुनाव स्वयं नाटककार ही करता था किन्तु पाँचवीं शताब्दी से यह प्रधान नायक राज्यद्वारा ही चुना जाने लगा। यही प्रधान नायक समवेत-गायकों (कोरस) के प्रयोक्ता के साथ बैठकर अन्य अभिनेताओं को चुनता था। इस प्रकार धीरे-धीरे नाटक में उसका महत्त्व बढ़ चला और यह नटनायक (प्रोटेगोनिस्ट) ही आगे चलकर अभिनेताओं की मण्डली का मुखिया और नाट्य-प्रयोक्ता बन गया। आजकल तो किसी भी नाटक के प्रधान नायक को ही नटनायक (प्रोटेगोनिस्ट) कहने लगे हैं।

स्तानिसलवस्की की प्रणाली

कौन्स्तान्तिन स्तानिसलवस्की ने मास्को के आर्ट थिएटर में अभिनेताओं की शिक्षा के लिए कुछ सिद्धान्त और नियम बना रखे हैं। उसका मूल सिद्धान्त यह है कि अभिनेता को स्वयं अपनी प्रत्येक क्रिया में आत्म-समर्पण प्राप्त होना चाहिए। इस प्रणाली में पहले प्रत्येक पात्र की भूमिका का सूक्ष्म विश्लेषण कर लिया जाता है और फिर प्रत्येक दृश्य में उस दृश्य की प्रकृति के अनुसार उसे बुद्धिपूर्वक समझकर प्रभावशाली स्मृति के द्वारा सशक्त बना लिया जाता है। अभिनेता को यह शिक्षा दी जाती है कि उसने अपने जीवन में जिन क्रियाओं और भावों का स्वतः ज्ञान प्राप्त किया है उन्हें स्वाभाविक रूप से रंगमंच पर प्रदर्शित करे। इतना ही नहीं, वह अपनी प्रतिज्ञा के द्वारा उस भूमिका के अनुरूप परिस्थितियों, विचारों और चेष्टाओं की कल्पना करके

उस पात्र की भूमिका में ऐसा रम जाय कि उसी के समान आचरण करने लगे और यह आचरण केवल उतना ही न हो जितना नाटककार ने लिखा हो, वरन् स्वयं अभिनेता ही बिना किसी तैयारी के सद्यः उस पात्र के समान आचरण करके पात्र के व्यक्तित्व का अधिक पूर्ण चरित्र प्रस्तुत करे। यह स्वाभाविक और सद्यः चेष्टा (इम्प्रौविज़ेशन) ही स्तानिसलवस्की की नाट्य-शिक्षा-प्रणाली का मूल मंत्र है।

नाट्य-प्रयोग और निर्देश की आधुनिक प्रवृत्तियाँ

वर्तमान रंगशाला में एक विशेष प्रवृत्ति है नाट्य-प्रयोक्ता (डाइरेक्टर या रेज़ीसो) के प्रभावशाली अस्तित्व की। यद्यपि पहले के नाट्य-शिक्षक भी अभिनेताओं को एक विशेष ढंग से पाठ्य कहना और रंगमंच पर इस प्रकार चलना सिखाते थे कि वे एक दूसरे पर गिर न पड़ें और रंगमंच पर रखी हुई सामग्री से ठोकर न खायें तथापि हम जिस विशेष अर्थ में नाट्य-प्रयोक्ता की बात कह रहे हैं उसका आविर्भाव या प्रभाव सन् १८७० से ही अधिक दिखाई पड़ रहा है। 'साक्सैमौइ निगेन' नामक छोटे से जर्मन राज्य में जौर्ज द्वितीय ने सर्वप्रथम भीड़ में एक विशेष अभिनेता का प्रवेश कराकर नये प्रकार के नाटक का श्रीगणेश किया था, पेटिका-दृश्य-पीठ (बौक्स सेट) के ऊपर छत डाल दी थी और सन् १८७० के लगभग नवीन शैली के सहभावन-अभिनय (एन्सेम्बिल-ऐक्टिंग) की योजना की थी। इसके पश्चात् बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में ओटो ब्राह्म ने पहले-पहल रंगमंच पर प्रकृतिवाद का प्रवर्तन किया। इसके पश्चात् ओटो ब्राह्म के शिष्य माक्स रीनहार्ट ने जलपान-गृह (कबारा) से लेकर गिरजाघर और छोटी रंगशाला--(स्मौल थिएटर) से व्यायाम-चक्र-रंगशाला (सरकस थिएटर) तक सब प्रकार की रंगशालाओं में नेतृत्व किया। फिर रूसवासी मेयरहोल्ड ने प्रदर्शन-प्रधान रंगशाला (थिएटर-थिएट्रिकल) का प्रचार भी किया और प्रयोग भी। फिर तो छोटी से छोटी रंगशाला में भी नाट्य-प्रयोक्ता का आधिपत्य हो गया जिसका काम है शासन करना और प्रत्येक प्रयोग को इस प्रकार व्यवस्थित करना कि वह केवल भाषण-कला का प्रदर्शन न होकर नाटकीय कला (थियेट्रिकल आर्ट) का पूर्ण और सम्बद्ध प्रदर्शन हो।

तथ्यवाद और भव्यतरवाद (रीअलिस्टिक ऐंड थिएट्रिक)

इन नाट्य-प्रयोक्ताओं के कारण ही वर्तमान नाट्यजगत् की दो प्रसिद्ध प्रदर्शन-रीतियाँ चलीं—तथ्यवादी (रीअलिस्टिक) और प्रदर्शनवादी या भव्यतावादी (थिएट्रिक)। यद्यपि भव्यतावाद की अपेक्षा तथ्यवाद बहुत पुराना है तथापि भव्यतावाद

के सूत्र भी प्राचीन ऐतिहासिक काल के बहुत प्राचीन युग तक में प्राप्त होते हैं। किन्तु जब तक यन्त्र-युग रहेगा तब तक तथ्यवाद का बोलबाला रहेगा ही, इसी लिए आजकल प्रायः सब लोग भव्यतावाद (थियेट्रिक) की अपेक्षा तथ्यवाद से अधिक परिचित हैं। इस तथ्यवाद की पराकाष्ठा मास्को आर्ट थिएटर के नाट्य-प्रयोक्ता स्तानिसलवस्की के और कभी-कभी डेविड बैलास्को और वासिल डीन के प्रयोगों में अधिक देखने को मिलती है। भव्यतापूर्ण अभिनय (थिएट्रिक ऐक्टिंग) अभी तक रूस-जर्मनी से बाहर बहुत नहीं देखा गया है। अमेरिका और इंग्लैण्ड में इस भव्यता (थिएट्रिक) और कल्पनात्मक गति का परिचय नवीन रंग-विधान (स्टेज-क्रैफ़्ट) की दृश्य-सज्जा में अधिक मिलता है। तथ्यवाद और भव्यतावाद का यह संघर्ष दृश्य-सज्जा बनाने वाले दृश्यकारों और रंगमंच का रूपमान (डिज़ाइन) बनाने वाले लोगों की क्रियाओं में अधिक स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ता है जहाँ यह बाह्य रूप से व्यक्त किया जाता है। यद्यपि इनमें से तथ्यवादी तो प्रत्यक्ष-चित्रात्मक (फोटोग्राफ़िक) हैं और भव्यतावादी (थिएट्रिक) पूर्णतः कल्पनात्मक हैं। किन्तु ये दोनों ही विक्टोरिया युग की उस रंग-शाला के विरोध में उठ खड़े हुए थे जिसमें एक ही प्रकार की कुदर्शन और असंगत दृश्य-सज्जा का निरन्तर सब नाटकों में प्रयोग होता था।

तथ्यवादियों में बैलास्को चाहता था कि ठोस सत्याभास कक्ष ही रंगमंच पर प्रस्तुत किया जाय। जौर्डन क्रेग जैसे कल्पनावादी लोग इसके बदले सौन्दर्यपूर्ण या अभि-व्यंजनात्मक कौशल से पूर्ण वस्तु चाहते थे। बीसवीं शताब्दी के प्रथम महान् नाट्य-प्रयोक्ता माक्स रीनहार्ट में ये दोनों कलाएँ विद्यमान थीं जिसका परिणाम यह हुआ कि उस तथ्यवादी और कल्पनावादी कलाकार ने प्राचीन रंगशाला की यन्त्रात्मकता समाप्त कर दी। उसने दृष्टि-बद्धता (पर्सपेक्टिव), छिछली कृत्रिमता और फड़-फड़ाते हुए पिछले परदे पर के मटियाले रंग सब हटा दिये।

इन दोनों नवीन प्रवृत्तियों में तथ्यवाद की पहले विजय हुई। बीसवीं शताब्दी के बड़े-बड़े नाटककारों और दर्शकों की प्रवृत्ति ने इसका पोषण किया। इब्सन, हाउप्टमान, सुटेरमान, ब्रियो, इनिगो जोन्स और बर्नर्ड शा के सामने मैटर्लिक, फ़ौन हाफ़मान, स्हाल्ल और दअनुन्ज़िओ निस्तेज पड़ गये। इन नाट्य-प्रयोक्ताओं ने अभिनेताओं को भी ऐसी शिक्षा दी कि वे केवल आँख के संचार से कोई भाव प्रदर्शित कर सकते थे और ऐसी रीतियाँ निकालीं कि अभिनेता के चारों ओर ठोस वास्तविकता विद्यमान हो।

नाट्य-प्रयोक्ता और यांत्रिक प्रगति

यह तो ठीक है कि दृश्य को स्वाभाविक और वास्तविक बनाने के लिए खम्भे

खड़े किये जायँ, सीढ़ियाँ लगायी जायँ, भली भाँति जुड़ी हुई दीवारें बनायी जायँ किन्तु दृश्य बदलने के लिए इन्हें किस प्रकार सरलता, शीघ्रता और कम व्यय में हटाया-बढ़ाया जाय यह समस्या नाट्य-प्रयोक्ताओं के सम्मुख अवश्य विद्यमान थी। इसके लिए एकमात्र उपाय था यंत्र का प्रयोग। सर्वप्रथम अमरीका में सन् १८८८ में नाट्य-प्रयोक्ता, अभिनेता, नाटककार, चित्रकार और यंत्रकार स्टील मैककेई ने न्यूयार्क के मेडिसन्स स्क्वायर थिएटर में दुहरा उत्थापक रंगमंच (डबल एलिवेटर स्टेज) बनाया जिससे दृश्य-सज्जा और अभिनेता सबको दृश्य समाप्त होने पर हटाया जा सके। किन्तु यांत्रिक प्रगति का अधिक श्रेय जर्मनी को है जहाँ सन् १८९६ में म्यूनिख निवासी लाउटन श्लौयगेर ने जापान से चक्रिल रंगमंच (रिवौल्विंग स्टेज) लेकर उसका प्रयोग किया। इसके अतिरिक्त जर्मनी में फिसलन या सरकौवा मंच (स्लाइडिंग स्टेज) का प्रयोग भी किया गया जिसमें पहियों पर पूरा का पूरा दृश्यपीठ हटा दिया जाता है और मज्जनशील मंच (सिंकिंग स्टेज) का पूरा दृश्य नीचे से ऊपर ले आते हैं। कल्पनावादी अमेरिकी नाट्य-प्रयोक्ता आर्थर हौप्किन्स ने सन् १९१४ के लगभग चूलपर घूमने वाले मंच बनाये और अमेरिकी रूपमानकार (डिज़ाइनर) ली सिमन्सन ने छोटे-छोटे चक्रिल टुकड़े (रिवौल्विंग पीसेज़) अपने थिएटर गिल के प्रयोगों में लगाये जिन्हें घुमाने भर से दृश्य बदला जा सकता था। इस प्रकार रंग-संचालन और रंग-पीठ की व्यवस्था भी नाट्य-प्रयोक्ता के कर्तव्य का प्रमुख अंग बन गयी।

नाट्य-प्रयोक्ता और रंग-दीपन

गैस के युग से ही तथ्यवादी और कल्पनावादी प्रयोक्ताओं ने प्रकाश के सम्बन्ध में बहुत से प्रयोग प्रारम्भ कर दिये थे। इनमें सर्वप्रथम उल्लेखनीय प्रयत्न वेनिस-निवासी फौरतूनी ने जर्मनी में किया। उसका मत था कि फैला हुआ कोमल प्रकाश (डिफ्यूज़्ड डेलिकेट लाइट) ही रंगमंच पर दिया जाय तो छायादार स्थान में भी सूर्य के प्रतिबिम्बित प्रकाश (रिफ़्लेक्टेड लाइट) के समान हलका हो। उसने अपने आर्कलैम्प की सब प्रकाश-किरणें रंगीन रेशम पर घुमाकर उसकी प्रतिबिम्बित चमक रंगमंच पर डालते हुए हलके प्रकाश का विधान किया। उस रंगमंच में पीछे आकाशगुम्बद (स्काई-डोम या कुप्पेल हौरीज़ोन्त) भी असीम गहराई के आकाश का आभास देता हुआ प्रकाश को और भी फैला देता था। फौरतूनी के अतिरिक्त गौर्डन क्रेन के प्रसिद्ध प्रतिद्वन्द्वी अडोल्फ़ अप्पिया ने भी तलदीपों (फ़ुट-लाइट्स) के खुले प्रकाश के बदले मूर्ति पर पड़ने वाले छायादार छाया-प्रकाश के समान उस प्रकाश की योजना की जो चमक या आलोक के बड़े-बड़े आधारों से प्राप्त होता था। इसके पश्चात् तो बिजली

के प्रकाश का आश्रय लेने से जर्मनी और अमेरिका में बहुत विलक्षण पूर्णता आ गयी है। ड्रेसडन में काम करनेवाले उसके प्रसिद्ध प्रतिद्वन्द्वी मैक्स हेसायट और एडोल्फ़ लिनेबाफ़ ने तो ऐसी भी रीति निकाली कि प्रकाश के द्वारा पिछले परदे या पृष्ठभित्ति (साइक्लोरामा) पर पूरा दृश्य ही प्रदर्शित कर दिया जा सके।

बिजली के प्रकाश से पिछले परदे पर कोई दृश्य-सज्जा प्रस्तुत कर देना और यंत्रों द्वारा भारी और ठोस दृश्यों को हटा देना दोनों में बहुत अन्तर है। किन्तु ये दोनों ही प्रयोग क्रान्तिकारी थे, यहाँ तक कि औपेरा हाउस के पुराने ढंग की झूठी दृष्टि-बद्धता (पर्सपेक्टिव) में चित्रित उन परदों को भी कल्पनावादी प्रयोग में स्थान मिल गया जो वैसे ही नाटकीय ओज और अभिव्यंजनात्मक रंगों में रँगे हुए हों, जैसे रूस के चित्रकार बाक्स्ट, रोरिख या गोलोविन ने चित्रित किये थे। इनकी दृष्टि से यदि चित्रकार ने रंगमंच पर नाटक और उसकी भावपूर्ण प्रकृति को प्रस्तुत कर दिया तो उसने अपना परिश्रम सार्थक कर लिया। इस दृष्टि से रंग-दीपन और दृश्य-चित्रण की व्यवस्था का भार भी वर्तमान नाटक-प्रयोक्ताओं ने अपने ऊपर ले लिया।

नवीन रंग-विधान के प्रवर्तक

ऊपर बताया गया है कि बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में गौर्डन क्रेग और अडोल्फ अप्पिया ने दृश्य-विधान सम्बन्धी अपने नये प्रयोग किये क्योंकि उनके समय में रंगमंच पर सपाट और क्षुद्र कृत्रिमता से पूर्ण दृश्य-सामग्री का बोल-बाला था। परदों पर चित्रित पहाड़ या बनावटी मकान अत्यन्त मिथ्या दृष्टि-बद्धता और भद्दी कृत्रिमता से पूर्ण थे जिन्हें तथ्यवादी और कल्पनावादी दोनों प्रकार के नाट्य-प्रयोक्ताओं ने समान रूप से अमान्य कर दिया। गौर्डन क्रेग और अप्पिया चाहते तो सपाट दृश्यों और पीछे के परदों को रूसियों के समान नवजीवन दे डालते किन्तु दोनों ने इस कारण इनका विरोध किया कि त्रिपरिमाणीय (थ्री-डाइमेन्शनल) अभिनेताओं के साथ द्विपरिमाणीय (टू-डाइमेन्शनल) दृश्यों का मेल नहीं बैठता। इसलिए उन्होंने ऐसे ठोस दृश्यों, चट्टानों और दीवारों की योजना की जिसमें अभिनेता चल सकें, खड़े हो सकें और बैठ भी सकें।

गौर्डन क्रेग ने अपने लेखों या पुस्तकों में बताया है कि 'नाटक तो नाटककार, अभिनेता, चित्रकार और संगीतज्ञ के सहयोग से निर्मित समन्वित कला है जिसका रंगमंच पर एकीकरण होना ही चाहिए। रंगमंच का आदर्श कलाकार वही है जो नाटक लिख सके, अभिनेताओं को निर्देश दे सके, दृश्य और प्रकाश की व्यवस्था कर सके और आवश्यकतानुसार संगीत और नृत्य का भी संयोजन कर सके।'

स्विस डाक्टर अप्पिया ने सन् १८८०-९० के बीच तत्कालीन झूठी दृष्टि-बद्धता (पर्सपेक्टिव) का विरोध करके सचल रंगमंच (प्लास्टिक स्टेज) का समर्थन किया। क्रेग के ही समान वह भी नाट्य-प्रयोक्ता था; उसने विशेष रूप से प्रकाश के सम्बन्ध में अधिक काम किया। वैगनर के संगीत-नाटकों के प्रयोग के सम्बन्ध में उसने जो पुस्तक लिखी है उसमें उसने चित्रों के द्वारा समझाया है कि अभिनेताओं और प्रकाश की गतियों को किस प्रकार व्यवस्थित करना चाहिए। इसमें उसने समझाया है कि तलदीपो (फ़ुट लाइट्स) के बदले केन्द्रित दीप (स्पौट लाइट) किस प्रकार छाया उत्पन्न करते हैं, किस प्रकार प्रकाश और छाया मिलकर रंगमंच पर अभिनेताओं को मूर्ति-तुल्यता (स्कल्पचरस्क क्वालिटी) प्रदान करते हैं और किस प्रकार प्रकाश के परिवर्तन के द्वारा ही समय बीतने की सूचना और नाटक के विकास की स्थिति का निर्देश सम्भव हो सकता है।

क्रेग और अप्पिया के सिद्धान्तों ने पुराने दृश्य-पीठों को जब समाप्त कर दिया तब तथ्यवाद का प्रादुर्भाव हुआ जिसमें इन दोनों नाट्य-प्रयोक्ताओं की कोई रुचि नहीं थी, क्योंकि घोर तथ्यवाद में जीवन का वास्तविक चित्र प्रस्तुत करने की प्रवृत्ति इतनी बढ़ जाती है कि बैठक का दृश्य भी चीनी बरतनों की दुकान बन जाती है। इस घोर वास्तविकता के नाम पर वास्तविक और लकड़ी की बनी हुई न जाने कितनी अण्ड-बण्ड वस्तुएँ रंगमंच पर इधर-उधर ऐसे सजा दी जाती हैं कि दर्शक लोग अभिनय के बदले इसी सजावट के भ्रमजाल में चक्कर काटते रह जाते हैं। बैलास्को तथा अन्य तथ्य-वादियों ने इस बात को शीघ्र ही समझ लिया था इसी लिए अमरीका में हौप्किंस और नये रंगविधान के कलाकारों ने ऐसे कक्ष बनाये जो वास्तविक और विश्वसनीय दृश्य की झाँकी देने के साथ-साथ नाटक के भाव को भी व्यक्त करते हैं और जिनमें कोई ऐसी वस्तु भी नहीं होती जो अभिनय से मन हटाकर दृश्य में लगा दे।

भावात्मक दृश्य-सज्जा (ऐब्स्ट्रैक्ट सीनरी)

वर्तमान रंगशाला में यह भली भाँति समझ लिया गया है कि पृष्ठभूमि (बैक ग्राउंड) के द्वारा जो भाव उत्पन्न किया जाय वही मुख्य है और उसमें भौतिक संसार का जितना ही कम समावेश हो उतना ही अभिनेता नाटकीय कल्पना के आदर्श संसार में अधिक लीन हो सकता है। इसलिए नाट्य-प्रयोक्ता और रूपमानकार दोनों ने मिलकर भावात्मक दृश्यपीठ लगाने का प्रयोग किया। क्रेग ने भीतों के बदले परदों का ही प्रयोग किया। रौबर्ट ऐडमण्ड जोन्स ने परदों को बादामी और हरे रंग में रँगकर उन्हें इस प्रकार चुनकर लटका दिया कि उचित प्रकाश डालने पर वह जंगल सा

प्रतीत होने लगे। सन् १९२० से पूर्व वर्तमान नाट्य-प्रयोक्ता ग्रेनविल बार्कर के अधीन काम करते हुए नौर्मन विल्किन्सन ने और भी एक पग आगे बढ़कर परदों को परदा न मानकर उन पर किसी प्राकृतिक दृश्य का चित्रण करके या तारे बनाकर उन्हें चुन्नट दे-देकर सजा दिया और इस प्रकार पीछे के परदे की अर्धभ्रान्ति भी दूर कर दी।

इसके अतिरिक्त परदों का प्रयोग और भी अधिक भावात्मक रूप में किया जाने लगा। सन् १९१२ में क्रेग ने रंगशाला को सब आकारों के चुन्नटदार परदों से सजाने की ऐसी योजना बनायी कि उन्हें असंख्य रूपों में लगाया जा सकता था। जब मास्को आर्ट थिएटर में 'हैमलेट' नाटक खेलते समय स्तानसिलवस्की ने इस प्रणाली के परदों का प्रयोग किया तो उसे बड़ी व्यावहारिक कठिनाइयाँ हुई, जिन्हें क्रेग के शिष्य साम ह्यम ने अपने डेट्रौयट आर्ट ऐण्ड क्रैफ़्ट थिएटर में बनायी हुई दृश्य-योजना में दूर कर दिया।

आजकल की प्रवृत्ति वास्तविकता से हटकर भावात्मक (ऐब्स्ट्रैक्ट) और कल्पनात्मक (फ़ैन्टेस्टिक) होती जा रही है जिसका प्रभाव अभिनेता और अभिनय-पद्धति दोनों पर पड़ रहा है। हमारे देखते-देखते दि अधिलेफ़ के रूसी नाट्य-नृत्य (बाले) के मानचित्र-कार पिकासो जैसे वर्तमान चित्रकारों ने रंगमंच पर अभिव्यंजनात्मक प्रणालियों का प्रयोग भी आरम्भ कर दिया है। मेयरहोल्ड येब्रेयनोफ़, कोमिसारशेफ़स्की, तायरोफ और जेमाख़ आदि सभी रूसी नाट्य-प्रयोक्ता इसके अपवाद हैं और उन्होंने यह प्रयत्न किया है कि अभिनेता में और समवेत दृश्य-योजना (एन्सेम्बिल्) में ऐसा विशेष शैलीगत ओज उत्पन्न किया जाय जो पश्चिमी संसार के सब प्रदर्शनों से भिन्न हो।

अभिव्यंजनावाद और रचनावाद

अभिव्यंजनावाद (एक्सप्रेशनिज़्म) का उद्देश्य चाहे अभिनय में हो या दृश्य-सज्जा में हो, यही होता है कि भीतरी मनोवेग की जो अभिव्यक्ति जीवन के बाहरी पक्ष की समता से पहले आती है वही नाटककार और उसके नाटक के मनोवेग की अभिव्यक्ति होनी चाहिए। ये अभिव्यंजनात्मक नाट्य-प्रयोग लोगों के मन को आकृष्ट और उत्तेजित करने के लिए विकृति (डिस्टौर्शन) का अधिक प्रयोग करते हैं। इसमें द्वार विचित्र रूप से होते हैं। भीतें आगे को गिरती सी दिखाई पड़ती हैं। नीचे का तल भी अलौकिक कोणों में निकला पड़ता है। प्रकाश भी वास्तविकता से भिन्न चमकते हैं और प्रत्येक शब्द पर बदलते रहते हैं। अभिनेताओं की मुख-सज्जा भी विकृत रेखाओं के कारण विचित्र प्रतीत होती है और वर्तमान युग के पात्रों के वस्त्र भी अत्यन्त तीव्र प्रकाश और छाया में चित्रित होते हैं।

दूसरी ओर अप्पिया ने रचनावाद (कन्स्ट्रक्टिविज़्म) प्रारम्भ करके रंगमंच पर विभिन्न स्तर रखने की आवश्यकता पर बल दिया। रीनहार्ट के समय से जर्मनी के प्रसिद्ध नाट्य-प्रयोक्ता लियोपोल्ड जैसनर जैसे क्रान्तिकारी कलाभिज्ञ ने भी उसका अनुगमन करते हुए कट्टर अभिव्यंजनावादियों के नियमित रंगमंच पर इन विभिन्न प्रकार के स्तरों का प्रयोग किया है। सीढ़ियों, चौतरों और चौड़ी दीवारों (पेरापेट्) का प्रयोग करते हुए उसने अपने अभिनेताओं को तीन परिमाणों में संचालित करके उनके भौतिक सम्बन्ध को अधिक स्पष्ट कर दिया है। शेक्सपियर के सभी नाटकों के प्रयोगों में उसने एक प्रकार की सीढ़ी का प्रयोग किया है जिसके ऊपर उसने एमील पर्चन द्वारा बनाये हुए रेखाचित्र टाँग दिये थे जिनमें स्थान का निर्देश था और यह उस अ-रंग (न्यूट्रल) भीत में टाँगे गये थे जो प्राय: अप्रकाशित पृष्ठभित्ति (साइक्लोरामा) का अंग होती थी।

जैसनर के पश्चात् रंगशाला के विशेष आचार्य रूसवासी मेयरहोल्ड ने रचनावाद (कन्स्ट्रक्टिविज़्म) का विस्तार कला के रूप में किया जिसमें ऊँचे चौतरे, ढाँचेदार पेड़, ढलवाँ तल और सब प्रकार के नग्न भावहीन जोड़-तोड़ के ढाँचों के द्वारा उसने अभिनेताओं के लिए आधार और पृष्ठभूमि का और पुनर्जागरण काल के कौशल का ऐसा प्रयोग किया कि एक साथ तीन या चार स्थान प्रदर्शित किये जा सकें। इस प्रकार का प्रयोग अभिनव-भरत ने अपने देवता नामक नाटक के लिए किया था जिसमें एक साथ दस स्थान एक ही दृश्य में दिखाये गये थे और सभी स्थलों पर एक साथ नाटकीय व्यापार हो सकता था। तायरोफ़ ने इसके साथ परदे का अभिव्यंजनावाद (केनवेस एक्प्रेस-निज़्म) भी मिला दिया। मौस्को आर्ट थिएटर के संगीत-कक्ष में दान्तचैन्को ने अपने नाटकीय प्रयोगों में इस रचनावाद को अधिक परिष्कृत और मानित किया।

नाट्य-प्रयोक्ता और नयी रंगशाला

कुछ वर्तमान नाट्य-प्रयोक्ताओं ने वर्तमान रंगशाला को निश्चित रूप देने का प्रयास भी किया है जिसके कारण कुछ नये प्रकार के नाटकघर भी बने हैं। रौबर्ट एडमण्ड जोन्स ने एक रोमानेस्क शैली के पुराने भवन को हेमलेट नाटक के लिए स्थायी रूप से पूर्णत: बदल दिया। ऐसी योजना में अटारी (टरेट), जंगल या अन्य किसी स्थान के आभास का प्रयत्न नहीं किया जा सकता, केवल रंगशाला ही रंगशाला रहती है जो नाटक के रंग और भाव से रँगी रहती है। इस प्रकार के प्रयोग से प्रभा-वित होकर कुछ लोगों ने यूनानी और एलिज़ाबेथीय इंग्लैण्ड की रंगशाला के समान रंगशाला बनाने का भी प्रयोग किया। रीनहार्ट ने जर्मनी के एक अखाड़े वाले

सरकस (ए वन रील सरकस) भवनों में यूनानी त्रासद खेलने के पश्चात् इनमें से एक भवन को ग्रासेस शाउसपील हाउस के रूप में परिवर्तित कर दिया। इसमें अभिनेतागण गायनतल या रंगस्थली (आरकैस्ट्रा फ़्लोर) पर बैठे-बैठे दर्शकों के बीच में लाये जा सकते थे या आकाशगुम्बद और चक्रिल मंच से संयुक्त पूर्णतः समृद्ध वर्तमान रंग-शाला पर पहुँच सकते थे।

लगभग छः कलाकारों ने इनसे भी अधिक क्रान्तिकारी रंगशालाएँ बनायी हैं। इनमें से एक नौर्मन वेल गेडेज की योजना है जो अभी पूरी नहीं हुई है। इसमें रंग-मच उस आकाशगुम्बद (स्काईडोम) के कोने में रहता है और यह आकाशगुम्बद पूर्णतः प्रेक्षागृह में भी गोलाई बनाता हुआ ऊपर से घूम गया है। यह पूरा रंगमंच दृश्य-परिवर्तन के लिए नीचे डूब जाता है और वहाँ पहले से तैयार लुढ़कनेवाले रंगमंच इसके लिए प्रस्तुत रहते हैं। शिकागो की विश्वप्रदर्शनी के लिए मैककेई ने जो दर्शकशाला (स्पैक्टेटोरियम) बनायी थी उसमें दस सहस्र मनुष्य बैठ सकते थे। इसके रंगमंच पर बाहर प्रयुक्त होनेवाले बहुत से नये सुधार भी विद्यमान थे, जैसे आकाशगुम्बद (स्काई-डोम), इच्छानुसार परिवर्तनशील अग्रमंच-मुख (प्रोसीनियम ओपिनिंग), आगे का मंच (फोर स्टेज), बादल उत्पन्न करने का यंत्र और पहिये पर सरकने वाला सरकौवा मंच (स्लाइडिंग स्टेज)। यह पूरा का पूरा मंच कोलम्वस द्वारा अमेरिका की खोज में दिखाने वाले दृश्य में पानी में डुबो दिया जा सकता था।

यूरोप में दो नवीन रंगशालाएँ बनीं; एक तो कोप्यू का न्यू कोलम्बिए और दूसरा एडोल्फ़ वेटर द्वारा वियना में थिएटर इन-डेमरे डाउटेनसाल, जो सभी राज्य-रंगशालाओं में प्रमुख थी। न्यू कोलम्बिए तो छोटा नाटकघर था जिसमें अग्रमंच-मुख हटा दिया गया था और दर्शककक्ष तथा रंगमंच दोनों एक ही पूरे भवन-कक्ष में व्याप्त थे। रंगमंच पर स्थायी सीढ़ियाँ और छज्जे बना दिये गये थे जिससे कुछ थोड़ी सी अदल-बदल के साथ उसके उदात्तवादी (क्लासिकल) बाह्य भाग को 'ट्वेल्थ नाइट' के दृश्य के लिए परिवर्तित किया जा सकता था।

थिएटर इन डेमरे डाउटेनसाल भी बिना अग्रमंच वाला नाट्यगृह था जहाँ विशाल और भव्य मेरिया थेरेसा के नृत्य-कक्ष में वेटर और ओबरबाउराट सीबेस्टियन हीन-रिख ने एक अभिनय का चौतरा बना दिया जिसमें न अग्रमंच था और न उसके ऊपर का परदा टाँगने का शून्य भाग (फ़्लाइ) था जिसमें परदे उठाकर लटका दिये जाते हैं। इस चौतरे पर पीछे की ओर एक वृत्ताकार दीवार लगभग पन्द्रह फुट ऊँची थी जिस पर उस भवन की सज्जा के अनुरूप कुछ सजावट की आकृतियाँ बनी हुई थीं और जो

इस रंगमंच का स्थायी रंगपृष्ठ था। इसके बीच में ऊपर छज्जे पर जाने के लिए दुहरी सीढ़ियाँ थीं और छज्जे पर बड़े-बड़े द्वार थे जो दूसरे कक्षों में जाने के लिए बने थे। इस भवन की सुनहरी दीवार में खिड़कियाँ और द्वार बने हुए थे। परदे या सरल दृश्य-पीठ (सेटिंग) के खण्ड ही इस दृश्यपीठ को बदलने के और स्थान तथा भाव का निर्देश करने के लिए काम आते थे। इनके अतिरिक्त जर्मनी में गेयोर्ग कैसर और वाल्टर हासेन क्लेवर ने वर्तमान स्वतंत्र और स्पष्ट नाटकों को भी अत्यन्त तीव्रगतिक भावात्मक रूप में प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया किन्तु वह प्रयत्न सफल नहीं हुआ। इसी प्रकार रचनावादी शैली में नाटक प्रस्तुत करने का रूसियों का प्रयत्न भी बहुत सफल नहीं हुआ।

नवीन नाटकीय रूप अमेरिका के प्रसिद्ध लेखक यूनेज ओ'नील की लेखनी से ही प्राप्त हुआ। ओ'नील ने अपना अभिव्यंजनात्मक नाटक 'बाल वाला बन्दर' (दि हेयरी एप), रचनावादी प्रयोग 'एम्स के वृक्ष तले इच्छा' (डिज़ायर अण्डर दि एम्स), मुखौटों का नाटक 'महान् गार्ड ब्राउन' (दि ग्रेट गार्ड ब्राउन), नौ अंकों का अभिव्यक्त विचारों की व्याख्या वाला 'विचित्र अन्तराल' (स्ट्रेन्ज इन्टरल्यूड) और उसका छपा हुआ नाटक 'लज़ारफ हँसा' (लज़ारफ लौफ्ड) ही ऐसे पूर्ण प्रयत्न हैं जिनमें किसी नाटककार ने वर्तमान नाट्य-प्रयोक्ताओं की शैली में निर्देश, दृश्य-विधान और अभिनय व्यवस्थित किया है।

यान्त्रिक नट-विद्या (बायो मिकेनिक्स)

सेवेलोड मेयरहोल्ड ने अभिनेताओं को शिक्षित करने के लिए सन् १९२२ ई० में एक यान्त्रिक नट-विद्या-प्रणाली (बायो-मिकेनिक्स) का प्रवर्तन किया जो उसके निर्माणात्मक रंगमंच (कन्स्ट्रक्टिव स्टेज) के लिए उचित सिद्ध हो सके, क्योंकि उसके रंगमंच पर विभिन्न स्तरों के मंच और उन मंचों पर अनेक आकार-प्रकार के लकड़ी के ढाँचों, सीढ़ियों तथा ढोल आदि विचित्र स्तरों पर कूदकर जाना पड़ता था। इन रूसी नाट्य-प्रयोक्ताओं ने नृत्य-नाट्य (बाले) और कोमीदिया दलार्ते की रूढ़ियों से प्रभावित होकर शारीरिक स्फूर्ति और शरीर तथा अंग-संचार के कुछ विशेष कौशल या आयास बना लिये थे। तायरोफ़ का मत था कि नाट्य में गति और लय (ह्रिद्म) हो। वाख़्तांगो स्फूर्ति तथा लोच चाहता था। मेयरहोल्ड ने अभिनेता के शरीर को ऐसा साधन मान लिया था जिसे अत्यन्त श्रेष्ठ रूप में गतिशील बनाये रखा जाय कि वह संचालक के प्रत्येक आदेश के अनुसार यथेच्छित गति से काम करे।

दुहरे अभिनेता (अण्डर स्टडी)

नाट्य-प्रयोक्ता को दुर्घटना और आकस्मिक घटना के लिए भी तैयार रहना चाहिए। क्योंकि यदि कोई मुख्य पात्र किसी कारणवश अनुपस्थित हो जाय तो उसका काम रुका न रहे। इसके लिए प्रायः नाट्य-प्रयोक्ता किसी समर्थ व्यक्ति को नाटक में कोई छोटी भूमिका दे देते हैं किन्तु उसे मुख्य पात्र की भूमिका के लिए तैयार भी रखते हैं। ऐसे दुहरे पात्र (अण्डर स्टडी) अभिनेता बहुत काम के होते हैं। प्रायः नाट्य-प्रयोक्ता इन दुहरी भूमिका वाले पात्रों की ओर से उदासीन रहते हैं किन्तु यह बड़ा भारी भ्रम है। इन्हें भी उसी कौशल और पूर्णता के साथ शिक्षा देनी चाहिए, जैसे प्रधान नायक को।

विद्युद्दाम अभिनेता

कुछ नाटकों में नाट्य-प्रयोक्तागण ऐसे कुशल कलाकार रख लेते हैं जो धड़ा-धड़ वेश बदलकर कई अभिनेताओं का काम कर लेते हैं। यद्यपि इस प्रकार के कुशल अभिनेताओं के कारण नाटक सजीव तो हो जाता है किन्तु दर्शकों को यह रहस्य ज्ञात हो जाता है और वे उतना रस नहीं ले पाते जितना अलग-अलग व्यक्तियों के द्वारा अलग भूमिका ग्रहण करने वाले पात्रों से प्राप्त होता है।

सवेश नाट्याभ्यास (ड्रेस रिहर्सल या रिपीटेशन जनरेल)

प्रायः व्यावसायिक नाट्य-मण्डलियाँ तो पात्रों को वेश-भूषा पहनाकर नाटक से पूर्व रंग-संचालन, वाद्य-संगति, प्रकाश-व्यवस्था आदि सम्पूर्ण साधनों के साथ अभ्यास कर लेती हैं किन्तु साधारण नाट्य-मण्डलियों में इसकी बड़ी उपेक्षा होती है। इसका परिणाम यह होता है कि पहले दिन नाटक में अनेक त्रुटियाँ रह जाती हैं और नाट्य-मण्डली केवल यही समझकर सन्तोष कर लेती है कि यह तो सवेश अभ्यास (ड्रेस रिहर्सल) था। साधारणतः यूरोप में यह नियम है कि नाट्य-मण्डलियाँ अपना नाटक खेलने से एक दिन पूर्व कुछ गिने-चुने लोगों को, विशेषतः नाट्यालोचकों, कलाप्रेमियों, साहित्यकारों और पत्रकारों को बुलाकर पूरी तैयारी के साथ नाटक खेलते हुए अपने अल्पसंख्यक दर्शकों से सब दोष और त्रुटियाँ पूछकर अपने नाटक का संस्कार कर लेती हैं। संयुक्त राज्य अमेरिका में तो न्यूयार्क से दूर किसी समर्थ थिएटर में यह अभ्यास करते हैं। इस अभ्यास से नाटक प्रस्तुत करने में तो सुविधा होती ही है, साथ ही आलोचकों को पहले बुला लेने से आय भी अधिक होने की आशा रहती है। इस सवेश नाट्याभ्यास (ड्रेस रिहर्सल, रिपीटेशन जनरेल या ट्राई आउट) में कभी-कभी बहुत सी नाट्य-

मण्डलियाँ टिकट भी लगाती हैं और उस दिन की आय किसी संस्था को दे डालती हैं। चाहे टिकट लगाया जाय या न लगाया जाय किन्तु यह आवश्यक है कि नाटक से एक दिन पूर्व वेश-भूषा, रंग-पीठ, रंगसज्जा, संगीत-वाद्य और प्रकाश-व्यवस्था के साथ अभ्यास करके अपनी त्रुटियों का परिज्ञान कर लिया जाय, जिससे मुख्य खेल के दिन कोई असुविधा न उत्पन्न हो, क्योंकि कभी-कभी दियासलाई, अँगूठी, रूमाल, पत्र, एक लोटा जल, रक्त के लिए घुला हुआ रंग, लाठी, लकड़ी जैसी छोटी-छोटी और महत्त्वहीन वस्तुओं के अभाव में अथवा समय पर घण्टा न बजने, बत्ती न जलने, पेटी न खुलने आदि की ऐसी गड़बड़ी हो जाती है कि नाटक नष्ट हो जाता है। इसलिए नाट्य-प्रयोक्ता को केवल निर्देश देकर ही सन्तुष्ट नहीं हो जाना चाहिए, वरन् नाटक से एक दिन पूर्व कुशल, स्पष्ट, निष्पक्ष आलोचकों के सम्मुख सवेश नाट्याभ्यास करके नाटक की पूर्णता और सफलता निश्चित कर लेनी चाहिए।

नाटककार द्वारा रचित रूपक के लिए नटों को शिक्षा देनेवाला नाट्य-प्रयोक्ता कैसा हो, कौन हो, उसमें क्या गुण हों, वह किस प्रकार नटों को चुने, उन्हें कैसे शिक्षा दे तथा अभिनय और संगीतादि के द्वारा रंगपीठ पर नाटक का प्रयोग कराकर प्रेक्षकों के हृदय में कैसे रसोत्पादन करके उनका मनोविनोद करता हुआ उन्हें उपदेश और शान्ति प्रदान करे; यह जान चुकने पर स्पष्ट हो जाता है कि नाट्य-प्रयोक्ता वह व्यक्ति है जो विशेष पर्व के योग्य खेलने के लिए नाटक चुने, अभिनेता चुने, चुनकर नाटक की भूमिका वितरित करे, वितरण करके अभिनेताओं को चारों प्रकार के अभिनय (आंगिक, वाचिक, आहार्य, सात्त्विक) की शिक्षा दे, संगीत सिखाये और नाटक की शिक्षा पूरी होने पर रंगमंच, दृश्य-सज्जा और प्रकाश की व्यवस्था करके उस नाटक का यथाविधि रंगमंच पर प्रयोग कराये।

नाट्य-प्रयोग की शैलियाँ

रंगमंच पर नाटक प्रस्तुत करने के जिन बहुत से ढंगों पर इधर विचार किया गया है उनमें दो शैलियाँ विशेष प्रसिद्ध हुई हैं; एक है भावात्मक या प्रतीकात्मक (प्रेज़ेन्टेशनल) और दूसरी है तथ्यात्मक (रिप्रेज़ेन्टेशनल)। इस दूसरी शैली में नाटक की प्रत्यक्ष या भौतिक पृष्ठभूमि को अधिक महत्त्व दिया जाता है तथा पहले वाली भावात्मक शैली में नाटक की भावना या वृत्ति को महत्त्व दिया जाता है तथा यह महत्त्व दृश्यपीठ-योजना और अभिनय दोनों में समान रूप से व्याप्त रहता है।

भावात्मक नाट्य-प्रदर्शन

भावात्मक (प्रेज़ेन्टेशनल) नाट्य-प्रदर्शन में भाव-व्यंजना अधिक होती है, चित्र

की यथार्थता कम। इस प्रदर्शन में पात्रों और घटनाओं को वास्तविक रूप में प्रस्तुत करने के बदले केवल एक शैली के रूप में उपस्थित किया जाता है। इस शैली में सम्पूर्ण अभिव्यक्तिजनक उपायों से नाटकीय कथा प्रस्तुत या अभिव्यक्त की जाती है। चीनी या जापानी रंगशाला के समान इस शैली के प्रदर्शन में कभी-कभी प्रतीक का भी अधिक महत्त्व होता है, जैसे एक पंखा ही तलवार या किसी अन्य विशेष वस्तु का, एक विशेष रंग किसी विशेष प्रकार के चरित्र का और कुछ पग चलना ही लम्बी यात्रा का बोधक हो सकता है। अर्थात् इस शैली में किसी वस्तु या परिस्थिति को प्रत्यक्ष दिखाने के बदले केवल उसकी व्यंजना कर देना या उसका प्रतीक मात्र उपस्थित कर देना ही पर्याप्त समझा जाता है। भरत ने अपने नाट्यशास्त्र के चित्राभिनय प्रकरण में विस्तार से बताया है कि किस प्रकार किस वस्तु, स्थिति, घटना या दृश्य की व्यंजना किस मुद्रा के अभिनय से करनी चाहिए। इन प्रसंगों, बल्कि सूर्योदय, चन्द्रोदय तक के लिए भी मुद्राएँ निश्चित कर दी गयी हैं। यूनानी रंगशाला में इस प्रदर्शनात्मक शैली के लिए रीतिवाद (फ़ौर्मेलिज़्म) का समर्थन किया गया है। वहाँ विभिन्न चरित्र के पात्रों के लिए विशेष आकृति वाले मुखौटे और विशेष वेश-भूषा स्थिर हो गयी। ऊँचे तल्ले के जूते और गद्दे भरे कपड़े पहन-पहनकर अभिनेता बहुत लम्बे और मोटे होने लगे। मुखौटों के कारण मुखमुद्रा प्रदर्शित करना तो सम्भव नहीं था इसलिए सब संवाद एक विशेष ढंग से बोले जाते या यों कहिए कि पढ़े जाते थे और अभिनेता भी ऐसे ही लोग चुने जाते थे जिनके स्वर दूर तक सुनाई पड़ें। चाहे उनकी मुखाकृति उपयुक्त हो या न हो, क्योंकि मुखाकृति तो मुखौटे से बन्द ही हो जाती थी। चारों ओर से बँधे हुए इन अभिनेताओं की गति अत्यन्त भव्य और मंथर होती थी। प्रहसन में भी रहस्यात्मक शैली ने त्रासद की रूढियों का स्थान ले लिया। आरक्रेस्ट्रा में त्रासद के समवेत गायक पंक्ति बाँधकर प्रविष्ट होते, पाठ करते, नृत्य करते और एक निश्चित ढंग से गाते थे। भीतर के दृश्य या तो बाहर ठेल दिये जाते थे या पहिये पर धकेल दिये जाते थे। इसके लिए बीच में द्वार बने ही थे। कुछ-कुछ भावात्मक प्रभाव चित्रित पक्षों वाली चक्रिल त्रिफलकीय दृश्यपीठिका (पेरियाक्तोई) द्वारा दिखा दिये जाते थे। नाटक के दृश्य और परिस्थिति की व्यंजना के लिए इतना पर्याप्त समझा जाता था और नाटक ज्यों का त्यों प्रदर्शित कर दिया जाता था।

अत्यन्त लोकप्रिय एलिज़ाबेथीय रंगशाला में एक नग्न मंच (नेकेड स्टेज) या अग्रमंच (एप्रन) होता था जो जनता के बीच तक बढ़ा हुआ रहता था। एक परदा (आरास) भीतरी रंगशाला और अग्रमंच के बीच में टँगा रहता था जिसके ऊपर रंगमंच का ऊपरी खंड या छज्जा होता था। भीतर के रंगमंच पर तो सिंहासन, प्रकोष्ठ,

शयनप्रकोष्ठ या अन्य प्रकार के दृश्यपीठ बनाये जाते थे किन्तु अग्रमंच पर किसी प्रकार का दृश्यपीठ नहीं होता था यद्यपि अधिक नाट्य-व्यापार इसी अग्रमंच पर होता था। इस रंगमंच पर कुछ थोड़े से परीवाप (फ़र्नीचर), झण्डे या चिह्नों द्वारा दृश्य का संकेत दे दिया जाता था। संवाद भाषण-शैली में कहे जाते थे और दर्शक भी स्वगत (सौलिलौकी), आकाश-भाषित, जनान्तिक (एसाइड) आदि के द्वारा सम्बोधित किये जाते थे। आलंकारिक शैली (बारोक) की भव्यता और स्वैरवादी (रोमांटिक) युग की विलासिता के द्वारा यह भावात्मक या प्रतीकात्मक प्रदर्शन १९वीं शताब्दी के मध्य तक चला। इस युग तक यद्यपि अग्रमंच नाम मात्र को ही रह गया था फिर भी अधिकांश नाट्य-क्रिया उसी पर होती थी जो दृश्यपीठ (सेटिंग) या दृश्यों (सीन्स) के आश्रय से होने वाले नाट्य-व्यापार से भिन्न थी।

यह नहीं समझना चाहिए कि यह प्रतीकात्मक या भावात्मक प्रदर्शन उसी युग में समाप्त हो गया। आजकल भी बहुत-सी नाट्य-प्रदर्शन-प्रणालियाँ प्रतीकात्मक या भावात्मक (प्रेज़ेन्टेशनल) ही हैं, जैसे—

(क) प्रतीकवाद (सिम्बौलिज़्म), जिस का प्रवर्तन अडोल्फ़ अप्पिया और गौर्डन क्रेग ने किया। ये लोग पूरी पृष्ठभूमि का चित्र प्रस्तुत करने के बदले उस दृश्य को व्यंजित करने के लिए दृश्यपीठ का केवल एक तत्त्व, जैसे सड़क के दृश्य के लिए केवल सड़क की लालटेन प्रस्तुत करना ही पर्याप्त समझते हैं, या जैसे चीन में फूलदार गलीचा ही उपवन का प्रतीक होता है।

(ख) रीतिवाद (फ़ौर्मेलिज़्म), जिसका प्रयोग जेक्स कोपू ने पेरिस में प्रकृतिवाद की प्रतिक्रिया के रूप में प्रारम्भ किया था। इन्होंने पूरे दृश्य को एक साधारण दृश्यपीठ (सेटिंग) के रूप में उपस्थित करके छोड़ दिया। इस रंगशाला के आगे के जिस भाग में अधिकांश नाट्य-व्यापार होता है उसमें ये कोई दृश्यपीठ नहीं लगाते वरन् पीछे की ओर एक स्थायी निश्चित दृश्यपीठ लगा रहता है। अपने इसी प्रकार के एक रूपात्मक प्रदर्शन के लिए मैक्सरीन हार्ट ने केवल एक अत्यन्त सजावटपूर्ण परदा ही टाँग लिया था।

(ग) नाटकीयतावाद (थिएट्रिकलिज़्म), यद्यपि नाटकीयतावाद का रूप प्राचीन रंगशालाओं में भी विद्यमान था किन्तु इसका पूर्ण विकसित रूप सोवियत रूस के नाटकों में दिखाई पड़ा, जो वाख़्तानगो और तैरोव ने तथा हबीमा थिएटर ने प्रयुक्त किये थे। इनमें भड़कीली शैली के प्राच्य रंग वाले, बरलेस्क (भँड़ैती) की चंचलता वाले, नृत्यात्मक गति वाले, अत्यन्त उद्दाम तथा स्वच्छन्द नाटकीयता से भरे दृश्य और अभिनय दिखाये जाते थे। यह शैली प्रायः संगीत-नाट्य-दृश्य (रेव्यू), नृत्य-नाटक (डान्स

ड्रामा) और रहस्यात्मक नाटकों (मिस्टरी प्लेज़) के लिए प्रयुक्त हुई है।

(घ) निर्माणवाद (कन्स्ट्रक्टिविज़्म), यह थोड़े दिनों का आन्दोलन था जिसे सोवियत के नाट्य-प्रयोक्ता मेयरहोल्ड ने चलाया था। उसने लकड़ी के अनेक ढाँचों, सीढियों, ढोलों और छज्जों आदि के असंगत मेल से दृश्य बनाया था जिसमें भीतर का या दूर के दृश्य का कोई प्रभाव या प्रदर्शन नहीं होता था। उससे केवल एक नाट्य-व्यापार की पृष्ठभूमि का बोध अवश्य होता था। इसमें अभिनय भी नटविद्या के समान बाह्य होता था जिसमें पात्रों के भावों और विचारों का संक्रमण करने के बदले विज्ञापन का अधिक अंश होता था। इसमें अभिनेता को ऐसा यंत्र समझा जाता था जो लययुक्त शारीरिक क्रियाओं का एक विशेष प्रकार से संचालन कर सके।

(ङ) अभिव्यंजनावाद (एक्सप्रेशनिज़्म), यद्यपि इसका प्रारम्भ बहुत पहले हुआ था किन्तु इसका अधिक विकास प्रथम महायुद्ध (१९१४-१९) के पश्चात् जर्मनी में हुआ। इसने कुरूपता को अर्थात् बाहर की वास्तविकता को देखकर किसी पात्र का आध्यात्मिक दारिद्रय, मानसिक विक्षोभ, मूर्च्छा, मानसिक द्वन्द्व आदि भीतर की स्थिति जानने और समझने का प्रयास किया। वह तत्त्व ग्रहण करने के पक्ष में था, किसी व्यक्ति या परिस्थिति का रूप ग्रहण करने के पक्ष में नहीं।

(च) भव्य शैली (ईपिक स्टाइल), यह शैली पिस्केटर और जर्मनी के सामाजिक रंग-भवनों ने समुन्नत की। राष्ट्रीय समाजवाद की विजय से पहले ही इसका विकास हो गया था। इसका प्रयत्न यह था कि तत्कालीन समाज की विभिन्न दृश्यावलियों को वैज्ञानिक ढंग से ग्रहण करे, व्यक्ति को समूह से तथा आर्थिक और राजनीतिक वास्तविकताओं से सम्बद्ध कर दे। इस उद्देश्य से लोग अत्यन्त गतिशीलता से एक साथ कई दृश्य दिखाने लगे। इस शैली में सामाजिक तथ्य सीधे उपस्थित किये जाते थे अर्थात् वास्तविक दृश्य, उड़ान दृश्य (फ़्लाइट), विवरणात्मक चित्र (चार्ट फ़िल्म) और पद-चकरी (ट्रेडमिल) पर एक के पश्चात् दूसरे स्थिर दृश्य (टैबलो) घुमाकर प्रस्तुत कर दिये जाते थे। यह विवरणात्मक शैली अमेरिका के 'सजीव समाचारपत्र' (लिविंग न्यूज़पेपर्स) के रूप में आकर पूरी हुई, जिसमें श्रम और बिजली की शक्ति की राष्ट्रव्यापी समस्याओं को नाटक के रूप में उपस्थित किया जाता है।

ध्यान देने की बात यह है कि रीतिवादी (फ़ौर्मेलिस्ट), नाटकीयतावादी (थिएट्रिकलिस्ट), निर्माणवादी (कन्स्ट्रक्टिविस्ट) और अभिव्यंजनावादी (एक्सप्रेशनिस्ट) शैलियों में नाट्य-प्रयोक्ता ही प्रमुख होता है। प्रतीकवाद (सिम्बौलिज़्म), नाटकीयतावाद (थिएट्रिकलिज़्म) और अभिव्यंजनावाद (एक्सप्रेशनिज़्म) में दृश्य-चित्रकार

(सीन-पेन्टर) का कार्य महत्त्व का होता है; और भव्य शैली (ईपिक स्टाइल) में यांत्रिक और शिल्पी का महत्त्वपूर्ण हाथ होता है। इनमें बिजली के प्रकाश का भी बहुत महत्त्व होता है क्योंकि प्रतीकवाद और अभिव्यंजनावाद में तो प्रकाश से भाव जागरित कराया जाता है तथा अभिव्यंजनावाद और भव्य शैली में प्रकाश के सहारे एक छोटे दृश्य से दूसरे छोटे दृश्य में पहुँचाने का कार्य कराया जाता है।

तथ्यात्मक नाट्य-प्रदर्शन

तथ्यात्मक (रिप्रेज़ेन्टेशनल) प्रदर्शनों में दर्शकों के सम्मुख इस प्रकार नाटक के दृश्य और अभिनय प्रस्तुत किये जाते हैं मानो वे किसी वास्तविक दृश्य को देख रहे हों, किसी रूढ या विशिष्ट प्रतीकात्मक दृश्य को नहीं। इसका उद्देश्य है वास्तविकता का भ्रम उत्पन्न करना, यद्यपि इस प्रकार के वास्तविक-तुल्य दृश्यात्मक दृश्यपीठों का प्रयोग कभी-कभी यूनानी, मध्यकालीन और एलिज़ाबेथीय रंगशालाओं में भी होता रहा। किन्तु वास्तव में दृश्यपीठों द्वारा वास्तविकता प्रदर्शित करने का काम हुआ इटली में, पुनर्जागरण काल में, जो इटली के चित्रकारों के कौशल तथा पुनर्जागरण-काल के शिल्पियों की मौलिकता का परिणाम था और जिसके कारण दृष्टि-बद्धता (पर्स्पेक्टिव) के सिद्धान्त का विकास हुआ। फलतः रंगमंच को दर्शकों से अलग कर दिया गया और अग्रमंच (प्रोसीनियम) के पीछे अभिनय होने लगा। दृष्टि-बद्धता के क्रम से चित्रित पखवाइयाँ लगाकर अत्यन्त चित्रमय दृश्यपीठ बनाया गया और धीरे-धीरे सम्पूर्ण अभिनय ही इस दृश्यावली के भीतर होने लगा। उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में इन दृश्यों में ठोसपन आने लगा। घूमने, बन्द होने एवं खुलने वाले द्वार और खिड़कियाँ लग गयीं और छत भी पाट दी गयी। यह एक प्रकार का डब्बाकार रंगमंच (बौक्स स्टेज) बन गया जिसमें पूरी परिस्थिति की वास्तविकता का पूरा भ्रम हो। अभिनव-भरत ने काशी की अभिनव रंगशाला का निर्माण इसी शैली पर कराया था। इस वास्तविक-तुल्य चित्रित रंगमंच के लिए व्यक्तिगत और सामूहिक अभिनय को प्रभावशाली बनाया जाने लगा। गति, अभिनय, वाणी और वेश-भूषा सब स्वाभाविक होने लगे और यह प्रेरणा दी जाने लगी कि अभिनेता रंगमंच पर ठीक वैसा ही आचरण करे जैसा मूल पात्र इसी परिस्थिति में रखे जाने पर करते। इस अभिनय-पद्धति में दर्शकों की उपेक्षा की गयी, कभी-कभी दर्शकों की ओर से पीठ फेरकर भी अभिनय होने लगा मानो दर्शक उस रंगमंच पर प्रदर्शित प्रकोष्ठ की अदृश्य चौथी दीवार में से झाँक रहे हों। इस यथार्थवादी शैली के प्रवर्तकों में थिएत्रे लिब्रे के एंत्वायन, स्तानिसलवस्की और ओटो ब्राह्म प्रमुख हैं जिनके हाथ में यह शैली विकसित होते-होते

इतनी अनाटकीय हो गयी कि उसमें वास्तविक चित्र की सटीकता दिखायी जाने लगी। वास्तविकता को इस अतिरेकपूर्ण शैली को ही प्रकृतिवाद (नैचुरलिज़्म) कहते हैं जिसका अत्यन्त आडम्बरपूर्ण और अतिरंजित किन्तु पूर्णतः भिन्न और विचित्र रूप अमेरिका में बैलास्कोइज़्म कहलाता है। सोवियत रूस में यह तथ्यवाद या यथार्थ-वाद नाट्य-सज्जा की दृष्टि से उस रूप में परिवर्तित हुआ जिसे समाजवादी यथार्थवाद (सोशल रीअलिज़्म) कहते हैं, जिसमें किसी प्रदर्शनकार के द्वारा स्थायित्व, शाश्वत सौन्दर्य और दुःख का प्रदर्शन दिखाने के बदले गति और विकास पर अधिक बल दिया जाता है। अमेरिका के नाट्य-प्रयोक्ता आर्थर हौप्किंस ने १९१८ में यथार्थवादी नाटकों की घातक अवास्तविकता पर आक्षेप करते हुए कहा था कि वे (यथार्थवादी नाटक) तो स्वयं अपने प्रति लोगों का ध्यान आकृष्ट करते हैं और इस प्रकार उनमें कृत्रिम रचना का ही प्राधान्य हो जाता है। उनके दर्शक केवल इसलिए ताली पीटते हैं कि उनमें अनुकरण इतना अच्छा हो रहा है। किसी भी प्रकार की शैली यदि भली प्रकार प्रदर्शित की जाय तो वह बलपूर्वक प्रभाव डालेगी ही किन्तु वह तत्काल अभिनय के लिए उचित पृष्ठभूमि भी बन जायगी। फिर भी प्रकृतिवाद के अतिरेक की प्रतिक्रिया के रूप में उसका दूसरा सुधरा हुआ रूप भी चला है जिसे 'विशिष्ट तथ्य-वाद' (सिलेक्टिव रीअलिज़्म) कहते हैं, जिसमें किसी वास्तविकता को ज्यों का त्यों प्रदर्शित करने के बदले चयन और विशिष्ट विवरणों के द्वारा वास्तविकता का प्रभाव मात्र डाला जाता है। आजकल यथार्थवादी प्रदर्शनों में यही शैली अधिक प्रचलित है।

वर्तमान रंगशालाओं में उपर्युक्त दोनों शैलियों का स्वतंत्रता के साथ प्रयोग होता है। शैली कोई भी क्यों न हो, व्यावहारिक और आलोचनात्मक दृष्टि से उसकी कसौटी यही है कि उस शैली से नाटकीय प्रभाव उत्पन्न होता है या नहीं और वह नाटक के लिए उचित है या नहीं। इन विभिन्न प्रदर्शन-शैलियों के कारण आजकल के नाटक भी बहुत ढंग से लिखे जाने लगे हैं। ऐतिहासिक दृष्टि से देखा जाय तो नाटक-रचना की शैलियाँ वास्तव में उन्हें प्रस्तुत करने के ढंग के अनुसार ही विकसित हुई हैं। संस्कृत के नाटकों की रचना में एक अंक में ही मत्तवारणी के भीतर कम से कम दो दृश्य प्रस्तुत कर दिये जाते थे और रंगपीठ पर उपस्थित अभिनेता परिक्रमण करके (घूमकर) एक ओर की मत्तवारणी में प्रासाद की ओर या दूसरी ओर की मत्तवारणी में प्रमदवन की ओर चला जा सकता था। यूनानी रंगशाला की बनावट के कारण यूनानी त्रासदों में लम्बी-लम्बी प्रभावात्मक वक्तृताएँ होती थीं। रंगशाला की रचना के कारण ही एलिज़ाबेथीय नाटकों में स्वगत और जनान्तिक संवाद तथा अनेक दृश्य होते थे। आजकल के लेखक स्वतन्त्र रूप से किसी भी शैली में लिख सकते हैं क्योंकि पुरानी

शैली से भी उनका प्रदर्शन हो सकता है और नयी यांत्रिक शैली तथा विद्युत्-शक्तियों के सहारे भी उनका प्रयोग किया जा सकता है, जिसमें दृश्यचित्रकार (सीन पेंटर), रंग-प्रयोक्ता (स्टेज डाइरेक्टर) आदि सबके सम्मिलित सहयोग से वह नाटकीय प्रभाव उत्पन्न हो सकता है जिसे प्रस्तवन (प्रोडक्शन) या प्रस्तुत करना कहते हैं। कुछ नयी नाट्य-शैलियों से भी कुछ विशिष्ट नाटक-रचना-प्रणालियों का विकास हुआ है। अभिव्यंजनावादी नाटक अत्यन्त टूटे-फूटे और विशेष ढंग के संवादों, छोटे दृश्यों और वास्तविक तथा रहस्यात्मक दोनों के सम्मिश्रण से बने होते थे। पश्चाभास-कौशल (फ़्लैशबैक-टैक्नीक) के द्वारा कोई भी नाट्य-व्यापार वर्तमान से अतीत में पहुँच जाता है, एक ही पात्र के चेतन और अचेतन दोनों पक्ष एक साथ दिखाई पड़ जाते हैं। नाटकीयतावादी (थिएट्रिकलिस्ट) नाटकों में वास्तविकता और तड़क-भड़क दोनों का सम्मिश्रण हो गया है। त्रासद का बरलेस्क (भँड़ैती) से और खेलभरे सनकपूर्ण संगीत-नाट्य (एक्स्ट्रावेगेन्ज़ा) के साथ कठोर सामाजिक तथ्य का गठबन्धन हो गया है। भव्य (ईपिक) और सजीव समाचारपत्र (लिविंग न्यूज़पेपर) शैली में भी कुछ ऐसे नाटक लिखे गये हैं जिनके विभिन्न नाटकीय रूपों में असंख्य वास्तविक और प्रामाणिक छोटे-छोटे कथानक होते हैं। बुद्धिमान्, सूक्ष्मदर्शी नाटककार और नाट्य-प्रयोक्ता के लिए वर्तमान कौशल (टैक्नीक) के ऐसे सब साधन उपलब्ध हैं जिनसे रंगशाला में मनुष्य की अत्यन्त समृद्ध परिस्थिति की अभिव्यक्ति और उसका निर्वाह किया जा सकता है।

अध्याय ७

नाटक के अवसर और अवसर-योग्य नाटक

नाट्य-शास्त्र में कहा गया है कि भरत ने ब्रह्माजी के सुझाव पर सबसे पहले महेन्द्र-ध्वजोत्सव के अवसर पर नाटक खेला था। उस समय ब्रह्माजी ने भरत से कहा था—

'नाट्य-वेद के प्रयोग का यह बड़ा अच्छा अवसर आ गया। आज श्रीमान् महेन्द्र के ध्वज का दिन है, इसी के उपलक्ष्य में आप नाट्यवेद का प्रयोग करके दिखलाइए।'

अभिनयदर्पणकार नन्दिकेश्वर ने नाटकों के लिए उपयुक्त अवसरों की चर्चा करते हुए कहा है—

'नाट्य और नृत्य विशेष रूप से पर्व या उत्सव के समय ही दिखलाने चाहिए।' उसी प्रसंग में नृत्त (नाच) के लिए अवसर निर्धारित करते हुए उन्होंने कहा है—

'राजाओं के अभिषेक के अवसर पर, यात्रा में, देव-यात्रा में, विवाह में, प्रिय से मिलने के समय, नगर-प्रवेश या गृह-प्रवेश के समय, पुत्र-जन्म के अवसर पर तथा ऐसे ही सब कार्यों में शुभ चाहने वाले व्यक्तियों को कल्याणकारी नृत्त कराने चाहिए।' (अभिनयदर्पण, १३।१४) अतः नाट्य और नृत्य केवल पर्वकाल पर ही करने चाहिए, आजकल की रीति के अनुसार नित्यप्रति नहीं, क्योंकि नाट्य में पद और अर्थ का अभिनय तथा रस उत्पन्न करना अभीष्ट होता है, जिसके लिए विशेष अवसर, दर्शक और साज-सज्जा होनी ही चाहिए। यही बात नृत्य में होती है, क्योंकि वह भावाश्रित होता है। भाव का भी अभिनय किया जाता है। किन्तु नृत्त में तो ताल और लय के अनुसार हाथ, पैर और शरीर का संचालन होता है। उसका उद्देश्य भी विनोद मात्र होता है इसलिए उसे चाहे जहाँ दिखाया जा सकता है।

नाटक कब खेला जाय

भरत ने और भी अधिक विस्तार के साथ बताया है कि किस प्रकार की कथा-वस्तु का नाटक किस अवसर पर खेलना चाहिए। उन्होंने बताया है—

'जो सुनने में सुन्दर हो और जिसमें कोई धार्मिक कथा हो, ऐसा शुद्ध या विकृत नाट्य पूर्वाह्ण या दिन के पहले पहर में करना चाहिए। जिस नाटक में उदात्त गुणों

और बहुत वाद्यों की विशेषता हो, ऐसा नाटक तीसरे पहर खेलना चाहिए। जिस नाटक में कैशिकी वृत्ति हो, शृंगार रस तथा बहुत से गीत और वाद्यों का प्रयोग हो ऐसा नाटक रात्रि के प्रथम प्रहर में करना चाहिए। जिसमें कोई विशेष माहात्म्य और करुण रस की प्रधानता हो उस निद्रा मिटाने वाले नाटक को प्रातःकाल देखना चाहिए। आधी रात, मध्याह्न तथा संध्या और भोजन के समय कभी नाटक नहीं खेलना चाहिए। इस प्रकार काल और देश का विचार करके नाट्य का दिन निश्चित करना चाहिए या फिर देश और काल का विचार न करके स्वामी की आज्ञा के अनुसार निःशंक होकर नाटक खेले।' भरत का यह भी तात्पर्य है कि कोई नाटक एक प्रहर या तीन घंटे से अधिक का नहीं होना चाहिए।

हमारे यहाँ नाट्य को चाक्षुष यज्ञ कहा गया है, केवल मनोरंजन का साधन नहीं। महाकवि कालिदास ने अपने मालविकाग्निमित्र नाटक के प्रथम अंक में नाट्याचार्य गणदास से नाट्य की प्रशंसा कराते हुए कहलाया है—

देवानामिदमामनन्ति मुनयः शान्तं क्रतुं चाक्षुषं
रुद्रेणेदमुमाकरव्यतिकरे स्वांगे विभक्तं द्विधा।
त्रैगुण्योद्भवमत्र लोकचरितं नानारसं दृश्यते
नाट्यं भिन्नरुचेर्जनस्य बहुधाप्येकं समाराधनम्॥

[मुनि लोगों का कहना है कि यह नाटक तो देवताओं की आँखों को सुहाने-वाला एक यज्ञ है। स्वयं महादेवजी ने ही उमा से विवाह करके अपने शरीर में उसके दो भाग कर दिये—एक ताण्डव और दूसरा लास्य। इसमें सत्त्व, रज और तम तीनों गुण भी दिखलाई पड़ते हैं और अनेक रसों में लोगों के चरित्र भी दिखाई पड़ते हैं। इसी लिए अलग-अलग रुचिवाले लोगों के लिए प्रायः नाटक ही ऐसा उत्सव है जिसमें सबको समान आनन्द मिलता है।]

इस प्रकार का स्वयं ब्रह्माजी का रचा हुआ 'समुद्रमंथन' नाम का चाक्षुष यज्ञ देवताओं और दैत्यों के समक्ष महेन्द्र-ध्वजोत्सव पर हुआ था और इसी चाक्षुष यज्ञ में इतना बड़ा उपद्रव हुआ कि महेन्द्र को जर्जर की स्थापना करनी पड़ी थी। इसके अतिरिक्त त्रिपुरदाह और लक्ष्मी-स्वयंवर नाम के दो और चाक्षुष यज्ञ हुए जिनमें देवता लोग स्वयं उपस्थित थे।

नाट्यशास्त्र के अन्त में इस चाक्षुष यज्ञ का फल भी बतलाया गया है—

'ब्रह्माजी ने जिस नाट्य का वर्णन किया है उसे जो ध्यान से सुनता है, प्रयोग करता है और सावधान होकर देखता है उस मनुष्य को वही सद्गति मिलती है जो

वेद के विद्वानों को, यज्ञ करने वालों को और दान देने वालों को मिलती है। देवता लोग सुगन्धित द्रव्य और मालाओं से पूजित होकर उतने सन्तुष्ट नहीं होते जितने नाट्य का प्रयोग करने वालों की स्तुति-प्रार्थना से होते हैं। गन्धर्ववेद और नाट्य-वेद को जो मनुष्य भली प्रकार समझ लेता है उसे ब्रह्मर्षियों की पवित्र सद्गति प्राप्त होती है।'

यूनान में भी बाखस देवता के सम्मान में दिअनूसियस के उत्सव में नाट्य प्रारम्भ हुआ और उसी उत्सव पर नाटक हुआ करते थे। संस्कृत के नाटकों के पढ़ने से भी यही ज्ञात होता है कि विशेष यात्राओं, पर्वों और महोत्सवों के अवसर पर विद्वानों या राजाओं की प्रार्थना पर नाटक हुआ करते थे, किन्तु यूरोप के अन्य देशों में यह प्रथा नहीं रही। वहाँ व्यवस्थित नाट्य-गृह (थिएटर) बने जिनमें नियमित रूप से नाटक होने लगे। यद्यपि वहाँ भी गिरजाघरों में होने वाले नैतिक नाटक (मौरैलिटी प्लेज़) और रहस्य नाटक (मिस्टरी प्लेज़) भी विशेष पर्वों पर होते थे किन्तु आगे चलकर जब व्यावसायिक नाट्य-मण्डलियों को राजाश्रय और राजपत्र प्राप्त हो गया तब तो वे नित्य एक बार और कभी-कभी तो दिन में दो-दो बार नाटक खेलने लगीं और नाटक केवल मनोरंजन का साधन न बनकर दुर्व्यसन बन गया, जैसे आज भी चलचित्र हमारे युवकों के लिए सामाजिक संकट के रूप में दुर्व्यसन बनता चला जा रहा है।

ब्रह्माजी ने महेन्द्र-ध्वजोत्सव के समय भरत से जब यह कहा था—**महानयं प्रयोगस्य समयः समुपस्थितः** [नाटक खेलने का बड़ा अच्छा अवसर उपस्थित हो गया है], उसका तात्पर्य यही है कि नाट्य का प्रयोग विशेष उत्सवों पर होना चाहिए। गुरु-राम कवि का 'रत्नेश्वर-प्रसादन' नाटक स्वयं भूनाथदेव की यात्रा के समय हुआ था। भास का प्रतिमा नाटक शरत्काल के स्वागत में खेला गया था। मुद्राराक्षस नाटक चन्द्र-ग्रहण के पर्व पर खेला गया था, यद्यपि सूत्रधार ने यही बताया कि चन्द्र-ग्रहण है नहीं। मुरारि का 'अनर्घराघव' नाटक भगवान् पुरुषोत्तम की यात्रा के समय खेला गया था। कालिदास का मालविकाग्निमित्र वसन्तोत्सव पर और अभिज्ञानशाकुन्तल ग्रीष्म ऋतु में विक्रमादित्य की राजसभा को प्रसन्न करने के लिए खेला गया था। भवभूति का उत्तररामचरित नाटक काल-प्रियनाथ की यात्रा के समय और 'रससदन भाण' कालिका की केलि-यात्रा के समय अभिनीत किया गया था। इसी प्रकार संस्कृत के अन्य नाटक भी विशेष पर्वों, उत्सवों, ऋतुओं, राजादेशों और लोकादेशों के अनुसार खेले गये थे। प्राचीन समय में यह एक रूढि सी हो गयी थी कि ऐसे ही किसी उत्सव या पर्व पर नाटक का अभिनय किया जाय।

यद्यपि उस समय वैसी नाट्य-शालाएँ नहीं थीं जैसी आजकल चित्रशाला या सिनेमा-घर के रूप में संसार भर के सभी छोटे-बड़े नगरों में विद्यमान हैं, तथापि काम-शास्त्र और अर्थशास्त्र के अनुशीलन से ज्ञात होता है कि उन दिनों सरस्वती के मन्दिर में विशेष पर्वों पर तथा पूर्णिमा के दिन नियमित नाट्योत्सव हुआ करते थे। यद्यपि कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र में वेतनभोगी नटों का उल्लेख किया है किन्तु उन्हें जनपद से दूर रखने की व्यवस्था दी है। विशेष पर्वों पर ये नट लोग या तो सरस्वती-मन्दिर के निश्चित कक्ष में या राजाओं की नाट्य-शालाओं में या खुले भूभाग में नाटक खेल लेने की व्यवस्था कर लेते थे। राजाओं के यहाँ जिस प्रकार की नाट्यशालाएँ होती थीं उसका बहुत अच्छा विवरण मालविकाग्निमित्र नाटक में दिया है। इससे ज्ञात होता है कि राजाओं के यहाँ नियमित रूप से प्रेक्षागृह या नाट्यशालाएँ होती थीं, उनमें तिरस्क-रिणी या परदे की व्यवस्था होती थी और नाट्यशाला के साथ नेपथ्यगृह तथा संगीत-कक्ष का भी पूरा विधान रहता था। किन्तु सरस्वती-मन्दिर तथा खुले स्थान में नाट्यशालाएँ किस प्रकार बनायी जाती थीं इसका विस्तृत विवरण कहीं भी प्राप्त नहीं है किन्तु यह निश्चित है कि ये सब नाटक या तो किसी विशेष पर्व पर या माल-विकाग्निमित्र में गणदास के किये हुए नाटकीय प्रयोग की भाँति राजा या राजसभा के आदेश पर होते थे।

आजकल प्रत्येक देश के प्रत्येक नगर में ऐसी नाट्य-शालाएँ खुल गयी हैं जहाँ निय-मित रूप से प्रति दिन निर्दिष्ट समय पर नाटक या चित्र-नाटक दिखाये जाते हैं। यह विनोद एक प्रकार का सस्ता मनबहलाव समझा जाता है। नियमित रंगशालाओं के निर्माण के कारण और उनमें पंखे तथा सह्य-वायुताप आदि का प्रबन्ध हो जाने से ऋतु-सम्बन्धी असुविधाएँ नहीं होतीं। साधारणतः ये प्रदर्शन तीसरे पहर से लेकर अर्ध रात्रि तक होते हैं जिनमें लोग अपने समय और सुविधा के अनुसार प्रायः तीसरे पहर और रात्रि के पहले पहर में होने वाले नाटकीय प्रदर्शनों में अधिक जाते हैं। नाट्यशास्त्र और साधारण लोकदृष्टि की सुविधा से यही समय अधिक उपयुक्त भी है। सभी मनोविनोदात्मक प्रदर्शन इसी समय होने भी चाहिए। ग्रीष्म-विश्राम पहाड़ों पर तथा बड़े नगरों में दिन-रात नृत्य-नाटक या चित्र-नाटक इसी लिए होते रहते हैं कि पहाड़ों पर जाने वाले लोग प्रायः स्वास्थ्य-लाभ, मन-बहलाव या विलास के लिए जाते हैं। उनके सोने-उठने का समय सब अनिश्चित रहता है। जिस समय जो मन में आया वह किया। इस दृष्टि से उनके लिए निरन्तर मनोविनोद की सुविधा की जाती है। बड़े नगरों में भी व्यवसाय का आधिक्य होता है और उन व्यवसायियों के अवकाश की वेलाएँ भी भिन्न-भिन्न होती हैं। अतः वहाँ भी यदि इस प्रकार का विधान हो तो

आश्चर्य नहीं, किन्तु साधारणतः तीसरा पहर और रात्रि का प्रथम पहर नाटक के लिए अधिक उपयुक्त है जिसमें लोग अपने-अपने दिन के कार्यों से निवृत्त होकर मन बहला सकें या सन्ध्या का भोजन करके मन बहलाने के लिए इन नाट्य-शालाओं में जा सकें। शेष दिन का समय नागरिक कार्य में बाधक है और रात्रि का मनोविनोद निशाचरी वृत्ति का द्योतक है। अतः इन समयों को नाट्य-प्रयोग के लिए त्याज्य समझना चाहिए। ऋतुओं, पर्वों या दिवसों के उपलक्ष्य में तदनुकूल नाटक किये जायँ तो अत्यन्त उचित ही है किन्तु जहाँ इस प्रकार के प्रयोग नित्य हों वहाँ के पर्व, उत्सव या दिवस का क्रम अव्यवहार्य है।

नाटक के लिए पर्व और उत्सव दो प्रकार के होते हैं। एक तो व्यक्तिगत और दूसरे सार्वजनिक। व्यक्तिगत उत्सव वे उत्सव कहलाते हैं जिनमें व्यक्ति-विशेष से सम्बन्ध रखने वाला मंगल कार्य हो, जैसे व्रतबन्ध, मुण्डन, कर्णछेदन, विवाह, गृहप्रवेश आदि। इन्हीं व्यक्तिगत उत्सवों में वे भी सम्मिलित हैं जो होते तो हैं सार्वजनिक किन्तु जिनका आयोजन व्यक्तिगत होता है, जैसे कृष्ण-जन्माष्टमी या रामनवमी। इसी प्रकार राजाओं के अन्तःपुर में उनकी विशेष आज्ञा से जो उत्सव मनाये जाते हैं वे भी व्यक्तिगत होते हैं। सार्वजनिक उत्सव उन्हें कहते हैं जहाँ जनता के सम्मिलित सहयोग से राष्ट्रीय या धार्मिक पर्वों पर उत्सव मनाये जाते हैं। महापुरुषों की जयन्तियाँ और धार्मिक मेले, देव-यात्राएँ तथा अन्य ऐसे उत्सव सामाजिक पर्व होते हैं। गाँवों या नगरों में लगने वाली पैंठ के दिन अनेक कलाकार जो शुल्क लगाकर अपनी-अपनी कला का प्रदर्शन करते हैं वह भी सार्वजनिक उत्सव के ही अन्तर्गत है और बड़े नगरों में जो रंगशालाओं में नाटक या चलचित्रों का प्रदर्शन होता है, उनका प्रबन्ध भी यद्यपि व्यक्तिगत ही होता है तथापि प्रकृतितः वे सार्वजनिक होते हैं। दोनों में भेद यही है कि जहाँ किसी एक व्यक्ति के प्रबन्ध में विशिष्ट चुने हुए लोग ही प्रदर्शन में योग देते हों वह व्यक्तिगत और जहाँ निःशुल्क या सशुल्क भेदभावरहित प्रत्येक व्यक्ति को प्रदर्शन में आने की सुविधा हो और उसका प्रबन्ध सार्वजनिक रूप से किया गया हो वह सार्वजनिक उत्सव है।

पुराने नाट्यग्रन्थों के पढ़ने से ज्ञात होता है कि नट लोग सार्वजनिक रूप से प्रदर्शन करते थे किन्तु यदि व्यक्तिगत रूप से बुलाये जाते थे तो वे राजाओं या धनिकों के यहाँ घरेलू उत्सवों में भी नाटक करते थे। व्यक्तिगत उत्सवों में नटों के सम्मिलित होने के विषय में दो पक्ष हैं—एक तो यह कि व्यक्तिगत उत्सवों में प्रदर्शन करने से वृत्ति-व्यभिचार होता है, अर्थात् नाट्य का व्यापार अपमानित और हेय समझा जाता है और इसी लिए आजकल की प्रतिष्ठित नाटक-मण्डलियाँ ऐसे उत्सवों पर नहीं जातीं।

किन्तु रामलीला-मण्डलियाँ, रासलीला-मण्डलियाँ घरेलू उत्सवों में भी जाकर प्रदर्शन करती हैं। दूसरा पक्ष यह है कि सार्वजनिक प्रदर्शनों में सब प्रकार के लोग एकत्र होते हैं जिनमें रसिक और अरसिक, सज्जन और असज्जन सभी प्रकार की वृत्तियों के लोग आते हैं, अतः न तो सार्वजनिक उत्सवों में प्रदर्शन करना चाहिए न तो अपने नाट्य-प्रदर्शन को सार्वजनिक बनाना चाहिए। विशिष्ट प्रदर्शनों में चुने हुए लोग आते हैं, वे गुणों का आदर कर सकते हैं, उनमें शील और संयम स्वभावतः होता है, अतः विशिष्ट प्रदर्शन ही करना चाहिए।

जहाँ व्यक्तिगत प्रबन्ध होता है वहाँ आदर-सत्कार तो पर्याप्त होता है किन्तु उस व्यक्ति के तथा दर्शकों के मन में यह भाव बना ही रहता है कि मैंने पैसा देकर इन्हें बुलाया है तो इनसे कौड़ी-कौड़ी चुका लेनी चाहिए। यह बात अभिनेता के आत्म-सम्मान के विरुद्ध है। अन्य स्वतंत्र व्यवसायियों के समान उसका भी एक सम्मानित व्यवसाय है जिसकी रक्षा उसे करनी ही चाहिए। अतः उसे किसी ऐसे प्रदर्शन में भाग ही नहीं लेना चाहिए जहाँ किसी व्यक्ति की लोकैषणा की तृप्ति में उसके अभिनय का प्रयोग किया जाता हो। किन्तु यह नियम व्यावसायिक अभिनेताओं के लिए नहीं है। स्वयं नाट्य-प्रयोक्ता का यह धर्म है कि अपने अभिनेताओं को किसी व्यक्तिगत उत्सव में न ले जाय। वह या तो अपने प्रबन्ध से नाट्य-प्रयोग करे या सार्वजनिक प्रेरणा से करे। किन्तु प्रयोग के लिए पर्व का विचार करते समय उसे यह ध्यान अवश्य रखना चाहिए कि उस पर्व पर अधिक संख्या में सब वर्णों के लोग एकत्र होते हैं। क्योंकि नाट्य के चाक्षुष यज्ञ में भाग लेने का सभी को अधिकार है, वह सार्ववर्णिक होता है।

हमारे यहाँ आजकल जहाँ एक ओर बड़े नगरों में नित्य प्रति नाटक खेले और चलचित्र दिखाये जा रहे हैं वहीं दूसरी ओर दशहरे पर रामलीला, कृष्ण-जन्माष्टमी पर रासलीला, राम-नवमी पर राम-जन्म आदि नाटक खेलने की योजना व्यापक रूप से की जाती है। कहीं-कहीं तो बाहर से रास-मण्डलियाँ और रामलीला-मण्डलियाँ भी निमंत्रित करके बुलायी जाती हैं। अन्यथा प्रायः स्थानीय लोग ही रामलीला का आयोजन कर लेते हैं और कृष्ण-जन्माष्टमी के दिन भगवान् कृष्ण के जीवन से सम्बन्ध रखने वाले नाटक श्रीकृष्ण-जन्म, कृष्ण-सुदामा, रुक्मिणी-हरण, शिशुपाल-वध, द्रौपदी-चीर-हरण या महाभारत आदि नाटक खेलते हैं। काशी में अनन्तचतुर्दशी से माघ तक विभिन्न स्थानों में रामलीला होती रहती है, पर उपलक्ष्य विजया-दशमी ही है। इनके अतिरिक्त अन्य पर्वों पर नाटक खेलने की प्रथा उत्तर भारत में नहीं है। दक्षिण भारत में विजया-दशमी के अवसर पर कथकली नामक कथा-नृत्य का नाट्य करने की

प्रथा केरल में प्रचलित है। यद्यपि विभिन्न अवसरों पर स्थानीय नृत्यों का बहुत प्रचार है जो गीत-नाट्य या नृत्य-नाट्य के रूप में विभिन्न देशों में लोक-मनोरंजन के रूप में प्रचलित हैं, जैसे असम में मणिपुरी नृत्य, उत्तर प्रदेश में कत्थक नृत्य, बंगाल में बाउल और यात्रा तथा गुजरात में गर्बा। किन्तु नाटक खेलने के पर्वों में विजयादशमी, कृष्ण-जन्माष्टमी और राम-नवमी ही प्रमुख हैं। व्रज-मण्डल में प्रायः सावन में झूले पड़ते हैं और रास-लीलाएँ होती हैं अथवा वर्षा के पश्चात् शरद् में रास-लीला-मण्डलियाँ स्थान-स्थान पर रास-लीला करती हैं। आजकल तुलसी-जयन्ती, गाँधी-जयन्ती, तिलक-जयन्ती, स्वतन्त्रता-दिवस, गणतन्त्र-दिवस आदि पर्वों पर तुलसी या गाँधी के जीवन-चरित्र से संबद्ध या भारतीय स्वतन्त्रता-संग्राम से संबद्ध कथा के आधार पर नाटक खेलने चाहिए।

फारस में हसन-हुसेन की स्मृति में उनकी बलिदान-तिथियों पर प्रदर्शित किये जाने वाले ताजिये को भी नाटक का रूप दे दिया गया है और वह उसी विशेष पर्व पर ताजिये के दिनों में प्रयोग किया जाता है।

चीन और जापान में भी पहले विशेष पर्वों और राजसी महोत्सवों के अवसर पर ही नाटक खेले जाते थे और थाईलैण्ड में तो आज भी भारतीय ढंग से रामाक्येन (रामाख्यान या रामलीला) का अभिनय किया जाता है, जिसमें राम द्वारा थोसोकंथ (दशकण्ठ) का वध करके उत्सव मनाया जाता है। इस दृष्टि से महापुरुषों की जयन्तियों, विशेष पर्वों, महोत्सवों तथा यात्राओं के अवसर पर नाटक खेले जा सकते हैं। आजकल कुछ नये राजनीतिक पर्व भी चल पड़े हैं, जैसे गणतंत्र-दिवस, स्वतंत्रता-दिवस आदि। ऐसे अवसरों पर भारतीय स्वातंत्र्य-संग्राम से सम्बन्ध रखने वाले अथवा इस प्रकार के नाटकों का प्रदर्शन करना संगत होगा जिनसे लोगों के हृदय में स्वतंत्रता, स्वराष्ट्र-प्रेम, आत्म-त्याग तथा देश-भक्ति की भावना जागरित हो। महापुरुषों की जयन्तियों पर या तो उन्हीं महापुरुषों के जीवन की उपदेशपूर्ण ज्वलन्त घटनाओं से सम्बद्ध नाटक दिखलाया जाय या अन्य महापुरुषों के जीवन से सम्बद्ध नाटक खेले जायँ। अन्य महोत्सवों पर ऐसे नाटक खेलने चाहिए जिनमें उल्लास, उत्साह, आनन्द और विनोद भरा हो और जो सुखान्त हों।

नाटक में निषिद्ध कार्य

हमारे यहाँ सुखान्त नाटक की कल्पना के साथ ऐसे कृत्यों के प्रदर्शनों का भी निषेध कर दिया गया है जिनसे दर्शकों को कष्ट होता हो या जो सामाजिक शील के विरुद्ध हों। नाट्यशास्त्र के बीसवें अध्याय में भरत कहते हैं—

'क्रोध, पागलपन, शोक, शाप, परित्याग, भगदड़ या खलबली, विवाह, अद्भुत रस से सम्बद्ध बातें तो प्रत्यक्ष दिखलायी भी जायँ, किन्तु युद्ध, राज्य-विप्लव, मरण, नगर का घेरा आदि कार्य प्रत्यक्ष न दिखलाकर उनकी सूचना दे देनी चाहिए।'

साहित्यदर्पण के छठे परिच्छेद में नाट्य-निषिद्ध क्रियाओं को गिनाते हुए कहा गया है—

'दूर से पुकारना, वध, युद्ध, राज्य-विप्लव, देश-विप्लव, विवाह, भोजन, शाप, परित्याग, मृत्यु, मैथुन, दन्तच्छेद, नखच्छेद, शयन, चुम्बन, नगर आदि का घेरा, स्नान और अनुलेपन इत्यादि कर्म नाटक में नहीं दिखलाने चाहिए।'

इन दोनों में सबसे बड़ा अन्तर यह प्रतीत होता है कि साहित्यदर्पणकार ने दूर से पुकारना, विवाह, भोजन, शाप, परित्याग, स्नान और अनुलेपन भी त्याज्य समझ लिया है। इससे स्पष्ट है कि तीन प्रकार के कार्य निषिद्ध बतलाये गये हैं, एक तो वे जो साधारण लोक में भी सबके सामने नहीं किये जाते, दूसरे वे कार्य जो भयंकर, बीभत्स और लोमहर्षक होते हैं, जैसे मृत्यु। तीसरे जिन्हें रंगमंच पर दिखाना सम्भव नहीं है, जैसे युद्ध, राज्य या देश-विप्लव। किन्तु दूराह्वान अर्थात् दूर से पुकारने की बात सभी नाटकों में होती है। विक्रमोर्वशीय नाटक में अप्सराएँ पुकारती हैं—**परित्रायताम् परित्रायताम्**। अभिज्ञानशाकुंतल के प्रारम्भ में ऋषि पुकारते हैं—**आश्रमनृगोऽयं, न हन्तव्यः**। इस प्रकार के सैकड़ों उदाहरण मिलते हैं। अतः भाव-प्रकाशनकार और दशरूपककार ने जो इसके बदले 'दूराध्वानम्' शब्द दिया है वह अधिक ठीक जान पड़ता है, क्योंकि रंगमंच पर दूर तक का मार्ग दिखाना सम्भव नहीं है इसलिए दूराध्वान या दूर की यात्रा दिखाने का निषेध किया गया। लोकशील और लोकमर्यादा के अनुसार सभी देशों में यह मान्य है कि स्नान, मैथुन, परित्याग (मल-त्याग) आदि नहीं दिखाने चाहिए किन्तु यूरोप और अमेरिका में रंगमंच पर भोजन और चुम्बन करना अनुचित नहीं समझा जाता, क्योंकि उन देशों में भोजन सार्वजनिक रूप से होता है और चुम्बन सामाजिक शिष्टाचार समझा जाता है। हमारे देश में पुरुष-स्त्री का पारस्परिक चुम्बन तो सार्वजनिक होता ही नहीं है वरन् भोजन भी ऐसे एकांत में करने का विधान है जहाँ किसी की छाया न पड़े, क्योंकि भोजन को भी कुडीठ लग जाती है जिससे भोजन करने वाले का अहित हो जाता है। इसी लिए महर्षि पराशर ने कहा है—

आसनाच्छयनाद्यानाद् भाषणात्सहभोजनात्।
संक्रामन्ति हि पापानि तैलबिन्दुरिवाम्भसि॥

[जैसे तेल की बूँद जल में गिरते ही फैल जाती है वैसे ही किसी के साथ बैठने, सोने, यान में साथ चलने, बातचीत करने तथा साथ भोजन करने से एक की पापवृत्तियां दूसरे में पहुँच जाती हैं।] व्यासजी ने भी कहा है—

'अपने बन्धु-बांधव के साथ भी एक पंक्ति में बैठकर भोजन नहीं करना चाहिए क्योंकि न जाने किसके शरीर में कौन सा पाप (रोग) छिपा हुआ है। इसलिए पाप (रोग) से मुक्त रहने के लिए भस्म, तृण अथवा जल से घेरकर पंक्ति-भेद कर के तब भोजन करना चाहिए।'

किन्तु अब तो सब भोजों, सार्वजनिक भोजनालयों और जलपान-गृहों में अधजूठे बरतनों में खाने-पीने की चाल चल पड़ी है। फिर भी जहाँ तक हो सके इस दुरभ्यास को दूर ही रखना चाहिए। अस्तु, नाटक प्रस्तुत करने की दृष्टि से भी यह उचित नहीं है, क्योंकि ऐसे कार्यों के लिए रंग-व्यवस्थापक को बड़ा प्रबन्ध करना पड़ता है। नाटककार को यह सदा ध्यान रखना चाहिए कि जिन व्ययसाध्य कार्यों को वह सूचना के द्वारा कहला सके उन्हें रंगमंच पर दिखलाने का निर्देश न करे।

युद्ध और राज्यविप्लव तथा नगरावरोध के दृश्यों के लिए इतनी अधिक तैयारी करनी पड़ती है कि उन्हें रंगपीठ पर उपस्थित करना अत्यन्त दुरूह है। पूरा नगर रंगपीठ पर लाना, लाखों नागरिक उपस्थित करना और सभी की चेष्टाएँ दिखाना असम्भव कार्य है। इसी प्रकार युद्ध दिखाना भी रंग-व्यवस्थापक की शक्ति से बाहर का कार्य है। आजकल बहुत से नाट्य-प्रयोक्ताओं ने चल-चित्र और नाटक का सुन्दर समन्वय करके ऐसी व्यवस्था की है कि नगरावरोध और युद्ध के दृश्य भी रंगपीठ पर दिखा दिये जा सकते हैं। यदि व्यवस्था हो सके तब तो आपत्ति की कोई बात नहीं है किन्तु उसमें वध और मृत्यु आदि ऐसे बीभत्स कांड हो सकते हैं जिन्हें मनोविज्ञान और लोक-मंगल की दृष्टि से दिखाना उचित नहीं है। यों भी नाटक ऐसा होना चाहिए कि साधारण अव्यावसायिक नाट्य-मण्डलियाँ भी उसे खेल सकें। तात्पर्य यह है कि देश, समाज और काल के अनुकूल जो चेष्टाएँ घृणित, लज्जाजनक, अश्लील और बीभत्स हों, जिन दृश्यों को रंगमंच पर दिखलाना सम्भव न हो और जिनसे लोक-हित के बदले लोक का अहित होता हो उन्हें रंगपीठ पर नहीं दिखाना चाहिए। दशरूपककार ने अपने तृतीय प्रकाश में इन निषिद्ध कार्यों की गणना कराते हुए लिखा है—

'दूर की यात्रा, बध, राज्य या देश आदि का विप्लव, नगर का घेरा, भोजन, स्नान, मैथुन, अनुलेपन, वस्त्र उतारना आदि कार्य प्रत्यक्ष न दिखाये जायं और प्रधान नायक

का वध न दिखाया जाय, किन्तु यदि वध आवश्यक हो तो उसका त्याग भी नहीं करना चाहिए।'

शारदातनय ने अपने भावप्रकाशन के अष्टम अधिकार में इसी का समर्थन करते हुए इतना कह दिया है कि नाट्यकार को प्रधान नायक का वध नहीं कराना चाहिए, किन्तु यदि आवश्यक हो तो उसे कभी छोड़ना भी नहीं चाहिए पर किसी प्रकार यदि नायक पीछे जिलाया जा सके तभी उसका वध कराना चाहिए।

अरस्तू ने भी जहाँ दुःखान्त नाटकों की योजना की है वहाँ स्पष्ट रूप से साधारण सज्जन की किसी त्रुटि या भूल से ही दुःखद अन्त प्राप्त करने की बात सुझायी है। किन्तु हमारे नायक तो असाधारण हैं इसलिए वे यूरोपीय परिभाषा के अनुसार भी त्रासद या दुःखान्त नाटक के भीतर नहीं आते। हम यह पहले ही कह चुके हैं कि नाटक देखने वाली साधारण जनता पाप और पुण्य के बीच बहुत विवेक नहीं कर सकती। इसलिए उसके सम्मुख बहुत सोच-विचार कर सामग्री उपस्थित करनी चाहिए। शेक्सपियर के नाटक में नृशंस हत्या के जो बीभत्स दृश्य मिलते हैं वे कभी जनता की रुचि परिष्कृत नहीं कर सकते। उन्हें पढ़कर और देखकर हृदय थर्रा उठता है, काँप जाता है और बुद्धि भी किसी तर्क से उसका समर्थन नहीं कर पाती। शेक्सपियर के 'ओथेलो' नाटक में जिस निर्दयता के साथ साध्वी डेस्डीमोना की हत्या की जाती है वह कम लोमहर्षक नहीं है। उससे भयानक रस नहीं उत्पन्न होता, उस पर क्रोध उत्पन्न होता है, खीझ होती है—

डेस्डीमोना—मुझे मारिए मत मेरे नाथ, मुझे घर से निकाल दीजिए।

ओथेलो—चुप हो दुष्टे।

डेस्डीमोना—अच्छा कल मार डालिएगा, बस रात भर जीने दीजिए।

ओथेलो—नहीं नहीं, कुछ कहेगी तो बस–

डेस्डीमोना—अच्छा आध घण्टा . . .।

ओथेलो—नहीं, एक क्षण भी नहीं।

डेस्डीमोना—मैं प्रार्थना तो कर लूँ।

ओथेलो—बस बहुत देर हो गयी!

(गला घोंटकर मार डालता है।)

ऐसी अन्यायपूर्ण बीभत्स हत्या रंगमंच पर दिखाकर, उन निर्मम, नीच, पशुप्राय मनुष्यों को प्रोत्साहन नहीं दिया जाना चाहिए जो छोटी-छोटी भूलों पर अपनी सती-साध्वी पत्नियों को यातना देकर मारते-पीटते हैं और उनका जीवन नरकमय किये रहते हैं। चाहिए तो यह था कि जिस समय ओथेलो अपनी पत्नी का गला घोंटने को तैयार होता है उस समय किसी नाट्य-कौशल द्वारा डेस्डीमोना के सतीत्व का प्रमाण

मिल जाता और ओथेलो पश्चात्ताप से पागल होकर द्वार-द्वार घूमकर अपनी मूर्खता और भूल का उद्घोष करता। किन्तु इस हत्या से तो यही प्रमाणित होता है कि सतीत्व का कोई महत्त्व नहीं, अन्याय का कोई प्रतिकार नहीं, सत्य और नीति का मानो कोई महत्त्व नहीं।

यह नहीं समझना चाहिए कि इस प्रकार के दुःखान्त नाटकों का सबने समर्थन ही किया है। समर्थ अंग्रेज़ समीक्षक एडिसन ने कहा है—

'करुणा और भय उत्पन्न करने के सब साधनों में इतना असंगत और पाशविक साधन कोई नहीं है जितना अंग्रेजी रंगपीठ पर पारस्परिक हत्या है और जिसके कारण हमारे पड़ोसी हमसे घृणा करते और हमारा उपहास करते हैं। मनुष्यों को छुरे से आहत होते, विष-पान करते और कारागार की यातना सहन करते देखकर प्रसन्न होना वास्तव में हमारे निर्दयी स्वभाव का परिचायक है। ब्रिटिश रंगपीठों पर प्रायः ऐसे नाटक देखकर फ्रान्सीसी समालोचकों ने इसे हमारी विशेषता बताते हुए हमें रक्तपिपासु सिद्ध किया है। यह सचमुच कितनी अभद्र बात है कि हमारे दुःखान्त नाटकों के अन्तिम दृश्य शवों से भरे मिलते हैं और नेपथ्यशाला में बहुत से छुरे, कटार, चक्र, विषपात्र आदि मृत्यु के साधन दिखाई पड़ते हैं।

अतः लोकरंजन, लोकहित और लोक-विश्रान्ति की दृष्टि से ऐसा ही नाटक खेलना चाहिए जिसमें वध और मृत्यु के दृश्य न दिखाये गये हों।

अवसर-योग्य नाटक

अवसरों के अनुकूल खेले जानेवाले नाटकों की प्रकृति समझने के लिए यह जान लेना आवश्यक है कि अवसर की प्रकृति क्या है। प्रत्येक अवसर की प्रकृति भिन्न होती है, उसी प्रकृति के अनुसार नाटक का चुनाव करना चाहिए। जैसे महापुरुषों की जयन्तियों के अवसर पर उनके जीवन से सम्बन्ध रखने वाली महत्त्वपूर्ण घटनाओं वाले नाटक खेलने चाहिए, वैसे ही विभिन्न ऋतुओं में उन ऋतुओं के अनुकूल भाव प्रदर्शित करने वाले नाटकों का अभिनय करना चाहिए। भारत में, विशेषतः हिन्दुओं में कोई उत्सव या पर्व ऐसा नहीं है जिसमें शोक या दुःख मनाया जाय, इसलिए हमारे यहाँ ऐसे कोई पर्व ही नहीं चले जिनमें शोक मनाया जाता हो। इसी लिए ऐसे सभी अवसरों पर हर्ष और उल्लास-पूर्ण नाटक ही खेलने का आयोजन करना चाहिए। यद्यपि हास्यजनक, मनोरंजक और विनोदपूर्ण (एँटरटेनिंग) नाटक लोगों को बहुत प्रिय लगते हैं और उनसे उनका मनोरंजन भी होता है किन्तु उन नाटकों में यह भय सदा बना रहता है कि कहीं कोई बात हास्य की परिधि से निकलकर अश्लीलता तक न उतर आये अथवा अभिनेता अपनी

अभिनय-मुद्रा से उसे अश्लील न बना दे। इसलिए उचित यही है कि सब अवसरों पर गंभीर नाटक खेले जायँ जिनमें बीच-बीच में सभ्य, सूक्ष्म और शिष्ट हास्य का पुट व्याप्त रहे जिससे सब प्रकार के दर्शक समान रूप से नाटक का आनन्द ले सकें। पहले नाटकों में स्त्रियाँ दर्शक रूप से नहीं जाती थीं किन्तु अब तो स्त्रियाँ भी जाने लगी हैं और बालक भी। अत: बहुत सावधान होकर एसे नाटक खेलने चाहिए जिनमें सामाजिक और व्यक्तिगत जीवन को उदात्त बनाने की प्रेरणा देने वाले तत्त्व विद्यमान हों, जिनमें दया, क्षमा, त्याग, बलिदान, अहिंसा, अपरिग्रह, सेवा, शरणागत-वत्सलता, परहित, आत्मोत्सर्ग आदि विशिष्ट गुणों का निरूपण हो और उन नाटकों का सम्बन्ध या तो उस महापुरुष के जीवन से हो जिसके उपलक्ष्य में नाटक खेला जा रहा हो अथवा उस जीवन-तत्त्व से हो जिसका उपदेश उस महापुरुष ने अपने जीवन में या अपने जीवन से दिया हो।

अत: किसी भी नाट्य-प्रयोक्ता को नाटक का अवसर और अवसर-योग्य नाटक ढूँढ़ लेने में कोई कठिनाई नहीं होनी चाहिए। प्राय: अवसर-योग्य नाटक प्राप्त नहीं होते इसलिए अच्छा उपाय यही है कि नाट्य-प्रयोक्ता स्वयं नाटक लिखे या किसी नाटककार को प्रेरणा देकर अवसर के योग्य नाटक लिखवाये। आजकल एक नये प्रकार के सत्य-घटना नामक नाटक (डौकुमेन्टरी ड्रामा) चले हैं जिनमें किसी वास्तविक दृश्य का ज्यों का त्यों अभिनय दिखाया जाता है। किन्तु ये नाटक न होकर नाट्य-समाचार होते हैं। इसी प्रकार विभिन्न राजनीतिक दल अथवा सरकारें अपने सिद्धान्तों का प्रचार करने के लिए अथवा अपनी कृतियों का विज्ञापन करने के लिए नाटक लिखवाती हैं, जैसे आजकल पंचशील, पंचायत अथवा ग्राम-सुधार आदि विषयों पर सामूहिक रूप से नाटक लिखवाये और पुरस्कृत किये जाते हैं। किन्तु इस प्रकार की प्रेरित रचनाओं के द्वारा न तो नाटक का रस मिल पाता है और न उसे नाटक का रूप ही मिल पाता है, वरन् उलटे इस प्रकार के नाटकों से नाट्य-साहित्य दूषित होता है और नाटक के सम्बन्ध में लोगों के मन में बड़ी भ्रामक धारणा उत्पन्न होती है।

नाटक और अभिनेता

कोई पर्व या उत्सव उपस्थित होने पर नाट्य-प्रयोक्ता के सम्मुख सहसा यह प्रश्न उठ खड़ा होता है कि उस पर्व या उत्सव पर कौन सा नाटक खेला जाय। इसके लिए आचार्यों ने दो कसौटियाँ निर्धारित की हैं—

१—उत्सव की प्रकृति के अनुसार नाटक खेला जाय। जैसे कृष्ण-जन्माष्टमी पर कृष्ण-चरित तथा राम-नवमी पर राम का चरित। इसी प्रकार विशेष देव-यात्राओं में उन-उन देवताओं से सम्बन्ध रखनेवाले नाटक खेले जायँ। २—विशेष ऋतुओं तथा

अवसरों पर मानवीय भावों के परिष्कार और अभिव्यंजन को प्रेरणा देनेवाले भावात्मक नाटक खेले जायँ, जैसे ग्रीष्म में अभिज्ञानशाकुन्तल और वसन्त में मालविकाग्निमित्र नाटक खेले गये थे।

किन्तु अच्छे अभिनेताओं द्वारा अभिनीत अच्छा नाटक किसी भी ऋतु में किसी भी समय दर्शकों का मनोविनोद कर सकता है। अतः नाट्य-प्रयोक्ता को ऐसा सर्वप्रिय नाटक खेलना चाहिए जिससे सब वर्गों के लोगों को समान सन्तोष प्राप्त हो सके। शारदातनय ने अपने भावप्रकाशन के अष्टम अधिकार में विस्तार से निरूपण किया है कि सब प्रकार के लोगों को नाट्य में किस प्रकार आनन्द मिलता है, यथा

'लोग अनेक रुचि और स्वभाव के होते हैं और इन्हीं मानव-स्वभावों के आधार पर नाटक की रचना की जाती है। इसी लिए विभिन्न कार्य करने वाले लोग अपने-अपने शिल्प, शृंगार, व्यवसाय, क्रिया और वाणी सब कुछ नाट्य में पा सकते हैं। इसी लिए कामी, चतुर, सेठ, विरागी, शूर, ज्ञानी, बड़े-बूढ़े और रस-भाव के पारखी गुणीजन, यहाँ तक कि बालक, मूर्ख और स्त्रियाँ भी नाट्य का आनन्द ले सकते हैं, क्योंकि नाट्य में वे सभी अपने-अपने मन की रुचि के अनुसार आनन्द या हर्ष प्राप्त कर लेते हैं। तरुण लोग काम की बातों में, चतुर लोग नीति की बातों में, सेठ लोग पैसा कमाने की बातों में, विरागी लोग मोक्ष की बातों में, वीर लोग बीभत्स, रौद्र और युद्ध की बातों में, बड़े-बूढ़े लोग धर्म की कथाओं में और पण्डित लोग सब प्रकार की अच्छी बातों में रस लेते हैं, यहाँ तक कि बालक, मूर्ख तथा स्त्रियाँ भी हँसी-विनोद की बात सुनकर और नटों की वेश-भूषा देखकर ही मगन हो रहते हैं।'

इसका अर्थ यह निकला कि छैले, चतुर, विरागी, शूर, ज्ञानी, वृद्ध, स्वभाव-मर्मज्ञ, बालक, मूर्ख और स्त्री सबको समान रूप से प्रसन्न करने के लिए ऐसा नाटक चुनना चाहिए जिसमें शृंगार, नीति, अर्थ, वैराग्य, युद्ध, धर्म, सुचरित और विभिन्न प्रकार की वेश-भूषाओं के प्रदर्शन की योजना हो सके। तात्पर्य यह है कि नाटक से किसी विशेष वर्ग को प्रसन्न करने की बात नहीं सोचनी चाहिए, वरन् उसमें सब प्रकार के लोगों को समान रूप से प्रसन्न करने की कला तो हो ही, साथ ही उपर्युक्त सभी प्रकार की सामग्री का सन्निवेश भी उचित परिमाण में हो। न तो उसमें कोई बात इतनी अधिक हो कि नाटक में वही प्रधान हो जाय और न कोई बात इतनी कम हो कि उसका होना न होना दोनों समान हों।

यदि ऐसा सर्वांगपूर्ण नाटक न मिले तो नाट्य-प्रयोक्ता को ऐसा नाटक चुनना चाहिए जिसमें उपर्युक्त सामग्री के अधिकांश का संयोजन हो और फिर शेष सामग्री उचित परिमाण में डालकर उस नाटक का सम्पादन कर लेना चाहिए। सम्पादन करते

समय यह ध्यान रखना चाहिए कि मूल रस और कथा-वस्तु में न तो कोई अन्तर पड़े न वे गौण होने पायें और न नाटककार के उद्दिष्ट अर्थ में ही बाधा पड़े। मूल कथा तथा मुख्य उद्देश्य का निर्वाह करते हुए कथा-वस्तु का उचित सम्पादन कर लेना चाहिए। इस सम्पादन-कार्य में नाट्य-प्रयोक्ता को यथासम्भव पात्र नहीं बढ़ाने चाहिए वरन् नाट्य-संवादों और व्यापारों में उचित संवर्धन तथा परिशोधन कर लेना चाहिए और यथानुकूल, यथास्थान नाट्य-रचना के सिद्धान्तों के अनुसार नृत्य तथा गीत का भी समावेश कर लेना चाहिए।

आजकल नाटक या चलचित्र के लिए नाट्य-दृश्य लिखते हुए नाटककार चार बातों का ध्यान रखते हैं—

१—सस्ता भावोद्वेजन (चीप सेंटीमेन्टेलिटी)

२—कामोद्दीपन (सेक्स एपील)

३—विनोद (एंटर्टेनमेन्ट)

४—कुतूहल (सस्पेन्स)।

कुतूहल का तत्त्व तो नाटक में होना ही चाहिए, किन्तु अर्थ-पिशाच नाट्योत्पादकों ने नाटक को विलास की सामग्री बनाकर उसका पवित्र उद्देश्य नष्ट कर डाला है।

अतः नाट्य-प्रयोक्ता को न तो सस्ता भावोद्दीपन या भावोद्वेजन करके कृत्रिम नाटक खेलना चाहिए और न उसमें कामोद्दीपक तत्त्व डालकर उसे कामुकतापूर्ण विलास का अखाड़ा बनाना चाहिए , वरन् सभी तत्त्वों का उचित, सात्त्विक, स्वाभाविक सन्निवेश करके उचित पर्वों पर, उन पर्वों से संबद्ध कथा के आधार पर उचित नाटक खेलने की व्यवस्था करनी चाहिए।

अध्याय ८

नट या अभिनेता

भरत ने अपने नाट्यशास्त्र के छब्बीसवें अध्याय में शिष्य अर्थात् अभिनेता के गुण बतलाते हुए कहा है —

मेधा स्मृतिर्गुण-श्लाघा रागः संघर्ष एव च।
उत्साहश्च षडेवैतान् शिष्यस्यापि गुणान् विदुः।।

[शिष्य या अभिनेता के छः गुण बतलाये गये हैं—मेधा, स्मृति, गुण-श्लाघा, राग, संघर्ष और उत्साह।]

इसमें कोई सन्देह नहीं कि अभिनेता में मेधा अर्थात् सिखायी हुई बात को ग्रहण करने और स्मरण कर रखने की शक्ति या स्मृति भी होनी चाहिए। दूसरे के गुण की प्रशंसा करने की वृत्ति, अभिनय-कला में अनुराग, संघर्ष या दूसरों से निरन्तर आगे बढ़ने की वृत्ति और उत्साह या नित्य नवीन गुण सीखने की उत्सुकता अभिनेता में न हो तो वह अभिनय-कला में उन्नति नहीं कर सकता। इसके अतिरिक्त अभिनेता को स्वस्थ शरीर और स्वस्थ मन वाला, स्वभाव से मृदु, विनीत, गुण-ग्राही, समयनिष्ठ, प्रसन्नचित्त, सुशील, सच्चरित, सबको सन्तुष्ट करने की वृत्ति वाला, अक्रोधी, शान्त, निर्लोभी, सुवेश, क्रिया-चतुर, व्यवहार-कुशल, सक्रिय और वपुष्मान् भी होना चाहिए। उसमें यह प्रवृत्ति भी होनी चाहिए कि वह सिखाये हुए ज्ञान को और भी सुन्दर ढंग से प्रकट कर सके और अभिनय को अतिरंजित न करे।

अभिनयदर्पण में अभिनेत्री या नर्तकी का लक्षण बताया गया है —

'नर्तकी पतली कमर वाली, रूपवती, युवती, पुष्ट और उन्नत स्तनों वाली, प्रतिभाशाली, रसीली, मनोहर नृत्य प्रारंभ करने और समाप्त करने की कला में कुशल, बड़ी बड़ी आँखों वाली, गीत-वाद्य-ताल के साथ नाच सकने वाली, भड़कीली वेश-भूषा वाली और हँसमुख होनी चाहिए।'

आजकल कुछ लोग विशिष्ट पात्र के अनुसार अभिनेता का चुनाव करते हैं। ऐतिहासिक नाटकों के लिए यह आवश्यक भी है किन्तु साधारणतः जो अभि-

नेता वपुष्मान्, अच्छे डील-डौल के और सुरूप होते हैं, वे रूप-सज्जा के द्वारा चाहे जैसे बनाये जा सकते हैं। किन्तु कभी-कभी नाटककार विशेष रूप और आकार के अभिनेता का निर्देश करते हैं, जैसे बौना, लम्बा, मोटा अथवा किसी विशेष आकृति वाला जैसे अष्टावक्र। इस प्रकार के पात्रों के लिए जिस विशेष प्रकार के अभिनेता अपेक्षित होते हैं उनके लिए उसी प्रकार के अभिनेता चुनना वांछनीय है। साधारणत: कोई भी अभिनेता लँगड़े, कुबड़े अथवा अन्य किसी ऐसे अंगविकार वाले पात्र की भूमिका के लिए रूप-सज्जा कर सकता है।

आकृति

विदेशी नाट्य-शास्त्रियों का कथन है कि प्रत्येक अभिनेता में अन्य गुणों के साथ रंगमुख (स्टेज फेस) भी होना चाहिए, अर्थात् उसके मुख की रेखाएँ स्पष्ट हों और मुख सुन्दर कटाव और ढलाव के साथ बना हुआ हो, मानो खरादा हुआ (चिज़ेल्ड) हो, धुँधला (ब्लर्ड) न हो। छोटी आँखें, चिपटी नाक, बैठे हुए गाल, मोटे ओठ, सकरा माथा और छोटी ग्रीवा वाले मुख रंगमंच के लिए उपयुक्त नहीं होते। उसके लिए आवश्यक है चौड़ा माथा, लम्बी उठी हुई नाक, पतले ओठ, भरे हुए गाल, उठी हुई ठोड़ी, लम्बी ग्रीवा और स्पष्ट रेखाओं से युक्त मुख। इसका कारण यह है कि आजकल रंगमंच के लिए प्रकाश आवश्यक हो गया है। बिजली के प्रकाश में जब तक मुख स्पष्ट और ढला हुआ नहीं होगा तब तक मुख के उपांगों का अभिनय स्पष्ट नहीं होगा। इसलिए अभिनेता के गुणों में रंगमुख परम आवश्यक है।

कंठ—अभिनेता को केवल आंगिक अभिनय ही नहीं करना पड़ता, उसे वाचिक अभिनय भी करना पड़ता है जिसके लिए उसका स्वर स्पष्ट और उच्चारण शुद्ध होना चाहिए।

उच्चारण-रीति

पाणिनीय और याज्ञवल्क्य शिक्षा में शब्दोच्चारण की यह व्यवस्थित प्रक्रिया बतलायी गयी है—

'बाघिन अपने बच्चों को इस तरह मुँह में लेकर चलती है कि न तो बच्चों को दाँत ही चुभते हैं और न वे मुंह से ही गिर पाते हैं। ठीक उसी प्रकार शब्दोच्चारण भी करना चाहिए। तात्पर्य यह है कि न तो अक्षर दबा-दबाकर बोले जायँ कि मुँह में ही रह जायँ और न ऐसा हो कि वे मुंह से गिर-गिर पड़ें और एक दूसरे से अलग टूटे हुए सुनाई दें।

'वर्णन मधुर हो पर स्पष्ट हो, दूसरे वर्णों से दबा हुआ न हो। सब वर्ण पूरे उच्चारित किये जायँ, एक दूसरे में मिल न जायँ। जैसे मतवाला हाथी एक पैर के पश्चात् दूसरा पैर रखता हुआ चलता है, उसी प्रकार एक-एक पद और पदान्त को अलग-अलग स्पष्ट करके बोलना चाहिए।

'शंकित होकर, डरकर, चिल्ला-चिल्लाकर, अस्पष्टता के साथ, नकिया कर, कौवे के स्वर में, मूर्धास्थान से उच्चारण करके, उचित स्थानों से उच्चारण न करके, मुंह में ही वर्णों को काटकर फेंकते हुए, रुक-रुककर, गद्‌गद स्वर में, गा-गाकर, वर्णों को चबा-चबाकर, पदों और अक्षरों का अपूर्ण उच्चारण करके, दीनतायुक्त स्वर में तथा सभी को अनुनासिक बनाकर बोलना उचित नहीं है।'

याज्ञवल्क्य-शिक्षा में भी ये ही बातें दुहरायी गयी हैं—

'गद्‌गद कंठ से जीभ को बाँधकर बोला नहीं जा सकता। जिसका रूप सुन्दर हो, जिसके दाँत और ओठ अच्छे हों, जो उच्चारण में प्रगल्भ एवं विनीत हो वही वर्णों का उचित उच्चारण कर सकता है। शंकित, भयभीत, चिल्ला-चिल्लाकर, अस्पष्ट, नकिया-नकियाकर, कौवे के स्वर में, मूर्धा से ही सभी उच्चारण करके, उचित स्थान से उच्चारण न करके, नीरस ध्वनि में, सुस्वर-रहित, अलग-अलग, बेढंगे रूप से बलाघात करके, व्याकुलतापूर्वक एवं तालहीन पढ़ना, ये पढ़नेवाले के चौदह दोष हैं।'

पाठक के गुण-दोष

उसी शिक्षा में आगे चलकर भले-बुरे ढंग से पढ़ने (बोलने) वालों के गुण-दोष भी बतलाये गये हैं—

'मिठास, अक्षरों की स्पष्टता, पदों का पृथक्-पृथक् उच्चारण, स्वरों का उचित उतार-चढ़ाव, धीरता और लय के अनुसार पढ़ना ये पाठकर्ता के छः गुण हैं।' इसके विपरीत 'गाकर, हड़बड़ी करके, सिर हिलाते हुए, चुपचाप, जैसा लिखा है वैसा पढ़ते हुए, समझे बिना या दबे स्वर से पढ़नेवाला अधम पाठक होता है।'

अशुद्ध स्वर और वर्ण

शब्दोच्चारण की सम्यक् शिक्षा देने के समय प्राचीन भारतीय आचार्यगण स्वर और वर्ण पर बहुत बल देते थे, क्योंकि स्वर और वर्ण ठीक न होने से शब्दों का ठीक-ठीक उच्चारण हो ही नहीं सकता। इस सम्बन्ध में वैदिक कथा उल्लेखनीय है जिसमें इन्द्र के वध की कामना से उसके शत्रु ने मंत्र जपवाना प्रारम्भ किया परन्तु स्वर के मिथ्या प्रयोग के कारण वह स्वयं मारा गया—

दुष्टः शब्दः स्वरतो वर्णतो वा मिथ्या प्रयुक्तो न तमर्थमाह।
स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात्॥

[यदि स्वर या वर्ण बिगाड़कर कोई शब्द अशुद्ध बोला जाय तो वह वाणी का वज्र ही यजमान को उसी प्रकार मार डालता है जैसे स्वर बिगाड़कर बोलने मात्र से इन्द्र का शत्रु वृत्रासुर मारा गया।]

अतः शिक्षकों को शुद्ध उच्चारण पर ध्यान देने के साथ-साथ शुद्ध स्वर और वर्ण पर भी ध्यान देना चाहिए।

अभिनेता की वाणी अत्यन्त स्पष्ट और कंठ इतना शक्तिशाली होना चाहिए कि वाणी दूर तक सुनाई पड़ सके।

स्फूर्ति

वाणी का वैभव होने के साथ-साथ अभिनेता का शरीर इतना फुर्तीला होना चाहिए कि आवश्यकतानुसार यदि रंगमंच पर कूदना-फाँदना, अस्त्र-शस्त्र चलाना या शरीर को झुकाना-मोड़ना पड़े तो उसे असुविधा न हो। इसी लिए मास्को आर्ट थिएटर तथा अन्य लयवादी (क्यूबिस्ट) रंगशालाओं में अभिनेताओं को विशेष प्रकार के शारीरिक व्यायाम की शिक्षा भी दी जाती है। भरत ने भी अपने नाट्यशास्त्र में अभिनेताओं के लिए विशेष व्यायाम और भोजन का विधान किया है।

निर्भीकता

इन सब गुणों के अतिरिक्त अभिनेता को इतना निर्भीक और रंग-चपल (स्टेजफ़ी) होना चाहिए कि जनता को सामने देखकर उसके मन में घबराहट, संकोच या हिचक न हो और वह यह समझे कि मैं अपने घर पर ही हूँ। यह अभिनेता का सबसे बड़ा गुण माना जाता है और जिसमें यह गुण होता है उसे अभिनय-कला में अत्यन्त शीघ्र सिद्धि प्राप्त होती है।

भाषा तथा काव्य का ज्ञान

अभिनय-कला में निष्णात होने के लिए अभिनेता को भाषा और काव्य का ज्ञान भी आवश्यक है, क्योंकि जब तक अभिनेता स्वयं किसी वाक्य के भाव-सौन्दर्य को नहीं समझता तब तक वह दर्शकों के हृदय में उस भाव का रस नहीं पहुँचा सकता, क्योंकि अभिनेता का उद्देश्य ही होता है दर्शकों के हृदय में रस की निष्पत्ति करना। अतः अभिनेता को काव्य-शास्त्र, काव्य-सौन्दर्य, छन्दशास्त्र तथा शब्द-शास्त्र का भी उचित

अभ्यास होना चाहिए। ऐसा होने पर ही वह नाट्य-काव्य का स्वयं रस लेकर अन्य सामाजिकों को उसका रस दिलाने के लिए साधारणीकरण की प्रक्रिया का साधन बन सकता है।

अभिनय-कला का ज्ञान

अभिनेता को आंगिक, वाचिक, सात्त्विक और आहार्य नामक चारों प्रकार की अभिनय-कला का पूर्ण ज्ञान होना चाहिए। इसके साथ ही उसे अन्य देशों की प्राचीन और नवीन अभिनय-पद्धति, कौशल, प्रकृति, प्रवृत्ति और रंगमंच का भी ज्ञान होना चाहिए, क्योंकि विभिन्न देशों में विभिन्न कारणों से विभिन्न परिस्थितियों और उनके अपने-अपने रंगमंच के अनुसार अभिनयकला की उन रीतियों का विकास हुआ जिनके ज्ञान के आधार पर वह अपने अभिनय को व्यवस्थित करता चले।

अभिनेता को प्रस्तुतप्रज्ञ, प्रत्युत्पन्नमति या त्वरित-बुद्धि भी होना चाहिए, क्योंकि यदि रंगमंच पर जब दूसरा साथी अभिनेता कुछ भूल जाय, आगे का अंश कह जाय अथवा अपनी बुद्धि से कोई नया वाक्य कह जाय तो अभिनेता को बहुत सावधान होकर उसका इस प्रकार निर्वाह करना चाहिए मानो सब स्वाभाविक रूप में होता चला जा रहा हो। उसे न तो मौन होकर ही खड़े रह जाना चाहिए और न यह प्रतीक्षा करनी चाहिए कि वह उसी वाक्य को कहे जो उसे कहना चाहिए। कभी-कभी दूसरा पात्र समय से पहले ही प्रवेश कर जाता है या एक ओर से आने के बदले दूसरी ओर से आ जाता है अथवा दूसरा पात्र बीच का अंश छोड़कर आगे का वाक्य कह जाता है, तब अभिनेता को प्रस्तुतप्रज्ञ होकर तत्काल ऐसा वाक्य कहना या ऐसी क्रिया करनी चाहिए जिससे दर्शकों को यह न प्रतीत हो कि नाटक की गति में कोई बाधा या भूल हुई है। प्राय: अव्यावसायिक नाटक-मण्डलियों और कभी-कभी व्यावसायिक नाटक-मण्डलियों में भी इस प्रकार की अव्यवस्था हो जाती है कि जिस अभिनेता को दाहिनी ओर से आना चाहिए वह बायीं ओर से आ जाता है, जिधर जाना चाहिए उसकी दूसरी ओर चला जाता है, किसी को एक ओर से आते देख-कर जिधर संकेत करना चाहिए कि देखो वह आ रहा है उसके बदले दूसरी ओर संकेत कर देता है, समय से पूर्व ही परदा गिरने लगता है, रंगमंच पर ही असावधानीवश हाथ में ग्रहण किया हुआ पदार्थ, उष्णीष (पगड़ी), मुकुट या केश गिर जाता है, कोई वाक्य मुँह से उलटा निकल जाता है, कोई सम्बोधन अशुद्ध हो जाता है अथवा अपने साथ का कोई अभिनेता कोई अव्यवस्थित, असम्बद्ध, असंगत या प्रतिकूल बात कह देता या क्रिया कर देता है, रंगमंच का कोई परीवाप (फ़र्नीचर) असावधानी के कारण

उलट-पलट जाता है अथवा उच्चारण में दोष हो जाता है, वहाँ अत्यन्त सावधानी के साथ इन सबका बुद्धिपूर्वक इस प्रकार समाधान कर देना चाहिए मानो वह भूल न हो वरन् अभिनय का स्वाभाविक भाग हो।

संयम

अभिनेताओं को न तो कभी दर्शकों की ओर हाथ उठाकर या इंगित करके कोई बात कहनी चाहिए और न किसी प्रकार की कोई ऐसी आंगिक या वाचिक क्रिया करनी चाहिए जो दर्शकों की दृष्टि में अश्लील या फूहड़ हो। यों तो नाट्य-प्रयोक्ता ही ऐसे अंशों को सावधानी से पाठ्य में से निकाल देते हैं और अभिनय के लिए भी उचित निर्देश कर देते हैं किन्तु मौलिक अभिनेता प्राय: उनसे आबद्ध नहीं होता, इसलिए उसका उत्तर-दायित्व अधिक बढ़ जाता है।

स्वाभाविकता

अभिनेता को अतिरंजित अभिनय नहीं करना चाहिए। प्राय: हास्य रस के अभि-नेता अतिरंजित अभिनय को अपना जन्मसिद्ध अधिकार मानते हैं किन्तु सर्वश्रेष्ठ हास्य-अभिनेता वही है जो स्वयं न हँसकर औरों को हँसने की प्रेरणा दे और अपनी करुण दशा में भी विनोद का साधन बने। प्राय: शोक के अभिनय में कभी-कभी विलाप इतना तीक्ष्ण हो जाता है कि उससे करुणा उत्पन्न होने के बदले हास्य उत्पन्न होता है। ऐसी परिस्थिति में अभिनेताओं को बहुत सावधान होकर रस के परिणाम का ध्यान रखना चाहिए।

अभिनेताओं के गुण

नाट्य-प्रयोक्ता को अभिनेता में पाँच गुण देखने चाहिए; १—नाटकीय भूमिका के अनुरूप शरीर, २—नाटकीय भूमिका के अनुरूप वाणी का संस्कार, ३—आंगिक अभिनय की योग्यता, ४—विभिन्न सात्त्विक भावों को समझने और प्रकट कर सकने की क्षमता और ५—नाट्य-प्रयोक्ता द्वारा दी हुई शिक्षा ग्रहण करने की योग्यता। मालविकाग्निमित्र नाटक में महाकवि कालिदास ने नाट्याचार्य गणदास से उसकी शिष्या मालविका के गुणों की प्रशंसा कराते हुए कहलाया है—

'मैं उसे नृत्य के जो-जो भाव सिखाता हूँ उन्हें और भी सुन्दर कर-करके वह इस प्रकार दिखा देती है मानो वह उलटे मुझे ही सिखा रही हो।'

समस्या और उसका समाधान

कभी-कभी नाट्य-प्रयोक्ता को यह निश्चय करना कठिन हो जाता है कि समान गुणवाले अनेक पात्रों के एकत्र होने पर किसको कौन सी भूमिका दी जाय। ऐसे समय उसे चाहिए कि उनमें से कुछ को तो यह कहकर दूसरी भूमिकाएँ दे दे कि अमुक भूमिका का निर्वाह तुम्हारे बिना कोई कर नहीं सकता, उसके लिए जो कौशल अपेक्षित है उसे तुम्हारे अतिरिक्त दूसरा दिखा ही नहीं सकता। ऐसे अवसरों पर कभी-कभी उन अभिनेताओं के लिए उनकी प्रवृत्ति के अनुकूल नये पाठ और गीत भी जोड़ देने चाहिए, जैसे चीन के नाटकों में किया जाता है। यह भी न हो सके तो उन्हें नेपथ्य-प्रबन्ध, रंग-प्रबंध आदि रंगपीठ की किसी न किसी व्यवस्था का भार ही दे दिया जाय। भूलकर भी न तो अभिनेता को रुष्ट करना चाहिए न उससे कलह करनी चाहिए। नाट्य-प्रयोक्ता को स्वयं कोई क्षुद्र भूमिका स्वीकार कर लेनी चाहिए, जिससे दूसरों को नाक-भौं सिकोड़ने या असन्तुष्ट होने का अवसर ही न मिले और उनमें यह भावना उत्पन्न हो कि नाटक में बड़ी या छोटी भूमिका कोई नहीं है।

अभिनेत्रियाँ

अभिनेत्रियाँ सदा से ही नाटक और रंगमंच के लिए समस्या बनी रही हैं। प्रायः उपयुक्त भूमिकाओं के लिए उपयुक्त अभिनेत्रियाँ नहीं मिलतीं, मिलती भी हैं तो इतना झमेला खड़ा करती रही हैं कि उसे सुलझाना कठिन हो जाता है। वह कथा तो प्रसिद्ध ही है कि किस प्रकार उर्वशी ने 'लक्ष्मी-स्वयंवर' में लक्ष्मी की भूमिका ग्रहण की किन्तु जब नाटक होने लगा और उसमें मेनका ने पूछा कि 'तुम किसका वरण करती हो' तो उसने 'पुरुषोत्तम' के बदले 'पुरूरवा' कहकरनाटक बिगाड़ दिया। इसके अतिरिक्त युवक अभिनेताओंके साथ युवती अभिनेत्रियों का संग स्वभावतः ईर्ष्या, द्वेष, कलह तथा संघर्ष का कारण हो जाता है। अव्यावसायिक नाट्य-मण्डलियों में यह रोग पराकाष्ठा को पहुँच जाता है। नाटक में अभिनय करनेवाली ये अभिनेत्रियाँ कभी-कभी यह बखेड़ा कर देती हैं कि अमुक व्यक्ति ही मेरे साथ नायक का काम करे अथवा अमुक व्यक्ति अभिनय नहीं करेगा या करेगा तो मैं नहीं करूँगी इत्यादि। यह परिस्थिति वहाँ और भी अधिक जटिल हो जाती है जहाँ नाट्य-प्रयोक्ता उस विशेष अभिनेत्री के प्रति आकृष्ट होकर उसका रूपदास हो जाता है। कभी-कभी कुछ अभिनेत्रियाँ विशेष उपचार और प्रार्थना के पश्चात् अभिनय करना स्वीकार करती हैं। ऐसी परिस्थितियों में नाट्य-प्रयोक्ता को पहले से ही अभिनेत्रियों के आगे उन अभिनेताओं की प्रशंसा कर देनी चाहिए जिनके साथ उनसे काम कराना हो और बार-बार कह-कहकर उनके हृदय में यह बात भली प्रकार बैठा देनी चाहिए कि जब

अमुक व्यक्ति ही आपके साथ अमुक भूमिका ग्रहण करेगा तभी आपका अभिनय अधिक लोकरंजक और स्तुत्य होगा। नाट्य-प्रयोक्ता को स्त्रियोपचारकुशल होना चाहिए। उसे चाहिए कि बातों से, यश, धन तथा कीर्ति के प्रलोभन से तथा अन्य ऐसे उपायों से उन्हें अपने अनुकूल कर ले।

भूमिका के अनुरूप स्वरूप को अभिनेता की आधी सफलता मानना चाहिए, क्योंकि उचित नेपथ्य-संस्कार के पश्चात् भूमिका के अनुकूल शरीरवाले अभिनेता जब उन-उन भूमिकाओं में रंगपीठ पर उतरते हैं तब उनके रंग-प्रवेश मात्र से ही चरित्र की आधी व्याख्या हो जाती है। इसलिए भूमिका-वितरण में कभी किसी अभिनेता का पक्ष नहीं ग्रहण करना चाहिए। कभी-कभी किसी विशिष्ट अभिनेता का वाचिक अभिनय तो बहुत सुन्दर होता है किन्तु उसका शरीर नाटकीय पात्र के अनुरूप नहीं होता। ऐसी परिस्थिति में उसे भूमिका देना तनिक भी उचित नहीं है। 'महाराणा प्रताप' नाटक में प्रताप की भूमिका ग्रहण करनेवाले को प्रताप के समान दिखाई देना ही चाहिए, क्योंकि इतिहास-प्रसिद्ध कथाओं के महापुरुषों की आकृति के सम्बन्ध में वर्णनों और चित्रों द्वारा जो लोक-संस्कार बन जाता है उसी आकृति के प्रति प्रेक्षकों की श्रद्धा, सद्भावना और सहानुभूति होती है। यदि हृष्ट-पुष्ट, लम्बे-चौड़े पुरुष के बदले परम कुशल किन्तु दुबला-पतला अभिनेता 'महाराणा प्रताप' बना दिया जाय तो उसमें जनता की अरुचि भी होगी और रस भी नष्ट हो जायगा। अतः नाट्य-प्रयोक्ता को सर्वप्रथम अभिनेता के रूप, आकृति और शरीर का विचार करना चाहिए, तत्पश्चात् उसकी वाणी के संस्कार, आंगिक अभिनय की योग्यता, सात्त्विक भावों को समझने और प्रकट कर सकने की क्षमता और शिक्षा ग्रहण कर सकने की सामर्थ्य का विचार करना चाहिए। यदि अभिनेता विकलांग और मूढ न हुआ तो ये सब गुण शिक्षा और परिश्रम के द्वारा भी उसमें भरे जा सकते हैं किन्तु शरीर-निर्माण तो नाट्य-प्रयोक्ता नहीं कर सकता। उसे इस सम्बन्ध में ईश्वर का ही आश्रय लेना पड़ेगा। नये विधानों के अनुसार नेपथ्य-प्रसाधन के द्वारा रूप और आकृति में परिवर्तन करके सुरूप को कुरूप और कुरूप को सुरूप, सीधे को कुबड़ा, आँखवाले को काना और अन्धा तथा पतले को मोटा बनाया जा सकता है, यहाँ तक कि नीचा-ऊँचा किया जा सकने वाला पदत्राण (एडजस्टेबिल फ़ुटवेयर) पहनाकर नाटे व्यक्ति को भी लम्बा किया जा सकता है। यूनानी रंगशालाओं में तो सभी अभिनेता ऊँची खड़ाऊँ पहनकर रंग-पीठ पर आते थे। गोरखपुर प्रदेश के चर्मकार लोग विशेष उत्सवों पर इसी प्रकार के ऊँचे-ऊँचे कठघोड़े पैरों में बाँधकर 'कठघोड़वा' नृत्य किया करते हैं। नेपथ्य-प्रसाधन-विधान से यह सब तो सम्भव है, किन्तु मोटे को पतला बनाना, छोटी ग्रीवावाले को लम्ब-कण्ठ दिखलाना, कुबड़े को सीधा करना, वानर

मुखाकृति को आर्य-मुखाकृति बनाना सम्भव नहीं है। यों भी नाट्य-प्रयोक्ता को प्रतिकूल अभिनेता चुनकर नेपथ्य-प्रसाधक के लिए काम नहीं बढ़ाना चाहिए। हाँ, जहाँ अपरिहार्य हो वहाँ तो नेपथ्य-विधायक को नेपथ्य-कर्म करना ही चाहिए।

यह समझना भूल है कि कोई भी व्यक्ति दास, चेरी, प्रतिहारी, सेवक, द्वारपाल आदि का काम कर सकता है। कभी-कभी बहुत से सुन्दर नाटक केवल निम्न भूमिका वाले अभिनेताओं के दोष से ही हास्यास्पद बन जाते हैं और बना-बनाया खेल चौपट हो जाता है। नाटक का काम संघात्मक होता है। उसमें यदि एक भी व्यक्ति त्रुटि या भूल कर दे तो पूरा नाटक नष्ट हो जाता है। नाटक की सफलता के लिए प्रत्येक अभिनेता की कुशलता अपेक्षित होती है इसलिए निम्न श्रेणी के अभिनेताओं के चुनाव में भी वैसी ही सावधानी का व्यवहार करना चाहिए जैसी उच्च श्रेणी के अभिनेताओं के लिए।

अभिनेता का व्यापक अर्थ

रंगशाला वास्तव में अभिनेताओं की ही तो होती है और वह भी केवल आंगिक, वाचिक, आहार्य और सात्त्विक अभिनय करने-वाले व्यक्तियों की ही नहीं वरन् उसमें नाटककार, नाट्य-प्रयोक्ता, रंग-व्यवस्थापक, संगीतकार, दृश्य-रूपमानकार (सीन-डिज़ाइनर) और चित्रकार (पेन्टर), यहाँ तक कि दर्शक भी सब अभिनेता ही तो हैं। क्योंकि नाटक का वह वास्तविक रूप इन सबके सहयोग से ही प्रस्तुत होता है जिसमें संगीत, नृत्य आदि प्राचीनतम सशक्त कलाओं के साथ सभी वर्तमान कलाएँ भी एकत्र होकर सम्मुख आती हैं। इनमें से प्रत्येक प्रकार के अभिनेता को अपनी-अपनी सक्रिय अभिव्यक्ति, क्रिया या मूक प्रेक्षण के लिए तन्मयता की आवश्यकता है, जिस प्रकार हम दर्शक से यह आशा करते हैं कि वह सहृदय रसज्ञ की भाँति तन्मय होकर नाटक का रस ले उसी प्रकार नाटककार, नाट्य-प्रयोक्ता, रंग-व्यवस्थापक, संगीतकार, दृश्य-सज्जाकार, चित्रकार और प्रकाश-व्यवस्थापक से भी आशा की जाती है कि वे अपनी-अपनी कला और अपना कौशल लेकर उसमें तन्मय हो जायँ। ऐसी व्यवस्था उत्पन्न होने पर ही नाटक पूर्ण रसमय होकर उपस्थापित हो सकता है। इनमें भी रंगपीठ पर अभिनय करने वाले अभिनेता की आत्माभिव्यंजन-शक्ति तो इतनी प्रबल होनी ही चाहिए कि वह अपने शरीर में केवल सात्त्विक (आन्तरिक) और मनोवैज्ञानिक ही नहीं वरन् बाह्य और शारीरिक परिवर्तन भी कर सके।

वर्तमान नाट्य-प्रयोग का सिद्धान्त और अभिनेता

आज बड़े वेग से मानवजीवन गतिशील होता जा रहा है। हम अत्यन्त तीव्र

स्नायविक ओज के उस युग में साँस ले रहे हैं जिसमें असन्तोष, अथक प्रयोग, नये आदर्शों और नये प्रतिमानों के लिए व्यापक खोज हो रही है। जब केवल पृथ्वी के ही नहीं वरन् अन्य ग्रहों और उपग्रहों की भू-प्रकृति और जीव-प्रकृति के अन्वेषण के लिए क्षेप्यास्त्र छोड़े जा रहे हैं और जीव बैठा-बैठाकर कृत्रिम उपग्रहों को गगनचारी बनाया जा रहा है, ऐसी स्थिति में रंगशाला का बड़े वेग से बदलना कोई आश्चर्य की बात नहीं। आज से दस वर्ष पश्चात् आज की रंगशालाएँ पुरानी पड़ जायँगी, वर्तमान रंगशाला के रूप में बहुत कुछ परिवर्तन तो बोलपट ने ही ला दिया है। आज से तीस वर्ष पहले ही बहुत सी रंगशालाओं में चलचित्र और नाटक दोनों का समन्वय हो चुका था। भारतवर्ष में ही कलकत्ते के मदन थियेटर्स ने नाटक और चलचित्र का सम्मेलन करके नाटक प्रस्तुत किये थे। अतः यह निश्चयपूर्वक कहना कठिन है कि भावी रंगशाला का रूप क्या होगा। आज-कल खुली रंगशालाओं का अधिक प्रचार हो रहा है किन्तु वर्षा, जाड़े और गर्मी तीनों ऋतुओं में वे अधिक काम की नहीं होतीं। इसके अतिरिक्त जो बहुत से प्रयोग किये जा रहे हैं उन्हें देखने से प्रतीत होता है कि विज्ञान और यन्त्र के युग में रंगशाला में अधिक यान्त्रिकता आती जा रही है और यह यान्त्रिकता किस सीमा तक पहुँचेगी यह कहना कठिन है, क्योंकि अब तो यहाँ तक कल्पना की जा चुकी है कि आकाश में रंगशाला बनाकर नाटक दिखाये जायँ।

इधर वर्तमान मनोविज्ञान ने मनुष्य के उस उपचेतन का भी विश्लेषण प्रारम्भ कर दिया है जो हमारे सामान्य चेतन अस्तित्व के ठीक नीचे स्वप्न-लोक के रूप में उपस्थित है, जो शक्ति का स्रोत है और जिसका अपना रूप और अपने ऐसे नियम हैं जो हमारे सभी कार्यों और विचारों को संचालित करते रहते हैं। हमारे बौद्धिक जीवन पर भी इस विश्लेषण का इतना प्रभाव पड़ा है कि हमारी कलाओं में भी इस उपचेतन की अभि-व्यक्ति होने लगी है। जेम्स जौएस और गर्ट्रूड स्टीन जैसे लेखक, मातीसे और पिकासो जैसे चित्रकार, दैबूसी और स्त्राविस्की जैसे संगीतकार इस मानव-जीवन के अन्तर्लोक में प्रविष्ट होकर नये प्रकार की भावात्मक रचनाएँ करने लगे हैं। न्यूयार्क में इस स्वप्न-लोक के नाटककार यूजेन ओनील के 'स्ट्रेञ्ज इंटरल्यूड' और सोफ़ी ट्रेडवेल के 'मैकीनाल' नामक नाटक खेलकर यह प्रयत्न किया गया कि पात्रों के अभाषित विचार भी जनता को सुना दिये जायँ और केवल उनके चेतन व्यवहार को ही दिखाने के बदले उनके उपचेतनमय जीवन का वास्तविक रूप भी प्रस्तुत किया जाय। इसका अर्थ यह है कि ज्यों-ज्यों इस उपचेतन का रूप अधिक स्पष्ट होता जायगा त्यों-त्यों नाटककार भी उसका प्रयोग करते चलेंगे। आज के अनेक नाटककार अभी से ऐसी रीतियाँ निकाल रहे हैं जिनसे वे मनुष्य के उपचेतन मन की क्रियाएँ अभिव्यक्त कर सकें, अर्थात् किसी भी विचार

को भाषा में प्रस्तुत होने से पहले ही अभिव्यक्त कर सकें। यों तो चलचित्र ने विचार को दृश्य कर ही दिया है किन्तु सम्भवतः आज के नाटककार और भी दो पग आगे बढ़ जाना चाहते हैं। जैसे चलचित्र में चित्रों की धारा चलती है वैसे ही मनुष्य के मन में विचारों की भी धारा चलती है और जैसे चलचित्र में पश्चाभास कौशल (फ़्लैशबैक टेकनीक) के द्वारा सहसा एक विषय को छोड़कर दूसरे विषय पर पहुँच जाते हैं उसी प्रकार हमारे विचारों की गति भी निरन्तर अदलती-बदलती चलती है। अतः आश्चर्य नहीं कि कोई नया नाटककार रंगमंच पर ही चलचित्र का परदा टाँगकर चेतन और उपचेतन दोनों का अर्थात् बाहरी और आभ्यन्तर चरित्र के वास्तविक और स्वप्न-संसार का एक साथ साक्षात्कार करा दे। 'स्ट्रेन्ज इन्टरल्यूड' और 'मैकीनाल' नाटकों तथा बोलपटों ने इस प्रकार के नवीन नाटक का मार्ग-प्रदर्शन तो कर ही दिया है और यह कौन जानता है कि थोड़े ही दिनों में हमारा रंगमंच त्रिपरिमाणीय के बदले चतुष्परिमाणीय और पंच-परिमाणीय तक नहीं बन जायगा।

यन्त्र-विज्ञान और मनोविज्ञान के युग में स्वभावतः अभिनेता का उत्तरदायित्व भी बढ़ जायगा। उसे यन्त्र-चालित रंगपीठ और दृश्य-सज्जा के अनुकूल अपनी आंगिक अभिनय-पद्धति को व्यवस्थित करने के साथ मनोवैज्ञानिक उपचेतन प्रक्रियाओं के अनुकूल अपना सात्त्विक अभिनय भी व्यवस्थित करना पड़ेगा और अपनी मुख-मुद्राओं तथा भाव-चेष्टाओं को इतना संयत, संतुलित और सिद्ध कर लेना पड़ेगा कि वह चेतन और उपचेतन दोनों भावों को एक साथ व्यक्त कर सके।

निर्देश और अभिनय

साधारणतः लोगों की धारणा है कि अभिनय के लिए शरीर की चेष्टाएँ और वाणी का आरोह तथा अवरोह जानना ही पर्याप्त है, किन्तु स्तानिसलवस्की ने नवीन मनोवैज्ञानिक और दार्शनिक दृष्टि से इस पर विशेष विचार किया है। उसने बताया है—"अभिनय का कार्य केवल किसी के निर्देश पर या किसी सधी-सधायी पद्धति के अनुसार आंगिक और वाचिक चेष्टा मात्र नहीं। अभिनय-कला तो सात्त्विक या आभ्यंतर मानस की कला है जिसमें अभिनेता को अपनी कलात्मक प्रतिभा का प्रयोग करना चाहिए। उसकी सारी क्रियाएँ आदि से अन्त तक चेतन से उपचेतन तक प्रवाहित होती चलनी चाहिए, क्योंकि वास्तविक कलात्मक चेष्टाओं का नौ-दसवाँ भाग इसी प्रक्रिया का परिणाम है। इस दृष्टि से विचार किया जाय तो कुछ ऐसे व्यापक सिद्धान्त निर्धारित किये जा सकते हैं जिन्हें रूस के प्रसिद्ध नाट्याचार्यों ने व्यवहार में अत्यन्त सफल पाया है —

१—किसी भी कलात्मक सृष्टि के लिए शरीर की पूर्ण स्वतंत्रता अत्यन्त आवश्यक है, अर्थात् हमारे शरीर के सब पुट्ठे उस तनाव से पूर्णतः मुक्त हो जाने चाहिए जो केवल रंगमंच पर ही नहीं वरन् हमारे साधारण जीवन में भी हमारी मानसिक प्रक्रिया के अनुसार काम करने में बाधक होते हैं। यह तनाव उस समय और भी प्रबल हो जाता है जब अभिनेता को निर्देश देकर किसी विशेष प्रकार से चेष्टा करने के लिए बाध्य किया जाता है। इसका परिणाम यह होता है कि उसको बुद्धि और उसके मन के साथ उसके क्रियात्मक प्रयास का ठीक मेल नहीं बैठ पाता, जिससे उसके अभिनय में कलात्मकता के बदले कृत्रिमता आ जाती है।

२—अभिनेता की कलात्मक शक्ति का प्रवाह अपने सामने दर्शकों को बैठे देखकर बहुत कुछ प्रतिरुद्ध हो जाता है और वह अपनी कलात्मक प्रवृत्ति पर ध्यान न देकर अपनी स्वतंत्र गति को बाधित करके इस फेर में पड़ा रहता है कि मैं दर्शकों को कैसे तृप्त करूँ। किसी भी महान् अभिनेता की कला तभी सफल हो सकती है जब दर्शकों को तृप्त करने की चेष्टा के बदले वह अपनी चेष्टाओं की ओर सावधान रहे। ऐसा होने पर ही वह दर्शकों को अपनी ओर केन्द्रित करके उन्हें अपने कलात्मक अस्तित्व में सक्रिय भाग लेने को बाध्य कर सकता है। इसका तात्पर्य यह नहीं समझना चाहिए कि दर्शकों की ओर से वह पूर्णतः उदासीन रहे। अभिनेता को समझ रखना चाहिए कि दर्शक तभी तक योग दे सकते हैं जब तक उन्हें यह अनुभव होता रहे कि हम पर कोई भार नहीं डाला जा रहा है और किसी विशेष समय की कलात्मक अभिव्यक्ति से अनावश्यक रूप से हमारा मन नहीं हटाया जा रहा है। इसलिए सिद्ध अभिनेता को धीरे-धीरे अपनी एकाग्रता को इस प्रकार नियंत्रित करने का अभ्यास डाल लेना चाहिए कि उसके कला-क्षेत्र में जो कुछ आवश्यक हो उसमें वह दर्शकों को भी सक्रिय भागी बनाकर अपनी कला को पुष्ट करता चले। इस प्रक्रिया को लोकैकान्त (पब्लिक सौलीट्यूड) कहते हैं। किन्तु एकाग्रता का यह क्षेत्र बढ़ता-घटता रहता है। इस क्षेत्र की सीमा में अभिनेता का तात्कालिक ध्यान उस केन्द्र पर होता है जिस पर नाटक के समय उसे अपनी इच्छा और विचार को केन्द्रित करना ही पड़ता है। अपने उद्देश्य की सिद्धि के साथ यह नाटकीय सहानुभूति तभी पूर्ण हो सकती है जब अभिनेता स्वयं अपनी भावनाओं में लीन होने का अभ्यास कर ले और अतिशय तीव्रता के साथ उन भावों की प्रतिक्रियाओं में भी मग्न हो सके। इस प्रकार के नाटकीय अभिनय में ऐसी शक्ति आ जाती है कि अभिनेता उस सजीव बन्धन के साथ बँध जाता है जो नाटक को सफलता के लक्ष्य तक पहुँचा देता है। इसी को रूसी नाट्याचार्यों ने 'भूमिका में तन्मयता' (लिविंग दि पार्ट) कहा है।

एकाग्रता

अभिनेता का ध्यान चाहे जहाँ भी केन्द्रित हो अर्थात् चाहे वह लोक-मानस के साथ एकात्मता स्थापित कर ले या अपने सामने बैठे हुए लोगों की मुख-मुद्राओं को अपने अधिकार में कर ले, किन्तु नाटकीय चातुर्य के लिए आवश्यक है कि अभिनेता अपनी शारीरिक और मानसिक सामर्थ्य को एकाग्र करके पूर्ण रूप से अभिनय में लगा दे। यह एकाग्रता उसकी दृष्टि, श्रवण और संपूर्ण इन्द्रियों में इस प्रकार व्याप्त हो जानी चाहिए कि वह उसकी स्मृति, कल्पना, बुद्धि और संकल्प-शक्ति सबको एक साथ झकझोर कर जागरित कर दे। अभिनेता का संपूर्ण मानसिक और शारीरिक अस्तित्व ही उस भाव की ओर लग जाना चाहिए जो उसकी मुख-मुद्रा से व्यक्त होने वाला हो। केवल उसी अन्तःस्फुरण और अनुप्राणन के अवसर पर ही उसका अस्तित्व सफल होता है जब उसके संपूर्ण गुण स्वतः उसकी इच्छा से उद्‌बुद्ध हो जायँ। इसके विपरीत, जब यह स्थिति नहीं होती अर्थात् अभिनेता अपने सात्त्विक या आभ्यन्तरिक गुणों, शक्तियों और योग्यताओं का प्रयोग नहीं करता, तब वह बाप-दादों के समय से चली आयी नाटकीय परंपराओं का पालन करने लगता है, अथवा जैसा दूसरों को करते देखता है वैसा करने लगता है, या स्वयं अपनी प्रतिभा देखकर अपने भावावेगों की आन्तरिक अभिव्यक्ति का अनुकरण करता है, या बिना कारण, बिना इच्छा या संकल्प के ही भावावेग लाने का प्रयत्न करके और भीतर के उन भावावेगों को अनुप्राणित करने का प्रयत्न करता है। किन्तु स्वयं अपने इस मानसिक साधन का बलपूर्वक प्रयोग करके भी वह कलात्मक प्रतिभा की सृष्टि नहीं कर पाता। वह भावावेगों का छलपूर्ण रूखा प्रदर्शन मात्र करता है क्योंकि भावावेग किसी के कहने से नहीं आते। उनके लिए तदनुरूप मनःस्थिति आवश्यक है। कोई भी व्यक्ति अपनी चेतन इच्छा से ऐसे किसी भावावेग को किसी भी समय उत्पन्न नहीं कर सकता। यदि उसका झूठा रूप उत्पन्न भी होता है तो वह रचनात्मक प्रतिभा के किसी भी काम का नहीं होता। इसलिए जो व्यक्ति वास्तव में रंगमंच का कलाकार होना चाहता है उसके लिए मूल सूत्र यह है—अभिनेता को भावावेग उत्पन्न करने के लिए नाटक नहीं करना चाहिए। उसे अपने भीतर बिना आन्तरिक प्रेरणा या बिना इच्छा के भावावेग नहीं जागना चाहिए।

कल्पना की प्रक्रिया

जिन लोगों में ईश्वर-प्रदत्त कला-प्रतिभा होती है उनमें भावावेग उत्पन्न करने की भी प्रतिभा स्वाभाविक होती है। यह प्रतिभा हमारे चेतन की क्रिया पर अवलम्बित कल्पना से उद्‌भूत होती है। अतः अभिनेता को सहसा कोई भावावेग उत्पन्न करने की

चेष्टा करने के बदले कलात्मक कल्पना की ओर प्रवृत्त होना चाहिए। किन्तु कल्पना, जैसा कि वैज्ञानिक मनोविज्ञान में सिद्ध भी हो चुका है, हमारी भ्रमणशील स्मृति को बाधा भी देती है और भाव-मेल (हार्मनी) की भावना की परिधि से परे छिपे हुए कोनों से उसे सिद्ध भावावेगों के जो तत्त्व मिलते हैं उन्हें बहलाकर हमारी कल्पना-मूर्ति में उदित होने वाले भावों के साथ मिलाते हुए व्यवस्थित कर देती है। इस प्रकार अपनी कल्पना की मूर्तियों से घिरने पर बिना प्रयत्न के ही हमारी भ्रमणशील स्मृति का उत्तर मिल जाता है और हमारे हृदय में से सहानुभूतिपूर्ण भावावेगों की ध्वनि निकल पड़ती है। यही कारण है कि अभिनेता की रचनात्मक कल्पना ऐसे नवीन रूप में प्रस्तुत हो जाती है जो उसकी तात्त्विक कला है, वरदान है। बिना समुन्नत और सचल कल्पना के रचनात्मक वृत्ति किसी प्रकार सम्भव नहीं है और वह सहज वृत्ति भी हमारी अन्तःवृत्ति या किसी बाह्य कौशल द्वारा सम्भव नहीं है। कलाकार अपने मानस में छिपे हुए गुण को प्राप्त करने के प्रयास में जब अपने मानस-बिम्ब और भावावेग में लीन हो जाता है तब यह गुण पूर्णतः उसके भीतर एकात्मक हो जाता है। अभिनेता के कलात्मक शिक्षण के लिए वह व्यावहारिक पद्धति और भी बढ़ जाती है जो उसकी कल्पना के सहारे उसकी प्रभावशाली स्मृति के संग्रह करने की ओर प्रवृत्त की जाती है। अभिनेता का व्यक्तित्व और भावावेगात्मक अनुभव अपनी सीमाओं के कारण उसे अपनी रचनात्मक प्रतिभा के क्षेत्र तक परिमित कर देता है और उसे कोई ऐसी भूमिका ग्रहण नहीं करने देता जो उसकी मानसिक वृत्ति से मेल न खाती हो। यह विचार उन अनेक भ्रमों का, विशेषतः उन वास्तविकता के तत्त्वों का निवारण करने के लिए भी आवश्यक है जिनसे कल्पना की कृत्रिम रचनाएँ उत्पन्न की जाती हैं। ये रचनाएँ इन्द्रिय-अनुभवों से भी प्राप्त होती हैं किन्तु इन रचनाओं की निधि और बहुरूपता केवल अनेक तत्त्वों के परीक्षण से संगृहीत संयोगों से ही प्राप्त होती हैं। जिस प्रकार सरगम में सात मूल स्वर और सूर्य की ज्योति में सात मूल रंग होते हुए भी संगीत में स्वरों का और चित्र में रंगों का मेल असंख्य रूपों में होता है, उसी प्रकार कल्पनात्मक स्मृति में सुरक्षित क्रान्तिकारी भावावेगों के असंख्य स्वरूप भी वैसे ही स्थित हैं जैसा बाह्य भाव-मेल (हार्मनी) हमारी बौद्धिक स्मृति में बना रहता है। इन क्रान्तिकारी भावावेगों का समूह प्रत्येक व्यक्ति के आन्तरिक अनुभव में बहुत परिमित होता है किन्तु उसके मेल और रूप उतने ही असंख्य होते हैं जितने वे मेल, जो आन्तरिक अनुभव के तत्त्वों से कल्पनात्मक क्रिया की रचना करते हैं।

यह ठीक है कि अभिनेता का बाह्य अनुभव अर्थात् उसके प्रमुख संवेदनों और विचारों का क्षेत्र सदा लचीला (इलैस्टिक) होना चाहिए, तभी वह अपनी रचनात्मक शक्ति का क्षेत्र बढ़ा सकता है, किन्तु दूसरी ओर उसे अत्यन्त व्यवस्थित ढंग से सँभालकर

अपनी कल्पना का विकास करते हुए उसे नयी-नयी समस्यायों की ओर प्रवृत्त भी करना चाहिए। किन्तु नाटककार की रचनात्मक प्रतिभा से उत्पन्न की हुई जो कल्पनात्मक एकता अभिनेता की चेष्टाओं का मूल आधार है वह भावावेग की दृष्टि से अभिनेता पर अभिभूत हो जानी चाहिए। अभिनेता को नाटकीय अभिनय की ओर प्रवृत्त करने के लिए आवश्यक है कि अभिनेता उस एकता को वैसी ही वास्तविक वस्तु मानकर उसकी ओर झूल जाय जैसी वास्तविकता उसके चारों ओर विद्यमान है।

सत्य का भावावेग

इसका यह अर्थ नहीं समझना चाहिए कि अभिनेता रंगमंच पर अपनी सुध-बुध इस प्रकार खो दे कि अपने चारों ओर की वास्तविकता को पूर्णतः भुला दे और वृक्षों के चित्रित दृश्य को वास्तविक वृक्ष समझ बैठे, वरन् उसकी चेतना का कुछ भाग नाटक की पकड़ से ऐसा बाहर हो कि वह उन सब विषयों पर नियन्त्रण रख सके जो वह निर्दिष्ट भूमिका के अभिनय में प्रयत्न करके प्राप्त करना चाहता है। उसे यह नहीं भूलना चाहिए कि रंगमंच पर उसके चारों ओर दृश्य और सजावट आदि है, किन्तु उसके लिए इन सबका कोई अर्थ नहीं है मानो वह अपने मन में कहता हो कि 'मैं जानता हूँ मेरे चारों ओर रंग-मंच पर वास्तविकता का रूखा, कृत्रिम और झूठा रूप है। किन्तु यदि यह सब सत्य हो तब देखो कि मैं किस प्रकार उस दृश्य तक ले जाया जाता हूँ और इस दृष्टि से मैं अभिनय करता हूँ।' उस क्षण जब उसके मन में वह कलात्मक कल्पना उसके वास्तविक जीवन को घेर लेती है तब वह अपने में से सब स्वार्थ समाप्त करके उस समय अपने लिए निर्मित कल्पना-जगत् के क्षेत्र में चला जाता है। इस प्रकार पुनः वास्तविक जीवन में पहुँचकर अभिनेता को बलपूर्वक सत्य का व्यवहार करना पड़ता है और जैसे अपनी खोज की वास्तविक रचना में वह सत्य को व्यवस्थित करता है उसी प्रकार उससे सम्बद्ध उसके शेष में भी वह सत्य का व्यवहार करता है। यदि उसकी खोज अत्यन्त असंगत सिद्ध हो जाय, क्योंकि वह सत्य का बहुत चौड़ा रूप है, तब वह उसमें विश्वास करना बन्द कर देता है और इस खोज के साथ उसका भावावेग उठता है, अर्थात् कल्पित परिस्थितियों के सम्बन्ध में उसकी बाह्य भावना पूर्णतः निश्चित दिखाई देने लगती है जिसका किसी एक प्रदत्त भावावेग की व्यक्तिगत प्रकृति से कोई सम्बन्ध नहीं होता। अन्त में अपनी भूमिका के बाह्य जीवन की अभिव्यक्ति में सजीव जटिल भावावेग के रूप में अपनी सम्पूर्ण शारीरिक समर्थता के पर्याप्त पूर्णत्व का प्रयोग न करते हुए वह कोई असत्य स्वरारोह (इन्टोनेशन), अपनी मुख-मुद्रा में कलात्मक भाव का प्रभाव और सस्ते प्रभाव के प्रलोभन में किसी प्रकार की असंगत और दुरभ्यस्त क्रिया का प्रयोग कर देता है।

अत: केवल अत्यन्त तीव्र रूप से समुन्नत सत्य के भाव के द्वारा ही वह ऐसी पूर्णता को प्राप्त कर सकता है कि उसकी प्रत्येक चेष्टा और प्रत्येक मुद्रा बाह्य रूप से वास्तविक हो, अर्थात् वह भूमिका को प्रदर्शित करने वाली परिस्थिति को ठीक रूप से अभिव्यक्त करे और प्रत्येक जाति की रूढिगत नाटकीय मुद्राओं और चेष्टाओं के समान एक भी आन्तरिक सौन्दर्य की अभिव्यक्ति न करे।

आन्तरिक कौशल

ऊपर जितनी प्रक्रियाएँ और अभ्यास बताये गये हैं उन सबको मिलाकर तो अभिनेता का बाह्य कौशल बन पाता है किन्तु इसी के साथ-साथ आन्तरिक कौशल का भी विकास होना चाहिए, अर्थात् शारीरिक साधना से ऐसी पूर्णता प्राप्त कर लेनी चाहिए कि अभिनेता उस नाटकीय रूप का अवतार बन जाय जिसकी वह भूमिका ग्रहण करे और जिसके द्वारा वह अपनी बाह्य चेतना को स्पष्ट और सटीक रूप से व्यक्त कर सके। इस उद्देश्य को दृष्टि में रखकर अभिनेता को अपने भीतर केवल अभिनय की साधारण गतिशीलता और लोच मात्र को ही नहीं वरन् उस विशेष चेतना को भी सचेष्ट करना चाहिए जो उसके सब पुट्ठों को संचालित करे, जिससे वह अपने भीतर शक्ति का अनुभव करने की योग्यता उत्पन्न करे जो उसके श्रेष्ठतम रचनात्मक केन्द्रों से उत्पन्न होकर उसकी भाव-भंगी और मुद्राओं को एक निश्चित प्रकार से संचालित करे और उससे प्रदीप्त होकर वह अपने प्रभाव में उन सब साथियों को भी एकात्मक कर ले जो रंगमंच पर या दर्शक-कक्ष में उसके अभिनय में भाग ले रहे हों। ठीक इसी प्रकार की चेतना और आन्तरिक भावों की सुन्दरता का विकास अभिनेता को अपने वाक्साधन में भी करना चाहिए। साधारण जीवन में प्रयोग की जाने वाली वाणी रंगमंच पर नीरस और भावहीन हो जाती है। उस वाणी में शब्द अलग-अलग उखड़े से प्रतीत होते हैं और उनमें वैसी रागमय एकता नहीं होती जैसी तन्त्री की उस अखंड तान में होती है जो चतुर वादक के द्वारा इतनी अधिक पूर्ण, गंभीर, सुन्दर और अधिक पारदर्शी बना दी जाती है कि वह बिना किसी कठिनाई के ऊँचे स्वर से नीचे स्वर तक और नीचे स्वर से ऊँचे स्वर तक विभिन्न मीड़ों में चढ़-उतर सकती है। पाठ को उबाने वाली नीरसता दूर करने के लिए अभिनेतागण प्राय: कृत्रिम रूप में सहसा उठी या गिरी हुई वाणी से ऐसा बनकर बोलते हैं जो रूढ वाचिक अभिनय के प्रकरण में प्राय: देखी जाती है और जो वास्तव में उस वाणी के साथ व्यक्त होने वाले भाव से मेल न खाने के कारण अधिक संवेदनशील श्रोताओं को अत्यन्त अवास्तविक सी प्रतीत होती है।

किन्तु वाणी का एक और स्वाभाविक संगीतमय माधुर्य है जिसे हम महान् अभि-

नेताओं के कौशल में तब देख सकते हैं जब वे अपने उस वास्तविक कलात्मक उल्लास में होते हैं, जो उनकी भूमिका के आन्तरिक संगीत से संबद्ध होता है। अभिनेता को अपने भीतर अपनी वाणी साधकर और वास्तविकता के भाव से उसे अभ्यस्त करके ऐसा स्वाभाविक संगीतमय बना लेना चाहिए जैसे कोई गायक अपनी वाणी साधता है। किन्तु इसी के साथ-साथ उसे अपनी भाषण-शैली भी पूर्ण कर लेनी चाहिए। कभी-कभी किसी की वाणी बड़ी प्रभावशाली, लोचदार और दृढ होती है, फिर भी कभी तो अशुद्ध उच्चारण के कारण और कभी वाक्य में किसी भाव की उचित अभिव्यक्ति अथवा कोई विशेष भावात्मक रंग देने के लिए बहुत आवश्यक तथा उचित बल या विराम न देने के कारण वह प्रभावहीन हो जाती है। नाटककार की रचना को पूर्ण रूप से प्रस्तुत करने और उसकी आन्तरिक वास्तविकता को स्पष्ट रूप से प्रस्तुत करने की दृष्टि से प्रत्येक शब्द, प्रत्येक अक्षर और प्रत्येक विराम-चिह्न का महत्त्व होता है। प्रत्येक नाटक की व्याख्या में अभिनेता अपनी बुद्धि के अनुसार प्रत्येक वाक्य में जो अपनी व्यक्तिगत भाव-सत्ता प्रतिष्ठित करता है वह केवल उसके आंगिक अभिनय से ही नहीं वरन् उसके कला-त्मक रूप से सिद्ध वाणी के द्वारा भी अभिव्यक्त होनी चाहिए। उसे यह ध्यान रखना चाहिए कि शब्द की प्रत्येक ध्वनि अलग-अलग स्पष्ट प्रतीत हो, क्योंकि वह शब्द की सम्मिलित लय-ध्वनि का एक अंग है और वह शब्द में व्यक्त आत्मा के किसी न किसी कण की अभिव्यक्ति है। इसलिए वाणी के ध्वनि-पक्ष को पूर्ण करने का अर्थ यही नहीं है कि केवल अपने वाणी के यंत्रों को ही साध लिया जाय वरन् उन्हें इस प्रकार से संचा-लित किया जाय कि प्रत्येक अभिनेता यह भी सीख ले कि प्रत्येक शब्द में आयी हुई एक-एक ध्वनि कलात्मक अभिव्यक्ति का साधन है। जहाँ तक वाणी की संगीतमय ध्वनि का प्रश्न है, अथवा मंच-स्वातन्त्र्य, लोच-गति की लयात्मकता और नाटकीय कला के सब बाह्य कौशल की बात है वहाँ तक वर्तमान युग का अभिनेता कलात्मक संस्कृति की ही सीढ़ी के बहुत निचले डंडे पर है। फिर आन्तरिक कौशल की बात तो दूर की है और इस दृष्टि से संगीताचार्य, कवि तथा चित्रकलाचार्य सभी अनेक कारणों से बहुत पीछे पड़े हुए हैं, जिन्हें विकास का बहुत बड़ा मार्ग अभी चलकर पूरा करना है।

नाटक का प्रयोग

इस आर्थिक युग में कोई भी नाटक अत्यन्त कलात्मक रूप से प्रस्तुत करना संभव नहीं है क्योंकि जिस रचनात्मक प्रक्रिया द्वारा भूमिका ग्रहण करने से लेकर उसके कला-त्मक प्रदर्शन तक अभिनय करना आवश्यक है वह इतना जटिल है कि बाह्य और आन्त-

रिक कौशल की पूर्णता की कमी के कारण न तो वह संभव होता है और न बिना बाधा के प्रस्तुत ही किया जा पाता है। एक और भी कठिनाई यह है कि किसी भी कलात्मक पूर्णता के लिए अभिनेताओं के कलात्मक व्यक्तित्वों के परस्पर एक दूसरे के साथ संगति न बैठा सकने के कारण भी इसमें बहुत बाधा होती है। ऐसी संगति स्थापित करने और नाटक की कलात्मक सत्यता तथा उसकी अभिव्यक्ति करने का उत्तरदायित्व पूर्णतः रंग-व्यवस्थापक (थियेटर-मैनेजर) पर ही है। मीनिगेन अभिनेताओं के साथ प्रारम्भ होने वाले इस युग में जब रंगशाला पर एक मात्र रंग-व्यवस्थापक का ही एकाधिपत्य रहता था और अब भी जहाँ प्रमुख रंगशालाओं में वहाँ के रंग-व्यवस्थापक ही नाटक खेलने से पहले सारी योजना अर्थात् प्रस्तुत अभिनेता-मण्डल का ध्यान रखते हुए सब अभिनेता, दृश्य-प्रभाव और दृश्यों के क्रमिक विकास (मिसेंसिन) की रूपरेखा बना लेते हैं, वहाँ नाटककार भी इसी प्रणाली का पालन करता है। किन्तु अब तो रंग-व्यवस्थापक यह समझने लगा है कि उसका (व्यवस्थापक का) व्यवस्था-कार्य अभिनेता के कार्य के साथ इस प्रकार मिलकर होना चाहिए कि न उसकी उपेक्षा हो और न पूर्णतः उसका अनु-सरण हो। नाटककार की सम्मति में आज के रंग-व्यवस्थापक की समस्या है अभिनेता की रचनात्मक प्रतिभा को प्रोत्साहित, नियंत्रित और व्यवस्थित करना और निश्चय करना कि अभिनेता की यह प्रतिभा नाटक की कलात्मक भावना से उतनी ही उत्पन्न हो जितनी नाटकों की बाह्य योजना से। इस प्रकार नाट्य-प्रयोक्ता और अभिनेता का यह सम्मिलित कार्य नाटक के विश्लेषण, उसके कलात्मक तत्त्व की खोज और इस अनुसंधान से प्रारम्भ होता है कि इसका प्रत्यक्ष प्रभाव (ट्रांसपेरेंट एफ़ेक्ट) क्या होगा। नाट्य-प्रयोक्ता का दूसरा काम है व्यक्तिगत भूमिकाओं के पारदर्शी प्रभाव की खोज अर्थात् प्रत्येक अभिनेता की उस मौलिक इच्छा-पद्धति की खोज जो उसके चरित्र से उद्भूत होकर नाटक की सामान्य अभिनय-प्रक्रिया में उसका स्थान निश्चित करती है। यदि अभिनेता तत्काल इस प्रत्यक्ष प्रभाव के प्रदर्शन की योग्यता नहीं प्राप्त कर लेता तो उसे चाहिए कि नाट्य-प्रयोक्ता की सहायता से वह थोड़ा-थोड़ा करके जान ले, अर्थात् अभिनेता को नाटक में अपने जीवन की विभिन्न अवस्थाओं से मिलते-जुलते जो भाव संगत प्रतीत हों उन्हें इस प्रकार बाँट ले कि उद्देश्य की प्राप्ति के संघर्ष में जो समस्याएँ सामने आती चलें, उनका किसी भूमिका के प्रत्येक अंग-प्रत्यंग अथवा और भी सूक्ष्म तत्त्व की दृष्टि से ऐसा विश्लेषण और ऐसी सूक्ष्म अवस्थाओं में विभाजन कर ले जो अभिनेता की अपनी अलग-अलग मानसिक प्रक्रिया से मिलती-जुलती हों और जिनसे रंगमंच का पूरा व्यापार या अभिनय-प्रकरण बनता हो। अभिनेता को चाहिए कि भावावेगों और स्वभावों के मानसिक धुरों को तो पकड़ ले

किन्तु उन भावावेगों और स्वभावों को न ग्रहण करे जो भूमिका के उपर्यंकित भागों को अनुरंजित करते हों। इसे यों समझा सकते हैं कि अपनी भूमिका के प्रत्येक भाग का अध्ययन करते हुए अभिनेता को यह जानना चाहिए कि मैं चाहता क्या हूँ, नाटक के अभिनेता के रूप में मेरी क्या आवश्यकताएँ हैं और किसी एक निश्चित क्षण में मैं अपने सम्मुख कौन सी निश्चित अंगभूत समस्या को रख रहा हूँ। इस प्रश्न का उत्तर संज्ञा के रूप में नहीं, क्रिया के रूप में होना चाहिए, जैसे—'मैं इस सुन्दरी के हृदय पर अधिकार प्राप्त करना चाहता हूँ, मैं इसके घर में प्रविष्ट होना चाहता हूँ, मैं उन नौकरों को दूर कर देना चाहता हूँ जो इसकी रक्षा कर रहे हैं।'

इस प्रकार मन की समस्याएँ अभिनेता की रचनात्मक कल्पना के साथ मिलकर उसके उद्देश्य और परिस्थिति का स्पष्ट और अधिक प्रकाशमान चित्र प्रस्तुत करती हैं और फिर वह चित्र उसे आविष्ट करता चलता है और उसकी क्रियाशील स्मृति के कोनों से उसकी भूमिका के योग्य उन सचेष्ट भावावेगों का संबंध स्थापित करता चलता है जो नाटकीय अभिनय में ढल जाते हैं। इस प्रकार अभिनेता की भूमिका के विभिन्न भाव अधिक सजीव और समृद्ध बनकर चलते हैं, क्योंकि जटिल आवयविक अवशेषों (औरगैनिक सरवाइवल्स) के अनिच्छापूर्वक मेल के कारण ही उनकी यह स्थिति होती है। इन विभिन्न भावों को मिलाने से विभिन्न भूमिकाओं की व्यवस्थित योजना (स्कोर ऑफ़ द पार्ट) तैयार होती है जिसके अभ्यास और एक दूसरी के साथ संगति बैठाकर उनके सतत सम्मिलित कार्य को देखते हुए नाटक को प्रयोग की व्यवस्थित योजना (स्कोर ऑफ़ द परफ़ौरमेंस) के रूप में प्रस्तुत किया जाता है।

सूक्ष्म योजना

केवल योजना (स्कोर) तैयार करने से ही नाट्य-प्रयोक्ता और अभिनेताओं का कार्य पूर्ण नहीं हो जाता। अभिनेता अपनी भूमिका और नाटक का और भी गंभीरता के साथ अध्ययन करता हुआ उसमें जीवन धारण करता, उसीमें जीता (लिविंग इन द पार्ट) हुआ अपनी भूमिका तथा नाटक के गंभीरतम उद्देश्यों की खोज करता है। इस प्रकार वह और भी तन्मयता के साथ अपनी भूमिका की योजना (स्कोर) में जीता है किन्तु उसकी भूमिका की योजना मात्र और नाटक की योजना मात्र वास्तव में उसी प्रकार और भी परिवर्तित होती चलती हैं जैसे किसी कविता में अनावश्यक शब्द होते हैं। इसी प्रकार किसी भूमिका की योजना (स्कोर) में कोई भी अनावश्यक भावावेग न होकर केवल वे ही भावावेग हों जो उचित (पारदर्शी) प्रभाव के लिए आवश्यक हों। इसलिए प्रत्येक भूमिका की योजना स्थिर कर लेनी चाहिए और उसे व्यक्त करने

के ऐसे ढंग और रूप भी स्थिर कर लेने चाहिए जो उसके अभिरूपण के लिए उत्तेजक, सरल और प्रभावशाली हों। जनता के सम्मुख नाटक तभी उपस्थित करना चाहिए जब प्रत्येक अभिनेता की केवल भूमिका ही परिपक्व और सजीव न हो वरन् जब उसके अनावश्यक भावावेग भी हटाकर निकाल दिये जायँ, उसके आवश्यक भावावेग मिलकर सजीव रूप में समन्वित हो जायँ और जब वे व्यापक लय, ताल और नाटक में वर्णित युग के साथ पूर्णतः एकात्मक हो जायँ।

कोई नाटक चाहे जितनी बार भी प्रस्तुत किया जाय उस नाटक का और उसकी प्रत्येक भूमिका का सम्मिलित प्रवाह (स्कोर) साधारणतः अपरिवर्तित रहता है, किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि जिस क्षण से जनता को नाटक दिखाया जाने लगता है, उस समय से अभिनेता की रचनात्मक प्रक्रिया समाप्त हो जाती है और प्रथम बार नाटक प्रस्तुत करते समय उसकी कला की केवल यांत्रिक आवृत्ति मात्र ही रह जाती है। तथ्य तो यह है कि प्रत्येक बार जब-जब नाटक होता है तब-तब नयी-नयी रचनात्मक परिस्थितियाँ उत्पन्न होती रहती हैं। अभिनेता को चाहिए कि अपनी सम्पूर्ण मानसिक शक्तियों का उसमें योग दे, क्योंकि केवल इन्हीं परिस्थितियों के अन्तर्गत समय-समय पर होने वाले विशेष परिवर्तनों में उसकी भूमिका के प्रवाह (स्कोर) में मानसिक शक्तियाँ रचनात्मक रूप में उसी प्रकार सवती चलती हैं, जैसे सभी सजीव स्नायविक जीव अपने भावावेगों से एक दूसरे को प्रभावित करते चलते हैं, और अभिनेता तभी दर्शकों को वह अदृश्य और अनिर्वचनीय तत्त्व दे सकता है जो नाटकों का आध्यात्मिक रहस्य है और नाटकीय कला के तत्त्व का सार है।'

जहाँ तक दृश्य-सज्जा, नाटकीय सामग्री आदि नाटक की बाहरी व्यवस्था की बात है उनका वहीं तक महत्त्व है जहाँ तक वे नाटकीय व्यापार की अभिव्यक्ति से मेल खाती हों अर्थात् अभिनेता की प्रतिभा से संगति रखती हों। इन सब बाह्य साधनों का रंगशाला में कोई स्वतन्त्र कलात्मक महत्त्व नहीं है यद्यपि अभी तक बहुत से महान् दृश्य-चित्रकारों ने इसका बहुत महत्त्व समझा है। दृश्य-चित्रण तथा नाटकीय संगीत का रंगमंच पर केवल सहायक कला के रूप में महत्त्व समझा जाना चाहिए और रंग-व्यवस्थापक का कर्तव्य है कि इनमें से प्रत्येक साधन में से नाटक को ऊर्जस्वल करनेवाली प्रत्येक आवश्यक वस्तु को ग्रहण करके उसे अभिनेता की समस्या के अधीन रखता जाय।"

स्तानिसलवस्की ने इस उपर्यंकित वक्तव्य में अभिनय और अभिनेता के सम्बन्ध में जो दार्शनिक विवेचन किया है वह नाट्य-कला के तात्त्विक और दार्शनिक विवेचन की दृष्टि से भले ही महत्त्वपूर्ण हो किन्तु यह व्यावहारिक इसलिए नहीं है कि प्रत्येक नाटक के पात्रों की प्रत्येक भूमिका में पूर्ण तन्मयता प्राप्त करना और एकात्मकता स्थापित करके

उसी भूमिका में जीवित होना न तो प्रत्येक अभिनेता के लिए सम्भव है न प्रत्येक नाटक-प्रयोक्ता के लिए प्रत्येक अभिनेता को प्रत्येक भूमिका में अन्तःप्रविष्ट करवाना संभव है। क्योंकि कभी-कभी एक भूमिका के लिए दो-दो अभिनेता तैयार करने पड़ते हैं, किसी अभिनेता के रुग्ण हो जाने पर दूसरे अभिनेता को भूमिका ग्रहण करनी पड़ती है, प्रति दिन नया नाटक खेलते समय प्रत्येक अभिनेता को नित्य नयी भूमिका में पदार्पण करना पड़ता है और इन नाटकों में भी कोई एक युग का होता है, कोई दूसरे युग का। ऐसी परिस्थिति में किसी एक पात्र अथवा नाटक के युग के साथ एकात्मकता स्थापित करना या भूमिका-विष्ट होना न तो संभव ही है न उचित ही। इस संबंध में भरत का सिद्धांत पूर्णतः ठीक है कि अभिनेता को ऐसा भावान्वित होना चाहिए कि वह दर्शकों को अपने अभिनय के द्वारा रस-मग्न कर दे।

अध्याय ९

प्रेरक और नाट्याभ्यास

प्राचीन काल के नाटकों, नाट्यशास्त्रों और नाट्य-पद्धतियों का अनुशीलन करने से ज्ञात होता है कि पहले किसी भी देश में प्रेरक (प्रौम्प्टर) का प्रयोग नहीं होता था। सब अभिनेता अपने-अपने पाठ को कण्ठस्थ कर रखते थे और उन्हें इतना अधिक अभ्यास करा दिया जाता था कि उन्हें किसी प्रेरक की आवश्यकता नहीं होती थी। किन्तु जब से अव्यावसायिक नाट्य-मण्डलियों का प्रचलन हुआ तब से प्रेरकों की आवश्यकता अनिवार्य हो गयी, क्योंकि ये विभिन्न प्रकृति और व्यवसाय के लोग न तो अभ्यास के लिए कभी समय पर आते और न नाटक का पूरा अभ्यास पूरे पात्रों के साथ हो पाता है। इतना ही नहीं, कभी-कभी तो ठीक नाटक के दिन ही कोई पात्र या तो लुप्त हो जाते या किसी विशेष आकस्मिक कारण से उनके लिए अभिनय करना सम्भव नहीं होता है। ऐसी परिस्थितियों में तत्काल तैयार होकर अभिनय करनेवाले कुछ सिद्ध अभिनेता तैयार कर लिये जाते हैं जो प्रेरणा (प्रोम्प्टिंग) के बल पर निर्वाह कर ले जाते हैं। धीरे-धीरे यह प्रेरणा का रोग इतना व्यापक हो गया कि व्यावसायिक नाट्य-मण्डलियाँ भी प्रेरक का प्रयोग करने लगीं और अब नये रंगमंचों में ठीक रंगमंच के सामने प्रेरक-कक्ष (प्रौम्प-टर्स-केबिन) बनाया जाने लगा जहाँ बैठकर अभिनेताओं के सामने से ही उन्हें प्रेरणा और आदेश मिलता रहता है। यह प्रेरणा-कक्ष इस प्रकार बना होता है कि प्रेरक का स्वर सामने रंगमंच पर ही जाता है, दर्शकों की ओर नहीं। इन नये-नये साधनों और एक साथ कई नाटक तैयार करने की प्रवृत्ति के कारण प्रेरक और भी दुर्निवार बन गया।

प्रेरक को नियमतः प्रति दिन अभ्यास के समय सबसे पहले आना चाहिए और सबसे अन्त में जाना चाहिए। उसे सावधानी से नाटककार और नाट्य-प्रयोक्ता द्वारा दिये हुए सब आदेशों का संयमपूर्वक अध्ययन करना चाहिए और सब अभिनेताओं की प्रकृति, वाणी, भूमिका की प्रकृति और नाट्य की गति; सबका भली प्रकार अध्ययन करना चाहिए। यदि कोई अभिनेता भूल से कोई अनुपयुक्त शब्द कह दे अथवा पाठ्य-स्मरण न होने के कारण कोई ऐसा वाक्य अपने मन से कह दे जो नाटक में न हो तब प्रेरक को अपनी प्रत्युत्पन्न बुद्धि से तत्काल अन्य वाक्य या शब्द कहलवाकर उसका निर्वाह करा

देना चाहिए। प्रेरक को बैठने का अवकाश नहीं मिलता, उसे खड़े होकर ही बोलना पड़ता है और प्रायः जहाँ वह खड़ा होकर प्रेरणा देता है वहाँ कभी-कभी प्रकाश का भी अभाव रहता है। ऐसी परिस्थितियों में उसे अपनी दृष्टि-परिधि ऐसी साध लेनी चाहिए कि उसे एक बार जितना सुर्रा (क्यू) देना हो उतना अंश एक बार ही आँख की पकड़ में आ जाय। यह अभ्यास न होने पर प्रेरक को बड़ी कठिनाई उत्पन्न हो सकती है। जिन प्रेरकों को नाटक देखने का प्रलोभन होता है अथवा जिनकी दृष्टि-परिधि सधी हुई नहीं होती वे नाटक में सहायक बनने के बदले बाधक हो जाते हैं। अतः नाटक में प्रेरक को अभिनेता से बहुत अधिक महत्त्वपूर्ण समझना चाहिए और उसे भी अभिनेता के समान उचित अभ्यास कराना चाहिए।

प्रेरक को अभिनेता नहीं समझना चाहिए, यद्यपि अच्छा प्रेरक वही हो सकता है, जिसमें वाचिक अभिनय की पूर्ण क्षमता हो। प्रेरणा (प्रौम्प्टिग) स्वयं अपने में कला है और इसी दृष्टि से उसका अभ्यास भी कराना चाहिए। प्रेरणा का अर्थ है इस प्रकार मन्द-मन्द फुसफुसाहट के अव्यक्त स्वर में वेग से अभिनेता को वाक्य का सुर्रा (क्यू) दे देना कि वह उसके सहारे आगे के कथन या वाक्य को समझ या स्मरण करके कह दे। बहुत से प्रेरक इतने सिद्ध होते हैं कि वे वाक्य या शब्द-समूहों का सुर्रा ऐसा तोड़-तोड़कर इतने वेग से देते हैं कि अभिनेता चाहे तो प्रेरणा के बल पर ही पूरा पाठ्य कहता चला जा सकता है।

प्रेरक में केवल दो गुण होने चाहिए—एक तो यह कि उसका स्वर सुरीला हो, उसमें र्केकार या तीक्ष्णता (श्रलनेस) न हो और दूसरे वह अत्यन्त वेगशील गति के साथ बोल सकता हो। इसी को वर्तमान नाटकीय भाषा में 'सुर्रा देना' (क्यू-गिविंग) कहते हैं। उसके कान ऐसे सधे होने चाहिए कि वह तत्काल समझ ले कि इसके पश्चात् अभिनेता को क्या आवश्यकता है। उसमें इतना संयम होना चाहिए कि दर्शक बन-कर नाटक का रस न लेने लगे। उसे तो अपनी दृष्टि नाटक की पुस्तक पर और अपने कान अभिनेता की वाणी पर लगाये रखने चाहिए। जैसे भोजों में भण्डारी को पहले खिला-पिलाकर बैठाते हैं, वैसे ही प्रेरक को भी पूरा नाटक पहले ही दिखलाकर उसकी मानसिक तुष्टि कर देनी चाहिए और उसका कौतूहल समाप्त कर देना चाहिए।

प्रेरक को सारा नाटक कण्ठस्थ होना चाहिए। अभिनेता को वाक्य या शब्द-समूह का सुर्रा (क्यू) देते समय उसे न तो रंग-निर्देश कहना चाहिए न अभिनेता का या भूमिका का निर्देश करना चाहिए, अन्यथा यदि अभिनेता तनिक भी असावधान हुआ तो उसे रंग-निर्देश या नाम का सुर्रा इतना भ्रान्त कर सकता है कि वह पाठ्य-शब्दों के साथ-साथ रंग-निर्देश अथवा प्रेरित किया हुआ नाम भी कह सकता है। अतः प्रेरक को

अत्यन्त सावधान होकर केवल वाक्यारंभ का ही निर्देश देना चाहिए। यदि अभिनेता ने कुछ अंश छोड़कर आगे का वाक्य कह दिया हो तो प्रेरक को भी बीच का अंश छोड़कर आगे बढ़ जाना चाहिए, उसे दुहराने का प्रयत्न नहीं करना चाहिए, वरन् कौशल से कोई नया वाक्य कहलाकर उसकी ऐसी संगति बैठा देनी चाहिए जिससे उसका भाव-प्रवाह न टूटने पाये और दर्शकों को यह न प्रतीत हो कि उसका प्रवाह टूट गया है। इसी लिए वर्तमान नाट्यशास्त्री लोग प्रेरक को 'अभिनेताओं का मस्तिष्क' (ब्रेन ऑफ़ दि ऐक्टर्स) कहने लगे हैं।

कभी-कभी रंग-व्यवस्थापक की भूल से यदि समय से पूर्व परदा गिरा या उठा दिया जाय अथवा किसी अन्य पात्र को अवसर से पूर्व प्रविष्ट करा दिया जाय अथवा एक पात्र के बदले कोई अन्य पात्र ही प्रविष्ट करा दिया जाय, तब प्रेरक को सावधान होकर नाटक का क्रम बनाये रखने के लिए इस प्रकार वाचिक अभिनय का सूत्र देना चाहिए जिससे नाटक का क्रम असंगत और विशृंखल न होने पाये।

प्रेरक का स्वभाव मृदु और उदार होना चाहिए। चिड़चिड़ापन, खीझ और क्रोध प्रेरक के सबसे बड़े दुर्गुण हैं। उसे बड़े धैर्य और बड़ी सहनशीलता के साथ नाट्य-शिक्षा के समय जितनी बार आवश्यक हो उतनी बार अभिनेताओं को पाठ्य-प्रेरणा देनी चाहिए और उसमें इतनी दृढ़ता भी होनी चाहिए कि नाटक के होने तक निरन्तर खड़ा रहकर प्रेरणा देता रहे, बैठने और विश्राम करने की बात भी न सोचे।

प्राचीन भारतीय नाटकों का अनुशीलन करने से ज्ञात होता है कि प्रत्येक अभिनेता अपना सारा पाठ्य भाग कंठस्थ कर लेता था, उसे प्रेरक की आवश्यकता नहीं पड़ती थी। यूनान और रोम के प्राचीन नाटकों में भी प्रेरक की प्रथा नहीं थी। वहाँ के रंगपीठ ही इस प्रकार के बने होते थे कि प्रेरक के खड़े होने और प्रेरणा देने का न तो अवसर ही था, न स्थान ही। प्रारम्भिक यूनानी नाटकों में तो समस्त रंग-व्यापार समवेत गान (कोरस) के आधार पर ही होता था। इसलिए प्रेरक के लिए वहाँ ठिकाना ही नहीं था। जब से गद्यमय नाटकों का प्रचलन हुआ तब से अनुभव किया जाने लगा कि यदि प्रेरक न हों तो पाठ्यांश भूल जाने की सम्भावना रहती है, क्योंकि छन्दोबद्ध पाठ्य कंठस्थ करने में तो सुविधा होती है किन्तु गद्य-पाठ्य कंठस्थ करना परिश्रम-साध्य है। परीक्षा करके यह परिणाम निकाला गया है कि २० पंक्ति का पद्य कंठस्थ करने में जितना समय लगता है उसका ठीक बीस गुना समय बीस पंक्ति गद्य कंठस्थ करने में लगता है। वर्तमान नाटकों में प्रायः देखा जाता है कि अव्यावसायिक नाट्य-मण्डलियों के कुलीन अभिनेता अपने पाठ्य को कंठाग्र नहीं करते। वे अपने पाठ्य का भाव भर समझ लेते हैं और प्रेरक की सहायता से पाठ्य बोलते चलते हैं। हास्य-अभिनेता तो मुख्यतः

इस अभ्यास में प्रवीण होते हैं। अतः नाटक की गद्य-प्रकृति और अभिनेताओं की निश्चित प्रकृति को देखते हुए प्रेरक भी नाटकीय प्रयोग का इतना आवश्यक अंग बन गया है कि इस पाठ्य-प्रेरणा (प्रौम्प्टिंग) को भी लोग कला समझने लगे हैं।

नाट्याभ्यास का स्थान और समय

नाटक, अभिनेता और प्रेरक का चुनाव हो चुकने पर नाट्याभ्यास के लिए स्थान और समय चुनना चाहिए। यह तो कहने की बात नहीं है कि किन्हीं भी बाहरी व्यक्तियों को नाटक के प्रदर्शन से पूर्व उसके अभिनेता तथा नाटकीय कथा-वस्तु से किसी प्रकार का परिचय नहीं होना चाहिए। क्योंकि ऐसा होने पर नाटक का कुतूहल जाता रहता है और कुतूहल न रहने पर रस-निष्पत्ति नहीं होती। अतः नाट्याभ्यास कहीं ऐसे एकान्त स्थान में होना चाहिए जहाँ जन-सम्मर्द न हो, अधिक लोग न एकत्र हो सकें, प्रकाश और वायु पर्याप्त मात्रा में प्राप्त हो, किसी प्रकार का कोलाहल न हो और नाट्याभ्यास के लिए कक्ष में पर्याप्त और विस्तृत स्थान हो। प्राचीन युग में मन्दिरों के साथ पहले से ऐसे भवन बने रहते थे जहाँ इस प्रकार की शिक्षा एकान्त में दी जा सकती थी। दक्षिण भारत के मन्दिरों में अभी तक ऐसे कक्ष बने हुए हैं जहाँ देवदासियों को भरत-नाट्यम् और कथकली नृत्य सिखाया जाता है, किन्तु यदि संभव हो तो रंगशाला में ही नाट्य का अभ्यास कराना चाहिए। आजकल के नाट्य-प्रयोक्ता लोग प्रायः रंगशाला में ही नाट्य के अभ्यास का आयोजन करते हैं। इसमें यह सुविधा होती है कि रंगशाला में दृश्य-विधान और प्रकाश-विधान आदि की व्यवस्था जमी-जमायी रहती ही है, केवल चारों ओर के द्वार बन्द कर देने पर निर्जनता और एकान्तता भी सिद्ध हो जाती है। जहाँ एक ओर रंगशाला में नाट्य का अभ्यास कराने की यह सुविधा है, वहीं दूसरी ओर एक बड़ा भारी दोष यह भी है कि अभिनेताओं को स्वच्छ वायु का लाभ प्राप्त नहीं हो सकता। नाट्य में जो परिश्रम और व्यायाम होता है उसके साथ प्रत्येक अभिनेता को स्वच्छ पवन मिलना ही चाहिए। नाट्य-शालाओं की दूषित वायु, बिजली के पंखे की कृत्रिम बयार से और भी अधिक हानिकर हो जाती है। कालिदास के मालविकाग्निमित्र में इसी लिए आचार्य गणदास ने कहा है कि अभी पाँचों अंगों का अभिनय सिखाकर मैंने उसे विश्राम लेने को कहा है और वह खिड़की पर बैठी फुलवारी की ओर मुँह किये खुली वायु का सेवन कर रही है। अतः नाट्य-शिक्षा देने के लिए ऐसा स्थान अवश्य होना चाहिए जहाँ शुद्ध वायु मिल सके।

स्थान के साथ-साथ समय का भी विचार करना आवश्यक है। प्रायः दिन के पहले पहर या तीसरे पहर में नाट्य की शिक्षा देनी चाहिए। भरत ने नाट्य-प्रदर्शन के लिए

भी यही समय निश्चित किया है। अतः भोजन से पूर्व और सान्ध्य-प्रयोग के प्रथम विश्राम-भोजन करके अभ्यास करना ठीक होता है। मध्याह्न वेला या रात्रि के समय शिक्षा देने से अभिनेताओं के स्वास्थ्य को हानि पहुँच सकती है। दूसरी बात यह है कि प्रातःकाल सबके मस्तिष्क खुले रहते हैं, चित्त स्वस्थ रहता है जिससे शिक्षा में मन लगता है, किन्तु भोजन के समय या उसके पश्चात् न तो मनोयोगपूर्वक शिक्षा दी जा सकती है और न ग्रहण ही की जा सकती है। नाट्य-प्रयोक्ता को यह स्मरण रखना चाहिए कि एक पात्र के अस्वस्थ हो जाने से नाटक में बाधा उपस्थित हो सकती है। अतः उसे प्रयत्न करके ऐसे स्थान और समय में शिक्षा देनी चाहिए कि अभिनेता स्वस्थता और मनोयोग के साथ शिक्षा ग्रहण कर सकें। प्रायः नाट्य के अभ्यास के समय बहुत से अभिनेता मदमत्त होकर आते, सिगरेट-बीड़ी पीते, पान चबाते, सुरती फाँकते या चाय पीते रहते हैं। यह बरताव अत्यन्त निन्दनीय है। नाटक के अभ्यास में विद्यालय या देवमन्दिर की सी पवित्रता, शान्ति, एकाग्रता और निष्ठा होनी चाहिए।

पाठ्य और गीत का अभ्यास

बहुत से नाट्य-प्रयोक्ताओं का मत है कि पाठ्य और गीत का अभ्यास एक साथ होना चाहिए। उनका कहना है कि जैसे अभिनय की शिक्षा में अभिनेताओं को कई-कई बार एक ही आंगिक चेष्टा अथवा सात्त्विक भाव के प्रदर्शन का अभ्यास कराया जाता है, उसी प्रकार गायक को भी स्वर, ताल, लय और गति का अभ्यास कराना चाहिए। अतः नाटक में जिस क्रम से पाठ्य और गीत आते हों उसी क्रम से उनका अभ्यास कराना चाहिए अलग-अलग नहीं।

किन्तु यह मत ठीक नहीं है। अभिनय और संगीत दो भिन्न कलाएँ हैं और दोनों का अभ्यास भिन्न-भिन्न प्रकार से होता है। नाटक में गीत भी कम होते हैं और उनके गायक भी कम होते हैं। अतः साधारण बुद्धि से भी यह उचित नहीं जान पड़ता कि गायक, वादक आदि सबको पूरे समय तक रोक रखा जाय। यों भी संगीत-शिक्षा में अभिनय-शिक्षा से अधिक समय लगता है। अतः संगीत की शिक्षा अलग ही आवश्यक है। सभी कुशल नाट्य-प्रयोक्ता यही क्रिया करते हैं। हाँ, नाटक होने से पहले, अन्तिम दिन या जब अभिनय और संगीत में अभिनेता पटु हो जायँ, सबसे एक साथ अभ्यास कराने में कोई हानि नहीं वरन् लाभ ही लाभ है, किन्तु जब तक अभिनेताओं और गायकों को पूर्ण अभ्यास न हो जाय तब तक उनका अभ्यास अलग-अलग चलना चाहिए।

परीक्षाभिनय (ग्रांड रिहर्सल)

नाटक का प्रयोग दिखाने से एक या दो दिन पहले परीक्षाभिनय (ग्रांड रिहर्सल) कर लेना चाहिए, जिसमें वेश-भूषा, वर्ण-रचना, दृश्य-विधान, प्रकाश-विधान तथा संगीत-विधान के साथ पूरा नाटक यथाविधि कर लिया जाय। इसमें अभिनेताओं की गति, उनके अभिनय, उनके ढंग, प्रवेश तथा निष्क्रमण, समय, प्रकाश, स्वर सबकी परीक्षा हो जाती है और यह भी ज्ञात हो जाता है कि नाटक का उचित प्रभाव उत्पन्न करने में क्या त्रुटियाँ और भूलें रह गयी हैं।

नाट्य-शिक्षा

नाट्य की शिक्षा देते समय ही नाट्य-प्रयोक्ता की वास्तविक परीक्षा होती है। कभी-कभी ऐसा होता है कि कोई नाट्य-प्रयोक्ता स्वयं तो बड़े कुशल होते हैं किन्तु दूसरों को नहीं सिखा पाते हैं। कुछ ऐसे होते हैं जो स्वयं तो अच्छा अभिनय नहीं कर सकते किन्तु दूसरों को भली-भाँति सिखा सकते हैं। वास्तव में कुशल नाट्य-प्रयोक्ता वे ही होते हैं जो स्वयं भी कुशल अभिनेता हों और दूसरों को भी वैसी शिक्षा दे सकें। महाकवि कालिदास ने अपने मालविकाग्निमित्र नाटक के प्रथम अंक में परिव्राजिका से नाट्याचार्यों के कौशल का वर्णन कराते हुए कहलाया है—

श्लिष्टा क्रिया कस्यचिदात्मसंस्था संक्रान्तिरन्यस्य विशेषयुक्ता।
यस्योभयं साधु स शिक्षकाणां धुरि प्रतिष्ठापयितव्य एव॥

[किसी की क्रिया तो ऐसी होती है कि वह उसी के भीतर समायी होती है और कोई अपनी क्रियाओं को दूसरों तक पहुँचाने में कुशल होते हैं, किन्तु शिक्षकों में श्रेष्ठ वही है जो स्वयं भी कुशल हो और दूसरों को भी कुशल बना सके।]

शिक्षा देते समय नाट्य-प्रयोक्ता को तीन बातों पर ध्यान देते रहना चाहिए—एक तो प्रधान रूप से यह है कि अभिनेताओं को यथाविधि वाचिक, आंगिक और सात्त्विक अभिनय पूर्ण रूप से सिखाया जाय। बहुत से लोगों का अभी तक यह अन्धविश्वास चला आ रहा है कि शिक्षकों को अपनी सारी विद्या शिष्य को नहीं सिखानी चाहिए, किन्तु यह सिद्धान्त बड़ा बुरा और घातक है। गुरु का धर्म है कि योग्य शिष्य पाने पर अपनी सब कला उसे दे दे। हमारे यहाँ तो कहावत ही है—**सर्वत्र जयमन्विच्छेत् पुत्रात् शिष्यात् पराजयम्।**

[सब स्थानों में विजय की आकांक्षा करनी चाहिए किन्तु पुत्र और शिष्य के विषय में यही कामना करनी चाहिए कि वे हमसे बढ़कर हों।]

अतः शिक्षकों को चाहिए कि अपनी सम्पूर्ण कला अपने शिष्यों को सिखा दें। उनके प्रति कोई भी कपट न रखें।

दूसरी बात यह है कि शिक्षा के समय अभ्यास-कक्ष (रिहर्सल रूम) में अभिनेताओं के व्यवहार में वही सुशीलता होनी चाहिए जो गुरुकुलों या विद्यालयों में होती है। प्रायः इस विषय में आजकल के नाट्य-प्रयोक्ता बड़े असावधान होते हैं, इसी लिए नाट्य-शिक्षा के समय अत्यन्त दुःशीलतापूर्ण और अनियंत्रित वातावरण बना रहता है। कोई घूम रहा है, कोई गप्पें हाँक रहा है, कोई उँगली मटका रहा है, चारों ओर अशिष्ट उच्छृंखलता छायी रहती है। अभिनेता समझते हैं कि हमारा कार्य समाप्त हुआ तो हम स्वतंत्र हैं किन्तु यह बड़ी भ्रान्त धारणा है। प्रत्येक अभिनेता को सावधानी के साथ प्रत्येक अन्य अभिनेता के अभिनय का अध्ययन करना चाहिए। इससे विभिन्न प्रकार के अभिनयों का तो ज्ञान होता ही है साथ ही नाटकीय व्यापार में अपनी स्थिति का भी ठीक ज्ञान होता चलता है। अभिनेता की वृत्ति का जो आजकल इतना उपहास होता है और उसे जो इतना बुरा समझा जाता है उसका कारण यही है कि अभिनेताओं का प्रत्यक्ष व्यवहार और शील लोगों को सशंक करने के लिए पर्याप्त है। अतः अभिनय-वृत्ति को सम्माननीय बनाने के लिए नाट्य-प्रयोक्ता का कर्तव्य है कि वह सब अभिनेताओं को अभिनय-कौशल के साथ शील और संयम का पाठ भी पढ़ाये।

तीसरी बात यह है कि नाट्य-प्रयोक्ता को अभिनेताओं के स्वास्थ्य का सदा ध्यान रखना चाहिए। न तो वह उनसे अधिक कार्य ही ले, न तो उनके कंठ को आवश्यकता से अधिक कष्ट दे। नाट्य-प्रयोक्ताओं की इसी असावधानी के कारण प्रायः अभिनेताओं को कंठ-शोथ, कंठशालूक और स्वर-भंग आदि कंठ के रोग हो जाते हैं। ऐसे रोगों की औषधें नाट्य-प्रयोक्ताओं को सदा अपने पास रखनी चाहिए और कंठ स्वच्छ रखने के उपायों का सेवन कराते रहना चाहिए, जैसे गरम पानी, सेंधा नमक के साथ त्रिफला का चूर्ण आदि। किन्तु इससे अच्छी बात यह है कि अभिनेताओं के कंठ से बहुत अधिक काम न लिया जाय। प्रायः रात तक अधिक अभ्यास से, नींद मारने से, अनियमित भोजन से, अधिक शीत या उष्ण पदार्थों का सेवन करने से, बहुत पान खाने से, चाय पीने से और सिगरेट-बीड़ी के सेवन से कंठ-दोष हो जाते हैं। इसलिए नाट्याचार्य का कर्त्तव्य है कि कभी रात्रि के समय और भोजन तथा शयन के समय शिक्षा न दे और अपने अभिनेताओं को हिम, चाय, मिर्च, खटाई, सिगरेट, पान और तेल का सेवन न करने दे, क्योंकि ये सब पदार्थ कंठ और फुप्फुस के परम शत्रु हैं। बादाम या कमलगट्टे का हलुवा, उष्ण जल,

गोदुग्ध, मधु, पान का रस तथा कुलंजन आदि पदार्थ कंठ और स्वास्थ्य के लिए हितकर हैं।

नाट्य-प्रयोक्ता को रंगशाला और रंगपीठ से सम्बन्ध रखनेवाली प्रत्येक कला का पण्डित होना चाहिए और उसे पूर्ण मनोयोग के साथ प्रेरक और अभिनेताओं का ध्यान रखते हुए उन्हें अपनी सारी विद्या सिखानी चाहिए, क्योंकि वे ही नाटक के प्राण हैं, उन्हीं की सफलता-असफलता पर नाटक की सफलता या असफलता अवलम्बित होती है।

अध्याय १०

भारतीय अभिनय-पद्धति (शीर्षांगाभिनय)

भरत ने अपने नाट्यशास्त्र में अभिनय का विवेचन बड़े विस्तार से किया है। 'अभिनय' शब्द की व्युत्पत्ति बताते हुए वे कहते हैं—'णीञ् धातु में अभि उपसर्ग लगाने से अभिनय शब्द बनता है, जिसका अर्थ है नाटक के प्रयोग के द्वारा मुख्य अर्थ को श्रोता या सामाजिक के हृदय तक पहुँचाना और विभावन कराना, अर्थात् अभिनय-प्रयोग के द्वारा नाट्य के अनेक अर्थों का विभावन या रसास्वादन कराना।' यह अभिनय-क्रिया चार प्रकार की बतायी गयी है—आंगिक, वाचिक, आहार्य और सात्त्विक। ये चारों प्रकार की अभिनय-प्रक्रियाएँ नाट्य और नृत्य में तो होती हैं, नृत्त में नहीं होतीं।

आंगिक अभिनय

आंगिक अभिनय का अर्थ है शरीर, मुख और चेष्टाओं से किसी अर्थ को व्यक्त करना। इस दृष्टि से आंगिक अभिनय तीन प्रकार का होता है—१. शारीर अर्थात् शरीर के विभिन्न अंगों से किया जानेवाला अभिनय, २. मुखज अर्थात् मुख की विभिन्न विकृतियों के द्वारा प्रकट किया जानेवाला भाव और ३—चेष्टाकृत अर्थात् पूरे शरीर की किसी विशेष चेष्टा से किया जानेवाला अभिनय। सिर, कटि, हाथ, वक्ष, पार्श्व और चरण इन छः अंगों से; कंधे, बाहु, पीठ, उदर, ऊरु, जंघा, इन छः प्रत्यंगों से; और आँख, भौंह, नाक, अधर, कपोल और ठोड़ी इन छः उपांगों से अभिनय किया जाता है। कुछ आचार्यों ने कंधे को भी उपांग माना है। अभिनय की तीन प्रक्रियाएँ होती हैं जिन्हें शाखा, नृत्त और अंकुर कहते हैं। इनमें से आंगिक अभिनय तो शाखा कहलाता है, सूचना को अंकुर कहते हैं और अंगहार से युक्त करण पर आश्रित अभिनय को नृत्त कहते हैं।

सिर के अभिनय

शारीर आंगिक अभिनय के अन्तर्गत जिन छः अंगों से अभिनय किया जाता है उनमें प्राकृत या स्वाभाविक सिर की मुद्रा के अतिरिक्त सिर के तेरह प्रकार के अभिनय होते

हैं—१—आकम्पित, २—कम्पित, ३—धुत, ४—विधुत, ५—परिवाहित, ६—आधूत, ७—अवधूत, ८—अंचित, ९—निहंचित, १०—परावृत्त, ११—उत्क्षिप्त, १२—अधोगत, १३—लोलित। धीरे-धीरे नीचे-ऊपर सिर हिलाने को आकम्पित और वेग से ऊपर नीचे चलाने को कम्पित कहते हैं। पहचान करने में (अच्छा! आप हैं?), प्रश्न करने में (कहिए, कैसे पधारे?), स्वाभाविक भाषण में (ठीक है, यह तो है ही) और निर्देश ग्रहण करने में (अच्छा! यही होगा, जो आज्ञा) आकंपित का प्रयोग होता है। क्रोध, वितर्क-पूर्ण विज्ञान (क्या बात हुई, यह बात हुई होगी!), प्रतिज्ञा में (अच्छा, मैं समझ लूंगा), सन्देह में, भावावेग में, उत्तेजना में, तर्जन में, अनेक प्रश्नों से भरे हुए वाक्यों में (क्या हुआ? किसने कहा? कब, कहाँ कहा) में कम्पित सिर का अभिनय होता है। थोड़ा सा, अचानक धीरे से इधर-उधर सिर हिला देने को धुत और वेग से इधर-उधर हिलाने को विधुत कहते हैं। अनिच्छा प्रकट करने में (नहीं बस, और नहीं चाहिए), विषाद में (हाय हाय! अब क्या होगा?), विस्मय में (वाह वाह! अद्भुत कला है), और प्रत्यय (विश्वास) में (आप पर मुझे विश्वास है), शून्य दृष्टि से देखने में, दोनों ओर ताकने और किसीका प्रतिरोध करने में (हैं हैं! फूल मत तोड़ो!) धुत सिर का प्रयोग होता है। शीत से ग्रस्त, भयातुर, त्रस्त, ज्वर तथा मदिरा पिये हुए की दशा में विधुत सिर का प्रयोग होता है। एक ओर से सिर दूसरी ओर घुमाने को परिवाहित कहते हैं। इसका प्रयोग साधना, विस्मय, हर्ष, स्मृति, क्रोध, चिन्ता, शोक, लीला और विचार में होता है। तिरछा करके सिर ऊपर उठाने को आधूत कहते हैं। इसका प्रयोग गर्व, इच्छा, एक ओर देखने और पास की वस्तु को ऊपर देखने या आत्मश्लाघा में होता है। एक बार ही सिर नीचे झुका लेने को अवधूत कहते हैं। इसका प्रयोग सन्देश, आवाहन और संज्ञा के लोप में किया जाता है। सिर को एक ओर को कुछ झुका लेने को अंचित कहते हैं। इसका प्रयोग व्याधि, मूर्च्छा, मतवालेपन और चिन्ता में ठोड़ी पकड़कर किया जाता है। दोनों कन्धे ऊपर उठाकर, भौंहें सिकोड़कर, कन्धों को सिर से दूर रखने को निहंचित कहते हैं। इसका प्रयोग स्त्रियाँ ही गर्व, मान, विलास, बिब्बोक, किलकिंचित, मोट्टायित, कुट्टमित और स्तंभ में करती हैं। एक ओर मुँह फेर लेने को परावृत्त कहते हैं। मुँह फेरने या पीछे की ओर देखने के लिए इसका प्रयोग होता है। ऊपर मुंह करने को उत्क्षिप्त कहते हैं जिसका प्रयोग उच्च और दिव्य विषयों के लिए होता है। नीचे सिर लटका लेने को अधोगत कहते हैं जिसका प्रयोग लज्जा, संकोच, शोक और प्रणाम में होता है। चारों ओर सिर घुमाने को लोलित कहते हैं जिसका प्रयोग मूर्च्छा, व्याधि, मद, भूत-प्रेत, ग्रह के आवेश, मित्र के छल या चोरी पकड़ने आदि में होता है।

सिर की स्वाभाविक स्थिति को प्राकृत कहते हैं, जिसका प्रयोग मंगल-वस्तुओं के दर्शन, पठन और विचार में होता है।

अभिनयदर्पण में नन्दिकेश्वर ने सिर के केवल नौ अभिनय माने हैं—सम, उद्वाहित, अधोमुख, आलोलित, धुत, कंपित, परावृत्त, उत्क्षिप्त और परिवाहित। इनमें से कम्पित, धुत, परिवाहित, परावृत्त और उत्क्षिप्त तो वे ही हैं जो नाट्यशास्त्र में हैं। अधोमुख वही है जो अधोगत और आलोलित वही है जो नाट्यशास्त्र में लोलित है। शेष दो सम और उद्वाहित नये हैं। जब सिर स्थिर हो अर्थात् न ऊपर उठा हुआ हो न नीचे झुका हुआ हो, उसे सम कहते हैं। इसका प्रयोग नृत्य के प्रारम्भ में, प्रार्थना के लिए बैठते समय, गर्व में, मान में, स्तब्धता और क्रियारहित होने की दशा में किया जाता है। सिर ऊपर उठाने को उद्वाहित कहते हैं। इसका प्रयोग झंडा, चन्द्रमा, आकाश, पर्वत, ग्रह-नक्षत्र तथा अत्यन्त उच्च विषयों के लिए किया जाता है। भरत ने इस प्रकार के कार्य के लिए उत्क्षिप्त का प्रयोग बताया है। नन्दिकेश्वर ने बताया है कि जब सिर एक ओर घुमाकर ऊपर उठाया जाय वह उत्क्षिप्त होता है और उसका प्रयोग आदेश या प्रार्थना (यह लो, आओ), समर्थन और स्वीकृति के लिए निर्दिष्ट किया है। नन्दिकेश्वर के अनुसार अधोमुख या नीचे मुँह लटकाने का प्रयोग लज्जा, दुःख, प्रणाम, चिन्ता, मूर्च्छा, नीचे रखी हुई वस्तु देखने या लेने और जल में डुबकी लेने या कूदने के लिए करना चाहिए। आलोलित का प्रयोग, निद्रा, भूतबाधा, मद (नशा), मूर्च्छा, यात्रा और अनियंत्रित अट्टहास के लिए करना चाहिए। धुत (बायें से दायें और दायें से बायें सिर हिलाने) का प्रयोग नकारने (वह नहीं है), दोनों ओर बार-बार देखने, निरुत्साहित करने, आश्चर्य, निराशा, उदासी, असहमति, शीत या ज्वर के प्रकोप, भय, मदिरा पीने पर, प्रथम अवस्था, युद्ध के प्रयास, रोक-थाम करने, प्रतिहिंसा, अपने अंगों को देखने और दोनों ओर से किसी को बुलाने के लिए होता है। कंपित (ऊपर-नीचे सिर चलाने) का प्रयोग बुरा मानने, रोकने (ठहरो तो), पूछताछ, संकेत, समीप से बुलाने, देवताओं के आवाहन और तर्जन में होता है। परावृत्त (सिर घुमा-लेने या मुँह फेर लेने) का प्रयोग क्रोध, लज्जा, मुँह फेरने, निरादर करने, बाल (या सिर) दिखलाने और कम्पन के लिए होता है। परिवाहित (चँवर के समान सिर एक ओर से दूसरे ओर डुलाने) का प्रयोग काम-पीड़ा, विरह में प्रिय की चाह, देव-स्तुति, संतोष, समर्थन और चिन्तन में होता है।

दृष्टि के अभिनय

दृष्टि के भी छत्तीस प्रकार के अभिनय होते हैं, जिनमें से आठ रसों की, आठ स्थायी भावों की और बीस संचारी भावों की दृष्टियाँ होती हैं।

रस-दृष्टियाँ

हर्ष और प्रसन्नता से भरी दृष्टि को कान्ता कहते हैं। शृंगार में भौंह और कटाक्ष चलाने आदि की क्रियाएँ ही कान्ता कहलाती हैं। ऊपर उठी हुई, स्तब्ध और आँख के फड़कते हुए तारों वाली, भयानक रस में प्रयुक्त होने वाली दृष्टि भयानक कहलाती है। सिकुड़ी हुई आँखों और कुछ आँख के तारों से युक्त हास्या दृष्टि कहलाती है। इसका प्रयोग कुहक या छल के प्रयोग में किया जाता है। नीचे गिरे हुए पलकों वाली, आँसू भरी हुई, स्थिर तारों वाली और नाक के अग्र भाग पर जमी हुई दृष्टि करुण कहलाती है, जिसका प्रयोग करुण रस में होता है। आकुंचित बरौनियों और आश्चर्य के साथ उठे हुए तारों वाली, सौम्य, आँखें फाड़कर देखने की मुद्रा में अद्‌भुत रस में प्रयुक्त होने वाली खुली हुई दृष्टि अद्‌भुत कहलाती है। रौद्र रस में प्रयुक्त होनेवाली क्रूर, रूखी, लाल, खुली हुई, स्थिर पलकों तथा तारों वाली और टेढ़ी भौहों वाली दृष्टि को रौद्री कहते हैं। वीर रस में प्रयुक्त होनेवाली दीप्त, विकसित, क्षुब्ध, गम्भीर और समान तारों वाली खिली हुई दृष्टि वीरा कहलाती है। सिकुड़े हुए पलकों के किनारों वाली, घूमते हुए उपयुक्त तारों वाली, संश्लिष्ट और स्थिर बरौनियों वाली दृष्टि बीभत्सा कहलाती है। ये आठ दृष्टियाँ रसजा कहलाती हैं।

स्थायी-भावाश्रय दृष्टियाँ

मधुर, स्थिर तारों वाली, चाह-भरी, रसीली, आनन्द से भरी भौहों वाली दृष्टि रति-भावजा कहलाती है। चंचल, हास्यपूर्ण, तारों का निमेष करनेवाली, कुछ खुली हुई दृष्टि हास-भावजा कहलाती है। ऊपर के ढके हुए पलकों वाली, स्थिर तारों वाली, आँसुओं से भरी, मन्द-मन्द चलनेवाली दीन दृष्टि शोक-भावजा कहलाती है। रूखी, स्थिर, खुले हुए पलकों वाली, स्तब्ध, उठे हुए तारों वाली, टेढ़ी भौंहों वाली दृष्टि क्रोध-भावजा होती है। जिसमें दोनों आँखों के तारे स्थिर और विकसित हों वह सत्त्व भाव प्रकट करनेवाली दृप्त दृष्टि उत्साह-संभवा कहलाती है। दोनों खुले हुए पलकों वाली, भय से काँपते हुए तारों वाली, बाहर निकली हुई आँखों वाली भयपूर्ण दृष्टि को भय-भावजा कहते हैं। आँखों के संकुचित पलकों वाली, मिले हुए तारों वाली और घबरायी हुई व्याकुल दृष्टि को जुगुप्सित-भावजा कहते हैं। निरन्तर आँख के उठे हुए तारों वाली, खुले हुए दोनों पलकों वाली और समान रूप से विकसित दृष्टि को विस्मय-भावजा कहते हैं। ये सब दृष्टियाँ स्थायी-भावाश्रया कहलाती हैं।

संचारी-भावजा दृष्टि

समान तारों वाली, समान पलकों वाली, निष्कम्प, सूनी दिखाई देने वाली, बाह्य पदार्थ के ग्रहण करनेवाली ध्यानमग्न दृष्टि को शून्या (सूनी) कहते हैं। चलते हुए पलकों या बरौनियों वाली, बहुत न खुले हुए पलकों वाली, दोनों आँखों के मलिन तारों वाली, भिन्न-तारका दृष्टि मलिना कहलाती है। श्रम से झूली हुई, थकी सी, सकुची हुई और नीचे की ओर झुके हुए तारों वाली दृष्टि श्रान्ता (थकी हुई) कहलाती है। बरौनियों के सिकुड़े हुए अग्र भाग वाली, लज्जा से ऊपर के गिरे हुए पलक वाली और कुछ नीचे की ओर झुके हुए आँख के तारों वाली दृष्टि लज्जान्विता कहलाती है। म्लान और शिथिल पलकों तथा बरौनियों वाली, मन्द-मन्द चलने वाली और क्रम से प्रविष्ट तारों वाली दृष्टि ग्लाना (शिथिल) कहलाती है। जब दृष्टि कभी चंचल, कभी स्थिर, कभी ऊपर उठती, कभी तिरछी होती, कभी मूढ़ताभरी और कभी चकित हो, वह शंकिता दृष्टि कहलाती है। विषाद के कारण जिसके पुट फैल गये हों, कोने पर्यस्त हों पलक गिरे हुए हों, तारे भी निस्तब्ध हों उसे विषण्ण (विषादिनी) दृष्टि कहते हैं। जिसमें दोनों बरौनियाँ फड़कती हुई कुछ-कुछ मिल रही हों और ऊपर के पलक कुछ खुले हुए हों, तारे भी सुख के कारण उन्मीलित हों, उसे मुकुला दृष्टि कहते हैं। जब बरौनियों का अग्र भाग सिकुड़ा हुआ हो, पलक भी सिकुड़े हुए हों और तारे भी स्थिर और संकुचित हों उसे कुंचिता दृष्टि कहते हैं। जब तारों की गति मन्द हो और पलक चल रहे हों वह संताप से उपप्लुत तथा व्यथा-सहित दृष्टि अभितप्ता कहलाती है। लटके और सिकुड़े हुए पलकों वाली, धीरे-धीरे तिरछे देखने वाली, कोरों पर सिकुड़ी निगूढ़ दृष्टि को जिह्मा (कुटिला) दृष्टि कहते हैं। मधुर, कोरों पर सिकुड़ी हुई, चलती हुई भौहों वाली और मुस्कराहट के साथ काम-विकार प्रकट करने वाली दृष्टि सललिता (रसीली) कहलाती है। मन की उथल-पुथल के साथ उठे हुए पलकों तथा खिले हुए तारों वाली और नीचे मुख के साथ मानसिक द्वन्द्व प्रकट करने वाली दृष्टि वितर्किता (संशयपूर्ण) कहलाती है। आधी फैली हुई बरौनियों वाली, आनन्द के कारण आधे खुले हुए पलकों वाली तथा कुछ चंचल तारों वाली मुसकानभरी दृष्टि को अर्ध-मुकुला (अधखुली) कहते हैं। अस्थिर तारों वाली, भय से व्याकुल दिखाई देनेवाली, फैले और खुले हुए नेत्र वाली दृष्टि को विभ्रान्ता (भय-चकित) कहते हैं। जब आँख के दोनों पलक फड़कते हों, निस्तब्ध हों, बराबर गिरे जाते हों और आँखों के तारे घबराहट से उठे हुए हों वह विप्लुता दृष्टि कहलाती है। जब पलकों की कोर सिकुड़ी हुई और आधी खुली हुई हो और बार बार तारे घूमते हों उसे आकेकरा (बार-बार आँखों के गोले घूमनेवाली) दृष्टि कहते हैं। जब दोनों पुट (पलक) खुले हों, आँखें खिली हुई हों, पलक गिरे हुए

हों, तारे भी अनवस्थित हों वह विकोशा दृष्टि कहलाती है। जब दोनों पलकें भय से खुली हुई हों, तारे भी उत्कम्पित हों, वह भय से कंपित दृष्टि त्रस्ता (डरी हुई) कहलाती है। जब आँखें घूम रही हों, थकी हों, आँख की कोर क्षाम (पतली) हो और चढ़ते हुए मद (नशे) के कारण नेत्रों की कोर फैल गयी हो उसे मदिरा (मदभरी) दृष्टि कहते हैं। जब आँख के पलक कुछ सिकुड़ गये हों, तारे चंचल हों और नेत्र का संचालन अनवस्थित हो वह मध्य मद में मदिरा कहलाती है। कभी पलक गिरते हों, कभी न गिरते हों, तारे भी कुछ दिखाई पड़ते हों और दृष्टि नीचे को चलती हो वह अधिक मद में मदिरा दृष्टि कहलाती है। इन छत्तीस दृष्टियों का प्रयोग यथास्थान करना चाहिए।

इनमें से चिन्ता में शून्या और अभितप्ता; निर्वेद और वैवर्ण्य में मलिना; श्रमार्त होने और निर्वेद में श्रान्ता; लज्जा में सललिता; अपस्मार, व्याधि और ग्लानि में ग्लाना; शंका में शंकिता; विषाद में विषण्णा या विषादिनी; निद्रा, स्वप्न और सुख की स्थितियों में मुकुला; ईर्ष्या, अनिष्ट, दुष्प्रेक्ष्य और आँख की व्याधि में कुंचिता; निर्वेद, अभिघात और अभिताप में अभितप्ता; असूया, जड़ता और आलस्य में जिह्मा; धृति और हर्ष में सललिता; स्मृति और तर्क में वितर्किता; आह्लाद तथा गंधस्पर्श के सुख आदि में मुकुला; आवेग और संभ्रम में विभ्रान्ता; उन्माद, दुःख और मरण आदि में विप्लुता; चपलता, दुरालोक्य और विच्छेद के दृश्यों में आकेकरा; विबोध, गर्व, अमर्ष, उग्रता और मति में विकोशा या विकोशिता; त्रास में त्रस्ता और मद में मदिरा दृष्टि का प्रयोग करना चाहिए।

दर्शन

दर्शन के भी आठ प्रकार हैं—सम, साची, अनुवृत्त, आलोकित, विलोकित, प्रलोकित, उल्लोकित और अवलोकित। सौम्य रूप से सीधे देखना सम कहलाता है। पलकों के भीतर तारे डालकर देखना साची कहलाता है। आकार या रूप की पहचान करते समय की दृष्टि को अनुवृत्त कहते हैं। सहसा दर्शन के समय की दृष्टि को आलोकित, पीछे देखने को विलोकित, दोनों ओर इधर-उधर देखने को प्रलोकित, ऊपर देखने को उल्लोकित और नीचे देखने को अवलोकित कहते हैं। दर्शन की ये विधियाँ सब भावों और रसों के अनुसार प्रयोग में आती हैं।

नन्दिकेश्वर ने दर्शन को दृष्टि ही कहा है और उसके आठ भेद बताये हैं—सम, आलोकित, साची, प्रालोकित, निमीलित, उल्लोकित, अनुवृत्त और अवलोकित। इनमें से विलोकित को छोड़कर शेष सब वे ही हैं जो नाट्यशास्त्र में हैं। नन्दिकेश्वर ने विलोकित के बदले निमीलित नामक एक दृष्टि-भेद माना है। इनका विनियोग (प्रयोग)

बताते हुए नन्दिकेश्वर ने कहा है कि सम (सीधी, देवताओं के समान पलक बिना चलाये) दृष्टि का प्रयोग नाट्य के प्रारम्भ का संकेत देने, तुलना, दूसरे के मन की बात समझने के प्रयास, आश्चर्य और देवमूर्ति का अभिनय करने में होता है। आलोकित (आँखें खोलकर वेग से घुमाकर ध्यान से देखने वाली) दृष्टि का प्रयोग कुम्हार के चाक की गति, सब प्रकार की वस्तुएँ दिखाने और भिक्षा माँगने में होता है। साची (तिरछी चितवन वाली) दृष्टि का प्रयोग संकेत करने, मूँछें टेने, बाण का लक्ष्य साधने, शुक का निर्देश करने, स्मरण करने और कार्यारंभ करने में होता है। प्रालोकित (एक ओर से दूसरी ओर देखने वाली) दृष्टि का प्रयोग दोनों ओर रखी हुई वस्तुओं का निर्देश करने, अत्यन्त प्यार-दुलार दिखाने, चलने या हिलने-डोलने और मूढ़ता प्रदर्शित करने में होता है। निमीलित (अधमुँदी) दृष्टि का प्रयोग सर्प का निर्देश करने, दूसरे के वश में होने, मन्त्र पढ़ने, ध्यान लगाने, प्रणाम करने, पागलपन और सूक्ष्म दृष्टि के लिए होता है। उल्लोकित (ऊपर देखनेवाली) दृष्टि का प्रयोग झंडे के सिरे, गोपुर, देवमंडल, पूर्वजन्म, ऊँचाई और चाँदनी का निर्देश करने के लिए होता है। अनुवृत्त (वेग से नीचे ऊपर देखने की) दृष्टि का प्रयोग क्रोधभरी दृष्टि और प्रिय के आमन्त्रण में होता है। अवलोकित (नीचे देखने की) दृष्टि का प्रयोग छाया की ओर देखने, चिन्तन, चलने-फिरने, पढ़ने, थकावट और अपने अंग देखने की क्रिया के लिए होता है।

आँख के तारे

आँख के तारों, पलकों और भौंहों के भी अभिनय अलग-अलग होते हैं। आँख के तारों से नौ प्रकार के अभिनय किये जाते हैं। भ्रमण, वलन, पात, चलन, संप्रवेशन, विवर्तन, समुद्वृत्त, निष्क्राम और प्राकृत। पलकों के भीतर तारों को घुमाने की वृत्ति को भ्रमण कहते हैं। तारों को तीन कोनों में चलाने को वलन कहते हैं। नीचे गिराने या झुकाने को पात कहते हैं। तारों को अशान्त ढंग से कँपाने को चलन कहते हैं। तारों को भीतर डाल लेने को संप्रवेशन कहते हैं। तिरछी आँख या कटाक्ष से देखने को विवर्तन कहते हैं। तारों को ऊपर उठाने को समुद्वृत्त कहते हैं। तारों को बाहर निकाल कर आँख गड़ाकर या घूरकर ध्यान से देखने को निष्क्राम कहते हैं। स्वाभाविक रूप से तारों के प्रयोग को प्राकृत कहते हैं। इनमें भ्रमण, वलन, समुद्वृत्त और निष्क्राम का प्रयोग वीर और रौद्र रस में; निष्क्राम और चलन का प्रयोग भयानक में; संप्रवेशन का प्रयोग हास्य और बीभत्स में; पात का प्रयोग करुण रस में; निष्क्राम का प्रयोग अद्भुत में और विवर्तन का प्रयोग शृंगार में किया जाता है। इन सबका प्रयोग लोक की क्रिया पर आश्रित स्वभावसिद्ध ही है।

पलकों का अभिनय

तारागत दर्शन-विधि के साथ-साथ चलनेवाले पुट (पलकों) के कर्म भी नौ प्रकार के होते हैं—उन्मेष, निमेष, प्रसृत, कुंचित, सम, विवर्तित, स्फुरित, पिहित और विताडित। पलक खोलने या अलग करने को उन्मेष, पलक बन्द करने या गिराने को निमेष, फैलाने को प्रसृत, सिकोड़ने या थोड़ा झुकाने को संकुचित, स्वाभाविक को सम, पलक ऊपर उठाने को विवर्तित, पलक वेग से चलाने को स्फुरित, कसकर बन्द करने को पिहित और चोट लगे हुए को विताडित कहते हैं। इनका प्रयोग भी विभिन्न रसों और भावों में होता है। निमेष और उन्मेष के साथ विवर्तित का प्रयोग क्रोध में, प्रसृत का प्रयोग विस्मय, हर्ष और वीर में, कुंचित का प्रयोग अनिष्ट-दर्शन, गन्ध, रस और स्पर्श में, सम का प्रयोग शृंगार में, स्फुरित का प्रयोग ईर्ष्या में, पिहित का प्रयोग निद्रा, मूर्च्छा, आँधी, गर्मी, धुआँ, वर्षा, आँजन की पीड़ा और नेत्र-रोग में तथा विताड़ित का प्रयोग चोट लगने में होता है। तारे और पुट की इन विधियों का प्रयोग उचित अवसर पर रस और भावों में किया जाता है।

भौंह का अभिनय

तारे और पलकों के अनुसार चलनेवाली भौंहों का भी अभिनय सात प्रकार का होता है—उत्क्षेप, पातन, भृकुटी, चतुर, कुंचित, रेचित और सहज। भौंहें धीरे-धीरे उठाने को उत्क्षेप, नीचे गिराने को पातन, भौंहें तानकर ऊपर उठाने को भृकुटी, भौंहें मधुरता के साथ फैलाने को चतुर, एक या दोनों भौहों को झुकाने या सिकोड़ने को कुंचित, एक ही भौंह को सुन्दरता के साथ ऊपर उठाने को रेचित और भौंह की स्वाभाविक अवस्था को सहज कहते हैं। क्रोध, वितर्क, हेला, स्वाभाविक लीला, दर्शन और श्रवण में एक भौंह को ऊपर उठाना (उत्क्षेप) चाहिए। विस्मय, हर्ष और रोष में दोनों भौंहों को ऊपर उठाना (उत्क्षेप) चाहिए। असूया, जुगुप्सा, हास और घ्राण में पातन का प्रयोग करना चाहिए। दीप्त क्रोध के समय भृकुटी की उचित योजना करनी चाहिए। शृंगार, सौम्य, सुख-स्पर्श, प्रबोधन तथा इसी प्रकार के भावों में चतुर का प्रयोग करना चाहिए। स्त्री-पुरुष की बातचीत के बीच-बीच में अनेक प्रकार की अवस्थाओं से युक्त चतुर का प्रयोग करना चाहिए। मोट्टायित, कुट्टमित और किलकिंचित हावों में निकुंचित का, नृत्त में रचित का तथा अनाविद्ध भावों में सहज (स्वाभाविक) का प्रयोग करना चाहिए।

नाक का अभिनय

नाक का अभिनय छः प्रकार का माना गया है—नता, मन्दा, विकृष्टा, सोच्छ्वासा

विकूणिता और स्वाभाविका। बार-बार नथने मिलाने को नता, छिपाने को मन्दा, नथने फुलाने को विकृष्टा, साँस ऊपर खींचने को सोच्छ्वासा, नथने सिकोड़ने को विकूणिता और स्वाभाविक को स्वाभाविका कहते हैं। मद से उत्कम्प होने पर, स्त्रियों को मनाने में और निःश्वास लेने में नता का; निर्वेद, उत्सुकता, चिन्ता और शोक में मन्दा का; तीव्रगन्ध, रौद्र और वीर में विकृष्टा का; अपने प्रिय का माथा सूंघते समय तथा लंबी साँस में सोच्छ्वासा का; जुगुप्सा और असूया आदि में विकूणिता का और शेष भावों में स्वाभाविका का प्रयोग करना चाहिए।

कपोल का अभिनय

कपोल का अभिनय छः प्रकार का बताया गया है—क्षाम, (मुरझाया हुआ या पिचका हुआ), फुल्ल (फूला हुआ या खिला हुआ), घूर्ण (फैला हुआ), कम्पित (हिलता हुआ), कुंचित (सिकुड़ा हुआ) और सम (स्वाभाविक)। दुःख के अवसर पर क्षाम; प्रसन्नता में फुल्ल; उत्साह और गर्व में घूर्ण; रोष और हर्ष में कम्पित; स्पर्श, शीत, भय और ज्वर में रोमांचयुक्त कुंचित और शेष भावों में प्राकृत कपोल का प्रयोग करना चाहिए।

अधर के अभिनय

अधर (नीचे के ओठ) का अभिनय छः प्रकार का होता है—विवर्तन, कम्पन, विसर्ग, विनिगूहन, संदष्टक और समुद्ग। (घृणा से) ओठ सिकोड़ने को विवर्तन; कंपाने को कम्पन; आगे निकालने को विसर्ग; भीतर छिपा लेने को विनिगूहन; दाँतों से चबाने को संदष्टक और ओठ की स्वाभाविक दशा को समुद्ग कहते हैं। असूया, वेदना, अवज्ञा और हास्य आदि में विवर्तन का; वेदना, शीत, भय, रोष और गति आदि में कम्पन का, स्त्रियों के विलास, बिब्बोक और रंजन में विसर्ग का; आयास (परिश्रम) में विनिगूहन का; क्रोध में संदष्टक का और कृपा, स्नेह, चुम्बन तथा अभिनन्दन में समुद्ग का प्रयोग करना चाहिए।

चिबुक (ठोड़ी) का अभिनय

ठोड़ी का अभिनय सात प्रकार का बताया गया है—कुट्टन, खण्डन, छिन्न, चुक्कित, लेहित, सम तथा संदष्ट। ठोड़ी के ये अभिनय दाँत की क्रिया के साथ चलते हैं। दाँत पीसने को कुट्टन; नीचे के दाँत को ऊपर के दाँत से लड़ाने अर्थात् दाँत किटकिटाने को खण्डन; अत्यन्त बलपूर्वक दाँत दबाने को छिन्न; मुँह खोलने को चुक्कित; जीभ से ओठ चाटने को लेहन; कुछ-कुछ मिले हुए स्वाभाविक को सम और दांतों से

अधर चबाने को संदष्ट कहते हैं। भय, शीत, ज्वर और क्रोध में कुट्टन का; जप, अध्ययन, संलाप और भोजन में खण्डन का; व्याधि, भय, शीत, व्यायाम, रुदित और मृत अवस्था में छिन्न का; जम्हाने में चुक्कित का; जिह्वा की चंचलता में लेहन का; स्वाभाविक भावों में सम का और क्रोध में संदष्ट का प्रयोग होता है।

मुख के अभिनय

मुख का अभिनय छः प्रकार का होता है—विनिवृत्त, विधुत, निर्भुग्न, व्याभुग्न, विवृत और उद्वाही। पूरे खुले हुए मुख को विनिवृत्त; तिरछे फैलाये हुए को विधुत; नीचे झुके हुए या लटके हुए मुख को निर्भुग्न; दोनों ओर फैले हुए मुख को व्याभुग्न; अलग-अलग ओठ करके खोले हुए मुँह को विवृत; और ऊपर को खुले हुए मुख को उद्वाही कहते हैं। असूया, ईर्ष्या, कोप, स्त्रियों की अवज्ञा और विहृत आदि में विनिवृत्त का; किसी को रोकने या मना करने में विधुत का; गम्भीर आलोकन आदि में निर्भुग्न का; लज्जा, यतियों के स्वभाव, निर्वेद, उत्सुकता, चिन्ता, विनय और मंत्रणा में व्याभुग्न का; हास्य, शोक और भय आदि में विवृत्त का, तथा स्त्रियों की लीला, गर्व, कोप और अनादर की स्थिति में उद्वाही का प्रयोग करना चाहिए। इसके अतिरिक्त दृष्टि के प्रकरण में जो सम, साचीकृत आदि का विवरण दिया गया है उसी के अनुसार मुख का अभिनय भी करना चाहिए।

मुखराग (मुख का भाव)

मुखराग चार प्रकार का बताया गया है—स्वाभाविक, प्रसन्न, रक्त और श्याम। यह सब अर्थ या भाव के अनुसार होता है। स्वाभाविक अभिनय में स्वाभाविक का प्रयोग करना चाहिए; मध्यस्थ आदि भावों अर्थात् हास्य और शृंगार में प्रसन्न मुखराग का; वीर, रौद्र, मदयुक्त तथा करुण में रक्त का और भयानक तथा बीभत्स में श्याम का प्रयोग करना चाहिए। इसी प्रकार भाव और रस के अर्थ के अनुसार मुखराग का प्रयोग करना चाहिए।

भरत ने बताया है कि शाखा, अंग और उपांग के सहित चाहे जितना अच्छा अभिनय किया जाय किन्तु यदि वह मुखराग-विहीन हो तो शोभा नहीं देता, और यदि मुखराग से समन्वित थोड़ा भी शारीरिक अभिनय हो तो वह उसी प्रकार दुगुनी शोभा देता है जैसे रात्रि में चन्द्रमा। नेत्र का अभिनय भी अनेक भाव और रसों में मुख-राग से युक्त होकर जब प्रकट होता है तभी वह ठीक होता है। नेत्र, मुख, भौंह और दृष्टि

से संयुक्त होकर जैसे नेत्रों का प्रसार हो उसी प्रकार भाव और रस से युक्त मुखराग का भी प्रयोग करना चाहिए।

ग्रीवा का अभिनय

ग्रीवा का अभिनय नौ प्रकार का बताया गया है—सम, नता, उन्नता, त्र्यस्रा, रेचिता, कुंचिता, अंचिता, वलिता और विवृत्ता। ध्यान और स्वाभाविक यज्ञ-कर्म आदि में स्वाभाविक रूप से बनी हुई ग्रीवा को समा कहते हैं। नीचे मुख करने, सजा-वट करने, बँधने और सिर लटकाने पर नता; ऊपर देखने आदि कार्यों के लिए ग्रीवा ऊपर उठाने में उन्नता; इधर-उधर सिर घुमाने, कन्धे के भार और दुःख में इधर-उधर घुमायी हुई ग्रीवा त्र्यस्रा; मंथन और नृत्य में ग्रीवा झटकाना या घुमाना ही रेचिता; गले की रक्षा करने और भारी बोझ ढोने के समय ग्रीवा सिकोड़ लेने को कुंचिता; बाल ऊपर बाँधने, बाल खोलने और ऊपर देखने के समय उठी हुई ग्रीवा को अंचिता; एक ओर को झुकी हुई ग्रीवा को घुमाने और देखने के समय वलिता और अपने सामने देखने में विवृत्ता ग्रीवा होती है। इस प्रकार लोक के भावों के अनुसार ग्रीवा के अनेक भेद होते हैं।

नन्दिकेश्वर ने अभिनय की दृष्टि से ग्रीवा चार प्रकार की बतायी है—सुन्दरी, तिरश्चीना, परिवर्तिता और प्रकम्पिता। जब ग्रीवा इधर-उधर दायें-बायें चलायी जाय उसे सुन्दरी कहते हैं। इसका प्रयोग स्नेह के आरम्भ, प्रयास, पूर्णता के भाव, चौड़ाई और हर्ष-पूर्ण समर्थन के लिए होता है। सर्प की गति के समान दोनों ओर ऊपर ग्रीवा उठाने को तिरश्चीना कहते हैं। इसका प्रयोग तलवार चलाने के अभ्यास और सर्प की गति के लिए होता है। अर्धचन्द्र के समान दायें से बायें ग्रीवा चलाने को परावर्तिता कहते हैं। इसका प्रयोग लास्य, नृत्य और प्रिय के दोनों कपोलों के चुम्बन करने में होता है। ग्रीवा को कबूतरी की ग्रीवा के समान चलाने को प्रकंपिता कहते हैं। इसका प्रयोग 'तुम और मैं' कहने, लोक-नृत्य, झुला झुलाकर बड़बड़ाने और रति के समय नारी को गले से लगाते समय उसके मुख से निकली हुई ध्वनि के लिए होता है।

इसके पश्चात् भरत ने अंगाभिनय का वर्णन किया है जिसमें हाथ, उर, पार्श्व, जठर, कटि, जंघा, ऊरु और पैर के अभिनय सम्मिलित हैं। किन्तु हाथ की मुद्राओं का प्रयोग केवल नृत्य में ही नहीं वरन् पूजा-पाठ और जप के पूर्व भी किया जाता था।

जप के पूर्व २४ मुद्राएँ करने की विधि

सम्मिलित उँगलियों से युक्त दोनों हाथों को अपने सामने करने से सुमुख मुद्रा

बनती है। बिना खिली हुई कलिका के समान कमल-कोष के सदृश दोनों हाथों को उँगलियों-समेत मिला लेने की मुद्रा को संपुट कहते हैं। दोनों हाथों को अलग-अलग फैलाये हुए रखने की मुद्रा को वितत कहते हैं। परस्पर सम्मिलित उँगलियों से युक्त पूर्ण रूप से फैले हुए हाथों से युक्त मुद्रा का नाम विस्तीर्ण मुद्रा है। कनिष्ठा एवं अनामिका नामक दोनों उँगलियों के स्पर्श से युक्त हाथों की मुद्रा का नाम द्विमुख है। इसी क्रिया में यदि मध्यमा उँगली का स्पर्श करा दिया जाय तो उसे त्रिमुख मुद्रा कहते हैं। इस क्रिया के साथ यदि तर्जनी उँगली का स्पर्श और करा दिया जाय तो चतुर्मुख मुद्रा बनती है। इस क्रिया में यदि अंगुष्ठ का स्पर्श और करा दिया जाय तो इस मुद्रा को पंचमुख कहते हैं। कनिष्ठा उँगली को छोड़कर शेष चारों उँगलियों को आमने-सामने करके परस्पर स्पर्श करा देने वाली मुद्रा को षण्मुख कहते हैं। चारों उँगलियों को क्रियाविमुख करके दोनों हाथों के उलटी ओर से स्पर्श करने की मुद्रा को दशम मुद्रा कहते हैं। पूर्ण रूप से फैली हुई उँगलियों से युक्त अधोमुख हाथों की क्रिया को व्यापकांजलि मुद्रा कहते हैं। दोनों अँगूठों से संयुक्त निम्नाभिमुख मुट्ठियों से युक्त मुद्रा को शकट कहते हैं। मुट्ठी बाँधकर दोनों हाथों की तर्जनी उँगली को फैलाकर परस्पर एक दूसरी से स्पर्श करने की मुद्रा का नाम यमपाश है। दोनों हाथों की उँगलियों को एक दूसरे हाथ की उँगलियों के बन्धन से युक्त कर देने की मुद्रा को ग्रन्थित कहते हैं। दोनों हाथों को संपुटाकार और बायें हाथ को अधोमुख एवं दायें को ऊर्ध्वमुख करके दोनों के स्पर्श से युक्त मुद्रा को सम्मुखोन्मुख कहते हैं। कोष के आकार में हाथों को नीचे लटकाने की मुद्रा को प्रलम्ब मुद्रा कहते हैं। अंगुष्ठयुक्त दोनों हाथों की मुट्ठियों से युक्त क्रिया को सम्यङ्-मुष्टिक मुद्रा कहते हैं। दाहिने हाथ के पृष्ठ पर बायें हाथ की हथेली रखने को मत्स्यरूपिणी मुद्रा कहा गया है। बायें हाथ की तर्जनी पर दाहिने हाथ की कनिष्ठा उँगली तथा दाहिने हाथ की तर्जनी पर बायें हाथ का अँगूठा रखकर उन्नत किये हुए दाहिने हाथ के अँगूठे को दाहिने हाथ के पीछे की मध्यमा आदि उँगलियों से मिला देने पर बायें हाथ की मध्यमा और अनामिका उँगलियों को दाहिने हाथ के नीचे निम्नाभिमुख रखकर कछुए की पीठ के सदृश बना लेने की क्रिया को कूर्म मुद्रा कहते हैं। दाहिने हाथ की तर्जनी को बायें हाथ के अँगूठे पर रख-कर हाथ से हाथ बाँध लेने की क्रिया को वराह मुद्रा कहा है। प्रसारित उँगलियों से युक्त हाथों को कान के समीप ले जाकर हथेली को सामने रखने की क्रिया को सिंहा-क्रान्त मुद्रा कहते हैं। हाथों की पाँचों उँगलियों के बीच में दोनों कान रखने की क्रिया को महाक्रान्त मुद्रा कहते हैं। दाहिने हाथ की मुट्ठी बाँधकर उसकी कोहनी बायें हाथ की हथेली पर रखने को मुद्गर मुद्रा कहते हैं। पृथक्-पृथक् उँगलियों से युक्त

दाहिने हाथ से बायें पृष्ठ की ओर मुख के सामने रखने की क्रिया को पल्लव मुद्रा कहते हैं।

केवल जप से पहले ही नहीं जप के पश्चात् भी आठ मुद्राएँ की जाती हैं। वे हैं—धेनु, ज्ञान मुद्रा, वैराग्य, योनि, शंख, पद्म, लिङ्ग और निर्वाण। आगे अंगाभिनय में नृत्य की मुद्राओं का विवरण दिया जा रहा है।

अध्याय ११

अभिनय-कला का विकास और उसके सिद्धान्त

जब किसी प्रसिद्ध या कल्पित कथा के आधार पर कोई नाट्यकार किसी रूपक की रचना कर देता है और उसमें निर्दिष्ट संवाद तथा क्रिया के अनुसार जब किसी नाट्य-प्रयोक्ता द्वारा सिखाये जाने पर या स्वयं नट अपनी वाणी, शारीरिक चेष्टा, भावभंगी, मुखमुद्रा तथा वेश-भूषा के द्वारा नाटक में आये हुए संवाद और रंग-निर्देश के भावों का दर्शकों को परिज्ञान और उनकी अनुभूति कराते हैं तब अभिनेताओं के उस सम्पूर्ण समन्वित व्यापार को अभिनय कहते हैं।

अभिनय करने की प्रवृत्ति बचपन से ही मनुष्य में तथा अन्य अनेक जीवों में होती है। आँख, मुँह, सिर, हाथ, पैर चलाकर अपने भाव प्रकट करने की प्रवृत्ति सभ्य और असभ्य जातियों में समान रूप से पायी जाती है। उनके इन अनुकरण-कृत्यों का एक उद्देश्य तो यह रहता है कि इस अनुकरण से उन्हें वास्तविक अनुभव जैसा आनन्द मिले और दूसरा यह कि इससे उन्हें दूसरों को अपना मनोभाव बताने में सहायता मिले। इसी दूसरे उद्देश्य से शारीरिक या आंगिक चेष्टाओं और मुखमुद्राओं का विकास हुआ, जो जंगली जातियों में बोली हुई भाषा के बदले या उसकी सहायक होकर प्रयोग में आती हैं।

अभिनय शब्द की निरुक्ति करते हुए कहा गया है कि 'णीञ्' धातु में 'अभि' उपसर्ग लगाकर 'अभिनय' शब्द बना है जिसका अर्थ है पद या शब्द के भाव को मुख्य अर्थ तक पहुँचाना अर्थात् दर्शकों के हृदय में अनेक अर्थ या भाव भरना। साधारण अर्थ में किसी व्यक्ति या अवस्था का अनुकरण ही अभिनय कहलाता है। इस दृष्टि से किसी की वाणी या क्रिया का अनुकरण करना, उसके अनुसार रूप, आकृति या वेश बनाना सब कुछ अभिनय कहलाता है।

भरत ने चार प्रकार का अभिनय माना है—आंगिक, वाचिक, आहार्य और सात्त्विक। आंगिक अभिनय का अर्थ है शरीर, मुख और चेष्टाओं से कोई भाव या अर्थ प्रकट करना; सिर, हाथ, कटि, वक्ष, पार्श्व और चरण के द्वारा किया जाने वाला अभिनय शारीर या अंगाभिनय कहलाता है। आँख, भौंहें, नाक, अधर, कपोल,

ठोड़ी के द्वारा किया हुआ अभिनय मुखज या उपांगाभिनय कहलाता है। जिसमें पूरे शरीर की विशेष चेष्टा के द्वारा अभिनय किया जाता है, जैसे लँगड़े, काने, कुबड़े, बुड्ढे की चेष्टाएँ दिखाना, उसे चेष्टाकृत अभिनय कहते हैं। ये सभी प्रकार के अभिनय विशेष रस, भाव तथा संचारी भाव के अनुसार किये जाते हैं।

भरत ने शारीर आंगिक अभिनय में सिर के तेरह, दृष्टि के छत्तीस, आँख के तारों के नौ, पुट के नौ, भौंहों के सात, नाक के छः, कपोल के छः, अधर के छः और ठोड़ी के आठ अभिनय बताये हैं। व्यापक रूप से मुखज चेष्टाओं में छः प्रकार के अभिनय होते हैं। ग्रीवा के अभिनय भी विभिन्न भावों के अनुसार नौ प्रकार के होते हैं। मुखराग भी चार प्रकार का बताया गया है—स्वाभाविक, प्रसन्न, रक्त और श्याम।

आंगिक अभिनय में तेरह प्रकार का दोनों हाथों का अभिनय, चौबीस प्रकार का एक हाथ का अभिनय, चौंसठ प्रकार का नृत्त हस्त का अभिनय और चार प्रकार का हाथ के करण का अभिनय बताया गया है। इसके अतिरिक्त वक्ष के पाँच, पार्श्व के पाँच, उदर के तीन, कटि के पाँच, ऊरु के पाँच, जंघा के पाँच और पैर के पाँच प्रकार के अभिनय बताये गये हैं। इसके अतिरिक्त भरत ने सोलह भूमिचारियों और सोलह आकाशचारियों का वर्णन किया है। इसके पश्चात् दस आकाशमण्डल और दस भौममण्डल के अभिनयों का परिचय देकर गति के अभिनय का विस्तार से वर्णन किया है कि कौन सी भूमिका ग्रहण करने वाले व्यक्ति को किस प्रकार से मंच पर चलना चाहिए।

किस रस में अभिनेता की कैसी गति होनी चाहिए, किस जाति, आश्रम, वर्ण और व्यवसाय वाले को कैसे रंगमंच पर चलना चाहिए तथा रथ या विमान पर आरोहण या उनसे अवरोहण तथा आकाश-गमन आदि का अभिनय किस गति से करना चाहिए और आसन या बैठने की क्या रीति है यह भी भरत ने विस्तार से समझाया है। जैसे यूरोप में लयवादियों (क्यूबिस्ट्स) ने अभिनय-कौशल के लिए विशेष व्यायाम का विधान किया है वैसे ही भरत ने भी अभिनय के लिए व्यायाम, नृत्य और आहार के नियम बताये हैं। इस प्रकार भरत ने अपने नाट्यशास्त्र में अभिनय का इतना सूक्ष्म विवेचन किया है कि संसार के किसी देश में अभिनय-कला का उतना सांगोपांग निरूपण नहीं हुआ है।

वाचिक अभिनय

रंगमंच पर अभिनेता जो कुछ मुख से कहता है वह सबका सब वाचिक अभिनय

कहलाता है। साहित्य में तो हम लोग व्याकृता वाणी को ही ग्रहण करते हैं किन्तु नाटक में अव्याकृता वाणी, जैसे चिड़ियों की बोली बोलना, मुँह से सीटी की ध्वनि निकालना या ढोरों को हाँकते हुए चटकारी देना आदि का भी प्रयोग किया जा सकता है। इस प्रकार की ध्वनियाँ मुख से निकालना भी वाचिक अभिनय के अन्तर्गत आता है। भरत ने वाचिक अभिनय के लिए तिरसठ लक्षणों और उनके गुण-दोषों का भी विस्तार से विवेचन किया है। वाचिक अभिनय का सबसे बड़ा गुण यह है कि वाणी के आरोह-अवरोह के द्वारा कहा हुआ वाक्य अपने भाव और प्रभाव को बनाये रखे। संस्कृत के शिक्षा-ग्रंथों में वाचन का विधान करते हुए बताया गया है कि जिस प्रकार बाघिन अपने बच्चों को मुँह में लेकर चलती है, न तो बच्चों को दाँत ही चुभते हैं और न वे मुँह से ही गिरते हैं उसी प्रकार वाक्य के शब्दों का भी उच्चारण करना चाहिए अर्थात् न तो अक्षर ऐसे चबा-चबाकर ही बोले जायँ कि मुँह में ही रह जायँ, किसी की समझ में न आयें और न ऐसे रोक-रोककर मुँह फैला-फैलाकर बोले जायँ कि वे एक दूसरे से अलग टूटे हुए से सुनाई दें। हम लोग अपने साधारण व्यवहार में यदि ध्यान दें तो प्रतीत होगा कि 'हाँ' और 'अच्छा' जैसे छोटे-छोटे शब्द भी प्रसंग, परिस्थिति और भाव के अनुसार विभिन्न स्वर-योजना के साथ बोले जाते हैं। अतः प्रत्येक अभिनेता को अत्यन्त सावधानी के साथ अपने सम्पर्क में आने वाले व्यक्तियों की स्वर-भंगिमा का ध्यानपूर्वक अध्ययन करना चाहिए। वाचिक अभिनय की यही विशेषता होनी चाहिए कि यदि कोई व्यक्ति जवनिका के पीछे से भी बोलता हो तो केवल उसकी वाणी सुनकर ही उसकी मुखमुद्रा, भाव-भंगिमा और आकांक्षा का ज्ञान हो जाय।

सात्त्विक अभिनय

सात्त्विक अभिनय उन भावों का वास्तविक और हार्दिक अभिनय कहलाता है जिन्हें रससिद्धान्त वाले सात्त्विक भाव कहते हैं। इसके अन्तर्गत स्वेद, स्तम्भ, कम्प, अश्रु, वैवर्ण्य, रोमांच, स्वर-भंग, जृम्भा और प्रलय की गणना होती है। इनमें से स्वेद और रोमांच को छोड़कर शेष सबका सात्त्विक अभिनय तो सरलता से किया जा सकता है किन्तु अश्रु के लिए विशेष साधना आवश्यक है, क्योंकि भावमग्न अथवा अधिक भावुक होने पर ही उसकी सिद्धि हो सकती है।

आहार्य अभिनय

आहार्य अभिनय वास्तव में अभिनय का अंग न होकर नेपथ्य-कर्म का अंग है

और उसका सम्बन्ध अभिनेता से उतना नहीं है जितना नेपथ्य-सज्जा करने वाले से। किन्तु आज के सभी प्रमुख अभिनेता और नाट्य-प्रयोक्ता यह मानने लगे हैं कि प्रत्येक अभिनेता को अपनी मुख-सज्जा और रूप-सज्जा स्वयं करनी चाहिए। इसलिए आज संसार में जितने बड़े प्रसिद्ध अभिनेता हैं वे अपनी रूप-सज्जा की सब सामग्री सदा अपने साथ रखते हैं और स्वयं अपनी मुख-सज्जा करते हैं। यही कारण है कि जिस नाटक में सौ सवा सौ अभिनेता भी रहते हैं वहाँ भी सब अभिनेता घण्टे भर में अभिनय के लिए प्रस्तुत हो जाते हैं।

मुख-सज्जा स्वयं एक कला है जो प्रत्येक अभिनेता को आनी ही चाहिए क्योंकि मुख-मुद्राओं का उचित संचालन और संयोजन तभी सम्भव है जब उन मुख-मुद्राओं के अनुरूप मुख-सज्जा की जाय। सम्भवतः इसी लिए भरत ने भी अपने नाट्यशास्त्र में मुख-सज्जा को नेपथ्य-कर्म का अंग बताकर भी उसे अभिनय का ही एक रूप माना है और बत्तीसवें अध्याय में उसका विस्तृत विधान किया है।

भरत के नाट्यशास्त्र में सबसे विचित्र प्रकरण है चित्राभिनय, जिसमें उन्होंने ऋतु, भाव, अनेक प्रकार के जीव, देवता, पर्वत, नदी, सागर आदि स्थानों, अनेक अवस्थाओं तथा प्रातः, सा ं, चन्द्र, ज्योत्स्ना आदि के अभिनय की रीति का विवरण दिया है। यह सबका सब अभिनय-विधान प्रतीकात्मक (सिम्बौलिक) ही है किन्तु ये प्रतीक उस प्रकार के नहीं हैं जिस प्रकार के यूरोपीय प्रतीकाभिनयवादियों (सिम्बौलिस्ट्स) ने बनाये हैं।

यूनान—यूनान में देवताओं की पूजा के साथ जो नृत्य प्रारंभ हुआ वही यूनानी अभिनय का प्रथम रूप था जिसमें नृत्य के द्वारा कथा के भाव की अभिव्यक्ति की जाती थी। यूनान में प्रारम्भिक काल में धार्मिक वेदी के चारों ओर जो नाटकीय नृत्य होते थे उनमें सभी लोग समान रूप से सम्मिलित होते थे, किन्तु आगे चलकर समवेत गायनों (कोरस) में से कुछ ऐसे समर्थ अभिनेता ही मुख्य भूमिकाओं के लिए चुन लिये जाते थे जिनमें से कुछ तो एक का ही नहीं, कई-कई भूमिकाओं का अभिनय करते थे क्योंकि मुखौटा पहनकर अभिनय करने की रीति के कारण यह संभव हो गया था। इस मुखौटे के प्रयोग के कारण वहाँ वाचिक अभिनय तो बहुत समुन्नत हुआ किन्तु मुख-मुद्राओं से अभिनय करने की रीति पल्लवित न हो सकी।

इतालिया—इतालिया वासियों में अभिनय की प्रवृत्ति बड़ी स्वाभाविक और पुरानी है। नाटक लिखे जाने के युग से बहुत पहले से ही वहाँ यह साधारण प्रवृत्ति रही है कि किसी युवा-दल को आप कोई विषय दे भर दीजिए, वे झट उसका अभिनय प्रस्तुत कर देंगे। संगीत, नृत्य और दृश्य के इस सहज प्रेम के कारण ही वहाँ के

राजनीतिक और धार्मिक संघर्ष के युग में भी अभिनय-कला को जीवित रखने में सहायता प्राप्त हुई है।

इंग्लैण्ड—यूरोप में अभिनय-कला को सबसे अधिक महत्त्व दिया शेक्सपियर ने। उसने स्वयं मानव-स्वभाव के सभी प्रतिनिधि चरित्रों का चित्रण किया है। उसके समय में ही सन् १८१० और १८३५ के मध्य ऐडमंड कीन जैसे प्रतिभाशाली अभिनेता के कारण अभिनव-कला सर्वोच्च शिखर पर पहुँच चुकी थी। शेक्सपियर ने हेमलेट के संवाद में श्रेष्ठ अभिनय के मूल तत्त्वों का समावेश करते हुए बताया है कि अभिनय में वाणी और शरीर के अंगों का प्रयोग स्वाभाविक रूप से करना चाहिए, अतिरंजित नहीं। वह कहता है—'मैं प्रार्थना करता हूँ कि आप (नाटकीय) संवाद उसी प्रकार कहिए जैसे मैं अपनी जीभ को हलके-हलके चलाते हुए (स्वाभाविक रूप से) कह रहा हूँ। किन्तु यदि आप उस प्रकार मुँह बनायेंगे जैसे बहुत से अभिनेता बनाया करते हैं तो मैं यही समझूंगा कि कोई डुग्गी पीटने वाला संवाद कह रहा है (अभिनेता नहीं)। अपने हाथों को इस प्रकार (वेग से चलाकर) वायु को बहुत चीरिए मत, वरन् अत्यन्त कोमलता के साथ हाथ चलाइए, क्योंकि अपने भाव के झंझावात, प्रवाह या अन्धड़ में भी आपको ऐसी शालीनता लानी चाहिए कि उस भाव की स्निग्धता बनी रहे। ओह ! उस समय तो मेरा जी जल उठता है जब मैं देखता हूँ कि एक उद्दंड व्यक्ति सिर पर बाल जमाये, किसी भाव का अभिनय करते हुए उस भाव के चिथड़े-चिथड़े किये डाल रहा है और सामने धरती पर बैठे हुए उन दर्शकों के कान फाड़े डाल रहा है जिन्हें मूक दृश्य और कोलाहल के अतिरिक्त कुछ हाथ नहीं लगता, तब मेरा मन करता है कि कर्कशता और कलह का दृश्य प्रस्तुत करने वाले और हेरोद को हेरोदा-तिशय बना देने वाले अतिरंजक अभिनेता को मार धुआँधार कोड़े लगाऊँ। मैं प्रार्थना करता हूँ कि ऐसे दोष मत आने दीजिए।

पर बहुत दब्बू भी मत बने रहिए। अपने विवेक को अपना शिक्षक बनाइए। शब्द के अनुकूल अभिनय और अभिनय के अनुकूल शब्द का सामंजस्य स्थापित कीजिए।'

फ्रांस—अठारहवीं शताब्दी में ही यूरोप में अभिनय के संबंध में विभिन्न सिद्धान्तों और प्रणालियों का प्रादुर्भाव हुआ। फ़्रान्सीसी विश्वकोशकार देनी दिदरो ने उदात्तवादी (क्लासिकल) फ्रान्सीसी नाटक और उसकी रूढ अभिनय-पद्धति से ऊवकर वास्तविक जीवन के नाटक का सिद्धान्त प्रतिपादित किया और बताया कि नाटक को फ्रांस के मध्य-वर्गीय बुर्जुआ जीवन की वास्तविकतर प्रतिच्छाया बनाना चाहिए। दिदरो ने कहा है कि अच्छा अभिनेता बनने की सम्भावनाएँ इस बात में हैं कि चेतना और सज्ञानता का पूर्ण अभाव हो। उसने अभिनेता को सुझाया है कि प्रयोग के समय केवल अपने पर

ध्यान देना चाहिए, अपनी वाणी सुननी चाहिए और अपने आवेगों की स्मृतियों को ही प्रस्तुत करना चाहिए।

मास्को स्टेज एण्ड इम्पीरियल थिएटर के भूतपूर्व प्रयोक्ता और कला-संचालक (आर्ट डाइरेक्टर) थियोदोर को मिसारजेवस्की ने इस सिद्धान्त का खंडन करते हुए लिखा था—'अब यह सिद्ध हो चुका है कि यदि अभिनेता अपने अभिनय पर ही सावधानी से ध्यान रखे तो वह न दर्शकों को प्रभावित कर सकता है, न रंगमंच पर किसी भी प्रकार रचनात्मक हो सकता है, क्योंकि उसे अपने आंतरिक स्वात्म पर जो प्रतिबिम्ब प्रस्तुत करने होते हैं उन पर एकाग्र होने के बदले वह अपने बाह्य स्वात्म पर एकाग्र हो जाता है। जिससे वह इतना अधिक आत्म-चेतन हो जाता है कि उसकी अपनी कल्पना-शक्ति नष्ट हो जाती है। अत: श्रेष्ठतर उपाय यह है कि वह कल्पना के आश्रय पर अभिनय करे, नव निर्माण करे, नयापन लाये और केवल अपने जीवन के अनुभवों का अनुकरण या प्रतिरूप करने के फेर में न पड़ा रहे। जब कोई अभिनेता किसी भूमिका का अभिनय करते हुए अपनी स्वयं की उत्पादित कल्पना के विश्व में विचरण करने लगता है तब उसे न तो अपने ऊपर ध्यान देना चाहिए न नियंत्रण रखना चाहिए और न तो वह ऐसा कर ही सकता है, क्योंकि अभिनेता की अपनी कल्पना से उद्भूत और उसकी आज्ञा के अनुसार काम करने वाली कल्पनाएँ अभिनय के समय स्वयं उसके आवेग और अभिनय को नियंत्रित करती, पथ दिखलाती और संचालन करती चलती हैं।

बीसवीं शताब्दी में अनेक नाट्य-विद्यालयों, नाट्य-संस्थाओं और रंगशालाओं में अभिनय के सम्बन्ध में अनेक नये और स्पष्ट सिद्धान्त प्रतिपादित किये गये। मार्क्स रीन हार्ट ने जर्मनी में और फिमी गेमिए ने पेरिस में, आन्द्रे आन्त्वां ने फ़्रांस में और क्रोनेग ने जर्मनी में प्रकृतिवादी (नेचुरलिस्टिक) नाट्च-पद्धति का प्रचलन किया जिसका विकास बर्लिन में ओटो ब्राह्म ने और मास्को में स्तानिसलवस्की ने किया। इन प्रयोक्ताओं ने बीच-बीच में इस प्रकृतिवादी अभिनय-पद्धति में रीतिवादियों (फ़ौर्मेलिस्ट) के विचारों का और सन् १९१० के पश्चात् कौमिसार जेवस्की ने जो अभिनय के संश्लेषणात्मक सिद्धान्तों का प्रवर्तन किया था उसका भी थोड़ा-बहुत समावेश कर लिया। किन्तु अधिकांश फ़ान्सीसी अभिनेता १८वीं शताब्दी की प्राचीन स्वैरवादी (रोमांटिक) पद्धति या मिथ्योदात्त (जूडो-क्लासिकल) अभिनय-पद्धति का ही प्रयोग करते रहे।

सन् १९१० के पश्चात् जितने अभिनय-सिद्धान्त प्रवर्तित हुए उनमें सर्वप्रसिद्ध है मास्को आर्ट थिएटर के प्रयोक्ता स्तानिसलवस्की की प्रणाली, जिसका सिद्धान्त यह है कि कोई भी अभिनेता रंगमंच पर तभी स्वाभाविक और सच्चा हो सकता है जब वह

उन आवेगों का प्रदर्शन करे, जिन्हें उसने स्वयं अपने में कभी अनुभव किया हो। स्तानिसलवस्की का यह मानसिक प्रकृतिवाद उस बाह्य प्रकृतिवाद का परिणाम है जिसका प्रयोग उसने अभिनय की वैज्ञानिक पद्धति खोजने के प्रयास में मनोविज्ञान की ओर प्रवृत्त होने से पहले किया था। अभिनय में यह आन्तरिक प्रकृतिवाद स्तानिसलवस्की की कोई नयी सूझ नहीं थी, क्योंकि कुछ फ़ान्सीसी नाट्यज्ञों ने अठारहवीं शताब्दी में इन्हीं विचारों के आधार पर अपनी अभिनय-पद्धतियाँ प्रवर्तित की थीं। स्तानिसलवस्की का मत था कि कोई भी अभिनेता तभी रंगमंच पर अपना प्रतिनिधित्व कर सकता है जब वह सच्चा बनना चाहता हो। उसके अनुसार वे ही अभिनेता प्रेम के दृश्य का भली-भाँति प्रदर्शन कर सकते हैं जो वास्तविक जीवन में भी प्रेमी हों और प्रेम कर रहे हों। जीन-रासीन के अनुयायियों के समान स्तानिसलवस्की का मत था कि अनेक अभिनेता अपने समय के वातावरण और दैनिक जीवन से भिन्न आवेगों का अभिनय करने में असमर्थ होते हैं। अतः सत्यनिष्ठ और वास्तविक होने के लिए उन्हें चाहिए कि संवाद की पंक्तियों और रंगनिर्देशों में वे अपने उन आवेगों को भर दें जो वे अपने वास्तविक जीवन में अनुभव कर चुके हों। किन्तु इस प्रकार के अभिनय से नाटककार के भाव और संवाद की हत्या हो जाती है। जो अभिनेता अपनी कल्पना से अभिनय करता है वह नाटक के रूप और लय से एक पग आगे बढ़कर उसके भीतरी भाव तक पहुँच जाता है। इसी लिए स्तानिसलवस्की के शिष्यगण नाटक के रूप और लय की उपेक्षा करके नाटककार के भावों के बदले अपनी स्मृति और बौद्धिक परिस्थितियों को ही रखना उचित समझते हैं।

स्तानिसलवस्की के सिद्धान्त के विरुद्ध प्रतीकवादियों (सिम्बौलिस्ट्स), रीतिवादियों (फ़ौर्मेलिस्ट्स) और अभिव्यंजनावादियों (एक्स्प्रैशनिस्ट्स) ने एक नयी रीति चलायी, जिसमें सत्यता और जीवन-तुल्यता का पूर्ण वहिष्कार करके कहा गया है कि 'अभिनय जितना ही कम वास्तविक और कम जीवन-तुल्य होगा उतना ही अच्छा होगा। अभिनेता को निश्चित चरित करने का प्रयत्न करना चाहिए। उसे चाहिए कि नाटक के गूढ विचारों को रूढ रीति से अपनी वाणी, चेष्टा और मुद्राओं द्वारा प्रस्तुत करे और वह भी रूढ और जीवन-साम्यहीन, चित्रमय और कठपुतली नृत्य की शैली में प्रस्तुत करे।'

रीतिवादी लोग आगे चलकर मेयरहोल्द, तायरोफ़ और अरविन पिस्काटर के नेतृत्व में अभिनय में उछल-कूद, नटविद्या और लय-गति का इतना प्रयोग करने लगे कि अभिनेताओं की गति पूर्णतः यंत्रात्मक हो गयी और रंगमंच पर उनका अभिनय ऐसा प्रतीत होने लगा मानो कोई सरकस हो रहा हो, जिसमें उछल-कूद, शरीर के कलात्मक

संतुलन और इसी प्रकार की गतियों की प्रधानता हो। यह अभिनय ही लयवादी (क्यूबिस्टिक) अभिनय कहलाने लगा।

इन लयवादियों में से मेयरहोल्द तो आगे चलकर कुछ प्रकृतिवादी हो गया किन्तु लियोपोल्द जैस्सनर और निकोलस ऐवरेनोव आदि अभिव्यंजनावादी, या यों कहिए कि अतिरंजित अभिनयवादी लोग कुछ तो रीतिवादियों की प्रणालियों का अनुसरण करते रहे और कुछ मनोवैज्ञानिक प्रकृतिवादी पद्धति का।

इस प्रकार अभिनय की दृष्टि से यूरोप में चार प्रकार की अभिनय-पद्धतियाँ प्रचलित हैं—१—रीतिवादी या स्थिर रूपवादी (फ़ॉर्मेलिस्ट); २—प्रकृतिवादी (नेचुरलिस्ट); ३—अभिव्यंजनावादी (एक्स्प्रेशनिस्ट), जो अतिरंजित अभिनय करते थे; ४—क्यूबिस्ट (लयवादी), जो संतुलित व्यायामपूर्ण गतियों द्वारा यंत्रात्मक अभिनय करते थे।

यूरोप में चीनी नाटच-पद्धति के समान ही कुछ ऐसे प्रतीकवादी अभिनेता हुए जिन्होंने अपने अभिनय में प्रत्येक भाव के अनुसार कुछ निश्चित वस्तुएँ और आंगिक गतियाँ प्रतीक के रूप में मान ली थीं और उन सब भावों की अवस्थाओं में लोग उन्हीं प्रतीकों के द्वारा भाव का अभिनय करते थे। ये प्रतीक भारतीय मुद्रा-प्रतीकों से पूर्णत: भिन्न होते थे। किन्तु यह प्रतीकवाद यूरोप में सफल नहीं हो सका।

बीसवीं शताब्दी के चौथे दशक अर्थात् द्वितीय महायुद्ध के आस-पास से यूरोप की अभिनय-प्रणाली में परिवर्तन हुआ और प्राय: सभी यूरोपीय तथा अमरीकी रंगशालाओं में प्रत्येक अभिनेता से यह आशा की जाने लगी कि वह अपने अभिनय में कोई नवीनता और मौलिकता दिखाकर अत्यन्त अप्रत्याशित ढंग का अभिनय करके लोगों को संतुष्ट करे। अभिनेता के लिए यह आवश्यक माना जाने लगा कि वह अपनी कल्पना का प्रयोग करके नाटक के भाव की प्रत्येक परिस्थिति में अपने अभिनय का ऐसा संश्लिष्ट संयोजन करे कि उससे नाटक में कुछ विशेष चेतना और सजीवता उत्पन्न हो। उसका धर्म समझा जाने लगा है कि वह रंगशाला के व्यावहारिक दृष्टिकोण को ध्यान में रखकर अपनी प्रतिभा के बल से नाटककार की भावना का उचित और स्पष्ट संरक्षण करता हुआ नाटक का प्रवाह और प्रभाव बनाये रखे।

वर्तमान अभिनय-सिद्धान्त

आजकल के प्रसिद्ध अभिनेताओं का कथन है कि अभिनेता को न तो किसी विशेष पद्धति का अनुसरण करना चाहिए और न किसी अभिनेता का अनुकरण। श्रीमती पैट्रिक कैम्बल तो अभिनय की पद्धति चलाने के ही विरुद्ध हैं। वे ऐसे अभिनेता से बहुत

चिढ़ती हैं जो उनका या किसी दूसरे अभिनेता का अनुकरण करके अभिनय करता हो। वास्तव में अभिनय का कोई एक सिद्धान्त नहीं है जो नाटकों के या दो अभिनेताओं के लिए किसी एक परिस्थिति में समान रूप से स्थापित किया जा सके। आजकल के अभिनेता-संचालक (ऐक्टर मैनेजर) इसी मत के हैं कि अच्छे अभिनेता को संसार के सब नाटकों की सब भूमिकाओं के लिए सिद्ध होना चाहिए और यदि यह न हो सके तो अपनी प्रकृति के अनुसार भूमिकाओं के लिए कोई निश्चित प्रणाली ढूँढ़ निकालनी चाहिए और तदनुसार अपने को स्वयं शिक्षित करते चलना चाहिए।

आजकल के अधिकांश नाट्याचार्यों का मत है कि नाटक को प्रभावशाली बनाने के लिए अभिनेता को न तो बहुत अधिक प्रकृतिवादी होना चाहिए और न अधिक अभिव्यंजनावादी। अतिरंजित अभिनय तो कभी करना ही नहीं चाहिए।

चरित्राभिनय (कैरेक्टर ऐक्टिंग)

आजकल की विदेशी अभिनय-प्रणाली में एक चरित्राभिनय की रीति भी चली है जिसमें एक अभिनेता किसी विशेष प्रकार के चरित्र के अभिनय में कौशल प्राप्त करके सदा सब नाटकों में उसी प्रकार की भूमिका ग्रहण करता है। चलचित्रों के कारण इस प्रकार के चरित्र-अभिनेता (कैरेक्टर-ऐक्टर) बहुत बढ़ते जा रहे हैं, किन्तु कला की दृष्टि से यह चरित्राभिनय अत्यन्त हेय है क्योंकि इससे कला की परिधि संकुचित हो जाती है।

अभिनय की गति (ऐक्टिंग स्पीड)

पद, अवस्था, प्रकृति और भाव की दृष्टि से छः प्रकार की गतियों में अभिनय होता है; अत्यन्त करुण में स्तब्ध गति, शान्त में मन्द गति, शृंगार, हास्य और बीभत्स में साधारण गति, वीर में द्रुत गति, रौद्र में वेगपूर्ण गति और भय में अति वेगपूर्ण गति। इन सबका विधान विभिन्न भावों, व्यक्तियों, अवस्थाओं और परिस्थितियों पर अवलंबित होता है। तात्पर्य यह है कि अभिनेता को मौलिक होना चाहिए और किसी पद्धति का अनुसरण न करके यह प्रयत्न करना चाहिए कि नाटककार अपनी रचना के द्वारा जो प्रभाव अपने दर्शकों पर डालना चाहता है उसका अभिनय के द्वारा उचित विभावन हो सके।

स्वाभाविक और प्रभावशाली अभिनय

यूरोप में अभिनय-कला के स्वरूप का निर्णय विभिन्न युगों की नाट्य-शैली पर अवलंबित रहा है। वहाँ के यूनानी और रोमी उदात्त नाटकों में भारतीय नाटकों के

समान एक विशिष्ट नियमितता अथवा निर्धारित रूपात्मकता थी, सब काम एक उद्दिष्ट कर्मकाण्ड के अनुसार होता था, क्योंकि एक तो उन नाटकों में मुखौटों (मास्क्स) का प्रयोग होता था और दूसरे वह सम्पूर्ण प्रदर्शन ही धार्मिक होने के कारण रूढ़ हो गया था। आगे चलकर मध्यकालीन घुमन्तू अभिनेताओं (स्ट्रोल प्लैयर्स) और नैतिक नाटक (मोरैलिटी प्ले) खेलने वालों के प्रदर्शनों में वास्तविक या तथ्यवादी अभिनय के लक्षण मिलने लगे थे, जैसे किसी पेटू व्यक्ति को दिखाने के लिए गाँव का मोटा बालक प्रस्तुत किया जाता था। किन्तु कमीदिया देलार्ते जैसे नाटकीय प्रदर्शनों में अभिनय के सब प्रकार अत्यन्त अतिरंजित और शैलीगत हो गये थे। शेक्सपियर ने अपने हेमलेट नाटक में अभिनेताओं को स्वाभाविक बनाने का जो आदेश दिया वह अधिक लोकप्रिय नहीं हो पाया, यहाँ तक कि उन्नीसवीं शताब्दी में जब स्वाभाविक अभिनय के लिए तीव्र आन्दोलन उठ खड़ा हुआ तब तक भी वह लोकप्रिय नहीं हो पाया था ; शेक्सपियर के नाटक खेलते समय वाणी का विशेष सचेत रूप में प्रयोग, नपी-तुली गति, विशेष भाषण-शैली में संवाद का पाठ आज भी ज्यों का त्यों है, जैसा कि मौरिस इवान्स के अभिनय से स्पष्ट ही है और जो जौन गिलगुड के स्वाभाविकतावादी पाठवाचन के समान ही पूर्णतः और स्पष्टतः लोक-प्रयोग के अनुसार स्वाभाविक और सजीव प्रतीत होता है।

अभिनय में तन्मयता

विशेष प्रकार से चरित्र प्रस्तुत करने की अभिनय-शैली (प्रेज़ेन्टेशनल स्टाइल) चलते रहने का कारण है तारक-प्रणाली (स्टारडम) अर्थात् अभिनेताओं की यह प्रवृत्ति कि अन्य पात्रों से अपने को कुछ विशिष्ट रूप में प्रदर्शित करें और रंगमंच से प्रस्थान के समय विशेष रूप से हाथ चलाकर हटें। संघटित अभिनय (सिन्थेटिक ऐक्शन) तथा दल-भावना (ग्रूप स्पिरिट) की उस अभिनय-वृत्ति द्वारा इस प्रणाली का विरोध हुआ जिसका विकास हुआ रूसी रंगशालाओं में, जहाँ किसी एक अभिनेता के कार्य को महत्त्व देने के बदले पूरे नाटक को ही एक पूर्ण कार्य मानते थे। इसके ठीक विपरीत रूप से डब्लिन के एब्रे थिएटर वालों ने भी इसका विरोध किया, क्योंकि वहाँ किसी एक अभिनेता के बदले प्रत्येक चरित्र को इतना अधिक व्यक्तिगत रूप से परिष्कृत और परिमार्जित कर दिया जाता था कि वहाँ तारक (स्टार)-प्रणाली पल्लवित ही नहीं हो पायी। जिस मास्को आर्ट थिएटर की स्थापना स्तानिसलवस्की ने नेमिरोविच दानचेन्को के साथ मिलकर की थी उसमें उसने अत्यन्त पूर्णता के साथ मनोवैज्ञानिक प्रकृतिवाद (साइकोलौजिकल नैचुरलिज़्म) की अभिनय-प्रणाली का विकास किया, जिसमें स्वयं अभिनेता ही जिस पात्र का चित्रण करता था उसके शब्द और कार्य के

औचित्य को स्वयं अपने भीतर ही सँभालने और प्राप्त करने का प्रयत्न करता था। ऐसा करते समय अपने को शारीरिक पुट्ठों के तनाव से वह ऐसा मुक्त कर लेता था कि वह जिस भूमिका को ग्रहण करता था उसी में व्याप्त हो जाता था और इस प्रकार की परिस्थिति में अपने को तन्मय कर लेता था कि वह परिस्थिति ही उसके लिए ऐसी वास्तविक बन जाती थी कि उसे भूमिका के अभिनय करने की आवश्यकता नहीं पड़ती थी। उसकी सब क्रिया स्वाभाविक रूप से होती चलती थी। उसे नाटक के बाहर उस पात्र की कल्पित परिस्थितियों में उसके अभिनय की काल्पनिक अभिनय-वृत्तियों का अभ्यास करके अपने को तैयार रखना पड़ता था और अपनी भावात्मक स्मृति (सेन्स मेमॉरी) का विकास करते हुए उन भौतिक परिस्थितियों (जैसे सिगरेट जलाना आदि) का अभ्यास करके अपनी मानसिक परिस्थितियों की क्रियात्मक स्मृति (जैसे किसी मित्र से झगड़ा करना आदि) को इस प्रकार साध लिया जाता था कि वह अपनी भूमिका में पूर्णतः स्वाभाविक बन सके। तैयारी में इस जागरूकता और अभिनय में पूर्ण तन्मयता के अन्तर्गत वह भावावेगात्मक भूमिका की सजीवता (लिविंग दि पार्ट) नहीं आती जिसे कुछ अभिनेत्रियाँ अनिवार्य समझती हैं, जैसे अपने आपको अस्त-व्यस्त कर लेना और अपने कपड़े फाड़ डालना आदि क्रियाएँ। दिदरो के पारादोक्से ला सुर, ला लाप, ला कोमीदिए में स्पष्ट हो गया है कि जिस कुशल अभिनेता के भावात्मक अभिनय से दर्शक अधिक प्रभावित होते हैं वह अभिनय के समय उस भाव का स्वतः अनुभव नहीं कर पाता, अर्थात् दूसरों को प्रभावित करने के लिए उसे स्वयं अप्रभावित रहना चाहिए, जिसे अमेरिका के जौर्ज एम० पोहन ने बहुत चतुराई से कहा है कि 'दूसरों को विचलित और प्रभावित करने के लिए उसको ऐसा बनकर दिखाना चाहिए कि मैं भी कम विचलित नहीं हूँ, जब कोई अभिनेता रंगमंच पर अपनी भूमिका में तन्मय हो जाता है तब कहते हैं कि वह उस भूमिका में सजीव हो उठा है (लिविंग दि पार्ट) । आन्त्वां और स्तानिस-लवस्की का, प्रकृतिवादी प्रणाली में इस तन्मयता को ही अधिक समर्थन प्राप्त हुआ है।

अस्वाभाविक और अतथ्यवादी अभिनय-शैलियाँ

तात्पर्य यह है कि प्रकृतिवाद, तथ्यवाद और स्वाभाविकतावाद के इस युग में भी अभिनय की अस्वाभाविक और अतथ्यवादी शैलियाँ धड़ल्ले से चल रही हैं। इस झोंक में कहीं तो काव्यात्मक रंगमंच के रीतिवाद (फौर्मेलिज्म) का बोलबाला है जहाँ अभिनेता यह प्रयत्न करता रहता है कि मैं पृष्ठभूमि के साथ मानवीय मूर्ति या चित्र की भाँति मिल जाऊँ और कहीं संगीतात्मक प्रहसन (म्यूज़िकल कौमिक) और भँड़ैती (फ़ार्स) के अतिरंजित अभिनय के रूप दिखाई पड़ते हैं जिन्हें चलचित्रों से पर्याप्त प्रोत्सा-

हन मिला है। दूसरी ओर अभिव्यंजनावाद (एक्सप्रेशनिज़्म) या सजीव समाचारपत्र (लिविंग न्यूज़पेपर) की नाट्यशैली है जहाँ मंच के व्याख्यान, व्यंग्यचित्र के प्रभाव और ध्वनि-विस्तारक यंत्र प्रस्तुत रहते हैं और जो अपने साथ तदनुकूल अभिनय-प्रणाली प्रस्तुत करते हैं। तायरोफ़ ने जो लयात्मक (रिद्मिक) अभिनय-शैली चलायी थी और वाख़्तांगों ने जो गतिशीलता (प्लेस्टिसिटी) का प्रचलन किया था उसका श्रेय नृत्यनाट्य (बैले) और कोमीदिया देलार्ते को है। इससे भी अधिक नट-विद्या मेयर-होल्द की यंत्रगति (वायोमिकेनिक्स) में प्रचलित हुई जो अभिनेता को ऐसा जटिल इंजिन समझते हैं जो उनके रचनात्मक रंगमंच (कन्स्ट्रक्टिविस्ट स्टेज) की सीढ़ियों और अनेक प्रकार के लकड़ी के ढाँचों पर उछल-कूद से भरा अभिनय करने के लिए शिक्षित किया जाता है। केवल वर्तमान समस्या नाटक (प्रोब्लम प्ले) या घरेलू सुखान्त नाटकों (डोमेस्टिक कौमेडी) में ही प्रकृतिवादी अभिनय-पद्धति का प्रयोग देखा जाता है और वह भी कुछ चुने हुए तथा दबे हुए वास्तविकतावाद के रूप में।

अभिनय की भावना का उपहास

रंगमंच पर अभिनय करना, किसी का रूपक दिखलाना या किसी की भूमिका प्रदर्शित करना इन सबका अर्थ है छद्म क्रिया करना। इन क्रियाओं से अभिनेता आपको उतना विश्वास नहीं दिलाते कि वे अमुक हैं, जितना आपको विश्वास करने के लिए प्रेरित करते हैं और उनकी अभिनय-क्रिया में यह अवास्तविकता व्याप्त रहती है। केवल आदिम धार्मिक कर्मकाण्ड में और आरभटी नाटकों (मेलो ड्रामा) में अभिनेता अपनी भूमिका से एकात्मकता स्थापित कर पाता है, अन्यथा देखा यह जाता है कि कभी-कभी भोले दर्शक नाटक को वास्तविक घटना समझकर सहसा संकट-ग्रस्त नायक को चिल्लाकर सावधान कर देते हैं। नाटक समाप्त होने और परदा गिर जाने पर भी लोग नायक को ताली बजाकर उत्साहित करते हैं और खल-नायक को धिक्कारते तथा गाली देते हैं। बहुत से अभिनेता और अभिनेत्रियाँ नायक और नायिका का अभिनय कर चुकने पर जनता का अभिनन्दन प्राप्त करने के लिए बाहर निकल आते हैं और सबसे अधिक अवास्तविकता की स्थिति तो तब दिखाई पड़ती है जब मरे हुए लोग भी बाहर निकल आते हैं और लोग उन्हें देखकर ताली बजाते और देखते हैं। चलचित्र में तो यह अवास्तविकता चरम सीमा को पार कर गयी है जहाँ चलचित्र देखने वाले दर्शक पात्र की अच्छाई-बुराई और घटना की आलोचना न करके अभिनेताओं का नाम लेकर कहते हैं कि अमुक अभिनेत्री ने उस चित्र में अमुक अभिनेता

से विवाह किया, यद्यपि वह केवल विवाह का अभिनय होता है। इस प्रकार की बातें कला, अभिनय-कला, दोनों की दृष्टि से असंगत और घातक हैं।

ओजपूर्ण अभिनय

आरभटी वृत्ति के नाटकों (मेलो ड्रामा) में अभिनय ने एक विशेष रूप ग्रहण कर लिया था जो आज पूर्णतः लुप्त हो चुका है। उसमें कुछ भी कृत्रिम या बनावटी (फिनिकल) या अड़बड़ नहीं होता था, कुछ भी आधे मन से नहीं किया जाता था वरन् उसमें ऐसा ओजपूर्ण अभिनय होता था जिसके लिए श्वास और बल अपेक्षित था। आरभटी नाटक में पण्डितम्मन्य और विद्वान् लोगों को प्रभावित करने की शक्ति नहीं थी क्योंकि उसमें बहुत शक्ति और ओज होता था। दूसरे उसमें विद्वान् लोगों के मन को तृप्त करने की वस्तुएँ भी बहुत कम रहती थीं क्योंकि वह इतना सरल और सीधा होता था कि उसमें न गूढ़ अर्थ मिलते थे न प्रतीकात्मक व्यंग्यार्थ और न बहुनिर्देशात्मक तत्त्व। उसमें सौन्दर्यात्मक निष्पक्षता के बदले ऐसी मनोवेगात्मक एकात्मकता होती है कि लोग खल-नायक को दुतकारते और सिसकारते रहते हैं और नायक को अभिनन्दित तथा उत्साहित करते रहते हैं। ऐसे लिखे हुए नाटक को पढ़ना भी एक समस्या है। उसके रंगनिर्देश ऐसे होते हैं कि उसका अभिनय करना आवश्यक नहीं है। उसके छपे हुए पृष्ठ को देखकर ही रंगमंच और उस पर होने वाली चेष्टाओं का साक्षात्कार हो जाता है। इसी लिए आरभटी वृत्ति के नाटकों में अभिनय की एक अलग पद्धति ही चल गयी है।

पीछे 'अभिनेता' के प्रकरण में बताया जा चुका है कि अभिनेता की वाणी स्पष्ट हो। इसके लिए उसे प्राणायाम का अभ्यास करना और अपना गला स्वच्छ रखना चाहिए। इतना ही नहीं, उसे स्वर के आरोहावरोह का इतना अच्छा अभ्यास करना चाहिए कि बोल-चाल के जितने भी प्रकार हो सकते हैं वे सब सरलता के साथ गले से निकाले जा सकें।

वाणी के साथ अभिनेता की स्मृति भी बहुत अच्छी होनी चाहिए। यूरोप में प्रायः यह माना जाता है कि अच्छा अभिनेता वही है जिसकी धारणा-शक्ति प्रबल होती है और यह गुण ईश्वर से ही मिलता है, अभ्यास से नहीं। फिर भी उसके लिए एक रीति बतायी गयी है कि अभिनेताओं को अभ्यास से पहले पूरा नाटक आदि से अन्त तक पढ़ जाना चाहिए। इसके पश्चात् अपने पाठ्य को भाव के अनुसार वाणी के उतार-चढ़ाव के साथ अभ्यास करके ऐसा साध लेना चाहिए कि अपने पाठ्य का प्रत्येक शब्द बिना अटके पढ़ा और कहा जा सके। इसके पश्चात् तीसरी पूर्णतः पकी

अवस्था (रौटेन परफ़ेक्ट) वह होती है जब वेशपूर्ण अभ्यास (ड्रेस रिहर्सल) में वह बिना प्रेरक की सहायता के ही अन्य सहयोगी अभिनेताओं की वाणी और क्रिया के साथ मेल रखता हुआ ठीक समय पर उनकी वाणी और क्रिया की प्रतिक्रिया के रूप में अपनी वाणी और चेष्टा का प्रयोग कर सके। यह अभ्यास इतना पक्का होना चाहिए कि यदि रात को कोई सोते से जगाकर किसी साथी अभिनेता के पाठ्य का अन्तिम शब्द (क्यू) दे तो अभिनेता तत्काल उसके आगे अपने द्वारा कही जाने वाली पंक्ति ठीक-ठीक उसी प्रकार कह दे मानो वह रंगमंच पर ही हो। शब्द पकड़ने का यह अभ्यास रंगमंच के अभिनय के लिए नितान्त आवश्यक है क्योंकि तनिक सी भी देर हो जाने से सारा प्रभाव नष्ट हो जा सकता है और स्वयं दर्शक समझने लग सकते हैं कि अभिनेता भूल गया है। इससे नाटक का सारा रस-प्रभाव नष्ट हो जाता है।

प्रतिक्रियात्मक, समर्थनात्मक और सहानुभूतिपूर्ण अभिनय

अभिनेता को केवल उसी समय अभिनय नहीं करना होता जब उसे स्वयं बोलना हो, वरन् उसे तब तक अभिनय करना होता है जब तक वह रंगमंच पर रहता है। उसे सक्रिय अभिनय के अतिरिक्त प्रतिक्रियात्मक (रिऐक्टिव), समर्थनात्मक (कौरोबोरेटिव) और सहानुभूतिपूर्ण (सिम्पैथेटिक) अभिनय भी करना चाहिए। अर्थात् रंगमंच पर सदा सावधान रहना चाहिए। प्रतिक्रियात्मक अभिनय का अर्थ है अभिनेता अपनी चेष्टा, मुखमुद्रा अथवा संक्षिप्त वाणी से साथ के अभिनेता की कही हुई बात या की हुई क्रिया के प्रति अपनी मानसिक या शारीरिक प्रतिक्रिया व्यक्त करे, जैसे यदि किसी ने कहा—'वह तुम्हारी माताजी की निन्दा कर रहा था।' उस समय क्रोध और क्षोभ व्यक्त करना ही प्रतिक्रियात्मक अभिनय है। इसी प्रकार यदि कोई साथी अभिनेता कह रहा है कि हम सबको मिलकर रहना चाहिए। उस समय समर्थनात्मक सिर हिलाना या 'हाँ, यह तो है ही' आदि शब्द कहना समर्थनात्मक अभिनय है। किसी पर विपत्ति आयी देखकर उसके प्रति 'बेचारा, हाय-हाय', आदि कहना या संवेदनात्मक चटकारी देना सहानुभूतिपूर्ण अभिनय होता है। ये अभिनय-निर्देश नाटक में नहीं दिये होते। ये अभिनेता की सूझ पर छोड़ दिये जाते हैं और इन्हीं के उचित प्रयोग से अभिनेता का कौशल प्रकट होता है। यदि रंगमंच पर चलते हुए धोखे से कुछ गिर जाय तो अभिनेता को मूर्ख के समान खड़े नहीं रहना चाहिए वरन् उसे उठाकर यथास्थान रखकर इस प्रकार अभिनय करना चाहिए मानो उस वस्तु का गिराना और उठाना उसके अभिनय का अंग रहा है। यदि कोई वाक्य मुँह से अशुद्ध निकल जाय तो उसे ठीक करके दुहराना नहीं चाहिए। लोगों को ज्ञात भी न होगा

कि क्या कहा है और यदि कोई असंगत बात मुँह से निकल जाय तो तत्काल कोई ऐसा वाक्य कहना चाहिए—'हैं! मैं क्या कह गया? जान पड़ता है मेरे मस्तिष्क में विकार आ गया है।' प्रहसनों में तो इस प्रकार के सुधार का बहुत अवसर रहता है किन्तु गम्भीर नाटकों में भी ऐसे अवसर कम नहीं रहते जहाँ कौशल से ऐसे दोषों का परिहार किया जा सके। एक अभिनेता की कथा ही प्रसिद्ध है कि एक दृश्य में वह ज्यों ही कुर्सी पर बैठा त्यों ही वह चरमरा कर टूट गयी और अभिनेता गिर गया किन्तु तत्काल वह सँभलकर उठा और बोला—'धत् तेरे की! मेरी कुर्सियाँ भी मेरा भार सँभालने में असमर्थ हो गयी हैं।'

अभ्यास में सहयोग

कुछ अभिनेताओं में यह बुरी आदत होती है कि वे नाट्याभ्यास (रिहर्सल) के समय कहने लगते हैं कि मैं अमुक क्रिया रंगमंच पर ठीक कर लूँगा। हो सकता है कि वह उसे रंगमंच पर पूर्ण कर भी ले, किन्तु रंगमंच की सारी क्रिया तो संघात्मक होती है जिसमें एक व्यक्ति नहीं, कई व्यक्ति सम्मिलित रहते हैं। अतः जो व्यक्ति अभ्यास के समय यह कहता है कि मैं रंगमंच पर पूरा कर लूँगा, वह अपने साथी अभिनेताओं के अभ्यास को दूषित करता है। इसलिए अभ्यास के समय छोटी से छोटी बात भी छोड़नी नहीं चाहिए। तलवार उठाना, चलना, बैठना, हाथ उठाना, गिराना, इधर या उधर प्रस्थान करना, इधर या उधर से प्रवेश करना आदि बातें देखने में बहुत छोटी प्रतीत होती हैं किन्तु रंगमंच की दृष्टि से इन सबका बहुत महत्त्व है। ये सब कार्य अत्यन्त स्वाभाविकता के साथ होने चाहिए। रंगमंच की छोटी से छोटी क्रिया भी स्वाभाविकता के साथ सम्पन्न करनी चाहिए। यदि रंगमंच पर एक कुर्सी उठाकर बैठना हो तो लजाने की कोई बात नहीं, उठाकर रख लेनी चाहिए और बैठ जाना चाहिए। यह सदा ध्यान रखना चाहिए कि सीधे सामने होकर कभी नहीं बैठना चाहिए, थोड़ा तिरछा होकर बैठना चाहिए।

स्वाभाविकता और आत्मविश्वास

अभिनय का सबसे बड़ा मंत्र यह है कि अभिनेता अपने मन में कभी यह न सोचे कि सामने दर्शक भी बैठे हैं। यदि कक्ष के दृश्य में अभिनय करना हो तो अभिनेता को यही समझना चाहिए कि मैं अपने कक्ष में हूँ जहाँ मेरे सहयोगी अभिनेताओं के अतिरिक्त और कोई नहीं है। बस यह समझकर उसे स्वतंत्र और स्वाभाविक अभिनय करने लगना चाहिए। जो अभिनेता दर्शकों को सम्बोधित करता है अथवा किसी भी

प्रकार अपने अभिनय के समय उनसे सम्पर्क स्थापित करता है वह अक्षम्य अपराध करता है, मानो वह चित्र में से बाहर निकल आया हो। इसलिए दर्शकों की ओर मुँह करके कुछ नहीं कहना चाहिए, जिस व्यक्ति से बातें कहनी हों उसी की ओर मुँह कर-के, उसी को सम्बोधित करके कहना चाहिए और यह चिन्ता नहीं करनी चाहिए कि हमारी बातें लोग सुन रहे हैं या नहीं। यदि कभी ऐसा अवसर आ भी जाय कि स्वगत, अपवारित या जनान्तिक भाषण करना हो या एक ही ओर कुछ करना हो वहाँ अभिनेता को अपनी आँख उठाकर, उन्हें स्थिर और स्तब्ध करके इस मुद्रा में कहना चाहिए मानो उसके विचार ही शब्द बन गये हों और वह स्वयं अपने से ही कुछ कह रहा हो।

अतिरंजना का निषेध

कभी किसी भाव को अतिरंजित करके प्रदर्शित नहीं करना चाहिए। करुण दृश्य में फफककर रो उठने से हास्य उत्पन्न हो सकता है। अतः वहाँ उसी सीमा तक करुणा दिखानी चाहिए जहाँ तक वह अतिरंजित न हो। उसके पश्चात् स्वयं नाटक ही प्रभाव उत्पन्न कर लेगा। यह स्मरण रखना चाहिए कि बिना शब्द बोले हुए प्रतिरोध या अर्ध-प्रदर्शित भावभंगी बहुत प्रभावशाली होती है। प्रहसनों में इस प्रकार सीधा अभिनय करना चाहिए कि दूसरे लोग हँसें, अभिनेता न हँसे। हास्य-अभिनेता को ऐसी विचित्र और फूहड़ मुखमुद्राएँ या शारीरिक भावभंगियाँ नहीं दिखानी चाहिए कि वह भँड़ैती प्रतीत हो। हँसते हुए तो कभी बोलना ही नहीं चाहिए। जब हँसी समाप्त हो जाय तभी बोलना चाहिए, वह हँसी चाहे अपनी हो या दर्शकों की।

भावभंगी के सम्बन्ध में बताया जा चुका है कि जिस प्रकार स्वाभाविक रूप से लोग व्यवहार करते हैं वैसा ही व्यवहार करना चाहिए। यदि किसी को कहना हो 'जाओ', तो शब्द कहने से पहले हाथ बढ़ा देना चाहिए और हाथ तत्काल गिरा नहीं देना चाहिए। वह धीरे-धीरे नीचे आना चाहिए। रंगमंच पर खड़े होते समय भी स्वाभाविक रूप से एक पैर पर बल देकर खड़ा होना चाहिए, किन्तु जहाँ सेना-नायक, सेवक अथवा किसी अन्य ऐसे अभिनय के लिए सीधे खड़ा होना आवश्यक हो वहाँ दोनों पैरों को सीधा करके ही खड़े होना चाहिए। यदि कई व्यक्तियों के साथ खड़ा होना हो तो इस प्रकार सबको खड़ा होना चाहिए कि दर्शकों को सभी दिखाई पड़ें। यदि किसी को मंच पर दायीं ओर खड़े होना हो तो अपना बायाँ पैर थोड़ा सा आगे बढ़ा देना चाहिए, जिससे दर्शकों को उसके मुख की मुद्रा स्पष्ट दिखाई पड़े। अभिनेता को अपनी चेष्टा और गति इस प्रकार व्यवस्थित करनी चाहिए कि उसके साथियों को

भी चलने-फिरने में सुविधा हो, किन्तु चलचित्र में इसका व्यवहार उलटा होता है क्योंकि वहाँ चित्र लेने (फ़ोकसिंग) की कठिनाई होती है। कभी भी इस प्रकार नहीं खड़े होना चाहिए कि कोई अभिनेता या उसकी क्रिया ढक जाय। यदि कभी ऐसा हो भी तो धीरे से इस प्रकार सरक जाना चाहिए कि वह अस्वाभाविक न प्रतीत हो। तात्पर्य यह है कि स्वाभाविक अभिनय के लिए जैसा आवश्यक हो वैसा अभिनय करना चाहिए।

निर्भयता

सबसे बड़ी बात यह है कि अभिनेता को निश्शंक और निर्भय होना चाहिए। उसमें रंग-भीति (स्टेज फ़ीयर), रंग-संकोच (स्टेज शाइनेस) और रंग-व्याकुलता (स्टेज नरवसनेस) नहीं होनी चाहिए। इसका यह अर्थ नहीं है कि वह भाँड़ों के समान निर्लज्ज हो जाय। इसका तात्पर्य केवल इतना ही है कि अभिनेता को इतना निधड़क होना ही चाहिए कि वह किसी प्रकार के दर्शकों के सम्मुख किसी प्रकार की अभिनय-क्रिया करने में संकोच न करे। बहुत से अभिनेता नाटक के दिन ठीक समय पर आकर सब काम हड़बड़ी और शीघ्रता में करते हैं। यह भी ठीक नहीं है। पहले से आकर, अपना मुँह रँगवाकर, तैयार होकर शान्ति के साथ बैठना चाहिए।

अभिनेताओं को एक प्रलोभन से सावधान रहना चाहिए। कुछ लोगों में यह चाव होता है कि अमुक वस्त्र मैं पहनूँ, अमुक माला मेरे गले में हो, अमुक आभरण से मेरी सज्जा हो और वे दूसरों के वस्त्र उठाकर पहन लेते हैं। इससे ठीक नाटक के समय बड़ी बाधाएँ उपस्थित हो जाती हैं और सबके मन इतने बिगड़ जाते हैं कि नाटक का रस नष्ट हो जाता है।

बहुत से अभिनेताओं को यह भी दुरभ्यास होता है कि वे पखवाई में खड़े होकर नाटक देखते हैं और उससे भी अधिक यह देखते हैं कि अमुक हास्य की बात का लोगों पर क्या प्रभाव पड़ा है। यह बहुत बुरा अभ्यास है। कभी तो इस देखने में वे इतने तन्मय हो जाते हैं कि उन्हें यह भी नहीं ध्यान रहता कि हमें कब प्रवेश करना है। इससे एक और कठिनाई उपस्थित हो जाती है कि प्रवेश करने वाले अन्य अभिनेताओं को ठोकर लगती है, उनके कपड़े फँस जाते हैं और उन्हें बहुत असुविधा होती है। प्रत्येक दृश्य से लौटने के पश्चात् अभिनेता को दर्पण में मुँह देखकर अपने बाल, अपना मुखराग और अपनी वेश-भूषा ठीक कर लेनी चाहिए। गर्मी के दिनों में मुखराग बहने लगता है। यों भी हाथ लगने से उसमें कुछ दोष आ सकता है इसलिए सावधान होकर इसका

ध्यान रखना चाहिए और अपने बाल, अपनी मूँछें, मुकुट आदि इस प्रकार सँभालकर लगाने चाहिए कि उनके गिरने और बिगड़ने की सम्भावनाएँ न हों।

अभिनय-कला को अनुकरण समझने के बदले उचितकरण कहना चाहिए। इसका तात्पर्य यह है कि अभिनेता को अपने चारों ओर समाज में रहने वाले विभिन्न प्रकृति के व्यक्तियों की वाणी, चेष्टाएँ और मुख-मुद्राएँ भली भाँति अध्ययन करनी चाहिए और देखना चाहिए कि किस प्रकार का व्यक्ति, किस परिस्थिति में, किस प्रकार का आचरण करता है। वैसा ही उचित आचरण करना अभिनेता का काम है क्योंकि शोक की अवस्था में एक व्यक्ति छाती पीटकर रो सकता है, दूसरा गम्भीर व्यक्ति मौन होकर ही शोक का भाव प्रदर्शित कर देता है। अतः पात्र की प्रकृति के अनुसार उचित चेष्टा करना ही वास्तविक अभिनय है, जो सिखाने से नहीं वरन् अपने अनुभव से ही अभिनेता सीख सकता है। यही अभिनय-कला का मूल गुर है।

अध्याय १२

भारतीय अभिनय-पद्धति (हस्ताभिनय)

अंगों के अभिनय के अन्तर्गत हाथ, उर (छाती), पार्श्व (दोनों बगल), जठर (पेट), कटि, जंघा, ऊरु और पैर से की हुई अभिनय-क्रिया आती है।

हाथ के अभिनय दो प्रकार के होते हैं—असंयुक्त, जिसमें एक हाथ से अभिनय होता है और संयुक्त, जिसमें दोनों हाथ एक साथ लगते हैं।

असंयुक्त हाथ के अभिनय

असंयुक्त (एक हाथ वाले) अभिनय के चौबीस प्रकार होते हैं—१ पताक, २ त्रिपताक, ३ कर्तरीमुख, ४ अर्धचन्द्र, ५ अराल, ६ शुकतुण्ड, ७ मुष्टि, ८ शिखर, ९ कपित्थ, १० खटकामुख (कटकामुख), ११ सूच्यास्य, १२ पद्मकोष, १३ सर्पशिर, १४ मृगशीर्ष, १५ कांगूल (लांगूल), १६ अलपद्म, १७ चतुर, १८ भ्रमर, १९ हंसास्य, २० हंसपक्ष, २१ संदंश, २२ मुकुल, २३ ऊर्णनाभ और २४ ताम्रचूड।

अभिनयदर्पणकार ने हाथ की इन अभिनय-मुद्राओं के अतिरिक्त कुछ और भी हाथ की मुद्राएँ गिनायी हैं—मयूर, अर्धपताक, सूची, सम्मुख, चन्द्रकला, सिंहमुख और त्रिशूल। इसके अतिरिक्त व्याघ्र, अर्धसूची, कटक, पल्ली के अभिनय का भी उसमें विवरण दिया गया है। अतः इस विवरण में अभिनयदर्पणकार के दिये हुए असंयुक्त हस्त का विवरण भी साथ-साथ यथास्थान दे दिया जायगा।

१. पताक

जब हाथ की सब उँगलियाँ सटाकर सीधी फैला दी जाती हैं और अँगूठा हथेली की ओर मोड़कर तर्जनी के बाहरी छोर को स्पर्श करता है तब उसे पताक कहते हैं। इसका प्रयोग दूसरे पर प्रहार करने या दूसरे के द्वारा प्रहार होने, आग तापने, दूसरे को प्रेरित करने या दूसरे से प्रेरित होने, हर्ष और गर्व में माथे तक उठाकर यथाभाव ऊपर, नीचे, इधर-उधर, सामने, पीछे, सीधे, उलटकर, चंचल या स्थिर करके प्रयोग किया जाता है। इस मुद्रा से अग्नि की लपट, वर्षा की धारा और पुष्प-वृष्टि के अभिनय

में दोनों हाथों के पताक से अलग-अलग उँगलियाँ चलाकर (अग्नि की लपट के लिए उँगलियाँ ऊपर करके, जल-धारा में नीचे करके और पुष्प-वृष्टि में सिर के ऊपर उँग-

चित्र १—असंयुक्त हाथ के अभिनय
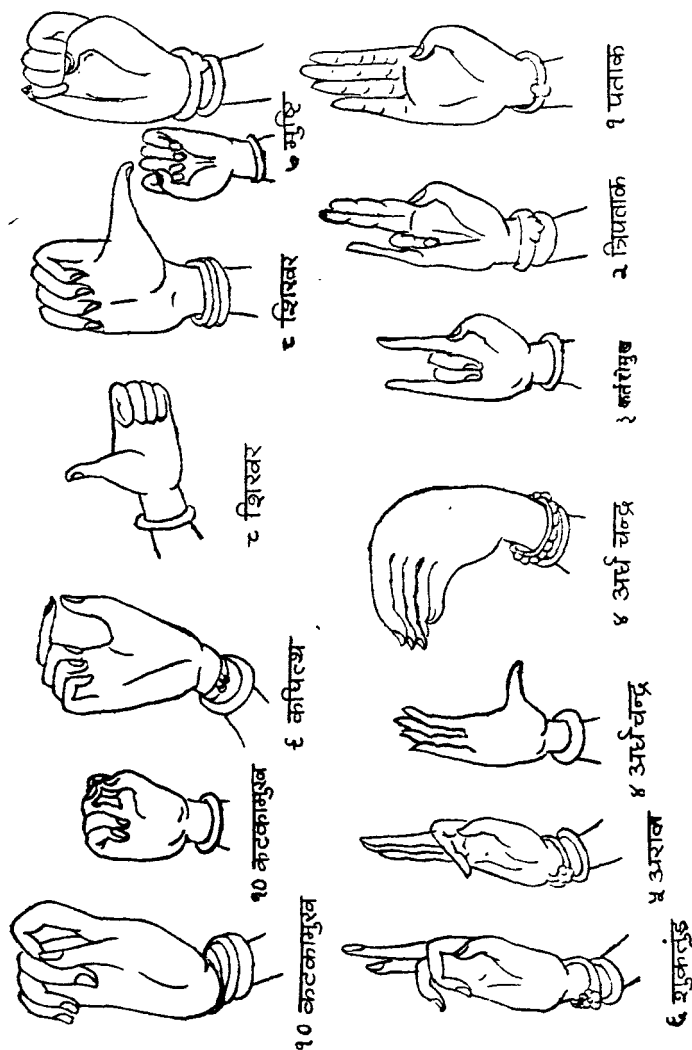
लियाँ नीची करके) अभिनय किया जाता है। स्वस्तिक की विच्युति करके अर्थात् दोनों हाथ एक दूसरे पर रखकर कलाई के सहारे नीचे तल करके छिछले ताल

(पल्वल), शष्प (तृण), पुष्प, उपहार, धरती पर बने हुए चित्र, अल्पना तथा रखे हुए द्रव्य का निर्देश करना चाहिए। इसी मुद्रा से अर्थात् स्वस्तिक की विच्युति करके
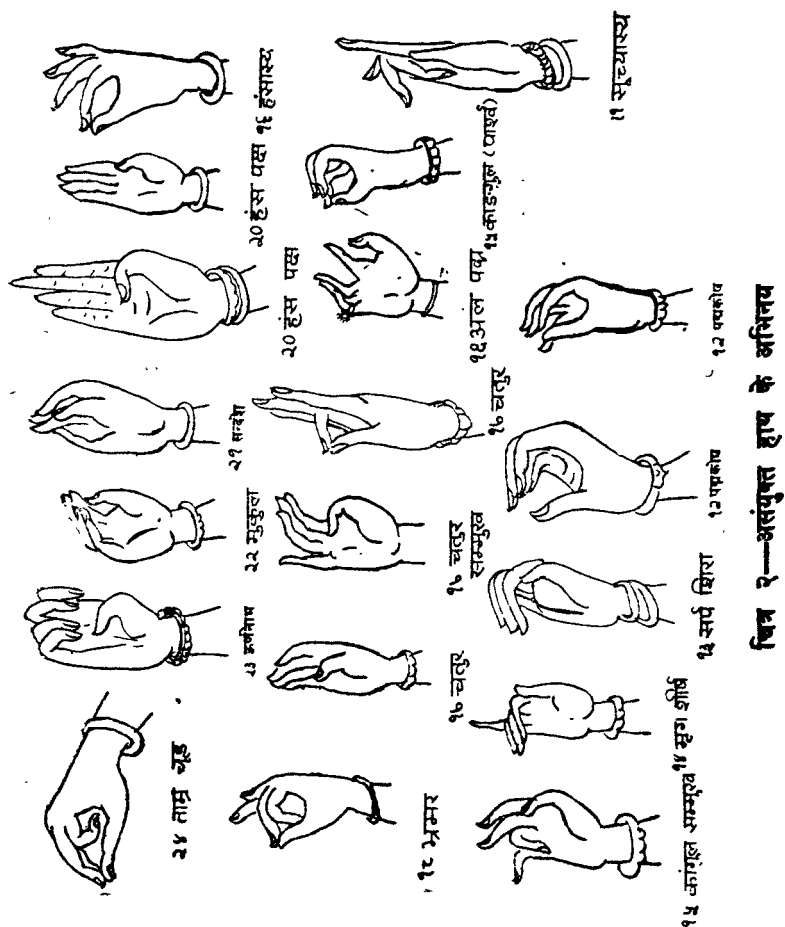
और मुख नीचे करके संवृत, विवृत, पाल्य (रक्षणीय), छन्न, निविड और गोप्य अर्थात् ढके हुए, घने और छिपे हुए पदार्थ का अभिनय करना चाहिए। इसी को उलटकर नीचे करके प्रस्थित अर्थात् चंचल और उत्थित अर्थात् ऊपर को उठे हुए हाथ की गतियों से वायु, लहर का वेग, समुद्र की वेला का क्षोभ और नदी की बाढ़ का अभिनय करना चाहिए। रेचक और करण के साथ इसका प्रयोग दूसरों को उत्साहित करने,

किसी सत्पुरुष का अभिनय करने, उन्नत या ऊँचा स्थान दिखाने, पक्षियों के लिए, ऊपर उछलने या उड़ने के लिए करना चाहिए। एक हाथ उलटकर उस पर दूसरे हाथ की पताक मुद्रा को रगड़कर दिखाने से माँजने, धोने, मलने, पीसने, पहाड़ धारण करने और उद्घाटन (खोलने या उघाड़ने) का अभिनय करना चाहिए। पताक की मुद्रा वाले हस्त से स्त्री या पुरुष दोनों सैकड़ों-सहस्रों प्रकार के अभिनय कर सकते हैं।

अभिनयदर्पणकार ने इस मुद्रा से नाट्य का आरम्भ, बादल, जंगल, निषेध करना, स्तन, रात्रि, नदी, देवलोक, अश्व, काटना, वायु, शयन, गमनोद्यम (जाने का प्रयत्न), प्रताप, प्रसन्नता (कृपा), चाँदनी, तीव्र धूप, वेग से किवाड़ खोलना, सातों विभक्तियाँ, लहर, सड़क या गली पर निकलना, समानता, अपने शरीर पर अंगराग लगाना, शपथ लेना, शान्ति, ताड़पत्र, ढाल, द्रव्यादि का स्पर्श, आशीर्वाद, आदर्श राजा, स्थान का निर्देश, जहाँ-तहाँ कहना, समुद्र, पुण्य कार्यों की श्रेणी, सम्बोधन, आगे बढ़ना, खड्ग ग्रहण करना, मास, वर्ष, वर्षा का दिन और झाड़ू देना आदि क्रियाओं का निर्देश बतलाया है।

२. त्रिपताक

जब पताक में अनामिका उँगली के अगले दो पोर हथेली की ओर घुमा दिये जाते हैं तो उसे त्रिपताक कहते हैं। इस मुद्रा से आवाहन, अवतरण, विसर्जन (विदा करना), वारण (रोकना), प्रवेश, उन्नमन (ऊपर उठाना), प्रणाम, निदर्शन (सम्मान-प्रदर्शन), विविध वचन कहने, मंगल द्रव्यों का सिर से स्पर्श और सन्निवेश (रखने), उष्णीष (पगड़ी) या मुकुट धारण करने तथा नाक, मुख और कान ढकने का निर्देश किया जाता है। इसी मुद्रा में दोनों हाथ नीचे करके उँगलियों को प्रस्थित, उत्थित तथा चल गति से चलाकर छोटे पक्षी के नीचे उड़कर आने, स्रोत के बहने, सर्प के चलने और भ्रमर आदि के उड़ने का अभिनय किया जाता है। त्रिपताक की अनामिका से आँसू पोंछना, तिलक लगाना, रोचना या टीका लगाना तथा अलकों का स्पर्श दिखाया जाता है। स्वस्तिक और त्रिपताक का प्रयोग गुरुओं के चरण-वन्दन एवं विवाह-दर्शन में दोनों हाथों के पंजे मिलाकर करना चाहिए। राजा के दर्शन में चलित अवस्था में दोनों हाथ नीचे धरती पर रखने चाहिए। ग्रह-दर्शन में तिरछा स्वस्तिक बनाकर, तपस्वी के दर्शन में दोनों हाथ उलटकर ऊपर उठाकर, द्वार-दर्शन में परस्पर आमने-सामने हाथ रखकर और बड़वानल, संग्राम, मकरों का दर्शन, बन्दरों की उछल-कूद, लहर, पवन और स्त्रियों का नाट्य करने के लिए मुख के आगे हाथ रखकर उत्तान और अधोमुख करके नाट्य करना चाहिए। बालचन्द्र के दर्शन के लिए

सामने अँगूठा फैलाकर और यान के लिए पीछे की ओर अँगूठा करके अभिनय करना चाहिए।

अभिनयदर्पणकार ने इस मुद्रा का प्रयोग मुकुट, वृक्ष, वज्र, इन्द्र, केतकी का फूल, दीपक, लपट, कपोत (कपोल), मुख या छाती पर बनी हुई चित्रकारी (पत्र-लेखा), बाण और पीछे घूमने के लिए करने का निर्देश दिया है।

अर्धपताक (५७)

अभिनयदर्पणकार ने त्रिपताक के पश्चात् अर्धपताक मुद्रा का विवरण देते हुए उसका लक्षण यह बताया है कि त्रिपताक की कनिष्ठ उँगली नीचे झुकाकर अर्धपताक
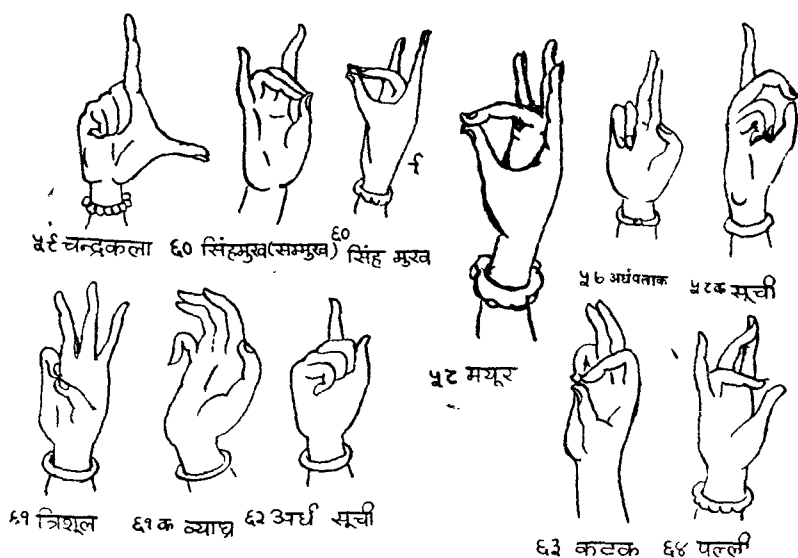
चित्र ३—असंयुक्त हाथ के अभिनय

बना दिया जाता है। इसका प्रयोग पत्ते, लेखपट्ट, चित्रफलक, नदीतट, दोनों व्यक्तियों का निर्देश करने, आरा, छुरी, ध्वज, गोपुर, शृंग (शिखर) के लिए होता है।

३. कर्तरीमुख

जब त्रिपताक की मुद्रा में तर्जनी उँगली मध्यमा के पीछे उठी दिखाई पड़े तब कर्तरीमुख मुद्रा होती है। इसका प्रयोग नीचे मुँह करके मार्ग दिखाने, चरणों पर

चित्र-रचना करने, मेंहदी या महावर से रँगने और कुंकुम आदि से शृंगार करने के लिए होता है। इसी को ऊर्ध्वमुख करके दशन (काटना), सींग और लेख बाँचने का अभिनय करना चाहिए। भेदन और वलन (चक्कर) के साथ उँगली से बने हुए मुख से कर्तरीमुख मुद्रा द्वारा पतन, मरण, व्यतिक्रम (अपराध), परिवृत्त (रुष्ट या पराङ-मुख), वितर्कित (सोच-विचार) तथा न्यस्त (रखने) का अभिनय करना चाहिए। रुरु मृग, चामर मृग (चँवरी गाय), भैंसा, सुरगज, वृष (बैल), गोपुर और शैलशिखरों का निर्देश करने में संयुक्त या असंयुक्त दोनों हाथों का प्रयोग किया जा सकता है।

अभिनयदर्पण में कर्तरीमुख का यह लक्षण बताया गया है कि अर्धपताक वाले हस्त की तर्जनी और कनिष्ठिका दोनों बाहर की ओर फैला दी जायँ तब कर्तरीमुख होती है। इसका प्रयोग पुरुष या स्त्री का वियोग, उलटना, विरोध करना, लूटना, आँख की कोर, मृत्यु, भेदभाव, बिजली, विरह में अकेले सोना, गिरना हो तब और लता के लिए होता है।

मयूर (५८)

अभिनयदर्पण में कर्तरीमुख के पश्चात् मयूर मुद्रा का विवरण देकर बताया है कि जब कर्तरीमुख की अनामिका उँगली अँगूठे से मिला दी जाय और अन्य उँगलियाँ फैली रहें तब वह मयूर मुद्रा होती है। इस मुद्रा के द्वारा मोर की ग्रीवा, लता, चिड़ियाँ, वमन (उगलना), बाल काटना, माथे पर तिलक की रचना करना, नदी के जल को उछालना या विक्षुब्ध करना, शास्त्र-विचार करना और प्रसिद्ध वस्तु का निर्देश करना आदि दिखाया जाता है।

४. अर्धचन्द्र

जब सब उँगलियाँ मिलाकर एक ओर फैला दी जायें और अँगूठा दूसरी ओर फैला-कर धनुष के समान फैला दिया जाय, उसे अर्धचन्द्र या कर्मास्य कहते हैं। इस मुद्रा का छोटे पौधे, शशि-लेखा, शंख, कलश, वलय (कड़ा या चूड़ी), निर्घाटन (धक्का देकर निकालना), आयस्त (थकावट), मध्य (पेट या कमर), दुबलापन और पीन (मोटापन), रसना (तगड़ी), जघन, कटि, मुख, तलपत्र (आभूषण, जिसे दन्त-पत्र कहते हैं) और कुण्डल आदि का अभिनय करने में विशेष कर स्त्रियों के अभिनय में प्रयोग करना चाहिए।

अभिनयदर्पणकार ने बताया है कि जब पताक का अँगूठा फैला दिया जाय तो वही अर्धचन्द्र होता है और उसका प्रयोग कृष्ण पक्ष की अष्टमी के चन्द्रमा की कला, किसी का

गला टीपना, भाला, देवताओं का अभिषेक, भोजन की थाली, उद्भव (उत्पत्ति), कटि, चिन्ता, आत्मता (स्वयं अपने आप), ध्यान, प्रार्थना, अंगों का स्पर्श और साधारण लोगों का नमस्कार निर्देश करने के लिए होता है।

५. अराल

जब तर्जनी धनुष के समान झुका दी जाय और अँगूठा कुंचित हो तथा शेष उँगलियाँ अलग-अलग ऊपर की ओर उठी हुई वलित हों, वह अराल मुद्रा कहलाती है। इसका प्रयोग सत्त्व या स्थिरता, गर्व, उत्साह, शोभा, धैर्य, आकाश-स्थिति, वस्तु-गम्भीरता, आशीर्वाद तथा अन्य सुख या हितकर भावों के अभिनय में करना चाहिए। इसी मुद्रा से स्त्रियों के बालों की चोटी गूँथना, उत्कर्ष और अपने सब अंगों को देखने का निर्देश करना चाहिए। उँगलियों के प्रदक्षिण अर्थात् दोनों हाथों की उँगलियों को स्वस्तिक के आकार में लाकर घुमाने से कौतुक और विवाह-योग दिखाना चाहिए और उँगलियों के अग्रभाग को स्वस्तिक के योग में मिलाकर घुमाने से सम्प्रयोग (मिलन) दिखाना चाहिए। इसी प्रकार देवताओं की प्रदक्षिणा, गोल वस्तु, जनसमूह तथा पृथ्वी पर बने अल्पना आदि द्रव्यों का अभिनय करना चाहिए। इसके अतिरिक्त आह्वान (बुलाना या आवाहन), निवारण (रोकना), निन्दा, आक्षेप आदि के अनेक वचन कहने, पसीना पोंछने, गन्ध सूँघने और शुभ कार्य के लिए इस मुद्रा का प्रयोग करना चाहिए। ऊपर त्रिपताक हस्त के जितने क्रम बताये गये हैं उनको अराल के योग से अभिनय करना स्त्रियों के लिए ठीक बताया गया है।

अभिनयदर्पणकार ने अराल का लक्षण बताया है कि जब पताक की तर्जनी टेढ़ी कर दी जाय वही अराल मुद्रा होती है। इसका प्रयोग विष पीने, अमृत पीने और प्रचण्ड पवन के निर्देश के लिए किया जाता है।

६. शुकतुण्ड (तोते की चोंच)

जब अराल मुद्रा की अनामिका उँगली टेढ़ी कर दी जाती है, वह शुकतुण्ड मुद्रा हो जाती है। इसका प्रयोग 'मैं नहीं हूँ, न तुम हो या यह नहीं करना चाहिए' ऐसा कहने में, आवाहन, विसर्जन, धिक्कार और अपमान के अर्थ में करना चाहिए।

अभिनयदर्पण में इसका लक्षण बताया गया है कि जब अराल की अनामिका उँगली झुका दी जाय, उसे शुक-तुण्ड कहते हैं। इसका प्रयोग बाण या भाला चलाने, अपना निवास स्मरण करने, रहस्यमय बातें कहने और उग्र भावों के लिए किया जाता है।

७. मुष्टि (मुट्ठी)

जब हाथ की सब उँगलियाँ हथेली के बीच में मोड़ दी जाती हैं और उनके ऊपर अँगूठा चढ़ा दिया जाता है, उसे मुष्टि कहते हैं। इसका प्रयोग प्रहार करने, व्यायाम करने, निर्गम, पीडन (गाय-भैंस दुहने या स्तन-मर्दन करने), संवाहन (मिट्टी रौंदने या चंपी करने), तलवार या डण्डे की मूठ पकड़ने अथवा लाठी और भाला पकड़ने तथा लाठी और भाले से मार करने और मार्जन करने में होता है।

अभिनयदर्पणकार ने लक्षण तो यही दिया है किन्तु इसका प्रयोग स्थिरता, किसी के बाल पकड़ने, दृढ़ता, वस्तु आदि धारण करने और मल्लों के युद्ध-भाव प्रदर्शन के लिए बताया है।

८. शिखर

जब मुष्टि मुद्रा का अँगूठा ऊपर सीधा खड़ा कर दिया जाता है, उसे शिखर कहते हैं। इसका प्रयोग किरण, कुश, अंकुश, घोड़े या बैल की रास तथा धनुष आदि ग्रहण करने में, तोमर और शक्ति चलाने में, अधर, ओष्ठ और पैर रँगने में, बाल ऊपर फेंकने में किया जाता है।

अभिनयदर्पणकार ने शिखर का प्रयोग कामदेव, धनुष, स्तम्भ, निश्चय, पितृ-कर्म, ओष्ठ, किसी के प्रवेश, दाँत, प्रश्न, लिंग, 'नहीं' कहने, स्मरण, पास के अभिनय, पेटी या तगड़ी खींचने, गले लगाने और घण्टे के स्वर के अर्थ में करना बताया है।

९. कपित्थ

शिखर मुद्रा के अँगूठे के ऊपर जब तर्जनी उँगली टेढ़ी कर दी जाय, उसे कपित्थ कहते हैं। इसका प्रयोग तलवार, धनुष, चक्र, तोमर, भाला, गदा, शक्ति और वज्र का अभिनय करने में होता है।

अभिनयदर्पणकार ने कपित्थ का लक्षण तो यही दिया है कि जब तर्जनी उँगली शिखर मुद्रा के अँगूठे के ऊपर घुमा दी जाय, उसे कपित्थ कहते हैं। किन्तु उसका प्रयोग लक्ष्मी, सरस्वती, मदिरा ग्रहण करने, गौ दुहने, अंजन लगाने, खेल के लिए फूल पकड़ने, वस्त्र का छोर ग्रहण करने, कपड़ा समेटने या घूँघट निकालने और धूप-दीप से पूजा करने के लिए बताया है।

१०. खटकामुख (कटकामुख)

जब अनामिका के साथ-साथ कनिष्ठिका उँगली भी ऊपर उठाकर टेढ़ी कर दी जाय

तब इसी कपित्थ मुद्रा से खटकामुख बन जाती है। इसका प्रयोग होत्र, हव्य, छत्र, रास खींचना, पंखा करना, दर्पण उठाना, तोड़ना, कुंकुम आदि पीसना, बड़े दण्ड या काष्ठ आदि को ग्रहण करना, मोतियों की लम्बी माला समेटना, माला, रस्सी, पुष्प-माला आदि लटकाना, मथना, मथने के बरतनों को खींचना, पुष्प फेंकना, प्रेरणा देना, अंकुश, रस्सी, आकर्षण (खेल में बाल खींचना) तथा स्त्री-दर्शन, इन सबमें होता है।

अभिनयदर्पणकार ने इसका लक्षण यह दिया है कि जब कपित्थ हस्त-मुद्रा में तर्जनी और मध्यमा अँगूठे के साथ ऊपर उठी हुई हों उसे कटकामुख कहते हैं। इसका प्रयोग फूल चुनने, मोती या फूलों की माला ऊपर उठाने, धनुष को बीच में से पकड़कर खींचने, पान देने, चन्दन और कस्तूरी को पीसकर लगाने, किसी वस्तु को सुगन्धित करने, बोलने और देखने के लिए होता है।

भरत ने इस मुद्रा को खटकामुख और अभिनयदर्पणकार ने कटकामुख कहा है। किन्तु खटक का अर्थ टीकाकार ने भी स्पष्ट नहीं दिया है। अभिनयदर्पणकार ने अना-मिका के बदले मध्यमा उँगली की बात कही है और कटकामुख का अर्थ भी स्पष्ट किया है—कड़े या कंगन का मुख।

११. सूची या सूचीमुख या सूच्यास्य

जब कटकामुख की मुद्रा में तर्जनी फैला दी जाती है तो उसे सूचीमुख कहते हैं। इसके द्वारा ऊपर, झुके हुए, चंचल (इधर से उधर झूलते हुए), कम्पित, सिकुड़ते-फैलते हुए, ऊपर जाते हुए और चंचल का अभिनय होता है। इसके अतिरिक्त चक्र, बिजली, पताका, मंजरी, कर्णपूर, कुटिल गति से चलने वाली मछली, साधुवाद, छोटे साँप, लता, धुआँ, दीप, बालकों के बाल गिरना, टेढ़ापन, गोल तथा ऊपर झूलने आदि का अभिनय भी इसी से करना चाहिए। ऊपर बने हुए तारा आदि, नाक, दण्ड, छड़ी या लाठी के लिए ऊपर उँगली उठाकर अभिनय करना चाहिए तथा जबड़े वाले राक्षस आदि नीचे उँगली करके दिखाने चाहिए। मण्डल-गति से सबका ग्रहण तथा लोक का ग्रहण दिखाना चाहिए। दिन का बड़ापन तर्जनी को झुकाकर और उन्नत करके दिखाना और मुख के अभ्यास तथा वाक् स्पष्ट करने के लिए इसे सिकोड़कर फैलाना चाहिए, अथवा श्रवण के अभ्यास और वाक्रूपण के अवसर पर इसे टेढ़ा कर लेना चाहिए। इसी प्रकार 'ऐसा मत कहो' का भाव समझाने के लिए इसे फैलाकर, कँपाकर उत्तान कर लेना चाहिए। प्रकम्पिता तर्जनी का प्रयोग क्रोध-प्रदर्शन, पसीना, बाल, कुण्डल, अंगद (भुजबन्ध) और गाल पर हाथ रखकर अभिनय करने के लिए होना चाहिए। अहंकार, शत्रु के निर्देश, ललाट, क्रोध, 'कौन है' यह निर्देश

और कान खुजलाने में इसका प्रयोग करना चाहिए। संयोग में संयुक्त करके, वियोग में अलग करके, कलह में स्वस्तिक बनाकर, बन्ध में परस्पर एक दूसरे को दबाकर और दिन तथा रात्रि के अवसान में क्रमशः बायें और दक्षिण की ओर प्रयोग करके और वियोग की अवस्था में सामने की ओर उलटकर अभिनय करना चाहिए। सम्पूर्ण चन्द्रमण्डल को दोनों के द्वारा प्रदर्शित करना चाहिए। दोनों को मिलाकर उत्तान के सहारे माथे पर चक्र की मुद्रा प्रदर्शित करनी चाहिए। चन्द्रमण्डल को चक्र से घुमाकर प्रदर्शित करना चाहिए। शिव के नेत्र और इन्द्र के ललाट के लिए तिरछा और उत्तान करके प्रदर्शित करना चाहिए। रूप, शिला, आवर्त (भँवर), यन्त्र, शैल और परिवेष (सूर्य-चन्द्र के चारों ओर पड़े हुए मण्डल) को नीचे मुख करके दिखाना चाहिए। शम्भु का रूपण करने के लिए मिलाकर माथे पर नीचे की ओर करके और इन्द्र के लिए उत्तान करके तिरछे रखकर दिखाना चाहिए।

अभिनयदर्पणकार ने इस मुद्रा का नाम सूची दिया है और यह लक्षण बताया है कि जब कटकामुख की मुद्रा में तर्जनी ऊपर उठा ली जाय, उसे सूची कहते हैं। इसका प्रयोग एक संख्या, परब्रह्म, सौ, सूर्य, नगरी, संसार, 'वैसा कहना', 'जो' कहना, निर्जनता, तर्जन, दुर्बलता, सलाई, शरीर, आश्चर्य, जूड़ा, छत्र, समर्थता, हाथ, रोमावली, भेरी बजाना, कुम्हार का चाक चलना, पहिया चलना, विवेचन और सन्ध्या, इन के लिए निर्दिष्ट किया है।

चन्द्रकला (५९)

अभिनयदर्पणकार ने कटकामुख के पश्चात् चन्द्रकला मुद्रा का विवरण देते हुए कहा है कि जब सूची मुद्रा में अँगूठा खोल दिया जाता है तब चन्द्रकला मुद्रा हो जाती है। इसका प्रयोग चन्द्रमा, मुख, प्रादेश (बालिश्त), अर्धचन्द्र के आकार की वस्तुओं, शिवजी के मुकुट, गंगाजी और लगुड (गोल मूठ वाली छड़ी) के लिए होता है।

१२. पद्मकोष

जब सब उँगलियों को अलग-अलग अँगूठे के साथ सिकोड़कर ऊपर उनके सिरे इकट्ठे कर दिये जायँ किन्तु उँगलियों के सिरे एक दूसरे को न छुएँ, उसे पद्मकोष कहते हैं। इसका प्रयोग बेल और कपित्थ के फल ग्रहण करने में, स्त्रियों के कुच-दर्शन में होता है। किसी वस्तु को ग्रहण करने अथवा मांस-लाभ में ये उँगलियाँ कुंचित हो जाती हैं। बहुत जाति के नीबू और मांस-खण्ड का इससे निर्देश होता है। देवताओं की अर्चना, बलिहरण अर्थात् बलि देने, पिंडदान, फूलों के समूह या गुच्छे का अभिनय पद्मकोष

से करना चाहिए। कलाई से अलग हाथ करके उँगलियाँ फैलाकर और चंचल करते हुए उनको विर्वतित करके खिले हुए कमल का अभिनय करना चाहिए।

अभिनयदर्पणकार ने इसका लक्षण बताते हुए कहा है कि जब उँगलियाँ अलग-अलग करके झुका दी जायँ और हथेली खोखली कर दी जाय, उसे पद्मकोष कहते हैं। इस मुद्रा से बिल्व और कपित्थ आदि फल, स्त्री के गोल स्तन, भँवर, गेंद, पतीली, भोजन, फूल की कली, आम, फूल बिखेरना, फूलों का गुच्छा, जपा या गुड़हल के फूल, घण्टा, बाँबी, कमल और अण्डे का निरूपण करना चाहिए।

१३. सर्पशिर या सर्पशीर्ष (साँप का फन)

जब सब उँगलियाँ मिलाकर अँगूठे के साथ कुछ झुका दी जायँ और हथेली गहरी कर दी जाय उसे सर्पशिर कहते हैं, अर्थात् जब हाथ साँप के फन के समान बन जाय उसे सर्पशिर कहते हैं। जल देने, साँप की गति दिखाने, जल सींचने, मल्लयुद्ध में ताल ठोंकने और हाथी के मस्तक तथा आत्मश्लाघा या संघर्ष आदि में इसका प्रयोग करना चाहिए।

अभिनयदर्पणकार ने इसका लक्षण तो यही बताया है किन्तु कहा है कि चन्दन, सर्प, मन्द स्वर, जल छिड़कने, पोषण करने, देवताओं को तर्पण में जल देने, हाथी के मस्तक के इधर-उधर संचालन और मल्लों की भुजाओं के लिए इसका प्रयोग करना चाहिए।

१४. मृगशीर्ष

जब सब उँगलियों को नीचे मुंह करके मिला दिया जाय और कनिष्ठिका तथा अँगूठा ऊपर रहे उसे मृगशीर्ष कहते हैं। इसका प्रयोग शक्ति, उल्लास, पासा गिराने, पसीना पोंछने और स्त्रियों के कुट्टमित हाव में होता है।

अभिनयदर्पण में इसका लक्षण यह बताया गया है कि जब अँगूठा और कनिष्ठिका सर्पशीर्ष की मुद्रा में फैला दी जाती हैं तब मृगशीर्ष हो जाता है। इसका प्रयोग स्त्री, कपोल, पहिया, सीमा, भय, कलह, नेपथ्य या शृंगार, आह्वान, त्रिपुण्ड, मृगमुख, वल्लकी (वीणा), पैरों की चंपी, सर्वस्व ले लेना, काम-मन्दिर, छत्र धारण करना, चलना और अपनी स्त्री या प्रिय को बुलाने का निर्देश करना, इनमें होता है।

सिंहमुख (६०)

जब मध्यमा और अनामिका को अँगूठे तक रखा जाता है और शेष उंगलियाँ फैला दी जाती हैं तब सिंहमुख मुद्रा होती है। यह मुद्रा भरत के नाट्यशास्त्र में नहीं

है, अभिनयदर्पण में है। इसका प्रयोग होम, खरहा, हाथी, हिलती हुई कुशा, कमल की माला, सिंह के मुख, वैद्यों द्वारा औषध के निर्माण और शोधन के लिए होता है।

१५. कांगुल

आहवनीय आदि त्रेता अग्नियों के कुण्ड के समान जब मध्यमा, तर्जनी, और अंगुष्ठ रहता है और अनामिका टेढ़ी हो जाती है तथा कनिष्ठिका ऊपर हो जाती है, उसे कांगुल कहते हैं। इस मुद्रा से नये फल, अनेक प्रकार के छोटे-छोटे मिट्टी के पिण्ड या गोलियाँ और उँगली चमका-चमकाकर स्त्रियों के क्रोधपूर्ण वचनों का अभिनय करना चाहिए। इसी मुद्रा से मरकत और वैदूर्य आदि रत्न, फूल और बिलाव के पैर का अभिनय करना चाहिए।

अभिनयदर्पण में इसका लक्षण यह बताया गया है कि जब पद्मकोष में अनामिका उँगली मोड़ दी जाय तब कांगुल मुद्रा होती है। इस मुद्रा से लकुच (लुकाट) फल, बच्चों की किंकिणी, घण्टियाँ, चकोर, सुपारी के वृक्ष, बाला के स्तन, श्वेत कह्लार, चातक और नारियल का निर्देश करना चाहिए।

१६. अलपल्लव या अलपद्म

जब उँगलियाँ हथेली की ओर बिना एक दूसरी को स्पर्श किये घुमा दी जाती हैं, उसे अलपद्म या अलपल्लव कहते हैं। यह मुद्रा कमर पर ही दिखायी जाती है और उँगलियाँ इस प्रकार घुमायी जाती हैं कि उँगलियों के नख बराबर दर्शकों को दिखाई देते रहें। किसी को किसी काम करने से रोकने में, 'तुम, किसके हो', या 'नहीं है', आदि शून्य वचनों में, अपने प्रति तथा विस्मय में इस मुद्रा का प्रयोग स्त्रियों को करना चाहिए।

अभिनयदर्पण में इसका लक्षण यह बताया गया है कि जब कनिष्ठिका उँगली से लेकर शेष सब उँगलियाँ टेढ़ी कर दी जायँ और अलग रहें उसे अलपद्म कहते हैं। इसका प्रयोग खिले हुए कमल, कपित्थ आदि फल, भँवर या चक्करदार गति, स्तन, विरह, दर्पण, पूर्ण चन्द्र, सौन्दर्य, जूड़ा, चन्द्रशाला, गाँव, ऊँचाई, क्रोध, झील, गाड़ी, चकवा, कलकल ध्वनि और प्रशंसा में किया जाता है।

१७. चतुर

जब कनिष्ठिका उँगली ऊपर उठी हुई हो और अनामिका, मध्यमा और तर्जनी फैली हुई और उसके बीच में अँगूठा स्थित हो, उसे चतुर मुद्रा कहते हैं। इसका प्रयोग नीति,

विनय, नियम, चतुर, बाला, रोगी, शक्ति तथा कैतव या छल के अर्थों में और उचित, सत्य और तथ्य वाक्य में तथा शान्ति में होता है।

अभिनयदर्पण में इसका लक्षण बताया गया है कि जब अँगूठा अनामिका के मूल में स्थित हो और तर्जनी तथा मध्यमा आदि उँगलियाँ एक दूसरे से सटी हुई और कनिष्ठिका बाहर निकली हुई हो, उसे चतुर मुद्रा कहते हैं। इसका प्रयोग कस्तूरी, कुछ थोड़ा, स्वर्ण, ताँबा, लोहा, भीगा, दुःख, रसास्वादन, नेत्र, वर्णभेद, प्रमाण, सरसता, मन्द गति, खण्ड-खण्ड करना, मुख, घृत या तेल इनके लिए किया जाता है।

भरत ने नाट्यशास्त्र में कहा है कि एक या दोनों हाथों से इस मुद्रा को कुछ गोलाकार करके विवृत अर्थात् खोलना, सोचना, करना, तर्क करना और लज्जा करना प्रदर्शित किया जाता है और दोनों हाथों से चतुर मुद्रा में नयनों की उपमा, पद्म दल का प्रदर्शन और हरिण के कान का निर्देश किया जाता है। इसी चतुर मुद्रा से लीला, रति, रुचि, स्मृति, बुद्धि, ऊहापोह, क्षमा, पुष्टि, संज्ञा (चेतना की मात्रा), प्रणय, विचार, संगति, शौच, चतुरता, मधुरता, दाक्षिण्य, मृदुता, सुख, शील, प्रश्न, वार्ता की युक्ति, वेष, कोमल तृण, थोड़ी वस्तु, विभव, दारिद्रय, सुरति, गुण, अवगुण, यौवन, गृह, स्त्रियों और अनेक वर्णों का प्रदर्शन किया जा सकता है। इसी चतुर हस्तमुद्रा को ऊपर उठाकर श्वेत रंग का, गोलाकार बनाकर रक्त और पीत रंग का तथा रगड़कर नील वर्ण का अभिनय किया जाता है।

१८. भ्रमर

जब अँगूठा तो अनामिका के मूल में हो और तर्जनी टेढ़ी हो, मध्यमा और अंगुष्ठ एक दूसरे में फँसे हों तथा अन्य दोनों उँगलियाँ ऊपर को फैली हुई हों, उसे भ्रमर कहते हैं। इसे कमल, उत्पल, कुमुद तथा अन्य लम्बी नाल वाले फूलों के ग्रहण के लिए प्रयोग में लाना चाहिए और इसी का प्रयोग कर्णपूर के लिए भी होना चाहिए। शब्द के साथ विच्युत मुद्रा में अर्थात् नीचे हाथ करके भर्त्सना आदि अर्थात् डाँट-फटकार में, बच्चों की तुतलाहट की बातचीत में, शीघ्रता में, ताल में और विश्वासन में इसका प्रयोग करना चाहिए।

अभिनयदर्पण में भी भ्रमर मुद्रा का यह लक्षण दिया गया है कि जब अँगूठा और मध्यमा एक दूसरे को स्पर्श करती हों, तर्जनी मुड़ी हो और शेष उँगलियाँ फैली हुई हों, उसे भ्रमर कहते हैं। भौंरा, शुक, पंख, सारस, कोयल और अन्य वैसे ही पक्षियों के लिए इसे प्रयोग में लाना चाहिए।

१९. हंसमुख या हंसास्य

जब तर्जनी, मध्यमा और अंगुष्ठ ये सब त्रेताग्नि के रूप में स्थित हों अर्थात् कुण्ड के समान बन जायँ और शेष दोनों उँगलियाँ फैली हुई रहें वह हंसमुख मुद्रा होती है। इसका प्रयोग श्लक्ष्ण (दुर्बल), थोड़ा, ढीला, हलका, निःसार, कोमलता, इनके लिए कुछ उँगलियों का अग्रभाग कँपाकर करना चाहिए।

अभिनयदर्पण में इसका लक्षण यह लिखा है कि जब मध्यमा, अनामिका और कनिष्ठिका अलग-अलग करके फैला दी गयी हों और तर्जनी अँगूठे के साथ हो, तब हंसास्य होता है। इसका प्रयोग मंगल कार्य, डोरी से बाँधने, उपदेश के निश्चय, रोमांच, मोती की माला, दिये की बत्ती आगे बढ़ाने, कसौटी, मल्लिका फूल, चित्र, चित्र-रचना, दंशन या काटने और पानी का बाँध बनाने में होता है।

२०. हंसपक्ष

जब अँगूठा मुड़ा हुआ हो, कनिष्ठिका उँगली ऊपर उठी हुई हो और शेष तीनों उँगलियाँ फैली हुई हों, उसे हंसपक्ष कहते हैं। तर्पण के लिए जल देने में, गाल से हाथ लगाकर बैठने में, दान ग्रहण करने में, आचमन में, ब्राह्मण-भोजन में, आलिंगन, महास्तम्भ के दर्शन, रोमहर्षण, स्पर्श, अनुलेपन, संवाहन, स्त्रियों के हृदय पर बने हुए चित्र आदि का निर्देश करने में, दुःख में, ठोड़ी पकड़कर बैठने में, रस के अनुसार इसका प्रयोग करना चाहिए।

अभिनयदर्पण में इसका लक्षण यह दिया हुआ है कि जब सर्पशीर्ष की कनिष्ठिका उँगली फैला दी जाती है तब वह मुद्रा हंसपक्ष कहलाती है। इसका प्रयोग छः संख्या, पुल के निर्माण, नखों के रँगने, कुछ ढँकने या ध्यान के लिए होता है।

२१. संदंश (संडासी)

जब अराल मुद्रा में तर्जनी और अंगुष्ठ को मिला दिया जाता है और हथेली का बीच का भाग आभुग्न होता है, वह संदंश मुद्रा कहलाती है। यह संदंश मुद्रा रस और भाव के अनुसार तीन प्रकार की होती है—अग्रज, मुखज और पार्श्वगत। फूल बिखेरने और गूँथने तथा घास-पात, केश और सूत्र ग्रहण करने, काँटे आदि ग्रहण करने और खींचने में अग्र संदंश का प्रयोग होता है। डाल से फूल उतारने, बत्ती और सलाई आदि पूरने और धिक्कार के वचन क्रोध में कहने के लिए मुखज संदंश का प्रयोग होता है। यज्ञोपवीत धारण करने, मोतियों को बेधने, डोरी और सूक्ष्म बाण के लक्ष्य करने, योग-ध्यान और कुछ थोड़ा प्रदर्शित करने में दोनों हाथों का प्रयोग करना चाहिए।

निरर्थक, बुरे, फूहड़ और ईर्ष्या से भरे निन्दा के वचन कहने में बायें हाथ का अगला भाग कुछ आगे घुमाकर पार्श्व-संदंश का प्रयोग करना चाहिए। इस मुद्रा से स्त्रियों को चित्रकारी, आँख में अंजन लगाना, चिन्ता, वृक्षों की टहनियों या कोमल पत्तों से रचना, आल्ता निकालना आदि कार्य करने चाहिएँ।

अभिनयदर्पण में बताया गया है कि पद्मकोष में उँगलियाँ एक दूसरी के पास वेग से मिलाने और अलग करने की मुद्रा को संदंश कहते हैं। इसका प्रयोग उदर, देवताओं को बलि, घाव, पीड़ा, बहुत भय, पूजा और पाँच संख्या का निर्देश करने के लिए होता है।

२२. मुकुल

जब सब उँगलियाँ ऊपर उठाकर उनके अगले भाग इकट्ठे कर दिये जाते हैं तब यह ऊपर उठा हुआ हंसमुख ही मुकुल कहलाता है। इसका प्रयोग देवार्चन, बलि, पद्म और उत्पल की कली के प्रदर्शन, विट के चुम्बन आदि विकुत्सित में विप्रकीर्ण रूप से करना चाहिए। भोजन, स्वर्ण, गणना, मुख, संकोच, प्रदान, शीघ्रता और मुकुलित फूलों के लिए इसका प्रयोग करना चाहिए।

अभिनयदर्पण में बताया गया है कि जब पाँचों उँगलियाँ मिला दी जायँ तब मुकुल मुद्रा होती है। इसका प्रयोग कुमुद, भोजन, कामदेव, मुद्रा आदि धारण, नाभि और केले के गोफ के लिए किया जाता है।

२३. ऊर्णनाभ (मकड़ी)

जब पद्मकोष मुद्रा की उँगली सिकोड़ ली जाती है तब ऊर्णनाभ मुद्रा बन जाती है। इसका प्रयोग केश तथा दूसरे की चोरी पकड़ने में, सिर खुजलाने में, कोढ़ रोग प्रदर्शित करने में, सिंह और व्याघ्र का अभिनय करने में और पत्थर ग्रहण करने में होता है।

अभिनयदर्पणकार ने इस मुद्रा का उल्लेख नहीं किया है।

२४. ताम्रचूड

जब मध्यमा उँगली और अँगूठा मिला दिया जाता है, तर्जनी टेढ़ी कर दी जाती है और शेष उँगलियाँ हथेली पर रख दी जाती हैं तब यह मुद्रा ताम्रचूड कहलाती है। डाँट-फटकार के लिए, शब्द के साथ नीचे लिटाने तथा ताल, विश्वास और शीघ्रता के अर्थ में इसका प्रयोग करना चाहिए। इसी मुद्रा का प्रयोग कला, काष्ठा, निमेष, क्षण, बच्चों की बोली और निमन्त्रण में करना चाहिए।

भरत ने इसका दूसरा लक्षण यह दिया है कि जब सब उँगलियाँ इकट्ठी करके टेढ़ी कर ली जायँ और ऊपर अँगूठे से दबाकर केवल कनिष्ठा फैला दी जाय, वह ताम्रचूड मुद्रा होती है। इस मुद्रा के द्वारा सौ, सहस्र या लाख स्वर्णमुद्राओं का प्रदर्शन होता है और वेग से चलायी गयी उँगलियों से चिनगारियों और विप्रुष का।

अभिनयदर्पण में इसका लक्षण यह बताया गया है कि यदि मुकुल में तर्जनी घुमा दी जाय तो ताम्रचूड बन जाता है। इसका प्रयोग मुर्गा (कुक्कुट), सारस, कौवा, ऊँट, बछड़ा और कलम का निर्देश करने के लिए होता है।

त्रिशूल (६१)

भरत ने त्रिशूल मुद्रा का उल्लेख नहीं किया है। अभिनयदर्पण में त्रिशूल का लक्षण यह बताया है कि जब अँगूठा और कनिष्ठिका मोड़ दी जाय तब त्रिशूल मुद्रा होती है। इसका प्रयोग बिल्वपत्र और त्रित्व अर्थात् तीन होने का भाव प्रदर्शित करने के लिए होता है।

अभिनयदर्पणकार ने इन मुद्राओं के अतिरिक्त व्याघ्र, अर्धसूची, कटक और पल्ली मुद्राओं का भी उल्लेख किया है।

व्याघ्र (६१ क)

जब कनिष्ठिका और अंगुष्ठ मृगशीर्ष मुद्रा में झुका दिये जायँ तब व्याघ्र मुद्रा होती है। इसका प्रयोग व्याघ्र, मेढक, बन्दर और सीपी का निर्देश करने में होता है।

अर्धसूची (६२)

जब कपित्थ मुद्रा में तर्जनी को ऊपर उठा दिया जाय तब अर्धसूची होती है। इसका प्रयोग अंकुर, पक्षी के बच्चे और बड़ा कीड़ा प्रदर्शित करने के लिए होता है।

कटक (६३)

जब मध्यमा और अनामिका का ऊपर का भाग अँगूठे से मिला दिया जाय तब कटक मुद्रा होती है। इसका प्रयोग बुलाने और चलने तथा अन्य कई क्रियाओं में होता है।

पल्ली (६४)

जब मयूर मुद्रा में मध्यमा उठाकर तर्जनी के ऊपर रख दी जाती है तब पल्ली मुद्रा होती है। इसका प्रयोग पल्ली अर्थात् गाँव या झोपड़ी के लिए होता है। अभिनय-

दर्पण के एक संस्करण में ऊर्णनाभ और बाण दो और मुद्राओं का वर्णन मिलता है।

अभिनयदर्पणकार ने अपनी लगभग सभी मुद्राओं के लक्षणों के साथ या विनियोग में भरतागम और भरतशास्त्र तथा भरतादि द्वारा समर्थन का उल्लेख किया है, किन्तु अभिनयदर्पण के बहुत से लक्षण और विनियोग भरत के नाट्यशास्त्र के विवरण से नहीं मिलते। रचना की दृष्टि से भी अभिनयदर्पण सरल और स्पष्ट है और उससे भरत के नाट्यशास्त्र की बहुत सी मुद्राएँ समझने में सुविधा होती है।

संयुक्त हस्त की मुद्राएँ

भरत ने तेरह प्रकार की संयुत हस्त-मुद्राओं का उल्लेख किया है—अञ्जलि, कपोत, कर्कट, स्वस्तिक, खटका-वर्धन, उत्संग, निषध, दोल, पुष्पपुट, मकर, गजदंत, अवहित्थ और वर्धमान।
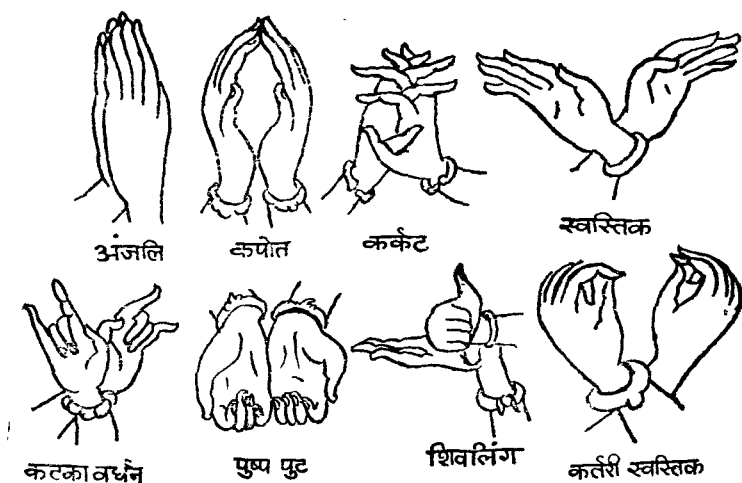
चित्र ४—संयुक्त हस्त की मुद्राएँ

अंजलि

जब हथेली के किनारे दो 'पताक' हाथ मिला दिये जायँ वह अंजलि मुद्रा होती है। इसका प्रयोग देवता, गुरु और मित्रों का अभिवादन करने में किया जाता है। इसके लिए

तीन स्थान बतलाये गये हैं—हृदय, मुख और सिर। देवताओं को सिर पर अंजलि रखकर, गुरुओं को मुख पर और मित्रों को हृदय पर रखकर अभिवादन करना चाहिए। स्त्रियों के लिए इसका कोई नियम नहीं है।

अभिनयदर्पण में इसका लक्षण वही बताया गया है, किन्तु विनियोग में कहा गया है कि ब्राह्मण के लिए हृदय पर हाथ रखकर अभिवादन करना चाहिए।

कपोत

जब दो 'पताक' हस्त नीचे कलाई पर और ऊपर उँगलियों के छोर पर मिलाकर गोल कर दिये जायँ उसे कपोत कहते हैं। इसका प्रयोग विनय, किसी के पास जाने, प्रणाम करने और गुरुओं के भाषण में करना चाहिए। स्त्रियों को इसका प्रयोग शीत और भय में काँपते हुए हृदय पर हाथ रखकर करना चाहिए। खिन्न वाक्यों में इसी का प्रयोग उँगलियों के छोर रगड़कर करना चाहिए। 'यह करना चाहिए, यह नहीं करना चाहिए', इस अर्थ में इसका प्रयोग किया जाता है।

अभिनयदर्पणकार के अनुसार इसका प्रयोग प्राणायाम, प्रणाम, गुरु से बातचीत और विनयपूर्वक स्वीकार करने में किया जाता है।

कर्कट

जब हाथ की उँगलियाँ एक दूसरी में फँसकर बाहर को निकली रहती हैं या भीतर की ओर निकली रहती हैं, उसे कर्कट कहते हैं। इसका प्रयोग अँगड़ाई लेने, सोकर उठने पर जम्हाई लेने, बड़ा शरीर दिखाने, ठोड़ी को सहारा देने और शंख ग्रहण करने में होता है।

अभिनयदर्पणकार ने इसका प्रयोग समूह के आगमन, पेट के प्रदर्शन, शंख बजाने, अंग तोड़ने और शाखा झुकाने के लिए निर्दिष्ट किया है।

स्वस्तिक

जब कलाई पर दोनों हाथ अराल मुद्रा में बायीं ओर उत्तान करके रखे जाते हैं, उसे स्वस्तिक कहते हैं। स्त्रियाँ इसका प्रयोग करती हैं। इस स्वस्तिक को नीचे सीधा लिटाकर दिशाओं, बादल, आकाश, वन, समुद्र, ऋतु, पृथ्वी, बाढ़ और विस्तृत स्थान का अभिनय किया जाता है। अभिनयदर्पणकार ने इसका प्रयोग मकर का निर्देश करने के लिए बताया है।

खटका-वर्धन (कटका-वर्धन)

जब दोनों हाथ आमने-सामने खटक (कटक या कड़े) की मुद्रा में रखे जायँ, तब खटका-वर्धन मुद्रा होती है। इसका प्रयोग श्रृंगार में, प्रणाम करने में, कुमुद और उत्पल की नाल का प्रदर्शन करने में और छत्र धारण करने में करना चाहिए।

अभिनयदर्पणकार ने इसका लक्षण बताते हुए कहा है कि जब कलाई पर स्वस्तिक मुद्रा में दोनों हाथों को खटका-मुख बनाकर रखा जाता है, वह कटका-वर्धन कहलाती है। इसका प्रयोग राज्याभिषेक, पूजा और विवाह आदि में किया जाता है।

उत्संग

जब दोनों हाथों से अराल मुद्रा बनाकर उन्हें स्वस्तिक रूप में अपने सामने की ओर करके झुका दिया जाता है, उसे उत्संग कहते हैं। इसका प्रयोग परोक्ष के ग्रहण, पीडन, क्रोध, रोष, स्त्रियों की ईर्ष्या में और निष्पीडन दिखाने के लिए किया जाता है।

अभिनयदर्पण में इसका लक्षण यह बताया गया है कि जब मृगशीर्ष मुद्रा में दोनों हाथ एक दूसरे हाथ के बाहु पर रखे जाते हैं, उसे उत्संग मुद्रा कहते हैं। इसका प्रयोग गले लगाने, लज्जा, अंगद (भुजबन्ध) तथा बालकों के शिक्षण में होता है।

निषध

जब मुकुल मुद्रा वाले हाथ को दूसरे हाथ के कपित्थ से ढक दिया जाय, वह निषध कहलाती है। इसका प्रयोग संग्रह, परिग्रह, धारण, समय, सत्यवचन, संक्षेप या अत्यन्त संक्षेप के लिए करना चाहिए।

एक मत यह भी है कि जब मृगशीर्ष मुद्रा से शिखर मुद्रा को पीड़ित किया जाय, तब निषध मुद्रा बनती है। इसका प्रयोग भयाकुलता की अवस्था के लिए होता है। यह भी कहा गया है कि बायें हाथ से दक्षिण कूर्पर के बीच में भुजा पकड़कर और दायें हाथ को बायें कूर्पर में डालकर दाहिने हाथ की मुट्ठी बाँधी जाय, तब निषध हस्त होता है। इस मुद्रा से धैर्य, मद, गर्व, सौष्ठव, उत्सुकता, पराक्रम, आटोप, अभिमान, अवष्टम्भ, स्थैर्य तथा स्तम्भ आदि का अभिनय करना चाहिए। कुछ का मत है कि जब हंस-पक्ष मुद्रा को ही उलट दिया जाता है, तब निषध मुद्रा होती है। इसका प्रयोग जाल और वातायन आदि के अभिघट्टन में करना चाहिए।

दोल

जब दोनों कंधे ढीले और मुक्त करके पताक मुद्रा में लटका दिये जायँ, तब दोल

मुद्रा होती है। इसका प्रयोग सम्भ्रम, विषाद, मूर्छा, मद, अभिघात, आवेग, व्याधि और शस्त्र की चोट के लिए करना चाहिए।

अभिनयदर्पणकार ने इसका लक्षण यह बताया है कि जब पताक मुद्रा में दोनों हाथ घुटनों (ऊरु) पर रख लिये जायँ, तब दोल मुद्रा होती है। इसका प्रयोग नाट्य के प्रारम्भ में किया जाता है।

पुष्पपुट

जब सर्पशीर्ष मुद्रा की उँगलियों को मिला लिया जाय और तर्जनी पास में मिला दी जाय, वह पुष्पपुट होती है। इसका प्रयोग धान्य, फल, पुष्प आदि पदार्थों को ग्रहण करने या जल लाने-ले जाने में करना चाहिए।

अभिनयदर्पणकार ने इसका लक्षण यह बताया है कि जब दो सर्पशीर्ष हस्तमुद्राएँ एक ओर मिल जायँ, तब पुष्पपुट होती है। इसका प्रयोग देवता के आगे आरती करने, पानी या फल आदि लेने, देवताओं को बलि देने, सन्ध्या और जादू की शक्ति से भरे हुए फूल के लिए होता है।

तात्पर्य यह है कि पहले दोनों हाथों से इस प्रकार सर्पशीर्ष बनाया जाय कि सब उँगलियाँ एक दूसरी से मिली रहें और फिर दोनों हाथों को बराबर मिला दिया जाय कि जिससे एक दोना सा बन जाय। यही पुष्पपुट है।

मकर

जब पताक मुद्रा में हाथों के अँगूठे ऊपर उठाकर उलट दिये जायँ और एक पर एक धर दिये जायँ, तब मकर मुद्रा होती है। इसका प्रयोग सिंह, सर्प, हाथी, नक्र, मकर, मत्स्य तथा अन्य हिंसक जीवों के अभिनय में होता है।

गजदंड

जब कूर्पर के ऊपरी भाग पर दोनों हाथ सर्पशीर्ष मुद्रा में उठे हुए हों उसे गजदण्ड कहते हैं। इसका प्रयोग वधू और वर के विवाह में, अत्यन्त भार उठाने में, स्तम्भ-ग्रहण में और पर्वत की शिला उखाड़ने में करना चाहिए।

अवहित्थ

जब दोनों हाथ शुक-तुण्ड मुद्रा में बाँधकर छाती के सामने अंचित कर दिये जायँ और धीरे-धीरे उनका मुख नीचे कर दिया जाय, उसे अवहित्थ कहते हैं। विधि यह है

कि पहले दोनों हाथों को शुक-तुण्ड मुद्रा में बाँधा जाय, फिर उँगलियों का अग्र भाग छाती की ओर घुमाकर धीरे-धीरे नीचे को झुका दिया जाय। इसका प्रयोग दुर्बलता, निःस्वार्थ गात्र के दर्शन, पतलापन और उत्कण्ठा आदि में किया जाता है।

वर्धमान

जब हंस-पक्ष मुद्रा उलट दी जाती है तब वर्धमान मुद्रा होती है। इसका प्रयोग जाल और वातायन आदि खोलने के लिए किया जाता है। इसी प्रकार का लक्षण निषध मुद्रा के लिए भी पीछे बताया गया है, किन्तु वास्तव में यह लक्षण वर्धमान का ही है। इसका प्रयोजन संग्रह, परिग्रह, उद्धार, समय, सत्य वचन, संक्षेप और दबाकर छोटे करने के लिए बताया गया है, किन्तु वास्तव में यह सब निषध मुद्रा के द्वारा ही प्रदर्शित होना चाहिए।

अभिनयदर्पणकार ने उपर्युक्त संयुक्त हस्तों के अतिरिक्त और भी कई निम्नांकित मुद्राएँ दी हैं——

शिवलिंग——जब बायें हाथ से अर्धचन्द्र धारण किया गया हो और दाहिने से शिखर, तब शिवलिंग मुद्रा होती है। इसका प्रयोग लिंग-प्रदर्शन के लिए होता है।

कर्तरीस्वस्तिक——जब दोनों हाथों की कर्तरी से कलाई पर स्वस्तिक बनाया जाय, वह कर्तरीस्वस्तिक कहलाती है। इसका प्रयोग शाखा, पर्वत की चोटी और वृक्षों को निर्देश करने के लिए होता है।

शकट——जब भ्रमर मुद्रा में मध्यमा उँगली फैला दी जाय तब शकट मुद्रा होती है। इसका प्रयोग राक्षस का अभिनय करने में प्रायः होता है।

शंख——जब शिखर मुद्रा का अँगूठा दूसरे हाथ के अँगूठे से मिला दिया जाय और तर्जनी के द्वारा उसके चारों ओर लपेट दिया जाय, वह शंख-मुद्रा कहलाती है। इसका प्रयोग शंख तथा अन्य वैसी ही वस्तुओं के लिए होता है।

चक्र——जब दो अर्धचन्द्र हाथों की हथेलियाँ एक दूसरे पर आर-पार रखी जायँ, तब चक्र मुद्रा बनती है। इसका प्रयोग चक्र या पहिये का निर्देश करने के लिए होता है।

संपुट——जब चक्र मुद्रा की उँगलियाँ मोड़ ली जायँ, तब सम्पुट होती है। इसका प्रयोग वस्तुओं को ढकने और पेटिका का निर्देश करने के लिए होता है।

पाश——जब सूची मुद्रा की तर्जनी उँगलियाँ भीतर की ओर झुकी हुई और पास-पास हों, वह पाश मुद्रा कहलाती है। इसका प्रयोग पारस्परिक कलह, डोरी और साँकल का निर्देश करने के लिए होता है।

कीलक——जब मृगशीर्ष मुद्रा की कनिष्ठिका उँगलियाँ भीतर को मुड़ी रहें और

पास-पास हों, तब वह कीलक मुद्रा कहलाती है। इसका प्रयोग स्नेह और विनोदपूर्ण बातचीत के लिए होता है।
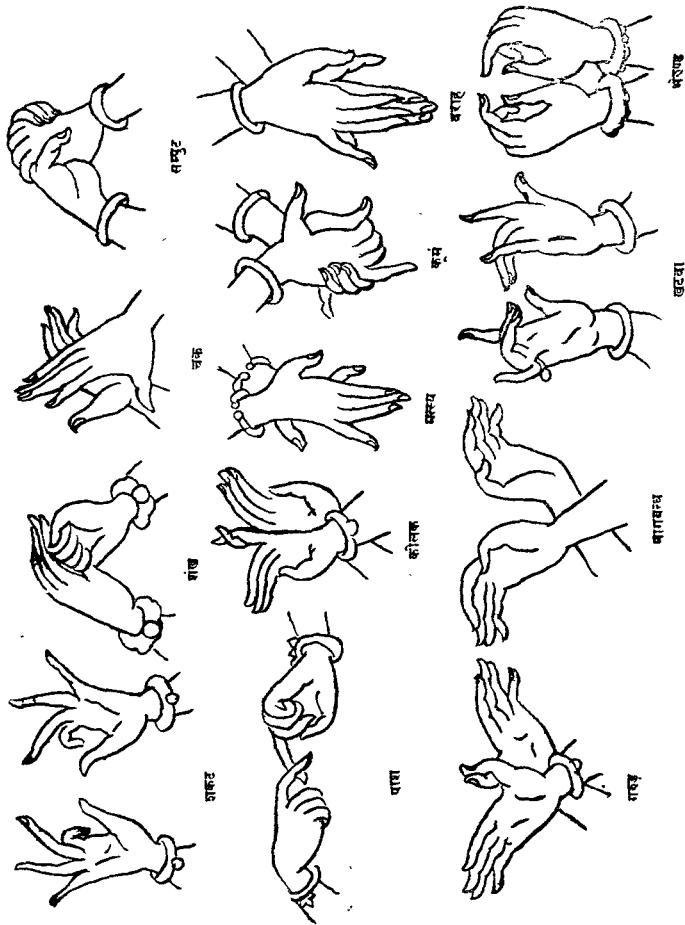
चित्र ५—संयुक्त हस्त की मुद्राएँ

मत्स्य—जब एक हाथ की पीठ पर दूसरे हाथ को उलटकर रख दिया जाय और दोनों अँगूठे बाहर को फैला दिये जायँ वह मत्स्य मुद्रा होती है और मत्स्य का निर्देश करने के लिए इसका प्रयोग होता है।

कूर्म—जब चक्र मुद्रा के अँगूठे और कनिष्ठिका उँगलियाँ मोड़ ली जाती हैं, तब कूर्म मुद्रा होती है। इससे कछुए का निर्देश होता है।

वराह—जब एक मृगशीर्ष पर दूसरा मृगशीर्ष रख दिया जाय और एक हाथ का अँगूठा दूसरे हाथ से तथा दूसरे हाथ का पहले हाथ से मिला दिया जाय, तब वह वराह मुद्रा कहलाती है और उससे वराह का निर्देश होता है।

गरुड़—जब दोनों अर्धचन्द्र हाथों की हथेलियाँ आड़ी करके रखी जायँ और दोनों अँगूठे एक दूसरे पर रख दिये जायँ, तब गरुड़ मुद्रा होती है, जिसका प्रयोग गरुड़ का निर्देश करने के लिए होता है।

नागबन्ध—सर्पशीर्ष और स्वस्तिक मुद्रा एक साथ मिलाने पर नागबन्ध होता है, जिसका प्रयोग नाग-बन्ध के लिए होता है।

खट्वा—एक चतुर हाथ पर दूसरा चतुर हाथ रख दिया जाय और दोनों की तर्जनी और अँगूठा खोल दिये जायँ, तो खट्वा मुद्रा हो जाती है। इसका प्रयोग चारपाई और पालकी के निर्देश के लिए होता है।

भेरुंड—जब कपित्थ मुद्रा कलाई पर मिला दी जाय, तब भेरुण्ड मुद्रा होती है। इसका प्रयोग भेरुण्ड तथा पक्षियों के जोड़े का निर्देश करने के लिए होता है।

देवताओं के लिए मुद्रा—अभिनयदर्पणकार ने इसके पश्चात् देवताओं के अभिनय और उनके मूर्ति-निर्माण के लिए निम्नांकित मुद्राएँ बतलायी हैं—ब्रह्मा, शिव, विष्णु, सरस्वती, पार्वती, लक्ष्मी, गणेश, कार्तिकेय, मन्मथ, इन्द्र, अग्नि, यम, निर्ऋति, वरुण, वायु और कुबेर।

ब्रह्मा के लिए बायें हाथ में चतुर और दाहिने हाथ में हंसास्य मुद्रा धारण करनी चाहिए। शिव के लिए बायें में मृगशीर्ष और दायें में त्रिपताक धारण करनी चाहिए। विष्णु के लिए दोनों हाथों में त्रिपताक मुद्रा धारण करनी चाहिए। सरस्वती के लिए दायें हाथ में सूची और बायें में कपित्थ धारण करके उन्हें कन्धे ऊँचाई तक उठाये रखना चाहिए। पार्वती के लिए अपना दायाँ हाथ उठाकर अर्धचन्द्र धारण करना चाहिए और बायाँ हाथ नीचे झुकाकर अर्धचन्द्र बनाना चाहिए। इनमें से दायाँ हाथ अभय मुद्रा और बायाँ वरद मुद्रा में होना चाहिए। लक्ष्मी के लिए दोनों हाथों में कपित्थ मुद्रा कंधों तक उठाकर रखनी चाहिए। गणेश के लिए कपित्थ मुद्रा अपने ऊरु पर रखनी चाहिए। कार्तिकेय के लिए बायें हाथ में त्रिशूल और दाहिने हाथ में शिखर मुद्रा ऊपर उठाकर रखनी चाहिए। मन्मथ या कामदेव के लिए बायें हाथ में शिखर मुद्रा और दायें में कटकामुख मुद्रा रखनी चाहिए। इन्द्र के लिए दोनों हाथों में त्रिपताक और स्वस्तिक मुद्रा धारण करनी चाहिए। अग्नि के लिए दायें हाथ में त्रिपताक और बायें में कांगुल मुद्रा धारण करनी चाहिए। यम के लिए बायें हाथ में पाश और दायें में सूची धारण करनी चाहिए। निर्ऋति के लिए दोनों हाथों में खट्वा और शकट मुद्रा धारण करनी चाहिए।

वरुण के लिए बायें हाथ में पताक और दायें में शिखर धारण करनी चाहिए। वायु के लिए दायें हाथ में अराल और बायें में अर्धपताक मुद्रा धारण करनी चाहिए। कुबेर के लिए बायें हाथ में पद्म और दायें में गदा धारण करनी चाहिए।

अभिनयदर्पण की कुछ प्रतियों में तेईस संयुक्त हस्त मुद्राओं के नाम हैं किन्तु कुछ में चौबीस हैं और यह चौबीसवाँ अवहित्थ है जिसका वर्णन नाट्यशास्त्र में हुआ है। एक पुस्तक में सत्ताईस संयुक्त मुद्राओं का वर्णन दिया हुआ है—अवहित्थ, गजदंत, चतुरस्र, तलमुख, स्वस्तिक, आविंचितक, रेचित, नितम्ब, लता, पक्षवंचित, पक्षप्रद्योत, गरुडपक्ष, निषध, मकर, वर्धमान, उद्वृत्त, विप्रकीर्ण, अराल, कटकामुख, सूच्यास्य, अर्धरेचित, केशबन्ध, मुष्टि-स्वस्तिक, नलिनीपद्मकोष, उद्वेष्टितालपद्म, उल्वण, लोलित।

एक दूसरी पुस्तक में सत्ताईस संयुक्त हस्तमुद्राओं की एक तीसरी सूची मिलती है—विप्रकीर्ण, तलमुख, सूचीविद्ध, पल्लव, नितम्ब, केशबन्ध, लता, द्विरद, उद्धृत, संयम, (?) मुद्रा, अजमुख, अर्धमुकुल, रेचित, कुहल, पक्षवंचित, तिलक, उत्थान-वंचित, वर्धमान, ज्ञानरेखा, (?), वैष्णव, ब्रह्मोक्त, शुकतुण्ड, खण्डचतुर, अधचतुर, लीनमुद्रा।

इन मुद्राओं की कोई सीमा नहीं है क्योंकि स्वयं भरत ने लिखा है कि 'अन्य आचार्यों का मत है कि किसी भी वस्तु की वास्तविक चेष्टा, चिह्न और जाति का ज्ञान प्राप्त करके स्वयं समझ-बूझकर उसी के अनुसार हाथ की मुद्रा बना लेनी चाहिए। नाट्य में किसी भी वस्तु का अभिनय बिना हाथ के नहीं हो सकता है इसलिए जिन भावों का अभिनय ऊपर नहीं बताया गया है उन भावों और वस्तुओं के लिए देश, काल, प्रयोग, रस और भाव आदि का विचार करके स्त्रियों और पुरुषों को उनके लिए हस्त की मुद्रा बनाकर अभिनय करना चाहिए।

अभिनयदर्पणकार ने दस अवतारों के लिए, राक्षस के लिए, चारों वर्णों के लिए और घरेलू सम्बन्धियों के लिए भी मुद्राएँ बतलायीं हैं।

अवतार मुद्राएँ

मत्स्यावतार के लिए कन्धों के बराबर मत्स्य मुद्रा दिखाई जाय। कूर्म अवतार के लिए कन्धों के बराबर कूर्म मुद्रा दिखाई जाय। वराह अवतार के लिए कमर के बराबर दोनों हाथ दोनों ओर वराह मुद्रा में रखे जायँ। यह आदि-वराह की मुद्रा है। नृसिंह के लिए बायें हाथ से सिंह-मुख और दायें हाथ से त्रिपताक मुद्रा बनायी जाय। वामनावतार के लिए बायें हाथ से ऊपर करके मुष्टि और दाहिने हाथ से नीचे करके

मुष्टि बनायी जाय। परशुराम के लिए बायाँ हाथ कमर पर रखा जाय और दायें हाथ से अर्धपताक मुद्रा बनायी जाय। रामचन्द्र के लिए दायें हाथ से कपित्थ और बायें से शिखर-मुद्रा बनायी जाय। बलराम के लिए दायें हाथ से पताक और बायें से मुष्टि बनायी जाय। कृष्ण के लिए मुख के पास आमने-सामने दोनों हाथों से मृगशीर्ष मुद्राएँ बनायी जायँ। कल्कि के लिए दायें हाथ से पताक और बायें से त्रिपताक मुद्रा बनायी जाय।

राक्षस मुद्रा

जब मुख के पास दोनों हाथों से शकट मुद्रा बनायी जाय वह राक्षस मुद्रा होती है।

वर्णों की मुद्रा

ब्राह्मण के लिए दोनों हाथों से शिखर मुद्रा बनाकर दायाँ हाथ यज्ञोपवीत के समान खड़ा कर लिया जाय। क्षत्रिय के लिए बायें हाथ से खड़ा शिखर और दायें से पताक मुद्रा बनायी जाय। वैश्य के लिए बायें हाथ से हंसास्य और दायें से कटकामुख बनायी जाय और शूद्र के लिए बायें हाथ से शिखर और दायें से मृगशीर्ष बनायी जाय। इसी प्रकार व्यवसाय के अनुसार अठारह जातियों के लिए भी हस्तमुद्राएं बनायी जा सकती हैं, अर्थात् विभिन्न देशों के निवासियों के लिए भी विद्वान् लोग इसी प्रकार अनेक हस्तमुद्राओं का प्रयोग कर सकते हैं।

घरेलू संबन्धियों के लिए हस्त-मुद्राएँ

यदि बायें हाथ से शिखर और दायें हाथ से मृगशीर्ष बनाया जाय तो यह पति और पत्नी का द्योतक होगा। यदि बायें हाथ से अर्धचन्द्र और दाहिने से संदंश बनाया जाय और बायाँ हाथ उदर पर घुमा दिया जाय तो माता और कुमारी का द्योतक होगा। यदि मातृ मुद्रा का दायाँ हाथ शिखरमुद्रा में हो तो पिता और जामाता का द्योतक होता है। यह पितृमुद्रा कहलाती है। जब दायें हाथ से हंसास्य गले पर बनाया जाय और दायें से संदंश बनाया जाय और बायाँ हाथ फिर पेट पर फेरा जाय तो वह सास का द्योतक होता है। जब सास की मुद्रा के दायें हाथ में शिखर बनाया जाय तब ससुर का द्योतक होता है। जब बायें हाथ से शिखर और दायें से कर्तरी-मुख बनाया जाता है और वे दोनों हाथ दोनों पार्श्व में रखे जाते हैं तब वह देवर या जेठ का द्योतक होता है। यदि इस देवर या जेठ की मुद्रा के अन्त में दायाँ हाथ मृगशीर्ष मुद्रा में लाया जाय तो वह बुआ का द्योतक होता है। यदि मयूर-मुद्रा सामने दिखायी जाय तो बड़े भाई और दोनों

पार्श्वों में दिखायी जाय तो छोटे भाई की द्योतक होती है। यदि संदंश मुद्रा पेट पर बनाकर उसे हटा लें और बायें हाथ से शिखर बनायें तो यह पुत्र की द्योतक होती है। यदि उपर्युक्त पुत्र-द्योतक हस्त-मुद्रा दिखलाकर दायें हाथ से मृगशीर्ष बनायें तो वह पुत्र-वधू का द्योतक होता है। यदि पार्श्व में हस्त-मुद्रा दिखाकर दोनों हाथों से मृगशीर्ष दिखायें तो सपत्नी का बोध होता है।

नवग्रह मुद्राएँ

अभिनयदर्पणकार के नवों ग्रहों के लिए भी मुद्राएँ बतायी हैं।

जब गले के पास दोनों हाथों से अलपद्म और कपित्थ मुद्रा बनायी जाय तब सूर्य का भाव होता है। जब बायें हाथ से अलपद्म और दायें से पताक मुद्रा दिखायी जाय तब वह चन्द्र की द्योतक होती है। जब बायें हाथ से सूची और दायें से मुष्टि मुद्रा बनायी जाती है तब मंगल का अभिनय होता है। जब बायें हाथ से खड़ी मुष्टि बनायी जाती है और दायें से पताक तब बुध का भाव होता है। जब यज्ञोपवीत का निर्देश करते हुए दोनों हाथों से शिखर बनाया जाता है तब वह ऋषि, ब्राह्मण और बृहस्पति का द्योतक होता है। जब दोनों हाथों से मुष्टि मुद्रा बनाकर बायाँ हाथ ऊपर और दायाँ नीचे रखा जाता है, शुक्र का द्योतक होता है। जब बायें हाथ से शिखर और दायें से त्रिशूल बनाया जाय तब वह शनि का द्योतक होता है। जब बायें हाथ से सर्पशीर्ष और दायें हाथ से सूची मुद्रा बनायी जाय तब उससे राहु का द्योतन होता है। जब बायें हाथ से सूची और दायें हाथ से पताक मुद्रा बनायी जाय तब वह केतु की द्योतक होती है।

चित्राभिनय

अपने नाट्यशास्त्र के पचीसवें (या छब्बीसवें) अध्याय में भरत ने चित्राभिनय की भी विवेचना की है। आंगिक, सात्त्विक और आहार्य अभिनय से चित्राभिनय किया जाता है।

दोनों हाथों को उत्तान स्वस्तिक और पार्श्व-संस्थित करके उद्वाहित सिर से ऊपर देखकर प्रभात, गगन, रात्रि, प्रदोष, दिवस, ऋतु, धन, वनान्त, विस्तीर्ण जलाशय, दिशा, ग्रह, नक्षत्र आदि का अनेक दृष्टियों से समन्वित होकर अभिनय करना चाहिए। हाथ की इन्हीं मुद्राओं से और सिर की मुद्रा से नीचे देखकर भूमि पर बने हुए स्थानों का प्रदर्शन करना चाहिए। इसी मुद्रा से स्पर्श-ग्रहण और उत्फुल्लन से चन्द्र-ज्योत्स्ना, सुख, वायु, रस और गंध का निर्देश करना चाहिए। वस्त्र की ओट लगाकर

सूर्य, धूल, धुआँ, वायु, भूमि, ताप और गर्मी की छाया का प्रदर्शन करना चाहिए। ऊपर आकेकर दृष्टि करके मध्याह्न के सूर्य का और विस्मय के भावों से सूर्य के उदय और अस्त का निर्देश करना चाहिए। इसके अतिरिक्त सुख से पूर्ण और अच्छे भाव वाली बातों का अभिनय शरीर-स्पर्श तथा रोमांच के साथ एवं भयंकर और तीक्ष्ण रूप वाली वस्तुओं का अभिनय शरीर को बिना स्पर्श किये हुए उद्वेग के साथ तथा मुख सिकोड़कर करना चाहिए। गम्भीर और उदात्त भावों से युक्त बातों के लिए आटोप, गर्व और सौष्ठव से युक्त गात्रों से अभिनय करना चाहिए। यज्ञोपवीत के स्थान पर अराल हाथ से हास के भाव का निर्देश और स्वस्तिक मुद्रा की विच्युति करके हार, माला और रस्सी का निर्देश किया जाय। तर्जनी घुमाकर, दृष्टि चलाकर और अलपद्म की उँगलियों को हथेली पर दबाकर सब बातों को ग्रहण करने का निर्देश होता है। कान लगाकर सुनने से श्रव्य का, आँख खोलकर देखने से दृष्टि का और अपने, दूसरे या बीच के व्यक्तित्व का निर्देश होता है। शरीर कँपाकर और आँख मींचकर बिजली, उल्का, बादल की गर्जन, चिनगारियों और लपटों का अभिनय किया जाता है। दोनों हाथों को उद्वेष्टित और परावृत्त करके, सिर झुकाकर, कुटिल दृष्टि से असंस्पर्श और अनिष्ट का अभिनय करना चाहिए। इसी से गर्म वायु, अन्धकार और तेज का अभिनय मुँह ढँककर करना चाहिए और इसी प्रकार धूल, जल पतंग और भौंरों को रोकने का अभिनय करना चाहिए।

स्वस्तिक संस्थान में पद्मकोष बनाकर उसे नीचे उलटकर सिंह, रीछ, वानर, व्याघ्र तथा अन्य हिंसक जीवों का निरूपण करना चाहिए। गुरुओं के चरण-वन्दन के लिए त्रिपताक स्वस्तिक बनाना चाहिए और प्रतोद के ग्रहण के लिए खटक का स्वस्तिक।

एक, दो, तीन, चार, पाँच, छः, सात, आठ, नौ या दस की गणना उँगलियों से की जाती है। दस, सौ और सहस्र का निदर्शन हाथ की पताक मुद्रा से करना चाहिए। जो गिनती दस से आगे की हो उसको वाक्यार्थ कहकर या परोक्ष अभिनय से बताना चाहिए। हाथ में दंड ले लेने से छत्र, ध्वज और पताका का निर्देश कर देना चाहिए जैसे चीनी रंगमंच पर आज भी होता है। इसी प्रकार विभिन्न शस्त्रों के धारण करने की मुद्रा से ही उनका निर्देश कर देना चाहिए। स्मृति, ध्यान और चिन्तन में एकचित्त होकर नीचे दृष्टि करके कुछ सिर झुकाकर बायें हाथ से संदंश मुद्रा बनानी चाहिए। सिर को उद्वाहित करके और दोनों हाथों को हंस-पक्ष मुद्रा में ऊपर उठा लिया जाय तब संतान का निर्देश होता है। सिर को उद्वाहित करके और हाथ ऊपर उठाकर हंस-मुख बना लिया जाय तो उससे मान, प्रसादन और पराक्रम का निर्देश होता है।

गये हुए, बीते हुए, ध्वस्त और थकावट भरे वाक्य के लिए सिर पर अराल बनाकर बायें हाथ को समुद्वाहित करना चाहिए।

ऋतुओं का अभिनय

स्वस्थ इंद्रिय, प्रसन्न मुख और विचित्रता पूर्वक पृथ्वी तल को देखने के ढंग से शरद् ऋतु का निर्देश होता है। शरीर सिकोड़कर और सूर्य, अग्नि तथा वस्त्र का सेवन दिखलाकर मध्यम और अधम पात्र हेमन्त का अभिनय करते हैं। सिर, दाँत और ओठ कँपाकर, शरीर सिकोड़कर कूजते और सी-सी करते हुए अधम पात्र शीत का निर्देश करते हैं। कभी-कभी किसी विशेष अवस्था में उत्तम लोग भी विपत्ति में पड़कर इसी प्रकार शीत का अभिनय करते हैं। ऋतु में उत्पन्न पुष्पों की गंध सूँघकर और रूखे पवन के स्पर्श का अभिनय करके शिशिर का प्रदर्शन करना चाहिए। अनेक पुष्पों का प्रदर्शन करके आनन्दजनक क्रियाओं का आरम्भ और अलग-अलग ढंग से उपभोग दिखाकर वसंत का अभिनय करना चाहिए। पसीना पोंछकर, ताप का अभिनय करके, पंखा डुलाकर और उष्ण वायु के स्पर्श का अभिनय करके ग्रीष्म का प्रदर्शन करना चाहिए। कदंब आदि वृक्षों, हरी घास, बीरबहूटी, बादल, वायु आदि के सुख-स्पर्श से वर्षा का प्रदर्शन करना चाहिए। बादल, बाढ़, गम्भीर गर्जन, धुआँधार वर्षा, कड़क आदि के द्वारा वर्षा की रात्रि का निर्देश करना चाहिए। यदि किसी विशेष चिह्न, वेश, कर्म या रूप का निर्देश करना हो तो इष्ट या अनिष्ट भावों के दर्शन से उस ऋतु का प्रदर्शन करना चाहिए, अर्थात् सुखी के लिए सुख से युक्त और दुःखी के लिए दुःख से युक्त भावों के साथ ऋतुओं का प्रदर्शन करना चाहिए, क्योंकि जो व्यक्ति जिस भाव में आविष्ट होता है वह सारे संसार को उसी भाव से देखता है।

भावों का अभिनय

शरीर के आलिंगन और मुस्कराहट भरे नेत्र तथा उद्विकसन से पुरुष हर्ष का अभिनय करे। नर्तकी तत्काल उत्पन्न हुए रोमांच, आँखों से हर्ष के आँसू, मधुर वाक्य और मुस्कराहट से हर्ष प्रकट करे। उठे हुए लाल नेत्रों से, ओठ चबाते हुए, लम्बी साँसें लेते हुए, शरीर थर-थर कँपाते हुए पुरुष-क्रोध का अभिनय करे। स्त्रियाँ अपने नेत्र आँसू से भरकर, अपनी ठोड़ी और ओठ कँपाते हुए, सिर कँपाते हुए, भौं चढ़ाते हुए, मौन होकर, उँगली दिखाकर, माला और आभूषण उतारकर, आयतस्थानक की मुद्रा में ईर्ष्या और क्रोध दिखाती हैं। पुरुष का दुःख निःश्वास और उच्छ्वास से युक्त नीचे मुख, चिन्तन और आकाश-वचन से दिखाना चाहिए। स्त्रियों का दुःख रोने, लंबी साँस

लेने, सिर पीटने, धरती पर गिरने और छाती कूटने आदि से दिखाना चाहिए। यह जो ऊपर रोने का विधान बताया गया वह नीच स्त्रियों में, आनन्द, दुःख या ईर्ष्या से भी हो सकता है। पुरुषों का भय दिखाने के लिए संभ्रम और आवेग की चेष्टा, शस्त्र लाना, धैर्य और बल आदि की क्रिया भी करनी चाहिए। स्त्रियों का भय दिखाने के लिए नेत्रों के तारे चलाना, शरीर कँपाना, हृदय में भय दिखलाना, दोनों ओर देखना, पति को खोजना, हाय-हाय करके चिल्लाना और प्रिय का आलिंगन करना दिखाना चाहिए। निरन्तर आकाश की ओर देखना, झूमते हुए नेत्र रखना और ढीला-पन आलस्य के लिए दिखाया जाता है। स्त्रियों का मद दिखाने में शरीर का कंपन होना चाहिए अर्थात् पुरुषों के अभिनय में पौरुषपूर्ण और स्त्रियों के भावों में ललित भावों का प्रदर्शन करना चाहिए।

पक्षियों का अभिनय

त्रिपताक की वलित उँगलियों से शुक और सारिका आदि छोटे पक्षियों का और रेचक तथा अंगहारों से मोर, सारस तथा हंस आदि बड़े पक्षियों का अभिनय करना चाहिए। गधा, ऊँट, खच्चर, सिंह, व्याघ्र, गौ और भैंसा आदि का अभिनय गति-प्रचार के अंगों से करे। भूत, पिशाच, यक्ष, दानव और राक्षसों का अभिनय अंगहारों से तथा उनका नाम लेकर करे। अप्रत्यक्ष देवताओं का अभिनय तो अंगहारों से और प्रत्यक्ष देवताओं का भग्र, उद्वेग, विस्मय, चिह्न, प्रणाम की मुद्राओं तथा चेष्टाओं से करना चाहिए। दायें हाथ को अराल मुद्रा में ऊपर उठाकर सिर पर स्पर्श करने से मनुष्य के लिए अभिवादन होता है। खटका-वर्धन और कपोत मुद्रा से देवता, गुरु और स्त्रियों का अभिवादन होता है। पूज्य और प्रत्यक्ष देवताओं को उनके प्रमाण, प्रभाव और गम्भीर अर्थ के साथ अभिवादन करे। महापुरुष, सखीवर्ग, विट और धूर्त पुरुषों का अभिनय परिमण्डल में स्थित हाथ से करे। पर्वतों को लम्बा हाथ उठाकर और वृक्षों को भी हाथ उठाकर प्रदर्शित करना चाहिए। समूह, सागर, सेना और विस्तीर्ण को उत्क्षिप्त पताक मुद्रा से दिखलाना चाहिए। ललाट पर अराल मुद्रा से शौर्य, धैर्य, गर्व, दर्प, उदारता और उन्नति का प्रदर्शन करना चाहिए। जब वक्ष देश से दोनों हाथ मृगशीर्ष मुद्रा में अपविद्ध हों तब उन्हें वेग से फैला और समेटकर ढके हुए स्थान का निरू-पण करना चाहिए। जब नीचे की ओर हथेली उत्तान करके हाथ कुछ फैला दिये जायँ तब उनसे समुद्र-तट, बिल के द्वार, गृह और गुहा का अभिनय होता है। काम, शाप, और ग्रह से ग्रस्त लोगों का, ज्वर से व्याकुल चित्त वालों का अभिनय तदनुसार आंगिक अभिनय से करना चाहिए। दोला का अभिनय दोला मुद्रा के चलाने से करना चाहिए

और जब शरीर के संक्षोभ से रस्सी और अश्व के ग्रहण में यह दोला मुद्रा अंगवती, प्रत्यक्षा और पुस्तजा होती है वहाँ आसन पर बैठे हुए ही दोला का कार्य करना चाहिए।

मरण का अभिनय

मरण का अभिनय अनेक भावों के अनुसार किया जाता है। हाथ-पैर पटककर मौन और सन्न हो जाना आदि क्रियाओं से इसका प्रयोग करना चाहिए। जो व्यक्ति व्याधि के कारण मर रहा हो उसे निषण्ण शरीर होकर हिचकी और लंबी साँस लेनी चाहिए, जैसे उसके शरीर की गति भी पराधीन हो गयी हो। विष पीकर मरने वाले व्यक्ति को हाथ और पैर पटककर छटपटाते हुए, विष की लहर से भरे हुए और सारा अंग काँपते हुए दिखाना चाहिए। इसमें भी प्रथम वेग में कृशता या दुबलापन, दूसरे में कंपन, तीसरे में दाह, चौथे में लोट-पोट होना, पाँचवे में मुँह से झाग आना, छठे में ग्रीवा टेढ़ी हो जाना, सप्तम में जड़ता और अष्टम में मरण होता है। प्रथम वेग में कृशता दिखाने के लिए मुँह और कपोल दुबले करके मुँह से थोड़ा-थोड़ा शब्द निकले, दूसरे वेग में सारे अंगों में कंपन तथा खुजलाहट हो, तीसरे वेग में शरीर में जलन हो, हाथ-पैर पटकता हो और शरीर इधर-उधर मरोड़ता हो, चौथे में आँखें ऊपर चढ़ गयी हों, मुँह से आह-ऊह करता हो, छर्दन हो तथा अस्पष्ट अक्षर कहता हो, पाँचवें वेग में सिर घूमता हो, मुँह से फेन गिरता हो और आँखों के पलक स्थिर हो गये हों, छठे में सिर एक ओर झुक गया हो और गाल कंधों से छू गया हो, सप्तम में सब इंद्रियाँ जड़ हो गयी हों और आठवें अर्थात् मरण की दशा में नेत्र मूँद लिये जायँ; यह अभिनय चाहे व्याधि के कारण हो या सर्प काटने से हो।

हाथ के कार्य

रस और भाव के अनुसार हाथों के निम्नांकित कार्य हैं। उत्कर्षण (ऊपर खींचना), विकर्षण (खींचकर हटा लेना), व्याकर्षण (अपनी ओर आकृष्ट करना), परिग्रह (लेना), निग्रह (दण्ड देना), आह्वान (बुलाना), तोदन (पीटना या अंकुश मारना), संश्लेष (गले लगाना), वियोग (अलग करना), रक्षण (रक्षा करना), मोक्षण (छोड़ना), विक्षेप (नीचे फेंकना), धुनन (हिलाना), विसर्ग (अस्वीकार करना), तर्जन (डाँटना), छेदन (काटना), भेदन (फाड़ना), स्फोटन (फोड़ना), मोटन (दबाना) और ताड़न (पीटना)।

नाट्य की दृष्टि से हाथ का संचार या चलाना तीन प्रकार का होता है—उत्तान, पार्श्वग (अर्थात् एक पार्श्व में चलाना) और अधोमुख (नीचे चलाना)। ये हाथ के प्रचार नेत्र, भौंह, मुख और राग आदि के साथ यथाविधि प्रयोग में लाने चाहिए। करण, कर्मस्थान, प्रचार, युक्ति और क्रिया देखकर लोकोपचार के साथ हाथ का अभिनय करना चाहिए। श्रेष्ठ लोगों का हाथ ललाट तक चलना चाहिए। मध्यम लोगों का वक्ष तक और अधमों का नीचे तक। महापुरुषों का अभिनय करते समय हाथ का संचालन थोड़ा होना चाहिए। मध्यम लोगों का कुछ उससे अधिक और अधमों का बहुत अधिक हो सकता है, अर्थात् हाथ के अभिनय के प्रयोग में औचित्य का सदा ध्यान रखना चाहिए।

यह आवश्यक नहीं कि हाथ का अभिनय सब दशाओं में किया ही जाय। विषाद, मूर्च्छा, लज्जा, घृणा, शोक, ग्लानि, स्वप्न, निश्चेष्टता, तन्द्रा, जड़ता, व्याधि-ग्रस्तता, जरा, भय, दुःख, विकलता, शीत, मत्तता, प्रमत्तता, उन्मत्तता, चिन्ता, तपस्या, हिमवर्षा, बन्धन, जल में डूबना, स्वप्न में पड़े रहना, घबराना और नख-संस्फोटन आदि में हाथ का अभिनय न करके सात्त्विक भावों से ही इनका प्रदर्शन करना चाहिए और अनेक रस तथा भावों के अनुसार विशेष काकु-स्वर का प्रयोग करना चाहिए। जब दोनों हाथ सटे हुए हों तब अर्थ-सूचक विराम, मौन या दृष्टि के द्वारा वाचिक अभिनय करना चाहिए।

भरत ने यद्यपि अभिनय के अनेक प्रकार बताये हैं किन्तु इन्हें पूर्ण और अलम् नहीं समझना चाहिए, क्योंकि उन्होंने यह भी कह दिया है कि समय, अवसर, व्यक्ति और वस्तु के अनुसार अभिनय अनेक प्रकार के होते हैं जिन्हें नाट्यशास्त्र के विद्वान् अनेक प्रकार की मुद्राओं के आश्रय से व्यक्त कर सकते हैं। जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है कि नाट्यशास्त्र में इन मुद्राओं का विवरण उतना स्पष्ट नहीं है जितना अभिनयदर्पण में। किन्तु यह निश्चित है कि नाट्यशास्त्र के रचयिता ने उसे निश्चय ही अत्यन्त व्यवस्थित रूप से संपादित किया होगा किन्तु काल-चक्र के अनुसार उसका बहुत-सा अंश, बहुत से हाथों में पड़ने के कारण अस्पष्ट हो गया।

नृत्य-समाश्रित हस्त

ऊपर बताया गया है कि नाट्य और नृत्य पर समाश्रित अंगों का संचार तीन प्रकार का होता है—उत्तान, पार्श्वग और अधोमुख। किन्तु कुछ आचार्यों का मत है कि नाट्य और नृत्य पर समाश्रित हाथ का प्रचार पाँच प्रकार का होता है—उत्तान, वर्तुल, त्र्यस्र, स्थित और अधोमुख।

नृत्त-समाश्रित हस्तमुद्रा

नृत्त के हस्त-अभिनय भी दोनों हाथों की अलग-अलग मुद्राओं से चौंसठ प्रकार के होते हैं—चतुरस्र, उद्‌वृत्त, तलमुख, स्वस्तिक, विप्रकीर्ण, अरालखटकामुख, आविद्ध-वक्र, सूच्यास्य, रेचित, उत्तानवंचित, पल्लव, नितंब, केशबंध, लता, करिहस्त, पक्षवं-चितक, पक्षप्रद्योतक, गरुडपक्ष, दंडपक्ष, ऊर्ध्वमण्डल, पार्श्वमण्डल, उरोमण्डल, पार्श्वार्ध-मण्डल, मुष्टिकस्वस्तिक, पद्मकोष, अलपल्लव, उल्वण, ललित और वलित। यद्यपि भरत ने बताया है कि ये चौंसठ मुद्राएँ होती हैं किन्तु केवल २९ का ही नाम और विवरण दिया है। अभिनयदर्पण में तेरह प्रकार के नृत्त-हस्त बताये हैं—पताक, स्वस्तिक, दोला, अंजलि, कटकावर्धन, शकट, पार्श्व, कीलक, कपित्थ, शिखर, कूर्म, हंसास्य और अलपद्म। इसी प्रसंग में अभिनयदर्पणकार ने नृत्त-हस्तों की गति पाँच प्रकार की बतायी है—ऊपर, नीचे, दायें, बायें और सामने ; और यह भी कहा है कि जैसा पैर का विन्यास हो वैसे ही हाथों का भी करना चाहिए। इसी प्रसंग में यह भी कहा गया है कि जहाँ हाथ हो वहीं दृष्टि हो, जहाँ दृष्टि हो वहीं मन हो और जहाँ मन हो वहीं भाव होता है और जहाँ भाव होता है वहीं रस होता है। अभिनयदर्पणकार ने नृत्त के जो हस्त बताये हैं उनका विवरण ऊपर दिया जा चुका है। भरत ने जो चौंसठ नृत्त-हस्त कहकर उन्तीस का नाम गिनाया है उनका विवरण दिया जा रहा है।

जब दोनों हाथ छाती से आठ अंगुल दूरी पर सामने की ओर खटकामुख होकर कूर्परांश के बराबर आते हैं वे चतुरस्र कहलाते हैं। जब दोनों हाथ हंसपक्ष की मुद्रा में तालवृन्त के समान फैल जाते हैं उन्हें उद्‌वृत्त या तालवृन्त कहते हैं। जब दोनों हाथ चतुरस्र में स्थित होकर हंसपक्ष की मुद्रा बनाते हैं और तिरछे होकर सामने स्थित होते हैं उन्हें तलमुख कहते हैं। जब वे ही हाथ मणिबन्ध के छोर पर स्वस्तिक की मुद्रा बनाते हैं तब स्वस्तिक कहलाते हैं और जब विच्युत हो जाते हैं तब वे विप्रकीर्ण कहलाते हैं। जब अलपल्लव के संस्थान में हाथ लाकर ऊपर कर दिये जाते हैं तब पद्मकोष कहलाता है। जब अराल और खटका की मुद्रा साथ-साथ बनायी जाती है तब अरालखटकामुख कहलाता है। कुछ लोगों का मत है कि मणिबन्ध के छोर पर जब दोनों हाथ अराल विच्युत कर दिये जाते हैं तब अराल-खटका मुद्रा होती है। भुजा के कन्धे पर कूर्पर के अगले भाग तक जब दोनों हाथ टेढ़े करके घुमा दिये जायँ और दोनों हथेलियाँ पराङमुख कर दी जायँ वह आविद्धवक्र कहलाता है। जब दोनों हाथों की सर्पशीर्ष मुद्रा में मध्यमा और अँगूठे को तिरछा फैला दिया जाय तब सूची-मुख कहलाता है। कुछ लोगों का मत है कि जब दोनों हाथ सर्पशीर्ष की मुद्रा में स्वस्तिक बनाकर रखे जाते हैं और दोनों अंगूठे बीच में फैला दिये जाते हैं उसे सूचीमुख कहते

हैं। जब वेग से दोनों हाथ घुमाकर हंस-पक्ष में फैलाकर हथेली उत्तान कर दी जाती है उसे रेचित कहते हैं। जब बायाँ हाथ चतुरस्र में हो और दाहिना रेचित की मुद्रा में, वह अर्धरेचित कहलाता है। जब दोनों कूर्परांश अंचित हों और दोनों हाथों से त्रिपताक बनाकर कुछ तिरछे कर दिये गये हों उसे उत्तानवंचित कहते हैं, जब पताक मुद्रा मणिबन्ध से युक्त हो उसे पल्लव कहते हैं। जब पताक की मुद्रा में दोनों हाथ कन्धों से आगे निकले हुए हों उसे नितम्ब कहते हैं। जब पार्श्वक्षेत्र से उठे हुए हाथ सिर पर पहुँच जायँ और केश से नितम्ब-हस्त के समान निकलकर फिर केश के पास लौट आयें उसे केश-बन्ध कहते हैं। जब तिरछे फैले हुए हाथ दोनों पार्श्वों में स्थित हों उसे लता कहते हैं। जब समुन्नत लता-मुद्रा में एक हाथ एक ओर से दूसरी ओर झूलता हो और दूसरा हाथ कान के पास त्रिपताक मुद्रा में हो उसे करिहस्त कहते हैं। जब दोनों हाथ त्रिपताक मुद्रा में, एक कमर पर और दूसरा सिर पर रखा हुआ हो उसे पक्ष-वंचितक कहते हैं। जब वे ही हाथ परावृत्त या उलटे हों तब उसे पक्ष-प्रद्योतक कहते हैं और जब उन दोनों हाथों की हथेली उलट दी जायँ तब गरुडपक्ष बन जाता है। जब दोनों हाथों से हंसपक्ष मुद्रा बनाकर व्यावृत्त और परिवर्तित कर दी जाय और दोनों भुजाएँ फैला दी जायँ उसे दण्ड-पक्ष कहते हैं। जब दोनों हाथों को ऊपर घुमाया जाय उसे ऊर्ध्वमण्डल और पार्श्व में रख दिया जाय तब पार्श्वमण्डल कहलाता है। जब एक हाथ उद्वेष्टित हो तथा दूसरा अपवेष्टित हो और दोनों छाती पर घुमाये जाते हों उसे उरोमण्डल कहते हैं। जब एक हाथ अलपल्लव में और दूसरा अराल मुद्रा में अर्ध-भ्रमण क्रम से उर और पार्श्व में घूमता है, उसे पार्श्वार्धमण्डल कहते हैं। जब मणि-बन्ध के छोर पर दोनों हाथ कुंचित और अंचित हों और खटका मुद्रा में हों उसे मुष्टिक-स्वस्तिक कहते हैं। जब दोनों हाथ पद्मकोष की मुद्रा में व्यावृत्त और परिवर्धित हों उन्हें नलिनीपद्मकोष कहते हैं। जब दोनों हाथों को आगे उद्वेष्टित करके अलपल्लव की मुद्रा में साधा जाय और दोनों हाथ ऊपर उठा लिये जायँ तब उल्वण मुद्रा होती है। जब दोनों हाथ पल्लव मुद्रा में सिर पर साधे जायँ तब ललित कहलाते हैं और जब दोनों हाथों से कूर्पर पर स्वस्तिक से युक्त लता मुद्रा का प्रयोग किया जाय तब वलित मुद्रा कहलाती है।

इन नृत्त-हस्तों का प्रयोग करण में और अर्थ के अभिनय में करना चाहिए और प्रसंगवश इन्हें मिलाकर भी किया जा सकता है।

करण

करण चार प्रकार के होते हैं—करण का अर्थ है मूल हाथ का अभिनय। ये चार प्रकार के होते हैं—आवेष्टित, उद्वेष्टित, व्यावर्त और परिवर्तित।

जब अँगूठे को छोड़कर शेष चारों उँगलियाँ कलात्मक रीति से हथेली की ओर मोड़ी जाती हैं, उसे आवेष्टित कहते हैं। जब आवेष्टित में हथेली की ओर झुकी हुई उँगलियाँ उसी प्रकार कलात्मक रीति से खोली जाती हैं और मणिबन्ध अत्यन्त सुन्दरता के साथ घूमता हुआ उँगलियों को खोलता है उसे उद्वेष्टित कहते हैं। जब हाथ की उँगलियाँ कनिष्ठिका से तर्जनी तक बारी-बारी से कलात्मक रीति से हथेली की ओर झुकायी जाती हैं उसे व्यावृत्त या व्यावर्त कहते हैं। जब कनिष्ठिका से लेकर तर्जनी तक की सब उँगलियाँ बारी-बारी से कलात्मक रीति से बाहर की ओर खुलती हैं उसे परिवर्तित या परिवर्त कहते हैं। नृत्य और अभिनय में आवश्यकता के अनुसार इन करणों का प्रयोग मुख, भ्रू और नेत्र के साथ करना चाहिए।

बाहु के करण निम्नांकित प्रकार के होते हैं—तिर्यक्, ऊर्ध्वसंस्थ, अधोमुख, अंचित, अपविद्ध, मण्डलगति, स्वस्तिक, पृष्ठानुसारी, उद्वेष्टित और प्रसारित। दोनों ओर तिरछे हाथ ले जाने को तिर्यक्, सिर के ऊपर हाथ ले जाने को ऊर्ध्व, भूमि छूने को अधोमुख, हृदय से लेकर सिर तक हाथ पहुँचाने को अंचित, दोनों हाथों के आगे से दंड स्वस्तिक बनाते हुए एक दूसरे पर रगड़ने को अपविद्ध, चारों ओर घुमाने को मण्डल-गति कहते हैं, एक दूसरे पर आर-पार रखने को स्वस्तिक, पीठ पर ले जाने को पृष्ठा-नुसारी, मणिबन्ध को घुमाते हुए हाथ निकालने और फैलाने को उद्वेष्टित और हाथ आगे फैला देने और बढ़ा देने को प्रसारित कहते हैं।

अध्याय १३

भारतीय अभिनय-पद्धति (अंगाभिनय)

उर या वक्ष का अभिनय

उर या वक्ष का अभिनय पाँच प्रकार का होता है—आभुग्न, निर्भुग्न, प्रकंपित, उद्वाहित और सम। जब पीठ बारी-बारी से उठायी और नीची की जाय और हाथ ढीले छोड़ दिये जायँ और यह क्रिया बार-बार दुहरायी जाय उसे आभुग्न कहते हैं। इसका प्रयोग सम्भ्रम, विषाद, मूर्च्छा, शोक, भय, व्याधि, हृदय-शल्य, शीत के स्पर्श, वर्षा और लज्जा में करना चाहिए। जब नीचे की पीठ स्तब्ध हो और निर्भुग्न कंधा उठा हुआ हो उसे निर्भुग्न मुद्रा कहते हैं। इसका प्रयोग स्तम्भ, मान-ग्रहण, विस्मयपूर्ण दृष्टि, सत्य-वचन, अहंकार से भरे हुए दर्पवचन और गर्व की बात में करना चाहिए। कुछ लोगों का कहना है कि स्त्रियों को दीर्घ निःश्वास लेने, जम्हाई लेने, अँगड़ाई लेने और बिब्बोक हाव में इसका प्रयोग करना चाहिए। बार-बार अपनी छाती को ऊपर उठाने की क्रिया को प्रकंपित कहते हैं। हँसने, रोने, काम की थकावट में, साँस, खाँसी, हिचकी और दुःख में इसका प्रयोग करना चाहिए। जब छाती ऊपर को उठा ली जाय उसे उद्वाहित कहते हैं। इसका प्रयोग लम्बी साँस, उन्नत वस्तु को देखने और जम्हाई लेने में किया जाता है। सब अंगों के विन्यास से चतुरस्र किया हुआ स्वस्थ और सौष्ठव-युक्त उर ही सम कहलाता है।

पार्श्व का अभिनय

पार्श्व का अभिनय पाँच प्रकार का होता है—नत, समुन्नत, प्रसारित, विर्वातित तथा अपसृत। जब कटि व्याभुग्न हो, पार्श्व आभुग्न हों, कन्धे अपसृत हों और कुछ पार्श्व की ओर झुके हुए हों उसे नत कहते हैं। इस नत के ठीक उलटे दूसरे पार्श्व में जब कटि, पार्श्व और भुजा के कन्धे उन्नत होते हैं उसे समुन्नत कहते हैं। जब आयाम से दोनों पार्श्व फैले हुए हों उसे प्रसारित कहते हैं। जब कटि, पार्श्व और भुज तीनों परिवर्त हों उसे विर्वातित कहते हैं। जब इन तीनों का निवर्तन और अपनयन हो उसे अपसृत कहते हैं। इनके संबन्ध में यह बताया गया है कि उपसर्प में नत का, अपसर्प

में समुन्नत का, प्रसन्नता में प्रसारित का, परिवृत्त में विवर्तित का और विनिवृत्त में अपसृत का प्रयोग करना चाहिए।

जठर या उदर का अभिनय

जठर का अभिनय तीन प्रकार का बताया गया है—१. क्षाम, खल्व और पूर्ण। पिचके पेट को क्षाम, धँसे हुए पेट को खल्व और फूले हुए को पूर्ण कहते हैं। हँसी, रोने, लम्बी साँस और जम्हाई लेने में क्षाम का प्रयोग करना चाहिए। खल्व का प्रयोग व्याधि, तपस्या, थकावट और भूख में करना चाहिए। पूर्ण का प्रयोग उच्छ्वास, स्थूलता और अधिक भोजन में करना चाहिए। कुछ लोगों का मत है कि उदर का अभिनय चार प्रकार का होता है—क्षाम, खल्व, सम और पूर्ण। स्वाभाविक उदर को सम कहते हैं।

कटि का अभिनय

नाट्य और नृत्त में कटि का अभिनय पाँच प्रकार का होता है—छिन्ना, निवृत्ता, रेचिता, कंपिता और उद्वाहिता। बीच से मोड़ी हुई कटि को छिन्ना, पीछे को झुकी हुई को निवृत्ता, चारों ओर घूमने वाली को रेचिता, तिरछी होकर नीचे-ऊपर होने वाली को कंपिता और नितम्ब की ओर उठाने के कारण झुकी हुई को उद्वाहिता कहते हैं। इनमें से छिन्ना का प्रयोग व्यायाम, सम्भ्रम, व्यावृत्त और प्रेक्षण आदि में; निवृत्ता का प्रयोग वर्तन में; रेचिता का भ्रमण आदि में और प्रकंपिता का प्रयोग कुब्ज, वामन तथा नीचों की गति में करना चाहिए। मोटे लोगों और स्त्रियों की लीला-गति में उद्वाहिता का प्रयोग करना चाहिए।

ऊरु का अभिनय

ऊरु का अभिनय पाँच प्रकार का होता है—कम्पन, वलन, स्तंभन, उद्वर्तन और विवर्तन। पार्ष्णि के नमन और उन्नमन को उरु-कम्पन, जानु को भीतर कर लेने को वलन, अपविद्ध क्रिया में उसकी गति को स्तम्भन, वलित आविद्ध-करण को उद्वर्तन और जब पार्ष्णि भी भीतर चली जाय उसे निवर्तन कहते हैं। अधिक पात्रों की गतियों में कंपन का; स्त्रियों के स्वैर-परिक्रम में वलन का; साध्वस और विषान में स्तंभन का; व्यायाम और ताण्डव में उद्वर्तन का और संभ्रम आदि के परिक्रम में विवर्तन का प्रयोग करना चाहिए। और भी जैसा लोक में आचरण होता हो वैसा देखकर अभिनय करना चाहिए।

जंघा (पिंडली) का अभिनय

पिंडली का अभिनय पाँच प्रकार का होता है—आवर्तित, नत, क्षिप्त, उद्वाहित और परिवृत्त। जब बायाँ पैर दाहिनी ओर को और दाहिना पैर बायीं ओर को चलाया जाय तो उसे आवर्तित कहते हैं। इसमें पिंडलियों से स्वस्तिक बनाकर क्रमशः आवर्तित मुद्रा बनानी चाहिए। घुटने सिकोड़ने से नत और पिंडली के विक्षेप से क्षिप्त होता है, अथवा घुटनों के नमन से नत और बाहर विक्षेप से क्षिप्त होता है, पिंडली को ऊपर उठाने से उद्वाहित और उलट देने से परिवृत्त होता है।

विदूषक के परिक्रम में आवर्तित का, स्थान और आसनगत क्रिया में नत का, व्यायाम और ताण्डव में क्षिप्त का, आविद्धगमन आदि में उद्वाहित का और ताण्डव के प्रारंभ में परिवृत्त का प्रयोग करना चाहिए।

पैरों का अभिनय

पैर का अभिनय भी पाँच प्रकार का होता है—उद्घट्टित, सम, अग्रतल-संचर, अंचित और कुंचित। पैर के जिस करण में अगले पंजों पर खड़े होकर पार्ष्णि को भूमि में गिराते हैं उसे उद्घट्टित कहते हैं। इसका प्रयोग उद्वेष्टित करणों में अनुकरण के लिए एक या अनेक बार करके द्रुत या मध्यम प्रचार करना चाहिए। स्वाभाविक अभिनय में स्वाभाविक भूमि पर उचित चरण रखने को सम पाद कहते हैं। इसका प्रयोग स्वाभाविक अभिनय में होता है। अनेक करणों से युक्त पादरेचित के स्वाभाविक अभिनय में पहले स्थिर फिर चलित का प्रयोग करना चाहिए। कुछ आचार्यों ने एक त्र्यस्र पाद भी माना है और बताया है कि जब समपाद-मुद्रा की पार्ष्णि पैर के भीतर और पार्श्व में स्थित हो उसे त्र्यस्र पाद कहते हैं। जब अश्वक्रान्त में सम पाद छोड़ दिया जाय तब विकलता आदि भावों में त्र्यस्र पाद का प्रयोग होता है। जब पार्ष्णि उत्क्षिप्त हो, अंगुष्ठ फैला हो और उँगलियाँ अंचित हों, वह अग्रतल-संचर होता है। इस मुद्रा के द्वारा प्रेरण, निकुट्टन, पीड़ा देना, दबाना, भूमि रौंदना और भ्रमण तथा विविध-रेचक और पार्ष्णिकृत आगमन द्वारा इसी मुद्रा से भूत-प्रेत दूर करने का अभिनय किया जाता है।

जिसकी पार्ष्णि भूमि में हो, पैर अग्रतल मुद्रा में हो और सब उंगलियाँ अंचित हों उसे अंचित कहते हैं। पंजों पर चलने, वर्तित, उद्वर्तित, अनेक प्रकार की भ्रमरी, चारी वाली गतियों और पादाहत में इसका प्रयोग करना चाहिए।

जिसकी पार्ष्णि उत्क्षिप्त हो, उँगलियाँ और मध्य भाग भी कुंचित हो उसे कुंचित कहते हैं। इस पैर का प्रयोग उदात्त गमन, वर्तित, उद्वर्तित और अतिक्रान्त क्रम में करना चाहिए।

कुछ लोगों का मत है कि जब एड़ी उत्क्षिप्त हो, दाहिना पैर अँगूठे के अग्र भाग पर संश्रित हो और बायाँ पैर स्वभावस्थ हो उसे सूचीपाद कहते हैं। इसका प्रयोग नृत्त के नूपुर करण में होता है।

पैर, पिंडली और ऊरु का करण साथ-साथ चलना चाहिए। पैर के करण में सब कुछ पिंडली और ऊरु का ही कृत्य माना जाता है, क्योंकि जैसे-जैसे पैर चलता है वैसे ही वैसे ऊरु भी चलता है। पैर और ऊरु के समान करण से पाद चारी का प्रयोग करना चाहिए। भारतीय नाट्यशास्त्र में चारी का बड़ा महत्त्व बताया गया है।

चारी और मण्डल

पैर, जंघा (पिंडली), ऊरु (जाँघ) और कटि, इनकी समान रूप से चेष्टा को चारी कहते हैं। इसी चारी को व्यायाम भी कहते हैं। एक पैर के प्रचार को चारी, दोनों पैरों के संचरण को करण, तीन करणों के एक साथ प्रयोग को खण्ड और तीन या चार खण्डों को मिलाकर एक मण्डल का प्रयोग होता है। चारी के प्रयोग से ही नृत्य का प्रसार, चेष्टा का प्रचार, शस्त्र-संचालन और युद्ध का प्रदर्शन सब कुछ होता है। समस्त नाट्य ही चारी पर आश्रित है। नाट्य में कोई भी अंग चारी के बिना नहीं चलता, अतः नृत्त, युद्ध और गति के लिए चारी का प्रयोग जानना आवश्यक है।

चारी के दो प्रकार

ये चारियाँ दो प्रकार की होती हैं—भूमिगत और आकाशगत।

भूमि-चारियाँ

भूमि-चारियाँ सोलह प्रकार की होती हैं—समपादा, स्थितावर्ता, शकटास्या, अध्यर्धिका, चाषगति, विच्यवा, एडका-क्रीडिता, बद्धा, ऊरूद्वृत्ता, अड्डिता, उत्स्पंदिता, जनिता, स्पन्दिता, अपस्पन्दिता, समोत्सारितमत्तली और मत्तली। ये चारियाँ युद्ध में करणों के सहारे प्रयोग में लायी जाती हैं।

पैरों को मिलाकर सब नख समान करके पैर रखे जायँ, उसे समपादा कहते हैं। भूमिघृष्ट (अग्रतल-संचरण) पैर से अभ्यन्तर मंडल करने अर्थात् दूसरे पार्श्व में खींच लेने को स्थितावर्ता कहते हैं। निषण्णांग होकर जब तलसंचर का प्रसारण करते

हुए उर (छाती) उद्वाहित किया जाय, तब शकटास्या मुद्रा होती है। दायें पैर के पीछे बायाँ पैर करके चलने को अर्ध्यर्धिका कहते हैं। जब दायाँ पैर प्रसारित करके उसे अपसर्पित कर लिया जाय और पीछे हटा लिया जाय तथा बायाँ पैर भी दाहिने के साथ आगे-पीछे बढ़ता-हटता चले उसे चाषगति कहते हैं। सम पाद का विच्यव करके पैर के पंजे से धरती के विघट्टन करने को विच्यवा कहते हैं। तल-संचर पैर की मुद्रा में उछलकर पर्यायशः गिरने को एडकाक्रीडिता कहते हैं। दोनों पिंडलियों को स्वस्तिक की मुद्रा में आर-पार रखकर ऊरुओं (जाँघों) के वलन करने को बद्धा कहते हैं। जब तलसंचर पाद-मुद्रा में एड़ी बाहर की ओर हो, पिंडलियाँ अंचित तथा उद्वृत्त हों उसे ऊरूद्वृत्ता कहते हैं। जब एक पैर आगे से और पीछे से अग्रतल-संचर करता है और दूसरा पैर उसी के साथ मिलकर घट्टित चलता है उसे अड्डिता कहते हैं। जब रेचक के अनुसार धीरे-धीरे पैर बाहर से और भीतर से निर्वर्तित होता है उसे उत्स्पंदिता कहते हैं। जब एक हाथ वक्ष पर मुष्टि मुद्रा में हो और दूसरा तल-संचर पाद के साथ प्रवर्तित हो उसे जनिता कहते हैं। जब एक पैर दूसरे पैर से पाँच ताल की दूरी पर हो उसे स्पन्दिता कहते हैं। जब दूसरा पैर इसी प्रकार पाँच ताल की दूरी पर रखा जाय उसे अपस्पन्दिता कहते हैं। जब तलसंचर पादों से घूमते हुए उपसर्पण किया जाता है तब समोत्सारितमत्तली होती है और इसका प्रयोग व्यायाम में किया जाता है। जब दोनों पैरों से घूमकर उपसर्पण किया जाय और दोनों हाथ उद्वेष्टित और अपविद्ध हों तब मत्तली होती है।

आकाश-चारियाँ

आकाश-चारियाँ भी सोलह प्रकार की होती हैं—अतिक्रान्ता, अपक्रान्ता, पार्श्वक्रान्ता, ऊर्ध्वजानु, सूची, नूपुरपादिका, दोलापादा, आक्षिप्ता, व्याविद्धा, उद्वृता, विद्युद्भ्रान्ता, अलाता, भुजंगत्रासिता, मृगप्लुता, दंडा और भ्रमरी। जब कुंचित पैर को ऊपर उठाकर सामने फैला दिया जाय और फिर उछाल-कर नीचे गिरा दिया जाय उसे अतिक्रान्ता कहते हैं। जब ऊरुओं का वलन करके कुंचित पैर निकाल लिया जाय और उसे पार्श्व में विनिक्षिप्त किया जाय उसे अपक्रान्ता कहते हैं। जब कुंचित पैर को उछालकर, जानु को उठाकर स्तन के बराबर रख लिया जाय तब उद्घट्टित पैर से पार्श्वक्रान्ता चारी बनती है। जब कुंचित पैर को उछालकर जानु को स्तन के पास रखा जाय तथा दूसरे का क्रम स्तब्ध हो तब ऊर्ध्वजानु चारी होती है। जब कुंचित पैर को उछालकर जानु को ऊपर फैला दिया जाय और अग्रयोग से उसे नीचे भूमि पर गिराया जाय तब नूपुरपादिका चारी होती है। जब कुंचित पैर को

उछालकर एक ओर से दूसरी ओर को झुलाया जाय और फिर उस अंचित पैर को गिरा दिया जाय वह दोलापादा चारी होती है। जब कुंचित पैर को उछालकर अंचित को आक्षिप्त करके रखा जाय और पिंडलियाँ स्वस्तिक से संयुक्त हों वह आक्षिप्ता चारी होती है। जब स्वस्तिक के आगे का पैर कुंचित होकर स्वस्तिक से संयुक्त हो वह आक्षिप्ता चारी होती है। जब स्वस्तिक के आगे का पैर कुंचित करके फैला दिया जाय और अंचिताविद्ध को नीचे गिरा दिया जाय उसे आविद्धा कहते हैं। जब आविद्ध पैर को आविष्ट और समुत्प्लुत करके गिरा दिया जाय और दूसरे पैर को परिवृत्त कर लिया जाय उसे उद्वृत्ता कहते हैं। जब वलित पैर को पीछे की ओर से रगड़ लिया जाय और चारों ओर मण्डलाविद्ध किया जाय उसे विद्युद्भ्रान्ता कहते हैं। जब पीछे की ओर फैलाया हुआ वलित पैर अभ्यन्तरित किया जाता है और एड़ी गिरा दी जाती है उसे अलाता कहते हैं। जब कुंचित पैर को उछालकर न्यस्त ऊरु को विवर्तित किया जाता है तब कटि और जाँघ के विवर्तन से भुजंगत्रासिता चारी होती है। जब अतिक्रान्त क्रम करके उछलकर पैर को गिराया जाय और अंचिता पिंडली परिक्षिप्त कर दी जाय उसे हरिणप्लुता कहते हैं। जब पैर को नूपुर-पादिका करके आगे फैला दिया जाय और तत्काल वेग से आविद्ध करण किया जाय उसे दण्डपादा कहते हैं। अतिक्रान्त क्रम करके जब कटि, ऊरु और पिंडली परिवर्तित कर दी जायँ और तलवे से दूसरे पैर तक चक्कर काट लिया जाय उसे भ्रमरी कहते हैं। ये ललित-अंगक्रियात्मिका आकाशिका चारी कहलाती हैं। ये चारियाँ धनुष, वज्र, तलवार और शस्त्र चलाने में प्रयुक्त होती हैं।

भ्रमरी (चक्कर लेना, घूमना)

अभिनयदर्पण में भ्रमरी सात प्रकार की बतायी गयी हैं—उत्प्लुत, चक्र, गरुड़, एकपाद, कुंचित, आकाश, अंग।

जब समपाद मुद्रा में कोई पूरा चक्कर घूम जाय तब उसे उत्प्लुत भ्रमरी कहते हैं। जब कोई पृथ्वी पर पैर रखकर और दोनों हाथों से त्रिपताक मुद्रा बनाकर वेग से पूरा घूम जाय तो उसे चक्र भ्रमरी कहते हैं। एक पैर दूसरे पर आर-पार रखकर, एक घुटना धरती पर टेककर और दोनों हाथ पूरे फैलाकर वेग से चक्कर काटने को गरुड भ्रमरी कहते हैं। बारी-बारी से एक पैर पर पूरा घूमने को एकपाद भ्रमरी कहते हैं। घुटने झुकाकर पूरा घूम जाने को कुंचित भ्रमरी कहते हैं। यदि कोई दोनों पैर चौड़े फैलाते हुए ऊपर उछलकर पूरा चक्कर लगाये तो उसे आकाश भ्रमरी कहते हैं। जब कोई आधे हाथ दूरी पर दोनों पैरों को रखते हुए घूमकर रुक जाय तो अंग भ्रमरी होती है।

यूनानी नाट्य-पद्धतियों में भी चक्र फेंकने, धनुष चलाने या भाला फेंकने में इस प्रकार की गतियों का विवरण मिलता है। लयात्मक नाट्य-पद्धति वालों (क्यूबिस्ट) ने भी इस प्रकार की पद-चारण-पद्धतियों का विधान अपने यहाँ किया है। ऊपर जिन आकाश-चारियों का प्रयोग बताया गया है उनके साथ हाथों को भी आगे, पीछे या साथ में संचरण करना चाहिए, क्योंकि जहाँ पैर होगा वहीं हाथ होगा, जहाँ हाथ होगा वहीं कटि, ऊरु और पिंडलियाँ होंगी। इस प्रकार पैर का निर्गम करके उपांगों का प्रयोग करना चाहिए, जैसे पाद-चारी में पैर पृथ्वी पर आता है उसी प्रकार हाथ भी चलाकर कमर पर टेक लेना चाहिए। इनका प्रयोग सब शस्त्रों के चलाने में किस प्रकार किया जाता है वह भी जान लेना चाहिए।

उत्प्लव (उछल-कूद)

अभिनयदर्पण में उत्प्लव का भी विधान है और वह पाँच प्रकार का बताया गया है—अलग, कर्तरी, अश्व, मोटित और कृपालग।

कमर पर शिखर मुद्रा में हाथ टेककर दोनों पैरों से एक साथ कूदना अलग कहलाता है। बायें पैर के पीछे कर्तरी मुद्रा में हाथ रखकर पंजों पर कूदना कर्तरी कहलाता है। दोनों पैरों पर पहले कूदकर फिर दोनों को एक साथ मिलाकर धरती पर टेकने और दोनों हाथों से त्रिपताक बनाने को अश्व कहते हैं। बारी-बारी से दोनों पार्श्वों में कूदने को मोटित कहते हैं। दोनों पैरों की एड़ियों को बारी-बारी से कटि पर रखकर दोनों के बीच में दोनों हाथों की अर्धचन्द्र मुद्रा बनाने को कृपालग कहते हैं।

चारी (चलने या पैर रखकर बढ़ने का ढंग)—अभिनयदर्पण के अनुसार चारियाँ या चलने के ढंग आठ प्रकार के होते हैं—चलन, चंक्रमण, सरण, वेगिनी, कुट्टन, लुंठित, लोलित और विषम। स्वाभाविक रीति से पैर आगे बढ़ाने को चलन (चलना या टहलना) कहते हैं। दोनों पैरों को सावधानी से उठा-उठाकर दोनों ओर रखते चलने को चंक्रमण कहते हैं। एक पैर के आगे दूसरे पैर की एड़ी सटाकर सरकने को सरण कहते हैं। बारी-बारी से दोनों हाथों को अलपद्म और त्रिपताक मुद्रा में रखते हुए एड़ी या पंजों पर वेग से चलने को वेगिनी कहते हैं। एड़ी या पंजे से धरती को कूटते हुए चलने को कुट्टन कहते हैं। स्वस्तिक मुद्रा से कुट्टन करते चलने को लुंठित कहते हैं। कुट्टन करते हुए जिस पैर ने भूमि नहीं स्पर्श की है उसे धीरे से चलाने को लोलित कहते हैं। चलते समय दाहिने पैर की दाहिनी ओर बायें पैर को और बायें पैर की बायीं ओर दाहिने पैर को रखते चलने को विषम कहते हैं।

मनुष्यों के छः स्थान (पैंतरे) कहे गये हैं—वैष्णव, समपाद, वैशाख, मण्डल, प्रत्यालीढ और आलीढ।

जब दोनों पैरों में दो ताल और आधे ताल का अन्तर करने पर उनमें से एक पैर अस्र मुद्रा में हुआ हो, दूसरा पक्षस्थित हो और पिंडली कुछ अंचित तथा सौष्ठवपूर्ण ढंग से पुरस्कृत हो, उसे वैष्णव-स्थान कहते हैं और विष्णु ही उसके अधिदैवत होते हैं। इस स्थान या आसन से स्वाभाविक संलाप और उत्तम, मध्यम पुरुषों के द्वारा अनेक प्रकार के कार्यों का प्रयोग किया जा सकता है। इसका प्रयोग चक्र चलाने, धनुष धारण करने, धीरोदात्त नायक के भावों, लीलाओं और क्रोध में किया जा सकता है। यही उलटकर प्रणय-क्रोध, उपालम्भ, प्रणय, उद्वेग, शंका, असूया, उग्रता, चिन्ता, मति, स्मृति, दैन्य, चपलता, गर्व, अभीष्ट शक्ति तथा प्रधानतः शृंगार, अद्भुत, बीभत्स और वीर रसों में प्रयुक्त होता है।

समपाद आसन में दोनों पैर समान रूप से एक ताल की दूरी पर स्थित और स्वाभाविक सौष्ठव से युक्त होते हैं। ब्रह्मा इसका अधिदैवत है। इस आसन से विप्र, मंगल-धारण, पक्षियों के रूपण, वर-कौतुक, आकाशस्थित, रथस्थित, विमानस्थित, लिंगस्थ या संन्यासी और व्रतस्थ या तपस्वियों का निर्देश करना चाहिए।

जब दोनों पैरों में तीन ताल और आधे ताल का अन्तर हो, तीन ताल और आधे ताल पर स्थित ऊरु का प्रकल्पन हो और दोनों पैर त्र्यस्र तथा पक्षस्थित हों उसे वैशाख स्थान कहते हैं। स्कन्द इसका अधिदैवत होता है। इस स्थान से घोड़े पर चढ़ने, घुड़सवारी, व्यायाम, स्थूल पक्षी के निरूपण, धनुष के समुत्कर्ष और व्यायामकृत रेचक का प्रयोग करना चाहिए।

जब चार ताल के अन्तर पर स्थित दोनों पैर त्र्यस्र मुद्रा में हों, पक्षस्थित हों और दोनों जानु सम हों, वह मण्डल स्थान कहलाता है। इससे धनुष, वज्र, शस्त्र, हाथी पर चढ़ने तथा स्थूल पक्षी के निरूपण का भाव प्रदर्शित किया जाता है। इन्द्र इसका अधिदैवत है।

इसी मण्डल आसन में यदि पाँच ताल पर दाहिना पैर फैला दिया जाय तब आलीढ हो जाता है। रुद्र इसके अधिदेवता हैं। इस स्थान से वीर और रौद्र का प्रदर्शन, रोष और अमर्ष से युक्त एक दूसरे के उत्तर-प्रत्युत्तर, मल्लों का सम्फेट, शत्रुओं का निरूपण, अभिद्रवण और शस्त्रों का मोक्षण प्रदर्शित किया जाता है।

जब दाहिने पैर को अंचित करके बायाँ पैर फैला दिया जाता है और जब आलीढ से उलटा होता है उसे प्रत्यालीढ कहते हैं। वास्तव में आलीढ से युक्त शस्त्र को प्रत्यालीढ से ही छोड़ना चाहिए और अनेक शस्त्रों का विमोक्षण इसी से करना चाहिए।

स्थानक (खड़े होने का ढंग)

अभिनयदर्पण में बताया गया है कि खड़े होते समय पैरों के रखने की रीति (स्थानक) की छः मुद्राएँ होती हैं—समपाद, एकपाद, नागबन्ध, ऐंद्र, गारुड और ब्रह्मस्थान।

समान रूप से दोनों पैरों को मिलाकर खड़े होने को समपाद कहते हैं। इसका प्रयोग देवताओं को पुष्प चढ़ाने और देवताओं का अभिनय करने में होता है। एक पैर पर खड़े होकर दूसरा पैर पहले पैर के घुटने पर आर-पार रखने को एकपाद कहते हैं। दोनों पैरों और दोनों हाथों को आपस में लपेटकर खड़े होने को नागबन्ध कहते हैं। इसका प्रयोग नागबन्ध के लिए ही होता है। एक टाँग झुकाकर और दूसरी टाँग तथा घुटना उठाकर हाथों को स्वाभाविक रूप में लटका लेने को ऐन्द्र कहते हैं। इसका प्रयोग इन्द्र और राजा का निर्देश करने के लिए होता है। यदि आलीढ मुद्रा में एक घुटना पृथ्वी पर टिका हुआ हो और दोनों हाथों से गरुड-मुद्रा बनाकर दिखायी जाती हो वह गारुड स्थानक होता है। (यह मुद्रा स्पष्ट नहीं है।) इसका प्रयोग गरुड का निर्देश करने के लिए होता है। एक घुटने पर एक पैर और दूसरे घुटने पर दूसरा पैर टेककर बैठने को ब्रह्मस्थान कहते हैं। इसका प्रयोग जप तथा अन्य ऐसे कार्यों के लिए होता है।

शस्त्र-मोक्षण के चार न्याय

शस्त्र-मोक्षण के चार न्याय बतलाये गये हैं—भारत, सात्वत, वार्षगण्य और कैशिक। इनमें से भारत में तो कटिच्छेद, सात्वत में पादच्छेद, वार्षगण्य में वक्ष टेढ़ा करना और कैशिक में शिरच्छेद होता है, क्योंकि कुछ युद्ध न्यायाश्रित, कुछ अंगहार से और कुछ न्याय से समुत्थित होते हैं। इसलिए निम्नांकित विवरण को न्याय कहा गया है—

जब खेटक को दाहिने हाथ से ग्रहण करके बायें हाथ से तोड़ा जाय तब हाथ में शस्त्र लेकर प्रविचार का प्रयोग करना चाहिए। दोनों हाथों को फैलाकर फिर उछालकर खेटक को पीछे से और एक ओर से दूसरी ओर को घुमाना चाहिए और फिर शस्त्र के अनुसार शस्त्र को चलाना चाहिए। कपोल के अन्तर में भी शस्त्र का उद्घट्टन करना चाहिए, फिर ललित, उद्वेष्टित, खड्गहस्त खेटक के द्वारा शिरःपरिगम करना चाहिए। भारत शस्त्र-मोक्षण में यही विचार करना चाहिए।

सात्वत में केवल पीछे की ओर से शस्त्र चलाना चाहिए और इस सात्वत श्रम से ही वार्षगण्य गति में शस्त्र तथा खेटक को घुमाना चाहिए। इसी प्रकार शस्त्र का शिरःपरिगम होता है। फिर शस्त्र को उर या कन्धे पर बाँध लेना चाहिए।

भारत में जो प्रविचार किया जाता है वही कैशिक में भी होता है। इसमें शस्त्र को घुमाकर केवल सिर पर चलाना चाहिए। इन प्रविचारों का प्रयोग अंगलीला से ही करना चाहिए। धनुष, वज्र, तलवार और शस्त्र को चलाना तो चाहिए किन्तु उससे न कोई कटे, न छिले, न रुधिर निकले। रंगमंच पर किसी को मारना नहीं चाहिए वरन् केवल प्रहार करना चाहिए और संज्ञा मात्र से शस्त्र चलाना चाहिए अथवा अभिनय के साथ जैसा हो वैसा छेदन करना चाहिए। चीन में ठीक इसी प्रकार से रंगमंच पर युद्ध-क्रिया होती है। अंगसौष्ठव से सम्बद्ध और अंगहार से विभूषित, उचित ढंग से लय-ताल से समन्वित व्यायाम या चारित कराना चाहिए। जो व्यायाम की क्रिया जानते हैं उन्हें सौष्ठव लाने का प्रयत्न करना चाहिए। वर्तना-क्रम-योजित ही सौष्ठव का लक्षण बताया गया है, क्योंकि सारी शोभा सौष्ठव पर आश्रित रही है, क्योंकि नाट्य और नृत्य दोनों ही सौष्ठव से हीन होकर शोभा नहीं पाते। सौष्ठव में न चंचल होना चाहिए न कुब्ज होना चाहिए, न आगत होना चाहिए, न अत्युच्च होना चाहिए और न चलपाद होना चाहिए। जब कटि और करण समान हों और सिर भी कूर्परांस और उर समुन्नत हो उसे सौष्ठव कहते हैं। मध्यम और उत्तम पात्रों की बारी में इसका प्रयत्नपूर्वक ध्यान रखना चाहिए।

शस्त्र-मोक्षण के चार अंग हैं—परिमार्जन, आदान, सन्धान और मोक्षण। इस प्रकार धनुष का प्रयोग करना चाहिए। करण भी चार प्रकार के होते हैं—प्रमार्जन, परामर्श, आदान और ग्रहण-क्रिया। शर-विन्यास को सन्धान कहते हैं और बाण छोड़ने को विक्षेप कहते हैं।

व्यायाम का अभ्यास

बुद्धिमान् को भीत या आकाश में शरीर में तेल लगाकर और उसे यवागू से मृदित करके व्यायाम करना चाहिए और भीत पर शरीर फैलाकर व्यायाम करना चाहिए। शरीर को बलवान् बनाने के लिए नस्य, वस्तिविधि, स्निग्ध अन्न, रस और पानक का प्रयोग करना चाहिए, क्योंकि आहार पर ही प्राण अधिष्ठित हैं और प्राण पर योग अधिष्ठित है। इसलिए योग की प्रसिद्धि के लिए यत्नपूर्वक आहार करना चाहिए, क्योंकि योग की भीत (दीवार) ही योग्यता की माता होती है। इसलिए भीत के सहारे अभ्यास करना चाहिए। अशुद्ध शरीर, थके, भूखे-प्यासे होने पर,

अत्यन्त जल पी लेने पर या अत्यन्त खा लेने पर व्यायाम नहीं करना चाहिए। अपने वक्ष को चतुरस्र या चौड़ा करके अचल या मधुर गात्र से व्यायाम करना चाहिए।

स्तानिसलवस्की ने भी अभिनेताओं के लिए मास्को आर्ट थियेटर में व्यायाम की व्यवस्था की थी और यह भी बताया था कि आंगिक अभिनय में अभिनेताओं को सिद्ध करने के लिए यह बहुत आवश्यक है कि उनके शरीर को ऐसा साध दिया जाय कि वे निर्देश के साथ जैसा आंगिक अभिनय बताया जाय उसके अनुसार ही आचरण करें। इसलिए उसके सभी अभिनेता पहले व्यायाम-शिक्षक के द्वारा शरीर का संतुलन और अंग-संचालन सीख लेते थे, उसके पश्चात् वे रंगमंच की शिक्षा प्राप्त करते थे।

अध्याय १४

भारतीय अभिनय-पद्धति (मंडल और गति)

मण्डल

ये मण्डल दो प्रकार के होते हैं—भूमिगत और आकाशगत। आकाशगत मण्डल दस प्रकार के होते हैं—अतिक्रान्त, विचित्र, ललित-संचर, सूचीविद्ध, दण्डपाद, विधृत, आलातक, वामविद्ध, ललित और क्रान्त।

दाहिने पैर को जनित करके उद्वाहित करे, बायें को अलात करके, दाहिने को पार्श्वक्रान्त करे (फिर बायें को सूची और दाहिने को पार्श्वक्रान्त करके फिर बायें को सूची देकर दाहिने को अपक्रान्त करे), फिर बायें को सूची करके भ्रमण करे। फिर दाहिने को उद्वृत्त करके बायें को अलात करे और बाह्य भ्रमरक के परिच्छिन्न करे। फिर बायें को अतिक्रान्त करके दाहिने को दण्डपाद करे। इस क्रिया को अतिक्रान्त मण्डल कहते हैं।

दाहिने पैर को जनित करके उसी से निकुट्टन करे। बायें से आस्पन्दित करे, दाहिने से पार्श्वक्रान्त करे फिर बायें को सूचीपद देकर दाहिने को अपक्रान्त करे। फिर बायें को भुजंगत्रासित करके दाहिने को अतिक्रान्त करे। फिर दाहिने को उद्वृत्त करके बायें को अलात मुद्रा में लाये, फिर दाहिने पैर को पार्श्वक्रान्त करके बायें को सूची मुद्रा में उठाये। फिर दाहिने पैर का विक्षेप करके बायें को अपक्रान्त मुद्रा में उठाये। (फिर बाह्य भ्रमरक और विक्षेप मुद्रा की योजना करे।) इसे विचित्र मण्डल कहते हैं।

दाहिने पैर को ऊर्ध्व-जानु करके सूची की योजना करे। फिर बायें को अपक्रान्त करके दाहिने को पार्श्वगत करे। फिर बायें को सूची मुद्रा में करके भ्रमरी परिवर्तित कर दे। फिर दाहिने को पार्श्वक्रान्त करके बायें को अतिक्रान्त करते हुए दाहिने को सूचीमुद्रा में लाकर बायें को अपक्रान्त करे। फिर दाहिने को पार्श्वक्रान्त और बायें को अतिक्रान्त करके बाह्य भ्रमरी से परिच्छिन्न कर दे। यह चारी प्रयोग ललितसंचर मण्डल में करना चाहिए।

बायें पैर से सूची करके भ्रमरी से घूमे, फिर दाहिने को पार्श्वक्रान्त करे, बायें को अतिक्रान्त करे, फिर दाहिने को सूची देकर बायें को अपक्रान्त करे, फिर दाहिने को पार्श्वक्रान्त करे। यह सूचीविद्ध मण्डल कहलाता है।

दाहिने को जनित करके दण्डक्रम किया जाय, फिर बायें को सूची देकर भ्रमरी की जाय, फिर दाहिने को उद्‌वृत्त करके बायें को अलात किया जाय। फिर दाहिने को पार्श्वक्रान्त करके भुजंगत्रासित और बायें को अतिक्रान्त किया जाय। दाहिने को दण्डपाद और बायें को त्रिकावर्त-सूची किया जाय, तब दण्डपाद मण्डल होता है।

दाहिने को जनित करके उसी से निकुट्टन किया जाय और बायें से आस्कन्दित करके दाहिने से उद्‌वृत्त किया जाय। फिर बायें पैर से अलात करके दाहिने से सूची ी जाय, बायें को पार्श्वक्रान्त किया जाय, दाहिने को आक्षिप्त किया जाय और फिर त्रिक का समावर्तन करके दण्डपाद फैला दिया जाय। फिर वामपद से सूची देकर त्रिक का परिवर्तन किया जाय, दाहिने को भुजंगत्रासित करके बायें को अपक्रान्त किया जाय। यह चारी प्रयोग विधृत मण्डल में होता है।

दाहिने से सूची करके बायें से अपक्रान्त किया जाय। फिर दायें को पार्श्वक्रान्त करके बायें से अलात किया जाय और इन चारियों से घूमकर छः या सात बार ललित-विन्यास से चक्कर लगाया जाय (फिर दाहिने को अपक्रान्त करके बायें को अतिक्रान्त किया जाय)। फिर दायें को अपक्रान्त करके बायें को अतिक्रान्त किया जाय और फिर भ्रमरकपाद किया जाय तब अलात मण्डल होता है।

दाहिने को सूची बनाकर बायें को अपक्रान्त कर दाहिने से दण्डक्रम हो, तब बायें से सूची की जाय और फिर दाहिने से पार्श्वक्रान्त करके त्रिक विवर्त किया जाय। बायें को आक्षिप्त करके दाहिने को दण्डपाद किया जाय और उसी दाहिने से ही ऊरूद्-वृत्त किया जाय, फिर बायें से सूची करके त्रिक परिवर्तित किया जाय, फिर बायें से अलात, दाहिने से पार्श्वक्रान्त और फिर बायें से अतिक्रान्त किया जाय तब वामविद्ध मण्डल होता है।

दाहिने से सूची बनाकर बायें से अपक्रान्त, फिर दाहिने से पार्श्वक्रान्त भुजंग-त्रासित किया जाय, फिर बायें से अतिक्रान्त करके दाहिने का आक्षेप किया जाय, फिर बायें को ऊरूद्‌वृत्त करके अतिक्रान्त किया जाय, फिर बायें से अलात करके दाहिने से पार्श्वक्रान्त किया जाय, फिर बायें से सूची देकर दाहिने से अपक्रान्त किया जाय, फिर बायें से अपक्रान्त करके ललित-संचर किया जाय। यह पाद-प्रकार ललित मण्डल में होता है।

दाहिने से सूची करके बायें से अपक्रान्त किया जाय। फिर दाहिने से पार्श्वक्रान्त करके बायें से पार्श्वक्रम किया जाय, फिर इन चारियों से घूमकर बायें से सूची देकर दाहिने से अपक्रान्त किया जाय। इस प्रकार स्वभाव-गमन में इस क्रान्त मण्डल का प्रयोग करना चाहिए।

भूमिगत मण्डल

भूमिगत मंडल भी दस ही होते हैं—भ्रमर, आस्कन्दित, आवर्त, समोत्सरित, एलकाक्रीडित, अड्डित, शकटास्य, अध्यर्धक, पिष्टकुट्ट और चाषगत।

दाहिने से जनित करके बायें को आस्पन्दित करे, फिर दाहिने को शकटास्य करके बायें को फैला दे, फिर दाहिने को भ्रमरक करके त्रिक में परिवर्तित कर दे, फिर बायें को आस्पन्दित करके दाहिने को शकटास्य करे और बायें को पृष्ठापसर्पित करके भ्रमरक देकर उसी पैर से आस्पन्दित करे। इससे भ्रमर मण्डल बनता है।

दाहिने से भ्रमरक करके बायें से अड्डित हो जाय और फिर त्रिकविवर्त करके दाहिने से शकटास्य हो और फिर उसी पैर से ऊरूद्वृत्त करके बायें अपसर्पित हो जाय फिर त्रिकविवर्त करके दाहिने स्पन्दित हो जाय, बायें से शकटास्य होकर उसी से आस्फोटन करे। इसे आस्कन्दित मण्डल कहते हैं।

दाहिने को जनित करके बायें से निकुट्टन करे। फिर दाहिने को शकटास्य करके ऊरूद्वृत्त हो जाय, फिर बायें से पृष्ठापसर्पित होकर चाषगत हो जाय। फिर दाहिने से आस्कन्दित होकर बायें से शकटास्य और दाहिने से भ्रमरी करके त्रिक में परिवर्तित कर दे और फिर बायें से पृष्ठापसर्पित हो जाय। इसे आवर्त मण्डल कहते हैं।

दोनों पैरों को बराबर करके दोनों हाथ फैलाकर निरन्तर उन हाथों के ऊपर के तलक्रम को आवेष्टित और उद्वेष्टित करके कमर पर रखकर क्रम से आवर्तन करे, फिर यथाक्रम आवर्त से बायें को फैला दे। फिर इस चारी से घूमकर चक्कर लगा ले। इसे समोत्सरित कहते हैं।

भूमिसंयुक्त सूचीबद्ध पैर से एलकाक्रीडित, चूर्ण और त्रिकविवर्त तथा क्रमशः सूचीविद्ध, अपविद्ध के क्रम से मण्डल बनाये। उसे एलकाक्रीडित कहते हैं।

दाहिने को उद्घट्टित करके उसी से आवर्त करे और उसी से आस्पन्दित करके बायें शकटास्य करे। दाहिने से पृष्ठापसर्पित होकर पार्श्वगति हो, तत्पश्चात् बायें से अड्डित हो और दाहिने से अपसर्पित होकर बायें में भ्रमर करे और उसी से आस्फोटन करके अड्डित मण्डल करे। फिर दाहिने से जनित करके उसीसे निकुट्टन

और शकटास्य करके बायें आस्पन्दित करे और शकटास्य के पैरों से चलकर पर्याय से मण्डल करे। इसी को शकटास्य कहते हैं।

दाहिने से जनित करके उसी को आस्पन्दित करे और फिर बायें से अपसर्पित करके दाहिने से शकटास्य करे। इन चारियों से घूमकर पर्याय से मण्डल करे, यही अध्यर्ध कहलाता है। दाहिने पैर से सूची करके बायें से अपक्रान्त करे, फिर दाहिने से भुजंगत्रासित करके बायें से भुजंगत्रासित करे और फिर दोनों पैरों से भुजंगत्रासित से मण्डल करे। इसे पिष्टकुट्ट कहते हैं।

सब चाषगत पैरों से घूमकर जो चक्कर लगाया जाता है उसे चाषगत कहते हैं। जहाँ आकाशचारी और भौमचारी मण्डलों का प्रयोग होता है उसे समचारी कहते हैं।

इन मण्डल-सहित खण्डों का प्रयोग युद्ध, नियुद्ध, परिक्रम, लीला और अंगमाधुर्य आदि कार्यों में वाद्य के साथ करना चाहिए।

नृत्त में पैरों की गति

अभिनयदर्पण में पैर की गतियों के सम्बन्ध में कहा गया है कि पैरों की स्थिति और गति से मण्डल (शरीर की मुद्रा), उत्प्लवन (कूदने या उछलने का ढंग), भ्रमरी (चक्कर काटने या घूमने का ढंग) और पादचारी या चारी (चलने का या गति का ढंग) का संयोजन होता है।

मण्डल—खड़े होने के ढंग या मण्डल दस प्रकार के होते हैं—स्थानक, आयत, आलीढ, प्रत्यालीढ, प्रेंखण, प्रेरित, स्वस्तिक, मोटित, समसूची और पार्श्वसूची।

कमर पर अर्धचन्द्र हाथ रखकर एक पंक्ति में समपाद मुद्रा में पैर करके, आधे हाथ की दूरी पर त्र्यस्र मुद्रा में रखने को स्थानक कहते हैं। दोनों घुटनों को झुकाकर और चौड़ा करके और किसी एक पैर को दूसरे पर रखने को आयत कहते हैं। बायें पैर को दाहिने पैर के आगे डेढ़ हाथ बढ़ाकर बायें हाथ से शिखर मुद्रा और दाहिने से कटकामुख बनाकर खड़े होने को आलीढ मंडल कहते हैं। यदि आलीढ मंडल में हाथ और पैर परस्पर बदल जायँ अर्थात् दायें हाथ-पैर की स्थिति बायें हाथ-पैर के समान और बायें की दायें के समान हो वह प्रत्यालीढ मंडल होता है। एक पैर को दूसरे पैर की एड़ी के पास रखकर हाथों से कूर्म मुद्रा बनायी जाय वह प्रेंखण कहलाता है। एक पैर को वेग से डेढ़ हाथ दूर धरती पर पटककर दोनों बढ़ा दिये जायँ वह प्रेंखण कहलाता है। एक पैर को दूसरे के आर-पार रखा जाय और धरती पर एक हाथ से शिखर मुद्रा बनाकर रखते हुए दूसरा हाथ पताक मुद्रा में फैला दिया जाय उसे प्रेरित

कहते हैं। जब दाहिना पैर बायें को काटते हुए और दायाँ हाथ बायें के आर-पार काटते हुए रखा जाय तब स्वस्तिक मंडल होता है। जब पंजों पर खड़े होकर बारी-बारी से एक-एक घुटना झुकाकर उनसे धरती को स्पर्श किया जाय और दोनों हाथों से त्रिपताक मुद्रा बनायी जाय उसे मोटित कहते हैं। पंजों और घुटनों से पृथ्वी का स्पर्श करने को समसूची कहते हैं। जब दोनों पंजों पर बैठकर एक ओर का घुटना झुकाकर उससे पृथ्वी को स्पर्श किया जाय उसे पार्श्वसूची कहते हैं।

गति

भरत ने अपने नाट्यशास्त्र में मण्डल और चारी के अतिरिक्त विभिन्न प्रकार के पात्रों के प्रवेश तथा उनके चलने की रीति अर्थात् गति का भी विस्तृत निरूपण किया है। उन्होंने बताया है कि ध्रुवा को सम्यक् प्रवृत्त करके अर्थात् बाजे आदि बजा चुकने पर और परदा खींच लेने पर पात्रों का प्रवेश कराना चाहिए। उत्तम और मध्यम पात्रों का वैष्णव स्थान करके, वक्ष को समुन्नत, सम और चतुरस्र करके, बाहु-शीर्ष प्रसन्न करके, बहुत उछालकर नहीं चलना चाहिए। ग्रीवा प्रवेश पर मयूरांचित मस्तक करके दोनों बाहुशीर्षों को कान से आठ अंगुल दूरी पर रखना चाहिए। चिबुक को भी वक्ष से चार अंगुल पर स्थित रखना चाहिए। दोनों हाथों को भी कटि और नाभि पर रखना चाहिए। दोनों पैरों में भी दो ताल और आधे ताल का अन्तर करना चाहिए और अपने प्रमाण से पादक्षेप करना चाहिए। इस पादक्षेप के तीन परिमाण हैं—चार ताल, दो ताल और एक ताल। देवताओं और राजाओं के लिए चार ताल, मध्यम वर्ग के लिए दो ताल और स्त्री तथा नीच लिंगियों के लिए एक ताल की गति का विधान है। इसी प्रकार कल अर्थात् काल-नियम का भी विधान है।

कल या समय का नियम

कल या समय का नियम भी पात्रों की योग्यता पर निर्भर है। ये कल तीन प्रकार के होते हैं—चतुष्कल, द्विकल और एक कल। उत्तम पात्रों के लिए चतुष्कल, मध्यम पात्रों के लिए द्विकल और नीच पात्रों के लिए एक कल का विधान है। स्थित, मध्य और द्रुत लय को देखकर प्रकृति के अनुसार गति का प्रयोग करना चाहिए।

लय-गति

लय-गतियाँ तीन प्रकार की होती हैं—धैर्योपपन्ना, मध्या और द्रुता। उत्तम पात्रों की गति धैर्योपपन्ना होती है, मध्यम पात्रों की गति मध्या और अधम

पात्रों की गति द्रुता होती है। इनका प्रयोग पात्र की योग्यता के अनुसार करना चाहिए।

गति-प्रचार

उत्तम स्वभाव की गति में जानु को कटि के बराबर लाना चाहिए, किन्तु युद्ध-चारी के प्रयोगों में स्तन के पास स्थापित करना चाहिए और फिर बाजे के साथ पार्श्वक्रान्त और ललित पैरों से पाँच पग रंगकोण की ओर चले और फिर बायें पैर से वामवेध करे और दाहिने से विक्षेप करे, फिर बायें पैर से घूमकर कोने की ओर जाय और वहाँ भी वामवेध करके दक्षिण से विक्षेप करे, फिर उतने ही पग चलकर भांड की ओर बढ़े। इस प्रकार इक्कीस पग जा-आकर वामवेध करे और दक्षिण की ओर विक्षेप करे। इस प्रकार विप्रकृष्ट रंगमंच पर जाने-आने का पादगति-प्रचार करे। किन्तु त्र्यस्र अर्थात् त्रिकोण और चतुरस्र रंगमंच पर केवल चतुरस्र गति का प्रचार ही करे। जहाँ समान के साथ चलना हो वहाँ लय का आश्रय ले। ये लय तीन प्रकार की होती हैं—चतुष्कल, द्विकल तथा एककल। जो व्यक्ति, मध्यम और नीच पात्रों के साथ घिरकर चलता हो वहाँ क्रमशः श्रेष्ठ को चतुष्कल, मध्यम को द्विकल तथा नीचों को एक कल चलना चाहिए।

दैत्य, दानव, यक्ष, राजा, पन्नग और राक्षसों की गति चार ताल के प्रमाण से करनी चाहिए। सभी देवताओं की गति मध्यमा होती है। उनमें भी जो उद्धत होते हैं उनकी भी गति देवों के समान ही होती है।

देवों की प्रकृति दिव्य होती है, राजाओं की दिव्य-मानुषी होती है और अन्य लोगों की मानुषी होती है। राजा लोग देवताओं के अंश माने गये हैं, इसलिए यदि वे देवताओं का अनुकरण करें तो उसमें दोष नहीं और यह विधि भी स्वच्छन्द गति के सम्बन्ध में है, क्योंकि संभ्रम या घबराहट, उत्पात या क्रोध में यह प्रमाणित नहीं मानी जाती। अतः सब उत्तम, अधम और मध्यम गति वाले लोगों की प्रकृति और उनकी अवस्था का ध्यान रखकर उनकी गति का प्रयोग करना चाहिए। अवस्था के अनुसार यह चार कल, दो कल या एक कल की होती है। जहाँ ज्येष्ठ पात्र की गति चतुष्कल होती है वहाँ मध्यम पात्र की द्विकल और जहाँ मध्यम पात्र की एक कल होती है वहाँ नीच पात्रों की अर्धकल होती है और जड़ पात्रों की गति में तो आधे से भी आधे कल का प्रयोग करना चाहिए।

ज्वरार्त, क्षुधार्त, तपःश्रान्त, भयान्वित, विस्मित, अवहित्थ, उत्सुक, शृंगार, शोक, स्वच्छन्द गमन में अधिक कल और अर्थात् चार कल और स्थित लय वाली गति का प्रयोग करना चाहिए।

इसी प्रकार चिन्तान्वित की भी गति चतुष्कल करनी चाहिए। अस्वस्थ-कामित, भय-वित्रासित, आवेग और हर्ष में त्वरान्वित करनी चाहिए। अनिष्ट-श्रवण, क्षेप, अद्‌भुत दर्शन, शीघ्रता, दुःख और शत्रु से घिरने पर शीघ्र गति करनी चाहिए। अपराद्ध का अनुसरण करने, जंगली जानवरों के पीछे चलने आदि कार्यों में विकला का प्रयोग करना चाहिए। इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि उत्तम गति वालों का प्रयोग मध्यम में और मध्यम वालों का प्रयोग नीचों में नहीं करना चाहिए।

रसानुसारी गति

शृंगारिणी गति स्वस्थ-कामित होनी चाहिए। दूती के दिखाये हुए मार्ग से रंग-मण्डल में प्रवेश करना चाहिए और फिर सूची से अर्धसमाश्रित अभिनय करना चाहिए। मनोहारी वस्त्र, गन्ध, धूप, चूर्ण, पुष्प, सुगन्ध और मालाओं से समलंकृत होकर अति-क्रान्त में स्थित ऐसे ललित पगों से चलना चाहिए जो लय और ताल के अनुसार सौष्ठव-संयुक्त हों। हाथ भी पैरों के अनुसार ही चलाने चाहिए। प्रच्छन्नकामित की गति ऐसी होनी चाहिए कि उसके साथ और कोई मनुष्य न हो, त्रस्त हो, एक दूती साथ में हो, दिया बुझा हुआ हो, अधिक भूषण न हों, समय के अनुसार वस्त्र हों, निःशब्द और मन्द पैर से धीरे-धीरे दूती के साथ प्रच्छन्नकामुक चले, शब्द की शंका से उत्सुक होकर इधर-उधर देखे, काँपते हुए शंकित होकर बार-बार ठोकरें खाता हुआ चले।

दैत्य और राक्षस गणों का रौद्र रस तीन प्रकार का होता है; एक नेपथ्य-रौद्र, दूसरा अंग-रौद्र और तीसरा स्वभावज-रौद्र। रुधिर से सनी हुई देह, रुधिर से भरा हुआ मुँह और पिशित-हस्त होना नेपथ्य-रौद्र कहलाता है। बहुत बाहु, बहुत मुख और अनेक शस्त्रों से आकुल, स्थूलकाय तथा प्राणसू पुरुष अंग-रौद्र कहलाता है। लाल आँख, पीले केश, काला रंग, विकृत स्वर, रूक्ष और निर्भर्त्सन रूप स्वभावज-रौद्र कह-लाता है। चार ताल के अन्तर में उत्क्षिप्त और अन्तर में गिराये हुए पैरों से इनकी गति का विधान करना चाहिए।

जहाँ असुन्दर भूमि श्मशान और रण से अपवित्र हो गयी हो वहाँ बीभत्स अभि-नय की गति का प्रयोग करना चाहिए। कहीं तो पैर पास-पास ही चलाकर, कहीं विकृष्ट चलाकर, कहीं एलकाक्रीडित और कहीं एक दूसरे के ऊपर गिराकर और पैरों के अनुसार ही हाथ चलाकर बीभत्स रस में गति का प्रयोग करना चाहिए।

वीर रस में पाद-विक्षेप से युक्त द्रुत प्रचार वाली अनेक चारियों से युक्त पार्श्वक्रान्त, द्रुताविद्ध, सूचीविद्ध पैरों से कल और काल का विचार करके उत्तम पात्रों की गति का परिक्रम करना चाहिए।

विस्मय और हर्ष में मध्यम और अधम पात्रों की गति का आयोजन करते समय यह ध्यान रखना चाहिए कि उसमें विक्षिप्त पद-विक्रम हो, हास्य रस में स्मित से लेकर अतिहसित पर्यन्त जो उत्तम लोगों की गति होती है उसमें स्वस्थ गति और मध्य तथा अधमों में विक्षिप्त गति का प्रयोग करना चाहिए।

करुण रस में स्थिर या विलम्बित गति का प्रयोग करना चाहिए। आँखों में आँसू भरकर, स्तब्ध शरीर से बार-बार हाथ उठा-गिराकर, चिल्लाते हुए रोकर अध्यधिक गति से प्रत्यग्र प्रिय के पास जाना चाहिए। यह गति स्त्रियों और नीच पात्रों के लिए प्रयोग में लानी चाहिए। किन्तु उत्तम पात्रों के लिए यह गति धैर्य और आँसुओं से युक्त निःश्वास, आँखें खुली हुई, उत्सृष्ट तथा ऊपर देखते हुए प्रदर्शित करनी चाहिए। वहाँ पर न सौष्ठव करना चाहिए न वैसा प्रमाण ही है। मध्यम पात्रों की गति का प्रयोग भी विधान से करना चाहिए। उरःपात, हतोत्साह, शोक से व्यामूढ-चेतन होकर पैरों को बिना अत्युच्च किये इष्ट बन्धु के निपातन की ओर बढ़ना चाहिए।

गाढ प्रहार में चूर्ण पद के साथ शिथिलांग-भुजाश्रय विघूर्णित शरीर की गति करनी चाहिए। स्त्री और नीच प्रकृति वालों की गति जाड़े, वर्षा और अभिद्युत अवस्था में इस प्रकार करनी चाहिए कि वे शरीर को गोल करके काँपें, दोनों हाथों को छाती से चिपकाकर कुब्जीभूत हो जायँ अर्थात् सिकुड़ जायँ, दाँत कटकटायें, ओठ फड़कायें और ठोड़ी कँपायें। ये सब कार्य शीत के अभिनय में थोड़ा धीरे करने चाहिए।

भयानक रस में स्त्रियों, कायरों तथा अन्य शक्तिहीन लोगों की गति इस प्रकार प्रदर्शित करनी चाहिए कि वे आँख फाड़कर और चलाकर, सिर कँपाकर, भय से संयुक्त दृष्टि से दोनों ओर देखते हुए चूर्ण पद से द्रुत गति से चलते हुए, हाथ को कपोतक मुद्रा में बाँधकर काँपते हुए शरीर से, सूखे ओठों से डगमगाते हुए चलें। तर्जन और त्रासन में भी उसी का अनुसरण करना चाहिए। किसी भयानक वस्तु या जीव को देखकर या भयानक शब्द सुनकर स्त्रियों और कायरों को भी इसी गति का प्रयोग करना चाहिए।

भयभीत पात्रों के लिए ऐसी गति का प्रयोग करना चाहिए कि उनके पैर कभी समीप पड़ते हों, कभी विकृष्ट पड़ते हों और एलका क्रीडित पैरों के द्वारा एक दूसरे पैर पर पैर पड़ते हों और उसी के अनुसार हाथ भी चलते हों। वैश्यों और सचिवों की गति स्वाभाविक होनी चाहिए। उनका हाथ उत्तान और कटकामुख होकर नाभितट पर हो और दाहिना हाथ अराल उत्तान होकर पार्श्व में स्तन के पास हो। उनका शरीर न निषण्ण हो, न स्तब्ध हो, न परिवाहित हो और उसी क्रम से वह चले। ब्राह्मण लोग दो ताल के अन्तर से अतिक्रान्त गति से चलें।

यति, श्रमण, तपस्वी और नैष्ठिक ब्रह्मचारी की गति इस प्रकार हो कि उनकी आँखें स्थिर हों, युग-मात्र निरीक्षण करते हों, स्मृति उपस्थित हो, गात्र स्थिर हो, मन अचंचल और लिंग (संप्रदाय) के अनुसार स्थिर हो, विनीत वेश हो, भगवें कपड़े हों, पहले समपाद स्थान पर स्थित होकर हस्त को चतुर करके एक को फैला दें और फिर प्रसन्न मुख करके प्रयोग के अनुसार व्यवहार करते हुए निषण्ण गात्र से अपनी गति चलायें। यह गति महाव्रतधारी उत्तम लिंगियों की होती है। अन्य लोगों को इनसे विपर्यस्त गुणों का योजन करना चाहिए।

अन्य लिंगियों तथा सम्प्रदाय वालों के व्रत के अनुसार दो प्रकार की अवस्था होती है—विभ्रान्त-उदात्ता और विभ्रान्त-निवृत्ता।

शकटास्य और अतिक्रान्त पैरों से पाशुपतों की गति उद्धत-गामिनी कर देनी चाहिए। अन्धकार और याम में इस गति का प्रयोग करना चाहिए, अर्थात् भूमि पर पैरों को विसर्पित करते हुए, मार्ग-प्रदर्शन करने वाले हाथों से टटोलते हुए चलना चाहिए। चूर्ण पद से रथ की गति का प्रयोग करना चाहिए और समपाद स्थान करके रथ की गति का निरूपण करना चाहिए।

एक हाथ में धनुष और दूसरे में कूबर, प्रतोद और प्रग्रह लेकर उसके सूत्र को प्रदर्शित करना चाहिए। इस प्रकार विचित्र वाहनों का अर्थात् चित्रित वाहनों का प्रयोग करके सूत के हाथ में देकर द्रुत चूर्ण पद से रंगमण्डल में प्रवेश करना चाहिए। विमान पर बैठे हुए की भी ऐसी ही रथ वाली गति होती है। किसी यान पर चढ़ने के लिए शरीर को ऊँचा करके उन्मुख स्थित हो जाना चाहिए और अवरोहण में ठीक इसके विपरीत गति होनी चाहिए। नीचे देखकर और मंगलावर्तन करके आकाश-गमन की गति भी करनी चाहिए। समपाद स्थान से और चूर्ण पद से आकाश से उतरने की गति दिखलानी चाहिए। ऋजु अर्थात् सरल, उन्नत और नत तथा कुटिलावर्तित गति से आकाश से गिरने की अपविद्ध-भुजा गति होती है। इस गति में वस्त्र फैले हुए और दृष्टि पृथ्वी पर लगी हुई होनी चाहिए। प्रासाद, द्रुम, शैल, नदी तथा नीचे और ऊँचे स्थानों में अर्थ के अनुसार आरोहण और अवतरण करना चाहिए। प्रासाद में चढ़ते समय अतिक्रान्त चरणों से गात्र का उद्वाहन करके सीढ़ी के डंडों पर पात्र पैर रखे और इसी प्रकार अवतरण में ऐसा ही गात्र करके केवल प्रतार करे।

जल में जल के प्रमाण के अनुसार गति होनी चाहिए, थोड़े जल में वस्त्र ऊपर उठाकर, हाथ खींचकर, कुछ झुकी हुई अग्रकाया के अनुसार प्रतार में गति होती है। एक-एक बाहु को फैलाकर और बार-बार पानी काटने से तिरछी फैली हुई, जल से हरण किये हुए सम्पूर्ण अंग को आकुल करने वाली, धूतवदना गति होती है। नाव पर स्थित

व्यक्ति की भी द्रुत चूर्ण पद से गति दिखानी चाहिए, जिसमें एक पैर से अतिक्रम और दूसरे से अंचित मुद्रा का प्रदर्शन करना चाहिए। जो गति प्रासाद पर चढ़ने के समय की जाती है वही पहाड़ पर चढ़ने के समय भी करनी चाहिए किन्तु उसमें केवल एक-एक पैर का विक्षेप करना चाहिए। पेड़ पर चढ़ने के समय अतिक्रान्त, सूचीविद्ध, अपक्रान्त और पार्श्वक्रान्त गति दिखलानी चाहिए। नदियों में अवतरण की गति भी इसी प्रकार नियोजित करनी चाहिए। यह सब अभिनय संज्ञा मात्र से अर्थात् प्रतीक रूप में करना चाहिए।

अंकुश ग्रहण करके हाथी का, खलीन ग्रहण करके घोड़े का और रास ग्रहण करके यान का अभिनय करना चाहिए और इसी प्रकार अंगों का भी अभिनय करना चाहिए। अश्वयान में वैशाख स्थान से तथा चित्र और चूर्ण पदों को एक दूसरे के ऊपर गिराते हुए गति दिखलानी चाहिए। पन्नगों की गति के लिए स्वस्तिक संयुक्त पैरों से पार्श्व-क्रान्त पद करके स्वस्तिक का रेचन करे।

विट की गति ललित-विभ्रम करनी चाहिए जिसमें कुछ काल का अन्तर देकर आकुंचित पद गिराते हुए गति करनी चाहिए। अपने सौष्ठव से समायुक्त और पैरों के अनुसार हाथ चलाकर और खटकावर्धन करके विट की गति होती है।

कंचकी का अभिनय वय और अवस्था के अनुसार करना चाहिए। आवृद्ध या प्रौढ की गति का प्रदर्शन करने के लिए आधे ताल में उठे हुए पैरों में विस्कन्धों और ऋजुओं से अंगों को समुद्वाहित करते हुए इस प्रकार चले जैसे पैरों में कीचड़ लग गया हो। वृद्ध कंचुकी की गति ऐसी हो कि उसकी देह काँपती हो, प्राण विस्कन्धकृत हों अर्थात् लाठी टेककर मन्द उत्क्षिप्त पद के क्रम से चलता हो। दुर्बल मनुष्य की गति मन्दपरिक्रमा होनी चाहिए। व्याधिग्रस्त, ज्वरार्त, तप से थके हुए और क्षुधान्वित की दशा में लाठी टेककर चलने वाला, कृश या सिकुड़े हुए उदर वाला, मन्द स्वर, पिचके हुए गाल और दीन नेत्र वाला होना चाहिए जिसके हाथ और पैर बहुत धीरे-धीरे चलें, शरीर काँपता हो और क्लेश का अनुभव करता हो।

दूर मार्ग में गये हुए व्यक्ति की गति भी मन्दपरिक्रमा होती है। उसे अपने शरीर का संकोच करना चाहिए और अपने दोनों जानुओं का विवर्तन करना चाहिए। मोटे व्यक्ति की गति भी देह की अनुगामिनी होनी चाहिए, जो समुद्वहन-भूयिष्ठा हो और मन्द उत्क्षिप्त पदक्रम वाली हो। वह विष्कम्भदानी अर्थात् लाठी के सहारे चलता हो, बहुत निःश्वास लेता हो तथा श्रम और स्वेद से अभिभूत होकर चूर्ण पदों से चलता हो।

मत्त लोगों की गति तरुण तथा मध्यम मद में इस प्रकार होनी चाहिए कि वह बायें और दाहिने पैरों से झूमते हुए अपसर्पण करे। जब मद अवकृष्ट हो तब हिलते हाथों से विघूर्णित शरीर और अव्यवस्थित पादिका से उसे प्रदर्शित करे। उन्मत्त की गति भी अनियत क्रम वाली, बहुत चारियों से युक्त और लोक के अनुकरण पर आश्रित होनी चाहिए। उसके बाल रुखे और खुले हुए तथा शरीर धूल से सना हुआ होना चाहिए। वह बिना बात के बहुत बोलता हो, गाता हो, हँसता हो, नाचता हो, बाजा बजाता हो, दौड़ता हो, कभी खड़ा होता हो, कभी बैठता हो, कभी अनेक प्रकार के वस्त्र पहनकर गलियों में अपना अनियत स्थान बना लेता हो। उन्मत्त की गति इस प्रकार व्यवस्थित करनी चाहिए कि वह नूपुर-पाद से स्थित होकर दण्डपाद फैलाये। वद्धा चारी करके स्वस्तिक करे। इस चारी के योग से मण्डल घूमकर और बाह्य भ्रमण करके रंगमंच के कोण में फैला दे, फिर सुवलित त्रिक करके और हाथ को लता करके उलटे हाथ चलाकर पैरों के साथ गति करे।

खंज, पंगु और वामन की गति तीन प्रकार की होती है। यह कुहक अभिनय के लिए विकलांग प्रयोग से की जाती है। खंज की गति में एक पैर तो नित्य स्तब्ध होता है दूसरा पैर अगले पंजे के बल पर चलाया जाता है। इनमें से स्तब्ध पैर को तो अंग के साथ सटा लिया जाय और दूसरे चरण से गमन किया जाय और इसी क्रम से चला जाय। यह खंज की गति तब भी हो सकती है जब तलवे में काँटा चुभ गया हो या घाव हो।

पंगु की गति में पैर के पंजे को अंचित करके निषण्ण देह और नत जंघा दिखायी जाय।

विदूषक की गति

विदूषक की गति तीन प्रकार के हास्य से विभूषित करके चूर्ण पद में सद्वाहिता और कुहकात्मिका करनी चाहिए। यह विदूषक की गति तीन प्रकार की होती है– अंग-हास्य, काव्य-हास्य और नेपथ्यज हास्य। जब विदूषक दंतुर या बड़े दाँत वाला, खलित या गंजी खोपड़ी वाला, कुबड़ा, खंज या विकृत मुख वाला बनकर प्रवेश करे वह अंग-हास्य होता है, अथवा वह बगले के समान उल्लोकित और विलोकित करता हुआ अत्यायत पद से चले तब वह अंग-हास्य कहलाता है। जब वह असम्बद्ध भाषण करे, अर्थ का अनर्थ करे, अर्थ को बिगाड़े और अश्लील भाषण करे वह काव्य-हास्य होता है। जब वह चीर, कर्म, मसी, भस्म और गैरिक आदि से मण्डित होकर आये तब उसका हास्य नेपथ्यज होता है।

गति-प्रचार

गति-प्रचार विभिन्न अवस्थाओं के अनुसार करना चाहिए। जब बायें हाथ में कुटिल का विन्यास करके और दाहिने हाथ में चतुर करके सिर, हाथ और पैर को एक ओर करके पर्यायशः लय-ताल के अनुसार सन्नमन करे, तब स्वभावजा गति होती है। दूसरी विकारजा गति तब होती है जब अलाभ में लाभ प्राप्त करके व वेश धारण करके गति होती है। स्तब्ध गति नीच और चेट आदि के लिए प्रयुक्त करनी चाहिए। अधिक और अनेक चरित्र वालों की भी वैसी ही गति दिखानी चाहिए।

एक ओर सिर, हाथ और पैर करके चंचल देह वाली गति शकार की करनी चाहिए। चेटों की दृष्टि गति के समय अर्थ-विचारिणी होती है। शकार की गति गर्विता और चूर्णपदा होती है। वह बार-बार वस्त्र और आभरण को छूता है, बार-बार देखता है, अनेक प्रकार के अंग-विकार करता है, लम्बे कपड़े और माला पहनता है।

जो जाति-नीच लोग हैं उनकी गति विलोकन-परा होती है। वे दूसरों को बिना छूए अपने अंगों को छिपाकर चलते हैं। पुलिंद और शबर आदि जो म्लेच्छों की जातियाँ हैं उनके देश के अनुसार उनकी गति और चेष्टा का निरूपण करना चाहिए। पक्षियों, चौपायों तथा पशुओं की गति उनकी जाति के स्वभाव के अनुसार होती है। सिंह, रीछ और वानरों की गति उनके अनुसार दिखानी चाहिए। भगवान् विष्णु ने अपने नरसिंह रूप से जो कुछ किया उसी के अनुसार आलीढ स्थानक करके उसी के अनुसार शरीर बनाकर, एक हाथ जाँघ पर, दूसरा वक्ष पर रखकर सब ओर देखते हुए और पाँच ताल के अन्तर से उत्थित गति से चलकर नियुद्ध के समय और रंग पर अवतरण में सिंह आदि की गति दिखानी चाहिए। शेष जीवों की गति और स्थान का योजन अर्थ के अनुसार करना चाहिए।

स्त्रियों की गति

स्त्रियों की गतियों और भाषण में आयत, अवहित्थ और अश्वक्रान्त स्थान का प्रयोग करना चाहिए। जब बायाँ पैर सम हो और दूसरा पैर ताल-मात्रा पर त्र्यस्र पक्ष में स्थित हो, मुख प्रसन्न हो और उर सम तथा समुन्नत हो, लता के समान दोनों हाथ नितम्ब तक लटके हों, उसे आयत कहते हैं। जब दाहिना पैर सम हो और दायाँ हाथ वक्ष पर स्थित त्र्यस्र हो और बायाँ हाथ समुन्नत कटि पर हो वह आयत स्थानक में होती है। इसका प्रयोग आवाहन, विसर्ग, निर्वर्णन, चिन्ता और अवहित्थ में किया जाता है। रंगावतरण के आरम्भ, पुष्पांजलि-विसर्जन, प्रणय में, ईर्ष्या से उत्पन्न भाव में,

तर्जनी उँगली के मोटन, निषेध, गर्व, गम्भीरता, मौन, माँग करने तथा दिगन्तर-निरूपण करने के समय इस स्थान का प्रयोग करना चाहिए।

जहाँ बायाँ हाथ सम हो और दाहिना हाथ वक्ष पर स्थित त्र्यस्र हो, बायीं कटि समुन्नत हो, वहाँ अवहित्थ होता है। त्र्यस्र हाथ आगे विचलित हो और दूसरा हाथ सम-मुद्रा में अपश्रित हो, एक पैर एक ताल के अन्तर पर स्थित हो, त्रिक हो और कुछ-कुछ समुन्नत हो, एक हाथ लता मुद्रा में हो, दूसरा नितम्ब पर टिका हुआ हो, इसे अवहित्थ स्थान कहते हैं। आगम, भूषण, विलास, लीला, विभव, शृंगार, आत्मनिरूपण, पति के मार्ग के अवलोकन आदि कार्यों में इस स्थान का प्रयोग करना चाहिए। स्त्रियों के लिए स्वभावज संलाप में तथा निश्चय, परितोष, वितर्क और लज्जा में इस स्थान का प्रयोग करना चाहिए।

जब एक पैर समस्थित हो और एक पैर अगले पंजे पर अंचित हो और वह भी सूचीविद्ध या आविद्ध हो उसे अश्वक्रान्त कहते हैं। स्खलित, घूर्णित, गलित वस्त्र का धारण, फूलों के गुच्छे को लेना, परिरक्षण, चित्रासन तथा वृक्ष की शाखा पर अवलम्बन का कार्य इस स्थान से करना चाहिए। शाखावलम्बन में, फूल के गुच्छे ग्रहण करने में और विश्राम में नीच पुरुषों के लिए भी अर्थ के अनुसार इसका प्रयोग किया जाना चाहिए।

यह बात समझ रखनी चाहिए कि जब तक चेष्टा नहीं है तभी तक स्थान का प्रयोग होता है। नृत्त में जब चारी उपस्थित हो जाती है तब स्थानक टूट जाता है।

स्त्रियों की प्रकृति-संस्थित गति

अवहित्थ स्थान करके बायीं भुजा को अधोमुख करके दाहिने हाथ को खटकामुख करके, नाभिप्रदेश में रखकर, पैर को ललित मुद्रा में ताल मात्र उठाकर दाहिने पैर को बायें पैर के बाह्य पार्श्व में अर्थात् आगे की ओर निक्षेप करे। इसी समय बायीं भुजा को लता मुद्रा में ले आये, दाहिने हाथ को पार्श्व में लटका ले और नाभितट पर रख ले, फिर दाहिने हाथ को नितम्ब पर रखकर बायें हाथ को उद्वेष्टित करे, तब बायाँ पैर रखे और दाहिने हाथ को लता में करे, फिर भाव के अनुसार लीला से उद्वाहित होकर कुछ नत गात्र से पाँच पैर चले। रंगपीठ के परिक्रम में जो पुरुषों के लिए विधि है वही स्त्रियों के लिए भी है। स्त्रियों के लिए छः कल और अष्ट-कल पैरों का पटल नहीं करना चाहिए, क्योंकि इससे स्त्रियों को थकावट होती है। केवल युवती स्त्रियों की गति इस प्रकार करनी चाहिए।

जो मध्यम अवस्था वाली स्त्रियाँ होती हैं उनकी गति के लिए अवहित्थ स्थान करके बायाँ हाथ कमर पर रखकर दाहिना हाथ स्तन के पास अराल और उत्तान करके रखे। शरीर ऐसा हो कि न निषण्ण हो, न स्तब्ध हो और न परिवाहित हो। इसी क्रम से उनकी गति रखी जाती है। वेश्याओं की गति उद्भावित-गामिनी हो। कुछ उन्नमित शरीर से, आविद्ध भुजाओं से, अवहित्थ स्थान से, बायीं भुजा नीचे करके दाहिनी को खटका-मुख मुद्रा में नाभि-प्रदेश पर रखे। अर्धनारी या नपुंसक की गति में स्त्री-पुरुष दोनों की गति मिलाकर दिखाये।

उदात्त ललित गात्र और लीला-समन्वित पैरों से जो उत्तम पुरुषों की गति बतायी गयी है उसकी आधी स्त्रियों और उसकी भी आधी कायरों के लिए प्रयुक्त करनी चाहिए। मध्यम, उत्तम और नीच पुरुषों की जो गति-चेष्टा बतायी गयी है वही ललित-पद-विक्रम से स्त्रियों को करनी चाहिए। बच्चों के लिए भी स्वच्छन्द पदविक्रम करना चाहिए। उस गति में न सौष्ठव करना चाहिए और न प्रमाण।

नपुंसकों की गति

प्रायः पुरुष-नपुंसक या स्त्री-नपुंसक की गति में पुरुष का स्वभाव छोड़कर स्त्री की गति का प्रयोग करना चाहिए। अपना स्वभाव छोड़कर जो भाव हो उस भाव के अनुसार गमन करके व्याधि से, पीड़ा से, वंचना से, स्त्री तो पुरुष की प्रकृति धारण करे और पुरुष स्त्री के भाव को। धैर्य, औदार्य और सत्त्व, बुद्धि तथा पुरुष के समान वेश, वाक्य और चेष्टा के द्वारा स्त्री भी पुरुष का अभिनय कर सकती है। इसी प्रकार पुरुष भी स्त्री के वेश, वाणी, देखने के ढंग और मृदुल भाव के द्वारा स्त्रीभाव का आचरण कर सकता है।

पुलिंद और शबर आदि जातिहीन लोगों की स्त्रियों की गति उनकी जाति के सदृश करनी चाहिए। व्रत और तप में स्थित लिंगस्थ तथा आकाश में स्थित नारियों का सम पाद प्रयोग करना चाहिए और जो अग्रहार, चारी या मण्डल उद्धत हों उनका प्रयोग स्त्रियों के लिए नहीं करना चाहिए।

स्त्रियों और पुरुषों के आसन और अनेक भावों के अनुसार शयनाश्रय की व्यवस्था करनी चाहिए।

गति (चाल)

अभिनयदर्पण में गतियाँ दस प्रकार की मानी गयी हैं—हंसी, मयूरी, मृगी, गजलीला, तुरंगिणी, सिंही, भुजंगी, मंडूकी, वीरा और मानवी।

दोनों हाथों से त्रिपताक मुद्रा बनाकर दोनों ओर झूमते हुए आधे-आधे हाथ की दूरी पर एक-एक पैर रखते चलने को हंसी गति कहते हैं। दोनों हाथों से कपित्थ मुद्रा बनाकर बारी-बारी से दोनों घुटने हिलाते हुए पंजों पर चलने को मयूरी गति कहते हैं। हाथ से त्रिपताक मुद्रा बनाकर सामने या इधर-उधर मृग के समान दौड़ने को मृगी गति कहते हैं। बायें हाथ से शिखर और दायें से पताक मुद्रा बनाकर दायाँ पैर उठाकर वेग से क्रमशः दोनों पैरों से कूदने को तुरंगिणी गति कहते हैं। दोनों हाथों से शिखर मुद्रा बनाकर पंजों पर वेग से आगे चलते रहने को भुजंगी गति कहते हैं। दोनों हाथों से शिखर मुद्रा बनाकर सिंह की भाँति कूदने को मंडूकी गति कहते हैं। दूर से आते हुए बायें हाथ से शिखर मुद्रा और दायें से पताक मुद्रा बनाते हुए चलने को वीरा गति कहते हैं। बार-बार मण्डलाकार घूमकर बायाँ हाथ कमर पर रखकर दायें से कटकामुख मुद्रा बनाने को मानवी गति कहते हैं।

ये मंडल, उत्प्लवन, भ्रमरी, चारी और गति असंख्य हैं जिन्हें शास्त्रों और सज्जनों की कृपा से ही सीखा जा सकता है।

उपवेशन या बैठने का ढंग

दोनों पैरों को विष्कंभित और अंचित करके त्रिक को कुछ समुन्नत करके हाथों को कर्कट रूप से ऊरु पर रखकर बैठना स्वस्थ कहलाता है। एक पैर फैलाकर और एक आसन पर रखकर सिर को पार्श्व की ओर झुकाकर बैठना संचित कहलाता है। दोनों हाथ ठोड़ी के नीचे लगे हों और मन तथा इन्द्रियाँ सम्प्रणत हों, यह शोक में बैठना कहलाता है। दोनों हाथों को शिथिल करके फैला देना और अपाश्रय पर आश्रित होकर बैठना मूर्च्छा, मद, श्रम, ग्लानि और विषाद में होता है। पैर और जानु संयुक्त करके सारे अंगों को पिण्ड बनाकर बैठना व्याधि, लज्जा, निद्रा और ध्यान में होता है। पितृ-कर्म, तर्पण, जप, धर्माचरण, सन्ध्या और आचमन में विष्कम्भित करके जानु को भूमि पर गिरा ले। प्रिया को प्रसन्न करने में, होम आदि कार्यों में घुटनों को पृथ्वी पर रखकर मुँह नीचे करके बैठना चाहिए। देवाभिगमन-कार्य में, रुष्ट को प्रसन्न करने में, शोक में, आक्रन्दन में, मृतक के दर्शन में, त्रासन में, भयानक जानवरों के द्वारा डरने में, नीचों के द्वारा माँगना दिखाने में, होम और यज्ञ की क्रियाओं में, वेश्याओं की क्रियाओं में तथा मुनियों के नियमों में इसी आसन का प्रयोग करना चाहिए।

यह आसन-विधि स्त्रियों और पुरुषों में दो प्रकार की होती है—एक बाह्य और एक आभ्यन्तर। इनमें से आभ्यन्तर तो राजा की होती है और बाह्य बाहर वालों

की। देवताओं और राजाओं को सिंहासन देना चाहिए। पुरोहित और अमात्य को वेत्रासन, सेनापति और युवराज को मण्डासन, ब्राह्मणों को काष्ठासन या पीढ़ा, कुमारों को कुशासन।

रानियों के लिए सिंहासन, देवियों के लिए मण्डासन, पुरोहित और अमात्य की पत्नियों के लिए वेत्रासन, राजा की अन्य रानियों के लिए वस्त्र, चर्म या कुशा के आसन, ब्राह्मणी और तपस्विनियों के लिए पट्टासन, वेश्याओं के लिए मसूरक का आसन और शेष स्त्रियों के लिए भूमि आसन ही देना चाहिए। यह तो आभ्यन्तर और बाह्य आसन की विधि है।

तप करने वाले मुनियों और लिंगियों के आसन की विधि उनके व्रत के अनुसार स्थिर करनी चाहिए, जैसे बौद्धों के लिए बृसी, शैवों के लिए मुण्डासन, क्षपणकों के लिए वेत्रवल्कल या डिम्भक देना चाहिए और होम, यज्ञ-क्रिया और पितृ-कार्य में तदनुसार प्रयोग करना चाहिए। जो स्थानीय पुरुष कुल और विद्या से समन्वित हों, उनके लिए राजाओं के द्वारा आसन-सत्कार होना चाहिए, जैसे बराबर वाले के साथ बराबर का आसन, मध्यम के साथ मध्यम का आसन, अरिक्त वालों के साथ अरिक्त आसन और हीन को भूमि का आसन देना चाहिए। राजा के उपाध्याय या गुरुओं के लिए भूमि का आसन (ऊँची वेदी) या काष्ठ का आसन देना चाहिए। नाव, हाथी, रथ, यान, भूमि और काष्ठ आसन पर गुरु, उपाध्याय और राजा के साथ बैठने में दोष नहीं लगता है।

शयन

शयन छः प्रकार का होता है—आकुंचित, सम, प्रसारित, विवर्तन, उद्वाहित और नत। जब सब अंगों को सिकोड़कर दोनों जानुओं को शय्या-विद्ध कर लिया जाय उसे आकुंचित कहते हैं। इसका प्रयोग जाड़े से पीड़ित के लिए किया जाता है। मुख उत्तान करके और सामने हाथ खोलकर सीधे सोने को सम कहते हैं। एक भुजा सिर के नीचे लगाकर और जाँघ फैलाकर सोने को प्रसारित कहते हैं। नीचे मुँह करके उलटकर सोने का प्रयोग शस्त्र, छत्र, मृत, उत्क्षिप्त, प्रमत्त और उन्मत्त के लिए होता है। कन्धे पर सिर करके कूर्पर को क्षुब्ध कर देना ही उद्वाहित कहलाता है। लीला में कहे हुए स्वामी के वचनों में इसका प्रयोग करना चाहिए। कुछ-कुछ जाँघें फैलाकर दोनों हाथ घृष्ट करके सोने को नत कहते हैं। इसका प्रयोग आलस्य, श्रम और खेद में करना चाहिए।

अध्याय १५

भारतीय अभिनय-पद्धति (करण, अंगहार और रेचक)

करण और अंगहार

अंगों और प्रत्यंगों का अभिनय जान लेने पर करण और अंगहार का प्रयोग जानना कठिन नहीं होता, क्योंकि विभिन्न अंगों और प्रत्यंगों की अभिनय-मुद्राओं के मेल से करण बनते हैं और अनेक करणों के मेल से अंगहार बनते हैं। स्थानक (खड़े होने की स्थिति), चारी तथा नृत्तहस्त के मेल से करण बनता है। अर्थात् हाथ और पैर की विभिन्न गतियों के मेल से नृत्त में करण बनता है। किसी भी एक अभिनय-क्रिया में दो करण होते हैं और ऐसे तीन या चार करणों से अंगहार बनते हैं। करण में तो शरीर एक ही निश्चित स्थिति (स्थानक) में रहता है किन्तु अंगहार में निरन्तर स्थानक का परिवर्तन होता रहता है।

इस सम्बन्ध में यह स्मरण रखना चाहिए कि स्थानक, चारी, नृत्तहस्त आदि में जो नर्तकी पटु होती है वह किसी भी दी हुई नाट्य-कथा के अनुसार करणों और अंग-हारों का प्रयोग करके उस कथा के भाव को प्रकट कर सकती है। जब नर्तकी बैठकर अभिनय करती है तब उसकी नृत्त-मुद्रा और गति को लास्य कहते हैं। किन्तु जब वह खड़ी होकर अभिनय करती है उसे ताण्डव कहते हैं। जिस प्रकार चीन में सम्पूर्ण नाट्य-मुद्राएँ बँधी हुई हैं उसी प्रकार हमारे यहाँ भी सब नाट्य-मुद्राएँ प्रतीकात्मक रूप से बँधी हुई हैं। चीन की नृत्त और नाट्य-पद्धति का अध्ययन करने से यह प्रतीत होता है कि उनके यहाँ अभिनय की जितनी भी प्रतीक मुद्राएँ हैं उनमें से अधिकांश ज्यों की त्यों भारतीय आंगिक मुद्राओं से मिलती-जुलती हैं। अतः यह भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अनुसन्धान का विषय है।

अंगहार

भरत के नाट्यशास्त्र के चतुर्थ अध्याय में यह विवरण आया है कि हिमालय पर पूर्वरंग प्रक्रिया कर चुकने पर ब्रह्मा की आज्ञा से भरत ने 'अमृत-मंथन' नाम का समव-

कार महादेवजी के सामने खेला था और वहीं पर 'त्रिपुर-दाह' नाम का डिम भी खेला गया था। उस नाट्य-प्रदर्शन से शिवजी बड़े प्रसन्न हुए और उन्होंने कहा कि यह करणों और अंगहारों से समृद्ध अभिनय मुझे बहुत अच्छा लगा है। इसका प्रयोग मैं अपने सांध्य नृत्यों में किया करूँगा। उसी प्रसंग में उन्होंने यह भी कहा कि वर्धमानक योग और आसारित गीतों के साथ इन नाटकों को पूर्ण रंग-क्रिया के साथ खेलना चाहिए और इस अभिनय का उद्देश्य महागीत (अंगहार और पिण्डीबन्ध से युक्त अभिनय के साथ गाये हुए गीत) में व्यक्त करना चाहिए। इसी प्रसंग में यह भी कहा गया कि जो पूर्वरंग आप लोगों ने किया है इसका नाम अब चित्र पड़ जायगा और उन्होंने ब्रह्मा के निवेदन पर तण्डु को आदेश दिया कि भरत को अंगहार सिखाओ। तब तण्डु ने भरत को अंगहार, करण और रेचक तीनों की शिक्षा दी।

ये अंगहार बत्तीस होते हैं——स्थिर-हस्त, पर्यस्तक, सूचीविद्ध, अपविद्ध, आक्षिप्तक, उद्घट्टित, विश्रंभ, अपराजित, विष्कम्भापसृत, मत्तक्रीड, स्वस्तिक-रेचित, पार्श्व-स्वस्तिक, वृश्चिक, भ्रमर, मत्ताक्षलित, मदविलासित, गतिमंडल, परिच्छिन्न, परिवृत्त-रेचित, वैशाख-रेचित, परावृत्त, अलातक, पार्श्वच्छेद. विद्युद्भ्रान्त, उद्वृत्तक, आलीढ, रेचित, अच्छुरित, आक्षिप्त-रेचित, संभ्रान्त, अपसर्पित, अर्धनिकुट्टक।

एक अभिनय-मात्रिका में दो करण होते हैं। ऐसी दो, तीन या चार मात्रिकाओं के मेल से अंगहार बनता है। तीन करणों से एक कलापक बनता है, चार करणों से मंडक और पाँच करणों से संघातक बनता है। कुछ ऐसे भी अंगहार होते हैं जो छः, सात और आठ करणों से मिलकर बनते हैं।

करण

ऐसे १०८ करण भरत ने गिनाये हैं—१. तलपुष्पपुटम्, २. वर्तितम्, ३. वलितोरु, ४. अपविद्धम्, ५. समनखम्, ६. लीनम्, ७. स्वस्तिकरेचितम्, ८. मण्डलस्वस्तिकम्, ९. निकुट्टकम्, १०. अर्धनिकुट्टकम्, ११. कटिच्छिन्नम्, १२. अर्धरेचितकम्, १३. वक्षःस्वस्तिकम्, १४. उन्मत्तकम्, १५. स्वस्तिकम्, १६. पृष्ठस्वस्तिकम्, १७. दिक्स्वस्तिकम्, १८. अलातकम्, १९. कटिसमम्, २०. आक्षिप्तरेचितम्, २१. विक्षिप्ताक्षिप्तकम्, २२. अर्धस्वस्तिकम्, २३. अंचितम्, २४. भुजंगत्रासितम्, २५. ऊर्ध्वजानु, २६. निकुंचितम्, २७. मत्तल्लि, २८. अर्धमत्तल्लि, २९. रेचकनिकुट्टितम्, ३०. पादापविद्धकम्, ३१. वलितम्, ३२. घूर्णितम्, ३३. ललितम्, ३४. दण्डपक्षम्, ३५. भुजंगत्रस्तरेचितम्, ३६. नूपुरम्, ३७. वैशाखरेचितम्, ३८. भ्रमरकम्, ३९. चतुरम्, ४०. भुजंगाचितम्, ४१.

दण्डरेचितकम्, ४२. वृश्चिककुट्टितम्, ४३. कटिभ्रान्तम्, ४४. लतावृश्चिकम्, ४५. छिन्नम्, ४६. वृश्चिकरेचितम्, ४७. वृश्चिकम्, ४८. व्यंसितम्, ४९. पार्श्व-

चित्र ६—भारतीय अभिनय के करण (१—९)
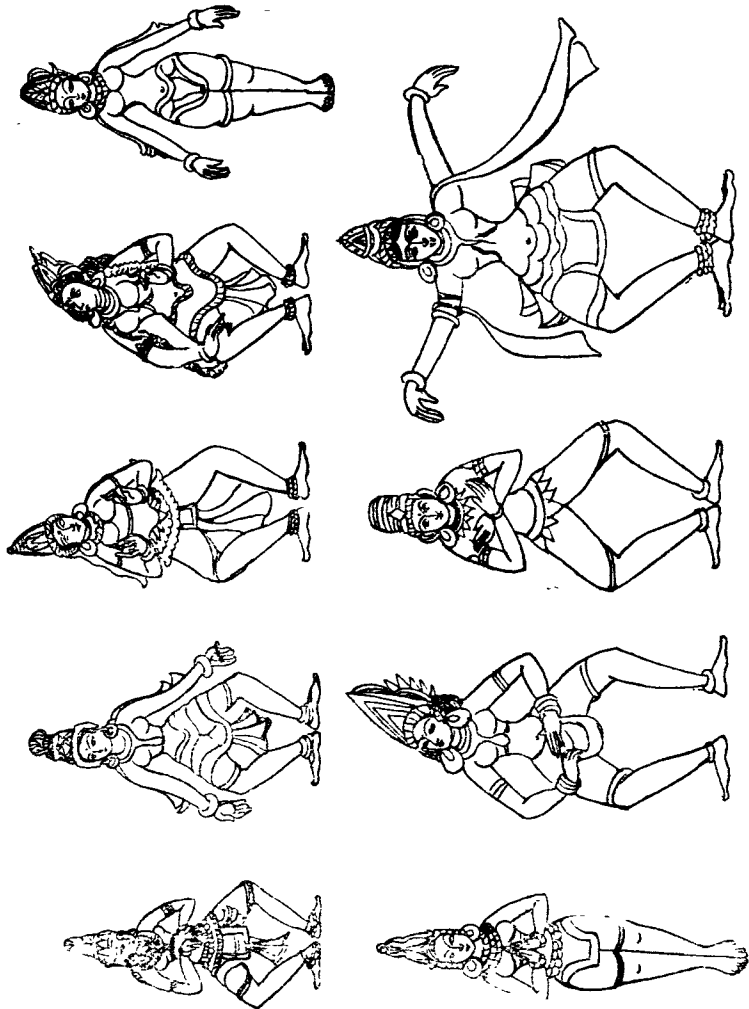
निकुट्टकम्, ५०. ललाटतिलकम्, ५१. क्रान्तकम्, ५२. कुंचितम्, ५३. चक्रमण्डलम्, ५४. उरुमण्डलिकम्, ५५. आक्षिप्तम्, ५६. तलविलासितम्, ५७. अर्गलम्, ५८.
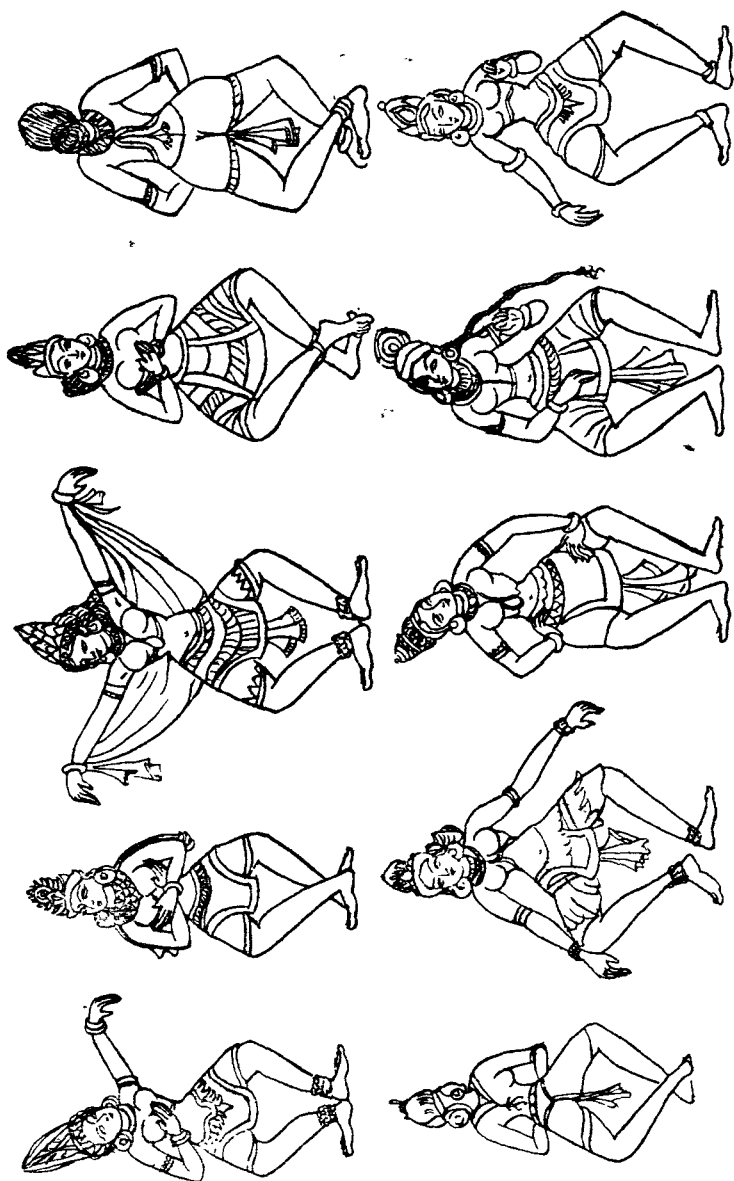
चित्र ७—भारतीय अभिनय के करण (१०—१९)

विक्षिप्तम्, ५९. आवर्तम्, ६०. दोलापादम्, ६१. विवृत्तम्, ६२. विनिवृत्तम्, ६३. पार्श्वक्रान्तम्, ६४. निशुम्भितम्, ६५. विद्युद्भ्रान्तम्, ६६. अतिक्रान्तम्,
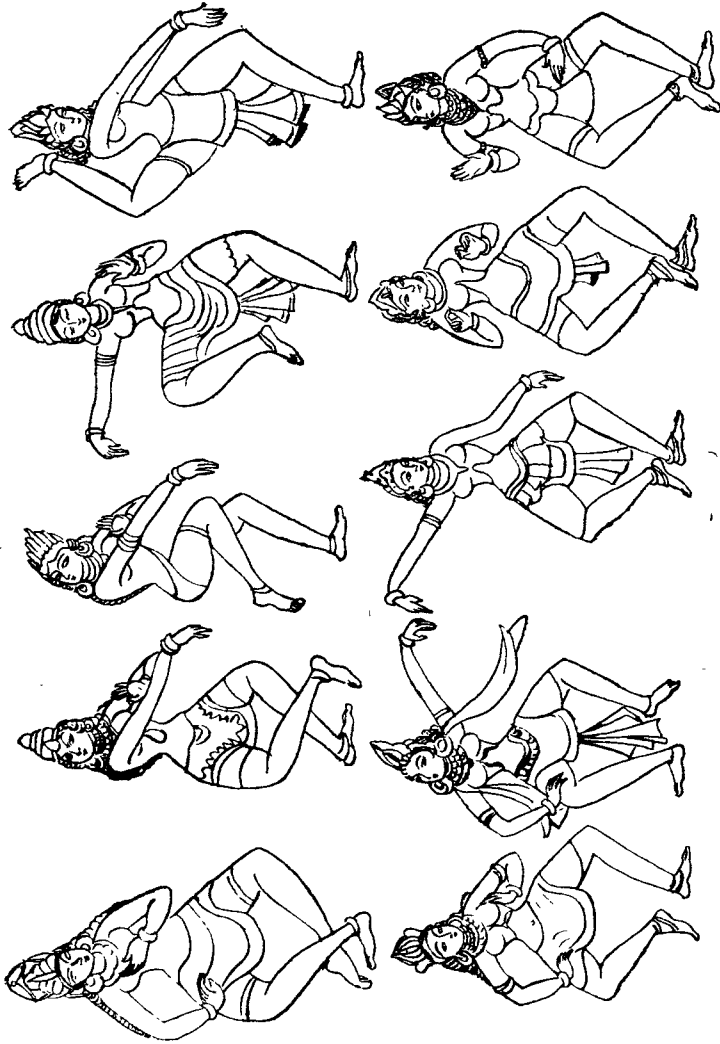
चित्र ८—भारतीय अभिनय के करण (२०—२९)

६७. विवर्तितकम्, ६८. गजक्रीडितकम्, ६९. तलसंस्फोटितम्, ७०. गरुडप्लुतकम्, ७१. गण्डसूची, ७२. परिवृत्तम्, ७३. पार्श्वजानु, ७४. गृध्रावलीनकम्, ७५.

संनतम्, ७६. ऊर्ध्वसूची, ७७. अर्धसूची, ७८. सूचीविद्धम्, ७९. अपक्रान्तम्, ८०. मयूरललितम्, ८१. सर्पितम्, ८२. दण्डपादम्, ८३. हरिणप्लुतम्, ८४. प्रेंखोलितम्, ८५. नितम्बम्, ८६. स्खलितम्, ८७. करिहस्तकम्, ८८. प्रसर्पितकम्, ८९. सिंहविक्रीडितम्, ९०. सिंहाकर्षितकम्, ९१. उद्वृत्तम्, ९२. उपसृतम्, ९३. तलसंघट्टितम्, ९४. जनितम्, ९५. अवहित्थम्, ९६. निवेशम्, ९७. एलकाक्रीडितम्, ९८. ऊरूद्वृत्तम्, ९९. मदस्खलितकम्, १००. विष्णुक्रान्तम्, १०१. संभ्रान्तम्, १०२. विष्कम्भकम्, १०३. उद्घट्टितम्, १०४. वृषभक्रीडितम्, १०५. लोलितम्, १०६. नागापसर्पितम्, १०७. शकटास्यम्, १०८. गंगावतरणम्।

इन करणों का प्रयोग भरत ने चारी, शस्त्रयुद्ध, द्वन्द्वयुद्ध और नृत्य के लिए बताया है। साधारणतः सब करणों में बायाँ हाथ छाती पर रखना चाहिए और दायाँ हाथ पैर के अनुसार चलना चाहिए। इतना ही नहीं, हाथ और पैर की गतियाँ भी कमर, पार्श्व, छाती, पीठ और उदर की गतियों के साथ मेल खाते हुए होनी चाहिए। नृत्त की प्रत्येक क्रिया या मात्रिक में कुछ स्थानक, कुछ अभिनय-मुद्राएँ, कुछ गतियाँ और कुछ हस्त की मुद्राएँ होती हैं। इन मात्रिकों के मेल से करण बनता है। शरीर की जिस सीधी मुद्रा में कान, सिर, कंधे, कोहनी और छाती, सब कमर की सीध में होते हैं, उसे सौष्ठव कहते हैं, जिसका उल्लेख भरत और अभिनवगुप्त दोनों ने अनेक बार किया है।

करणों की परिभाषा

तलपुष्पपुट (फूलों से अंजलि भरी हुई)—तलपुष्पपुट वह करण है जिसमें पुष्पपुट बायीं ओर बनाया जाता है और पादाग्रतलसंचार दायीं ओर होता है और पार्श्व भी सन्नत होता है। इसका प्रयोग रंगमंच पर फूल बिखेरने के लिए सूत्रधार करता है।

वर्तित (उलटा)—हाथ को थोड़ा सा कलाई पर झुकाकर आवृत्त और परिवृत्त बनाया जाय और दोनों हाथ हथेली सामने की ओर करके इस प्रकार जाँघ तक लटका दिये जायँ कि कलाइयाँ थोड़ी सी झुकी रहें। इसका प्रयोग असूया और ईर्ष्या के प्रदर्शन में होता है।

वलितोरु (ऊरु या जाँघ को भीतर को मोड़ लेना)—हाथों को शुकतुंड मुद्रा में लाकर छाती पर उँगलियों से व्यावृत्त और परिवृत्त बनाया जाय और जाँघों को वलित में रखे। इसका प्रयोग मुग्धा नायिका का निर्देश करने के लिए होता है।

अपविद्ध (वेग से हिलाना)—शुकतुंड बनाकर बायें हाथ को जाँघ के ऊपरी भाग पर रखा जाय और दायाँ हाथ हटाकर छाती पर रख लिया जाय। इसका प्रयोग ईर्ष्या, द्वेष और क्रोध-प्रदर्शन के लिए होता है।

समनख (समान नख रखना)—दोनों टाँगों को सीधे तानकर मिलाकर खड़ा होना और पंजे धरती पर जमा देना, दोनों हाथ लताहस्त मुद्रा में लटकाकर स्वाभाविक स्थिति में शरीर को रखना। यह करण नर्तकी के प्रथम बार रंगमंच पर आते समय दिखाया जाता है।

लीन—दोनों हथेलियों को छाती पर पताकांजलि मुद्रा में रखा जाय, ग्रीवा दबाकर और कंधों के डिल्ल निहंचित मुद्रा में रखे जायँ। इसका प्रयोग किसी से किसी वस्तु की प्रार्थना करने के लिए होता है। निहंचित और निकुंचित एक ही बात है।

स्वस्तिक-रेचित (भ्रमणपूर्ण काट)—रेचित करके हाथों को आविद्ध अवस्था में लाया जाय और छाती पर हाथों से स्वस्तिक बनाया जाय; फिर हाथ खोलकर कमर पर टेक दिये जायँ। इसका प्रयोग तब किया जाता है, जब नर्तकी केवल दर्शकों को प्रसन्न करना चाहती हो और नृत्य करना ही प्रधान उद्देश्य हो।

मण्डल-स्वस्तिक—दर्शकों की ओर हथेलियाँ और उँगलियाँ करके दोनों हाथों को स्वस्तिक मुद्रा में लाये या सम्मुख और ऊपर रखी हुई वस्तु के सामने लाये कि वह मण्डलस्थान की समान स्थिति में आ जाय। इसका प्रयोग अनादर और अपमान के लिए किया जाता है।

निकुट्टक (कंधे वाली मुद्राएँ)—जब दोनों हाथ कंधों के डील के ऊपर थोड़े अन्तर से निकुट्ट बनायें और पैर भी निकुट्ट मुद्रा में हों। कोहल का मत है कि शरीर झुकाने और उठाने को निकुट्ट कहते हैं। इसका प्रयोग आत्मश्लाघा के लिए किया जाता है।

अर्ध-निकुट्ट (आधे कंधे वाले बाहु)—दोनों हाथ कंधों के डील पर निकुट्ट मुद्रा में आमने-सामने करके कुछ अन्तर देकर कंधों पर रखे जाते हैं और यह निकुंचित और अर्धवियोग में किया जाता है। इसका प्रयोग भी आत्मश्लाघा में किया जाता है।

कटिच्छिन्न (टूटी कमर)—कमर चारों ओर घुमायी जाय और दोनों हाथ सिर पर पल्लव मुद्रा में हों और यह प्रक्रिया चारों ओर घूमते हुए बार-बार दिखलायी जाय। इसका प्रयोग विनोद, आश्चर्य और अद्भुत में होता है।

अर्धरेचित (आधा चक्कर)—इस करण में हाथ तो सूची मुद्रा में अपविद्ध होते हैं, टाँगें निकुट्ट होती हैं और पार्श्व सन्नत होता है। इसका प्रयोग किसी बुरे या अमंगल विचार के लिए आता है।

वक्ष-स्वस्तिक (छाती पर दोनों हाथ आर-पार रखना)—इस करण में दोनों टाँगें स्वस्तिक मुद्रा में और दोनों हाथ छाती पर रेचित में रखकर छाती आगे को झुका दी जाती है। इसका प्रयोग किसी अपमानित या संकोची व्यक्ति के प्रति सहानुभूति दिखाने के लिए किया जाता है।

उन्मत्त—टाँगें झुका दी जाती हैं और हाथ रेचित मुद्रा में रहते हैं। इसका प्रयोग अधिक धन का मद प्रदर्शन करने में होता है।

स्वस्तिक—स्वस्तिक में हाथ और पैर दोनों का स्वस्तिक बनाया जाता है। इसका प्रयोग सब प्रकार की दुर्भावना दूर करने के प्रयास में होता है।

पृष्ठ-स्वस्तिक (पीठ पर स्वस्तिक बनाना)—इस करण में हाथ तो विक्षिप्त-क्षिप्त मुद्रा में होते हैं और टाँगें स्वस्तिक अपक्रान्त और अर्धसूची में होती हैं। इसका प्रयोग भी स्वस्तिक के समान ही होता है किन्तु कभी-कभी इस करण का प्रयोग युद्ध या पलायन के लिए भी होता है। इस करण में नर्तकी दर्शकों की ओर अपनी पीठ दिखा सकती है।

दिक्स्वस्तिक—इस करण में हाथ और टाँगें सामने की ओर और पार्श्व में रहती हैं। इसका प्रयोग गाते समय शरीर की गति दिखाने के लिए होता है।

अलात (चक्कर काटना)—पैर से अलात बनाकर दायें हाथ को कंधों के छोर से हटाकर ऊर्ध्वजानु चारी की जाय। इसका प्रयोग कोमल नृत्य में किया जाता है।

कटिसम (समान कमर)—दोनों पैर स्वस्तिक से खोल दिये जायँ। दायाँ और बायाँ हाथ नाभि और कमर पर रखा जाय और पार्श्व ऊपर और आगे को बढ़ाया जाय। इसका प्रयोग सूत्रधार के द्वारा जर्जर की पूजा के लिए होता है।

आक्षिप्त-रेचित—जब बायाँ हाथ उदर पर हो और दाहिना हाथ पहले आक्षिप्त रेचित में फिर रेचित और अन्त में अपविद्ध में आ जाय। इसका प्रयोग पीठ दिखाकर भागने और कुछ फेंकने के लिए होता है।

विक्षिप्ताक्षिप्त (फेंका हुआ)—जब हाथ और पैर विक्षिप्त में हों और आक्षिप्त में हों।

अर्धस्वस्तिक—पैरों से स्वस्तिक बनाकर दाहिने हाथ को करिहस्त मुद्रा में रखकर दोनों हाथ छाती पर रखने चाहिए। इसमें केवल पैर ही स्वस्तिक में होते हैं, इसलिए इसे अर्धस्वस्तिक कहते हैं।

अंचित (रखना)—जैसे अर्धस्वस्तिक में हाथ रहता है वही हाथ व्यावृत्त और परिवृत्त में रहकर नाक के ऊपर गोलाई में रख दिया जाता है। इसका प्रयोग तब होता है जब कोई नर्तकी अन्य नर्तकी के सामने अपनी महत्ता देखकर प्रसन्न हो।

भुजंगत्रासित (सर्प से डरा हुआ)—बायीं टाँग ऊपर उठाकर जाँघ को त्र्यस्र में घुमाया जाय और कमर तथा घुटने बाहर को गोलाई में निकाल दिये जायँ। इसका प्रयोग उस मानसिक परिस्थिति में होता है, जब कोई अपने पास सर्प को देख ले।

ऊर्ध्वजानु (उठे हुए घुटने)—बायीं टाँग उठाकर छाती के बराबर ले जायी जाय और हाथों को जैसा चाहे वैसा किया जाय। इसका प्रयोग स्वतंत्रतापूर्वक अभिनय करने के लिए होता है।

निकुंचित (झुका हुआ)—एक टाँग को वृश्चिक की मुद्रा में रखी जाय, बायाँ हाथ गाल के पास रहे और दायाँ हाथ नाक की छोर पर रहे। इसका प्रयोग उड़ने के भाव के लिए होता है।

मत्तल्लि (उलटा लुढ़कना)—टाँगों को मिलाते और अलग करते हुए लुढ़कना और दोनों हाथों को निराशा में छोड़ देना और चक्कर लगाना। इसका प्रयोग अत्यन्त मदमत्तता या नशे में होता है।

अर्धमत्तल्लि—इसमें टाँगें स्खलितापसृत होती हैं। बायाँ हाथ रेचित में होता है और दायाँ हाथ कमर पर रहता है। इसका भी प्रयोग मदमत्तता में किया जाता है।

रेचित-निकुट्ट (कंधे वाली भुजाएँ घुमाना)—इसमें दायाँ हाथ रेचित में, दायाँ पैर निकुट्ट में और बायाँ हाथ दोल में होता है। इसका प्रयोग झूले के समान गति में किया जाता है।

पादापविद्ध (एड़ी का वेधन)—दोनों हाथ नाभि प्रदेश में रखकर दोनों हथेलियाँ कटकामुख मुद्रा में नर्तकी अपनी ओर घुमा ले और दोनों टाँगें सूचीविद्ध और अप-क्रान्त में हों।

वलित (भीतर मुड़ा हुआ)—इसमें हाथ अपविद्ध और सूची में होता है और त्रिक अर्थात् रीढ़ की हड्डी का वह सबसे नीचे का भाग जो नितम्ब की हड्डियों से मिला रहता है उसे विवृत किया जाय और चक्कर देकर घुमाया जाय।

घूर्णित (घूमना)—इसमें दायाँ हाथ वर्तित घूर्णित में होता है, बायाँ हाथ दोल में और पैर स्वस्तिक वर्तित में होते हैं। इसका प्रयोग अग्नि से भय दिखलाने के लिए होता है।

ललित—इसमें बायाँ हाथ परिहस्त में, दायाँ हाथ अपवर्तित में और पैर बारी-बारी से कुट्टित (निकुट्ट) में रहते हैं। इसका प्रयोग लालित्यपूर्ण नृत्त में होता है।

दंडपक्ष—लताहस्त मुद्रा में दोनों हाथ करके ऊर्ध्वजानु करण बनाना चाहिए।

भुजंगत्रस्तरेचित—रेचित में भुजंगत्रासित बनाया जाय और दोनों हाथ बायीं ओर कर लिये जायँ।

नूपुर—त्रिक का वलन करके हाथों को लतारेचित में और टाँगों को नूपुर मुद्रा में रखा जाय।

चित्र ९—भारतीय अभिनय के करण (३०—३७)

वैशाख-रेचित—दोनों हाथ और पैर तथा कमर और टाँगें रेचित में रखी जायँ और वैशाख स्थान में यह क्रिया की जाय। इसका प्रयोग अभिनेता के आगे जाने के लिए होता है।

अभिनवगुप्त की टीका में राहुल मुद्रा के मत के अनुसार रेचित की यह परिभाषा दी है कि ग्रीवा, हाथ, कमर और टाँगों का एक साथ चक्कर लगाना ही रेचित कहलाता है।

भ्रमर—जब टाँगें आक्षिप्त स्वस्तिक में, दोनों हाथ उद्वेष्टित में हों और त्रिक

का वलन हो, तब भ्रमर करण होता है। इसका प्रयोग वेग से चक्कर काटने के लिए होता है।

चतुर—बायाँ हाथ अंचित में, दायाँ हाथ चतुर में और दाहिना पैर कुट्टित (निकुट्ट) में हो। इसका प्रयोग विदूषक द्वारा विनोद और आश्चर्य प्रकट करने के लिए होता है।

चित्र १०—भारतीय अभिनय के करण (३८—४१)

दण्ड-रेचित—हाथ और पैर डंडे के समान पूरे फैलाकर विक्षिप्त में रखे जायँ और तब हाथ का रेचित किया जाय।
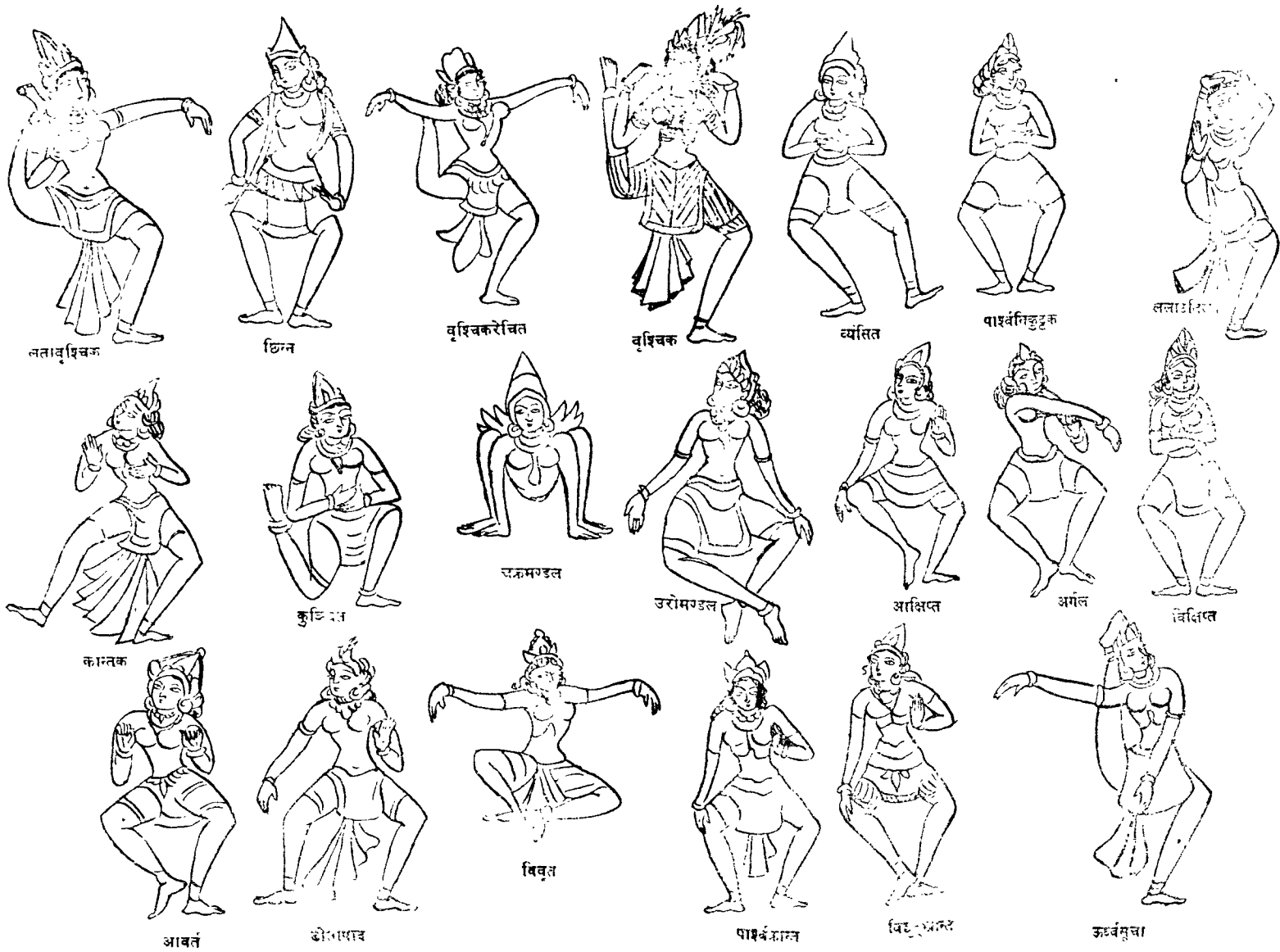
चित्र ११—भारतीय अभिनय के करण

वृश्चिककुट्टित—इसमें एक पैर वृश्चिक मुद्रा में होता और दोनों हाथ निकुट्ट में होते हैं।

कटिभ्रान्त (वेग से कमर हिलाना)—दायें पैर को पहले सूची में और फिर अपविद्ध में रखना और कमर को रेचित में घुमाना।

लतावृश्चिक—दायीं टाँग पीछे की ओर कुंचित ऊर्ध्वलता में मोड़ ली जाय और बायीं लता में हो। इसका उपयोग आकाश से पृथ्वी पर उतरने के लिए होता है।

छिन्न—दोनों हाथ अलपद्म मुद्रा में कमर पर टेक लिये जायँ और कमर वैशाख स्थानक में हो।

वृश्चिक-रेचित (बिच्छू की तरह घूमना)—पैर से वृश्चिक बनाकर दोनों हाथ स्वस्तिक में रखे जायँ और फिर हाथ खोलकर हाथों से रेचित किया जाय। इसका प्रयोग आकाश में उड़ने के लिए होता है।

वृश्चिक—दोनों हाथ कंधे के डिल्ल पर मोड़ लिये जाते हैं और दायाँ पैर पीठ की ओर मोड़कर कुछ दूर पर रखा जाता है। इस मुद्रा में टीकाकार ने करिहस्त का प्रयोग करने के लिए लिखा है। इस करण में पैर को बिच्छू के डंक के समान दिखाना चाहिए। इसका प्रयोग आकाश में उडने और इन्द्र के हाथी आदि के लिए होता है।

व्मंसित (व्यथित)—इसमें आलीढ स्थानक की स्थिति होती है। दोनों हाथ रेचित में छाती पर रखे जाते हैं और ऊपर-नीचे उछाले जाते हैं। इसका प्रयोग जटिल परिस्थितियों के लिए किया जाता है।

पार्श्वनिकुट्ट (दोनों पार्श्वों में हाथ बाँधना)—इसमें दोनों हाथ दोनों पार्श्वों में स्वस्तिक बनाते हुए और पैर निकुट्ट में होते हैं। चारों ओर घूमने और भोजन का निर्देश इसके द्वारा किया जाता है।

ललाट-तिलक—दायें पैर से वृश्चिक बनाकर पैर के अँगूठे से माथे पर तिलक करना। इस मुद्रा में नर्तकी अपने बायें हाथ को भी मस्तक पर ले जाती है और अँगूठे को इस प्रकार नीचे रखती है जिस प्रकार माताएँ अपने बच्चे को टीका लगाती हैं।

क्रान्त—पीठ से कुंचित बनाते हुए अतिक्रान्त क्रम किया जाय, क्रम का अर्थ है एक पग आगे चलना, और फिर दोनों हाथ आक्षिप्त में रखे जायँ।

कुंचित (कोना बनाकर झुकाना)—दायाँ पैर पीठ की ओर घूमा हुआ अर्थात् नत हो और दायाँ हाथ कुंचित या मुड़ा हुआ हो और बायाँ हाथ उत्तान में हो। इसका प्रयोग उस समय होता है जब कोई अपने इष्ट देवता की पूजा में अत्यन्त हर्षमग्न हो।

चक्रमण्डल—इसमें दोनों हाथ धरती पर टेक दिये जाते हैं, पूरा शरीर मोड़कर हाथ आभ्यन्तर अपविद्ध में पहुँचा दिये जाते हैं।

उरुमण्डल—इसमें दोनों पैर पहले स्वस्तिकापसृत में रखकर फिर अपविद्ध क्रम में रखे जाते हैं और दोनों हाथ उरुमण्डल मुद्रा में होते हैं।

आक्षिप्त—इस करण में हाथ और पैर दोनों बड़े वेग से आक्षिप्त में रखे जाते हैं। इसका प्रयोग दंभपूर्ण गति, आभूषण और सजावट आदि में किया जाता है। इसका विदूषक की गति में प्रयोग किया जाता है।

तलविलासित—इसमें दोनों पैर इस प्रकार रखे जाते हैं कि अँगूठों का नीचे का भाग दिखाई पड़े और पैर एक पार्श्व में फैले हुए हों और दोनों हाथ नीची हथेली करके फैलाये हुए हों।

अर्गल—जब एक पैर पीछे से ढाई ताल दूसरे पैर के आगे बढ़ा दिया जाय और हाथ भी उसी मुद्रा के अनुसार हों। टीकाकार ने लिखा है कि इस करण में हथेली अलपल्लव में होनी चाहिए। इसका प्रयोग उस ताल के लिए होता है जिसमें पानी भरा हो, जो लहर की गति से धीरे-धीरे हिल रहा हो।

विक्षिप्त—दोनों हाथ और पैर विक्षिप्त मुद्रा में पीछे से इधर-उधर और पार्श्व में चलाये और फेंके जायँ। इसका प्रयोग गर्वपूर्ण गति के लिए होता है।

आवर्त (भँवर)—मुड़े हुए पैर को फैलाकर वेग से आवर्त में घुमा दिया जाय और पैर की गति के साथ हाथों की भी तदनुसार गति हो। इसका प्रयोग तब होता है जब नायक पीछे को हटता हो।

दोलापाद (पैर झुलाना)—मुड़े हुए पैर को एक ओर से दूसरी ओर झूले के समान झुलाना और हाथों को भी इस क्रिया के साथ चलाना चाहिए।

विवृत्त—इसमें हाथ और पैर आक्षिप्त में होते हैं, त्रिक चारों ओर घुमाया जाता है और हाथ अन्त में रेचित में आ जाते हैं। इसका प्रयोग उद्धत गति में किया जाता है।

विनिवृत्त—इस करण में पैर को सूची मुद्रा में लाकर त्रिक को विनिवृत्त में रखा जाय और दोनों हाथ रेचित में किये जायँ।

पार्श्वक्रान्त—पार्श्वक्रान्त में एक पग चलकर उसी मुद्रा में पैर को सामने फेंककर हाथ भी उसी के अनुसार चलाये जायँ। इसका प्रयोग भीम आदि वीर पुरुषों के भयंकर कार्यों में किया जाता है।

निशुंभित (कुचलना)—पैर को पीछे मोड़ लिया जाता है, छाती उठा ली जाती है और हाथ की हथेली तिलक मुद्रा में रखी जाती है। यह शिवजी का प्रसिद्ध नृत्य है।

विद्युद्भ्रान्त (बिजली की चमक)—पीछे से पैर को वलित करके इस प्रकार फैलाया जाय कि वह माथे को रगड़े।

अतिक्रान्त—पैर से अतिक्रान्त क्रम करके आगे को फैला दिया जाय और हाथ भी उसी के अनुसार चलाये जायँ।

विवर्तित—हाथ और पैर आक्षिप्त में, त्रिक विवर्तित में और बायाँ हाथ अंचित में रहता है।

गजक्रीड़ित—इसमें बायाँ हाथ जाँघ पर घूम जाता है, दायाँ हाथ लताहस्त में रहता है और पैर दोलापाद में रहते हैं।

तलसंस्फोटित—वेग से पैर उठाकर आगे को फेंका जाय और हाथ तलसंस्फोटित मुद्रा में रहे। इसका प्रयोग ताल देने के लिए होता है।

गरुडप्लुत—(गरुड़ की उड़ान) पैर को पीछे की ओर फैलाकर हाथों को लता-रेचित में रखना और छाती को भली प्रकार उठाये रखना चाहिए। इसका प्रयोग चील के समान उड़ने के लिए किया जाता है।

गंडसूची—इसमें पार्श्व को सूची-पाद मुद्रा में ऊपर को खींचा जाय, एक हाथ छाती पर हो और दूसरा गाल पर मुड़ा (उलटा) हो। टीकाकार ने इस मुद्रा के लिए बताया है कि सूची में जो पैर हो वह गाल का स्पर्श करे, हाथ सूची-मुख मुद्रा में हो और गाल का स्पर्श करे और हाथ सूच्यास्य मुद्रा में रखे जायँ।

परिवृत्त (चक्कर काटना)—दोनों हाथ ऊर्ध्वविष्टित मुद्रा में हों, टाँग सूची-पाद में घुमायी जाय और त्रिक भी परिवृत्त में हो।

पार्श्वजानु—इसमें एक पैर साधारण स्थिति में हो, दूसरा जाँघ पर स्थित हो और हाथ मुष्टिहस्त मुद्रा में छाती पर हो।

गृध्रावलीनक—पैर पीछे की ओर फैला हुआ हो और घुटने कुछ मुड़े हुए हों और हाथ भली प्रकार फैले हुए हों। इसका प्रयोग गरुड़ का निर्देश करने के लिए होता है। टीकाकार के अनुसार इस करण में दोनों हाथ लताहस्त मुद्रा में पार्श्व के पास होने चाहिए।

संनत—हरिणप्लुत में कूदकर दोनों पैरों को आगे स्वस्तिक में रखा जाय और दोनों हाथ दोला मुद्रा में हों।

सूची—झुके हुए पैर को ऊपर उठाकर इस प्रकार रखा जाय कि वह सामने पृथ्वी का स्पर्श करे और हाथ भी पैर के साथ ही तदनुसार चलाये जायँ।

अर्धसूची—हाथ सिर के ऊपर अलपद्म मुद्रा में रखे जायँ और दाहिना पैर सूचीपाद में हो।

सूचीविद्ध—दायाँ पैर एड़ी पर टिका हुआ हो और बायाँ पैर दायें पैर में सूची-पाद के समान प्रविष्ट किया गया हो और दोनों हाथ कमर और छाती पर हों।

अपक्रान्त—दोनों जाँघों से वलित करके टाँगें अपक्रान्त क्रम में चलायी जायँ और तदनुसार हाथ चलाये जायँ।
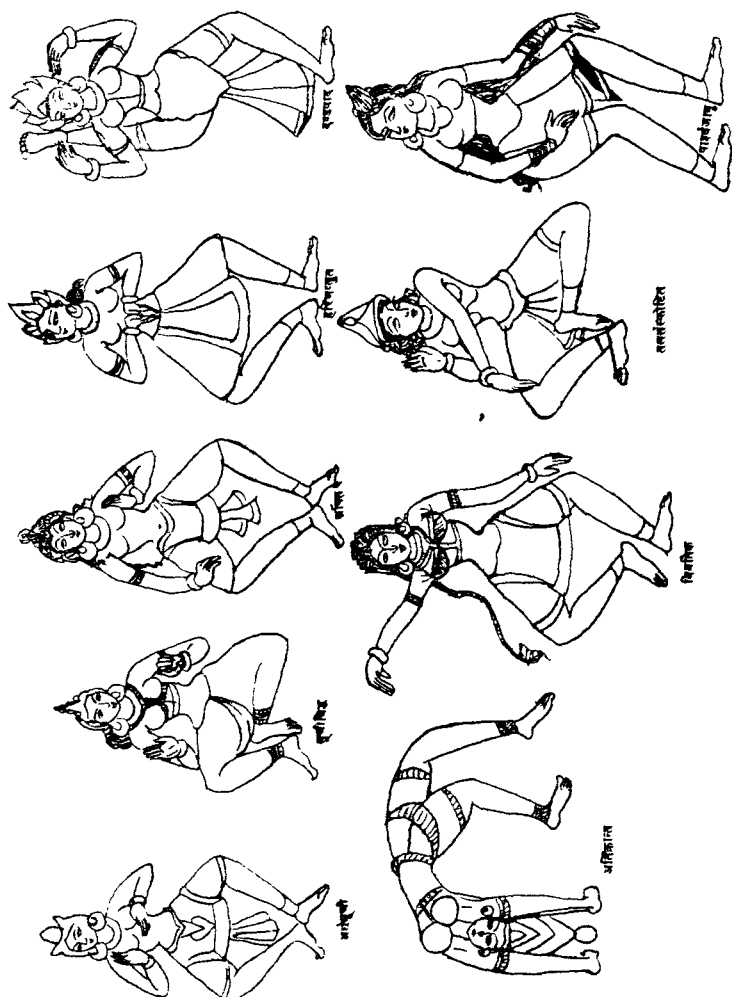
चित्र ९२—भारतीय अभिनय के करण

मयूर-ललित—पैर से वृश्चिक बनाकर रेचित में दोनों हाथ रखकर त्रिक को घुमाया जाय।

सर्पित—दोनों पैर मोड़कर अलग-अलग चलाये जायँ, सिर को परिवाहित में रखा जाय और दोनों हाथ रेचित में हों। इसका प्रयोग तीव्र भावावेग या मदमत्तता में पीछे की ओर चलने में होता है।
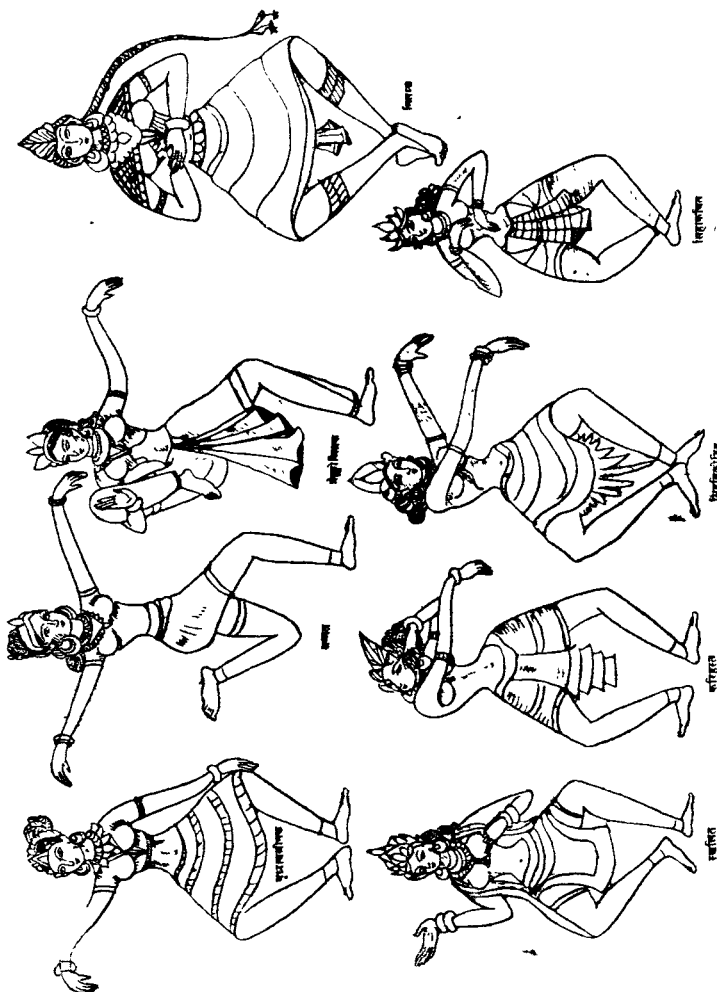
चित्र १३—भारतीय अभिनय के करण

दंडपाद—टाँग से नूपुर बनाकर उसे दंडपाद मुद्रा में आगे फैला दिया जाय और वेग से हाथों को आविद्ध में रखा जाय। इसका प्रयोग अभिमानपूर्ण उद्धत गति में होता है।

हरिणप्लुत—अतिक्रान्त क्रम करके ऊपर उछला जाय और फिर दोनों पैर पृथ्वी पर लाकर एक पैर को दूसरे पैर की पिंडली पर झुकाकर रखा जाय। इस करण में हरिणप्लुत चारी आ जाती है।

प्रेंखोलित—दोलापाद बनाकर ऊपर उछलकर नीचे पैर डालकर त्रिक को परिवृत्त में किया जाय। यह ऊपर कूदना और पैर को नीचे डालना हरिणप्लुत-आकाशिका चारी में करना चाहिए।

नितम्ब—दोनों हाथ कंधों के ऊपर उठे हुए हों, हथेलियाँ पताक मुद्रा में छाती की ओर हों और नर्तकी बद्ध चारी में हो।

स्खलित—पैरों से दोलापाद क्रम बनाकर तदनुसार हाथ चलाये जायँ और तब हाथों से रेचित और घूर्णित किया जाय।

करिहस्त—बायाँ हाथ छाती पर रखा जाय और दायाँ हाथ प्रोद्वेष्टित ताल में हो और पैर अंचित में हों। इसमें प्रोद्वेष्टित को त्रिपताक मुद्रा में कान पर रखा जाय और टाँग भी हाथ के प्रोद्वेष्टित के अनुसार झुका दी जाय।

प्रसर्पित (आगे बढ़ायी हुई)—एक हाथ रेचित में उठा दिया जाय और दूसरा लता में रखा रहे और तलवे प्रसर्प में। इसका प्रयोग आकाश में रहने वाले जीवों की गति के लिए होता है।

सिंहविक्रीडित—दाहिने पैर से अलात बनाकर बायाँ पैर द्रुत क्रम में और हाथ भी पैर की गति के साथ चलें। इसका प्रयोग सिंह के पंजे की चोट दिखाने के लिए होता है।

सिंहार्कर्षित—इसमें पैर पीछे को फैलाकर, हाथ झुकाकर इस मुद्रा को दुहराया जाय। इसका प्रयोग सिंह का प्रदर्शन करने के लिए होता है।

उद्वृत्त—इसमें हाथ, शरीर और टाँगें आक्षिप्त में होती हैं और धड़ उद्वृत्त अर्थात् ऊपर को उठा रहता है।

उपसृत—इसमें एक टाँग आक्षिप्त मुद्रा में फेंकी जाती है। उसी के अनुसार हाथ चलते हैं और शरीर आगे को झुका रहता है।

तलसंघट्टित—इसमें दोलापाद क्रम करके दोनों हाथों को तलसंघट्टित मुद्रा में ले जाया जाय और बायें हाथ को रेचित में रखा जाय। इसका प्रयोग दया और करुणा दिखाने के लिए होता है।

जनित—इसमें एक हाथ छाती पर टिका रहता है, दूसरा नीचे लटका रहता है और पैर तलवे के छोर पर अर्थात् पंजे पर रहता है। छाती पर रखा हुआ हाथ मुद्रा में और दूसरा लता मुद्रा में होता है। यह अभिनय सब गतियों का मूल है।

अवहित्थ—दोनों हाथों की उँगलियों को एक दूसरे की ओर घुमाकर जनित करण बनाया जाय और उसी मुद्रा में दोनों हाथ नीचे झुका दिये जायँ। इसका प्रयोग गंभीर चिन्तन, शोक और दुर्बलता में होता है।
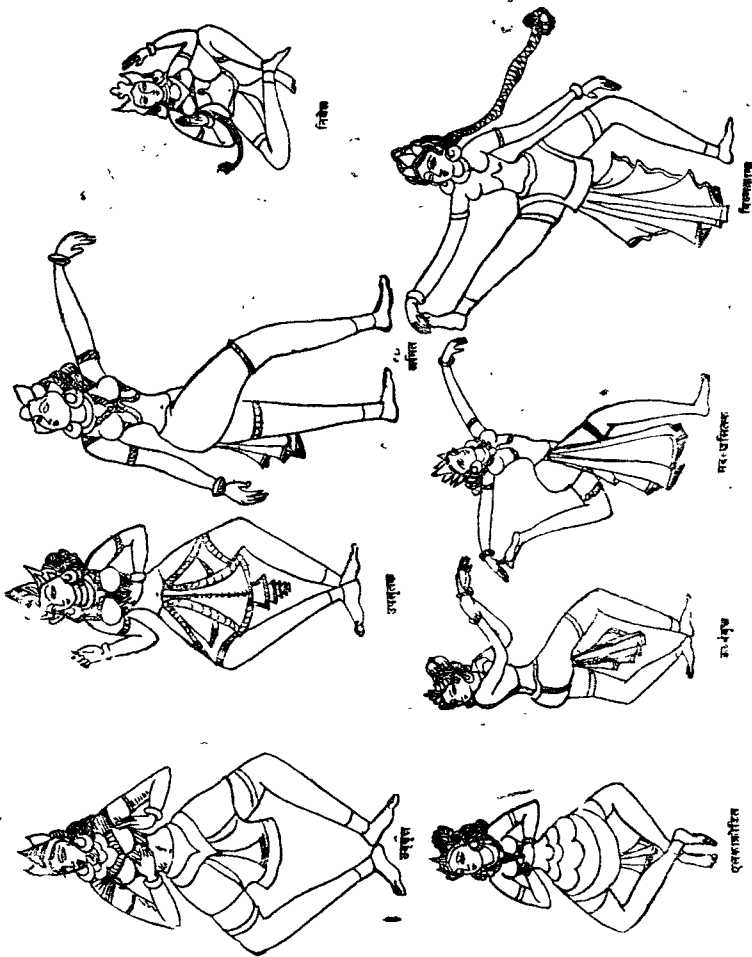
चित्र १४—भारतीय अभिनय के करण

निवेश—दोनों हाथ छाती पर रहते हैं, छाती तनी रहती है और खड़े होने की मुद्रा मण्डल स्थान में होती है। इसका प्रयोग हाथी की सवारी का निर्देश करने के लिए होता है।

एलकाक्रीडित—तल-संचार मुद्रा में ऊपर कूदकर नीचे आ जाना और फिर शरीर को झुकाकर मरोड़ना चाहिए। इसका प्रयोग तुच्छ व्यक्तियों की गति का निर्देश करने के लिए होता है।

ऊर्ध्ववृत्त—हाथ को आवृत्त करके उसे मोड़कर जाँघ के नीचे रखना चाहिए और पैर की पिंडली मोड़कर ऊर्ध्ववृत्त में रख ली जाय। इसका प्रयोग ईर्ष्या, पश्चात्ताप और प्रेम में मान करने के लिए होता है।

मदस्खलित (मद में झूमना)—इसमें दोनों हाथ लटक जाते हैं, सिर इधर से उधर उछाला जाता है और टाँगें वलिताविद्ध में होती हैं। मद-प्रदर्शन के लिए इसका प्रयोग होता है।

विष्णुक्रान्त—पैर आगे बढ़ाकर इस प्रकार मोड़े जाते हैं मानो चलने की तैयारी में हों और दोनों हाथ रेचित में हों। इसका प्रयोग विष्णु की गति दिखलाने में होता है।

सम्भ्रान्त—हाथों से आवर्तित बनाकर उन्हें जाँघ के ऊपर घुमाकर रखा जाय और जाँघ को आविद्ध रखा जाय। इसका प्रयोग आश्चर्य और घबराहट में होता है।

विष्कंभ (फैला हुआ)—इसमें हाथ अपविद्ध सूची में हों, टाँग निकुट्ट में और बायाँ हाथ छाती पर हो।

उद्‌घट्टित (पंजे पर खड़ा होना)—दोनों पैरों को उद्‌घट्टित में रखकर हाथ को तलसंघट्ट में रखकर नितंब पार्श्व बनाया जाय। इसका प्रयोग अत्यन्त हर्ष प्रकट करने के लिए होता है।

वृषभक्रीडित—अलात चारी बनाकर दोनों हाथ रेचित में झुकाकर भीतर को घुमा लिये जायँ।

लोलित (चारों ओर घुमाना)—हाथों को रेचित और अंचित में रखकर सिर हिलाकर चारों ओर घुमाया जाय।

नागापसर्पित—पैरों को स्वस्तिकापसृत मुद्रा में रखा जाय, सिर को एक ओर से दूसरी ओर चलाया जाय और हाथ रेचित में हों। इसका प्रयोग क्रोध और कामावेग में होता है।

शकटास्य—इसमें शरीर मोड़ लिया जाता है। टाँग तल-संचार मुद्रा में फैला दी जाती है और छाती आगे को बढ़ा दी जाती है।

गंगावतरण—पैर को तलवे के ऊपर करके पीछे को उठा लिया जाय और दोनों हाथ त्रिपताक मुद्रा में नीचे को झुके हुए हों और सिर सन्नत हो।

व्यायाम—व्यायाम में जो स्थान और गति के सम्बन्ध में टाँगों की मुद्राओं का वर्णन किया गया है, वही करण के लिए भी लागू होता है। इसी प्रकार नृत्त हस्तों का प्रयोग भी करण में होता है। नियमतः बायाँ हाथ छाती पर रहना चाहिए और
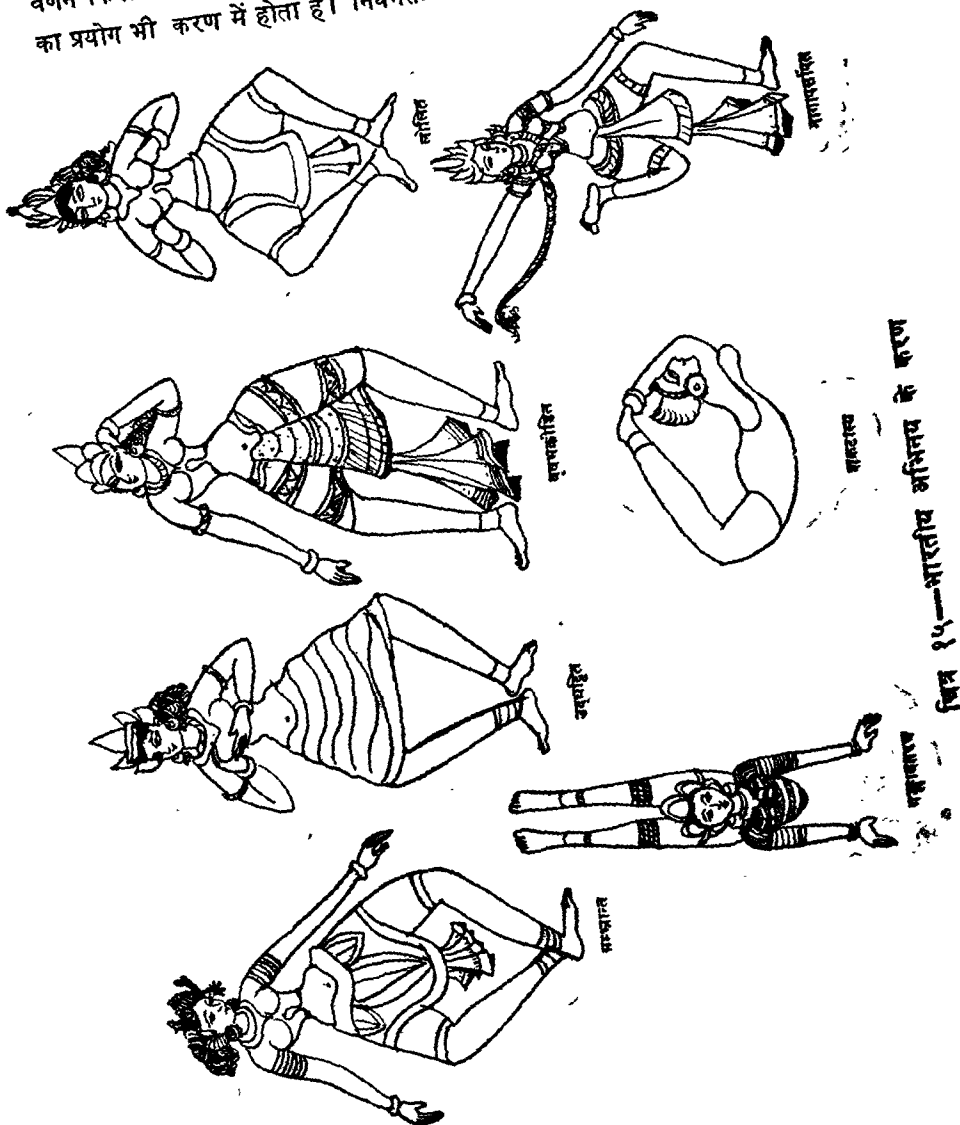
चित्र १५—भारतीय अभिनय के करण

पैर तथा दायाँ हाथ तदनुसार चलना चाहिए। ऊपर बताया जा चुका है कि चारी और नृत्त हस्त से एक मात्रिका बनती है और मात्रिकाओं से करण बनते हैं।

अंगहार

पीछे बत्तीस प्रकार के अंगहार गिनाये गये हैं—इनमें से बहुत से अंगहारों के नाम वे ही हैं जो करणों के भी हैं। नीचे अंगहारों का विस्तृत परिचय दिया जा रहा है।

स्थिरहस्त—दोनों हाथों को पूरा फैलाकर ऊपर उठाओ और दोनों पैरों को समनख करण के साथ सम्पादस्थान में लाओ, तब बायाँ हाथ, फिर दायाँ हाथ व्यंसृत अपसृत मुद्रा में रखा जाय, तब हाथ ऊपर को फैला दिया जाय, तब प्रत्यालीढ मुद्रा बनाकर निकुट्टक बनाया जाय, तब ऊरूद्वृत्त बनाकर आक्षिप्त और स्वस्तिक बनाया जाय और तब मिलाकर नितंब, करिहस्त और कटिच्छिन्न मुद्राएँ धारण की जायँ। यह अंगहार शिवजी को बड़ा प्रिय है। यह शस्त्र-युद्ध और द्वन्द्व-युद्ध में काम आता है।

परिहस्त—पहले तलपुष्प और अपविद्ध बनाकर फिर निकुट्ट के साथ वर्तित करे। तब प्रत्याविद्ध, फिर निकुट्ट तब ऊर्ध्ववृत्त और तदनुसार आक्षिप्त और ऊरू-मण्डल और तब नितंब, करिहस्त और कटिच्छिन्न करे। यह अंगहार शिवजी से उत्पन्न हुआ है।

सूचीविद्ध—पहले अलपल्लव सूची बनायी जाय और तब विक्षिप्त, आवर्तित, निकुट्ट, ऊर्ध्ववृत्त, आक्षिप्त, उरुमण्डल, करिहस्त और कटिच्छिन्न मुद्रा बनायी जाय।

अपविद्ध—पहले अपविद्ध करण करके तब उद्वेष्टित में उठे हुए हाथ से सूचीविद्ध किया जाय, त्रिक को चारों ओर घुमाया जाय फिर हाथों को उरुमण्डल में रखकर कटिच्छिन्न किया जाय।

आक्षिप्त—पहले नूपुर करण बनाकर फिर विक्षिप्त और अलातक बनाने को दुहराये, तब फिर आक्षिप्त और तदनुसार उरुमण्डल बनाये और तब नितंब, करिहस्त और कटिच्छिन्न करे।

उद्घट्टित—हाथ को उद्वेष्टित अपविद्ध मुद्रा में रखे और पैर को निकुट्ट में। इसी को बायीं ओर भी दुहराया जाय और तब दोनों हाथों को उरुमण्डल, नितंब और करि-हस्त में रखे। इसके पश्चात् कटिच्छिन्न भी किया जाय।

विष्कंभ—दोनों हाथ बारी-बारी से उद्वेष्टित में रखे जायँ और पैर निकुट्ट में और फिर हाथ-पैर बारी-बारी से कुंचित और अंचित में रखकर ऊरूद्वृत्त में लाये जायँ फिर हाथ चतुर में और पैर निकुट्ट में हों। फिर हाथ भुजंगत्रासित में रखे जायँ

और फिर उद्वेष्टित में। त्रिक को भ्रमरक की सहायता से परिच्छिन्न में रखा जाय और तब करिहस्त और कटिच्छिन्न भी बनाया जाय।

अपराजित—पहले दंडपाद बनाकर विक्षिप्ताक्षिप्त में रखा जाय। बायाँ हाथ व्यंसित में और बायाँ पैर सर्प या परिसर्प में। तब हाथ से चतुरस्र बनाकर पैर से निकुट्टक बनाये, तब हाथ को भुजंगत्रासित में और उद्वेष्टित में दुहराये। तब हाथ से दो निकुट्ट करे और तब मण्डलोरसी मुद्रा में आक्षिप्त करे और तब करिहस्त और कटिच्छिन्न बनाये।

विष्कंभापसृत—पहले कुट्टित करण बनाये, फिर भुजंगत्रासित, फिर रेचित में लाये हुए हाथ से पताक हस्त बनाये, तब आक्षिप्त और उरुमण्डल बनाये और तब कटिच्छिन्न के मेल से लता बनाये।

मत्ताक्रीड—त्रिक का सुवलित बनाये और नूपुर करण बनाये, फिर बायें पार्श्व का भुजंगत्रासित और वैशाखरेचित बनाये। तब आक्षिप्त परिच्छिन्न और तब बाह्य भ्रमरक (बायीं ओर भ्रमरक) और उरुमण्डल बनाये। तब नितंब, करिहस्त और कटिच्छिन्न करे।

स्वस्तिक-रेचित—पैर और हाथ से रेचित बनाये और वृश्चिक को दुहराये, तब क्रमश: दायें-बायें, बायें-दायें निकुट्टक बनाये और तब कटिच्छिन्न के पास लता करण बनाये।

पार्श्वस्वस्तिक—दोनों टाँगें पार्श्वस्वस्तिक करण में रखी जायँ, तब अर्धनिकुट्टक बनाया जाय, इसी प्रकार दूसरी ओर भी किया जाय, तब हाथ बदलकर उसे नीचे गिरा दिया जाय और जाँघ के ऊपर फेंक दिया जाय। तब ऊर्ध्वपृष्ठ बनाकर आक्षिप्त को दुहराया जाय और तब नितंब, करिहस्त और कटिच्छिन्न मुद्रा बनायी जाय।

वृश्चिकापसृत—टाँग से वृश्चिक बनाकर हाथ से लता बनायी जाय। वही हाथ नाक की छोर पर घुमा दिया जाय। फिर उसी हाथ का उद्वेष्टित बनाया जाय। नितम्ब को दुहराकर करिहस्त और कटिच्छिन्न बनाया जाय।

भ्रमर—टाँग से नूपुर बनाकर और वैसे ही आक्षिप्त बनाकर तब कटिच्छिन्न और सूचीविद्ध बनाया जाय, फिर नितंब, करिहस्त और उरुमण्डल बनाकर फिर कटिच्छिन्न बनाया जाय।

मत्तस्खलित (मदिरा में डगमग चलना)—पहले मत्तलि करण बनाकर दायें हाथ को घुमाकर तब माथे पर निकुंचित बनाया जाय। फिर तल-संस्फोट के साथ वेग से अपविद्ध करके तब करिहस्त और कटिच्छिन्न किया जाय।

मत्तविलासित (मद में मस्त होना)—हाथों को दोला में रखकर पैरों को स्वस्तिकापसृत में चलाया जाय और हाथ घुमाकर वलित में एक ओर घुमा दिये जायँ अर्थात् तल-संघट्टित में रखे जायँ। फिर निकुट्ट, ऊर्ध्ववृत्त, करिहस्त और कटिच्छिन्न की रचना की जाय।

गतिमण्डल (गतियों का समूह)—पहले मण्डल स्थानक बनाकर दोनों हाथ रेचित में, टाँग उद्घट्टित में और मत्तलिका करण बनाया जाय, तब आक्षिप्त करण और उरुमण्डल बनाकर अन्त में कटिच्छिन्न बना दिया जाय।

परिच्छिन्न (घेरा हुआ)—दोनों टाँगों को समपाद में रखकर परिच्छिन्न करण बनाया जाय तब आविद्ध में टाँग रखकर बाह्य भ्रमरक बनाया जाय, फिर वाम सूची में अतिक्रान्त बनाया जाय, फिर उसी प्रकार भुजंगत्रासित बनाकर अन्त में करिहस्त और कटिच्छिन्न बनाया जाय। वाम सूची का अर्थ है बायें पैर पर अर्धसूची बनाना।

परिवृत्त-रेचित (चक्कर लगाना)—स्वस्तिक से खुले हुए दोनों हाथ सिर पर लाये जायँ। फिर धड़ झुकाकर दाहिना हाथ रेचित में घुमाया जाय, धड़ उठाया जाय और हाथ का रेचित चलता रहे। तब दोनों हाथों से लता करण बनाया जाय, वृश्चिक मुद्रा लायी जाय, हाथों को रेचित, करिहस्त और भुजंगत्रासित किया जाय, तब स्वस्तिक में पैर रखकर आक्षिप्त किया जाय, तब पराङ्मुख होकर इन सबको दुहराया जाय और अन्त में करिहस्त और कटिच्छिन्न किया जाय।

वैशाख-रेचित (अंग घुमाना)—दोनों हाथ शरीर के साथ-साथ रेचित और अपविद्ध में रखे जायँ। उसी स्थिति में शरीर को सीधा करके रेचित बनाया जाय, तब पैर से नूपुर और भुजंगत्रासित बनाया जाय, तब कन्धों के डिल्ल पर निकुंचित मुद्रा में रेचित और मण्डल किया जाय, तब ऊर्ध्ववृत्त, आक्षिप्त, उरुमण्डल, करिहस्त और कटिच्छिन्न को वैशाखरेचित करण में बनाया जाय।

परावृत्त (पूरा घूम जाना)—दायें हाथ से जनित बनाकर एक पैर फैला दिया जाय, उसी प्रकार अलातक बनाकर त्रिक को घुमाया जाय, बायाँ हाथ अंचित में रखा जाय और उससे गाल पर निकुट्ट बनाया जाय और तब कटिच्छिन्न बनाया जाय।

अलात (चक्कर देना)—स्वस्तिक बनाकर दोनों हाथों से बार-बार व्यंसित बनाया जाय। अलात करण और ऊर्ध्वजानु, निकुंचित, ऊर्ध्वसूची (अर्धसूची) और विक्षिप्त का आक्षिप्त के साथ प्रयोग किया जाय, तब करिहस्त और कटिच्छिन्न बनाया जाय।

पार्श्वच्छेद (खण्डित पार्श्व)—छाती पर दोनों हाथों का निकुट्ट बनाया जाय। ऊर्ध्वजानु किया जाय, फिर आक्षिप्त स्वस्तिक बनाया जाय, त्रिक को घुमाया जाय,

हाथों को उरुमण्डल में रखा जाय और तब नितम्ब, करिहस्त और कटिच्छिन्न बनाया जाय।

विद्युद्भ्रान्त (सहसा चमक)—बायें पैर को सूची में रखा जाय, दायें को भी विद्युद्भ्रान्त में। फिर दायें से सूची बनाकर बायें विद्युद्भ्रान्त, फिर परिच्छिन्न बनाकर त्रिक को घुमाया जाय और कटिच्छिन्न से लता बनायी जाय।

उद्वृत्त (ऊपर उठाया हुआ)—दाहिने पैर से नुपूर-पाद बनाकर दोनों हाथ नीचे फैला दिये जायँ और पार्श्व में रखकर विक्षिप्त बनाया जाय और इन हाथों से सूची बनायी जाय, त्रिक को घुमाया जाय और तब कटिच्छिन्न से लता बनायी जाय।

आलीढ (धनुर्धर की मुद्रा)—दोनों हाथ आलीढ और व्यंसित में रखकर कंधों के डिल्ल पर निकुट्ट बनाया जाय, बायाँ पैर नूपुर में और दायाँ अलात और आक्षिप्त में। फिर दोनों हाथ उरुमण्डल में और अन्त में करिहस्त और कटिच्छिन्न बनाया जाय।

रेचित (चक्कर लगाना)—रेचित में हाथ रखकर एक पार्श्व झुकाकर रेचित किया जाय, तब उसी मुद्रा में शरीर झुलाकर नूपुर पाद और भुजंगत्रासित किया जाय तब रेचित करण किया जाय और उरुमण्डल और कटिच्छिन्न बनाया जाय।

अच्छुरित (ताने से भरी हुई हँसी)—पैर से नूपुर बनाकर त्रिक को घुमाया जाय। व्यंसित में हाथ रखकर, त्रिक को विवृत्त में घुमाकर, पैर से अलात बनाकर सूची बनायी जाय, तब अन्त में करिहस्त और कटिच्छिन्न बनाया जाय।

आक्षिप्तरेचित (फेंका हुआ)—दोनों टाँगें रेचित और स्वस्तिक में रखकर हाथों को भी रेचित और स्वस्तिक में रखा जाय और उसी क्रम से उन्हें अलग कर दिया जाय। तब रेचित में हाथों से उत्क्षेपण बनाया जाय और तब उद्वृत्त, आक्षिप्त, उरुमण्डल, नितंब, करिहस्त और कटिच्छिन्न बनाया जाय।

सम्भ्रान्त (घबराहट)—विक्षिप्त करण बनाकर मुख की मुद्रा के अनुसार हाथ और पैर बनाये जायँ, यह सब वाम सूची के साथ किया जाय, बायाँ हाथ ढीला छोड़ दिया जाय, दाहिना हाथ छाती पर रखा रहे और त्रिक भी वलित में हो, फिर नूपुर, आक्षिप्त, अर्धस्वस्तिक, नितम्ब, करिहस्त और उरुमण्डल बनाकर अन्त में कटिच्छिन्न बनाया जाय।

अपसर्पित (कुटिल गति)—अपक्रान्त बनाकर हाथ को व्यंसित में रखा जाय फिर उद्वेष्टित और तब अर्धसूची में। उसी प्रकार विक्षिप्त, कटिच्छिन्न और आक्षिप्त बनाया जाय और अन्त में करिहस्त और कटिच्छिन्न हो।

अर्धनिकुट्ट (आधे कन्धे वाली भुजाएँ)—पहले नूपुर मुद्रा में नूपुर-पाद बनाया जाय और वेग से आक्षिप्त में एक पग चलकर दोनों पैर इसी पैर की गति से मिलते

हुए रहें और त्रिक को घुमा दिया जाय। तब हाथों से निकुट्ट बनाकर पुनः उरुमण्डल बनाया जाय और फिर करिहस्त, कटिच्छिन्न और अर्धनिकुट्ट बनाया जाय।

रेचक

रेचक चार प्रकार के होते हैं—पादरेचक, कटिरेचक, कररेचक और कंठरेचक।

थोड़े से अर्थ-परिवर्तन के साथ रेचक शब्द का प्रयोग वलन के लिए भी होता है। यह उद्वाहन तथा चलन से भिन्न होता है।

पादरेचक—एक पार्श्व से दूसरे पार्श्व के हिलाने और पैर ठोकर खाते हुए विभिन्न स्थितियों में चलने को पादरेचक कहते हैं।

कटिरेचक—इसमें त्रिक का उद्वर्तन अर्थात् ऊपर उठाकर चक्कर काटना और कमर का वलन तथा पीछे की ओर चलना होता है।

हस्तरेचक—इसमें हाथ का उद्वर्तन, परिक्षेप (चारों ओर फेंकना), विक्षेप (बाहर को फेंकना), परिवर्तन (घूमना) और विसर्पण (तिरछे चलना) होता है।

कंठरेचक—इसमें उद्वाहन (हाथ को ऊपर उठाना और उसी स्थिति में रखना), पार्श्व सन्नयन और सन्नत (पूरा झुक जाना) और ब्राह्मणम् गति होती है।

पिण्डीबन्ध

शिव के लिए ईश्वरी पिण्डी, नन्दी के लिए पट्टसि, चंडिका के लिए सिंहवाहिनी पिण्डी, विष्णु के लिए गरुड, ब्रह्मा के लिए कमल, इन्द्र के लिए ऐरावत हाथी, कामदेव के लिए मछली, कुमार के लिए मयूर, लक्ष्मी के लिए शोभा, गंगा के लिए निरन्तर प्रवाह, यम के लिए पाश, वरुण के लिए नदी, कुबेर के लिए यक्षी, बलराम के लिए हल, फण वाले नाग के लिए सर्प होता है एवं जिस पिण्डी ने दक्ष का यज्ञ विध्वंस किया था वह गणेश्वरी है। अन्धक असुर को मारने वाले के लिए रौद्री पिण्डी है, जो त्रिशूल के समान होती है। इसी प्रकार अन्य देवताओं के लिए पिण्डियाँ होती हैं।

विभिन्न प्रकार के नृत्यों के लिए जो गीत और वाद्य का विधान भरत ने किया है वह गीत और वाद्य के प्रसंग में बताया जायगा।

अध्याय १६

भारतीय अभिनय-पद्धति (सात्त्विक अभिनय)

भरत ने अपने नाट्यशास्त्र में सामान्य अभिनय को वाचिक, आंगिक और सात्त्विक तीन प्रकार का बतलाया है, किन्तु कोहल ने छः प्रकार का बताया है—शिष्ट, काम, मिश्र, वक्र, सम्भूत और एक-युक्त। किन्तु भरत का नियम ही वास्तव में व्यापक रूप से मान्य है। यद्यपि भरत ने आंगिक अभिनय का बड़ा विस्तृत वर्णन किया है फिर भी उन्होंने सामान्य अभिनय के सब रूपों में सात्त्विक अभिनय को ही प्रधान बताते हुए कहा है कि जिस अभिनय में सात्त्विक अभिनय की अधिकता होती है वह ज्येष्ठ कहलाता है, जिसमें सात्त्विक भी अन्य अभिनयों के समान ही होता है वह मध्यम कहलाता है और जिसमें सात्त्विक अभिनय नहीं होता वह अभिनय अधम कहलाता है। सात्त्विक भाव अव्यक्त होता है, भाव पर आश्रित होता है और वह रोमांच, अश्रु, प्रलय, कम्प, वैवर्ण्य, स्तम्भ, स्वेद आदि गुणों से यथास्थान संयुक्त होता है।

सात्त्विक अभिनय की क्रिया से पूर्व भाव और रसों पर आश्रित विशेष अलंकार या शोभन-क्रियाओं को जान लेना बहुत आवश्यक है। जिन स्त्रियों में यौवन की अधिकता होती है उनमें मुख और शरीर के कुछ विकार प्रकट होने लगते हैं। इनमें तीन अंगज अलंकार, दस स्वाभाविक और सात अयत्नज अलंकार होते हैं।

नायिकाओं के अलंकार

सौन्दर्य बढ़ाने वाले स्वाभाविक उपादानों को अलंकार कहते हैं। अलंकारों के माने स्वर्ण-रत्न के आभूषण नहीं वरन् वे प्राकृतिक हाव-भाव आदि चेष्टा-व्यापार होते हैं जो स्वभावत: जन्म के साथ उत्पन्न होते हैं। ये अलंकार स्त्री और पुरुष दोनों में हो सकते हैं। जो अलंकार स्त्री और पुरुष दोनों में समान होते हैं वे अंगज और अयत्नज कहलाते हैं। स्वभावज अलंकार स्त्रियों में ही विशेष रूप से होते हैं। भाव, हाव और हेला ये तीन अंगज अलंकार होते हैं। शोभा, कांति, माधुर्य, दीप्ति, प्रगल्भता, औदार्य और धैर्य ये सात अयत्नज अलंकार होते हैं। लीला, विलास, विच्छित्ति, विभ्रम, किलकिंचित, मोट्टायित, कुट्टमित, बिब्बोक, ललित और विहृत ये दस स्वभावज अलंकार

होते हैं। विश्वनाथ कविराज ने अपने साहित्यदर्पण में आठ अलंकार और बताये हैं—तपन, मुग्धता, विक्षेप, मद, कुतूहल, हसित, चकित और केलि।

अंगज अलंकार

भाव—जन्म से जो चित्त अविकारी हो उसमें विकार उत्पन्न होना भाव कहलाता है। हाव—जो तीव्र रति-विकार अपनी तीव्रता के कारण शरीर के बाहरी अंगों में विलक्षण विकार उत्पन्न करके स्पष्ट लक्षित होने लगता है उसे हाव कहते हैं। उससे आँखों में, भौंहों पर और चाल-ढाल में एक प्रकार का अनोखापन और चटकीलापन आ जाता है। साहित्यदर्पण ने इसकी परिभाषा इस प्रकार बतायी है—भृकुटी तथा नेत्र आदि के विलक्षण व्यापारों को थोड़ा प्रकाशित करने वाले भाव को ही हाव कहते हैं अर्थात् भाव ही तीव्र होकर हाव होता है।

हेला—जब काम-भावना अत्यन्त स्पष्ट रूप से लक्षित होने लगे उस शरीर-चेष्टा को हेला कहते हैं। भाव ही बढ़कर हेला हो जाता है।

अयत्नज अलंकार

१. शोभा—रूप, भोग (सुन्दर भोजन, वस्त्र, विलास की सामग्री और रति) तथा तरुणाई से अंगों का जो सौन्दर्य खिल उठता है उसे शोभा कहते हैं।

२. कांति—काम के उन्मेष से बढ़ी हुई शोभा को कांति कहते हैं।

३. दीप्ति—कांति ही अत्यन्त विस्तार पाने पर दीप्ति कहलाती है।

४. माधुर्य—जिस सहज स्वाभाविक कोमलता के कारण नायिका प्रत्येक अवस्था में रमणीय लगे और विपरीत परिस्थितियों में भी उसकी रमणीयता कम न हो उसे माधुर्य कहते हैं। शोभा, कांति, दीप्ति आदि से उत्पन्न होने वाले आकर्षण में कभी बाधा न उत्पन्न होने देना ही माधुर्य का काम है।

५. प्रगल्भता—साधारण अवस्था में संकोच के कारण जो अंग-संकोच या लज्जा होती है उसका न होना ही प्रगल्भता (बोल्डनेस) कहलाता है। रति के समय नायिका की निर्भीक और संकोचहीन चेष्टा को भी प्रगल्भता कहते हैं।

६. औदार्य—सब अवस्थाओं में विनययुक्त व्यवहार करना ही औदार्य कहलाता है।

७. धैर्य—आत्मश्लाघा से विहीन मन की स्थिरता को धैर्य कहते हैं।

स्वभावज अलंकार

१. लीला—जब नायिका अपने प्रिय के प्रेम-संभाषण, वेश-भूषा तथा चेष्टा का

अनुकरण करे उसे लीला कहते हैं। अर्वाचीन आचार्यों ने इसके तीन भेद बताये हैं—स्वगता, सखीगता और स्वप्रियगता लीला। लीला की जो ऊपर परिभाषा दी गयी है वह स्वगता की ही है। जब नायिका सखी से नायक का अनुकरण कराये तब वह सखीगता लीला होती है और जब वह नायक से नायिका का रूप धारण कराकर उससे वैसी ही चेष्टा कराये और स्वयं नायक का रूप धारण करे तब वह स्वप्रियगता लीला होती है।

२. विलास—प्रिय के दर्शन मात्र से आकृति, नेत्र तथा चेष्टाओं में जो चटकीलापन और चमक आ जाती अथवा जो परिवर्तन होता है उसे विलास कहते हैं।

३. विच्छित्ति—जिस अल्प वेश-रचना से कांति बढ़ जाय उसे विच्छित्ति कहते हैं।

४. विभ्रम—किसी विशेष अवसर पर उतावली के कारण भूषण तथा वस्त्र आदि को कहीं का कहीं पहन लेना तथा हड़बड़ी और भ्रान्तिपूर्ण आचरण करना ही विभ्रम कहलाता है।

५. किलकिंचित—प्रिय के संसर्ग से जिस अवस्था में मुस्कुराहट, हँसी, क्रोध, भय और श्रम सबका एक साथ मिश्रण दिखाई दे उसे किलकिंचित कहते हैं।

६. मोट्टायित—प्रेम में तन्मय होकर प्रियतम सम्बन्धी कथा-वार्ता सुनने को मोट्टायित कहते हैं। अर्वाचीन आचार्यों के अनुसार मोट्टायित में कामिनी अपना कान खुजलाने आदि की चेष्टाएँ भी करती है जिससे लोगों को यह ज्ञात न होने पाये कि वह प्रिय सम्बन्धी वार्ता को ध्यानपूर्वक सुन रही है।

७. कुट्टमित—जब अपने प्रिय के द्वारा अधर, केश, स्तन आदि छूने से आनन्द होने पर भी उसे रोकने के लिए नायिका झूठ-मूठ हाथ बढ़ाकर या सिर हिलाकर क्रोध प्रकट करती है उसे कुट्टमित कहते हैं।

८. बिब्बोक—गर्व के कारण जब नायिका प्रिय वस्तु के प्रति दिखावटी अनादर प्रकट करती है उसे बिब्बोक कहते हैं।

९. ललित—अपने कोमल अंगों को सुकुमारता के साथ सजाने को ललित कहते हैं।

१०. विहृत—अनुकूल और उचित अवसर पाने पर भी लज्जा के कारण कुछ न कह सकने को विहृत कहते हैं।

साहित्यदर्पणकार ने आठ और स्वभावज अलंकार गिनाये हैं—

११. मद—सौभाग्य, रूप तथा यौवन आदि के घमण्ड से जो एक विशेष प्रकार की ऐंठ आ जाती है उसे मद कहते हैं।

१२ तपन—प्रियतम के वियोग में कामोद्वेग से उत्पन्न चेष्टाओं को तपन कहते हैं।

१३. मुग्धता—जानी-बूझी बात को भी प्रियतम से अनजान होकर पूछने को मुग्धता या भोलापन कहते हैं।

१४. विक्षेप—(प्रिय) के समीप भूषणों की अपूर्ण रचना करना, अकारण रहस्यमयी दृष्टि से इधर-उधर देखना एवं प्रिय से धीरे से कोई रहस्य की बात कहना ही विक्षेप कहलाता है।

१५. कुतूहल—रमणीय वस्तु को देखने के लिए चंचल हो उठने को कुतूहल कहते हैं।

१६. हसित—यौवन की मस्ती में जब नायिका बिना बात के हँसती-मुस्कराती है उसे हसित कहते हैं।

१७. चकित—प्रियतम के सामने बिना कारण डरने या घबराने को चकित कहते हैं।

१८ केलि—विहार के समय कान्त के साथ कामक्रीडा करने को केलि कहते हैं।

इनमें से लीला, विलास, ललित और विहृत ही वास्तव में स्वभावज अलंकार हैं, शेष सब परिस्थितिजन्य या अवस्थाजन्य हैं। इनमें से विच्छित्ति, विभ्रम, किलकिंचित, मोट्टायित, कुट्टमित, बिब्बोक, मद, तपन, मुग्धता, विक्षेप, कुतूहल, हसित, चकित और केलि को तो अनुराग-चेष्टा ही समझना चाहिए, स्वभावज अलंकार नहीं।

अनुराग-चेष्टाएँ

साहित्यदर्पणकार ने विभिन्न प्रकार की नायिकाओं की अनुराग-चेष्टाओं का भी वर्णन किया है।

मुग्धा की अनुराग-चेष्टाएँ इस प्रकार बतायी गयी हैं—

पति को देखकर लजाती है। कभी सम्मुख नहीं देखती। छिपे हुए अथवा दूर खड़े हुए प्रिय को देखती रहती है। बहुत बार पूछने पर वह नीचे मुख करके गद्गद स्वर से मन्द-मन्द कुछ प्रिय बातें बोलती है। अपने प्रिय की कथा दूसरों से कही जाने पर बड़े ध्यान से सुनती है।

इसके अनन्तर प्रत्येक प्रकार की नायिका की अनुराग-चेष्टाएँ इस प्रकार बतायी गयी हैं—

वह सदा प्रिय के समीप रहने की इच्छा करती तथा प्रिय के सम्मुख बिना अलंकार धारण किये नहीं जाती। केश अथवा साड़ी को ठीक करने के बहाने से बाहुमूल,

स्तन तथा नाभि की झलक दिखलाती है। मीठी वाणी से प्रिय के सेवकों को वश में रखती है। प्रियतम के मित्रों का विश्वास करती और उनका मान करती है। अपनी सखियों से अपने प्रिय के गुण का वर्णन करती तथा उन्हें धन भी देती है। प्रिय के सोने के पश्चात् सोती है। उसके दुःख में दुःख और सुख में सुख समझती है। प्रिय के दृष्टि-पथ में खड़ी हुई उसे दूर से देखती है और काम-संतप्त होकर कुटुम्बियों से बातें करती है। कोई वस्तु देखकर हँसने या केश खोलने-बाँधने लगती है, जँभाई लेती और अँगड़ाती है, अपने बालक को हृदय से लगाकर चुम्बन करती है अथवा अपनी सखियों के मस्तक पर तिलक लगाती है। पाँव के अँगूठे से पृथ्वी खोदती है, कटाक्ष से देखती है, अपने अधर चबाती है तथा नीचे मुख करके मधुर भाषण करती है। जहाँ से नायक दिखाई देता हो उस स्थान को नहीं छोड़ती और किसी न किसी काम के बहाने से उसके प्रकोष्ठ में पहुँच जाती है। अपने कान्त की दी हुई वस्तुएँ शरीर पर धारण करके बारबार उसे देखती, उस वस्तु के संयोग से प्रसन्न होती तथा वियोग में दुःखी होती है। उसके शील को बहुत मानती है और उसकी प्यारी वस्तु से प्यार करती है। प्रिय से अपने प्रेम का बहुत कम मूल्य (चुम्बन आदि) ही चाहती है और सोते समय प्रिय की ओर पीठ करके नहीं सोती, उसके सम्मुख स्तम्भ, स्वेद, रोमांच आदि सात्त्विक विकारों का अनुभव करती है, सत्य और मधुर बातें करती है। इन चेष्टाओं में नयी स्त्रियाँ अधिक लज्जा करती हैं, मध्या कुछ कम लज्जा करती तथा परकीया, प्रगल्भा और गणिका तनिक भी लज्जा नहीं करतीं।

पुरुषों के सात्त्विक गुण

भरत ने पुरुष के सात्त्विक गुणों में शोभा, विलास, माधुर्य, स्थैर्य, गाम्भीर्य, ललित, औदार्य और तेज की गणना करायी है। इनमें से दक्षता (कुशलता), शूरता, उत्साह, नीचतापूर्ण कामों से घृणा और उत्तम गुणों से स्पर्धा करने को शोभा कहते हैं। स्थिर होकर दृष्टि चलाना, वृषभ के समान चलना, पहले से सोच-विचारकर बातें कहना ही विलास कहलाता है। जब बहुत बड़ा विकार मन में उत्पन्न होने पर भी अभ्यासवश इन्द्रियों का दमन किया जाय अर्थात् विकार न दिखाया जाय, उसे माधुर्य कहते हैं। धर्म, अर्थ और काम से युक्त किसी अच्छे या बुरे काम के परिणाम से विचलित न होना ही स्थैर्य कहलाता है। रोष, हर्ष और भय आदि दशाओं में भी जिसकी आकृति में कोई परिवर्तन न हो उसे गाम्भीर्य कहते हैं। बिना यत्न किये सुकुमार स्वभाव के कारण ही शृंगार की कोमल चेष्टाएँ करना ललित कहलाता है। दान देना, दूसरे के सुख-दुःख का ध्यान रखना, सदा अपने-पराये सबसे मधुर बोलना ही औदार्य

कहलाता है। शत्रु के द्वारा किये हुए अपमान को न सहना, चाहे प्राण जायँ, उसे तेज कहते हैं।

शारीरिक अभिनय

शारीरिक अभिनय छः प्रकार के होते हैं—वाक्य, सूच्य, अंकुर, शाखा, नाट्यायित और निवृत्त्यंकुर। प्राकृत और संस्कृत के अनेक रस और अर्थ से युक्त वृत्त, निबन्धों और चूर्ण पदों में जो प्राकृत और संस्कृत में पाठ किया जाता है वह वाक्याभिनय कहलाता है। सात्त्विक भाव-प्रदर्शन करके किसी वाक्यार्थ या वाक्य को पहले सूचित करके फिर वाक्याभिनय करने को सूच्य कहते हैं। जब हृदय में भली प्रकार विचार कर कोई सूच्य के समान ही निपुणतासाध्य अभिनय किया जाता है उसे अंकुराभिनय कहते हैं। जब सिर, मुख, जंघा, ऊरु, हाथ और पैर से यथाक्रम पहले बताये हुए आंगिक अभिनय की रीति से अभिनय किया जाता है उसे शाखाभिनय कहते हैं। जब नाट्य के उपचारों से नाट्य में अभिनय की नाट्य-क्रिया को अधिक स्पष्ट करने के लिए प्रवेश से संगम होने तक जो अभिनय की सूचना दी जाती है उसे नाट्यायित कहते हैं। ध्रुवाओं में जो हर्ष, शोक, रोष आदि से भाव, रस से संप्रयुक्त अभिनय किया जाता है उसे नाट्यायित कहते हैं। दूसरे के कहे हुए वाक्य के भाव को जब कोई दूसरा व्यक्ति सूच्य अभिनय से व्यक्त करे उसे निवृत्त्यंकुर कहते हैं।

काव्य-वस्तु में निर्दिष्ट अभिनय

काव्य-वस्तु में बारह प्रकार का अभिनय निर्दिष्ट होता है—आलाप, प्रलाप, विलाप, अनुलाप, संलाप, अपलाप, संदेश, अतिदेश, निर्देश, व्यपदेश, उपदेश और अनुदेश। पूरा वाक्य कह जाने को आलाप, अनर्थक वचन को प्रलाप, करुणा उत्पन्न करने वाले वाक्य को विलाप, एक ही बात को बहुत बार कहने को अनुलाप, उक्ति-प्रत्युक्ति से युक्त बात को संलाप, पहले कही हुई बात को झूठ बताने को अपलाप, किसी के द्वारा कोई बात कहलाकर भेजने को सन्देश, 'जो तुमने कहा है, वही मैंने कहा' ऐसा कहने अर्थात् दूसरे की बात का समर्थन करने को अतिदेश, यह मैं कहता हूँ; इसे निर्देश, घुमा-फिराकर बात करने को व्यपदेश; ऐसा तुम करो या यह लो ऐसा कहने को उपदेश और दूसरे की बात कहने को अनुदेश कहते हैं। इनके भी सात प्रकार होते हैं—प्रत्यक्ष, परोक्ष, वर्तमान, भूत, भविष्य, आत्मस्थ और परस्थ।

सिर, हाथ, कमर, वक्ष, पिंडली, ऊरु आदि के द्वारा जो सम अभिनय किया जाता है उसे सामान्य अभिनय कहते हैं। किन्तु ललित हाथ के संचार से रस-भावसमन्वित

करके कोमल, स्वस्थ और आविद्ध अंगों की चेष्टा तथा लय, ताल, कला और पात के प्रमाण द्वारा नियत करके सुविभक्त पद के आलाप से युक्त कोमल और प्रिय नाट्य को आभ्यन्तर कहते हैं। ठीक इससे उलटा, स्वच्छन्द गति और चेष्टा वाला, अनाविद्ध युक्त हो वह गति और नाट्य वाला अभिनय बाह्य कहलाता है। अर्थात् जो आभ्यन्तर लक्षणों से आभ्यन्तर और जो शास्त्र के लक्षणों से बाहर हो उसे बाह्य कहते हैं।

तन्मात्राओं का अभिनय

भरत ने तन्मात्राओं (शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध) के अभिनय का विधान करते हुए बताया है कि सिर को एक ओर झुकाकर दृष्टि को साचीकृत करके तर्जनी को कान के पास ले जाकर शब्द तन्मात्रा का अभिनय करे। दोनों नेत्रों को कुछ आकुं-चित करके भ्रू-विक्षेप करके और कन्धे तथा कपोलों को स्पर्श करके स्पर्श तन्मात्रा का निर्देश करे। मूर्धा पर पताक मुद्रा साधकर कुछ उँगलियाँ चलाकर दृष्टि से देखने का अभिनय करते हुए रूप का अभिनय करे। नेत्रों को कुछ आकुंचित करके, नाक फुलाकर उच्छ्वास लेकर उल्लास से रस का और प्रसन्नता से गन्ध का निर्देश करे।

मन के तीन भाव

मन के तीन भाव होते हैं—इष्ट, अनिष्ट और मध्यस्थ। शरीर के प्रह्लादन से, पुलक के तथा मुख के विकार से इष्ट का निर्देश करे। इष्ट शब्द, रूप, स्पर्श, गन्ध तथा रस में मन से मुक्त इन्द्रियों के द्वारा प्रसन्नता प्रदर्शन करे।

मुँह फेरकर, आँखें हटाकर, नेत्र और नासिका सिकोड़कर अनिष्ट का निर्देश करे। जिसमें न तो मन अत्यन्त प्रसन्न हो और न अत्यन्त अप्रसन्न हो, इस मुद्रा से मध्यस्थ भाव प्रदर्शित करे।

स्त्रियों के प्रकार

भरत ने स्त्रियों के भेद गिनाने में विचित्र पद्धति का अनुसरण किया है। उनके अनुसार स्त्रियाँ इतने प्रकार के स्वभाव वाली होती हैं—देवता, असुर, गन्धर्व, राक्षस, नाग, पक्षी, पिशाच, यक्ष, सर्प, नर, वानर, हाथी, मृग, मीन, ऊँट, मगर, जंगली सूअर, घोड़ा, भैंसा, बकरा, गौ आदि।

भरत ने स्त्रियों के इन अनेक प्रकारों का विवरण देकर विस्तार से इनकी प्रकृति का विवेचन करते हुए बताया है कि शृंगार रस और काम-अवस्था में विभिन्न भावों, अनुभावों और संचारी भावों का किस प्रकार अभिनय करना चाहिए। इस सम्बन्ध

में उन्होंने कहा है कि रूप, गुण, कला, विज्ञान और यौवन से सम्पन्न पुरुष को देखकर जब नारी मदनातुर होती है तब उसकी दृष्टि ललिता, चलपक्ष्मा, मुकुलेक्षणा, स्रस्ता, उत्तर-पदा दृष्टि ही कामपूर्ण दृष्टि होती है। इस दृष्टि में आधी आँख मींचकर कटाक्ष से देखा जाता है।

निरन्तर कपोल लाल हों, पसीने की बूंदों से चिते हों, रोमांच से शरीर काँपता हो, उसे मुखराग कहते हैं। काम्य अंगविकार से, कटाक्ष चलाकर देखने से, आभरण के संस्पर्श से, कान खुजलाने से, अँगूठे के अग्र भाग द्वारा लिखने से, स्तन और नाभि के प्रदर्शन से, नख काटने से और केश बाँधने की क्रिया दिखाकर मदनातुर वेश्या का लक्षण स्पष्ट करे। किन्तु कुलांगना का जब प्रदर्शन करना हो तो नेत्रों से हँसती हुई, तिरछे देखती हुई, गूढ़ रूप से मुस्कराती हुई, नीचे मुख करके बोलती हुई, थोड़ा सा कहकर मुस्कराती हुई, स्वेद और आकार को छिपाती हुई, ओठ फड़काती हुई और चकिता दृष्टि वाली चेष्टा प्रदर्शित करे।

दस स्थानों में पहुँचे हुए काम को अनेक भावों से प्रदर्शित करे। इनमें से प्रथम में अभिलाष, द्वितीय में चिन्तन, तृतीय में अनुस्मृति, चतुर्थ में गुण, पंचम में उद्वेग, षष्ठ में विराग, सप्तम में उन्माद, अष्टम में व्याधि, नवम में जड़ता और दशम में मरण।

जब समागम के उपाय के लिए संकल्प और इच्छा से उत्पन्न व्यवहार प्रारम्भ होता है उसे अभिलाष कहते हैं। इसका लक्षण यह है कि स्त्री बार-बार बाहर जाती है, भीतर जाती है, काम का प्रदर्शन करती है, ऐसे स्थान पर खड़ी होती है जहाँ प्रिय दिखाई पड़ जाय। किस उपाय से वह मुझे प्राप्त हो सकता है अथवा वह मेरा कैसे हो सकता है इस प्रकार दूती के बताये हुए भाव को दिखलाकर चिन्ता प्रदर्शित करती है, इसे दिखाने के लिए आकेकर, अर्धविप्रेक्षित से, वलय और रसना के परामर्श से, नीवी-नाभि के स्पर्श से चिन्ता का प्रदर्शन करती है।

बार-बार लम्बी-लम्बी साँस लेकर मनोरथ का चिन्तन करने से तथा अन्य कार्यों की ओर से उदासीन रहने से अनुस्मृति होती है। इसे दिखाने के लिए न वह आसन पर धैर्य प्राप्त करती है न शय्या पर। अपने सब कामों में भी विहस्त हो जाती है और अपने प्रिय की ही चिन्ता में लगी रहती है।

प्रिय के समान कोई दूसरा नहीं है इस बात को अंग-प्रत्यंग की लीला, वाणी, चेष्टा, हसित और ईक्षण द्वारा प्रकट करने को गुण-कीर्तन कहते हैं। गुण-कीर्तन, उल्लसन, अश्रु और स्वेद के अपमार्जन से, दूती के साथ मिलन की बातचीत करके गुण-कीर्तन का अभिनय करना चाहिए।

सदा उत्सुक रहना, आसन और बिस्तर पर सन्तुष्ट होकर क्षण भर भी न बैठना, यह स्थिति उद्वेग में होती है। इसका अभिनय करने में चिन्ता, निःश्वास और खेद तथा हृदय में दाह का अभिनय करे।

'यहाँ बैठा है, यहाँ स्थित है, यहाँ मैंने उसे प्राप्त किया है।' इस प्रकार कह-कह-कर विलाप करने से विलाप का प्रयोग करे। इसके लिए उद्विग्नता, अत्यन्त उत्सुकता, अधीरता, विलाप और इधर-उधर घूमकर अभिनय करना चाहिए।

अपने प्रिय से सम्बद्ध कथा को ही सब अवस्थाओं में कहने और अन्य सब पुरुषों से द्वेष करने को उन्माद कहते हैं। इसका अभिनय करने में आँखें फाड़कर खड़ा होना, लम्बी-लम्बी साँसें लेना, ध्यान में डूब जाना और खेल-कूद के समय भी रोना प्रदर्शित किया जाता है। जब साम, दान, अर्थ, सम्भोग और काम्य वस्तुओं के सम्प्रेक्षण ; किसी से भी सान्त्वना न मिले उसे व्याधि कहते हैं। मूर्च्छित होना, इधर-उधर जाना, सिर में तीव्र वेदना होना और धैर्य धारण करना, इस प्रकार व्याधि का अभिनय करना चाहिए।

जड़ता में स्मृति नष्ट हो जाती है। पूछने पर नायिका न कुछ बोलती है, न सुनती, न देखती है, हा-हा करती रहती है और चुप रहती है। इसका अभिनय करने में अकारण 'हूँ-हूँ' करना होता है, अंग शिथिल हो जाते हैं, लम्बी-लम्बी साँसें आती हैं।

जब सब प्रकार के उपायों से भी समागम नहीं होता तब कामाग्नि से प्रदीप्त नायिका का मरण हो जाता है।

इसके अतिरिक्त चिन्ता, निःश्वास और खेद, हृदय का दाह, अपने प्रिय के पीछे चलना, उसका मार्ग देखना, आकाश की ओर टकटकी लगाना, दीनता के साथ बोलना, स्पर्शन, मोट्टन तथा ऐसे-ऐसे वियोग से उत्पन्न भावों से काम का प्रदर्शन करे। काम की दशाओं से जला हुआ व्यक्ति माला, भूषण, गन्ध, गृह और उपवन आदि ठंडी वस्तुओं का सेवन करे, अपनी अवस्था प्रदर्शित करने वाली दूती को भेजकर अपनी दशा कहलाये और उनसे मिलने का उपाय सोचे।

इसके पश्चात् भरत ने विभिन्न प्रकार की नायिकाओं का और अपने प्रिय के साथ किये जाने वाले मान आदि व्यवहारों के अभिनय का विस्तारपूर्वक वैसा ही वर्णन किया है जैसा साधारण व्यवहार में होता है।

नाटक में वर्जित कार्य

भरत ने कहा है कि रंगमंच पर स्त्री-पुरुष का एक साथ शयन नहीं दिखलाना

चाहिए, वरन् कोई बात चलाकर उसमें बाधा डाल देनी चाहिए। यदि किसी कारण-वश एकाकी या साथ सोना भी हो तो चुम्बन, आलिंगन, गुह्य कार्य (मैथुन आदि), दन्तच्छेद, नखच्छेद, लहँगे का नाड़ा खींचना, स्तन और अधर का मर्दन करना नहीं होना चाहिए। भोजन, जलक्रीड़ा तथा अन्य लज्जाजनक बातें रंगमंच पर नहीं करनी चाहिए, क्योंकि पिता, पुत्र, सास और बहू साथ बैठकर नाटक देखते हैं। अतः ये सब बातें सोच-समझकर छोड़ देनी चाहिए। नाटक में अत्यन्त श्रव्य, मधुर, कोमल और हितोपदेशयुक्त वाक्यों से नाटक की रचना करनी चाहिए।

इसके पश्चात् भरत ने यह बतलाया है कि अपने किस प्रिय को कान्त, विनीत, नाथ, स्वामी, जीवित, नन्दन आदि शब्दों से सम्बोधन करना चाहिए, क्रोध में किसे निर्लज्ज, दुःशील, दुराचारी, शठ, वाम, विकत्थन और निष्ठुर कहना चाहिए। जो कभी अपनी बात न टालता हो, न अटपट बोलता हो और आचरण में सीधा हो उसे प्रिय कहते हैं। जिसके शरीर या अधर पर अन्य नारी के हाथ से बने हुए चिह्न नहीं दिखाई देते उसे कान्त कहते हैं। जो स्त्री के क्रुद्ध होने पर भी न उत्तर देता है न कठोर वचन कहता है उसे विनीत कहते हैं। जो हितैषी हो, रक्षा करने में समर्थ हो, न मानी हो, न मत्सरी हो और सब कामों में सावधान हो, उसे नाथ कहते हैं। जो निरन्तर नारी की सेवा करता हो और साम, दान, धन तथा लालन-पालन से उसका पोषण करता हो उसे स्वामी कहते हैं। जो शयन-क्रिया में निपुण हो और नारी के इच्छित अभिप्रायों में कुशल हो वह जीवित कहलाता है। जो कुलीन, धृतिमान्, दक्ष, दक्षिण, वाग्विशारद और सखियों में श्लाघनीय हो उसे नन्दन कहते हैं। ये वचन प्रीतिकर माने जाते हैं।

जो निष्ठुर, असहिष्णु, मानी, धृष्ट, विकत्थन और अनवस्थित-चित्त हो उसे दुःशील कहते हैं। जो ताड़न और बन्धन का तथा निरन्तर कठोर वाक्यों का प्रयोग करे उसे दुराचारी कहते हैं। जो वाणी में मधुर हो किन्तु अपनी कही हुई बात का पालन न करे उसे शठ कहते हैं। जिस-जिस काम के लिए रोका जाय वही-वही काम जो करे उस विपरीत काम करने वाले को पामर कहते हैं। जिसके शरीर पर दूसरी स्त्री के हाथ के बनाये हुए चिह्न हों, जो स्त्री के सौभाग्य की चिन्ता न करता हो, अत्यन्त अभिमानी तथा रूखा हो उसे विरूप कहते हैं। जो रोकने पर भी किसी दूसरी नारी से सम्बन्ध रखता हो, वह सचिह्न और सापराध व्यक्ति निर्लज्ज कहलाता है। जो अपराध करने पर भी साहस करके उसी नारी का सेवन करना चाहता हो और अपनी प्रिया को मनाने की जिसमें बुद्धि न हो वह व्यक्ति निष्ठुर कहलाता है। इस प्रकार

भरत ने विभिन्न प्रकार के नायकों और नायिकाओं का विवरण देकर उनकी अवस्थाओं और सात्त्विक भावों का वर्णन किया है।

वास्तव में सात्त्विक अभिनय कोई बताने या सिखाने की बात नहीं है। यह तो अभिनेता या अभिनेत्री स्वयं अपने अनुभव से और अपनी भूमिका में तन्मयता प्राप्त करके ही जान सकती है, जिसे स्तानिसलवस्की ने अपनी भूमिका-तन्मयता (लिविंग इन दि पार्ट) कहा है।

अध्याय १७

भारतीय अभिनय-पद्धति (वाचिक अभिनय)

भरत ने अपने नाट्यशास्त्र में अनेक भाषाओं का विवरण देकर बताया है कि किस देश के वासियों से कैसी भाषा बुलवानी चाहिए। इस सम्बन्ध में उन्होंने निर्देश किया है कि बर्बर, किरात, आन्ध्र और द्रविड़ आदि जातियों की भाषा का प्रयोग नाट्य-काव्य में नहीं करना चाहिए। इसके अनन्तर उन्होंने यह आदेश दिया है कि गंगा-सागर के बीच के देश वालों से एकार-बहुला भाषा का, विन्ध्य-सागर के बीच वालों से नकार-बहुला का, सौराष्ट्र-अवन्ती आदि देशों तथा वेत्रवती नदी के उत्तर में रहने वालों से चकार-बहुला भाषा का, हिमालय, सिन्ध और सौवीर देश वालों से उकार-बहुला का, चर्मण्वती (चम्बल नदी) के तीर और अरावली पहाड़ी में रहने वाले लोगों से ओकार-बहुला भाषा का प्रयोग कराना चाहिए। भरत का यह विवरण वर्तमान भाषा-प्रकृति की दृष्टि से बहुत सटीक नहीं है और इसमें कुछ परिवर्तन अपेक्षित है, क्योंकि एकार-बहुला भाषा का प्रयोग ब्रह्मावर्त प्रदेश में, उकार-बहुला का व्रजमण्डल में, ओकार-बहुला का बिहार और बंगाल में, चकार-बहुला का महाराष्ट्र में और नकार-बहुला का गुजरात में होता है। भरत ने स्वयं कह भी दिया है कि नाटककार को लोक का अध्ययन करके नाटक में भाषा का प्रयोग कराना चाहिए। आन्ध्र और द्रविड़ भाषाओं का निषेध भरत ने संभवतः इसलिए किया है कि उत्तर भारत में ही नाटक का प्रचार अधिक रहा होगा और यह भी कम आश्चर्य की बात नहीं है कि दक्षिण भारत के नाटककारों ने भी दाक्षिणात्य भाषाओं का प्रयोग अपने नाटकों में नहीं किया।

इसके पश्चात् भरत ने यह बताया है कि किस व्यक्ति को नाटक में क्या सम्बोधन करना चाहिए। इसका विवरण नाट्य-रचना के प्रसंग में दिया जा चुका है। यह बताने के पश्चात् उन्होंने पाठ के छः अलंकार बताये हैं।

पाठ्य के गुण

पाठ्य के गुणों में छः बातें आती हैं—स्वर, स्थान, वर्ण, काकु, अलंकार और

अंग। इनमें से अलग-अलग विचार किया जाय तो सात स्वर, तीन स्थान, चार वर्ण, दो प्रकार के काकु, छः अलंकार और छः अंग होते हैं।

स्वर

संगीत में प्रसिद्ध सात स्वर हैं—षड्ज, ऋषभ, गान्धार, मध्यम, पंचम, धवत और निषाद। इनमें से षड्ज और पंचम दो स्थिर स्वर हैं। ऋषभ, गान्धार, धैवत और निषाद कोमल भी होते हैं, और मध्यम शुद्ध तथा तीव्र होता है।

हास्य और शृंगार में मध्यम और पंचम का, वीर, रौद्र और अद्भुत में षड्ज और ऋषभ का, करुण में गान्धार और निषाद का तथा भयानक और बीभत्स में धैवत का प्रयोग करना चाहिए।

स्थान

तीन स्थान हैं जिनसे वाणी निकलती है—उर, कण्ठ और सिर। शरीर-वीणा (शरीर-रूपी वीणा) में उर, सिर और कण्ठ इन तीन स्थानों से ही स्वर का काकु निकलता है। जब दूर पर स्थित व्यक्ति को पुकारना हो या उससे बातचीत करनी हो तब सिर से निकली हुई वाणी का प्रयोग किया जाय। जो बहुत दूर न हो उससे कण्ठ से निकली हुई वाणी से बातचीत की जाय और जो पास में हो उससे उर से निकली हुई वाणी से बात की जाय। किसी भी वाक्य को उर से अर्थात् मन्द स्वर से प्रारम्भ किया जाय, फिर उसे ऊपर उठाकर तीव्र स्वर में ले जाया जाय जिससे सिर से वाणी निकले और फिर वाक्य का अन्त मध्य स्वर में अर्थात् कण्ठ से किया जाय।

वर्ण

वर्ण चार प्रकार के होते हैं—उदात्त, अनुदात्त, स्वरित और कम्पित। संस्कृत व्याकरण वालों ने उदात्त, अनुदात्त और स्वरित तीन ही प्रकार के स्वर माने हैं किन्तु भरत ने नाट्य की दृष्टि से कम्पित स्वर भी माना है।

इन वर्णों के प्रयोग के सम्बन्ध में भरत ने अपने नाट्यशास्त्र में बतलाया है कि हास्य और शृंगार में स्वरित और उदात्त वर्णों से, वीर, रौद्र और अद्भुत में उदात्त और कम्पित वर्णों से तथा करुण, बीभत्स और भयानक में अनुदात्त, स्वरित और कम्पित वर्णों से पाठ्य का प्रयोग करना चाहिए।

काकु

वाचिक अभिनय में काकु का बड़ा महत्त्व होता है। इसे सुस्वरता (इन्टोनेशन) कहते हैं। सब प्रकार के पाठ्य में इस सुस्वरता का बड़ा महत्त्व है। प्रत्येक अभिनेता को वाक्य के भाव के अनुसार वाणी को चढ़ा-उतारकर बोलना चाहिए। ये काकु दो प्रकार के होते हैं—साकांक्ष और निराकांक्ष। अनियुक्तार्थक वाक्य को साकांक्ष और नियुक्तार्थक वाक्य को निराकांक्ष कहते हैं। तार स्वर से प्रारम्भ करके मन्द्र स्वर में अन्त होने वाले अनियुक्तार्थक वाक्य में वर्ण और अलंकार अनियत होते हैं और कण्ठ तथा उरःस्थान-गत होते हैं। निराकांक्ष नियुक्तार्थ काकु में वर्ण और अलंकार नियत होते हैं तथा शिरःस्थानगत होते हैं। ऐसे वाक्य मन्द्र स्वर से प्रारम्भ होते हैं और तार स्वर में समाप्त होते हैं।

अलंकार

वाचिक अभिनय की दृष्टि से अलंकार छः माने गये हैं—उच्च, दीप्त, मन्द्र, नीच, द्रुत और विलम्बित। संगीत में केवल तीन ही माने गये हैं—मन्द्र, मध्य और तार।

शिरःस्थानगत तार स्वर को उच्च कहते हैं। इसका प्रयोग दूर पर स्थित व्यक्ति से भाषण करने, विस्मय प्रदर्शित करने, उत्तरोत्तर बात करने, गुरु द्वारा बुलाने, डराने तथा बाधा आदि में होता है।

शिरःस्थानगत तारतर अर्थात् तार स्वर से भी ऊँचे स्वर को दीप्त कहते हैं। इसका प्रयोग आक्षेप, कलह, विवाद, अमर्ष, क्रुष्ट, घर्षण, शौर्य, दर्प, क्रोध, तीक्ष्ण और रूक्ष अभिधान, निर्भर्त्सन और आक्रन्द आदि में होता है।

मन्द्र का प्रयोग उरःस्थानगत होता है और निर्वेद, ग्लानि, चिन्ता, उत्सुकता, दैन्य, व्याधि, क्रीडा, गाढ़ शस्त्रक्षत, मूर्च्छा, मद और गुह्य अर्थ वाले वचनों में ही होता है।

उरःस्थानस्थ मन्द्रतर स्वर को नीच कहते हैं। इसका प्रयोग स्वाभाविक भाषण, व्याधि, शम, श्रमार्त, त्रस्त, पतित और मूर्च्छित आदि दशाओं में होता है।

कण्ठगत त्वरित या वेग से बोले हुए वाक्य को द्रुत कहते हैं। इसका प्रयोग लालन, भय, शीत-ज्वर, त्रास, आयस्त, अत्यधिक कार्य के आवेदन आदि में होता है। कण्ठस्थानगत, स्तनमन्द्र अर्थात् मन्दगति से बोले जाने वाले वाक्य को विलंबित कहते हैं। श्रृंगार, करुण, वितर्कित, विचार, अमर्ष, असूया, अव्यक्तार्थ प्रवाद, लज्जा, चिन्ता, तर्जन, विस्मय, अनुकीर्तन, दीर्घरोग और निपीडन आदि में इसका प्रयोग होता है।

उपर्यंकित अलंकारों से युक्त काकु के प्रयोग के सम्बन्ध में भरत ने यह निर्देश किया है कि उत्तरोत्तर संजल्प में अर्थात् क्रमिक जोड़-तोड़ के उत्तर-प्रत्युत्तर या बातचीत में, कठोर आक्षेप में, तीक्ष्ण और रूक्ष अभिनय में, आवेग में, क्रन्दित में, परोक्ष में स्थित व्यक्ति के समाह्वान में, तर्जन में, त्रासन में, दूर पर बैठे हुए व्यक्ति से भाषण में और निर्भर्त्सन में तथा इस प्रकार के अनेक रसों पर समाश्रित भावों में उच्चा, दीप्ता और द्रुता काकु का प्रयोग करना चाहिए।

व्याधित, ज्वरार्त, भयार्त, शीत-विप्लुत, नियमस्थ, वितर्क, गाढ़ शस्त्रक्षत, गुह्यार्थ वचन, चिन्ता और तपस्या में स्थित होने की दशा में मन्द्र और नीच काकु का प्रयोग करना चाहिए।

लाड़-प्यार, उन्मन, भयार्त, शीतप्लुत दशा में मन्द्रा और द्रुता काकु का प्रयोग करना चाहिए।

दृष्टि नष्ट होने का अभिनय करने में, इष्ट और अनिष्ट श्रवण करने में, इष्ट अर्थ बताने में, चिन्ता और ध्यान में, उन्माद में, असूया में, उपालम्भ में, अव्यक्तार्थ प्रवाद में, कथायोग में, उत्तरोत्तर संजल्प में, अतिशय संयुत कार्य में, बिगड़ी हुई व्याधि में, क्रोध में, दुःख में, शोक में, विस्मय और क्रोध में, प्रहर्ष में, परिवेदन में, विलम्बिता, दीप्ता और मन्द्रा का प्रयोग करना चाहिए।

लघु अक्षरप्राय वाक्य के लिए तथा गुरु अक्षर वाले वाक्यों के लिए उच्चा और दीप्ता काकु का प्रयोग करना चाहिए। जहाँ सौम्य अर्थों से युक्त सुखमय भावों से पूर्ण वाक्य हों वहाँ मन्द्रा, विलंबिता काकु का प्रयोग करना चाहिए। जहाँ तीक्ष्ण और रूक्ष भाव हों वहाँ दीप्ता और उच्चा का प्रयोग करना चाहिए।

वीर, रौद्र और अद्भुत रसों में दीप्ता का, भयानक तथा बीभत्स में द्रुता, नीचा का तथा हास्य, शृंगार और करुण में इष्टा काकु का प्रयोग करना चाहिए।

छः अंग

पाठ्य के छः अंग माने गये हैं—विच्छेद, अर्पण, विसर्ग, अनुबन्ध, दीपन और प्रशमन। इनमें से विराम को विच्छेद, रंगमंच को लीलायमान और मधुर वल्गु वाले स्वर से भरते हुए पाठ्य को अर्पण, वाक्यन्यास को वितर्क, पदान्तर में भी विच्छेद को अनुबन्ध या अनुच्छ्वसन, तीनों स्थानों पर सुशोभित वर्धमान स्वर को दीपन, तार-गत स्वरों को प्रसंगित करना अर्थात् उन्हें बिना विस्वर किये उतारना ही प्रशमन कहलाता है।

इन अंगों का प्रयोग विभिन्न रसों के अनुसार अलग-अलग होता है। हास्य और

श्रृंगार की आकांक्षा में अर्पण, विच्छेद, दीपन और प्रशमन-युक्त; करुण में दीपन और प्रशमन-युक्त; वीर, रौद्र और अद्भुत में विच्छेद, प्रशमन, दीपन और अनुबन्ध-बहुल; बीभत्स और भयानक में विसर्ग और विच्छेदयुक्त अंगों का प्रयोग करना चाहिए। इन सबमें मन्द्र, मध्य और तार त्रिस्थानगत प्रयोग होता है। दूरस्थ से भाषण करने में सिर से तारस्वर का, बहुत दूर न होने वाले से कंठ द्वारा मध्य स्वर का और पास वाले से उर द्वारा मन्द्र स्वर का पाठ करना चाहिए और यह ध्यान रखना चाहिए कि मन्द्र स्वर से तार स्वर पर न जाय और तार स्वर से मन्द्र स्वर पर न उतरे।

लय

इन सबका प्रयोग द्रुत, मध्य और विलंबित लयों में रसों के अनुसार करना चाहिए। हास्य और श्रृंगार में मध्य लय का, करुण में विलंबित लय का, वीर, रौद्र, अद्भुत, बीभत्स और भयानक में द्रुत का प्रयोग करना चाहिए।

विराम

अर्थ की समाप्ति में कार्यवश विराम करना चाहिए, केवल छन्द या वाक्य के अन्त होने पर ही नहीं, क्योंकि विराम से अर्थ स्पष्ट होता है। जब दोनों हाथ व्यग्र हों वहाँ अर्थ-दर्शक विराम से दृष्टि-समन्वित वाचिक अभिनय करना चाहिए। प्रायः वीर और रौद्र में दोनों हाथ शस्त्रयुक्त होते हैं और बीभत्स में कुत्सित होने के कारण दोनों हाथ कुंचित होते हैं। हास्य में उद्देश्य मात्र से, करुण में प्रलंबित होने के कारण, अद्भुत में विस्मय के कारण तथा भयानक में भय के कारण दोनों हाथ स्तब्ध होते हैं। इस प्रकार इन सबमें तथा अन्य कार्यों में हाथों का संचार करने में अर्थ का निश्चय अलंकार और विराम से साधा जाता है। वृत्त में, समाप्त अर्थ में, पद में अथवा प्राण-वश पद और वर्ण के समास में, शीघ्रता में, बहुत अर्थ-संकट में, पादान्त में तथा प्राण-वश विराम का प्रयोग करना चाहिए। शेष स्थानों में अर्थ के अनुसार विराम का प्रयोग करना चाहिए।

कृष्य अक्षर

आकार, एकार, ऐकार, ओकार और औकार से संयुक्त व्यंजन दीर्घ होता है उसे कृष्य कहते हैं, अर्थात् वह खींचकर बोला जाता है। विषाद, वितर्क, प्रश्न और अमर्ष में कलाकार के प्रमाण से पाठ्य करना चाहिए। शेष स्थानों पर अर्थयोग से रुकना चाहिए।

विलंबित विराम एक, दो, तीन, चार, पाँच या छः कल तक होता है। विलंबित विराम में सदा गुरु अक्षर का प्रयोग करना चाहिए। छः कल से अधिक विलंब नहीं करना चाहिए। अथवा कारण के अनुसार जैसा उचित हो वैसा रसभाव के अनुसार वृत्त को समझकर विराम करना चाहिए। न तो अपशब्द पढ़ना चाहिए न भिन्न-वृत्त होना चाहिए, न बिना विराम के फैलाना चाहिए और न दैन्य में काकु को दीप्त करना चाहिए। इस प्रकार काव्य-दोषों से वर्जित लक्षण, गुण, स्वर, अलंकार से संयुक्त पाठ पढ़ना चाहिए।

सात्त्विक अभिनय के अन्तर्गत वाचिक अभिनय

वाचिक अभिनय का कुछ अंश सात्त्विक अभिनय के अन्तर्गत कर लिया गया है, जैसे—आलाप, प्रलाप, विलाप, अनुलाप, संलाप, अपलाप, संदेश, अतिदेश, निर्देश, अपदेश, उपदेश और व्यपदेश।

इसी प्रकार चित्राभिनय के प्रसंग में भरत ने दूरस्थ आभाषण, आत्मगत, अपवारितक, जनांतिक, कर्ण-प्रदेश, स्वप्न-पाठ्य, मरण-कालीन काकु, बुड्ढों द्वारा पाठ्य के जो लक्षण लिखे हैं और जो निर्देश किये हैं उनका प्रयोग वास्तव में वाचिक अभिनय के अन्तर्गत ही होना चाहिए। इसलिए वह इसी प्रसंग में दिया जा रहा है।

आकाश-वचन

आकाश-वचन पाँच प्रकार का होता है—अपवारितक, जनांतिक, दूरस्थ आभाषण, अशरीर निवेदन और परोक्षांतरित। इनमें उत्तर के साथ वाक्य देकर संलाप प्रयोग करना चाहिए, अर्थात् प्रश्न और उत्तर दोनों की कल्पना एक साथ करनी चाहिए।

अनेक कारणों से युक्त और काव्यभाव से समुत्थित हृदय के वचन को आत्मगत कहते हैं। इसे नाटक में वितर्क के साथ प्रयोग करना चाहिए। निगूढ़ भाव से संयुक्त बात को अपवारितक कहते हैं। कार्यवश पास के लोगों को न सुनाने के लिए जो बात कही जाती है उसे जनांतिक कहते हैं। हृदय में जो सविकल्प भाव होते हैं उन्हें आत्मसात् कहते हैं। इनमें से जो गूढ़ार्थ-युक्त वचन होते हैं उन्हें जनांतिक बनाकर कान में कहना चाहिए। जो काम पहले हो चुका हो उसे फिर कहना हो उसे कान में कहना चाहिए जिससे पुनरुक्ति न हो। इस आकाश-भाषित, जनांतिक और आत्मकृत पाठ को प्रत्यक्ष, परोक्षकृत, आत्ससमुत्थ और परकृत रूप से स्पष्ट पढ़ना चाहिए। बीच में त्रिपताक हाथ करके जनांतिक और अपवारितक का प्रयोग करना चाहिए। किन्तु

जो वाक्यार्थ स्वप्न में कहे जायँ उनमें हस्त-संचार नहीं करना चाहिए, वरन् केवल शब्दों से ही काम लेना चाहिए। मन्द स्वर से कुछ प्रकट और कुछ अप्रकट और कुछ पुनरुक्त वचनों द्वारा पिछली स्मरण की हुई बातों को स्वप्नांचित दशा में पढ़ना चाहिए।

शिथिल, गम्भीर और करुण अक्षरों से युक्त, घण्टे के समान स्वरित, गद्‌गद वाणी में, हिचकी और श्वास से युक्त काकु देकर अवसान काल का अभिनय करना चाहिए। मूर्च्छा की दशा में भी हिचकी और श्वास से युक्त मरण की दशा के समान ही बोलना चाहिए। अत्यन्त मतवालों का भी पाठ्य वैसा होना चाहिए जैसा स्वप्नांचित का होता है। वृद्धों का पाठ्य गद्‌गद और स्खलित अक्षरों में होना चाहिए। बिना समाप्त किये हुए अक्षरों में बालकों का कल स्वन करना चाहिए।

पाठक के गुण-दोष

पाणिनीय और याज्ञवल्क्य शिक्षा में शब्द उच्चारण करने का अत्यन्त सुन्दर ढंग बतलाया गया है, जिसका वर्णन पहले हो चुका है। वहीं आगे चलकर भले-बुरे ढंग से पढ़ने वालों के गुण-दोष भी बतलाये गये हैं।

याज्ञवल्क्य-शिक्षा और पाणिनीय शिक्षा ने पाठ-दोष और पाठ-गुण एवं स्वर की शुद्धता पर जो विचार दिये हैं वे इस बात के सूचक हैं कि प्राचीन भारतीय शुद्ध उच्चारण की परम्परा में भी स्वरों का यथार्थ प्रयोग बड़े महत्त्व का विषय था।

सारांश यह है कि गम्भीर, उदात्त अभिनेता को सदा स्पष्ट, शुद्ध और भाव के अनुसार स्वर उतार-चढ़ाकर पाठ्य कहना चाहिए, अन्य प्रकार के पात्रों को अपनी प्रकृति के अनुसार, अर्थात् बालक, वृद्ध, रोगी, भयार्त, मरणासन्न, क्रोधी आदि जिन शारीरिक या मानसिक दशाओं का अभिनय करना हो उनके अनुसार अपनी वाणी उदात्त, अनुदात्त, स्वरित और कम्पित बना लेनी चाहिए। कभी-कभी अभिनेता को अन्य जीवों, यानों, वाद्यों आदि का भी मौखिक अनुकरण करना पड़ता है, वहाँ उसी प्रकार की ध्वनि निकालनी चाहिए।

अध्याय १८

पाश्चात्य अभिनय-पद्धति

यूरोप और अमेरिका के नाट्याचार्य अभिनय के पाँच अंग मानते हैं—१. मुख-मुद्रा (जेस्चर), २. शरीर-भंगी (पौश्चर), ३. गति (गेट), ४. वेग (स्पीड) और ५. वाणी (स्पीच)। जिस प्रकार भरत ने सम्पूर्ण अभिनय को शरीर के विभिन्न अंगों की मुद्राओं में परिबद्ध और नियमित कर दिया है, उसी प्रकार विदेशों में कोई नाट्य के अभिनय की रीति या पद्धति निर्धारित नहीं हुई। हाँ, नृत्त के लिए इस प्रकार की नियम-व्यवस्था अवश्य हुई जिसका विवरण नृत्य तथा नृत्त (डांस) के प्रकरण में दिया जायगा। विदेशी अभिनय-शास्त्रियों का यह मत है कि अभिनय के लिए कोई नियम नहीं बनाया जा सकता। उसके लिए स्वयं लोक ही आदर्श है। हम लोगों को जैसे विभिन्न शारीरिक और मानसिक अवस्थाओं में, सामाजिक व्यवहार में बोलते-चालते, बैठते-उठते, रोते-धोते देखते हैं उसी प्रकार उन अवस्थाओं में नाटक में भी अभिनेता को व्यवहार करना चाहिए। किन्तु इस अनुकरण में अवस्था (वय), पद, लिंग, शारीरिक स्थिति, मानसिक स्थिति, अवसर आदि का ध्यान करके अभिनय की गति व्यवस्थित करनी चाहिए। साधारण भावाविष्ट व्यक्ति क्रोध में पागल हो जाता है, गम्भीर व्यक्ति मौन होकर ही अपने क्रोध की अभिव्यक्ति कर लेता है। साधारण व्यक्ति दुःख पड़ने पर छाती पीटकर, सिर धुनकर, दैन्य दिखाकर रोता-पीटता है, किन्तु गम्भीर व्यक्ति मौन होकर गम्भीरता के साथ उसे सहन कर लेता है। अतः अभिनेता को उस पद के अनुसार अपने अभिनय का निर्वाह करना चाहिए जिसकी उसने भूमिका ग्रहण की हो। यदि नाटककार ने भी अपने पात्र की अवस्था का ध्यान न रखकर कोई ऐसा निर्देश दे दिया हो जो उस भूमिका के पद, अवस्था और परिस्थिति के अनुकूल न हो तो अभिनेता को नाटककार के निर्देश की उपेक्षा करके पात्र की प्रकृति का अनुसरण करना चाहिए।

मुखमुद्रा या भावभंगी (जेश्चर)

हमारी सम्पूर्ण भावाभिव्यक्ति का प्रमुख साधन हमारी मुखमुद्रा या भावभंगी

है। हम बिना कुछ बोले अपना सिर नीचे-ऊपर या दायें-बायें चलाकर, इधर-उधर घुमाकर, ऊपर उठाकर, नीचे झुकाकर, अपनी ग्रीवा नीचे-ऊपर या दायें-बायें करके, विभिन्न प्रकार से नेत्र-गोलक, पलक और भौंहें चलाकर, ओठ आगे-पीछे फैला या सिकोड़कर या दाँत के नीचे करके, गाल फुला या सिकोड़कर स्नेह, क्रोध, करुणा, घृणा आदि अनेक प्रकार के भाव प्रदर्शित करते रहते हैं। यह भाव-प्रदर्शन कभी हम शब्द के साथ करते हैं और कभी निःशब्द होकर। इस प्रकार ग्रीवा के ऊपर के विभिन्न अंगों को भाव के अनुसार विकृत करने को ही भाव-भंगी अथवा मुखमुद्रा (जेश्चर) कहते हैं। कभी-कभी इस मुखमुद्रा के द्वारा केवल भाव का ही नहीं, वरन् चरित्र का भी प्रदर्शन होता है, जैसे एक भौंह उठाकर दूसरी आँख संकुचित करने से कुटिलता, दोनों आँखें कुछ बन्द करके एक गाल फैलाकर ओष्ठ सिकोड़ने से क्रूर कार्य की भूमिका का, मुखमुद्रा के द्वारा अमिय-हलाहल-मद-भरे, आकर्षक, शर्बती, मतवाले, हर्षपूर्ण, अभिलाषपूर्ण, वात्सल्यपूर्ण, मौर्ख्यपूर्ण, आश्चर्यपूर्ण नेत्रों का तथा उत्साह, क्रोध, भय, घृणा, प्रेम आदि भावों का भली-भाँति प्रदर्शन किया जा सकता है। विदेशी नाट्यशास्त्रियों का कथन है कि अपने माथे की नसों, पुट्ठों और मुख के समस्त स्नायुओं को ऐसा साध लेना चाहिए कि केवल मुख के विकारों से ही सब भाव प्रदर्शित किये जा सकें। फ्रांस के एक प्रसिद्ध अभिनेता ने अपने शरीर के स्नायुओं को ऐसा साध लिया था कि भय का भाव प्रदर्शित करते समय उसके सिर के सब बाल खड़े हो जाते थे।

अभिनेता के लिए स्नायु-सिद्धि सबसे अधिक आवश्यक तत्त्व है और इस प्रकार के अभिनय की सिद्धि के लिए अपने सामने दर्पण रखकर अभ्यास करने से बड़ी सफलता प्राप्त होती है और मुखमुद्रा सध जाती है।

शरीर-भंगिमा (पौश्चर)

जिस प्रकार मुख-मण्डल के विभिन्न अंगों में विकार लाकर विभिन्न भावों की अभिव्यक्ति की जाती है उसी प्रकार कंधे उचकाकर, हाथ उठा या गिराकर, छाती तानकर या ढीली करके, पेट फुलाकर या पचकाकर, मुट्ठी तानकर या खोलकर, हाथ फैलाकर या बाँधकर, एक हाथ से या दोनों हाथों से, एक उँगली से या अनेक उँगलियों से संकेत करके, या उँगलियाँ सिकोड़कर, कमर तिरछी, सीधी या आड़ी करके या मटकाकर, एक ओर का नितम्ब उठाकर, आगे को झुककर, पैर उठाकर, घुटने टेककर, एक पैर पर एक पैर चढ़ाकर अथवा अन्य अनेक प्रकार से पैर साधकर तथा शरीर के अंगों का संचालन करके, अनेक प्रकार की सामाजिक, शारीरिक और

मानसिक परिस्थितियों तथा भावों के प्रदर्शन में शरीर के अंगों की विकृति से अनेक भाव प्रदर्शित किये जा सकते हैं। जैसे क्रोध में दाँत पीसे जाते हैं, ओठ चबाये जाते हैं, उसी प्रकार मुट्ठी भी बाँधी जाती है, हाथ फैलाकर थप्पड़ के लिए हाथ उठाया जाता है, हाथ में अस्त्र-शस्त्र लेकर शत्रु पर आक्रमण करने की चेष्टा की जाती है। ये सब क्रियाएँ शारीरिक भंगिमा के भीतर आती हैं। जब मनुष्य एक स्थान पर बैठकर या खड़े होकर शारीरिक भंगिमा करता है तो वह स्थिर या अचल शरीर-भंगिमा (स्टैटिक पौश्चर) कहलाती है और जब वह गतिशील होकर, चंचल होकर, आगे-पाछे बढ़कर या दौड़कर शारीरिक चेष्टा करता है तो वह चल शरीर-भंगिमा (डायनैमिक पौश्चर) कहलाती है।

इन चल और अचल शरीर-भंगिमाओं को वर्तमान लयवादियों (क्यूबिस्ट्स) और प्रतीकवादियों (सिम्बोलिस्ट्स) ने अधिक प्रभावशाली बनाने के लिए अधिक संयत और आयास-सिद्ध करने का निर्देश किया है। उनका कहना है कि रंगमंच पर सब क्रियाएँ एक विशेष गति और लय के साथ होनी चाहिए। इसके लिए शरीर अत्यन्त संतुलित तथा सधा हुआ होना चाहिए और इसी लिए उन लोगों का विचार है कि अभिनेता का शरीर पहले व्यायामशाला में गतिशील व्यायाम (जिमनेस्टिक्स) अथवा नट-विद्या (ऐक्रोबेटिक फ़ीट्स) के द्वारा ऐसा साध दिया जाय कि अभिनेता अत्यन्त तालयुक्त (रिद्मिक) गति में उतरना-चढ़ना, चलना-फिरना, उछल-कूद, भाग-दौड़ तथा उठना-बैठना कर सकें, शरीर को एक लय-गति में चाहे जिधर, चाहे जितना झुका या उछाल सकें। रूढिवादियों (फ़ौर्मेलिस्ट्स) ने यद्यपि इस प्रकार की कोई व्यवस्था तो नहीं की है किन्तु उनकी भी सधी हुई परंपरागत नाट्य-पद्धति के अनुसार अभिनय करने के लिए शरीर के अंगों को साध लेना परम वांछनीय है।

विभिन्न प्रकार के पात्रों की प्रकृति के अनुसार खड़े होने, बैठने, सहारा लेने, लेटने, सोने, झपकी लेने, सोचने, टहलने, डरकर पीछे हटने तथा अन्य अनेक प्रकार की भाव-मुद्राओं के साथ शारीरिक चेष्टा करने के लिए जिस प्रकार अंग-संचालन किया जाता है और उस भाव की प्रकृति को ठीक-ठीक प्रदर्शित करने के लिए शरीर को जिस विशेष मुद्रा में व्यवस्थित करना उचित होता है वह सबका सब शरीरस्थ भंगिमा के अन्तर्गत आता है।

गति

अभिनय में गति या चाल का भी बड़ा महत्त्व है। प्रत्येक पात्र की भूमिका में अभिनय करने वाले अभिनेता को विभिन्न गतियों से चलना आवश्यक हो जाता है। चोर

या हत्यारा दबे पाँव केवल पंजों के बल पर धीरे-धीरे लम्बे डग भरता हुआ चलता है। राजा या उच्च श्रेणी के पुरुष मन्द गति से छोटे डग धरते हुए चलते हैं। विदूषक हास्यास्पद गति से ऐंड़ता-मैंड़ता, झूमता-झामता चलता है। लँगड़े, अन्धे और रोगी की गति उनकी अवस्था के अनुसार मन्द होती है। बालकों और कन्याओं की गति चंचल होती है। साधारण रूप से टहलने, भय से भागने, चुराकर सटक जाने, क्रोध में आगे बढ़ने और कामातुर अवस्था में विभिन्न प्रकार की गति होती है और वह भी पात्र के पद और उसकी मर्यादा के अनुसार मन्द या त्वरित होती है। विचार अथवा तर्क-वितर्क की अवस्था में टहलने की गति अधिक संयत, संतुलित, नपी हुई और मन्द होती है। इसलिए विभिन्न अवस्थाओं के अनुसार गति अत्यन्त भव्य, स्वाभाविक, हास्यास्पद, बनावटी, विवेकशील, दबे पैर, मटकती चाल, चुलबुलेपन से भरी हुई, कलात्मक, अशिष्ट, मन्द, आलस्यपूर्ण, मत्त और उन्मत्त दशा में डगमग, बुड्ढों की गति में घसीटकर चलते हुए प्रदर्शित की जाती है।

गति के अन्तर्गत ही भूमिका के पद और उसकी मर्यादा के अनुसार अभिनेताओं का रंगमंच पर प्रवेश, रंगमंच से प्रस्थान, परिक्रमा, ऊपर चढ़ना और नीचे उतरना होता है। विशेष संभ्रम या भावावेश की अवस्था में वेग और झटक से प्रवेश और निर्गम किया जाता है। शेक्सपियरीय नाट्यशालाओं में एक विशेष ढंग से हाथ बढ़ाकर प्रवेश करने और हाथ उठाकर निर्गम करने की पद्धति चली आती है जिसका प्रयोग पारसी रंगमंच पर भारत में होता रहा है। सीढ़ी पर चढ़ने और सीढ़ी से उतरने की मुद्रा और शैली भी पद और अवस्था पर अवलम्बित है। युवक और वीर पंजे पर झोंक देते हुए सीढ़ी चढ़ते और उतरते हैं। वृद्ध लोग हाथ टेककर एक-एक सीढ़ी पर एक-एक पैर उठाकर और दूसरा साथ लाकर आगे बढ़ते हैं। बालक और लड़के उछल-कर वेग के साथ एक-एक दो-दो डंडे छोड़कर चढ़ते-उतरते हैं।

स्त्रियों की गति भी पद और अवस्था के अनुसार होती है। गम्भीर प्रकृति और उच्च कुल की स्त्रियाँ अधिक चटक-मटक नहीं करतीं। चंचल युवतियाँ हाव-भाव और चटक-मटक के साथ पंजे पर बल देती हुई उचकती और कमर में बल देती हुई चलती हैं। प्रौढ़ और सीधी भोली स्त्रियाँ सीधे सिर झुकाकर चलती हैं किन्तु इनमें भी देश-भेद, अवसर तथा पद और मर्यादा का ध्यान रखा जाता है।

वाणी

यूरोपीय नाट्याचार्यों का मत है कि अभिनेता को अपनी वाणी पर पूरा आधि-पत्य होना चाहिए। वह उसे मन्द से तार, कम्पित से स्थिर और गम्भीर, मन्द से

तीव्रगतिक तो कर ही सके, साथ ही भाव के अनुसार उतार-चढ़ाव (इन्टोनेशन) भी दिखला सके। उसकी वाणी इतनी सधी हुई होनी चाहिए कि उसे जिस अर्थ की अभिव्यक्ति करनी हो वह अर्थ और उसका भाव उसकी वाणी से ही प्रकट हो जाय और यह वाणी दैन्य, प्रार्थना, अभ्यर्थना, निवेदन, आदेश, कलह, वितण्डा, तर्जन, आक्षेप, विरोध, स्नेह, प्रेम-प्रदर्शन, लालन, विनय, मान, संकल्प, क्रोध, ईर्ष्या, उत्सुकता, उत्साह, चिन्ता, भ्रम, आलस्य, उपालम्भ, विनोद, परिहास, उपहास, वाग्वैदग्ध्य, चाटुकारी, व्यंग्य, आदेश, प्रतिज्ञा, वक्तव्य, गम्भीर कथन, शाप और वरदान आदि विभिन्न भावों और परिस्थितियों के अनुसार प्रभावशाली ढंग से समुद्भूत हो सके। वाणी की यह कला लिखकर नहीं समझायी जा सकती। यह तो नित्य प्रति के लोकाचरण और लोक-व्यवहार को देखकर ही सीखी और समझी जा सकती है। जैसे संगीत के लिए वाणी का आरोह-अवरोह अपरिहार्य है उसी प्रकार अभिनेता के लिए भी वाणी के उचित आरोह और अवरोह की सिद्धि नितान्त अपेक्षित है। इसके बिना अभिनेता का सम्पूर्ण अभिनय-कौशल नितान्त व्यर्थ है।

अभिनेता की वाणी का नाट्य-प्रयोग में बड़ा महत्त्व है। वाणी का संयम, आरोह-अवरोह, सुस्वरता, उच्चारण और अक्षरव्यक्ति स्वयं वैज्ञानिक प्रक्रियाएँ हैं, जिनका पालन अभिनेता को करना ही चाहिए। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि अभिनेता अपना सारा ध्यान वाणी पर ही केन्द्रित कर दे। जब अभिनेता की वाणी में स्वर के आरोह-अवरोह की पर्याप्त समर्थता आ जाती है, जब वह स्पष्टता तथा सरलता के साथ विभिन्न परिवर्तित गतियों में उचित बल और उतार-चढ़ाव के साथ बिना प्रत्यक्ष प्रयास के विभिन्न दूरियों के अनुरूप अपना स्वर साध ले, असाधारण रूप से अनुकरण की प्रत्येक आवश्यकता के अनुरूप वाणी का प्रयोग कर सके, रंगमंच पर फुसफुसाहट (स्टेज ह्विस्पर) करना जान जाय, आवश्यकता के अनुसार अपनी वाणी को कठोर, स्निग्ध, मादक, कंठ्य, दीर्घ, विस्तृत, गम्भीर, प्रवाहशील और बनावटी बना सके, इस प्रकार बोल सके कि ध्वनि उसके गले में ही फँसी रह जाय, गला रुँध जाय, सूख जाय या इच्छानुसार बोलते-बोलते वाणी समाधिस्थ हो जाय, वह भाषण गौर वचन में अन्तर समझ जाय, आवश्यकता पड़ने पर वाणी को कोलाहलपूर्ण और तीव्र कर सके, अचानक बोल उठे, बर्राने लगे, बड़-बड़ा सके, स्पष्ट रीति से बकबक कर सके, मिमिया सके, मन ही मन भुनभुना सके, नकिया सके, हकला सके, रुक-रुककर बोल सके अर्थात् वाणी के जितने प्रकार के विकार, आरोह या अवरोह, तीव्र या मन्द गति, उच्च या नीच स्वर, तीव्रता या कोमलता, स्थिरता या बाधकता या संचरणशीलता हो सकती हैं उन सबको यदि अपनी वाणी से व्यक्त कर सके तो समझना चाहिए

कि अभिनेता की वाणी सध गयी है। क्योंकि प्रत्येक अभिनेता को इस प्रकार अपनी वाणी साधनी ही चाहिए कि वह सब प्रकार की भूमिकाओं और परिस्थितियों के अनुसार अपनी वाणी का प्रयोग कर सके। जिसकी वाणी बहुत शुद्ध, स्पष्ट तथा सुन्दर है वह किसी विशेष प्रकार की भूमिका के लिए उपयुक्त हो सकता है। रेडियो के लिए उसकी वाणी ठीक हो सकती है, रंगमंच के लिए नहीं। भव्य वाक्-प्रयास के लिए अभ्यास नहीं करना चाहिए, क्योंकि वह तो किसी-किसी भूमिका के लिए किसी विशेष परिस्थिति में आवश्यक होता है। अभिनेता को अपनी वाणी को धूमिल (हलकी) भी नहीं बनने देना चाहिए, क्योंकि रंगमंच के लिए यह परम आवश्यक है कि उसकी वाणी सबको सुनाई दे। प्रायः नये अभिनेताओं का यह अभ्यास होता है कि वे वाक्य के अन्त में अपना स्वर गिरा देते हैं। जब उन्हें ठीक किया जाता है तब वे उसे उलट-कर वाक्य के अंतिम अंश को स्वरित स्वर पर ले जाकर छोड़ देते हैं। ये दोनों चरम सीमाएँ त्याज्य हैं। प्रत्येक वाक्य और प्रत्येक अभिव्यक्ति संतुलित होनी चाहिए। वाणी में प्रवाह आवश्यक है किन्तु उस प्रवाह की गति इतनी तीव्र न हो कि वाणी अस्पष्ट हो जाय। कोई टेक (सखुन-तकिया) नहीं होनी चाहिए, जैसे कुछ लोग बात-बात में 'जो है सो', 'अँ', 'तो', 'यह' आदि शब्द बीच-बीच में लगाते रहते हैं। यही बात भावभंगी के सम्बन्ध में भी है। बार-बार किसी एक प्रकार से मुँह बनाना, कन्धे उचकाना, उँगली चलाना, बेंत या डण्डा हिलाना अथवा शरीर के किसी विशेष भाग को किसी विशेष रूप से हिलाना या मटकाना भी दोष ही है।

किन्तु अभिनेता को वाक्चेतन (स्पीच कौन्शस) नहीं होना चाहिए, अर्थात् सदा अपनी वाणी के फेर में नहीं पड़े रहना चाहिए। वाणी पर इतना अधिक नहीं ध्यान देना चाहिए कि वह कृत्रिम हो जाय और उसकी स्वाभाविकता नष्ट हो जाय। अपनी वाणी को अपना दास बनाओ, स्वामी नहीं। अपना कण्ठ, अपने दाँत और अपने ओठ इस प्रकार स्वच्छ और व्यवस्थित रखो कि वाणी में विकार न आने पाये। प्रत्येक अक्षर और शब्द स्पष्ट हो, वाणी के उतार-चढ़ाव से वाक्य का भाव स्पष्ट होता चले। यदि यह भावानुसारी आरोह-अवरोह वाणी में नहीं होगा तो वाणी नीरस हो जायगी। कभी-कभी किसी विशेष चरित्र के अनुसार भी वाणी में विकार लाना पड़ता है। वहाँ यह विकार ही स्वाभाविक होता है। किन्तु साधारणतः न तो वाणी में कोई विकार लाना चाहिए, न उसे अधिक कृत्रिम बनाना चाहिए, न उसमें अनावश्यक विराम ही देना चाहिए। अपनी वाणी से, वाणी के स्वाभाविक उतार-चढ़ाव से जनता को आश्चर्य में तो डालना चाहिए किन्तु वह आश्चर्य रुचिकर और विश्वसनीय होना चाहिए, अर्थात् जनता को यह विश्वास हो जाय कि इस परिस्थिति में इसी प्रकार की

वाणी आवश्यक है। अपनी वाणी को इस प्रकार साध लेना चाहिए कि उससे सब प्रकार की, ऊँची-नीची, दबी-खुली सब ध्वनियाँ निकाली जा सकें, क्योंकि विभिन्न युगों के, विभिन्न प्रकार के तथा विभिन्न शैलियों के नाटकों के विभिन्न चरित्रों के लिए विभिन्न प्रकार की वाणी अपेक्षित होती ही है।

वाणी की स्पष्टता, शक्ति और विभिन्न-ध्वनिता सिद्ध करने के लिए अपना शरीर और अपना गला स्वस्थ और स्वच्छ रखना चाहिए। इस स्वस्थता के लिए प्राणायाम का अभ्यास अधिक हितकर होता है। पुराने अभिनेता अपनी वाणी बहुत स्पष्ट, गम्भीर और सुरीली (सोनोरस) बनाये रखते हैं किन्तु अब के अभिनेता अपने कण्ठ की ओर से बड़े असावधान रहते हैं। चाय, सिगरेट, खटाई, तीखे पदार्थ, मदिरा, बरफ़ और बरफ़ से बने पदार्थ सब कण्ठ के शत्रु हैं। यत्नपूर्वक इनसे बचना चाहिए। भारतीय अभिनेताओं में अधिक पान खाने का भी बुरा अभ्यास है। इससे दाँत बिगड़ जाते हैं और कण्ठ में भी नीरसता और रूक्षता हो जाती है। यद्यपि पान का रस कण्ठ के लिए बहुत लाभदायक होता है किन्तु कत्थे-चूने के साथ पान का अधिक योग निश्चय ही हानिकारक होता है। प्रायः लोग ऊँचा स्वर चढ़ाकर सिर से ध्वनि निकालते हैं किन्तु ध्वनि निकालनी चाहिए छाती से, फेफड़ों से।

इधर गाल्सवर्दी और बर्नर्ड शा ने अपने सामाजिक नाटकों में अपने युग की ग्रामीण और बोलचाल की (कोलोकियल) भाषा चलाकर नाटक में ऐसा विचित्र प्रयोग किया है कि उससे अभिनेताओं की वाणी बिगड़ जाने की पूरी आशंका है। इस विषय में जर्मन नाटककारों ने तो अति कर दी है। उन्होंने बोलचाल की भाषा (आउस्ड्रूक) को अनावश्यक महत्त्व देकर वाणी की स्वच्छता को और भी अधिक विकृत कर दिया है। उच्चारण की एकरूपता आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य है। प्रत्येक अभिनेता को उचित उच्चारण, ठीक समय का ध्यान, विभिन्न प्रकार की ध्वनि, सटीक बलाघात, वाणी की गम्भीरता, स्वर का उचित आरोह-अवरोह और कृत्रिम अभिव्यक्ति के अभाव का ध्यान रखकर वाणी की साधना करनी चाहिए।

प्रायः सभी नाटकों में चाहे वे जितने भी मँजे हुए हों फिर भी प्रेरक (प्रौम्प्टर) की आवश्यकता होती ही है। यदि न भी हो तब भी प्रत्येक अभिनेता को सावधान होकर जानना चाहिए कि मुझे किस शब्द के पश्चात् कहाँ क्या कहना है। न तो अपने से पहले वाले अभिनेता के समाप्त करने से पूर्व ही उसे टोकना चाहिए और न उसके समाप्त करने के पश्चात् अनावश्यक इतना अवकाश ही देना चाहिए कि धारा टूट जाय। कभी-कभी कोई बात काटने के लिए बीच में ही टोकना आवश्यक होता है। ऐसी स्थिति में सावधान होकर अन्तिम शब्द बोलने से पहले ही टोक देना चाहिए।

अन्य परिस्थितियों में ठीक समय पर अपना संवाद प्रारम्भ करना चाहिए और अपने से पहले बोलने वाले अभिनेता के अन्तिम शब्द को ठीक समय पर ग्रहण करके अपना पाठ्य कह डालना चाहिए।

विभिन्न शिक्षा-ग्रन्थों तथा प्रातिशाख्यों में दिये हुए उच्चारण के सिद्धान्तों को पढ़ने से प्रतीत होता है कि वैदिक ऋषियों और शिष्टजन का उच्चारण स्थान और प्रयत्न से नियमित, शुद्ध, उदात्त, अनुदात्त तथा स्वरित के नियमों के अनुसार बहुत व्यवस्थित और गम्भीर था और वे प्रत्येक भाव के अनुसार शब्द और वाक्य की ध्वनि का प्रयोग करना जानते थे। यही बात यूनानियों के सम्बन्ध में भी है। वे अत्यन्त सौन्दर्य-प्रिय व्यक्ति थे। उनके भाषण की शैली अत्यन्त मधुर, शीलयुक्त तथा सुन्दर थी और हमारे युग की शिर-उत्पादित ध्वनियों तथा पतले गले से निकाली हुई कृत्रिम ध्वनियों से भिन्न होती थी।

हाम पद्धति

इंग्लैण्ड में पुराने चाल की वाचिक अभिनय-प्रणाली को 'हाम' प्रणाली कहते हैं, जिसमें शब्द, भावभंगी और चेष्टा को उचित बल और स्वाभाविकता के बदले अति-रंजित करके प्रस्तुत किया जाता था। उस समय 'एक्टर' भी 'एक्टर्र' कहलाता था। प्रत्येक 'र' को मुँह में लुण्ठित करके दुहराया-तेहराया जाता था और रंगमंच से प्रस्थान के समय कही हुई पंक्ति तोप के गोले की भाँति इस प्रकार झोक से कही जाती थी कि लोग ताली बजा उठें। यह 'हाम' अभिनय-पद्धति केवल औपचारिक ही नहीं, अनिवार्य हो गयी थी।

स्वाभाविक वाचिक अभिनय

ग्रेनविल बार्कर ने इस कृत्रिम शैली के बदले प्राकृतिक या स्वाभाविक शैली, सजावटभरी शैली के बदले सरल शैली और भाषण की शैली के बदले बातचीत की शैली का प्रचार किया, जिससे रंगमंच पर कृत्रिम भाषण-शैली की प्रथा समाप्त हो चली। वासिल डीन ने भी इस तथ्यवाद या स्वाभाविकतावाद का आन्दोलन चलाये रखा, परिणाम यह हुआ कि वर्तमान अभिनेता इस बात पर ध्यान ही नहीं देते कि प्रेक्षागृह के सब कोनों में उनकी बात सुनाई पड़ती है या नहीं। वे यही ध्यान रखते हैं कि प्रत्येक शब्द और अक्षर स्पष्ट सुनाई पड़े। प्रसिद्ध आलोचक, नाटककार सेन्ट जौन अरविन ने इस शैली की आलोचना करते हुए लिखा है कि 'प्राकृतिक या स्वाभाविक संवाद-शैली इस सीमा तक पहुँचा दी गयी है कि दर्शक लोग जब कुछ सुनते

हैं तो अनुभव करते हैं मानो वे दूसरों की गोपनीय बात या रहस्य सुनने वाले लोग हों, मानो वे ऐसी बातें सुन रहे हों जिनसे उनका कोई सम्बन्ध न हो।' किन्तु कुछ नाट्य-प्रयोक्ताओं का मत है कि हमें इसी प्रकार सुनाना भी चाहिए जिससे दर्शकों को यह प्रतीत हो कि हम असल में किसी वास्तविक घटना के साक्षी हो रहे हैं। ऐसी स्थिति में यदि कुछ थोड़े महत्त्वहीन शब्द छूट भी जाते हैं तो उनका कोई महत्त्व नहीं।' इसी लिए पंक्ति उड़ा देने (फ़्लाइंग दि लाइन) अर्थात् किसी पंक्ति को कम श्राव्य कर देने को भी वे अनुचित नहीं समझते।

इस अश्राव्य किन्तु स्वाभाविक वाक्प्रयोग के विरुद्ध इधर कुछ दिनों से एक प्रतिक्रिया हो रही है कि यद्यपि किसी ध्वनि से किसी विशेष कौशल या नाटकीयता की व्यंजना हो जाने पर उसके सुने जाने या न सुने जाने का कोई महत्त्व नहीं है, तथापि यह वांछनीय है कि जो कुछ भी श्रव्य हो वह और उसका प्रत्येक शब्द स्पष्टतः सुना जाना चाहिए, किसी भी पाठ का कोई भी अंश समझने के लिए जो शब्द और वाक्य आवश्यक हों उन्हें स्वर गिराकर या दबाकर अश्राव्य कर देना उचित नहीं है। यों भी इस प्रकार के स्वाभाविकतावादी प्रयोग केवल वर्तमान युग के नाटकों के लिए ही उचित कहे जा सकते हैं, उन पुराने युग के नाटकों के लिए नहीं, जिनमें फुसफुसाहट से कही हुई बात भी भवन के अन्तिम छोर तक सुनाई देनी ही चाहिए।

आजकल भी जब फ़िल्म अभिनेता या अभिनेत्रियाँ रंगमंच पर अभिनय करने जाती हैं तब उन्हें अपना स्वर ऊँचा करने के लिए कहा ही जाता है, क्योंकि फ़िल्म के लिए सरल स्वाभाविक और मध्य स्वर ही ग्राह्य होता है किन्तु रंगमंच के लिए तो कुछ ऊँचा स्वर सदा अपेक्षित होता ही है। अतः जो अभिनेता अस्पष्ट उच्चारण करता है वह रंगमंच के लिए अभिशाप है।

वेग

अभिनय के लिए जैसे भाव-भंगी, शरीर-भंगिमा, गति और वाणी का साधन अपेक्षित है उसी प्रकार वेग का भी बड़ा महत्त्व है। समाधि और शोक की अवस्था में पूर्ण स्थिर; वृद्धता, रोग, श्रान्ति और क्लांति की अवस्था में अति मन्द; दुःख, चिन्ता, आलस्य और विस्मय में मन्द; साधारण सभी अवस्थाओं में स्वाभाविक; भय और ग्लानि में वेगशील और सम्भ्रम, आकस्मिक विपत्ति, लोभ तथा आवेग में अत्यन्त वेगशील अभिनय-गति होनी चाहिए। यह वेग मुखमुद्रा, शरीर-भंगिमा, गति और वाणी सभी में समान रूप से व्याप्त होता है। अभिनेताओं को परिस्थिति देखकर

उसके अनुरूप अपनी भाव-भंगी, शरीर-भंगिमा, वाणी और गति को व्यवस्थित करना चाहिए।

अवस्था

ऊपर बताया गया है कि अभिनेता को अवस्था का ध्यान रखकर अपना अभिनय व्यवस्थित करना चाहिए। इस अवस्था के अन्तर्गत, शिशु, बालक, पौगण्ड, किशोर, कुमार, युवक, प्रौढ, वृद्ध और जरठ आदि सभी अवस्थाएँ, स्त्री, पुरुष और नपुंसक, पिता, माता, गुरु, स्वामी, पति, पत्नी, राजपरिवार, राजपुरुष, अतिथि, सज्जन, दुर्जन, सेवक, पुत्र आदि सम्बन्ध भी आ जाते हैं। अभिनय में इन सब अवस्थाओं की मर्यादा के अनुसार अभिनय करना चाहिए। किन्तु इससे भी अधिक महत्त्व की बात है मानसिक अवस्था, जिसके अन्तर्गत प्रसन्नता (सामान्य हास्य और विनोद से युक्त), प्रेम, उन्मत्तता, धीरता, उदासी, चिन्ता, भय, क्रोध, आवेश, लाड़, घृणा, विस्मय, शोक, दुःख आदि सभी प्रकार की मानसिक अवस्थाएँ आ जाती हैं। दुःख भी निर्धनता, इष्ट-वियोग, अनपत्यता, शत्रुभय, रोगभय, चौरभय, सम्बन्धियों से कलह, अभियोग, अकीर्ति, गृह-कलह आदि अनेक कारणों से होता है और इन सब मानसिक अवस्थाओं में अभिनय की प्रकृति भी बदल जाती है। इन सब सम्बन्धों और परिस्थितियों में एक दूसरे को अभिवादन करने, एक दूसरे की बात सुनने और उनका समर्थन करने, उनका समादर और अभिनन्दन करने, उनके आगे खड़े होने और बैठने आदि की सब बातें अभिनेता को ध्यान में रखनी चाहिए और उनके अनुसार ही अपनी वाणी, गति, भाव-भंगिमा, शरीर-भंगिमा और अभिनय-वेग को व्यवस्थित कर लेना चाहिए।

अभिनय के दो रूप; सक्रिय और प्रतिक्रिय

अभिनय के समय यदि एक ही व्यक्ति अकेला रंगमंच पर हो और कुछ कार्य कर रहा हो तब तो दूसरी बात है, अन्यथा साधारणतः दो या दो से अधिक व्यक्ति रंगमंच पर एक साथ व्यापार तथा बातचीत करते या अभिनय करते हैं। ऐसी स्थिति में जो व्यक्ति एक समय कुछ बोलता या मुख्य रूप से अभिनय करता है वह सक्रिय (ऐक्टिव) अभिनय कहलाता है। उस समय रंगमंच पर उपस्थित अन्य व्यक्ति मौन (पैसिव) रहते हैं। किन्तु वास्तव में उन्हें पूर्णतः मौन नहीं रहना चाहिए, उन्हें भी उस व्यक्ति की चेष्टा या वाणी के प्रति शारीरिक चेष्टा, वाणी या मुख की भावभंगी के द्वारा प्रतिक्रिया (कोरेस्पोंडिंग ऐक्शन) अवश्य करना चाहिए। यह अभिनय तीन प्रकार का होता है—समर्थनात्मक, सहानुभूतिपूर्ण तथा प्रतिक्रियात्मक। जब कोई

अभिनेता कोई ऐसी बात कह रहा हो या कर रहा हो जो दूसरे अभिनेता को अपनी भूमिका की प्रकृति के अनुसार उचित प्रतीत होती हो तब समर्थनात्मक सिर हिलाकर तथा अन्य अपने साथियों के प्रति नेत्र, सिर या हाथ की चेष्टाओं के द्वारा उसका समर्थन करना चाहिए, मौन होकर नहीं खड़े रहना चाहिए। इसे समर्थनात्मक अभिनय (कोरोबोरेटिव ऐक्शन) कहते हैं। जब कोई मुख्य अभिनेता (नायक या नायिका) शोक करता अथवा कष्ट में पड़ा हो, तब उसके प्रति अन्य उपस्थित अभिनेताओं की चेष्टा तथा वाणी से सहानुभूति प्रकट होनी चाहिए। यह सहानुभूतिपूर्ण (सिम्पैथैटिक) अभिनय कहलाता है। किसी अभिनेता को क्रोध या आवेग में अथवा किसी अन्य प्रकार की उत्तेजनात्मक परिस्थिति में देखकर अन्य उपस्थित अभिनेताओं का अपनी भूमिका की प्रकृति के अनुसार उसके विरुद्ध आवश्यक तथा उचित शारीरिक या भावात्मक चेष्टा करना प्रतिक्रियात्मक (रीऐक्टिव) अभिनय कहलाता है। समर्थनात्मक, सहानुभूतिपूर्ण तथा प्रतिक्रियात्मक अभिनय कभी पूर्णतः मौन रूप से व्यक्तिगत चेष्टा द्वारा होता है, कभी क्रिया करने वाले अभिनेता के प्रति प्रदर्शित किया जाता है और कभी अपने अन्य साथियों के प्रति किया जाता है।

सक्रिय और अक्रिय अभिनय

नाटक में पाठ मिल जाने पर उसे भली-भाँति कंठाग्र कर ले और केवल शब्द ही नहीं वरन् अपनी भूमिका की क्रिया, चेष्टा, अभिव्यक्ति की रीति सबका अभ्यास कर ले, अर्थात् जिस पात्र की भूमिका ग्रहण की हो उसे समझने और उसका प्रत्यक्ष दर्शन करने का प्रयत्न करे। कोई क्रिया मैं क्यों कर रहा हूँ, इसका रहस्य उसे अवश्य जानना चाहिए। अभिनेता को केवल शब्दग्राही (क्यू-केचर) मात्र नहीं होना चाहिए कि बस इतना जान ले कि किस शब्द के पश्चात् क्या कहना है। उसे दृश्य की सफलता तथा अन्य अभिनेताओं की सुविधा के लिए अपने पर संयम रखना और अपना दमन करना भी सीखना चाहिए। उसे निरन्तर अभिनय न करके यह भी सीखना चाहिए कि कैसे नहीं अभिनय किया जाता है। अभिनय न करने का भी उतना ही महत्त्व है जितना अभिनय करने का।

अपने पाठ का भली-भाँति अध्ययन करके उसमें ऐसे प्रमुख स्थल खोज निकालने चाहिए जहाँ थोड़ी सी चेष्टा और सावधानी कर देने से उसमें नवीन चेतना और जीवन लाया जा सके, केवल पहले वाले वक्ता की बात को आधार मानकर न चला जाय। अभिनेता को चाहिए कि वह स्वयं अपनी मौलिक सूझ से अभिनय की वृत्ति के अनुसार उसे घुमाव देता चले। अपने से पहले बोलने वाले अभिनेता की पंक्तियों

को बहुत महत्त्वपूर्ण समझना चाहिए। उसके लिए यह जितने महत्त्व का है उतना ही अपने लिए भी। नाटक के उचित वेग का अर्थ ही यह है कि अपने से पहले वाले अभिनेता के बोले हुए शब्दों को झट पकड़कर ठीक प्रभावशाली ढंग से अपना संवाद कह डालो।

अभिनय में हड़बड़ी और शीघ्रता करना बहुत बड़ा दोष है। वे तो भँड़ैती और प्रहसन में ही अच्छे लगते हैं। शीघ्रता केवल अपने से पहले बोलने वाले अभिनेता के शब्द पकड़ने में ही करनी चाहिए, अर्थात् न तो उसकी बात बीच में ही काट दी जाय न इतना रुकाव ही दिया जाय कि उसका प्रभाव नष्ट हो जाय। अपना पाठ कंठस्थ करने के लिए प्रत्येक शब्द, रंग-निर्देश, प्रत्येक स्थिति और प्रत्येक गति को भली-भाँति लिख लिया जाय और अपने मुख्य संवाद को तो तीन बार लिख लेना चाहिए। अभिनेता अपने पाठ में तन्मय होकर स्वयं पाठ हो जाय और पाठ ही स्वयं अभिनेता हो जाय। उसे चाहिए कि अपने पाठ की सम्पूर्ण सूक्ष्मताओं को भली-भाँति समझ ले और उसमें जटिलता लाने का प्रयत्न न करे।

अभिनय में सहयोग

अभिनेता को कभी स्वार्थी नहीं होना चाहिए अर्थात् उसे केवल अपना ही अभिनय सफल बनाने की चेष्टा में नहीं लगना चाहिए, क्योंकि उसका कार्य सम्मिलित कार्य , उसकी सफलता सबकी सफलता में अन्तर्निहित होती है। साधारणतः अभिनेता बड़े उदार होते हैं और सदा अपने साथियों का बहुत ध्यान रखते हैं। यह बात रंगमंच पर भी ध्यान में रखनी चाहिए। दूसरे अभिनेता की वात भली भाँति सुनकर उसकी उचित प्रतिक्रिया करनी चाहिए, क्योंकि दूसरे की बात बीच में काटने, अप्रासंगिक क्रिया करने या बात कहने से सारा भाव और प्रभाव नष्ट हो सकता है। किसी गंभीर विदूषक का तनिक सा मुँह बना देना उस दृश्य की सारी गम्भीरता नष्ट कर दे सकता है। प्रत्येक अभिनेता को अपने साथी अभिनेताओं के प्रति उदासीन भी नहीं होना चाहिए। ये दोनों बातें, अर्थात् अनावश्यक और अप्रासंगिक बाधा तथा उदासीनता दोनों ही घातक प्रयोग हैं। प्रत्येक अभिनेता को यह समझना चाहिए कि मैं पूरे नाटक का एक अंग मात्र हूँ, स्वयं पूरा नाटक नहीं हूँ। अतः अभिनेताओं के साथ मिलकर सहयोग के साथ काम करना नाटक की सफलता के लिए अधिक महत्त्व का है, केवल अकेले अपनी ढपली अपना राग अलापना ठीक नहीं। इसी लिए कहा गया है कि नये अभिनेता को पहली वात यही सीखनी चाहिए कि रंगमंच पर कैसे स्थिर या चुपचाप खड़ा रहना चाहिए और यह स्थिरता अन्य अभिनेताओं की चेष्टा और वाणी के बीच

में कैसे साधनी चाहिए। प्रसिद्ध अभिनेताओं की सफलता का सबसे बड़ा रहस्य यही रहा है कि वे पूर्ण स्थिरता और शान्ति के प्रयोग की कला भली भाँति जानते थे।

व्यक्तिगत और सामूहिक अभिनय

रंगमंच पर जितना अभिनय होता है वह अभिनेताओं की संख्या की दृष्टि से तीन प्रकार का होता है—व्यक्तिगत, सामूहिक और संघटित। व्यक्तिगत अभिनय में कोई एक पात्र अकेला स्वयं अभिनय करता है अथवा कई पात्रों के सम्मुख व्यक्तिगत चिन्ता और शोक आदि सात्त्विक अवस्थाओं में पूर्णतः स्वयंगत व्यक्तिगत भावात्मक अभिनय करता है, और कभी वह सामूहिक रूप से अन्य व्यक्तियों के साथ मिलकर कोई काम करता है चाहे वह गाना हो, नाचना हो, बोलना हो अथवा कोई अन्य कार्य करना हो। संघटित अभिनय में कई व्यक्ति एक साथ एक दृश्य में अपनी-अपनी भूमिका की महत्ता और विशेषता लिये हुए रंगमंच पर व्यवस्थित रूप से व्यवहार या वार्तालाप करते हैं और वह सारा दृश्य पूर्णतः इस प्रकार सुसंघटित, व्यवस्थित और संश्लिष्ट होता है कि सब पात्र उस एक दृश्य के आवश्यक और अनिवार्य अंग बनकर उसके रस-भाव और प्रभाव को बनाये रखते हैं। जैसे महाभारतीय द्रौपदी-चीर-हरण के दृश्य में उपस्थित धृतराष्ट्र, भीष्म, द्रोणाचार्य, विदुर, दुर्योधन, दुःशासन, शकुनि, कर्ण, विकर्ण, दुर्योधन के अन्य भाई, पाँचों पाण्डव और द्रौपदी सब अपने-अपने स्थान पर अपनी-अपनी व्यक्तिगत महत्ता के साथ पूर्ण दृश्य में क्रिया-प्रतिक्रिया करते हुए भी उस सम्पूर्ण सुसंघटित दृश्य के ऐसे आवश्यक अंग बन जाते हैं कि उनमें से न किसी को कम किया जा सकता है न किसी के व्यक्तित्व को शिथिल किया जा सकता है। यूरोपीय नाटकों में, विशेषतः स्ट्रिंडबर्ग, गाल्सवर्दी और बर्नर्ड शा जैसे नाटककारों के बहुपात्रीय दृश्यों में इस प्रकार के सुसंघटित दृश्यों की योजना बहुत मिलती है।

सामूहिक अभिनय भी तीन प्रकार का होता है—एक तो समवेत (कोरल) होता है जिसमें अभिनेताओं का एक समूह एक साथ गाता, बजाता, नाचता, अभिनय करता अथवा अन्य कोई चेष्टा करता है। दूसरा सामूहिक अभिनय वह होता है जिसमें एक दल के लोग एकत्र होकर विचार-विमर्श, सम्मिलित कार्य अथवा दल के रूप में कोई चेष्टा करते हैं। तीसरा सामूहिक अभिनय भीड़ या जनसम्पर्क का होता है जिसमें बहुत से लोग एक साथ अपनी-अपनी इच्छा, चेष्टा और गति से बोलते या काम तो करते हैं किन्तु प्रत्येक व्यक्ति को अपनी ओर से उस भीड़ के कोलाहल या अव्यवस्थित कार्य को अपने व्यक्तिगत अभिनय से पुष्ट अवश्य करना पड़ता है। इस प्रकार के

सामूहिक अभिनय में कभी तो एक व्यक्ति और समूह का पारस्परिक अभिनय होता है, कभी दो समूहों का द्वन्द्व होता है और कभी एक ही समूह के लोग विभिन्न प्रकार की समवेत चेष्टाएँ करते हैं।

आजकल व्यक्तिगत अभिनय के सम्बन्ध में यह भी सिद्धान्त मान लिया गया है कि जब एक व्यक्ति या अभिनेता रंगमंच पर अकेला कुछ करता है और वह चिन्तन नाटकीय दृष्टि से महत्त्व का होता है, तब उसके चिन्तन के भावों को आकाशवाणी द्वारा कहलाकर उसके चरित्र का स्पष्टीकरण कर दिया जाता है। पहले तो इस उप-चेतन विश्लेषण (सबकौंशस ऐनेलिसिस) का प्रयोग केवल चलचित्र में ही होता था किन्तु अब नाटक में भी होने लगा है।

औचित्य और आवश्यकता का नियम

इस प्रकार यूरोपीय तथा अन्य विदेशीय अभिनय-पद्धतियों में भाव-प्रदर्शन का ही अधिक महत्त्व माना जाता है, अभिनय की नियमित क्रिया-पद्धति का नहीं। अभि-नय के सम्बन्ध में स्पष्ट और सर्वमान्य सिद्धान्त यह है कि वह अतिरंजित नहीं, स्वाभाविक होना चाहिए। दूर तक बैठे हुए दर्शकों का ध्यान रखते हुए वाचिक अभि-नय में स्वाभाविकता लाना बहुत कठिन है किन्तु रंगमंच की परिस्थितियों के अनुरूप अभिनय करते समय अभिनेताओं को अपनी सीमा स्वयं समझकर अपनी भूमिका की प्रकृति के अनुसार उचित वेग और गति से अभिनय करना चाहिए। इसके लिए औचित्य का सिद्धान्त सबसे अधिक महत्त्व का है। औचित्य का अर्थ यह है कि गति, अंगों का संचालन और वाणी का स्वर केवल उतनी ही मात्रा में गति और वेग से करना चाहिए जितना उस पात्र की प्रकृति को स्पष्ट करने के लिए उचित और आवश्यक हो। इस सिद्धान्त को औचित्य और आवश्यकता का नियम (ला ऑफ़ प्रोप्राइटी ऐंड नेसेसिटी) कहते हैं। इस नियम के साथ प्रत्येक अभिनेता को सत्क्रमता (सीक्वेन्स) का भी ध्यान रखना चाहिए कि किस पात्र की किस क्रिया या संवाद के पश्चात् मुझे क्या क्रिया करनी है या क्या संवाद कहना है। औचित्य के अन्तर्गत शील, व्यवहार, पद, मर्यादा, वाणी का उतार-चढ़ाव, किसी भी क्रिया या चेष्टा का शोभन या अशोभन प्रदर्शन, लालित्य अथवा कठोरता सब कुछ आ जाता है। उसके अन्तर्गत यह भी ध्वनि है कि अभिनेता को कोई चेष्टा, काम या व्यवहार ऐसा नहीं करना चाहिए, जो उसकी स्वीकृत भूमिका की प्रकृति के ही विपरीत हो।

चीनी अभिनय-पद्धति

चीन और जापान के अधिकांश नाटकों में मुखौटे लगाकर अभिनय करने की

पद्धति है, इसलिए वहाँ भावभंगी या मुख-मुद्रा का कोई महत्त्व नहीं है। यद्यपि वहाँ भारतीय नाट्यशास्त्र के समान कोई अभिनय-शास्त्र नहीं, फिर भी वहाँ शारीरिक चेष्टाएँ इतनी रूढ हो गयी हैं कि उनके अतिरिक्त कोई भी अभिनेता अपनी ओर से कोई नवीनता उत्पन्न नहीं कर सकता। वाचिक के सम्बन्ध में चीनी नाटक सबसे विचित्र हैं। वहाँ प्रत्येक अभिनेता को यह स्वतंत्रता है कि वह चाहे जितना संवाद बढ़ा सकता है। इसी लिए वहाँ लिखित नाटक और अभिनीत नाटक में बहुत अन्तर हो जाता है। वहाँ के अधिकांश नाटक उत्तर भारत की नौटंकी के समान संगीतमय होते हैं। चीनी रंगमंच पर वादकगण अपने ढोल, घड़ियाल, सिंगे, वंशी, मजीरे आदि लेकर रंगमंच पर ही बैठते हैं और अभिनय के समय भी निश्चिन्तता से उठते, बैठते, नस्य लेते, धूम्रपान करते तथा अन्य प्रकार से व्यस्त रहते हैं, किन्तु जहाँ उनकी आवश्यकता पड़ी कि तत्काल चेतन और सन्नद्ध होकर जुट जाते हैं। चीनी नाटकों में सामने परदा न होने के कारण कुछ विचित्र बातें भी दिखाई पड़ती हैं, जैसे रंगमंच पर मारा जानेवाला पात्र सबके देखते-देखते उठकर नेपथ्य में चला जाता है।

वहाँ के नाटक इतने बड़े होते हैं कि वे तीसरे पहर से प्रारम्भ होकर अगले दिन प्रातःकाल तक चलते रहते हैं, किन्तु अब यूरोपीय नाटकों की देखादेखी इस प्रवृत्ति में परिवर्तन होने लगा है और दर्शक भी अब कुछ व्यवस्थित हो गये हैं, अन्यथा वहाँ इतनी अव्यवस्था थी कि इधर नाटक होता रहता था, उधर लोग बातचीत और भोजन करते रहते थे, देखने वाले देखते रहते थे और जब जिसके मन में आता था नाटक देखने आ धमकता था। किन्तु अब कुछ ऐसी रंगशालाएँ भी चल पड़ी हैं जिनमें यूरोपीय रंगशालाओं के समान प्रेक्षागृह में अँधेरा रहता और केवल रंगमंच पर प्रकाश रहता है, दर्शक भी समय से आकर बैठ जाते हैं, देर से आने वाले को लोग अच्छा नहीं समझते और फेरी वाले भी बाधा नहीं देते। पुरानी अव्यवस्था का विशेष कारण यह था कि मुख्य या लोकप्रिय अभिनेता या अभिनेत्री बहुत देर से आते थे इसी लिए उनके आने तक लोग बातचीत आदि में लगे रहते थे।

जापानी अभिनय

चीनी नाटकों की अपेक्षा जापानी नाटक-घरों में अधिक व्यवस्थित रूप से नाटक होते हैं। वहाँ के दर्शक भी बड़े सधे हुए और नियमित हैं, यद्यपि वहाँ की अभिनय-पद्धति भी वही है जो चीन की है तथापि वहाँ मुखौटों का इतना महत्त्व नहीं है जितना शारीरिक चेष्टाओं का। किन्तु वहाँ शाब्दिक अभिनय या संवाद वाणी के ऐसे विचित्र चढ़ाव-उतराव के साथ होता है जो सम्भवतः हम लोगों को अच्छा न लगे। उनके

'नो' नामक नाटक वैसे ही रंगमंच पर खेले जाते हैं जैसे एलिजाबेथ युग में होते थे अर्थात् जहाँ रंगमंच के तीन ओर दर्शक बैठते थे। इन 'नो' नाटकों के अभिनेता अत्यन्त गम्भीरता के साथ अपनी भूमिका का निर्वाह करते हैं। जापानी नाटकों में भी यूनानी नाटकों के समान समवेत गान होता है किन्तु वह खेले हुए दृश्य पर टिप्पणी के रूप में गाया जाता है, यूनानी नाटकों के समान अभिनय का आधार नहीं होता। जापानी अभिनय में सम्पूर्ण भाव-भंगिमा और शारीरिक चेष्टाएँ पूर्णतः प्रतीकात्मक होती हैं जिन्हें केवल वे ही लोग समझ पाते हैं जिन्होंने उसकी व्यवस्थित शिक्षा पायी है। इसी लिए केवल उच्च श्रेणी के शिक्षित लोग ही उन नाटकों को देखने भर का उपचार पूरा करने के लिए जाते हैं, रसमग्नता या नाटक का आनन्द लेने के लिए नहीं।

यूनानी नाट्य-पद्धति

प्राचीन काल में यूनान में खुले विशाल रंगमंच पर बीस-तीस सहस्र दर्शकों के सम्मुख अभिनेताओं को नाटक खेलने पड़ते थे। इसलिए अभिनेता अपने पैरों में ऊँचे-ऊँचे तल्ले के जूते पहनकर असाधारण रूप से लम्बे हो जाते थे और मुँह पर ऐसा मुखौटा लगाते थे जिसकी आकृति से भूमिका की प्रकृति दूर तक बैठे हुए लोगों को स्पष्ट हो जाती थी। उसी मुखौटे में मुँह के पास ऐसा भोंपा लगा रहता था कि जिसके सहारे अभिनेता का स्वर बहुत ऊँचा हो जाता था और दूर तक सुनाई पड़ता था। उनकी सम्पूर्ण चेष्टाएँ अत्यन्त भव्य और कलात्मक तो होती थीं किन्तु साथ ही अवास्तविक भी होती थीं।

प्राचीन यूनानी नाटक मुख्यतः धार्मिक, आनुश्रुतिक या ऐतिहासिक होते थे जिनकी कथाएँ सब लोग जानते थे। वहाँ पर नाटक का प्रयोग केवल विनोद अथवा व्यवसाय का साधन नहीं था वरन् ऐसा सर्वसाधारण तथा सार्वजनिक उत्सव था जिसमें सब जन-समूह से आशा की जाती थी कि वह दर्शक होकर बैठ जाय। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए निर्धन लोगों को राज्य की ओर से निःशुल्क प्रवेशपत्र दिये जाते थे। उस युग में सम्पूर्ण कला बहुत रूढिबद्ध हो गयी थी जिसका पालन अभिनेतागण अत्यन्त सावधानी और धार्मिक निष्ठा के साथ करते थे। किन्तु अब तो नयी यूरोपीय शैली के रंगमंच बन गये हैं और यूरोपीय अभिनय-पद्धति ही उनमें चल पड़ी है।

रोमन नाटक

रोम साम्राज्य में रोमन नियमों के अनुसार अभिनेतागण नागरिक अधिकार से वंचित कर दिये गये थे। उनकी ऐसी विचित्र दशा हो गयी थी कि न तो उन्हें भार-

तीय अभिनेताओं के समान राजाश्रय प्राप्त था, न यूनानी और जापानी अभिनेताओं के समान आदर। वहाँ पर कभी-कभी धनी नागरिकों की ओर से नाटक कराये जाते थे। एक बार एमीलियस सौरस ने अस्सी सहस्र दर्शकों के लिए रंगशाला बनवायी थी, जिसमें बैंगनी रंग के गलीचे बिछे हुए थे और इतना बड़ा रंगमंच बनाया गया था कि उस पर चार सौ स्तम्भ और तीन सहस्र मूर्तियाँ स्थापित की गयी थीं। किन्तु वह भव्य रंगशाला जलाकर भस्म कर दी गयी। वहाँ यूनानी नाटकों की भी बड़ी हत्या हुई और इसी लिए अभिनय-कला वहाँ बहुत पनप नहीं पायी। यद्यपि रोम वाले स्वयं इतने नाट्यकला-प्रिय रहे हैं कि उनको कोई विषय भर दे देने की देर है, झट बिना नाटक लिखे उसे नाट्य-रूप में प्रस्तुत कर देंगे। किन्तु इतना होते हुए भी वहाँ अभिनय-कला व्यवस्थित नहीं हो पायी, क्योंकि ईसाई युग के पहले वर्ष में ही धर्म और रंगशाला में संघर्ष प्रारम्भ हो गया। फिर भी वहाँ के लोगों को नाट्य-कला से इतना अधिक प्रेम था कि ईसाई प्रभाव उसे मिटा नहीं सका। आगे चलकर गोथों और जर्मनों ने वहाँ की रंगशाला नष्ट कर डाली और उसके साथ-साथ वहाँ की अभिनय-कला भी समाप्त हो गयी।

यूरोपीय मध्यकालीन नाटकों में अभिनय

रोम की नाट्य-शालाओं के समाप्त होने पर भी वहाँ की अभिनय-भावना वहाँ के लोकोत्सवों तथा वासन्ती और शारदोत्सवों में व्यक्त होती रही और उन्हीं उत्सवों से अद्भुत नाटक (मिरैकिल प्ले), रहस्य नाटक (मिस्टरी प्ले) और नैतिक नाटकों (मौरेलिटीज़) का प्रादुर्भाव हुआ। इन नाटकों में यद्यपि यूनानी या पौर्वात्य (भारतीय, चीनी, जापानी) नाटकों की सी भव्यता, धार्मिकता और गम्भीरता नहीं थी किन्तु विनोद और भावावेग की मानवीय भावनाएँ बहुत थीं।

मध्यकालीन यूरोपीय रंगमंच यूनानी रंगमंच के समान वहाँ के जन-जीवन से इतने एकात्मक हो गये थे कि केवल उस युग के नाटक पढ़ने से उस युग के सामान्य लोक-जीवन की रीति-नीति, धार्मिक निष्ठा, दैनिक व्यवहार, अपनी वृत्ति और अपने स्वामियों के प्रति उनकी निष्ठा का पूर्ण परिचय पा सकते हैं। प्रारम्भ में तो गिरजाघरों से सम्बद्ध पादरी और गायक लोग ही इन नाटकों में अभिनय करते थे किन्तु आगे चलकर अन्य लोग भी इसमें सम्मिलित होने लगे और उनके द्वारा सर्वसामान्य लोकवृत्ति की अभिव्यक्ति होने लगी। इनका प्रारम्भ तो धार्मिक रूप से हुआ था, किन्तु आगे चलकर इनकी वृत्ति लौकिक अधिक हो गयी। रहस्यात्मक नाटक में तो शुद्ध बाइबिल से विषय लिये जाते थे और अद्भुत नाटकों में आनुश्रुतिक कथाओं

से। किन्तु अद्भुत नाटकों में धर्म तथा नीति की प्रधानता रहती थी। आगे चलकर इनमें भँड़ैती और नास्तिकता भी लाकर भरी जाने लगी। इसके पश्चात् जो नैतिक नाटक आये उन्होंने पहले तो रहस्यात्मक और अद्भुत नाटकों का अनुगमन किया किन्तु आगे चलकर जब नाटक और गिरजाघर का सम्बन्ध विच्छिन्न हो गया तब उनमें गुण, अवगुण, शक्ति, विवेक आदि भावों के प्रतीकात्मक पात्र आने लगे। ये नैतिक नाटक बीच सड़क में, भरी हाट में, गिरजाघरों के सामने अथवा ऐसे किसी भी स्थान पर खेले जाने लगे जहाँ बहुत लोग एकत्र किये जा सकें। इन नाटकों का सम्बन्ध जनता के धार्मिक और सामाजिक विश्वासों तथा भावनाओं से था और उन्हीं से एलिज़ाबेथीय युग के साहित्यिक नाटकों के लिए मार्ग खुला। इन नाटकों में शक्ति, वेग, विनोद, करुणा और नाटकीय तत्त्व सब उपस्थित थे जिनमें से 'सब कोई' (एव्री मैन) अँग्रेजी का नैतिक नाटक सर्वश्रेष्ठ था जिसका विषय सम्भवतः हुलाँश (डच) साहित्य से लिया गया था।

इसके पश्चात् तो यूरोप भर में एक से एक बढ़कर नाटककार निकल आये——शेक्सपियर और उसके सहयोगी इंग्लैंड में, मोलिए, रासीन, कोर्निल, वाण्डेल, गोलोनी, काल्दल, कांग्री, वाइचर्ली, ड्राइडन, शेरिडन, गोल्डस्मिथ, गेटे और शिलर आदि नाटककारों की लम्बी शृंखला की छाया में केवल नाट्य-कला ने ही नया आश्रय नहीं पाया, वरन् अभिनय-पद्धतियों की भी व्यवस्थित सृष्टि हुई जिसमें अँगरेज़ी अभिनेता गैरिक की प्रभावात्मक पद्धति (इम्प्रेशनिस्टिक स्टाइल) के अतिरिक्त अभिव्यंजना (एक्स्प्रेशनिस्टिक) पद्धति, स्वाभाविक (नेचुरलिस्टिक) पद्धति, लयात्मक (क्यूबिस्ट) पद्धति, प्रतीकात्मक (सिम्बौलिस्टिक) पद्धति और नवीन निर्माणात्मक (कन्स्ट्रक्टिविस्टिक) पद्धतियों का विकास हुआ। अब तो व्यापक रूप से यह माना जाने लगा है कि अभिनय स्वाभाविक होना चाहिए, इसमें निरर्थक उछल-कूद और कृत्रिम वाणी का प्रयोग नहीं होना चाहिए, अभिनेता को यह प्रयत्न करना चाहिए कि वह नवीनता, मौलिकता और प्रभावोत्पादकता की सृष्टि करे और किसी भी पद्धति अथवा अभिनेता का अनुसरण और अनुकरण न करे। उसे अपने अभिनय में इस प्रकार की नवीनता लाने का प्रयत्न करना चाहिए कि उसका अभिनय स्वाभाविक होने के साथ-साथ अधिक प्रभावशाली और सर्जनापूर्ण (क्रिएटिव) प्रतीत हो।

अभिनय में रूप का महत्त्व

बहुत से लोगों का विश्वास है कि रंगमंच के लिए अभिनेता या अभिनेत्री को सुन्दर और सुरूप होना ही चाहिए, किन्तु यह सब भ्रम है। सुन्दर पुरुष या स्त्री किसी

ऐसी भूमिका के लिए अवश्य चुने जा सकते हैं जिसके लिए सौन्दर्य अनिवार्य अपेक्षित हो, किन्तु चरित्र-अभिनय (कैरेक्टर ऐक्टिंग) के लिए कभी-कभी बौना, नाटा, मोटा, बहुत लम्बा, बहुत कुदर्शन तथा विकलांग व्यक्ति भी अभिनय के गुणों से युक्त होने पर बहुत सफलता प्राप्त कर सकता है। बहुत से यूरोपीय नाट्यशास्त्रियों का तो यहाँ तक विश्वास है कि सुन्दर अभिनेता बहुत प्रतिभाशाली नहीं सिद्ध होते।

नाटक के प्रयोग में मुख्य वस्तु होती है भावोद्रेक। उस भावावेग की अभिव्यक्ति या अभिव्यंजना करना ही अभिनेता का मुख्य कार्य है। श्रेष्ठतम अभिनेता प्रायः वे ही लोग होते हैं जिनके मुखड़े, जिनकी आकृति तथा आकार-प्रकार विशिष्ट तो होते हैं किन्तु अनिवार्यतः सुन्दर नहीं होते। अतः रूप की अपेक्षा प्रतिभा अधिक आवश्यक है। कभी-कभी तो यह देखा गया है कि कुबड़े, कुचरी या कंजी आँखों वाले, सूअर के से नथने वाले, ऐंड़े-बैंडे पाँव वाले, लम्बे दाँत वाले और अष्टावक्र लोग थोड़े प्रयत्न से ही अभिनेता हो जाते हैं।

अभिनेता में बुद्धि अपेक्षित है या हृदय

कुछ लोगों का मत है कि अभिनेता में बुद्धि की उतनी आवश्यकता नहीं है जितनी हृदय की, क्योंकि जहाँ तक विचार और अभिनय के कार्य की बात है वह सब तो नाटककार पहले से ही स्थिर कर देता है। अभिनेता को तो केवल एक बार उसे साधकर उन्हीं शब्दों, चेष्टाओं और भावभंगियों से उसकी यंत्रमय उद्धरणी मात्र कर देनी होती है। किन्तु यह भ्रम है। कोई भी भूमिका जितनी ही जटिल और कठिन होती है उतनी ही अधिक उसकी व्याख्या के उपाय होते हैं। प्रसिद्ध अभिनेत्री श्रीमती सिडन्स का कथन ही है कि सुन्दर अभिनय तो अन्तःस्फुरित (इन्ट्यूटिव), अनुप्राणित (इन्स्पायर्ड) और सहज (इन्नेट) होता है। उसमें जोड़-तोड़ और तर्क का स्थान नहीं होता। किन्तु जब श्रीमती सिडन्स अभिनय करने लगती हैं तब प्रत्येक दर्शक को यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि वे अपनी बुद्धि का भी प्रयोग कर रही हैं, क्योंकि उनके अभिनय में नित्यप्रति कुछ न कुछ नवीनता अवश्य दिखाई पड़ती है। सर हेनरी इरविंग, बीर बोह्म ट्री, गोडफ़्रे टियरले, औवेन मेयर्स, आइवर नोवेलो, वोयेल कौवर्ड, सेडिक हार्डविक, चार्ल्स लौफ़्टन, लिलियन बैंथवे, मेरी टैम्पेस्ट, लेडी कूपर, फ्लोरा रौब्सन, मेरी ने, मार्गरेट रौलिंग्स, श्रीमती सिडन्स आदि जितने भी अच्छे अभिनेता और अभिनेत्रियाँ यूरोप में विद्यमान हैं वे सभी अपनी प्रतिभा के बल पर ही कीर्ति अर्जित कर पाये हैं।

रंगमंच और चलचित्र में अभिनय

बहुत से अभिनेता रंगमंच और चलचित्र दोनों के अभिनय में समान रूप से सफल हुए हैं और वे निश्चय ही अधिक कुशल, अवसरसिद्ध तथा गुणी हैं। किन्तु रंगमंच और चलचित्र दोनों की अभिनय-कला पूर्णतः भिन्न है। चलचित्र में अभिनय करने के लिए अधिक वास्तविकता, स्वाभाविकता, शान्ति, संयम और ऐसी स्वाभाविक वाणी की आवश्यकता है जो ध्वनियंत्र (माइक्रोफोन) पर न बहुत वेग डाले और न उसे विकम्पित करे, किन्तु रंगमंच पर अभिनय करने के लिए अधिक बल, अधिक ऊँचा स्वर और अपनी व्यक्तिगत भावना तथा वाणी को दर्शक-कक्ष के कोने-कोने तक पहुँचा देने की शक्ति ओत-प्रोत होनी चाहिए। जितनी बड़ी रंगशाला होगी उसके लिए अभिनेता को उतना ही परिश्रम करना होगा और उसी अनुपात से शारीरिक चेष्टाएँ और मुख की भाव-भंगी भी अधिक स्पष्ट और विशिष्ट बनानी होगी। रंगमंच का अभिनय तो एक प्रकार का अत्यन्त व्यवस्थित और क्रमिक संगीत या लय-सृष्टि है जिसमें प्रत्येक मानवीय गुण एक विशेष लक्ष्य तक पहुँचाया जाता है और जिसे निरन्तर निर्बाध रूप से दर्शक देखते और सुनते हैं। इसके अतिरिक्त एक और भी बड़ा अन्तर है। यदि चलचित्र लेने वाले यन्त्र (कैमरे) के सम्मुख खड़ा हुआ व्यक्ति अपनी गति, वाणी और चेष्टा में भूल कर दे तो तत्काल उसे वहीं रोककर, उतना काटकर, उसे फिर ठीक कराकर सुधारा जा सकता है, किन्तु रंगमंच का अभिनय तो चुटकी से छूटा हुआ वार है जो एक बार हो गया तो हो गया, फिर न लौट सकता है, न सुधर सकता है। दूसरी बात यह है कि चलचित्र का अभिनेता पूर्णतः निर्देशक या प्रयोक्ता (डाइरेक्टर) का दास होता है। वहाँ जो निर्देशक बताता चलता है अभिनेता अभिनय करता चलता है। किन्तु रंगमंच का अभिनेता स्वयंसिद्ध होता है। रंगमंच पर पहुँचने के पश्चात् वह स्वयं अपना स्वामी हो जाता है। उसकी सफलता या असफलता उसकी अपनी होती है। इसलिए चलचित्र में काम करने वाले बहुत से अभिनेता रंगमंच पर बहुत असफल होते हैं।

कुछ यूरोपीय नाट्य-प्रयोक्ताओं का मत है कि फिल्म का अभिनेता रंगमंच पर और रंगमंच का अभिनेता फिल्म में काम नहीं कर सकता। श्री लिन हार्डिंग का कथन है कि स्वर्गीय श्रीमती डेम मैडगे कैन्डल का मत था कि 'रंगमंच को अन्य सब विनोद-साधनों से भिन्न रखना चाहिए, क्योंकि अच्छा नाटक अनिवार्य रूप से अच्छी फिल्म के रूप में और अच्छी फिल्म अनिवार्यतः अच्छे नाटक के रूप में परिवर्तित नहीं हो सकती। यद्यपि दोनों क्षेत्रों में नाटकीयता और अभिनय दोनों समान होते हैं फिर

भी ये दोनों कलाएँ भिन्न हैं। पर अच्छा अभिनेता कुशलता के साथ दोनों में सफलता प्राप्त कर सकता है।

रंगमंच पर स्थान

रंगमंच पर स्थान ग्रहण करना भी बहुत महत्त्व का होता है। नाटक की स्वाभाविक आवश्यकताओं के बदले यह इस बात पर अधिक अवलम्बित है कि संवाद की तुलनात्मक महत्ता और बल की आवश्यकता किस स्थान पर अधिक है। कभी-कभी बड़े अभिनेता रंगमंच के बीच में खड़े होकर उन अभिनेताओं को एक ओर ढकेल देते हैं जिन्हें बहुत महत्त्वपूर्ण संवाद करना होता है। इसका यह तात्पर्य नहीं है कि नाटक की प्रत्येक विशिष्ट घटना रंगमंच के केन्द्र से ही शासित हो, किन्तु रंगमंच पर केन्द्र का महत्त्व इसलिए अधिक है कि वह दर्शक-कक्ष के प्रत्येक कोने से स्पष्ट दिखाई देता है। अपना पाठ प्रारम्भ करने से पूर्व अभिनेता को यह भी जान लेना चाहिए कि रंगमंच पर कौन सी वस्तु कहाँ रखी हुई है और कहाँ रखी होनी चाहिए, क्योंकि एक साधारण कुर्सी भी इधर से उधर उठाकर रख देने से दूसरे साथी अभिनेता का सारा अभिनय-कौशल चौपट किया जा सकता है।

अभिनेता की धीरता

नाटक के समय अभिनेता के सम्मुख बहुत सी ऐसी कठिनाइयाँ उत्पन्न हो जाती हैं कि वह थर्रा उठता है, उसका मस्तिष्क असंतुलित हो जाता है और इस आवेश में उसका पाठ भी नष्ट हो जा सकता है। छोटे और अँधेरे नेपथ्यगृह, रंगमंच और नेपथ्यशाला में अनावश्यक लोगों की भीड़भाड़, रंगमंच पर काम करने वाले सेवकों की अवज्ञा, नाट्य-प्रयोक्ता का दुष्ट स्वभाव, बदनाम रंगशाला, अशिष्ट तथा अयोग्य प्रयोक्ता का संग, दुर्व्यसनी अभिनेताओं का कुसंग, तृतीय श्रेणी के दर्शकों का कोलाहल, अनुचित भूमिका, पक्षपातपूर्ण पत्रकारों और लेखकों का विरोध, अयोग्य अभिनेताओं के प्रति अनुचित पक्षपात तथा अपने सम्बन्धियों या प्रियपात्र अभिनेताओं को अच्छी भूमिका देने की प्रवृत्ति आदि ऐसे विशेष कारण हैं जो उच्च कोटि के धीर अभिनेताओं को भी विचलित कर डालते हैं। ऐसी स्थिति में प्रत्येक अभिनेता को बड़े संयम से अपना मन संतुलित रखना चाहिए। यह संतुलन नाटक की सफलता, कला के पोषण और दर्शकों के प्रति निष्ठा की दृष्टि से अत्यन्त आवश्यक है।

अभिनय का तात्पर्य यह नहीं है कि आप कोई मुखमुद्रा बनायें ही या आंगिक चेष्टा करें ही। मौन और निश्चेष्ट रहकर भी अभिनय हो सकता है। किन्तु सब परि-

स्थितियों में किसी प्रकार की भी चेष्टा को अतिरंजित करना (ओवर ऐक्टिंग) तो सब दशाओं में बुरा ही है। भूमिका का निर्वाह ठीक-ठीक होना चाहिए। उसके लिए जितनी आंगिक चेष्टाएँ की जायँ और जितनी भाव-भंगियाँ बनायी जायँ वे सब परमावश्यक होनी चाहिए, न अधिक न कम।

क्या अभिनय सिखाया जा सकता है ?

बहुत से नाट्याचार्यों का विचार है कि अभिनय-कला सीखी और सिखायी जा सकती है। यूरोप में बहुत सी ऐसी संस्थाएँ भी खुली हुई हैं जहाँ अभिनय-कला सशुल्क या निःशुल्क सिखायी जाती है। किन्तु अभिनेता होने के लिए नाट्य-पाठशाला में जाना आवश्यक नहीं है, लाभकारी भले हो। अभिनय-कला तो सहज या परम्परागत होती है। ऐसे सहज अभिनेता नाट्य-विद्यालयों में जाकर और वहाँ अध्ययन करके बहुत सा तद्विषयक नवीन ज्ञान प्राप्त करके अपनी स्वाभाविक कला को अधिक दीप्त और चेतन कर सकते हैं। इन विद्यालयों में वाणी का उचित प्रयोग, शुद्ध रूप से साँस लेने की रीति, चलने की पद्धति, वाक्यों को समय में बाँधने की प्रणाली और प्रेरक द्वारा दिये हुए सुर को ग्रहण करने की शक्ति, एक साथ मिलकर काम करने की भावना, निडरपन, स्वार्थहीनता, निर्द्वन्द्वता, पाठ्य-स्मरण करने की शक्ति, अपना मुँह रँगने और नेपथ्य विधान करने की योग्यता, विशेष प्रकार से खड़े होने, शरीर संतुलित करने, शब्द के अनुसार अभिनय करने तथा भावों के आवेग में स्थिरता लाने की योग्यता उत्पन्न हो जाती है।

इन अभिनय-विद्यालयों में अभिनय की विभिन्न शैलियों का भी ज्ञान हो जाता है कि किस प्रकार हाथ उठाये जायँ, कैसे उन्हें सरलता और स्वाभाविकता के साथ चलाया जाय, कब हाथ को कलाई, कोहनी और कन्धे से चलाया या उठाया जाय, वहाँ कितना अधिक रुका जाय, कहाँ अधिक न रुका जाय और जब अपना काम न हो तब किस प्रकार दूसरे अभिनेताओं के काम में बाधा डालने से बचा जाय। ये सब गुण नाट्य-विद्यालयों में सीखे जा सकते हैं। वहाँ मुख के स्नायुओं को साधने, किसी भूमिका का निर्वाह करने और उसे स्वाभाविक बनाने का रहस्य जाना जा सकता है। वहाँ वाणी के उतार-चढ़ाव की गति का, अनेक भाषाओं का वेग, उनकी गति, लय और नयी-नयी संचरण-शैलियों का ज्ञान प्राप्त करने के साथ यह भी सीखा जा सकता है कि कैसे स्थिर रहा जाय, विश्राम का क्या महत्त्व है, कैसे कलात्मक रूप से व्याकुल और चंचल हुआ जाय। किस प्रकार किसी चरित्र का प्रदर्शन किया जाय और कहाँ किस प्रकार मूर्खता को साकार किया जाय। वहाँ पटा, बनेठी, गदा, फरी चलाना,

नृत्य करना, शारीरिक स्फूर्ति, आचार-व्यवहार, अति नाटकीयता, दुरभ्यास (मैनरिज़्म), कृत्रिमता तथा लघु-स्वरता आदि दोषों का निराकरण किया जा सकता है।

किन्तु अभिनय-विद्यालय में यह नहीं सीखा जा सकता कि अपने भाव को किस प्रकार विश्वस्ततापूर्वक अभिव्यक्त किया जाय, अपने भाव और वाणी में सत्यता, सौन्दर्य, वैयक्तिकता और आकर्षण उत्पन्न किया जाय, अपने भावावेग पर नियंत्रण करके केवल उचित मात्रा में उसका प्रदर्शन किया जाय। नाट्य-विद्यालयों में यह तो सिखाया जा सकता है कि किस प्रकार अभिनेता को बनावटी ढंग से मुस्कराना चाहिए, किस प्रकार हाव-भाव और चोचले दिखाने चाहिए अथवा किस प्रकार एक विशेष मुद्रा में खड़े होने या व्यवहार करने की बनावटी चेष्टा की जाय, किन्तु वहाँ हृदय नहीं उड़ेला जा सकता। किसी प्राचीन युग की वेश-भूषा धारण करके रूप बना लेना और बात है किन्तु उसके लिए मौलिक वातावरण उत्पन्न करने की कल्पना करना सिखाने से नहीं आ सकता। उसके लिए स्वाभाविक प्रतिभा और हृदय अपेक्षित है। गति का महत्त्व वहाँ भले ही सिखा दिया जा सके कि किस प्रकार शब्दों और वाक्यों को ठीक समय पर प्रस्तुत किया जाय, कब कितना रुका जाय, कब न रुका जाय, किन्तु वहाँ चरित्र की प्रदीप्ति नहीं सिखायी जा सकती। यह जन्मजात होती है। स्वाभाविक विदूषक और स्वाभाविक गम्भीर अभिनेता होना सिखाया नहीं जाता, क्योंकि विनोद भी मौलिक और स्वतः समुद्भूत होता है और उदासी भी दुःख की मौलिक अनुभूति से आती है। तात्पर्य यह है कि अभिनेता में जब स्वाभाविक अभिनय-प्रतिभा हो तभी वह शिक्षा से लाभ उठा सकता है। यह शिक्षा भी वास्तविक रंगमंच पर होनी चाहिए, केवल घर बैठे सीखने-सिखाने वाली नहीं।

अभिनय का गुण रक्त में या परम्परागत होता है। नित्यप्रति घर-बाहर वालों को देखते-देखते बचपन से जिनकी अनुकरण-शक्ति सध जाती है उन्हें अलग सिखाने की आवश्यकता नहीं होती। यही बात संगीत और नृत्य के सम्बन्ध में भी है। जिन परिवारों में संगीत और नृत्य की परम्परा रही है उनके यहाँ बालकों की गति नृत्य और संगीत में स्वाभाविक होती है। अतः यह विचार मन से निकाल देना चाहिए कि किसी नाट्य-शिक्षण-संस्था से शिक्षा पा लेने पर ही कोई व्यक्ति अच्छा अभिनेता बन सकता है। 'रॉयल एकेडेमी आफ़ ड्रैमेटिक आर्ट' इंग्लैण्ड की बड़ी प्रसिद्ध नाट्य-शिक्षण-संस्था है किन्तु उसकी सफलता और अस्तित्व पर भी लोगों ने घोर आक्षेप किये हैं और सत्य ही किये हैं क्योंकि कोई भी संस्था केवल बाह्य नाट्याचार ही सिखा सकती है। वह किसी के हृदय में नाट्य की आत्मा को प्रतिष्ठित नहीं कर सकती। फिर भी उस संस्था से रौबर्ट ऐंक्टिग, कु० मेगी अल्बानेसी, कु० एड्रियन

एलन, कु० जौन बैरी, कु० ज्वाय लैण्ड, कु० लौरा कोवी, कोलिन क्लाइ, कु० फेबिया ट्रेल, कु० एडिर डिक्सन, रौबर्ट डगलस, रौबर्ट हैलिस, चार्ल्स लौफ़्टन, कु० एरिस होई, सर सेड्रिक हार्डविक, माइत्स मेल्सन, कु० फ़्लोरा रौब्सन, कु० एथीन सेलर, कु० लोरा स्विनबर्न, कु० वौयला ट्री, कु० बीट्रिस टाम्सन, कु० मार्गरेट वाइन्स, आस्टिन ट्रेबर, वेलेन्टाइन रुक, कु० मार्गरेट स्कौटर, वेलेस डगलर आदि वर्तमान युग के लोकप्रिय अभिनेता इसी संस्था के उत्पन्न हुए हैं। अतः यह कहना ठीक नहीं है कि नाट्य-शिक्षण-संस्थाओं से कोई लाभ नहीं होता।

अभिनय के प्रकार

यद्यपि अभिनय तो उतने ही प्रकार के होते और हो सकते हैं जितने संसार में मनुष्य हुए हैं और आगे होंगे, फिर भी हम अभिनय को कुछ प्रकारों में अवश्य विभाजित कर सकते हैं—

१. अनुकरणात्मक (इमिटेटिव)
२. व्यक्तिपरक (इण्डिविजुअलिस्टिक)
३. भाषणात्मक (रिटोरिकल)
४. तथ्यवादी (रीअलिस्टिक)
५. युगगत (पीरिअड) अर्थात् एक विशेष युग का
६. उदात्तवादी (क्लैसिकल)
७. अभिव्यंजनावादी (एक्सप्रेशनिस्टिक)
८. प्रभाववादी (इम्प्रेशनिस्टिक)
९. कल्पनावादी (फ़ैन्टेस्टिक)
१०. भँड़ैतीपूर्ण (फ़ार्सिकल)
११. प्रहसनात्मक (बर्लेस्क)

इन सब प्रकारों के लिए जिन भिन्न अभिनय-कौशलों का प्रयोग होता है वे रचना-पद्धति, दर्शक और नाटक की प्रकृति पर अधिक अवलम्बित होते हैं।

किसी प्रकार के नाटक में किसी प्रकार का प्रभाव उत्पन्न करने के लिए जैसी आंगिक चेष्टा या भाव-भंगी अधिक उपयुक्त हो वही अभिनेता के लिए करणीय है क्योंकि अभिनय के द्वारा भाव-व्यंजना तो होनी ही चाहिए। यह व्यंजना करने की सूक्ष्म कला बड़े अभ्यास तथा अनुभव से आती है कि किस अवसर पर, किस मनोवेग, भावना, परिस्थिति या विचार को किस प्रकार सरलता से अभिव्यक्त किया जाय।

अध्याय १९

आहार्य अभिनय

वास्तव में आहार्य अभिनय का सम्बन्ध अभिनेता से उतना नहीं है जितना नेपथ्य-व्यवस्थापक या सज्जाकार से है, किन्तु एक प्रकार का आहार्य अभिनय अभिनेता के वश का ही होता है जहाँ अभिनेता रंगमंच पर ही वेश, रूप या आकृति बदलता है। आजकल व्यापक रूप से यह माना जाने लगा है कि प्रत्येक अभिनेता को अपना मुख-राग और अपनी शरीर-सज्जा स्वयं अपने आप करनी चाहिए। इसलिए प्रत्येक अभि-नेता को आहार्य अभिनय का ज्ञान होना ही चाहिए। हमारे यहाँ केवल नाटक के लिए ही नहीं वरन् सामाजिक जीवन के लिए भी नेपथ्य-कर्म या वेश-सज्जा का बड़ा महत्त्व समझा जाता था।

संसार में वेश के द्वारा ही किसी व्यक्ति के देश, शील, कर्म, जीविका, सम्पत्ति, वर्ण, जाति, आश्रम, लिंग (पुरुष या स्त्री) आदि का ज्ञान बिना बताये ही हो जाता है। संस्कृत में वेश, नेपथ्य तथा भूमिका सबका अर्थ एक ही है 'रूप बनाना', जिसके अन्तर्गत सिर से लेकर पैर के नख तक की सजावट, वस्त्र, आभूषण, केश-विन्यास, उपानह्, छत्र, दंड-धारण आदि सबका समावेश होता है।

हमारे यहाँ माना गया है कि निर्मल वस्त्र धारण करने से सौन्दर्य की वृद्धि, यश की प्राप्ति, दरिद्रता का विनाश और प्रसन्नता आती है; सुगन्धित फूलों की माला धारण करने से सौन्दर्य, प्रसन्नता, आयु और बल की वृद्धि तथा दरिद्रता का विनाश होता है। रक्षाभरण अथवा आभूषण धारण करने से मनुष्य पूज्य होता है, उसकी आयु और श्री की वृद्धि होती है, उसका कल्याण होता है, उसकी समस्त आपत्तियाँ दूर होती हैं और प्रसन्नता, सौन्दर्य तथा ओज बढ़ता है। पैरों में जूते पहनने से आँखों की ज्योति बढ़ती है, पैरों में किसी प्रकार की चोट या बाधा नहीं आती, चलने में भी सुख प्राप्त होता है, बल मिलता है, दौड़ने और कूदने में सहायता मिलती है तथा वीर्य पुष्ट होता है। छाता लगाने से धूप और लू नहीं लगती, बल की वृद्धि होती है, शरीर की रक्षा होती है, वायु, आतप तथा वर्षा आदि से रक्षण होता है। दण्ड धारण करने से मनुष्य

गिरने-पड़ने से बचता है, शत्रुओं का विनाश करता है, शरीर की शक्ति बनी रहती है, आयु बढ़ती है और समस्त भय दूर रहते हैं।

बालक का वेश

बालक प्रायः नंगे रहते हैं किन्तु उन्हें पद और समृद्धि के अनुसार वस्त्र पहनाने चाहिए। उनके सिर पर साधुओं जैसी जटा और धूल से लिपटा हुआ उनका शरीर ही सदा मंगलकारी होता है। पहले बालकों के सिर पर सुन्दर और मोटी शिखा रखी जाती थी। साथ ही सिर पर काकपक्ष (कौवाचोटी) रखने की भी प्रथा थी। भूत-बाधा इत्यादि से बचने और सुन्दरता के लिए उनके गले में बाघ के नख भी बाँध दिये जाते थे। बहुत से लोग अपने बच्चों के गले, हाथ और पैरों में सोने-चाँदी के आभूषण भी पहना देते हैं।

ब्रह्मचारी का वेश—केश

अंगिरा का मत है कि ब्रह्मचारी को पाँच चोटियाँ रखनी चाहिए। भृगुजी मानते हैं कि ब्रह्मचारी का सिर मुंडा रहना चाहिए। कुछ महर्षियों का मत है कि ब्रह्मचारी को एक चोटी रखनी चाहिए। किन्तु इस विषय में प्रायः छूट है कि ब्रह्मचारी चाहे सिर मुंडित रहे या बाल बढ़ाकर रहे या चोटी बढ़ाकर रहे।

दंड (डंडा)

मनुस्मृति (२, ४, ५) में लिखा है कि ब्राह्मण को बिल्व या पलाश का, क्षत्रिय को बरगद या खैर का और वैश्य ब्रह्मचारी को पाकर या गूलर का दंड धारण करना चाहिए। इनमें से ब्राह्मण ब्रह्मचारी का दंड उसकी चोटी की फुनगी तक लम्बा, क्षत्रिय का माथे तक और वैश्य का नाक तक लम्बा होना चाहिए। ब्रह्मचारी का दण्ड सीधा, बिना कटा-पिटा, सुन्दर छाल वाला, बिना जला या तपा हुआ होना चाहिए। कुछ ऋषियों ने ब्राह्मण ब्रह्मचारी के लिए पलाश का, क्षत्रिय के लिए बड़ का और वैश्य के लिए गूलर के दंड का विधान किया है। कहीं-कहीं ब्राह्मण के लिए पलाश, क्षत्रिय के लिए बिल्व और वैश्य के लिए पीपल के दंड का विधान है। यह निर्देश नाटककार के लिए उपयोगी हो सकता है, नेपथ्य-विधान के लिए इसका कोई प्रयोजन नहीं है।

वस्त्र

मनुस्मृति में लिखा है कि ब्राह्मण ब्रह्मचारी को काले मृग की, क्षत्रिय को श्वेत

या बुंदकी वाले मृग की और वैश्य को बकरे की खाल ओढ़नी चाहिए, अथवा ब्राह्मण को सन का, क्षत्रिय को रेशम का और वैश्य को बकरे के बालों का वस्त्र पहनना चाहिए। ब्राह्मण को गेरुए रंग में रँगा हुआ, क्षत्रिय को मँजीठ के रंग में रँगा हुआ लाल और वैश्य ब्रह्मचारी को हल्दी के रंग में रँगा हुआ पीला वस्त्र पहनना चाहिए।

मेखला

आपस्तम्ब-धर्मसूत्र में लिखा है कि यदि सम्भव हो तो ब्राह्मण ब्रह्मचारी को तीन ऐंठनवाली मूँज की मेखला, क्षत्रिय को मूँज या काँस मिली हुई मेखला और वैश्य को भेड़ के बालों की मेखला पहननी चाहिए या सीरा या भूप्लोदक वृक्ष की छाल से बनी हुई मेखला पहननी चाहिए। गोभिल गृह्यसूत्र में लिखा है कि ब्राह्मण को मूँज की, क्षत्रिय को काँस की और वैश्य को सन की मेखला पहननी चाहिए। मनुस्मृति में लिखा है कि ब्राह्मण को चिकनी तीन सूत वाली और बराबर मोटी मूँज की मेखला, क्षत्रिय को धनुष की डोरी के समान मोटी और वैश्य को सन की मेखला पहननी चाहिए। यदि मूँज न मिल सके तो कुश, अश्मन्तक या बल्व की, बिना सूत की एक, तीन या पाँच गाँठों वाली मेखला पहननी चाहिए। लव और कुश को रामायण सुनाने पर ऋषि मुनियों ने वल्कल, कलश, काले मृग का चर्म, यज्ञसूत्र, कौपीन, काषाय वस्त्र, मनोहर चीर, कमण्डलु, मूँज की मेखला, कुठार, जटा-बन्धन (जटा बाँधने की डोरी) तथा जड़ों से बनी हुई रस्सी दी थी।

यज्ञोपवीत

मनुस्मृति में लिखा है कि ब्राह्मण को कपास से बना हुआ तीन डोरों का, क्षत्रिय को सन के डोरों से बना हुआ और वैश्य को भेड़ के बालों से बना हुआ यज्ञोपवीत पहनना चाहिए। हारीतस्मृति में लिखा है कि ब्रह्मचारी को सावधानी से मृगचर्म, काष्ठदण्ड, मेखला और यज्ञोपवीत धारण करके प्रमादहीन होकर सब नियमों का पालन करना चाहिए और छाता, जूता, सुगन्धित वस्तुएँ, माला-फूल तथा अन्य विलास की वस्तुएँ पास नहीं फटकने देनी चाहिए।

स्नातक का वेश

जब ब्रह्मचारी अपना व्रत और अध्ययन समाप्त करता है तब वह समावर्तन करके स्नातक हो जाता है। उस समय उसे मणिकुण्डल, वस्त्रों का जोड़ा, छाता, जूता, छड़ी, फूल की माला, उबटन की वस्तुएँ, अंगराग, लेपन, अंजन, पगड़ी आदि

वस्तुएँ एकत्र करके लानी चाहिए। बौधायनसूत्र में भी लिखा है कि स्नातक को कटि-सूत्र (तगड़ी) तथा उत्तरीय वस्त्र धारण करना चाहिए। कटिसूत्र पहनने का विधान गृहस्थ के लिए ही है। स्नातक को अँगूठे के जितनी मोटी और माथे या मुख तक लम्बी छड़ी और जल से भरा हुआ कमण्डलु रखना चाहिए। उसे दो जनेऊ पहनने चाहिए तथा पगड़ी, चर्मासन, उत्तरीय वस्त्र, जूता, छाता और छोटे आसन आदि का प्रयोग करना चाहिए। उसे पर्व-पर्व पर सिर, मुख तथा अन्य अंगों के बाल तथा उँग-लियों के नख कटवाते रहना चाहिए। आपस्तम्बधर्मसूत्र में लिखा है कि स्नातक को कोई रंगीन वस्त्र न पहनकर स्वच्छ, कलंकहीन तथा ऐसा उज्ज्वल वस्त्र पहनना चाहिए जो न फटा हो, न पुराना हो, न बहुत मोटा हो, न निकृष्ट हो। उसे सदा यथाशक्ति उजले वस्त्र पहनने चाहिए और शौचादि के अवसर को छोड़कर शेष समय सिर खुला रखना चाहिए।

पुरुषों के वेश—गृहस्थ का वेश

कामसूत्र के प्रथम अधिकरण के चतुर्थ अध्याय में नागरिक वृत्त प्रकरण में लिखा है कि प्रत्येक नागरिक गृहस्थ को प्रातःकाल उठकर शौचादि से निवृत्त होकर दातुन करनी चाहिए और फिर शरीर पर थोड़े सुगन्धित पदार्थों का लेप करके, बालों में धूप देकर, गले में माला डालकर, मुँह और ओठों पर शोभाचूर्ण और आल्ता लगाकर दर्पण में अपना मुँह देखना चाहिए। आयुर्वेद में तो स्पष्ट रूप से लिखा है कि जो व्यक्ति प्रातःकाल दर्पण में अपना मुँह देखता है उसका मंगल होता है, उसकी कान्ति बढ़ती है, शरीर में पुष्टि और बल आता है, आयु बढ़ती है तथा पाप और दरिद्रता का नाश होता है। उसी स्मृति में लिखा है कि स्नान नित्य करना चाहिए। प्रतिदिन स्नान करने वाले की देह पवित्र और तेजस्वी होती है। शरीर के सौन्दर्य और उसकी दृढ़ता के लिए एक दिन का अन्तर देकर उबटन लगाना चाहिए, दो दिन का अन्तर देकर अर्थात् चौथे दिन जाँघों और काँखों में फेनक (साबुन) लगाना चाहिए जिससे ये जोड़ के स्थान कोमल बने रहे, नहीं तो रूखे हो जाते हैं। बीच-बीच में तीन दिन का अन्तर देकर बाल तथा नख कटवाते रहना चाहिए, इससे आयु बढ़ती है। नहा-धोकर मुँह में सुगन्धित पदार्थ डालकर और पान खाकर टहलने निकल जाना चाहिए और वहाँ से लौटकर अपने काम में लगना चाहिए। आपस्तम्बधर्मसूत्र में लिखा है कि गृहस्थ को सदा प्रावार (चादर) या उत्तरीय (कन्धे का दुपट्टा) ओढ़े रहना चाहिए।

पहले पुरुष लोग गले में निष्क की मालाएँ (हुमेल) भी पहना करते थे। गृहस्थ

को चाम या मूँज के जूते पहनने चाहिए। प्राचीन समय में मूँज के जूते का बहुत प्रयोग हुआ करता था।

वानप्रस्थ का वेश

वानप्रस्थ लोग वल्कल के वस्त्र धारण करते थे। साधारणतः वानप्रस्थ के लिए दण्ड धारण करने का नियम नहीं है किन्तु निषेध भी नहीं है।

संन्यासी का वेश

संन्यासी अपने केश और नख कटवाकर दण्ड धारण करते थे। उनके पात्र बहुत साधारण परन्तु टूटे-फूटे नहीं होते थे। वे शरीर पर कौपीन और कन्था और पैरों में खड़ाऊँ पहनते थे। पर यह खड़ाऊँ किसी दूसरे के पैर की पहनी हुई नहीं होती थी।

योद्धा का वेश

सभी वीर हाथ में तलवार, कन्धे पर तूणीर, उँगलियों में गोह का चमड़ा पहनते थे। वे छाती की रक्षा के लिए कवच पहनते थे और धनुष धारण करते थे।

स्त्रियों की वेश-भूषा

वेश शब्द का अर्थ ही है बनावटी रूप बनाना या सजावट करना। इस क्रिया के अन्तर्गत अनेक रंग और काट-छाँट के वस्त्र तथा आभूषण पहनना, नये-नये ढंग से बाल सँवारना, आँखों में अंजन और शरीर पर अंगराग लगाना, ओठ, गाल, माथा, हाथ, नख तथा पैर रँगना तथा अंगों और स्तनों पर चित्रकारी करना आदि सब क्रियाएँ आ जाती हैं।

अफ़्रीका के एक प्रदेश की सब स्त्रियाँ नित्य प्रति नये-नये ढंग से अपने बाल सँवारती हैं। प्राचीन भारत में तो स्त्रियों के केश-विन्यास के अनेक रूपों के प्रत्यक्ष उदाहरण चित्रों और मूर्तियों में मिलते हैं।

भारतीय शास्त्रों में विधान है कि स्त्रियों को ऐसा अधोवस्त्र और उत्तरीय धारण करना चाहिए जो कहीं से कटा-फटा न हो, जो देवताओं और पितरों के कार्यों में ग्राह्य हो, एक बार का धोया हुआ हो, स्वच्छ हो, नया हो तथा शरीर पर ठीक-ठीक बैठ सके। जिस सौभाग्यवती स्त्री का पति साथ हो उसे लाल वस्त्र पहनने चाहिए, कुमारी को केवल श्वेत ही अधोवस्त्र और उत्तरीय पहनना चाहिए। कुलवधू को इस प्रकार

वस्त्र पहनना चाहिए कि उसका पल्ला पीछे और आगे के सब अंगों को ऐसा ढँक ले कि उदर, नाभि, स्तन और पीठ दिखलाई न दें और वह इस प्रकार बँधा हुआ हो कि स्तन
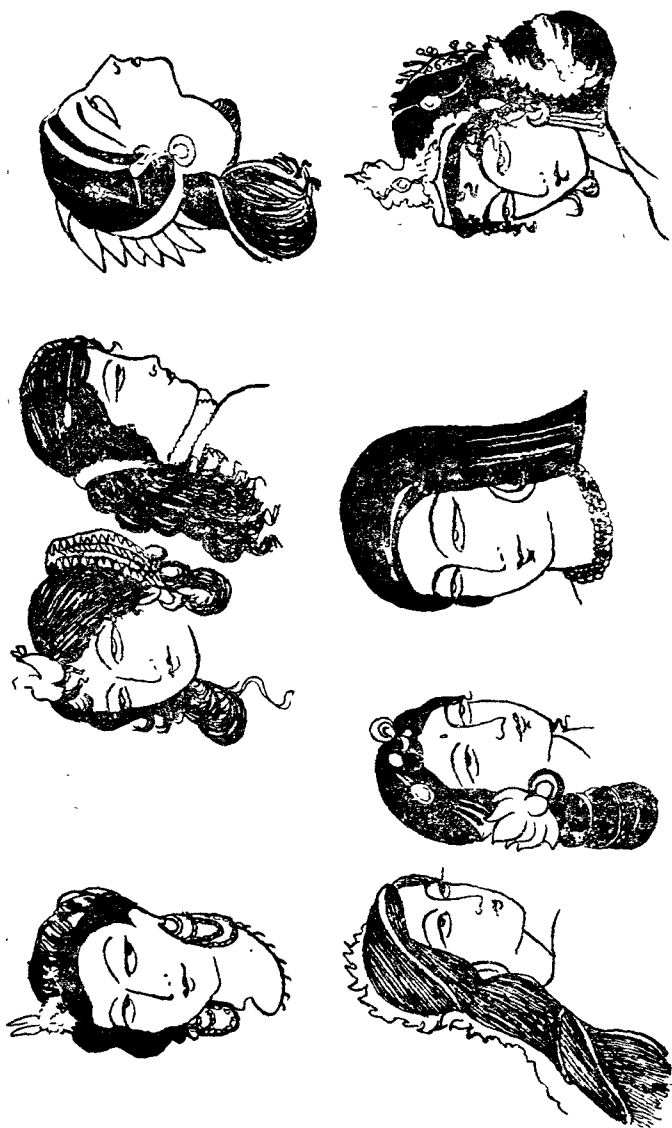
चित्र ९६—वेणी की सजावट

पर से हट न पाये। कुलवधू का अधोवस्त्र पैरों की गुल्फ-संधि (घुट्टी) तक लटका रहे और शरीर के चारों ओर लिपटकर कमर से पैरों की घुट्टी तक के भाग को उसी प्रकार ढके रखे जैसे केरल की स्त्रियाँ कमर में साड़ी का घेरा देकर उसे नाभि के नीचे चुनकर उसकी नीवी (नाड़ा) बना लेती हैं। कुलीन स्त्रियों को तो इसी प्रकार पैरों तक लटका हुआ वस्त्र धारण करना चाहिए किन्तु कुमारियाँ घुटने तक वस्त्र पहन सकती हैं। प्राचीन समय में भी स्त्रियाँ एक साथ दो या तीन साड़ियाँ पहनती थीं जिनमें भीतर की साड़ी साये या घाघरे (पेटीकोट) के समान होती थी। आर्य स्त्रियों को नीली साड़ी पहनना और नीला वस्त्र पहनकर स्नान, दान, जप, होम, स्वाध्याय और पितृतर्पण करना निषिद्ध था, केवल पति-समागम के समय वे नीली साड़ी का प्रयोग कर सकती थीं। विवाह के समय हंस छाप वाली साड़ी पहनने का चलन भी था। स्त्रियों का यह वेश ऋतु के अनुसार भी होता था, जैसे—वसन्त में वासन्ती साड़ी, वर्षा में लाल, घूमने-फिरने के समय हलके वस्त्र, कम आभूषण, भीनी गंध वाले अंगराग और श्वेत वस्तुएँ प्रयोग में आती थीं। उन दिनों तीसी के तन्तुओं का बना हुआ क्षौमवस्त्र, चोली, घूँघट का पट्ट वस्त्र भी प्रयोग में आता था और वे अंगराग आदि के साथ पैरों में महावर लगाती थीं।

केश-विन्यास

आर्य स्त्रियाँ लम्बे-लम्बे केश धारण करती थीं जो न काटे जाते थे न छाँटे जाते थे। हमारे देश में आज भी केरल की स्त्रियाँ बड़े कलात्मक ढंग से अपने केश गूँथती हैं, जूड़े में सुन्दर रत्न-जटित चूड़ामणि धारण करती हैं और अपने गूँथे हुए केशों से आगे के ललाट को घेरे रखती हैं। अजन्ता, अलोरा तथा अन्य स्थानों की प्राचीन मूर्तियों को देखने से ज्ञात होता है कि केश सँवारने के जितने अद्भुत और विभिन्न प्रकार के कौशल भारतीय नारियों को ज्ञात थे उतने संसार में किसी देश की नारियों को ज्ञात नहीं हैं। धर्मशास्त्र में तो विधान है कि जो स्त्री अपने पति की आयु बढ़ाना चाहती हो उसे अपने केश सँवारने और जूड़ा बाँधने में कभी आलस्य नहीं करना चाहिए।

आभूषण तथा शृङ्गार

ऋग्वेद संहिता में लिखा है कि सौभाग्यवती स्त्रियाँ अर्धचन्द्र के आकार का स्वर्णमय आभूषण सिर पर धारण करती थीं जिससे इन्द्र आदि देवता उनकी सब व्याधियाँ उनके शरीर से हटाकर जहाँ से आयी होती थीं वहाँ पहुँचा देते थे। राजेश्वर के समय

गौड (बंगाल) की स्त्रियाँ अपने वक्ष और स्तनों पर केसर-कस्तूरी मिला हुआ चन्दन लगाती थीं, स्तन तक लटका हुआ कंठसूत्र पहनती थीं। अपने सुन्दर केश गूँथकर वे कमर तक लटका लेती हैं, रंग-बिरंगे फूल और सुगन्धित पदार्थों का सेवन करती हैं, कानों में लटकते हुए कर्णाभरणों से उनके कपोल सुशोभित होते रहते हैं और सुन्दर गढ़ी हुई सोने या चाँदी की सिकड़ी उनके हृदय पर झूलती-लटकती रहती है।

प्राचीन समय की स्त्रियाँ हार, चूड़ामणि, कुण्डल, कटक (भुजबन्ध), अर्धचन्द्र केयूर, नूपुर, ग्रैवेयक (सिकड़ी), अंगुलीयक, नागहार, निष्क और मणियों की माला, लीलापत्र, ताटंक, मेखला आदि आभूषण पहनती थीं तथा रंग-बिरंगे वस्त्र धारण करती थीं। वे वक्ष पर मोतियों का हार, कानों में चन्द्रमा के आकार के बड़े-बड़े दन्त-पत्र, कंठ में माला, सिर पर ओढ़नी, छाती पर कपूर का चूरा, माथे पर चन्दन की बिन्दी, हाथों में सुन्दर छोटे-छोटे कमल, अंग-अंग में कस्तूरी, बाँहों में मधुर चन्द्रिका और रत्न-जड़े कंकण तथा शरीर पर मालती-लताओं के बनाये हुए सर्प की आकृति के आभूषण, कमर में तारों के समान चित्र-विचित्र कान्ति वाली रशना (करधनी) और पैरों में बजने वाले नूपुर पहनती थीं। इसके अतिरिक्त वे समय-समय पर कुन्द और कमल के फूलों से चोटी गूँथती थीं, लोध के पराग से मुँह रँगती थीं, बालों में नये कुरबक के फूल खोंसती थीं, कानों में सिरस के फूल के कुण्डल, कान की लोर से कदम्ब लटकाती थीं और जूड़े में कदम्ब का फूल लगाकर घूमती थीं। कहीं-कहीं पर छोटे-छोटे मणियों से सजे हुए मंगल-सूत्र पहनने का भी चलन था।

अंगराग और अनुलेपन

प्राचीन समय में स्त्रियाँ सौभाग्य और सौन्दर्य बढ़ाने के लिए तगर, कूट और तालीस के पत्ते पीसकर शरीर पर लेप करती थीं या उसमें कपड़े की बत्ती डुबोकर बहेड़े में सधे हुए तेल से मनुष्य की खोपड़ी में काजल पारकर अंजन लगाती थीं, पुनर्नवा, सहदेवी, सारिवा, कुरण्टक और कमल की पंखुड़ियाँ महीन पीसकर तिल के तेल में पकाकर शरीर पर मलती थीं, पत्र, उत्पल और नागकेशर, तगर, तालीस और तमालपत्र पीसकर उबटन लगाती थीं, कपोलों पर चन्दन-बिन्दु, कुंकुम और आलक्तक का प्रयोग करती थीं, बालों में मौलसिरी के फूल गूँथती थीं, गर्मी में शीतल रत्न, ठंढे हार तथा बारीक वस्त्र पहनती थीं।

प्रोषित-पतिका (जिसका पति विदेश गया हो) और विधवा के लिए रंगीन वस्त्र और साज-शृंगार निषिद्ध था। जिस स्त्री का पति परदेश गया होता था उसके लिए नियम था कि वह न खेल-कूद में भाग ले, न शृंगार करे, न सामूहिक उत्सवों में

सम्मिलित हो, न हँसी-ठठ्ठा करे और न दूसरे के घर जाय, वरन् केवल मांगलिक आभूषण और शंख की चूड़ी पहनकर देवताओं की आराधना करे।

चित्र ६७—वेणी की सजावट

विधवा स्त्रियों को सिर पर बाल रखने, उबटन या सुगन्धित तेल का सेवन करने और सिला हुआ तथा रंग-बिरंगा वस्त्र पहनने का निषेध था।

हमारे यहाँ सब प्रकार के बनाव-शृंगार को मण्डन, प्रसाधन, प्रतिकर्म, वेशविधि, आकल्प-रचना, विभ्रम-मण्डन तथा नेपथ्यकर्म कहते थे। ये सजावट के कर्म चार प्रकार के होते थे—१. कचधार्य (वेणी या केश गूँथना), २. देहधार्य (शरीर की शोभा बढ़ाने के लिए सजावट करना), ३. परिधेय (ओढ़ने-पहनने के वस्त्रों से सजावट करना) और ४. विलेपन (अनेक प्रकार के उबटन, तेल, चूर्ण आदि लगाकर शरीर को सुन्दर बनाना)। ये सजावट के कार्य केवल स्त्रियों के लिए ही होते थे।

कचधार्य

कचधार्य या वेणी की सजावट में कोई प्रसाधिका अर्थात् शृंगार करने वाली महिला पहले सिर में प्रायः चम्पक के तेल से तेलसेक करके (तेल डालकर) चम्पी करती थी। फिर दही, बेसन, मुलतानी मिट्टी या आँवले से सिर धोकर सुगंधित जल से स्नान कराती थी, तब अगर की धूप देकर भीगे बाल सुखाये और सुगंधित किये जाते थे। फिर बालों में तेल लगाकर अनेक प्रकार से फूल या मोती गूँथकर भाँति-भाँति के जूड़े बनाये जाते थे।

विवाह के समय सिर पर महुए की माला लपेटकर बीच-बीच में दूब के अंकुर गूँथ दिये जाते थे या दूब के गुच्छे में ही महुए गूँथकर माला बना ली जाती थी। इस जूड़े बनाने को उदारबन्ध कहते थे। प्रायः चम्पक, अशोक, पुन्नाग और सुगन्धित फूल ही बालों में लगाये जाते थे। इन सब क्रियाओं के पश्चात् बालों में कुरल (लहरिया) बनाया जाता था।

देहधार्य

शरीर की सजावट के लिए कानों पर जौ के अंकुर रखना विवाह में मांगलिक माना जाता था। यों साधारणतः केतकी के फूल कानों में खोंसे जाते थे। सामान्यतः कानों में दन्तपत्र, माणिक्यकुड्मल, मणिकुण्डल, विटंक-ताटंक, कर्णपूर, वसंतोत्पल तथा लोहित मणि, माथे पर सोने के पत्तर से बनी हुई हाटक-पट्टिका पहनी जाती थी, जिसके बदले कभी-कभी फूलों से भी कुसुमापीड़ बना लिये जाते थे। कभी-कभी चटुला तिलक-मणिका भी काम में आती थी जिसे ललाट-लासक या सीमन्त-चुम्बी (सिर-बिन्दी) कहते थे। वे माथे पर मालती की माला, कपाल पर धवल-पत्रिका, स्तनों पर प्रालम्ब मालिका (लम्बी माला), रत्नहार तथा पद्मराग-लता, नितम्ब पर सोने

की तगड़ी, उँगलियों में सोने की अँगूठी, हाथों में शंख की चूड़ी और कौतुकसूत्र, पैरों में हंसक (बिछुए) और नूपुर (पायल) पहनती थीं। कभी-कभी हाथ में कमल की नाल का कड़ा भी पहनती थीं।

परिधेय

स्नान से पूर्व स्त्रियाँ स्नान के योग्य वस्त्र पहनती थीं और उसके अनन्तर पत्युद्-गमनीय (पति के पास जाने के योग्य) वस्त्र पहनती थीं।

स्त्रियाँ स्नान करके सुगन्धित और सूक्ष्म विशद वस्त्र पहनती थीं तथा स्तन बाँधने के लिए कूर्पासक, कंचुक, कंचुलिका या गात्रिका ग्रंथि का प्रयोग करती थीं। वे मुख पर नीलपट-जालिका या नीलांशुक-जालिका का भी कभी-कभी प्रयोग करती थीं। इसके अतिरिक्त कुसुंभी रंग की हलकी लालिमा वाले लहँगे का भी प्रयोग नर्तकियाँ करती थीं जो आगे या पीछे गोलाकार और कदली के समान चिकना होता था। चुन्नट देकर रँगे हुए वस्त्र पहनने का भी उस समय प्रचलन था, जैसा राजस्थान में है। कुछ स्त्रियाँ पट्टमय (पट्टीदार) वस्त्रयुग्म भी पहनती थीं और उत्तरीय, अंशुकोष्णीष, पट्टिका आदि अनेक वस्त्रों का प्रयोग करती थीं।

उस समय के छैले भी दो वस्त्रों से अर्थात् अधोवस्त्र और उत्तरीय से शरीर ढके रहते थे, जिनके पल्ले सुनहले होते थे और जो सोने के काम से बुने होते थे। वे छैले अपने कन्धे पर जो वस्त्र डालते थे उनका घेरा चित्रित होता था।

विलेपन

प्राचीन काल में विलेपन का बहुत महत्त्व था। कस्तूरी, कुंकुम और चन्दन का उबटन लगाकर शरीर पर श्वेत अगर लगाया जाता था तथा अधिक गोरा दिखाई देने के लिए गोरोचना का चूर्ण लगाया जाता था। कुंकुम से कपोल, मस्तक आदि अंग चीते जाते थे। शरीर पर कपूर का चूर्ण लगाने का भी प्रचलन था। विभिन्न अंगों पर विभिन्न द्रव्यों के तिलक और विभिन्न प्रकार की मकरिकाएँ बनायी जाती थीं। बन्धूक-तिलक केवल बन्धूक के पराग से ही बनाया जाता था। ललाट में चन्दन की पत्र-रेखा भी बनायी जाती थी। इसी प्रकार कस्तूरी, कपूर, अगर के रस, गोरोचना तथा तमालपत्र से मुख-बिन्दु, विशेषक आदि नामों वाले तिलक बनाये जाते थे। तिलक के समान ही कपोल और स्तनों पर मकर या मछली के रूप में पत्रावली बनायी जाती थी और सीधी तूलिकाओं से बड़ी कला के साथ आँखों में अंजन लगाया जाता था। वे लाक्षा या यावक-राग (महावर) से अपने पैर रँगती थीं और नित्यप्रति नियम से

दर्पण लेकर अपने श्रृंगार की उपयुक्तता का निरीक्षण और परीक्षण भी कर लेती थीं कि जो श्रृंगार किया गया है वह ठीक है या नहीं। इस विवरण से स्पष्ट हो जाता है कि जिस सूक्ष्मता के साथ हमारे यहाँ प्राचीन काल में श्रृंगार किया जाता था उस सूक्ष्मता के साथ आजकल नहीं होता। रंगमंच पर प्राचीन काल के नाटक खेलते समय ऐसी ही वेश-भूषा और श्रृंगार आवश्यक हैं।

भरत ने अपने नाट्यशास्त्र के इक्कीसवें अध्याय में आहार्य अभिनय को स्वयं ही नेपथ्य-विधि कहा है। नाट्यशास्त्र में यह नेपथ्य-कर्म चार प्रकार का बताया गया है—पुस्त, अलंकार, अंगरचना और सज्जीव। पुस्त का विवरण पीछे रंग-सज्जा के प्रकरण में दिया जा चुका है। अलंकार, अंगरचना और सज्जीव से पूर्व मुखराग का विवरण दिया जा रहा है।

देश-समुद्भव मुखराग

भरत ने कहा है कि विभिन्न देशों के अनुसार श्वेत, नील, पीत और रक्त वर्ण के वेश का प्रयोग होता है। ये चारों रंग स्वभावज होते हैं, जिनसे अंगवर्तन या शरीर को रँगना चाहिए। इन्हीं रंगों के संयोग से अन्य अनेक उपवर्ण भी बन जाते हैं। श्वेत और नील के योग से कारण्डव, श्वेत और पीत के संयोग से पाण्डु, श्वेत और रक्त के संयोग से पद्म, पीले और नीले के संयोग से हरा, नीले और लाल के योग से कषाय, लाल और पीले के योग से गौर नाम के उपवर्ण होते हैं। तीन-चार रंगों के संयोग से और भी बहुत से उपवर्ण हो सकते हैं, किन्तु जो वर्ण बलवान् हो उसका उतना ही भाग इस प्रकार मिलाना चाहिए कि दुर्बल रंग के दो भाग और नील का एक भाग तथा अन्य वर्णों के चार भाग हों, क्योंकि सब वर्णों में नील ही बलवान् माना गया है।

अंग-रचना

मुख और शरीर रँगने के समय किस जाति, अवस्था और प्रकृति के पात्र को किस रंग से रँगा जाय इस सम्बन्ध में भरत ने बहुत विस्तार के साथ नाट्यशास्त्र के इक्कीसवें अध्याय में विवरण दिया है। उन्होंने बताया है कि 'देवताओं, यक्षों और अप्सराओं को गौर; रुद्र, अकरुण और स्कन्द का रंग तपनीय; सोम, बृहस्पति, शुक्र, वरुण, तारे, समुद्र, हिमालय, गंगा और बलि का रंग श्वेत; मंगल का रंग लाल; बुध और अग्नि का पीला; नारायण, नर और वासुकि नाग का साँवला; दैत्य, दानव, राक्षस, गुह्यक, नग, पिशाच, जल और आकाश का रंग गहरा नीला या काला बनाना चाहिए। जम्बू द्वीप में भारतवर्ष में रहने वाले अनेक वर्णों का रंग उनके निश्चित कर्म के अनुसार होना

चाहिए। इनमें से उत्तर-पूर्व वालों का रंग कनक के रंग का होता है। भद्राश्व वर्ष के पुरुषों का रंग श्वेत, केतुमाल वालों का नीला और शेष का गौर करना चाहिए।

भारतवर्ष में राजाओं का रंग पद्म-गौर और श्याम करना चाहिए तथा जो सुखी प्राणी हों उनका रंग गौर बनाना चाहिए। कुकर्मी, ग्रहग्रस्त, व्याधित, तपस्वी, शरीर-क्लेश का काम करने वाले और कुजातियों (धीवर, डोम आदि) का रंग काला करना चाहिए। ऋषियों का रंग बेर के समान, किन्तु तपस्वी ऋषियों का सदा काला ही करना चाहिए। इस प्रकार देश, जाति, कर्म के अनुसार रंग बनाना चाहिए।

किरात, बर्बर, आन्ध्र, द्रविड़, काशि, कोसल, पुलिन्द और दाक्षिणात्यों का रंग प्रायः काला; शक, यवन, पह्लव तथा उत्तर में रहने वालों का रंग गोरा, पंचाल, शूरसेन, माहिष, ओड्र, मगध, अंग, वंग और कलिंग वालों का रंग साँवला; ब्राह्मण और क्षत्रियों का गोरा तथा वैश्य और शूद्र का रंग साँवला करना चाहिए। इसी प्रकार यथान्याय, मुख, अंग और उपांगों का अंगवर्तन करना चाहिए।

दिव्य नर-नारियों का केश-विन्यास

केश-विन्यास के सम्बन्ध में भरत ने लिखा है कि दिव्य नर-नारियों को शिखण्डक और बहुत मोतियों से सजा हुआ शिखापुट-शिखण्ड बनाना चाहिए। विद्याधरियों का केश-विन्यास शुद्ध (बिना सजा) होना चाहिए। यक्षिणियों और अप्सराओं का केश रत्नों से विभूषित और केवल एक शिखा-वाला होना चाहिए और नाग-स्त्रियों का भूषण देवियों के समान बनाना चाहिए। उनके फण केवल मुक्ता और मणि-मुक्ता से सुसज्जित होने चाहिए। मुनिकन्याओं को एक ही चोटी होनी चाहिए और उनका केश वनोचित होना चाहिए। इसी लिए उनकी भूषण-विधि नहीं बतायी गयी है। सिद्धों की स्त्रियों का मण्डन मोती और मरकत से युक्त होना चाहिए और उनका वेश पीले वस्त्रों से युक्त होना चाहिए। गन्धर्वियों का आभूषण पद्मराग मणि से युक्त, उनके वस्त्र कुसुम्भी रंग के और उनके हाथ में वीणा होनी चाहिए। राक्षसियों का शृंगार इन्द्रनील मणि से करना चाहिए और काला वस्त्र पहनाना चाहिए। सुर-स्त्रियों के आभूषण वैदूर्य और मुक्ता से बनाने चाहिए और उनके वस्त्र तोते के पंख के समान हरे रंग वाले होने चाहिए। दिव्य नर-नारियों का वेश नीला होना चाहिए और पुष्प-राग मणियों या वैदूर्य से उनके आभूषण बनाने चाहिए।

स्मश्रु-कर्म

देश, काल और अवस्था के अनुसार पात्रों की दाढ़ी भी बनानी चाहिए। ये

दाढ़ियाँ चार प्रकार की होती हैं—शुद्ध, विचित्र, श्याम तथा रोमश। लिंगियों, अमात्य और पुरोहितों की दाढ़ी शुद्ध और श्वेत होनी चाहिए। मध्यस्थ, दीक्षा (यज्ञ आदि कामों) में समाश्रित, सिद्ध और विद्याधर आदि दिव्य पुरुष, राजा, कुमार, राजोपजीवी तथा यौवनोन्माद से पूर्ण शृंगारी पुरुषों की दाढ़ी विचित्र बनानी चाहिए। प्रतिज्ञा पूरी न करने वाले, दुःखी, तपस्वी, आपद्ग्रस्त लोगों की दाढ़ी काली होनी चाहिए। ऋषि, तपस्वी, दीर्घव्रती और चर तथा वृद्ध लोगों की दाढ़ी रोमश करनी चाहिए।

मुकुट

मुकुट तीन प्रकार के होते हैं—पार्श्वगत, मस्तकीय और किरीट। देव, गन्धर्व, यक्ष, पन्नग और राक्षसों का पार्श्वमौर्य मुकुट, उत्तम दिव्य पुरुषों को किरीट, मध्यम वालों को केवल मुकुट और कनिष्ठ को शीर्षमौलि बनाना चाहिए। राजाओं के मस्तक पर मुकुट रखना चाहिए। विद्याधरों, सिद्धों और चारणों को गाँठ वाले केशों का मुकुट पहनाना चाहिए। राक्षस, दानव और दैत्यों की आँखें और बाल पीले होने चाहिए, दाढ़ी होनी चाहिए और मुँह वाले मुकुट होने चाहिए। इनमें जो उत्तम हों उनको भी पार्श्वमौर्य पहनाना चाहिए।

सेनापति, युवराज और महामात्य का मुकुट आधा होना चाहिए। अमात्य, कंचुकी, सेठ और पुरोहित के सिर पर बँधी हुई पगड़ी पट्टियों वाली होनी चाहिए। पिशाच, उन्मत्त, भूत साधक, तपस्वी और प्रतिज्ञा पूरी न कर चुकने वालों का सिर लम्बे केश वाला हो। शाक्य, श्रोत्रिय, निर्ग्रन्थ, परिव्राजक, दीक्षित और यज्ञदीक्षान्वित को सिर मुड़ा रखना चाहिए। शेष लिंगियों का और व्रतस्थित लोगों का सिर मुंडित, कुंचित या लम्ब-केश रखना चाहिए। धूर्तों के तथा रात्रि-उपजीवी शृंगारचित्त पुरुषों के बाल कुंचित रखने चाहिए। बच्चों का सिर तीन चोटी वाला बनाना चाहिए। मुनियों का सिर जटा-मुकुट से बँधा होना चाहिए। चेटों का या तो तीन चोटी वाला हो या मुण्डित हो। विदूषक का सिर गंजा हो या काकपद हो।

सज्जीव

प्राणियों के प्रवेश को सज्जीव कहते हैं। यह चार पैरों, दो पैरों का या बिना पैरों का होता है। उरगों का बिना पैर का, पक्षी और मनुष्यों का दो पैर का और ग्रामीण तथा जंगली पशुओं का चार पैर का होता है।

चित्र १८—प्राचीन शैली की भारतीय पगड़ियां (भरहुत)

अलंकार

माला, आभरण और वस्त्रों से जो सांगोपांग सजावट की जाती है उसे अलंकार या अलंकरण कहते हैं।

चित्र १९—प्राचीन शैली की भारतीय पगड़ियाँ (गंधार शैली)

आभरण

आभरण चार प्रकार के होते हैं—आवेध्य, जो वेधकर पहने जाते हैं जैसे कुंडल या कान (और नाक के) आभूषण। आरोप्य, जो शरीर के किसी अंग में डालकर पहन

लिये जाते हैं जैसे हार या हेमसूत्र। बन्धनीय, जो बाँधे जाते हैं जैसे अंगद या भुजबन्ध आदि। प्रक्षेप्य जो चढ़ाकर पहना दिये जाते हैं जैसे बिछुए, अंगूठी, चूड़ी आदि।

भूषणों का प्रयोग पुरुष और स्त्री के अनुसार तथा देश और जाति के अनुसार किया जाता है। चूड़ामणि और मुकुट तो सिर के भूषण हैं। इनमें से चूड़ामणि सिर के बीच में और मुकुट माथे के ऊपर लगाया जाता है। कुण्डल, मोचक और कील ये कान के आभरण हैं। इनमें से कुण्डल तो कान की लोर में, मोचक कान के बीच में और कील ऊपर छेद करके पहनी जाती है। इस कील को उत्तरकर्णिका भी कहते हैं। मुक्तावली (मोतियों की माला), हर्षक (हुमेल, साम आदि अनेक आकारों में बना हुआ आभूषण) तथा सूत्रक (तोड़ा) कण्ठ का आभूषण है। वेतिक और अंगुलि-मुद्रा (अँगूठी) उँगली के आभूषण हैं। हस्तली और वलय ये बाहुनाल के आभूषण हैं। रुचक और तूलिका (पहुँची) कलाई के आभूषण हैं। केयूर और अंगद ये कूर्पर (भुज-दंड) के आभूषण हैं। त्रिसर (तीन लड़ वाला हार या हार) वक्ष का आभूषण है। लटका हुआ मोतियों का हार और माला ये अंग के आभूषण हैं। तलक और सूत्रक ये कटि के आभूषण हैं। ये सब देवताओं और राजाओं के आभरण बताये गये हैं।

स्त्रियों के आभूषण

शिखापाश, शिखाव्याल, पिण्डीपत्र, चूड़ामणि, मकरिका, मुक्ताजाल, गवाक्षिक और शीर्ष-जालक सिर के आभूषण हैं। कंडक, शिखिपत्र, वेरीकुक्ष, दोरक ये अनेक शिल्प से योजित ललाट के तिलक हैं। फूलों की अनुकृति के भ्रूगुच्छ, परिगुच्छ, कर्णिका, कर्णवलय, पत्र, कर्णिका, कुण्डल, कर्णमुद्रिका, कर्णोत्कीलक, दन्तपत्र और कर्णपूर कान के आभूषण हैं। इनमें से दन्तपत्र तो अनेक रत्नों से जटित होता है। तिलक और पत्रलेखा कपोल के आभूषण हैं। त्रिवणी वक्ष का आभूषण है। नेत्र का अंजन, अधर का रंजन और दाँतों के अनेक प्रकार के राग होते हैं।

मुग्धा सुन्दरियों के दाँत मोती के समान चमकने वाले हों या पद्मपल्लव के समान सुरक्त हों। अधर भी पल्लव के समान अश्मराग से द्योतित हों। मुक्तावली, व्याल-पंक्ति, मंजरी, रत्नमालिका, रत्नावली और सूत्र ये कण्ठ के आभूषण हैं। द्वेसर, त्रिसर, चतुस्सर और शृंखलिका भी कण्ठ के आभूषण हैं। अंगद और वलय बाहुमूल के आभूषण हैं। अनेक शिल्प से युक्त हार वक्ष के आभूषण होते हैं। मणिजालावनद्ध स्तन का आभूषण होता है। खर्जूरक और उच्छितिक ये बाहुनाल के आभूषण हैं। कलापी, कटक, शंकु, हस्तपात्र, पूरक और मुद्रांगुलीयक ये उँगली के आभूषण हैं। मुक्ताजाल से सजा हुआ तलक, मेखला, कांचिका, रशना और कलाप ये श्रोणी के आभूषण हैं।

इनमें से कांची तो एक लड़ की, मेखला आठ लड़ की, रशना सोलह लड़ की और कलाप पच्चीस लड़ का होता है। बत्तीस, चौंसठ या एक सौ आठ लड़ के मोतियों के हार होते हैं जो देवता और राजाओं की स्त्रियों को पहनाये जाते हैं। नूपुर, किंकिणीक, घंटिका, रत्नजालिका, बजने वाले कटक घट्टे के ऊपर पहने जाने वाले आभूषण हैं। दोनों जंघाओं पर पादपत्र, उँगलियों में अंगुलीयक और दोनों पैरों पर अंगुष्ठ-तिलक आभूषित किया जाता है और अनेक प्रकार की चित्रकारी से आलता लगाया जाता है। अशोक के पत्ते के समान रंग वाला आलता स्वाभाविक होता है। यह सिर से लेकर पैर के नख तक के आभूषणों का विवरण बताया गया है। भरत ने यह भी बताया है कि नाट्य के प्रयोग में आभूषण भारी नहीं पहनाने चाहिए, क्योंकि अधिक भारी पहनाने से थकावट होती है, पसीना होता है, मूर्च्छा आती है और हाथ-पैर चलाने में कठिनाई होती है। इसलिए पतली पत्ती के सोने के आभूषण बनवाने चाहिए। रत्नों से जड़े लाख के आभूषण थकावट नहीं उत्पन्न करते।

विभिन्न प्रदेशों की स्त्रियों का शृङ्गार

स्त्रियों के केश-विन्यास के सम्बन्ध में भरत ने कहा है कि अवन्ती की युवतियों का जूड़ा गुँथा हुआ होना चाहिए। गौड़ी स्त्रियों का शिखापाश वेणी अर्थात् जूड़ा बँधा होना चाहिए। आभीर युवतियों का सिर नीले कपड़े से लिपटा हुआ और दो चोटी वाला होना चाहिए। पूर्वोत्तर की स्त्रियों का समुन्नत शिखण्डक होना चाहिए। दक्षिण की स्त्रियों की कुम्भी-बन्धन से संयुक्त आवर्तललाटिक वेणी होनी चाहिए, क्योंकि जिस देश का जो पहनावा और वेश नहीं है उसे पहनाने से वैसे ही शोभा नहीं होगी जैसे पगड़ी को गले में लटका लेने से नहीं होती है और हास्य उत्पन्न होता है।

प्रोषित-पतिका और दुःखमग्न स्त्रियों का वेश मलिन और एक चोटी वाला होना चाहिए। विप्रलम्भ में तीनों का वेश शुभ्र होता है। न तो उन्हें बहुत आभरण पहनाने चाहिए न मृज्यान्वित रखना चाहिए।

मालाएँ

भरत ने पाँच प्रकार की मालाएँ बतायी हैं—१. वेष्टित (चारों ओर डोरे लपेटकर बनायी हुई), २. वितत (चौड़ी गूँथी हुई जो फैली रहे जैसे समाधियों पर चढ़ायी जाती है या सजावट के लिए गोल बनायी जाती है। ३. संघात्य (ठस, गज्झी, मोटी गूँथी हुई), ४. ग्रंथिक (बीच-बीच में गाँठ देकर गूँथी हुई) और ५. प्रलंबित (लम्बी लटकने वाली)। ये भेद गूँथने के प्रकार और लम्बाई के आधार पर होते थे।

आच्छादन की अनेक प्रकारों में प्राप्त होने की सम्भावना के अनुसार यह बहुत रूपों का होता है, किन्तु फिर भी तीन प्रकार का विशेष रूप से होता है—शुद्ध, रक्त और विचित्र।

स्वरूप

वर्ण और वेश से आच्छादित होकर ही पुरुष दूसरे के भाव को ग्रहण करता है। देव, दानव, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, पन्नग ये सब प्राणी कहलाते हैं। अन्य जीव जीवबन्ध कहलाते हैं और पर्वत, नदी, समुद्र और वाहन तथा अनेक शस्त्र भी प्राणी ही कहलाते हैं। शैल, प्रासाद, यंत्र, चर्म, वर्ण, वस्त्र और अनेक प्रकार के शस्त्र ये अप्राणी कहलाते हैं किन्तु आवश्यकता पड़ने पर ये भी शरीरी हो सकते हैं।

वेश

वेश तीन प्रकार का माना गया है–शुद्ध, विचित्र और मलिन। देवाभिगमन, मंगलकार्य, व्रत, तिथि, नक्षत्रयोग, विवाह-कार्य तथा अन्य धर्म के कार्यों में स्त्रियों और पुरुषों का वेश शुद्ध होना चाहिए। देव, दानव, यक्ष, गन्धर्व, सर्प, राक्षस, राजा और कर्कश लोगों का वेश विचित्र (रंग-बिरंगा) होना चाहिए। वृद्ध, ब्राह्मण, सेठ, अमात्य, पुरोहित, वैश्य, कांचुकीय, तपस्वी एवं ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य के स्थानीय जो मनुष्य हों उनका वेश भी शुद्ध करना चाहिए। उन्मत्त, प्रमत्त, पथिक और दुःखपीड़ित लोगों का वेश मलिन करना चाहिए।

शुद्ध, चित्र वेश वालों के ऊपर के वस्त्र शुद्ध, रक्त और विचित्र बनाकर पहनाने चाहिए। मलिन का वेश मलिन बनाना चाहिए। मुनि, निर्ग्रन्थ, शाक्य, यति और पाशुपत का वेश उनके सम्प्रदाय के अनुसार बनाना चाहिए। तपस्वियों के लिए चीर, व कल और चर्म का, परिव्राजक, मुनि और शाक्यों का काषाय, पाशुपतों का रंग-बिरंगा, अन्तःपुर में जाने वाले लोगों का काषाय कांचुकपट्ट होना चाहिए।

राजाओं का वेश अवस्था के अनुसार होता है, जैसे शूरों का सांग्रामिक वेश, जिसमें विचित्र शस्त्र और कवच, तूणीर, धनुष आदि हाथ में होते हैं। इसके अतिरिक्त अन्य सब अवस्थाओं में राजाओं का वेश विचित्र (रंग-बिरंगा) होना चाहिए, किन्तु नक्षत्रों के उत्पात का फल श्रवण करने के लिए एवं मंगल कार्यों में शुद्ध वेश का प्रयोग करना चाहिए।

भरत ने अपने आहार्य अभिनय में मुख-सज्जा, वेश-सज्जा और आभूषण के अतिरिक्त, उपकरण अर्थात् रंगमंच की सामग्री और दृश्यपीठ का भी निर्देश कर दिया है

जिसका विवरण पीछे दिया जा चुका है। आजकल दृश्यपीठ की योजना रंगव्यवस्था के अन्तर्गत आती है और यह रंगव्यवस्थापक का कर्तव्य है कि वह रंगमंच पर दिखाये जाने वाले दृश्यपीठ तथा अन्य उपकरणों का संग्रह करे। शेष वेश-भूषा तथा मुख-सज्जा का कार्य नेपथ्य-व्यवस्थापक करता है। आजकल प्रायः सभी अभिनेता अपनी मुख-सज्जा स्वयं करते हैं। केवल वेश-विन्यास करने के लिए एक परिधानक (सिंगारी) होता है जो वस्त्र पहनाता है। भरत ने मुखराग, वेश-विन्यास और रंग-व्यवस्था
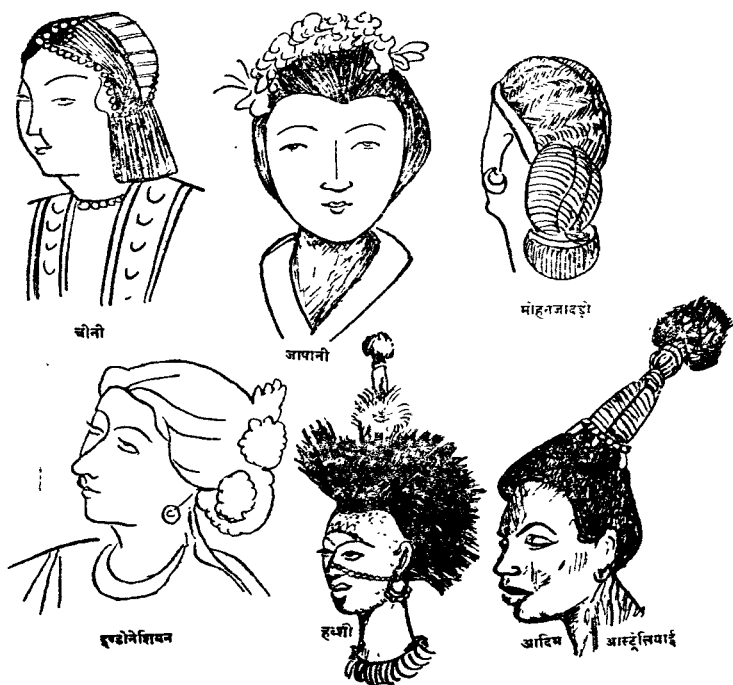
चित्र २०—विभिन्न देशों की शिरोभूषा

तीनों को आहार्य अभिनय में डाल दिया है, किन्तु ये तीन अलग-अलग विधान हैं जिन पर अलग-अलग विचार करना आवश्यक है।

प्राचीन समय के मुखराग और देहरूपण

भरत ने अपने नाट्यशास्त्र में मुखराग का जो वर्णन दिया है उस नाटकीय मुखराग के अतिरिक्त यों भी साधारणत: लोग मुखराग का प्रयोग करते थे और करते ही हैं। आदिम जातियों में प्राचीन काल से ही नृत्य आदि के अवसर पर मुखराग करने की विधियाँ प्राप्त होती हैं। जिन पैतागोनियों में अपने शरीर को हिलाना और एक स्वर से मंत्र बड़बड़ाना मात्र ही एकमात्र नाट्य-चेष्टा रही वे भी इस नृत्य के अवसर पर अपना मुँह खड़िया से रँग लेते हैं। आस्ट्रेलिया के आदिवासी अपनी धार्मिक क्रियाओं के समय माला, फूल तथा चिड़ियों के पंख पहनने और खोंसने के अतिरिक्त श्वेत मिट्टी से अपना शरीर और मुख रँग लेते हैं। एलुटिया के रेड इण्डियन अपने रहस्यपूर्ण धर्म-कार्यों के समय राक्षसों तथा समुद्री जीवों की आकृतियों के रँगे हुए लकड़ी के मुखौटे पहनते हैं। दक्षिण समुद्र के द्वीपों के निवासी अपने सिर पर शिरस्त्राण जैसा टोप लगा लेते हैं जिसमें लकड़ी, नरकट, कछुए और मनुष्य की खोपड़ी के बने हुए मुखौटे पर बाल के बदले घास-फूस लगा होता है। इन द्वीप वालों में से अरेई-ओई जैसे लोग मुखौटे के बदले अपना मुंह लाल रंग से और शरीर काले रँग से रंग लेते हैं। उत्तरी अमेरिका के रेड इण्डियन लोग अपने धार्मिक अवसरों पर शरीर और मुख को विभिन्न रंगों से रँगकर अपना पूरा शरीर और सिर रीछ, भेड़िये या चीते की खाल से नीचे से ऊपर तक ढके रखते हैं। चीनी और श्यामी रंगशालाओं में पुराने रूढिगत मुखौटों का प्रयोग तो होता ही है साथ ही अत्यन्त विचित्र प्रकार से और बड़ी सजधज के साथ नीले, हरे, हलके पीले, सिन्दूरी रंग से या राक्षसों और आत्माओं के लिए निपट श्वेत रंग से मुँह भी रँगते हैं। प्राची॰ मिस्रियों में यह रीति थी कि राजकीय अभिषेक के अवसरों पर राजा और पुरोहित अपने सिर पर बने हुए केश (विग) लगाते थे। फ़ारस के योद्धा अपनी घुंघराली दाढ़ियों में सन की लटें गूँथकर लगाते थे।

यूनानी वेश-भूषा

यूनानी पुराणों में दिअनुसस या बाखस ही सृष्टि और वारुणी के देवता माने गये हैं। उन्हीं के सम्मान में प्रति वर्ष यूनानी लोग बहुत से उत्सव मनाया करते थे। उन अवसरों पर बहुत से गीतों और नृत्यों का आयोजन होता था। उनकी शोभायात्रा में देवताओं को लम्बे बाल और दाढ़ी लगाकर माथे पर दो छोटे-छोटे सींग लगाते थे और साथ में डगमगाते पग से चलने वाली मदिरा के देवता बाखस की पुरोहितानी या पुजारिनियाँ (बकन्तियाँ) शहतूत के रस या मदिरा के चोए से अपना मुंह रँगकर

चलती थीं। इस यात्रा में चलने वाले जो लोग मृत आत्माओं का अभिनय करते थे वे अपना मुख श्वेत चादर से ढककर शरीर पर श्वेत चादर लपेट लेते थे।

उस समय दिथुरम्ब नामक गीत के समवेत गायन में पचास पुरुषों का दल अभिनय करता था जिसके सदस्य सतुर (बाखस देवता के सेवक) के अनुसार अपना वेश बनाते समय लम्बे नुकीले कान, छोटे-छोटे सींग, मनुष्य का शरीर और बकरे के पैर बनाते थे। इस वेश को पूर्ण करने के लिए वे एक प्रकार का बकरी की खाल का जामा बनाकर उसमें घोड़े की पूँछ बाँधकर कमर में लपेट लेते थे, मुँह पर चपटी नाक, दाढ़ी और लम्बे कानों वाला मुखौटा बाँध लेते थे और एक बनावटी लिंग भी ऊपर से बाँधकर लटका लेते थे जो यूनान के घर-घर में प्रतीकात्मक रूप से मान्य था।

५५० ई० पू० के लगभग थेसपिस ने नाट्य का प्रारम्भ करते समय सतुर की वेश-भूषा पहनाने के बदले केवल मुखौटा भर रहने दिया। धीरे-धीरे पात्र बढ़ते गये, साधारण परीवाप (फर्नीचर) और दृश्य-पीठ (सेटिंग) का प्रयोग होने लगा, जैसे घाटी (वैली), समाधि आदि और आवश्यकतानुसार नगाड़े तथा शंख भी बजाये जाने लगे। फिर तो भूत, प्रेत, पिशाचों का भी नाटकीय प्रवेश होने लगा और सर्वप्रथम अस्कुलस ने ही रंगमंच पर चित्रमय दृश्यों का प्रयोग किया, जो चित्रित जवनिका के रूप में नहीं वरन् किसी दृश्य विशेष का प्रतीक होता था। अस्कुलस के प्रतिद्वन्द्वी सफ़क्लेस (४७१ ई० पू०) और उसके पश्चात् एउरीपिदेस ने उसका अनुगमन किया। इन सब त्रासद नाटककारों के नाटक देखकर लोग रो पड़ते थे और दुखी हो जाते थे, अतः इन्हें हँसाने और गुदगुदाने के लिए प्रहसनों का प्रवेश हुआ। ये त्रासद दिन भर प्रातःकाल से लेकर संध्या तक होते रहते थे, जिनके पश्चात् थोड़ा सा विश्राम लेकर प्रहसन खेल दिया जाता था जिसे देखकर लोग हँसते-कूदते घर जाते थे। प्रहसन का सर्वप्रथम आचार्य अरिस्तोफ़निस (४२५-३८८ ई० पू०) था, उसके प्रहसनों की विशेषता यह थी कि वह बहुत स्पष्टता और निर्भीकता से तत्कालीन समस्याओं और दुर्नाम लोगों पर गहरी चोटें करता था जिसके कारण उसे कई बार इनके रोष का शिकार बनना पड़ा।

चौदहवीं शताब्दी में यूरोप में जब चमत्कार नाटकों (मिरेकिल प्ले) का प्रादुर्भाव हुआ तब अभिनेताओं ने और भी अधिक वास्तविकता के साथ जानवरों, राक्षसों, सन्तों और देवदूतों का रूप धारण करना प्रारम्भ किया। मुख के अभिरूपण में सबसे अधिक कौशल और मौलिकता का प्रयोग मध्यकालीन नाटक 'धर्मोपदेशकों के कार्य, (दि ऐक्ट्स ऑफ़ दि एपौसिल्स) में हुआ था जिसमें सेन्ट मैथ्यू की आँखें निकालते हुए साइमन मेगज कई बार अपना मुख बदलता था। ईसा के कष्ट और उनकी यातना का चित्रण करने वाले एक प्रारम्भिक अंगरेजी भाव-नाटक (पैशन-प्ले) में ईसा और

उनके शिष्य को तो चमकदार केश लगाये गये थे और सर्प आदि दुष्ट आत्माओं का शरीर हरे रंग में रँगकर उनके सिरों पर बैल या मेढ़ों के बड़े-बड़े सींग लगाये गये थे।

चित्र २१—सुखान्त-दुःखान्त नाटकों के अभिनेता

एक फ़्रांसीसी नैतिक नाटक (मौरेलिटी प्ले) 'बीएँ आविसे एत माल आदि से' में नाटककार ने 'भाग्य' के लिए दुहरा मुखौटा लगाने का निर्देश किया है—एक मुसकराता हुआ और दूसरा भयंकर। न्यूयार्क के वर्तमान न्यू-थिएटर ने एक लौकिक नाटक (सिक्युलर प्ले) 'नोवा की बाढ़' (नोवाज़ फ़्लड) में देवता का मुख चमकदार बनाया था। हेनरी चतुर्थ के राज्य में पेरिस में प्रसिद्ध लोकप्रिय हास्य अभिनेता गोगिलोम अपने मुँह में आटे की बड़ी मोटी तह भर लेता था जिससे वह प्रहसन के अवसर पर अपने मोटे गाल फुलाकर अपने साथियों की आँखों में आटा उड़ाता चलता था और अपनी ठोड़ी पर दाढ़ी के लिए श्वेत बकरी के बच्चे की खाल का टुकड़ा ही लगा लेता था।

सोलहवीं और सत्रहवीं शताब्दियों में इतालवी रंगशाला की लोकप्रिय नाट्य-शैली 'कमीछिया दलार्ते' के अभिनेता पियरो, हारलेकिन, पांतालुन, स्कारामूश, केपितानो आदि भूमिकाओं के लिए अत्यन्त रूढ़ विचित्र रूप धारण करते थे। वर्तमान सरकसों के विदूषकों का श्वेत मुख उसी पियरो की सीधी परिपाटी का परिणाम है जिसने अठारहवीं शताब्दी में मुखौटा हटाकर अपना मुँह आटे से रँगना प्रारम्भ कर दिया था। इटली के प्रसिद्ध रूढ पात्र पल्चीनेलो और फ़्रांसीसी पोलिशीनेल को अत्यन्त विकलांग वृद्ध बनाते थे जिसके बाल और मूँछें श्वेत होती थीं और आगे को झुकी हुई बहुत बड़ी सी लाल नाक होती थी।

एलिज़ाबेथ के समय अँगरेज़ी रंगमंच से मुखौटे का प्रयोग हटा दिया गया और हार्लेक्विन तथा पान्तालुन के मुखौटों पर बनी हुई निश्चित मुखमुद्राओं के बदले अभिनेतागण वास्तविक मनुष्य जैसे स्वाभाविक तथा उचित प्रकार से चित्रित प्रतीत होने लगे थे। आवश्यकतानुसार उनके सिर पर केश या मुह पर दाढ़ी लगा दी जाती थी। वे लोग मुंह पर अत्यन्त साधारण दैनिक प्रयोग के मुख-लेप (कास्मेटिक्स) का प्रयोग करते थे क्योंकि उस समय इतना तीव्र प्रकाश रंगमंच पर नहीं होता था जो छद्म-रूप के दोष उघाड़ दे। प्रसिद्ध नाटककार मोलिए (मौलियर) को इस सम्बन्ध में बड़ी कठिनाई का सामना करना पड़ा। उस समय अभिनेतागण राज-सभाओं में प्रयुक्त होनेवाली लम्बी लटों का ही प्रयोग करते थे। चाहे नाटक रोमन हो, या समकालीन हो या किसी प्रकार का क्यों न हो। उसके लिए दाढ़ी भी वही आवश्यक समझी जाती थी जिसमें तत्कालीन रीति की कुछ चढ़ी और घुमी हुई मूछें भी हों। डेविड गौर के बहुत बाद तक अभिरूपण की इतनी उपयोगिता मानी जाती थी कि प्रत्येक अभिनेता जार्ज तृतीय की राजसभा वाले श्वेत केश लगाकर आता था और रोमियो जूलियट नाटक में रोमियो भी तत्कालीन ब्रिटिश सभासद की भाँति रंगमंच पर आता था। तात्पर्य यह है कि वह वेश-भूषा और मुख-सज्जा अत्यन्त भद्दी, अनुचित, अशुद्ध तथा अव्यवस्थित थी, बाल और दाढ़ी भी पटसन या ऐसे ही किसी पदार्थ की बनाी जाती थी जो बड़ी बेढंगी लगती थी। बुड्ढों, खलनायकों और विदूषकों के मुँह की रँगाई तो इतनी कलाहीन होती थी कि 'मर्चेन्ट ऑफ़ वेनिस' नाटक का शाइलौक पूरा विदूषक बना दिया गया था। शाइलौक का अभिनय करनेवाला प्रसिद्ध अभिनेता डौगेट अत्यन्त हास्यास्पद लाल केश और दाढ़ी लगाकर रंगमंच पर आने में गौरव अनुभव करता था। किन्तु मैक्लिन ने यह प्रथा बदली और उसे दुष्ट चित्रित करने के लिए उसको काली दाढ़ी लगायी। तबसे यह परिवर्तन निरन्तर होता चला गया।

मुख-सज्जा पर प्रकाश का प्रभाव

यूरोपीय रंगमंचों पर प्रारम्भ में प्रकाश बहुत धुँधला और प्रभावहीन होता था। पहले तो मोमबत्तियाँ चलीं, फिर धुआँ देने वाले तेल के दिये चले। इन दोनों के धूमिल प्रकाश में मुखराग की त्रुटियाँ अनदेखी रह जाती थीं, किन्तु जब चमकदार गैस और कैलसियम का प्रकाश बढ़ा तब से मुखराग की आवश्यकता अधिक बढ़ गयी। मुख-सज्जा की सामग्री भी उस समय प्रारम्भिक अवस्था में थी इसलिए मुख का स्वाभाविक रूप और रंग साधारणतः प्राप्त नहीं होता था। आज की रंगशालाओं में जिस प्रकार तीव्र बिजली का प्रकाश होता है उसमें तो इन पुराने अभिनेताओं का सारा खेल ही मिट्टी हो जाता, जिनके केश भी या तो भेड़, बकरे, याक और घोड़े के बाल अथवा ऐसे ही किसी सामग्री के बने होते थे। झबरे या अस्तव्यस्त बालों के लिए उस समय पटसन का प्रयोग होता था किन्तु धीरे-धीरे इन ऊबड़-खाबड़ सामग्रियों के बदले मानवीय बालों का प्रयोग होने लगा और श्वेत केशों के लिए तो लामा ऊट के बालों का भी प्रयोग होने लगा।

केश

वृद्ध पुरुषों की गंजी या अधगंजी खोपड़ियों के लिए हलके रोगन या कोमल मृगचर्म की खोपड़ी बनायी जाती थी और उसे सूखी खड़िया, पेवड़ी (पीली मिट्टी) और सिन्दूर मिलाकर शरीर के रंग-जैसा बनाकर ऊपर पोत दिया जाता था। आज तो विग बनाने वाले कारीगर लकड़ी के सिरों पर कपड़ा बैठाकर विग बनाते हैं और वास्तविक सिर के अनुसार उसे बना लेते हैं। पहले मोम और पेपियर मैशी का प्रयोग होता था किन्तु अब तो स्वाभाविक त्वचा के रंग के लिए सेलोलाइड का प्रयोग होने लगा, जिसमें मछली पकड़ने के काँटे (हुक) के समान बनी हुई सुई से वे खण्ड-खण्ड करके जोड़ दिये जाते हैं। जवान पात्रों के लिए आजकल कोमल रेशमी जाली (गौज) या लचक कपड़े (बोल्टिंग क्लौथ) की लचीली टोपी पर केश (विग) बनाये जाते हैं जिनकी सीने की क्रिया उसी प्रकार होती है। तत्काल वेश-परिवर्तन करने के लिए सिर, माथा, भौंह, नाक और मूँछ सहित एक टोपी मिलने लगी है किन्तु इसमें दोष यही होता है कि मुख-मुद्राएँ सब लुप्त हो जाती हैं और यह 'कमीदिया दलार्ते' के मुखौटे जैसी प्रतीत होती है। मुखराग के सम्बन्ध में और भी बहुत से प्रयोग हुए हैं, जैसे ग्रेनविल बार्कर ने 'मिड समर नाइट्स ड्रीम' नाटक खेलने के लिए सब परियों के मुखौटे और केश (विग) चमकदार सोने के बना दिये थे।

दाढ़ी

तार पर बनी हुई और कानों पर लटकाई जाने वाली दाढ़ियों तथा नथनों में दबा-कर कस दी जाने वाली मूँछों के बदले स्वाभाविक दिखाई देने वाली जाली (गौज)पर सिली हुई टुकड़ियाँ (एपेण्डजिल) मिलने लगी हैं जो गोंद (स्पिरिट गम) से मुँह पर चिपका दी जाती हैं। यह गोंद (स्पिरिट गम) रेजिन, नाइट्रिक और अलकोहल से बनाया जाता है। मूँछ-दाढ़ी के लिए एक प्रकार के वनस्पति-तन्तु के गुंथे बाल (क्रेप-हेयर) सबसे अच्छे पदार्थ होते हैं जिन्हें लम्बी रस्सियों के रूप में गूँथ लिया जाता है और प्रयोग के समय आवश्यकतानुसार थोड़ा-थोड़ा काटकर कंघी करके गोंद (स्पिरिट गम) से मुँह पर चिपका दिया जाता है। इसके लिए पहले भेड़ के ऊन का प्रयोग होता था।

मुखरंजन

सन् १८९० के लगभग प्रसिद्ध जर्मन अभिनेता लोएखनेर ने मुखरंजन के लिए चिकने रंग (ग्रीज़ पेण्ट) का प्रचलन किया। यह ग्रीज़ पेण्ट तेल, सुपरमेसेटी और बौक्स मिलाकर बनाया जाता है और श्वेत से लेकर काले तक जितने भी रंग हैं उन सबमें मनुष्य के रंग के अनुसार लाल, पीला, श्वेत आदि बना लिया जाता है। दबे हुए गोंद में रंग मिलाकर भीगे ब्रश से बाल रँगे जाते हैं। मुखचूर्ण (पेस्ट पाउडर) तो लेक रंगों से रँगा हुआ टाल्क होता है। भौंह आदि रँगने के लिए विस्टल ब्लैक, जली हुई डाट (कौर्क) और ग्रीसलीन मिलाकर रंग बनाया जाता है किन्तु बादामी ग्रीज़ से अब वह सुलभ हो गया है। श्वेत मुँह रँगने के लिए अब जिंक औक्साइड का प्रयोग किया जाने लगा है। पहले श्वेत शीशे (ह्वाइट लेड) का प्रयोग किया जाता था किन्तु वह इतना घातक होता था कि उसके प्रयोग से अमरीका के प्रसिद्ध विदूषक जौर्ज एलफ़ाक की मृत्यु ही हो गयी। बाल श्वेत करने के लिए चावक लेस्टाई का प्रयोग होता है। साधारणतः रंगमंच और चलचित्र दोनों के मुखराग में कोई अन्तर नहीं है किन्तु चलचित्र में अधिक सूक्ष्मता की आवश्यकता होती है और केमरा जो रंग ठीक पकड़ नहीं पाता उसका ध्यान रखा जाता है। बहुत से अभिनेता और अभिनेत्रियाँ जैसे इतालवी अभिनेत्री पीलियानोर तथा नोरादूस तो कोई भी मुखराग लगाने के पक्ष में नहीं हैं, क्योंकि वर्तमान प्रकाश इतना तीव्र हो गया है कि स्वाभाविक रंग की अपेक्षा लगा हुआ रंग तत्काल प्रकट हो जाता है। बिना छिपाये हुए व्यक्तित्व में जो आकर्षण होता है वह सफ़ेदा पोते हुए चेहरे, लाल किये हुए गाल, बहुत भँड़ेहर बने हुए मुंह और मोटी-मोटी रेखाओं से युक्त पलकों

वाले मुख में कभी नहीं होता। वह मुख को सुन्दर बनाने के बदले विकृत कर देता है।

रामलीला-रासलीला में मुखरंजन

हमारे यहाँ रामलीला और रासलीलाओं में राम, लक्ष्मण, सीता, भरत, शत्रुघ्न, कृष्ण, राधिका आदि पात्रों को साधारण रूप से पीला रंग लगाने के साथ, लाल चन्दन, हल्दी या केशर की बुँदकियों अथवा सलमे की अम्बी कटोरियों (टिमकियों) के नीचे मोम लगाकर चिपकाते चले जाते हैं। इसमें पर्याप्त समय लगता है और सिंगारी अभिनेता को चित लिटाकर चीतता और रँगता चलता है। दक्षिण भारत के कथकली नृत्य में इससे भी अधिक समय लगता है, क्योंकि वहाँ एक विशेष प्रकार के उबले हुए चावल से ठोड़ी और मुख का शृंगार करते हैं।

कथकली में मुखरंजन

कथकली में मुख्य चार पात्र-प्रकृतियाँ होती हैं—

(१) पच्चा—सत्त्वगुण प्रधान पात्र।

(२) कत्ति—तमोगुण प्रधान पात्र।

(३) वेल्लत्ताटी—(श्वेत दाढ़ी) ऋषि, मुनि आदि।

(४) चुवप्पुताटी—(लाल दाढ़ी) रौद्र रस प्रधान, जैसे कलियुग आदि।

श्वेत दाढ़ी (वेल्लत्ताटी) तथा स्त्रियों के रंग (मिनुक्कु) को छोड़कर अन्य सभी पात्रों के मुख पर हरा रंग लगाया जाता है। मुख के निचले भाग पर दाढ़ी के आकार की एक विशेष श्वेत सज्जा चावल के आटे से की जाती है जिसे चुट्टी कहते हैं। वे ओठों पर लाल रंग और भौंहों-आँखों पर काजल लगाते हैं। तमोगुण प्रधान पात्र (कत्ति) के मुख पर आँखों के नीचे, नाक के दोनों ओर और भौंहों के ऊपर ललाट पर कुछ और रेखाएँ भी बनायी जाती हैं और नाक के अग्रभाग पर एक गोली भी लगा दी जाती है। स्त्रियों और वेल्लत्ताटी (सफ़ेद दाढ़ी) वालों के मुख पर हलका रंग मिला हुआ पीला रंग चढ़ाया जाता है जिसे मिनुक्कु कहते हैं। मुनियों को रोएँ से बनी दाढ़ी भी लगायी जाती है। यह सब शृंगार-कार्य सिंगारी (चुट्टिकुत्तु-कारन) करता है। कहीं-कहीं अनेक सिंगारी (चुट्टिकुत्तुकार) भी इस काम में लगा दिये जाते हैं।

अध्याय २०

मुख-सज्जा और देहरूपण की वर्तमान व्यवस्था

नाटक के 'रूपक' नाम का ही अर्थ है रूप धारण करना या रूप बनाना, अर्थात् नाटक में आये हुए पात्रों की प्रकृति के अनुसार उनके युग के अनुकूल रूप, आकार, वेश-भूषा और अलंकार धारण करके दर्शकों को यह विश्वास दिला देना कि यह अमुक अभिनेता नहीं, वरन् राम या दुष्यन्त ही है। इस अभिरूपण क्रिया के दो अंग हैं— एक है मुखराग, दूसरा है वेश-भूषा।

मुखराग और देहरूपण के अन्तर्गत मुख का रंग, भौंहें, नाक, ओठ, मूँछें, गलमुच्छे, दाढ़ी, केश, टीका और तिलक आदि सबका समावेश होता है और देहरूपण में भूमिका के अनुरूप देह की आकृति बनाने की क्रिया आती है। जैसे रीछ या वानर की आकृति, कुब्ज (कुबड़ा), लँगड़ा, एक हाथ वाला, अथवा अन्य प्रकार का विकलांग देहरूप बनाया जाता है।

मुखराग का अर्थ यह कभी नहीं समझना चाहिए कि मुख रँगा हुआ दिखाई पड़े। प्राय: अनाड़ी अभिनेता और अनाड़ी नेपथ्य-विधायक मुख श्वेत करने को ही मुखराग का परम कौशल समझते हैं। अभिनेताओं की साधारणतः यह प्रवृत्ति रहती है कि हम जीवन में जैसे हैं उससे अधिक गोरे और सुन्दर दिखाई पड़ें। गोराई लाने के फेर में वे धुआँधार सफ़ेदा पोत लेते हैं और भूत जैसे दिखाई पड़ने लगते हैं। अधिक सफ़ेदा पोतने का परिणाम यह होता है कि बिजली या हण्डे के तीव्र प्रकाश में इनका मुख गुड्डों जैसा सपाट दिखाई पड़ने लगता है जिसमें मुखमुद्रा पूर्णतः छिप जाती है। मुख-राग का वास्तविक उद्देश्य यह है कि आँखें स्पष्ट दिखाई दें और मुख की आकृति भूमिका के अनुकूल हो।

इस सम्बन्ध में दो बातें ध्यान में रखनी चाहिए। यदि रंगशाला का आकार-प्रकार बहुत बड़ा हो और प्रकाश बहुत तीव्र हो तब मुखराग में अधिक गहरा रंग नहीं देना चाहिए और यदि प्रकाश कम तथा दर्शक-भवन छोटा हो तब गहरे रंगों का प्रयोग किया जा सकता है। दूसरी समस्या यह है कि पीछे बैठने वाले दर्शकों पर निर्दिष्ट प्रभाव डालने के लिए कौन सा उपाय किया जाय कि आगे वाली पंक्तियों में बैठने

वालों को यह ध्यान भी न हो कि अभिनेता ने मुख की रँगाई अधिक की है। इसलिए मध्यम मार्ग ही सर्वश्रेष्ठ है कि रँगाई न तो अधिक गहरी हो न अधिक हलकी, जिससे आगे से पीछे तक समान रूप से मुखराग का प्रभाव बना रह सके।

प्रायः सर्वत्र मुखरागकार या शृंगारी (मेकअप मैन) से मुखराग कराने की प्रथा है, किन्तु यूरोप और अमेरिका में अब अभिनेता स्वयं अपना मुखराग अपने आप करते हैं। वहाँ नेपथ्य-कक्ष में प्रत्येक अभिनेता के लिए अलग-अलग दर्पण तथा मुखराग की सामग्री रखी रहती है जहाँ बैठकर अभिनेता स्वयं अपना मुख-रंजन करते हैं। अच्छा भी यही है कि प्रत्येक अभिनेता स्वयं मुखराग करे।

अधिकांश अभिनेता चिकना रंग (ग्रीज़ पेण्ट) लगाने से पहले अपने मुख या शरीर पर पहले हलकी चिकनाई या वेसलीन लगा लेते हैं और फिर उसे तौलिए से पोंछ डालते हैं। ऐसा करने से चिकना रंग (ग्रीज़ पेण्ट) सरलता से चढ़ जाता है। किन्तु एक बात स्मरण रखनी चाहिए कि यदि पात्र की त्वचा नरम हो और पसीना निकलता हो तो यह प्रारम्भिक चिकनाई लगाना लाभ के बदले हानि करेगा।

आजकल साधारणतः लोग चिकने रंग (ग्रीज़ पेण्ट) का प्रयोग करते हैं। किन्तु चीन में जलरंग का प्रयोग करते हैं क्योंकि जितने प्रकाश का वे प्रयोग करते हैं उसमें वह रंग अधिक खिलता है। भारत में रामलीला वाले मुर्दाशंख, पेवड़ी, सेलखड़ी तथा नील का प्रयोग करते हैं। दक्षिण में विशेष प्रकार की दाढ़ी बनाने के लिए चावल की लेई, मुर्दाशंख तथा भूमिका के अनुसार सूखे रंगों का प्रयोग करते हैं जिसका विवरण कथकली के मुखराग के प्रसंग में ऊपर दिया जा चुका है।

पहले तो सभी देशों में प्रायः सूखे रंगों का ही प्रयोग होता था किन्तु जब से रंग-मंच पर बिजली का प्रयोग प्रारंभ हुआ और प्रकाश तीव्र हो गया तब से नयी सामग्री की खोज होने लगी। ऊपर बताया जा चुका है कि जर्मन अभिनेता लोइखनेल ने अनेक प्रयोग करके एक नये प्रकार का मुखराग आविष्कृत किया जिसका विकसित रूप वर्तमान में सुलभ चिकने रंग की सलाइयाँ (ग्रीज़ पेन्ट स्टिक) सर्वत्र प्राप्त होने लगी हैं। अब भी बहुत से अभिनेता सूखे ही रंग का प्रयोग करते हैं और कुछ ऐसे भी हैं जो सूखे रंग में अण्डे की सफ़ेदी मिलाकर मुँह पर मलते हैं, किन्तु इन सबमें चिकना रंग सबसे अधिक हितकर और सुविधाजनक होता है। इनके बहुत से प्रकार मेक्सफ़ैक्टर्स ट्यूब से लेकर साधारण रंजकों तक प्राप्त हैं जिनका प्रयोग चलचित्र की नेपथ्य-शालाओं में अधिक होता है। ये रंग अधिकांश औषधि-विक्रेताओं के यहाँ प्राप्त हो जाते हैं। यद्यपि बहुत व्ययसाध्य चिकने रंग आवश्यक नहीं हैं किन्तु सस्ती सलाइयों का भी प्रयोग नहीं करना चाहिए, क्योंकि उनमें त्वचा को हानि पहुँचाने वाले तत्त्व होते हैं

और उनके रंग भी स्पष्ट और स्वच्छ नहीं होते। मुख की रँगाई बहुत कुछ अभिनेता के रंग पर अवलम्बित रहती है। जिनका रंग गहरा, साँवला और काला होता है उन्हें लाल या पीले रंग की एक परत चढ़ाकर तब स्वाभाविक त्वचा का रंग चढ़ाना चाहिए। किन्तु जिनका रंग स्वभावतः स्वच्छ, स्वस्थ और गोरा होता है उनका काम सूखे रंग से ही हो सकता है। अधिकांश मुखरंजन कार्य तो अनुभव पर ही अवलम्बित होता है।

रंग का प्रयोग

अपने मुख का रूप अपनी भूमिका के योग्य बनाने के लिए पहले यह निश्चय करना चाहिए कि निम्नांकित सात प्रकार के मुख के रूपों में कौन सा रूप अभिनेता को अभिप्रेत है। अंडाकार (औवल), गोल (राउन्ड), चौकोर (स्क्वायर), लम्बा (औबलौंग), तिकोना (ट्राएंगिल), उलटा तिकौना (इनवर्टेड ट्राएंगिल) और बर्फ़ी या शक्कर पारे के आकार का (डायमण्ड)। इसका यह अर्थ नहीं है कि मुंह चौकोर नहीं है तो भी चौकोर ही बनाने पर बल दिया जाय। सीधे मुखराग में अंडाकार रेखा का शृंगार करना चाहिए। वह पूर्ण होता है। शेष छः प्रकार के मुखरूपों के लिए जो व्यवस्था की जाती है उसे सुधारात्मक मुखराग (करेक्टिव मेकअप) कहते हैं।

सन् १९२५ से पूर्व चलचित्र के लिए गहरे गुलाबी, पीले और नारंगी रंग से मुंह रँगते थे किन्तु वह अब अमान्य हो गया है। आज तो प्रतिबिम्बित प्रकाश के सभी मूल रंग अर्थात् लाल, हरा, नीला, पीला और सफ़ेद सभी का प्रयोग किया जाता है। इस प्रकार के मुखराग को पारिभाषिक शब्दों में वर्ण-रंजित (कलर-फ़िल्टर्ड) कहते हैं। आज स्वाभाविक त्वचा का रंग बनाने के लिए उपर्यंकित पाँचों रंग मिलाकर बनाते हैं। इस मेल का प्रभाव यह होता है कि रंग कुछ बादामी जैसा होता है जो पहले मुख पर आधार रूप में लगा देने से मुख पर दस छायाओं का अर्थात् ११ से २१ के रंग का क्रम प्रस्तुत किया जा सकता है। इनमें से पहली छाया ११ संख्यक सबसे हलकी होती है जो भूरी (टान) या ब्रीज होती है। इस रंग का एक दसवाँ भाग प्रत्येक छाया में अनुपात से २१ संख्या के रंग तक मिला दिया जाता है जिससे काला, बादामी या स्वस्थ संटान रंग बनता जाता है।

रंग का प्रयोग करने के लिए पहले यह निश्चय करना चाहिए कि आधार रंग (ग्राउन्ड कलर) क्या होगा, जैसे १६ संख्या का रंग स्त्रियों के लिए। उसके पश्चात् मुख की गोलाई कम करने के लिए १९ संख्यक रंग कनपटी पर लगाकर नीचे गालों की भरत से लेकर जबड़े की रेखा तक फैलाकर नाक के बीच और कान के बीच तक बढ़ा देना चाहिए और फिर दोनों रंगों को सावधानी से मिला देना चाहिए। इससे

गाल छाया में आ जाते हैं और मुख अंडाकार होने लगता है। इसी प्रक्रिया से चौकोर और तिकोना मुख भी बनाया जा सकता है। लम्बे मुख के लिए प्रक्रिया तो यही रहेगी किन्तु गाल के मूल रंग से दो संख्या कम की छाया का रंग लगाना चाहिए। यही प्रक्रिया उलटे तिकोने के मुख के लिए भी करनी चाहिए। उलटे तिकोने मुख के ऊपरी भाग की चौड़ाई कम करने के लिए एक छाया गहरे रंग का प्रयोग करना चाहिए या माथे पर संख्या १७ के रंग का प्रयोग करना चाहिए। शकरपारे के मुख वाले के लिए दो छाया गहरे रंग का (जैसे संख्या १८ का) प्रयोग गाल की हड्डियों पर करना चाहिए, तब दो छाया हलके का (अर्थात् संख्या १४ का) प्रयोग आधे मुख के नीचे के भाग में दाढ़ी तक और कनपटी के गड्ढों तथा माथे पर करना चाहिए। दो छाया गहरे रंग का प्रयोग करने से छाया उत्पन्न होती है, चौड़ाई और मोटाई कम होती है और प्रकाश उसमें समा जाता है। इसके विपरीत दो छाया हलका रंग लेने से मोटाई और चौड़ाई बढ़ आती है तथा प्रकाश प्रतिबिम्बित होता है। यह स्मरण रखना चाहिए कि रंगमंच पर दूरी के कारण भले ही लोगों में भ्रम उत्पन्न किया जाय किन्तु तीन फुट दूरी से जो कुछ स्वस्थ आँख देख सकती है वह सब कैमरे की पकड़ में आ जाता है, इसलिए कोई रेखा या गाल की अधिक ललाई सब परदे पर स्पष्ट दिखाई पड़ने लगेगी। यही बात अपने नित्य के सायंकालीन मुखराग के लिए भी ध्यान में रखनी चाहिए।

ऊपर जो मुखराग का विवरण किया गया है वह चलचित्र के लिए है। किन्तु रंगमंच के लिए अधिक तीव्र और गहरा मुखराग होना चाहिए, अर्थात् सभी अधिक प्रकाशित स्थल तथा छाया स्थल—आँख, ओठ और कपोलों का रंग अत्यन्त स्पष्ट होना चाहिए।

रंगीन मुखराग (टेक्निकलर मेकअप)

रंगीन चित्रों के लिए जो मुखराग किया जाता है वह संध्याकालीन मुखराग से डेढ़ गुना तीव्र होता है अर्थात् कपोल और ओठ के रंग में, आँख की छाया में मासकारा, काले, नीले और हरे रंग का प्रयोग नहीं होता। टेक्निकलर मुखराग में आधार रंग हलका भूरा दिया जाता है जो छन्ने (फिल्टर) का काम करता हैं और मुख के सब धब्बों और रंगों की रेखाओं को समाप्त कर देता है तथा रंगों की सीमा-रेखाओं को छिपा देता है। वर्ण-रंजित आधार या प्रतिबिम्बित रंग मिला देने से इस भूरे आधार रंग में स्वाभाविक त्वचा का रंग आ जाता है जिसमें कुछ-कुछ हलका पीला रंग होता है। कैमरे से चित्र लेने और परदे पर यह स्वाभाविक त्वचा के रंग के समान प्रतीत होता है।

मुखराग के प्रयोग का क्रम

पहले ठंडे क्रीम से मुँह स्वच्छ करके गरम पानी या हलके साबुन से मुँह धोकर रोम-कूपों से तेल या क्रीम के सब चिह्न हटाकर पूरे मुख पर उँगली के छोरों से आधार-रंग टीपकर पूरे रंग को भली प्रकार हथेली की गदेलियों से मिला दिया जाय, जिससे न तो कहीं अधिक रंग जमा रहे और न रिक्त स्थान रहे क्योंकि ऐसे स्थलों पर पाउडर भी लगता है और चित्र लेने पर बड़ा भद्दा लगता है। गाल के भरे हुए भाग पर भीगे हुए रूज़ का प्रयोग करना चाहिए और उसे भली प्रकार मिला देना चाहिए। इसे भी गहरा रंग नहीं देना चाहिए। आँख की छाया को पाउडर करने से पहले ही बना देना चाहिए। इस छाया को बरौनी की रेखा से प्रारम्भ करके भौंह तक मिला देना चाहिए किन्तु भौंह की रेखा या पलकों के ऊपर से रंग की गहराई कम कर देनी चाहिए। पाउडर लगाने से पहले अपनी मुख-सज्जा भली प्रकार देख लेनी चाहिए। उँगली के छोरों से माथे की रेखाएँ, आँख के नीचे की रेखाएँ और नाक के चारों ओर मुख के कोनों की रेखाएँ ठीक कर लेनी चाहिए। पहले सँभलकर आँख के निचले पलक और आँख के चारों ओर पाउडर कर लेना चाहिए। तब सामान्य रूप से गहरे स्थानों पर पाउडर लगा देना चाहिए। गाल के गड्ढे में, गहरी ठोड़ी में या पतले गले में पाउडर नहीं रगड़ना चाहिए वरन् रुई की गद्दी से लगाना और ब्रश से अधिक पाउडर हटा देना चाहिए। विशेषतः बरौनियों, भौंहों और बाल की रेखाओं से तो हटा ही देना चाहिए। इसके पश्चात् भौंह-तूलिका (आइब्राउ स्टिक) से छोटी कोमल रेखाएँ सावधानी के साथ इस प्रकार बनानी चाहिए मानो एक-एक बाल रँग रहे हों। फैली और छितरायी हुई भौहों पर मूँछ का पोमेड लगाकर कंघे से बहा देना चाहिए। मासकारा का प्रयोग करते समय पलकों का चलना रोकने के लिए आँखें बन्द करके पलकों पर पहली दो उँगलियाँ रख लो और उन्हें ऊपर को चलाओ और यह भी प्रयत्न करो कि आँख बन्द रहे। इससे बरौनी पर मासकारा का प्रयोग स्वतंत्रता से हो सकेगा। इसी प्रकार नीचे की बरौनियों पर भी मासकारा लगाया जा सकता है जिसमें गाल पर उँगलियाँ रखकर उन्हें नीचे की ओर खींचा जाय और आँखें खुली रखी जायँ। गीले रूज़ का प्रभाव कम या तीव्र करने के लिए सूखे रूज़ का प्रयोग करना चाहिए। इस बात का भी ध्यान रहे कि मुख के दोनों ओर जो कोमल बाल उगे रहते हैं उन्हें भी रँगना नहीं भूलना चाहिए। सूखा रूज़ लगाने के पश्चात् भी पाउडर कर लेना चाहिए। सूखे रूज़ का प्रयोग बेबी ब्रश से करना चाहिए। लिपस्टिक या ओष्ठराग लगाने के लिए पहले उसका स्वरूप निश्चित कर लेना चाहिए और फिर चौथाई इंच चौड़ा

चपटा ऊँट के बाल का पेंटब्रश काम में लाना चाहिए। ओठों पर लगा हुआ अधिक रंग क्लीनिंग टिशू से हटा देना चाहिए।

पुरुषों के लिए सीधा मुखराग

पुरुषों के सीधे मुखराग के लिए उपर्यंकित प्रक्रिया ही काम में लानी चाहिए और देख लेना चाहिए कि गाल और ओठ का रूज़ और मासकारा कम हो जाय। पुरुषों के आधार रंग के लिए १९ से २१ संख्या के रंग तक काम में लाये जा सकते हैं।

आँख और भौंह

ऊँची गोल भौंह बनाने से आँख का आकार छोटा हो जाता है इसलिए साधारणत: जहाँ तक आँख खुलती हो उससे भौंह बहुत ऊपर नहीं बनानी चाहिए। आँख की रेखा स्पष्ट करने के लिए भ्रू-तूलिका (आइब्राउ पेन्सिल) का प्रयोग किया जा सकता है किन्तु उसे सावधानी से छोटे ब्रश से मिला देना चाहिए। छोटी आँखों के लिए आँख के नीचे की रेखा अधिक चौड़ी कर देनी चाहिए और बरौनियों के ऊपर मासकारा का प्रयोग करना चाहिए। गहरी आँखों के लिए कम छाया का प्रयोग करना चाहिए और पुतलियों के गड्ढे में तनिक भी छाया नहीं देनी चाहिए। आँखों के नीचे काली झाईं पड़ गयी हो तो आधार रंग से दो छाया हल्का रंग आधार में देना चाहिए और आँखों के नीचे उभार को दूर करने के लिए मूल रंग से एक छाया गहरा रंग उभार पर देना चाहिए। आँखें चौड़ी करने के लिए आँखों के बाहरी कोनों में कृत्रिम बरौनियाँ जोड़ देनी चाहिए। नाक की ओर दोनों आँखों के कोनों में पेंसिल या रेखा का प्रयोग नहीं करना चाहिए।

ठोड़ी

दुहरी ठोड़ी बनाने के लिए मुख के आधार रंग से दो या तीन छाया गहरे रंग का प्रयोग करना चाहिए। पाउडर लगाने के पश्चात् छाया का प्रभाव बढ़ाने के लिए सूखे रूज़ की गहरी छाया प्रभावशाली होती है। दबी हुई ठोड़ी के लिए मूल रंग से दो छाया हल्के रंग की व्यवस्था करनी चाहिए और पाउडर लगाकर हलके रंग का सूखा रूज़ लगाना चाहिए।

ओठ और मुख

बड़े और चौड़े जबड़े वालों का मुंह चौड़ा कर देना चाहिए क्योंकि छोटा मुंह चौड़े

चेहरे को अधिक स्पष्ट कर देगा। मुंह को छोटा दिखाने के लिए उसे पूरा नहीं खोलना चाहिए। उसका इच्छित आकार ऊँट के बाल के ब्रश से बना देना चाहिए। मुंह के कोने झुके न रहें क्योंकि मुंह, आँख और भौंहों के किनारे पर झुकी हुई रेखाओं से त्रासद का भाव उत्पन्न होता है और ऊपर तिरछी रेखाएँ मस्ती, आनन्द और हर्ष की द्योतक होती हैं।

विशेष पात्र की मुख-सज्जा—दाढ़ी

विशेष पात्र के लिए दाढ़ी लगाते समय पहले मुख पर जहाँ दाढ़ी लगानी हो वहाँ गोंद (स्पिरिट गम) लगा देना चाहिए। फिर उचित लम्बाई के थोड़े-थोड़े क्रेप बालों के खंड लेकर उन्हें अँगूठे और तर्जनी के बीच पकड़कर सीधा करके उनका एक सिरा पड़ी रेखा में काटकर इस कटे हुए भाग को ठोड़ी के नीचे चिपकाकर इच्छित आकार की दाढ़ी को स्वाभाविक रूप में लगाया जाय। सदा हलकी छाया के क्रेप का प्रयोग करके किनारों को मिला दिया जाय। इस प्रक्रिया का प्रयोग भौंह बनाने और सामने की बाल-रेखा बदलने के लिए किया जा सकता है। ऐतिहासिक व्यक्ति का रूप बनाने के लिए उसका चित्र सामने रख लेना चाहिए और फिर उसके अनुसार उसकी मुख-सज्जा करनी चाहिए।

चीनी और मंगोल पुरुषों और स्त्रियों की आँखें

चीनियों और मंगोलों की आँखें बनाने के लिए डेढ़ इंच लम्बी और आधा इंच चौड़ी मछली की खाल लेकर उसके एक सिरे को नोकदार और दूसरे सिरे पर चिपकने वाला एक इंच लंबा फीता दुहराकर आधा इंच लम्बा कर लेना चाहिए और तब फीते और मछली की खाल के बीच एक छेद कर देना चाहिए। एक रबड़ का फीता उस छेद में डालना चाहिए। नोक वाला भाग इसके खिचाव की दूसरी ओर होना चाहिए। मछली की खाल को स्पिरिट गम पर रख देना और उसे सूखने देना चाहिए। रबड़ के फीतों को दोनों आँखों के कोनों से खींचकर कानों के ऊपर से ले जाकर डोरे से बाँध देना चाहिए। चीनी और मंगोली मुख-सज्जा के लिए पलक, गाल की हड्डियाँ, नथने और ऊपरी ओठ ऊँचा कर देना चाहिए।

नाक

नाक का रूप बदलने के लिए पोटीन या रुई के छोटे-छोटे टुकड़े और स्पिरिट गम का प्रयोग करना चाहिए। स्पंज, रबड़ और स्पिरिट गम का भी प्रयोग हो सकता

है। इस सज्जा का आधार ठीक करने के पूर्व लचीले कोलोडिअन की एक तह लगा देनी चाहिए।

हब्शी पात्र

हब्शी मुख बनाने के लिए रबड़ ट्यूबिंग या खोखले ज़ैल नट के किनारे काटकर नथने चौड़े करने के लिए प्रत्येक नथने में सावधानी से लगा देना चाहिए। इनकी मुख-सज्जा का आधार रंग गहरा बादामी करना चाहिए और मुख को सीधे टाल्क से पाउडर करना चाहिए और इस प्रकार ब्रश करना चाहिए कि मुख चमकता दिखाई पड़े। मुख की सज्जा के लिए ओठ के रूज़ में गहरा बादामी आधार रंग लगाना चाहिए।

वृद्धावस्था की मुख-सज्जा

वृद्ध बनाने के लिए पूरे मुख को इतने गहरे बादामी आधार रंग से रँग लेना चाहिए जितनी बादामी आँख की रेखा होती है। इसी रंग को सब गड्ढों और रेखाओं में भर देना चाहिए। माथे को पूर्ण रूप से झुर्रियों से भर देना चाहिए और इन झुर्रियों पर चढ़े हुए आधार रंग को हटा देना चाहिए। दोनों आँखें छोटी करके इनके कोनों पर आँख मीचने के समय की रेखाएँ डाल देनी चाहिए, ओठ भीतर कर देने चाहिए फिर झुर्रियों की रेखाएँ डालकर उनको ठीक से मिला देना चाहिए। पाउडर करते समय भी ये झुर्रियों की रेखाएँ स्पष्ट कर देनी चाहिए। अत्यन्त वृद्ध पात्रों के लिए गाल, जबड़े की हड्डियों तथा आँखों के नीचे के भाग, गाल और कनपटियों में छाया देनी चाहिए। झुर्रियों और अक्षिसंकोच की रेखाएँ स्पष्ट कर देनी चाहिएँ। रेखाओं और झुर्रियों की अपेक्षा छाया वाला भाग हलका होना चाहिए।

दाँत—दाँत न दिखाने के लिए काले टूथ इनेमिल का प्रयोग करना चाहिए। दाँत भरने या ठीक रंग से मिलाने के लिए सफेद टूथ इनेमिल लेकर उसमें आयोडीन की एक या दो बूंद मिला लेनी चाहिए और यह लगाने से पहले दाँत को भली प्रकार सुखा लेना चाहिए।

भूरे या सफेद बाल—बालों को भूरा या सफेद करने के लिए ब्लांड मासकारा या कोई भी प्रारम्भिक रंग लेना चाहिए और फिर सफेद मासकारा के द्वारा उसे सूखने देना चाहिए। कभी भी किसी धातु का पाउडर जैसे ज़िंक पाउडर या सीसे का पाउडर बाल या खाल पर नहीं लगाना चाहिए, क्योंकि कहीं घाव पर लग जाने से धातविक विष चढ़ जाता है।

गोभी-जैसे कान (कौली फ़्लावर ईयर)—कान के पीछे हेयर पिन के इच्छित

आकार में घुमाकर चिपकने वाले फ़ीते से उसे ढँक देना चाहिए और फ़ीते को आधार रंग से रँग देना चाहिए। कान को पीछे चिपकाने के लिए तरल चिपकने वाले पदार्थ का प्रयोग करना चाहिए, रबर सीमेंट का नहीं और कान को पीछे दबाने से पहले उसे भली भाँति सुखा लेना चाहिए।

व्रण (स्कार)—शरीर पर व्रण दिखाने के लिए मछली की खाल को इच्छित व्रण की चौड़ाई से एक इंच अधिक चौड़ा और लंबाई से एक इंच अधिक लम्बा काट लेना चाहिए और फिर स्पिरिट गम से चिपकाकर उस पर लोचहीन कोलोडिअन से इच्छित चिह्न बना लेना चाहिए। इस मछली की खाल का प्रयोग करने से खाल नहीं जलती।

गंजा सिर—गंजा सिर दिखाने के लिए नहाने की टोपी (बेदिंग कैप) को सिर के गंजे दिखाने योग्य भाग से एक-एक इंच अधिक काट लेना चाहिए और उसे स्पिरिट गम से चिपका देना चाहिए। इस पूरे भाग को लोचदार कोलोडिअन से तर करके सूखने देना चाहिए और फिर उस पर आधार रंग चढ़ा देना चाहिए।

इतना ज्ञान होने के पश्चात् अपने अनुभव से अन्य अनेक प्रकार के मुखों की विभिन्न रचनाओं की भूमिका की प्रकृति के अनुसार शृंगार किया जा सकता है।

सीधा मुखराग

सीधे मुखराग के लिए पहले ५ संख्यक अर्थात् कुछ-कुछ हलका पीला रंग समान रूप से पोत देना चाहिए। उसके पश्चात् ६ सलाई के रंग की धारियाँ सारे मुख पर फैलाकर उँगलियों तथा हाथ की गदेलियों से उसे समान करके मुख पर फैला देना चाहिए किन्तु दबाकर रगड़ना नहीं चाहिए। इस प्रकार पहले लगाये हुए पीले रंग पर यह दूसरा रंग चढ़ा दिया जाय। साधारण स्वस्थ रंग के लिए लाल रंग चढ़ाना चाहिए और यह ध्यान रखना चाहिए कि गालों पर ९ संख्यक रंग माथे की अपेक्षा अधिक लाल हो। यदि गालों का रंग हलका प्रतीत हो तो ३ संख्या का कारमाइन रंग मिला-कर उँगलियों के छोरों से इस रंग को चिकना करके और फैलाकर हलके रंग से सावधानी से ऐसे मिला देना चाहिए कि मुख का एक भाग दूसरे भाग से अलग न प्रतीत हो। यह ध्यान रहे कि बालों में रंग न लग जाय। कभी-कभी यह दोष बचाने के लिए अभि-नेता अपने सिर पर कपड़ा या रूमाल बाँध लेते हैं। यह भी ध्यान रखना चाहिए कि मुँह पर लगे हुए रंग दिखाई न पड़ें। मुँह रँगने का अर्थ यह नहीं है कि केवल मुंह रँगकर छोड़ दिया जाय। यह रँगाई जबड़े और ठोड़ी तक ही न करके गले तक करनी चाहिए और यदि गले तथा वक्ष का स्थान खुला रखना हो तो उसके नीचे तक पहुँचानी चाहिए।

कुमार या छोटी अवस्था के लिए कारमाइन ३ से ओठ रँगने के पश्चात् ही आँख की रँगाई करनी चाहिए और आँख का जैसा रंग हो वैसे ही रंग का प्रयोग करना चाहिए, जैसे नीली आँखों के लिए नीला और हलकी नीली के लिए हलके नीले का प्रयोग। कुमार या बालक और वृद्ध भूमिकाओं के लिए गहरे नीले का प्रयोग करना चाहिए। इस रंग का प्रयोग बहुत बचाकर पलकों के ऊपर बरौनियों के पीछे बहुत थोड़ी दूर तक करना चाहिए और आँख की बाहरी कोर से थोड़ा आगे बढ़ा देना चाहिए। यह धारी किनारे पर नोकदार बनाकर छोड़ देनी चाहिए जिससे आँख कुछ बड़ी प्रतीत हो। आँख के तले नीले रंग की पतली रेखा खींच देनी चाहिए क्योंकि बहुत नीचे तक रंग बढ़ा देने से भद्दे धब्बे दिखाई पड़ने लगेंगे। इसलिए ऑरेंज स्टिक की नोकीली कोर या बहुत नोकीली मुलायम पेन्सिल से रेखा बनानी चाहिए।

बहुत से अभिनेता और अभिनेत्रियाँ प्रत्येक आँख के भीतरी कोने में नन्ही सी लाल बुँदकी लगा लेती हैं जिससे आँख में चमक आ जाती है किन्तु यह आवश्यक नहीं है। यह तो व्यक्तिगत रुचि की बात है। किन्तु प्रौढ़ और बूढ़ों की भूमिका के लिए तो इसका प्रयोग करना ही नहीं चाहिए।

प्रौढ़ और उसके आगे की अवस्था वालों को साधारण रंग देने के लिए ८ और २ संख्यक रंग मिलाकर प्रयोग करना चाहिए जिससे कुछ हलके, काँसे और प्रौढ़ता की प्रतीति हो। अधिक बाहर घूमने वाले विषुवत प्रदेशीय भाग के व्यक्तियों का रंग दिखाने के लिए ८ संख्यक रंग का प्रयोग करना चाहिए। पैंतीस वर्ष की अवस्था के लोगों के ओठ के लिए कारमाइन ३ का प्रयोग करने के बदले ९ संख्यक रंग का प्रयोग करना चाहिए और पाउडर करने से पहले चिकने रंग का काम समाप्त कर लेना चाहिए। पाउडर के लिए साधारण श्वेत पाउडर (जैसे बच्चों के ट्वायलेट पाउडर) को कोमल रुई के रोएँदार गदेले से थपकना चाहिए और सारे मुँह पर पाउडर छिड़क-कर उसे कोमलता से झाड़ देना चाहिए जिससे अधिक लगा हुआ पाउडर उतर जाय।

पुरुषों की बरौनियों के लिए भूरा या काला वाटर स्टेन (स्पिट ब्लैक) लगाना चाहिए। भौंहों के लिए भी चिकने रंग का प्रयोग करना चाहिए। यदि सावधानी से गहरी रेखाएँ न बनायी जायँ और यदि भौंहों का स्वाभाविक रंग ही काला या भूरा हो तो वाटर स्टेन (स्पिट ब्लैक) ही ठीक काम देगा।

महिलाओं का मुखराग

यदि बहुत छोटी लड़कियाँ हों तो पहले २॥ संख्यक रंग के साथ ९ संख्यक रंग मिलाकर एक बार रंग चढ़ाना चाहिए। फिर गालों और ओठों पर कारमाइन संख्या

२ और आँखों के लिए आँखों के रंग के अनुसार गहरा या हल्का नीला होना चाहिए। भौंहों के लिए स्वाभाविक रंग का प्रयोग करना चाहिए।

पचीस वर्ष की युवती के लिए लिट, आर० रंग का प्रयोग करना चाहिए जो लोएखनेर ने ५ और ९ संख्यक रंगों को मिलाकर बनाया है। गालों के लिए कारमाइन संख्या २, ओठों के लिए संख्या ३, आँखों के लिए नीले और भौंहों के लिए स्वाभाविक रंग का प्रयोग करना चाहिए। प्रौढ़ स्त्रियों के लिए ५ संख्यक रंग के साथ ९ संख्यक रंग मिलाकर चढ़ाना चाहिए। यद्यपि कुछ लोग ३ संख्यक रंग का भी प्रयोग करते हैं किन्तु वह बहुत उपयुक्त नहीं होता। प्रौढ़ाओं के ओठों और कपोलों पर कारमाइन संख्या ३, पलकों पर भूरा और भौंहों पर स्वाभाविक रंग देना चाहिए।

षोडशी युवतियों के गालों पर, गाल की हड्डी के नीचे गाल का रंग देना चाहिए। किन्तु बूढ़ी और प्रौढ़ स्त्रियों के लिए केवल गाल के नीचे ही रंग देना चाहिए। जैसे-जैसे अवस्था कम हो वैसे-वैसे रंग कम देना चाहिए। बड़ी अवस्था की स्त्रियों के अधर के रंग के लिए दूधिया रंग (मिल्क) का प्रयोग करना चाहिए या मिल्क ऑफ़ ह्वाइट का। महिलाएँ पलकों पर वाटर स्टेन का प्रयोग न करके ब्लैक कोस्मेटिक का प्रयोग करती हैं जो मोमबत्ती पर गरम करके पलकों पर गरम-गरम लगाया जाता है, किन्तु इसका प्रयोग बहुत सावधानी से करना चाहिए, क्योंकि आँख में लगाने पर इससे बहुत पीड़ा होती है। कानों की लोरों पर कारमाइन लगा देने से मुख पर जवानी चढ़ जाती है।

सीधी भूमिकाओं वाले अभिनेताओं के मुखराग के लिए इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि इस मुखराग से उनके मुख की वे आकृतियाँ स्पष्ट हो जायँ जो तीव्र, कृत्रिम प्रकाश में उड़ जाती हैं। इन आकृतियों में नाक प्रमुख है। कभी-कभी किसी अभिनेता की नाक कुछ चौड़ी होती है और पूर्णतः सीधी नहीं होती। किन्तु यदि नाक के सिरे पर नीचे को एक सीधी रेखा श्वेत (२० संख्यक) रंग की या ५ संख्यक पीताभ रंग की खींच दी जाय और ऊपर देह का पाउडर कर दिया जाय तो नाक लम्बी और सीधी प्रतीत होगी। यह रेखा भी सावधानी से रंग में मिला देनी चाहिए जिससे सामने बैठने वालों को स्पष्ट न दिखाई पड़े। सीधी भूमिका वालों के लिए बहुत स्वच्छ मुखराग करना चाहिए। सीधी भूमिका का तात्पर्य उन भूमिकाओं से है जिनमें स्वाभाविक रूप से काम चल जाता है, उन्हें बहुत बनाने की आवश्यकता नहीं। किन्तु जब किसी विशेष चरित्र का अभिरूपण करना पड़ता है तब कठिनाई उत्पन्न होती है।

विशेष मुखराग

प्रायः लोग समझते हैं कि विशेष चरित्र की भूमिका के लिए सिर पर बाल और मुँह पर बहुत सी धारियाँ बनाना नितान्त आवश्यक है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि किसी युवक को वृद्ध बनाने में बड़ी कला लगानी पड़ती है किन्तु केवल यही एक मात्र मुखराग नहीं है। वास्तविक समस्या तो तब उत्पन्न होती है जब किसी को उसकी वास्तविक अवस्था से केवल दस वर्ष अधिक की अवस्था दिखानी हो। तीस से चालीस वर्ष की अवस्था में कम अन्तर होता है किन्तु चालीस से पचास में अधिक अन्तर हो जाता है। इस अवस्था में अभिनेता को अपनी चाल-ढाल और वाणी का भी अधिक ध्यान रखना चाहिए। वृद्धावस्था के मुखराग के लिए बहुत अधिक रँगने की आवश्यकता नहीं। जहाँ तक हो मुखराग बहुत कम करना चाहिए। रेखा और छाया भरने के पूर्व बड़ी सावधानी से पहले मुँह की आकृति और रेखाएँ देख लेनी चाहिए। यदि अभिनेता को अपने माथे की रेखाओं का ठीक ज्ञान न हो तो माथे की भौंहें चढ़ाकर रेखाएँ स्पष्ट कर देनी चाहिए, क्योंकि उन रेखाओं तथा आँखों को सिकोड़ने से आँखों के दोनों ओर पड़ी धारियाँ, दोनों ओर के काक-पंजे (क्रो फ़ीट) तथा अन्य रेखाएँ स्पष्ट हो जायँगी। जहाँ तक संभव हो, बनावटी बाल नहीं लगाने चाहिए। यदि आवश्यक हो तो प्रत्येक भूमिका के लिए उसकी आवश्यकता, सिर और रेखा के अनुसार केश बनवा लेने चाहिए, किन्तु यह सम्भव नहीं है। ये बाल भी चाहे जितने सुन्दर बने हों और चाहे जितने सुन्दर बैठाये गये हों किन्तु वे वास्तविक बाल जैसे नहीं हो सकते। हमारे यहाँ के लोग सब प्रकार के नाटकों में, चाहे ऐतिहासिक हों या पौराणिक, केश (विग) लगाना आवश्यक समझते हैं। किन्तु यह बड़ी भारी भूल है। जटाधारी के अतिरिक्त शेष सब लोग काकपक्ष रखते थे अर्थात् पट्टे होते थे जिसका विवरण पीछे दिया गया है। यद्यपि कभी-कभी जटाधारी ऋषियों, मुनियों आदि की भूमिका ग्रहण करने वाले पुरुष अभिनेताओं के लिए बालों की आवश्यकता अवश्य पड़ जाती है किन्तु अन्य पुरुष अभिनेताओं को अपने सच्चे बालों का ही प्रयोग करना चाहिए।

वृद्ध का मुखराग

गोरे वृद्ध का मुख पीला पड़ जाता है और शेष रंग वालों का कुछ पीलापन लिये हुए उसका वास्तविक रंग आ जाता है जैसे साँवले वृद्ध के रंग में साँवले रंग की छाया अधिक रहती है, पीलेपन की कम। ऐसी स्थिति में ६।। संख्यक रंग में थोड़ा सा २ संख्यक रंग मिला देने से पारदर्शी प्रभाव आ जाता है। अवस्था ढलने के साथ-साथ

ललाई कम होने लगती है इसलिए उनके गालों पर कारमाइन लगाने की आवश्यकता नहीं होती। उनकी आँखों पर भी बहुत कम रंग लगाना चाहिए और बरौनियों को ज्यों का त्यों छोड़ देना चाहिए। हाँ, यदि बहुत वृद्ध की भूमिका हो और उसने सिर पर श्वेत बाल लगा रखे हों और दाढ़ी भी श्वेत हो तो बरौनियों को २० संख्यक रंग से श्वेत कर देना चाहिए और भौहों को उलटे बहाकर उनमें भी वही रंग लगाना चाहिए जिससे भौहें श्वेत और स्वच्छ प्रतीत हों।

मुख पर ठीक रंग चढ़ा चुकने पर रेखा और छाया का काम प्रारम्भ करना चाहिए। माथे पर स्वाभाविक झुर्रियाँ दे चकने के पश्चात् भौहों के बीच में दो खड़ी रेखाएँ डाल देनी चाहिए। दोनों आँखों की बाहरी कोरों पर छोटे-छोटे काक-पंजे (क्रोज़ फ़ीट) अर्थात् तीन-तीन धारियाँ पंखे के रूप में फैला देनी चाहिए और आँख के भीतरी कोने से नीचे की ओर हलकी छाया डालकर नाक के बीच नथने के पास से, मुख के कोने तक रेखा खींच देनी चाहिए और यह ध्यान रखना चाहिए कि यह बहुत गहरी न हो अन्यथा सामने बैठने वाले लोगों को हास्यास्पद प्रतीत होगी। इसके अतिरिक्त छोटी सी रेखा मुँह के कोने से नीचे बना देनी चाहिए। कभी-कभी दुहरी ठोड़ी की रेखा बना देनी चाहिए और एक दूसरी रेखा कान के ठीक पास से गले तक उतार देनी चाहिए। वृद्धावस्था अंकित करने के लिए ये बहुत महत्त्व की रेखाएँ बनानी चाहिए और उन्हें केवल इस प्रकार मिला देना चाहिए कि उनका प्रभाव बना रहे किन्तु यह ध्यान रखना चाहिए कि कोई भी रेखा गहरी न हो, उसे दबाकर मिला देना चाहिए। झुर्रियाँ बनाने की बहुत सी रीतियाँ हैं। इसके लिए विशेषत: लेक लाइनर या साधारण कड़े सुरमे की पेन्सिल का प्रयोग करना चाहिए। हलकी रेखा के लिए ऑरेन्ज स्टिक की नोक से लेक की रेखा देनी चाहिए। यदि किसी रेखा का प्रभाव बनाना हो तो उसके दोनों ओर हलके श्वेत रंग की समानान्तर रेखा बना देनी चाहिए।

रेखा का कार्य समाप्त कर चुकने पर २० संख्यक रंग से कनपटी स्पष्ट करके उस श्वेत रंग को मुख के रंग में मिला देना चाहिए। कनपटी को और भी स्पष्ट करने के लिए उसके नीचे के स्वाभाविक गढ़ों में भूरे चिकने रंग से बहुत हलकी छाया भर देनी चाहिए। वृद्ध के कानों को भी पाउडर से या कानों पर ५ संख्यक रंग चढ़ाकर अवस्था के अनुकूल बना देना चाहिए। प्राय: लोग कान की ओर से बहुत असावधान रहते हैं किन्तु यह बहुत आवश्यक है।

नाक

नाक भी कई प्रकार से बनायी जा सकती है। दबी हुई या तिरछी नाक के ऊपर

एक रेखा खींच देने से वह सीधी हो जाती है और सीधी नाक भी कौशल के साथ घेरेदार बनायी जा सकती है। नाक के लिए नोज़ पेस्ट का प्रयोग बड़ी सावधानी से

चित्र २२ क—वीर बोह्म ट्री, ओलिवर ट्विस्ट में फैगिन के रूप में

चित्र २२ ख—वीर बोह्म ट्री, मर्चेन्ट ऑफ़ वेनिस में शायलाक के रूप में

करना चाहिए। पहले अपने हाथ पर थोड़ी क्रीम या चिकनाई लगा लेनी चाहिए जिससे वह हाथ में चिपक न जाय, फिर मटर के बराबर उसका टुकड़ा लेकर अपनी

चित्र २२ ग—पृथ्वीराज 'पठान' में

चित्र २२ घ—पृथ्वीराज 'पृथ्वीवल्लभ' में

उँगलियों में घुमाकर ऐसा मिला लेना चाहिए कि वह कोमल हो जाय। फिर उस पेस्ट को इच्छित आकार में ढालकर धीरे से नाक पर रखकर उसे स्पिरिट गम से रँगकर ठीक कर लेना चाहिए। जब गोंद लगभग सूख जाय तब उस रंग को नाक पर रखकर उसे चिकनाकर ठीक आकार में लगाकर मुख के रंग से नाक का रंग ऐसा मिला देना चाहिए कि जोड़ न दिखाई दे। यदि उठी हुई नाक दिखलानी हो तो लेक (या भूरा) रंग आगे नाक की ओर लगा देना चाहिए।

चित्र २३ क—रानी विक्टोरिया की मुख-सज्जा के लिए भूमिका

यदि पतला मुख दिखलाना हो तो कुछ २० संख्यक रंग लगाकर गाल की हड्डियाँ उभार देनी चाहिए। मुख को विकृत दिखलाने के लिए लेक और कारमाइन रंग मिलाकर मुख के दोनों ओर रेखा बढ़ाकर मुँह बड़ा किया जा सकता है और मुँह की आकृति भी बदली जा सकती है। कठोर आकृति दिखाने के लिए मुँह पतला खुलना आवश्यक है। पूर्ण मोटे ओठ कामुकता के द्योतक होते हैं। जापानी पात्र के लिए आधार रंग ८ ए और चीनी पात्र के लिए ८ बी ठीक होता है। उनके ओठों पर ३॥ संख्यक रंग का और आँखों पर भूरे रंग का प्रयोग करना चाहिए। उनकी भौंहों पर साबुन लगाकर या ५ संख्यक रंग चढ़ाकर काले चिकने रंग से ऊपर को खिंची हुई भौंहें बना देनी चाहिए।

गाँव की किसान स्त्रियाँ अपनी अवस्था से कुछ बड़ी प्रतीत होती हैं और उसी अवस्था की सामान्य नागरिक स्त्री की अपेक्षा अधिक दुबली और झुर्री वाली होती हैं। यदि पैंतालीस वर्ष की बड़ी फुर्तीली स्त्री का मुख बनाना हो तो रुपहले नीले रंग की आँख-छाया देने से अधिक अवस्था की प्रतीति होगी। अधिक अवस्था के लिए कम

लाल रंग और मुख पर ५ संख्यक रंग अधिक होना चाहिए। बहुत पीताभ रंग की ४० वर्ष की स्त्री के लिए ५ संख्यक रंग में थोड़ा सा ९ संख्यक रंग मिलाकर आधार रंग लगा दिया जाय, ओठों पर ९ संख्यक रंग, आँखों पर बादामी तथा गाल और गले के गढ़ों में भूरा रंग लगाना चाहिए। बहुत पीली वृद्धा स्त्री के लिए आधार रंग ६॥ संख्यक, ओठों पर ९ संख्यक और आँखों पर भूरा (ग्रे) रंग लगाना चाहिए। गाल, गले और आँखों के नीचे भूरे (ग्रे) की छाया देनी चाहिए और यह ध्यान रखना चाहिए कि कहीं मुख तो बूढ़े का और गला जवान का न हो जाय। जो लोग काग़ज़ पर छाया और रेखाओं से मनुष्य का मुख बना सकते हैं वे लोग कुशल शृंगारी बन सकते हैं।

चित्र २३ —चीनी नागरिक की मुख-सज्जा

केश-विन्यास

यदि अभिनेता के सिर पर अपने ही अच्छे बाल हों तो उन्हें विशेष प्रकार के चरित्र के अनुरूप व्यवस्थित किया जा सकता है और जहाँ तक सम्भव हो बनावटी बाल नहीं लगाने चाहिए। कभी-कभी तो विभिन्न शैली से माँग फाड़ने से अथवा बाल सँवारने से ही व्यक्ति की आकृति में परिवर्तन हो जाता है और प्रामाणिक केश स्थिर करने वाले पदार्थों के प्रयोग से ही मनुष्य अत्यन्त स्फूर्ति वाला, कुदर्शन, हास्यास्पद या और भी जिस आकृति का चाहे बनाया जा सकता है। विशेष चरित्र की भूमिकाओं के लिए केश-विन्यास करते समय रंगों का या ब्रोंस का प्रयोग नहीं करना चाहिए। रंग तो केश के लिए हानिकर होते हैं और ब्रौंस हरा हो जाता है।

पुरुष अपने बालों की दोनों कनपटी की ओर भूरा रंग लगाकर कुछ अवस्था बढ़ा सकते हैं किन्तु वह सफ़ेद चिकने रंग का चिपचिपा टुकड़ा सा न दिखाई दे। इसके लिए २० संख्यक रंग हलका-हलका लगा लेना चाहिए जिससे बाल स्वाभाविक रूप से श्वेत के

बदले खिचड़ी दिखाई दें। इस खिचड़ी रंग को थोड़ा कान के पीछे तक ले जाना चाहिए किन्तु ऐसा न हो कि वह स्पष्ट झलकने और अभद्र दिखाई देने लगे। पाउडर लगाने से भी इन खिचड़ी बालों का प्रभाव नहीं बन पाता क्योंकि उनमें पाउडर ही पाउडर दिखाई पड़ता है।

आजकल जिस ढंग से लोग बाल कटवाते हैं उसमें आगे सिर पर तो बाल होते हैं किन्तु पीछे ढलवाँ हो जाते हैं। इसलिए वे बाल झबरे अथवा अफगानियों के समान पीछे लटकते हुए दिखाई नहीं पड़ते। यदि किसी चरित्र की भूमिका के लिए ऐसे बालों की आवश्यकता पड़े तो पुछल्ला (बैक पीस) लगा लेना चाहिए। इसे लगाने की रीति यह है कि अपने बालों को आगे माथे तक कंघी से खींच लो और फिर पुछल्ले की लचकदार तली को बालों के बीच में डालकर भली प्रकार फँसा लो और फिर अपने माथे पर लटके हुए बालों को पीछे कर लो जिससे पुछल्ले की तली छिप तो जाय किन्तु खिसके नहीं और अभिनेता के बाल भी उस पुछल्ले के छोर से मिल जायँ।

कृत्रिम केशों का प्रयोग

यदि कृत्रिम केश लगाना अनिवार्य ही हो तो केवल यही पर्याप्त नहीं है कि उनका रंग ठीक है या नहीं और सिर पर ठीक बैठते हैं या नहीं। यदि अभिनेता का मुँह लम्बा और पतला हो और आप चाहते हों कि उसका मुँह चौड़ा दिखाई दे तो केश (विग) ऐसे होने चाहिए कि कान के दोनों ओर वे गज्झिन और भरे हुए हों। यदि मुँह को सँकरा और पतला बनाना हो तो केवल दोनों ओर के पक्ष भली प्रकार सपाट हों और माथे पर बहुत ऊँचे तक चढ़े हुए हों। गंजे पात्र के लिए बने हुए उन्हीं केशों (विग) का प्रयोग करना चाहिए जो किसी चतुर कारीगर ने बनाये हों क्योंकि यदि केश ठीक प्रकार से नहीं बने हों तो अभिनेता विदूषक बन जाता है।

केश (विग) लगाने में भी बड़ी सावधानी रखनी चाहिए। प्रत्येक गुच्छ के भीतर दो लचीले त्रिकोण बने होते हैं जो माथे (जोपेन) के दोनों सिरों पर बने होते हैं। प्रत्येक हाथ की तर्जनी और मध्यमा उँगलियों के बीच में एक-एक त्रिकोण थामकर अँगूठे और अन्य उँगलियों की सहायता से केश खोंस लेने चाहिए और आगे से पीछे की ओर सिर पर बैठाकर यह देखना चाहिए कि पीछे ठीक बैठा देने से पहले माथे पर आने वाला भाग और बीच का जोड़ (माँग) ठीक बीच में बैठ गया या नहीं। इस माँग का रंग और माथे का रंग भी मिलाकर ठीक कर देना चाहिए। किन्तु ऐसा न हो कि इस रंग को मिलाने में केश भी रँग जायँ। जहाँ केश माथे पर बैठते हैं वहाँ

चित्र २४—मुख-सज्जा के साथ अंग्रेजी और अमेरिकी अभिनेता

१. चार्ल्स मैकलिन, शायलाक के रूप में
२. डेविड गैरिक, रोमियो के रूप में
३. सर हेनरी इर्विंग, शायलाक के रूप में
४. जार्ज आर्लिस, डिज़रायली के रूप में
५. रिचार्ड मेन्स फ़ील्डर, बैरन शैवरियल के रूप में
६. ऐडविन लूथ, कार्डिनल रिशैलू के रूप में
७. जार्ज एलफ़ान्स, अमेरिकी विदूषक के रूप में
८. राबर्ट माण्टेली, किंग लियर के रूप में
९. वाल्टर हेंपडन, साइरानो डी बर्गेरा के रूप में

५ संख्यक रंग को बड़े कौशल के साथ लगा देना चाहिए क्योंकि बालों के पास की रेखा माथे के रंग की अपेक्षा हलकी होती है। यदि केश ठीक न बैठते हों तो बालों में ब्रिलि-

चित्र २५—हान शिह चांग महिला की भूमिका में प्रसिद्ध चीनी गायक और अभिनेता

एन्टाइन या किसी भी प्रकार की चिकनाई लगा देनी चाहिए। इन केशों को भी साधारण बालों की भाँति कंघी से इस कौशल से सँवारा जाय कि केश उखड़कर गिर न जायँ। यदि पाउडर किये हुए केशों का प्रयोग करना वांछनीय हो तो उन्हें बीच-बीच में श्वेत

पाउडर से सफ़ेद करते चलना चाहिए अन्यथा अभिनय के वेग में पाउडर उड़ जाने की आशंका बनी रहती है।

श्मश्रु (मूँछ)

प्रायः सिर के बालों का जो रंग होता है, वही मूँछों का भी होता है। ये मूँछें काली, बादामी, भूरी या खिचड़ी और श्वेत होती हैं। यूनान, जर्मनी और हालैण्ड के निवासियों की मूँछें प्रारम्भ में कुछ अधिक काली या लालपन लिये हुए बादामी रंग की होती हैं। यूरोप में प्रायः मूछें कुछ ललाई लिये बादामी होती हैं और जैसी मूँछें होती हैं वैसे बाल भी होते हैं। यदि सिर के बालों और मूँछों में कभी अन्तर होता है तो यही कि इनके बालों का रंग हलका होता है गहरा नहीं।

नाटक के लिए सबसे सरल मूँछें तैयार बनी हुई होती हैं। ये मूँछें प्रायः इतनी बड़ी बनायी जाती हैं कि व्यक्तिगत आवश्यकता के अनुसार उन्हें छाँटकर ठीक कर लिया जा सके। फुर्तीले और चमकदार मनुष्य की मूँछें मुँह के कोने से आगे नहीं बढ़तीं और पतली भी होती हैं। मुँह को भद्दी आकृति देने के लिए काली मूँछें बनाकर मुख की दोनों कोरों पर लटका देना चाहिए। यदि ये मूँछें काली के बदले भूरी हों तो मुँह की आकृति करुणापूर्ण दिखाई देगी। राजपूती और कैसर-शैली की मूँछें बनाने के लिए मूँछों की कोर ऐंठकर ऊपर उठा देनी चाहिए। मुँह की दोनों मूँछों के बीच में कुछ स्थान रहता है इसलिए दोनों ओर के टुकड़े अलग-अलग लेने चाहिए और फिर ओठ पर स्पिरिट गम लगाकर थोड़ी देर रुक जाना चाहिए। जब स्पिरिट गम कुछ सूख जाय तब उस पर मूँछ चिपका देनी चाहिए। गोंद पर्याप्त मात्रा में लगाना चाहिए जिससे मूँछों के गिरने की आशंका न रहे। दो-तीन बार एक ही मूँछें लगाने से वे कड़ी पड़ जाती हैं। यदि उन पर उँगली फेर दी जाय तो सूखा हुआ गोंद झड़ जायगा और मूँछ फिर काम में लायी जा सकती हैं। तैयार बनी हुई मूँछों की अपेक्षा क्रेप हेयर की बनी हुई मूँछें अधिक प्रभावशाली होती हैं। ये क्रेप-हेयर चोटी के समान बटे हुए मिलते हैं। इनका एक छोटा सा टुकड़ा कैंची से काटकर उसके भीतर की डोरी खोलकर सीधा कर लेना चाहिए, फिर उसे गेंद के समान गोल करके और थोड़ा गीला करके मोटे कंघे से सँवारकर बालों को इच्छित आकार में काटकर गोंद लगे हुए मुँह पर चिपका देना चाहिए। बहुत पतली मूँछों के लिए उनकी बाह्य रेखा रंग से बनाकर फिर उस रेखा को स्वाभाविक बनाने के लिए उस पर क्रेप हेयर का धागा चपका देना चाहिए। ये मूँछें पात्र के अनुरूप अनेक प्रकार की बनायी जा सकती हैं, जैसे गहरी, गज्झिन, बिच्छू के डंक की, बर्रे डंक, एक्टर मूछें, मुँह-ढक मूछें, तितली कट, नकेल कट, नकरेखा कट, साइड कट,

लांग कट, गलमुच्छ कट आदि। कुछ भूमिकाओं के लिए गलमुच्छों की आवश्यकता पड़ती है। ये गलमुच्छें बराबर लम्बाई की होनी चाहिए और इनमें तथा सिर के बालों में अन्तर नहीं छोड़ना चाहिए और यह भी देखना चाहिए कि वह कान के आगे बहुत दूर तक न हो। वेलिंगटन गलमूँछ गाल की ओर झुक जानी चाहिए।

चित्र २६—कंस की भूमिका में पं० सीताराम चतुर्वेदी

अति परिचित पक्ष-गलमुच्छ (साइडबौल) न तो बहुत लम्बी हो न बहुत काली। दोनों ओर की पक्ष-गलमुच्छ कभी-कभी काले रंग से बना दी जाती हैं किन्तु उनका प्रभाव ठीक नहीं होता। ये गलमुच्छ कई प्रकार की होती हैं—ठोड़ी छोड़कर गलमुच्छ, गलढक, कानपसार, कुण्डलीमार, फनपसार, चपरसठ, छूछट और कनछू। ये सब भेद गल-मुच्छों के प्रसार पर अवलम्बित हैं। यह स्मरण रखना चाहिए कि चौड़े मुख वालों को ही गलमुच्छें शोभा देती हैं सँकरे मुँह वालों को नहीं।

दाढ़ी

दाढ़ियाँ भी कई प्रकार की होती हैं। चीनी और तिब्बती दाढ़ी में कम बाल होते हैं और वह कम लम्बी होती है। वह छोटी और ठोड़ी पर अधिक होती है। फारस वालों की लम्बी और बड़ी दाढ़ी, साधुओं की दाढ़ी, बकरदाढ़ी, साधारण रूप से अनुष्ठान आदि में बढ़ी हुई पुरोहितों की दाढ़ी, छोटी दाढ़ी, बड़ी दाढ़ी, लटी दाढ़ी, बीच में से फाड़कर दोनों ओर फैलायी हुई राजपूती दाढ़ी, लम्बी, खड़े नोकीले बालों वाली, फैली हुई दाढ़ी, लहराती हुई, घूँघर वाली, यूनानी दाढ़ी आदि अनेक प्रकार की दाढ़ियाँ होती हैं। इनमें से अधिकांश दाढ़ियाँ बनी-बनायी मिल जाती हैं जिन्हें लगाना अत्यन्त सरल है। पहले उसका ठोड़ी के नीचे वाला भाग लगा लेना चाहिए, फिर दाढ़ी के आगे का भाग फिर गालों के दोनों ओर आने वाले भाग। किन्तु वह दाढ़ी साधारणतः अच्छी नहीं होती। चीनी और जापानी नाटकों में जो दाढ़ी लगायी जाती है वह मुख को ढक लेती है और चँवर के समान मुँह पर झूलती रहती है। क्रेप से दाढ़ी बनाने के लिए कुछ क्रेप पहले ठोड़ी के नीचे लगा लेना चाहिए जो आगे को निकले नहीं, फिर मुँह के दोनों ओर चिपका लेना चाहिए और अन्त में सामने वाला खंड इस प्रकार लगाना चाहिए कि चारों भाग मिलकर एक हो जायँ। फिर दाढ़ी की आकृति के अनुसार यथास्थान क्रेप लगा देना चाहिए। क्रेप चिपकाकर नोकीली पैनी कैंची से क्रेप को छाँटकर इच्छित आकार में ला देना चाहिए। कुछ लोग क्रेप लगाना ठीक नहीं समझते किन्तु क्रेप तो एक वृक्ष के रेशे होते हैं जिन्हें डोरी में कस देते हैं। उसके प्रयोग में नाक-भौं सिकोड़ने की कोई बात नहीं है। कुछ क्रेप वास्तविक बाल के भी बनाये जाते हैं। मुख-सज्जा या मुखराग के अन्तर्गत इस दृष्टि से तीन बातें आयीं—एक मुँह की रँगाई, जिसके अन्तर्गत आँख और मुख-रंजन भी आ जाता है, दूसरा है केश-विन्यास और तीसरा मूंछ, गलमूंछ और दाढ़ी का विधान।

भारतीय स्त्रियों के माथे पर तिलक और बिन्दी लगाने का भी प्रचलन है, वह देश-भेद के अनुसार भिन्न रंग और आकार की होती है। इसी प्रकार पुरुष भी अपने धर्म और सम्प्रदाय के अनुसार छापा, तिलक, त्रिपुण्ड आदि अनेक प्रकार के टीके या तिलक लगाते हैं। अतः प्रत्येक पात्र का मुखराग करते समय उसके आचार, धर्म और सम्प्रदाय के अनुसार टीका-तिलक आदि भी लगा देना चाहिए।

देहराग

मुखराग के समान ही देहराग भी आवश्यक है। मुख का जो रंग हो वही हाथ और पैर का होना चाहिए। स्त्रियों के हाथों की हथेलियाँ, नख और तलवे लाल

होने चाहिए। वृद्ध पात्र के हाथों और उँगलियों में भी झुर्रियाँ डालनी चाहिए। हनुमान, सुग्रीव, जामवन्त आदि विशेष प्रकार के पात्रों के लिए विशेष शरीर संस्कार करना चाहिए, जिससे वे अपनी भूमिका के अनुसार दिखाई पड़ें।

मुखराग, देहराग, वेश-सज्जा तथा नेपथ्य-कर्म स्वयं बड़ी भारी कला है जिसका नाटक की दृष्टि से बड़ा महत्त्व है। रंगमंच और रंगदीपन भले ही व्यवस्थित न हो किन्तु मुखराग और वेश-विन्यास उचित हो तो अन्य सब दोष नगण्य हो जाते हैं।

अध्याय २१

मुखौटे (मास्क)

पीछे बताया जा चुका है कि बहुत से देशों में मुखराग के बदले मुखौटों का प्रयोग होता था। यूनान में मुखौटों का प्रयोग प्रारम्भ में धार्मिक कर्मकाण्ड के अवसरों पर देवताओं की प्रतिमा के अभिरूपण के लिए किया जाता था। उस समय स्वयं अभिनेता ही आत्म-विभावन और औषधों का प्रयोग करके भावाविष्ट और देवाविष्ट हो जाते थे और उनका बड़ा सम्मान भी होता था, जैसे हमारे यहाँ भी कुछ स्थानों पर पुरुषों और स्त्रियों के सिर पर देवता आ जाते हैं और वे हबुआने तथा वेग से अपना सिर हिलाने और बोलने लगते हैं। लोग उनसे प्रश्न करते हैं और अन्त में उनकी पूजा करके शान्त करते हैं। ऐसे लोगों को यूनान में विशेष प्रकार के वस्त्राभूषण से सुसज्जित करते थे और जिस देवता का उस पर आवेश होता था उसका मुखौटा लगाते थे। हमारे यहाँ आज भी रामलीला में जो हनुमान, सुग्रीव, जामवन्त, अंगद, रावण, काली आदि बनते हैं वे पहले मुखौटे का पूजन करते हैं और फिर बड़ी विधि से उसे धारण करते हैं जिसे 'चेहरा उठाना' कहते हैं। काशी की नक्कटैया (शूर्पणखा के नाक-कान काटने की लीला) की यात्रा में जो लोग काली आदि का स्वाँग बनाते हैं वे भी पूजा करके चेहरा उठाते (मुखौटा लगाते) हैं, किन्तु यूनान, रोम तथा अन्य देशों में केवल साधारण रूप से मुखौटों का प्रयोग किया जाता है। अब भी तिब्बत, चीन, जापान, ब्रह्मा, श्याम, श्रीलंका और जावा में मध्यकालीन यूरोप के चमत्कार-नाटकों (मिरैकिल प्लेज़) के समान नृत्य और नाटकों में यह प्रयुक्त होता है।

यूनान में बाखस देवता की पूजा के उत्सवों में इन मुखौटों का तो प्रयोग होता ही था, नाटकों में भी रँगे हुए चित्रित कैनवस के मुखौटे काम में लाये जाते थे। यूनानी रंगशाला की विशालता के कारण ये मुखौटे इस प्रकार बनाये जाते थे कि उन पर बने हुए भाव स्पष्ट दिखाई दें, और मुखौटे के भीतर से बोली हुई ध्वनियाँ दूर तक सुनाई दें। इसके लिए अभिनेताओं का आकार बड़ा करने के लिए उन्हें ऊँची एड़ी वाले जूते (बस्किन या काथरनेस) और ऊँचे मुखौटे पहनाये जाते थे। प्रसिद्ध यूनानी नाटककार अस्कुलस ने केवल मुख ढकने वाले ही नहीं वरन् पूरा सिर ढकने वाले मुखौटे

बनाये जिनमें आगे और दोनों ओर के बाल भी लगे रहते थे। इन मुखौटों में मुँह केवल इतना ही खुला रहता था कि वाणी स्पष्ट निकल सके और आँखों के स्थान में केवल इतने बड़े छेद होते थे जितनी आँखों की पुतलियाँ। यह विधान त्रासद में प्रयुक्त होने वाले मुखौटों के लिए था। प्रहसन के मुखौटे बहुत कुदर्शन होते थे जिनमें मुँह बहुत
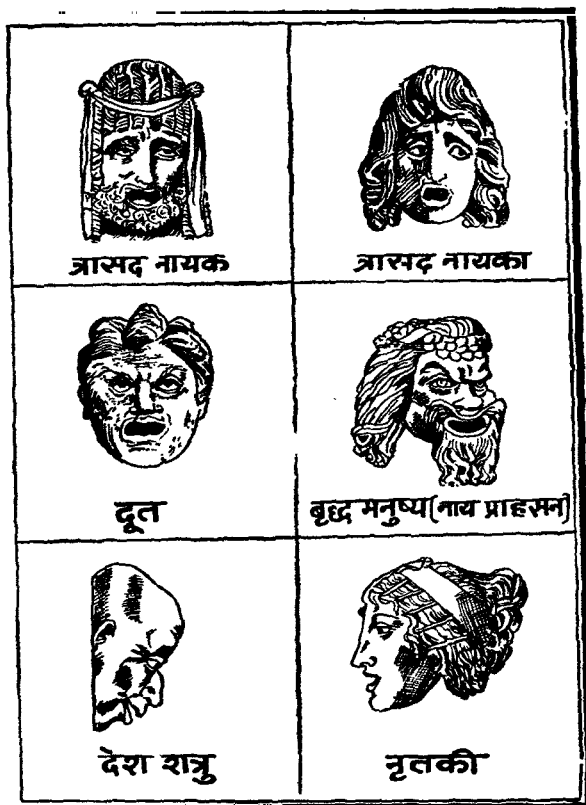
चित्र २७—यूनानी मुखौटे

खुला हुआ होता था और ओठों की बनावट भोंपे के समान होती थी। यह मुख एक विशाल दुहरी सीपी के समान होता था जिससे स्वर गूँज सके, वे एक टोपी के साथ जुड़े रहते थे जो सिर को ढके रखती थी। ये मुखौटे यूनानी और रोमी रंगशालाओं के लगभग सब प्रकार के पात्रों के लिए बनाये जाते थे।
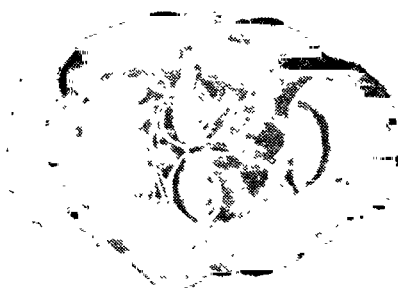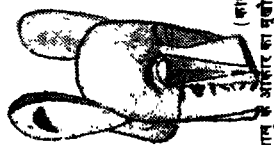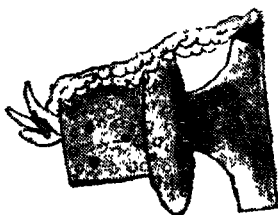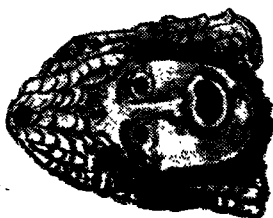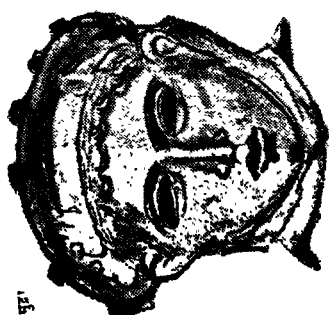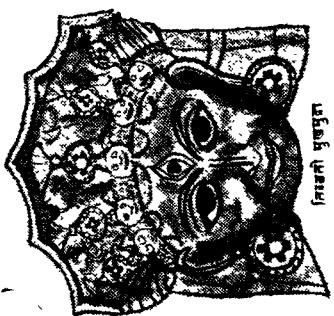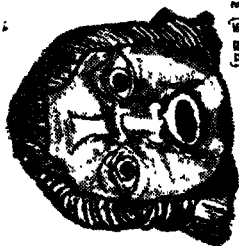
चित्र २८—विभिन्न देशों के मुखौटे

नाटकीय प्रयोग के अतिरिक्त मिस्र में लोग मृतकों के मुख पर उनके मुख की आकृति के सोने के मुखौटे लगाते थे और माइकेनेई में स्ट्रीमान ने जो समाधियाँ खोली हैं उन सबमें मृतकों के मुख पर सोने के मुखौटे पाये गये थे। यूनानी समाधियों में पकी हुई मिट्टी के मुखौटे भी समाधियों के भीतर दीवारों पर टँगे मिलते हैं। सम्भवतः ये मुखौटे पाताल लोक की देवी परसरफोली के हैं जिसे प्रसन्न करने के लिए मुखौटे वहाँ टाँगे जाते थे।

जापान में मुखौटों का प्रयोग सातवीं या आठवीं शताब्दी में चीन से आया और वह भी बौद्ध धर्म के प्रसंग से। ये निश्चित रूपों के मुखौटे इतने अधिक प्रकारों में प्राप्त होते हैं जितने संसार में कहीं भी नहीं हैं। इनमें से सर्वश्रेष्ठ और सबसे अधिक मुखौटे 'नोह' नाम के उन नाटकों में प्रयुक्त होते हैं जिनका प्रारम्भ चौदहवीं शताब्दी के शुरू में हुआ और जिसके लिए विलासी तथा विनोदप्रिय सोगून, योशीमाला तथा जैन सम्प्रदाय के बौद्ध भिक्षुओं ने प्रेरणा दी। इनका सबसे प्राचीन मुखौटा-नृत्य सम्बासो है जो पृथ्वी में सहसा उत्पन्न हो उठने वाली दरारों के बढ़ते हुए वेग को रोकने के लिए सन् ८०७ में नारा नगर में होने वाले धार्मिक उत्सव में उत्पन्न हुआ था।

जापानी राजसभाओं में चीन से लाये हुए मुखौटे नृत्य में बहुत पहले से बूगाकू (सभानृत्य) नाम से प्रयुक्त होते चले आ रहे थे। ये नृत्य राज-प्रासाद या मन्दिरों में होते थे और केवल राजसभासद ही इनमें भाग लेते थे। इनका अत्यन्त जटिल संगीत भी चीन से ही आया। इन नृत्यों में लगाये जाने वाले मुखौटे बहुत बड़े होते थे। उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में उन नृत्यों को पुनर्जीवन प्राप्त हुआ और इन्हीं को 'नोह' नाटकों का जनक समझना चाहिए। लगभग ढाई सौ 'नोह' नाटकों में सौ नामों वाले प्रकारों के मुखौटे घुमा-फिराकर विभिन्न नाटकों के काम लाये जाते हैं। इनमें पुरुष और स्त्रियाँ, देवता और राक्षस और पशुओं की रूप-रेखा बनी रहती है। इनमें से बारहवीं तथा तेरहवीं शताब्दी के पुराने मुखौटों में कठोर और स्पष्ट आकृतियाँ तथा बहुत बड़ी-बड़ी नाक बनी होती है जिसे कौशल-प्रधान अभिनेता ही लगाते हैं। जापान में सब अभिनेता व्यावसायिक हैं क्योंकि उनमें स्त्रियाँ नहीं होतीं और स्त्रियों की भूमिका भी पुरुष ग्रहण करते हैं।

'नोह' नाटकों के मुखौटे लकड़ी के बने होते हैं जिनमें रंगीन और चमकदार लेक (प्लास्टर) लगा रहता है। यह रंग लाख और अलकोहल मिलाकर वार्निश के समान चमकदार बना दिया जाता है और इसी से पात्र की भूमिका का नाम भीतर की ओर लाल रंग से लिखा रहता है। इनमें से बहुत से मुखौटों में बनाने वाले का ही नाम लिखा

रहता है। इन नाटकों और धार्मिक उत्सवों में मुखौटों के अतिरिक्त बच्चों के खिलौनों के रूप में मुखौटे बनते हैं जो मेले के अवसर पर बेचे जाते हैं। जापान के शिरस्त्राण और ढालों के ऊपर भी शत्रु को डराने के लिए मुखौटे बना लिये जाते थे। तिब्बत में बुद्ध के पूर्व जन्मों पर अर्थात् बोधिसत्त्व के जीवन पर अथवा अन्य ऐसी घटनाओं पर धार्मिक नाटक साधारण अभिनेताओं द्वारा खेले जाते थे किन्तु भयोत्पादक मुखौटे लगाकर देवताओं और राक्षसों का प्रदर्शन करने वाला रहस्य नाटक केवल धर्मनेता या लामा ही वर्ष के निश्चित अवसरों पर खेला करते थे। यह नाटक इस प्रकार का दैत्य-नृत्य जसा प्रतीत होता है जो दुष्ट भूत-प्रेत-राक्षसों को भगाने के लिए प्रयुक्त होता था और जो आगे चलकर बौद्ध बाना धारण करने लगा। आज भी यह नृत्य लाल व्याघ्र सा राक्षस का नृत्य कहलाता है जो तिब्बत के बुद्ध-पूर्व धर्म ओन अर्थात् बौन का देवता था। तिब्बत के इस नाटक में प्रयुक्त किये जाने वाले मुखौटे गलाये हुए कागज कूटकर या कपड़े से बनाये जाते हैं और कभी-कभी चमकदार चाम्बे के भी होते हैं।

सिक्किम और भूटान में, जहाँ लकड़ी बहुतायत से होती है और नम जलवायु के कारण कागज के मुखौटे शीघ्र नष्ट हो जाते हैं, बहुत दिन तक चलने वाली लकड़ी पर ये मुखौटे खोद लिये जाते हैं, विचित्र रूप से चित्रित कर लिये जाते हैं और याक की पूँछ, केश या विम के स्थान पर अनेक रंगों में रँगकर लगा दिये जाते हैं। इन्हें वेडल ने पाँच वर्गों में विभाजित किया है—१. दानवों के राजा, जिसका मुखौटा बहुत बड़ा और भयानक होता है जिसमें आगे को निकले हुए बड़े-बड़े दाँत और तीन आँखें होती हैं। २. दस भयानक दैत्य और दस बेतियानी, जिनके मुखौटे साँड़, व्याघ्र, सिह, गरुड़, बानर, हरिण और याक के रूप के होते हैं। ३. शो भक्षक दैत्य, जिसका मुखौटा खोपड़ी जैसा होता है और कपड़े हड्डी के ढाँचे प्रदर्शित करने वाले होते हैं। ४. पृथ्वी के स्वामी दैत्य, जिनके मुखौटे विशाल और भयानक होते हैं किन्तु आँखें बड़ी ही होती हैं। और ५. भारत से तिब्बत में बौद्ध धर्म को लाने वाले भिक्षु या बौद्ध विद्वान् या नाटक के विदूषक होते हैं। ये साधारण आकार के छोटे-छोटे कपड़े के मुखौटे पहनते हैं जो सफेद मिट्टी या काले रंग में रँगे रहते हैं। आठवीं शताब्दी के प्रसिद्ध चीनी भिक्षु ह्वेनचांग का रूप धारण करने वाला एक बड़ा-सा मूर्ख दिखाई पड़ने वाला मुखौटा पहनकर आता है। जातकों की कथाओं पर लिखे हुए नाटक तिब्बत में बड़े लोकप्रिय हैं जिन्हें वहाँ के साधारण व्यवसायी अभिनेता और अभिनेत्रियाँ खेलती हैं। विदूषक लोग चुटिया लगे नीले मुखौटे पहनते हैं। ये साधारणतः तथाकथित शिकारी होते हैं या कभी-कभी प्राचीन हिन्दू नाटकों के समान ब्राह्मण होते हैं।

चीनी मुखौटे

चीनी रंगशाला में कुटे हुए कागज के बने हुए मुखौटे ही काम में लाये जाते हैं किन्तु बड़ी महत्त्वपूर्ण भूमिकाओं के लिए अभिनेता मुखराग की सामग्रियों और रंगों से अपना मुख रँग लेते हैं। चित्रित मुखौटे विभिन्न रंगों के होते हैं जिनमें कभी एक रंग का और कभी कई रंगों का मिश्रण होता है। इन सबका परम्परागत अर्थ होता है—जैसे दुष्ट शासक के लिए श्वेत मुखौटा, न्यायशील व्यक्ति के लिए लाल और कठोर तथा निर्दयी व्यक्ति के ि.ए काला मुखौटा दिया जाता है।

चीन में विशेष रंगशालाएँ नहीं हैं किन्तु प्रत्येक मन्दिर के सुविधाजनक भाग में नाटक के लिए रंगमंच बना रहता है। सामाजिक या सांसारिक और ऐतिहासिक नाटक लोगों को अधिक प्रिय हैं। इनके अतिरिक्त अनेक प्रकार के नाटकों और प्रयोगों में बौद्ध धर्म से सम्बन्ध रखने वाले मुखौटे ही अधिक प्रयुक्त होते हैं। बच्चे भी परम्परागत रूढ़ि-पालन के लिए अनेक प्रकार से मुखौटों का प्रयोग करते हैं। तिब्बत, चीन, जापान तथा अनेक आसपास के देशों में जहाँ तक बौद्ध धर्म की पहुँच हुई है वहाँ सिंह-नृत्य बहुत प्रिय हैं। तिब्बत में सिंह का सिर और कन्धे तो ऐसी लकड़ी और ढाँचें के बने रहते हैं जिसे एक आदमी नीचे से चलाता रहता है और दूसरा आदमी उसके पीछे के भाग को सँभालता है। एक विदूषक अनेक प्रकार की ऊट-पटाँग चेष्टाएँ करता हुआ इस सिंह को प्रविष्ट कराता है जो उछलता-कूदता हुआ अनेक प्रकार की विचित्र चेष्टाएँ करता है। चीन में यह खेल अधिक प्रचलित है और वहाँ एक बड़ी मूर्ति के आकार की गेंद लेकर एक आदमी सिंह के आगे और इधर-उधर दौड़ता है और सिंह भी उससे खेल करता है। इसी प्रकार का यह खेल चीन और जापान में घुमन्तू नट करते हैं जो एक बाँस पर सिंह का लाल मुखौटा टाँग लेते हैं और शेष शरीर लाल कपड़े से ढक लेते हैं। यह मुखौटा और कपड़ा ऐसे वेग से हिलाया-डुलाया जाता है मानो सिंह किसी का पीछा कर रहा हो, जैसे हमारे यहाँ धोबियों के नृत्य में घोड़ा बनाकर नाच होता है। चीन में इस मुखौटे का नीचे का जबड़ा चलने वाला होता है और वह बीच-बीच में ताल के साथ डोरी खींचने पर खटखट करता चलता है। तायरोल, स्लावा और जूनी इण्डियनशाला के विशाल मुखौटों में भी इसी यांत्रिक क्रिया का प्रयोग होता है।

श्रीलंका और जावा

श्रीलंका में मुखौटों का प्रयोग नाटकों, मुखौटों के सम्मेलनों या नृत्यों (मास्करेड) में और दैत्य-नृत्य में होता है। विभिन्न रोगों का प्रतिनिधित्व करने वाले मुखौटों का
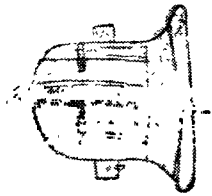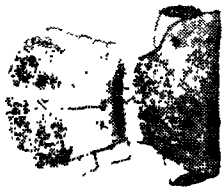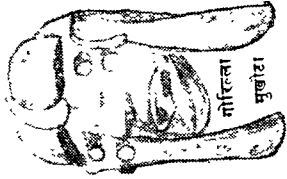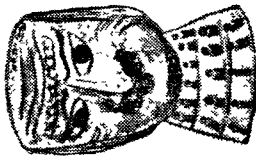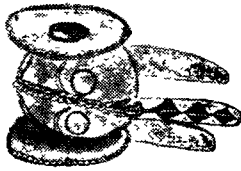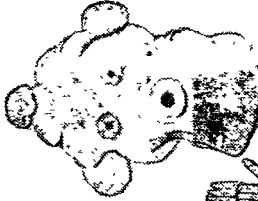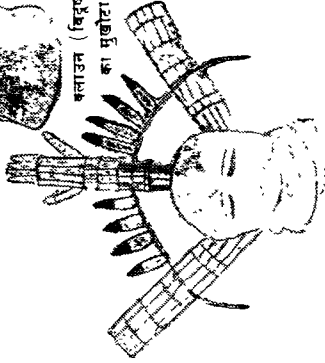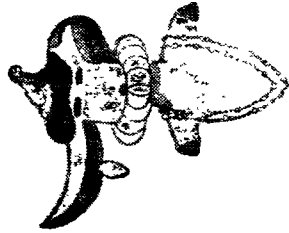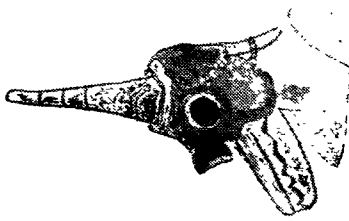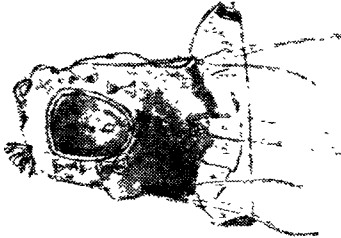
चित्र २९—विभिन्न देशों के मुखौटे

प्रयोग उन भूत-प्रेतों को भगाने के लिए किया जाता है जो उन्हें अभिभूत किये रहते हैं। इन खेलों में प्रयुक्त होने वाले मुखौटे खुदी हुई लकड़ी पर चमकदार रंगों से चित्रित किये जाते हैं, जिसमें पीले और लाल प्रमुख होते हैं। वात, पित्त और कफ को दूषित करने वाले घातक रोगों के विशाल दैत्यों के मुखौटे बड़े आकार के होते हैं। पशु-रोगों के प्रतीक चौपायों के राक्षसों को बड़े-बड़े सींग और दाँत और पत्तों के कपड़े पहनाये जाते हैं। वहाँ माना जाता है कि गारा नामक एक राक्षस नये घरों में जा डटता है इस-लिए गृह-प्रवेश होने से पूर्व एक पूजा होती है जिसमें पहने जाने वाले मुखौटे उस दैत्य को भगाते नहीं वरन् वहाँ स्थायी कर देते हैं।

जावा में कुछ अत्यन्त लोकप्रिय नाटकों में उपेंग नाम के लकड़ी के मुखौटे लगाये जाते हैं। अठारहवीं शताब्दी के छाया-पुतली नृत्यों से विकसित होने वाले ये नाटक केवल मनोविनोद के लिए ही नहीं वरन् लोगों को विपत्तियों से बचाने के लिए खेले जाते हैं। विचित्र बात यह है कि जावा के निवासी सब मुसलमान हैं फिर भी उनके नाटकों की कथाएँ महाभारत और रामायण से ली गयी हैं। यह मुखौटों का प्रयोग भी अपवाद ही समझना चाहिए क्योंकि मुसलिम धर्म के अनुसार मुखौटे का प्रयोग वर्जित है

नीलेनेशिया

वृक्ष की डाल और खुदी हुई लकड़ी के मुखौटे पापुआ लोगों में बहुत प्रचलित हैं जहाँ वे अपनी गुप्त समितियों में मुखौटे का प्रयोग करते हैं। ये समितियाँ, जैसे न्यू हैब्रिडिज़ की क्वातु, बैंक द्वीपों की तामाती, क्लोरिडा की मलाम्बला और न्यू ब्रिटेन की दुक-दुक समिति नीलेनेशिया की अपनी विशेषता है जिसमें केवल पुरुष ही सदस्य हो सकते हैं।

अफ़्रीका के पश्चिमी तट पर कांगो के निवासी तथा आसपास की जातियाँ खुदे हुए लकड़ी के मुखौटे का प्रयोग करती हैं। ये मुखौटे प्रायः तीन मुख्य प्रकार के होते हैं—युद्ध के मुखौटे, नृत्य के मुखौटे और फटीचर के मुखौटे। फटीचर वह विचित्र व्यक्ति होता है जिसमें मुख्य पुरोहित, मजिस्ट्रेट और वैद्य तीनों के गुण मिले रहते हैं। ये मुखौटे विनोदजनक होने की अपेक्षा धर्म से अधिक सम्बद्ध हैं विशेषतः वैद्यक से। यह खुदी हुई लकड़ी का चेहरा या सिर विचित्र होता है जिसके नीचे बहुत बड़ी जटा लगी हुई कन्धों तक लटकी रहती है। खुदी हुई लकड़ी के इन अफ़्रीकी मुखौटों पर जो मुख का भाव प्रदर्शित किया जाता है वह इतना कलात्मक होता है कि संसार में उसकी कहीं तुलना नहीं की जा सकती। पूर्वी यूरोप में स्लाव किसानों में मकर संक्रान्ति से

संबद्ध और क्रिसमस तथा ईस्टर के उत्सवों में परिणत हुए बहुदेववादी उत्सवों में प्रयुक्त होते हैं। आस्ट्रियन तायरौल के किसान जो खुदे हुए और चित्रित लकड़ी के मुखौटे पहनते हैं उनमें भी 'जुडास' नाटक में प्रयुक्त होने वाले मुखौटों में बारहसिंगों के मुँह उसी प्रकार लगे रहते हैं जैसे यूरोप के ह्रास के पश्चात् मुखौटों का प्रयोग समाप्त हो गया किन्तु फिर मध्यकालीन कुछ नाटकों में वे फिर दिखाई पड़े और उनका प्रयोग फिर मूक प्रहसन तथा इटली के लोकप्रिय सुखान्त नाटकों के द्वारा पेन्तोमीम (मूक नाट्य) के रूप में विकसित हुआ। मुखौटों के नाटक (मास्करेड) का प्रादुर्भाव इटली से हुआ जहाँ वेनिस से डोमिनों (अर्ध-मुखौटों) के साथ लगे हुए ढीले चोगे का प्रचलन हुआ।

अमेरिका की आदिम जातियों के धार्मिक जीवन में मुखौटा बहुत महत्त्वपूर्ण समझा जाता है। मैक्सिको के पुराने मुखौटों में खुदे हुए पत्थर के मुखौटे प्राप्त होते हैं जिनमें दोनों ओर ऊपर का सिरा बाँधकर लटकाने या टाँगने के लिए छेद बने हुए हैं। इनके अतिरिक्त खुदे हुए, लकड़ी पर फ़ीरोजे (वैदूर्यमणि) से जड़े हुए पुराने मुखौटे संग्रहालयों में सुरक्षित हैं। अमेरिकी इंडियन स्वयं अपना मुख चित्रित करके या अपने वेष से देवता का रूप धारण कर लेता है किन्तु दक्षिण-पश्चिम के इंडियनों में मुखौटा लगाने की प्रथा है। ये लोग विभिन्न प्रकार के मुखौटों के साथ कमर में घाघरा-पेटी तथा अन्य वेष-भूषा भी धारण करते हैं। एस्किमो लोगों का विश्वास है कि पहले सब जीवधारियों के दुहरे जीव थे और वे इच्छानुसार मानव या अन्य जीवधारी रूप भी ग्रहण कर लेते थे। जब कोई जानवर मनुष्य बनना चाहता था तो वह अपने आगे हाथ या डैना उठाकर अपने थूथन या चोंच को मुखौटों के समान ऊपर से खींचकर निकाल देता था और मनुष्य बन जाता था। प्रशान्त महासागर के तटवासियों के मुखौटों में बने हुए दुहरे चेहरे इस विश्वास के पोषक हैं कि इनमें मानवीय चेहरे के ऊपर थूथन या चोंच इस प्रकार बनी है कि वह उत्सव के समय उचित अवसर पर खुलकर झूल जाती है। संयुक्त राज्य अमेरिका के दक्षिण-पश्चिमी भाग के इण्डियन लोग एक विशेष प्रकार के ढोल के आकार के मुखौटों का प्रयोग करते हैं जो ऊपर से बन्द होते हैं और सिर को ढकते हुए कन्धे पर टिक जाते हैं। दूसरा मुखौटा इसी का एक भाग होता है जो केवल मुँह ढकता है जिसका प्रयोग समान रूप से वहाँ की धुनिहोपी केरे-सपेवा तथा अन्य पोइन लोक-जातियाँ करती हैं। अब मुखौटे चमड़े की पुरानी जीन के और कच्ची खाल के बनाये जाते हैं जिन्हें अनेक प्रकार से मानवीय रूप दिया जाता है। इनमें आँखों के स्थान पर या तो गोल या चौकोर छेद बना दिये जाते हैं या हरिण की छाल की परतें हरिण के बाल से भरकर हरिण की ताँत पिरोकर उन दोनों छेदों पर रखकर बाँध दी जाती हैं।

इनमें नाक भी साधारणतः हरिण की छाल मोड़कर ताँत से बाँध दी जाती है। इस नाक के स्थान पर कभी-कभी हरिण की छाल के बदले मक्के की कूकड़ी या तीर या छोटा सा भाला लगा देते हैं जो मुख के बोधक छल्ले की ओर झुका रहता है। मुँह भी हरिण की खाल के छल्ले से बना रहता है जिसमें गेहूँ के डण्ठल गूँथकर दाँत बना दिये जाते हैं। प्रायः इसी में चोंच के लिए एक लकड़ी का भोंपा लगा दिया जाता है या लौकी में दाँते काटकर थूथन बनाकर लगा दिया जाता है। कान के स्थान पर भी लकड़ी के अर्ध गोले के तवे लगा दिये जाते हैं जिनमें बालियों के लिए छेद बने रहते हैं और दोनों ओर ऊन या रुई से धतूरे के फूल बनाकर दोनों ओर लगा दिये जाते हैं। कुछ मुखौटों में सींग भी लगे रहते हैं और कुछ पर लकड़ी के इन्द्रधनुष या चौकोर पट्टे लगे रहते हैं। प्रायः सबके सिर पर पंख की कलँगी लगी रहती है। इसके अतिरिक्त लकड़ी के तीन बिजली के डण्डे और बादल की छतें भी बनायी जाती हैं। ये मुखौटे नीले, हरे, श्वेत, काले, गुलाबी, लाल, पीले, बादामी, बैंगनी और भूरे रंग में चित्रित किये जाते हैं तथा पंखों और ज्वाला के जालों से सुसज्जित किये जाते हैं। ये मुखौटे भी दो प्रकार के होते हैं—पुंलिंग और स्त्रीलिंग। किन्तु इन मुखौटों की दाढ़ी से यह भेद-ज्ञान नहीं हो सकता। इनमें गोल मुखौटे तो पुरुषों के और चौकोर स्त्रियों के होते हैं। प्रत्येक नृत्य के समय से सब मुखौटे मुखिया के यहाँ इकटठे करके चित्रित कर लिये जाते हैं और नृत्य समाप्त होने पर सब खोल-खालकर कपड़े में बाँधकर अपने-अपने घरों के भीतर रख देते हैं। यह विश्वास किया जाता है कि इन मुखौटों में ही देवता रहते हैं इसलिए मुखौटा लगाकर पहनने वाला अपने को वही समझने लगता है और उतारते समय भी वैसे ही बड़ी विधि से विसर्जन करता है। होपी जाति में तो मुखौटे उतारने की एक विधि ही है क्योंकि उन्हें डर है कि यदि मुखौटे के देवता की पूजा न की तो वह मुखौटे पहनने वाले को कहीं कष्ट न दे। क्लिफ्ट वेलूम में रहने वाले पोपेव्लोस लोग सम्भवतः पुराने मैक्सिको से आये हैं। इनके मुखौटे पक्षी, वृक्ष और देवताओं के प्रतिनिधि हैं। उनके मुखौटे वृक्ष के ही भाग हैं जो अब चमड़े के बनाये जाते हैं किन्तु पहले ये खोखली लकड़ी के बनाये जाते थे। मैक्सिको और मध्य अमेरिका के मुख्य निवासियों की कथा में चारों दिशाओं के रूपधारी इन पक्षी, वृक्ष, देवताओं का बड़ा प्रमुख स्थान है। अमेरिका की उत्तर-पश्चिमी जातियों या तटवासी जातियों में दो प्रकार के मुखौटे चलते हैं—एक तो नृत्य-मुखौटे और दूसरे वे मुखौटे जो घरों के सामने और वंशद्योतक खम्भों पर टँगे रहते हैं। ये दूसरे प्रकार के मुखौटे जातिसूचक होते हैं और साधारणतः तीन से पाँच फुट तक ऊँचे होते हैं और घर के शीर्ष और ध्वज के स्वामी के सूचक होते हैं। नृत्य-मुखौटों का प्रयोग पोतलाश नामक उत्सव पर होता है और मूक नाट्य-मुखौटों

का प्रयोग जाड़े में होता है। जब किसी विशष जाति-वर्ग की परम्पराओं का अभिनय किया जाता है तो इनमें से कुछ मुखौटों के तो मानवीय रूप बने होते हैं और कुछ पर रीछ, भेड़िया, कुत्ता, उदबिलाव, सारस, पफ़िन (जलसुग्गा) और घातक तिमिंगल (किलिंग हैग) की आकृतियाँ बनी होती हैं। ये मुखौटे देवदार की लकड़ी के बने होते हैं जिन पर बहुत विस्तार और सूक्ष्मता से खुदाई की रहती है। न्यूयार्क स्टेज के हीरो, कोई इण्डियन तथा औन्टोरियो, कनाडा और पुरातत्व विभाग में सुरक्षित लकड़ी के मुखौटे इस बात के प्रमाण हैं कि पूर्वीय संयुक्त राज्य के इण्डियनों में इनका बहुत प्रचार था। ये ऐसे नश्वर पदार्थ के बनाये जाते हैं कि आदिम जातियों के मुखौटे प्राप्त तो नहीं होते थे किन्तु फ़्लोरिडा के मार्को नगर में कुशिंग ने बहुत से खुदे हुए लकड़ी के मुखौटे खोज निकाले हैं। उत्तर अमेरिका के इण्डियनों की अपेक्षा दक्षिण अमेरिका के इण्डियनों में मुखौटों का प्रयोग बहुत कम होता था यद्यपि पुरातत्त्व की खोजों से यह सिद्ध हो गया है कि इक्वेडर और पीरू की प्राचीन संस्कृति में इन मुखौटों का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान था। अमेजन या गायना में रहने वाली जातियाँ मुखौटों का प्रयोग करती हैं और टिपरा डेलाफ़्यूगो में वृक्ष की छाल और रसाल की खाल के नृत्य-मुखौटों में मछली का आकार बना रहता है जिसका प्रयोग याधान लोग करते हैं। पीरुबिया के लोगों में वास्तविक मुखौटे बहुत कम मिलते हैं यद्यपि मिट्टी के पके हुए मुखौटे वहाँ की समाधियों में प्राप्त हुए हैं और गिगियोली ने खोज करके सूचना दी है कि नीमा के पास पुरानी समाधिस्थली से मनुष्य की खोपड़ी के मुखभाग बने हुए दो मुखौटे प्राप्त हुए हैं। ये वास्तविक प्रतीत होने वाले मुखौटे न्यू ब्रिटेन के खोपड़े के मुखौटे के समान हैं। पिरुबिया वालों में भी पुराने मिस्रियों के समान मृतकों के साथ मृतक की मूर्ति रखने की प्रथा थी। ये लोग लकड़ी का मुखौटा वनाते थे जिसे कपड़े में बाँधे हुए शव पर कील से जड़ देते थे। यह मुखौटा सामान्यतः चित्रित होता था और मानवीय काशेज (विग) से सुसज्जित होता था। इसके ऊपर एक बहुत जटिल सा उष्णीष रहता था।

मुखौटे लगाने से यह नहीं समझना चाहिए कि अभिनेता की मुद्रा स्थूल और सूक्ष्म होती है क्योंकि मुखौटे लगाने वाला जैसे-जैसे नीचे-ऊपर, दायें-बायें, आगे-पीछे अपना मुँह हिलाता चलता है त्यों-त्यों दर्शकों को उसके मुख से विभिन्न भाव प्रदर्शित होते दिखाई देते हैं। इतना ही नहीं, एक और भी विचित्र बात मनोवैज्ञानिक ढंग की होती चलती है। जो व्यक्ति चेहरा लगाता है वह अभिनय करते समय स्वयं अपने मुख पर भी उसी प्रकार के भाव व्यक्त करता चलता है क्योंकि यों तो साधारणतः अभिनेता जैसा अभिनय करता है वैसी ही उसकी मुखमुद्रा हो जाती है किन्तु मुखौटे लगाते समय यह क्रिया दूसरे प्रकार की होती है। जब मुखौटे वाला अभिनेता अपने सामने

दर्शकों को किसी प्रकार का भाव प्रदर्शित करते हुए देखता है तो वह भी उसकी प्रतिक्रिया का भाव प्रदर्शित करता चलता है यद्यपि उसका मुख मुखौटे से ढका रहता है।

मुखौटे की बनावट

जैसे भगवान् के बनाये हुए मनुष्यों और जीवों के मुख असंख्य प्रकार के होते हैं वैसे ही अनेक आकार, प्रकार, कल्पना और भाव के अनुसार असंख्य आकार-प्रकार-रूप (सभ्य, सज्जन, सुन्दर और सुन्दरी के मुख से लेकर भयंकर भूत, पिशाच, राक्षस आदि) के, कल्पित और विचित्र, अनेक रंगों से मुखौटे बनाये जा सकते हैं। इन मुखौटों को तीन श्रेणियों में बाँटा जा सकता है—१. वे मुखौटे जिनमें वास्तविक प्रतीत होने वाले पुरुषों और स्त्रियों के मुख चित्रित होते हैं। २. विचित्र या अद्‌भुत मुख, जिनमें राक्षस, दैत्य तथा अनेक प्रकार के जीवों के रूप बनाये जाते हैं। ३. विचित्र भावों वाले या हास्यजनक मुखौटे (कैरीकेचर)। ऐसे मुखौटे बनाते समय प्रत्येक रूप की वास्तविक, ऐतिहासिक, जातीय, पौराणिक तथा जीवशास्त्रीय आकृति और रंगरेखा का ध्यान रखा जाता है और जिस भाव के लिए उसका प्रयोग किया जाता है वह भाव प्रदर्शित होना ही चाहिए—मुखौटा बनाते समय इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि १. वह न टूटे, न तड़के, न गले, न फैले, न ऐंठे, न तनकर खिंचे और न फटे। २. वह जल-सिद्ध हो अर्थात् पानी से प्रभावित न हो, ३. हलका हो, ४. मुँह पर ठीक बैठाया जा सके और ५. उसका ऊपरी भाग झाड़ा और धोया जा सके।

धातु, लकड़ी, कागज, रबड़, रेशम, लीनन और कागज की लुगदी से प्रायः मुखौटे बनाये जाते हैं। इनमें से कागज के बनाये हुए मुखौटे सबसे दरिद्र होते हैं। एक तो वे शीघ्र टूट जाते हैं, दूसरे उन पर रंग नहीं चढ़ता, उनमें सूक्ष्म और नोकीली कारीगरी नहीं की जा सकती। इसी लिए जापानी, अमेरिकी इण्डियन, अफ़्रीकी जातियाँ और दक्षिण समुद्र के द्वीपों के वासी लकड़ी पर खुदे हुए मुखौटे काम में लाते हैं। लकड़ी के मुखौटे होते तो हैं बहुत सुन्दर, किन्तु उनमें एक दोष यह होता है कि यदि वे मोटे न हों तो तड़ककर फट जाते हैं और मोटे होने के कारण ये सरलता से मुख पर बैठ नहीं पाते। जापानी 'नोह' नाटक के सुन्दर मुखौटे प्रायः फट जाते हैं। फिर भी लकड़ी के मुखौटे सबसे सुन्दर होते हैं। कड़े कागज भी एक पर एक रखकर यदि चिपकाये जायँ और उनके दोनों ओर जल-रक्षित वार्निश और तेल लगा दिया जाय तो वे मुखौटे लकड़ी से अच्छे और पक्के होते हैं। इस प्रकार बने हुए मुखौटे पतले भी होते हैं और मुख पर बैठते भी ठीक हैं।

यद्यपि मुख पर पूर्णतः सटीक बैठने वाला मुखौटा बनाना सम्भव नहीं है फिर भी वह ऐसा बनाना चाहिए कि अधिक से अधिक लोगों के मुख पर बैठ सके। ये मुखौटे भी चार ढंग के बनाये जाते हैं—एक तो वह जो केवल लगाने वाले का मुंह ही ढके। दूसरा जो केवल मुंह और खोपड़ी ढके। तीसरा जो पूरे सिर को ढके और चौथा जो ऐसा

चित्र ३०—वर्तमान युग के मुखौटे

१. मुकुट के साथ प्रकृतिवादी मुखौटा २. तथ्यवादी मुखौटा
३. मृत्यु का मुखौटा ४. हास्य मुद्रा में तथ्यवादी मुखौटा
५. हास्यात्मक मुखौटा जिसमें छोटा मुंह और आंखें लगायी गयी हैं।

पहना जाय कि मुखौटे का गला सिर के चारों ओर बैठ जाय। इन सब प्रकारों में ध्यान रखने की बात यही है कि मुखौटा लगाने वाला देख सके और साँस ले सके इसके लिए आँख के आगे और नाक के नीचे के छेद इतने बड़े अवश्य होने चाहिए कि मुखौटे का रंग विगाड़े बिना पहनने वाले को सुविधा हो। आजकल जो मुखौटे बनाये जाते हैं उनमें

चित्र ३१—कथकली के कई रूप

और यूनानी मुखौटों में बड़ा भारी अन्तर यह है कि विशाल यूनानी मुखौटा व्यक्ति के मुँह से लगा हुआ नहीं रहता था वरन् मुख से लगभग दो इंच दूर रहता था और वह एक छोटे भोंपे से बराबर बोलता था जो उसके मुँह और मुखौटे के खुले हुए मुख से जुड़ा रहता था।

हमारे देश में केवल रामलीला में ही और दक्षिण के कथकली नृत्यों में मुखौटे लगाने की प्रथा है। ये सब मुखौटे विभिन्न पात्रों के अनुसार विभिन्न रूप के बनाये जाते हैं, किन्तु इनमें वानर, रीछ और राक्षसों के ही मुखौटे बनते हैं, अन्य पात्रों के नहीं और ये सब मुखौटे सिर पर पगड़ी बाँधकर धागे से पीछे बाँधे दिये जाते हैं। इनमें रावण का मुखौटा कुछ विचित्र होता है जिसमें दोनों ओर चार-चार मुँह बने होते हैं, बीच में अभिनेता का अपना रँगा हुआ मुँह होता है और सिर पर एक गधे की आकृति बनी रहती है। कथकली नृत्यों में और कालीजी के मुखौटों में मुख के साथ-साथ मुकुट भी उसी में बना रहता है। इसी प्रकार राक्षसों के मुखौटों में सींग बने रहते हैं। यद्यपि हमारे देश में मुखौटों के नाटक और प्रहसनों का प्रचार नहीं है किन्तु कुछ नाटकों में भूत, प्रेत, राक्षस इत्यादि दिखलाने के लिए अथवा सिंह आदि जीव दिखलाने के लिए मुखौटों का प्रयोग किया जाता है। कभी-कभी सिंह और रीछ आदि जीवों की मुंह सहित खाल का प्रयोग भी ऐसे अवसर पर किया जाता है किन्तु साधारणतः भावपूर्ण नाटकों में मुखौटों का प्रयोग नहीं होता और केवल मखराग द्वारा ही अभिनेता अपना अभिरूपण करते हैं।

अध्याय २२

रंगशाला या प्रेक्षागृह का विकास

रंगशाला या प्रेक्षागृह के अन्तर्गत रंगमंच (स्टेज) और दर्शक-कक्ष (औडिटोरियम) दोनों का समावेश होता है। रंगशाला-निर्माण को वर्तमान व्यापक दृष्टि से देखा जाय तो रंगशाला के अन्तर्गत उपर्युक्त दोनों बड़े भागों के अतिरिक्त कुछ और महत्त्वपूर्ण कक्ष भी होते हैं जिनमें से निम्नांकित अत्यन्त प्रमुख और अनिवार्य हैं—

१. प्रवेश-पत्रालय (टिकटघर); २. दर्शक-अलिन्द (लॉबी), रंगशाला के प्रवेश-द्वार के आगे ढका हुआ स्थान जिसमें दर्शक एकत्र हो सकें; ३. विश्राम-कक्ष (लुंज), जहाँ दर्शक आकर बैठ सकें; ४. जलपान-घर (कैफ़ा, कैन्टीन या रेस्तराँ), जहाँ अवकाश के समय दर्शक आकर जलपान कर सकें; ५. वेश-कक्ष (क्लॉक रूम) जहाँ अभिनेता अपने वस्त्र आदि पहनते या बदलते हों; ६. नेपथ्यशाला (ग्रीनरूम) जहाँ अभिनेता मुंह रँगते अर्थात् मुख पर अपनी-अपनी भूमिका के अनुसार रंग लगाते और रूप बनाते हैं; ७. भीतरी और बाहरी शौचालय (इन्टर्नल और एक्स्टर्नल टॉयलेट रूम, बाथरूम या लैबेटरी); ८. भाण्डागार (स्टोर हॉल), जिसमें रंगपीठ की सब सामग्री रखी जा सके; ९. यंत्रागार (मशीन-रूम), जिसमें रंगमंच से सम्बंध रखने वाले यंत्र रखे जाते हैं; १०. वाद्यागार (इन्स्ट्रूमेन्ट हॉल), जिसमें सब वाद्य रखे जा सकें; ११. प्रदर्शक-कोटर (ऑपरेटर्स केबिन), जहाँ से चलचित्र दिखाये जा सकें या केन्द्रित प्रकाश डाला जा सके; १२. अभिनेताओं का जलपान-घर (ऐक्टर्स रिफ्रेशमेन्ट रूम)।

इस व्यवस्थित और सुनियोजित अवस्था तक पहुँचने में नाट्यशाला को पचीस शताब्दियाँ लग गयीं। सच पूछा जाय तो पिछले दो सौ वर्षों में मन्द गति से और पिछले पचहत्तर वर्षों में अत्यन्त तीव्र गति से रंगशाला का विकास हुआ। यद्यपि नाट्यशाला और रंगशाला का विवरण वेदों से ही प्राप्त होने लगता है किन्तु व्यवस्थित विवेचन भरत के नाट्यशास्त्र से प्राप्त होता है।

भारतीय प्रेक्षागृह

भरत ने अपने नाट्यशास्त्र के द्वितीय अध्याय में तीन प्रकार के प्रेक्षागृहों का

विधान किया है—विकृष्ट (लम्बा आयताकार), चतुरस्र (वर्गाकार), त्र्यस्र (तिकोना)। ये तीनों तीन-तीन परिमाण के होते हैं—ज्येष्ठ, मध्यम और अवर (कनीय या कनिष्ठ)। इनमें से ज्येष्ठ (विकृष्ट, चतुरस्र तथा त्र्यस्र) एक सौ आठ हाथ लम्बे होते हैं; मध्यम (विकृष्ट, चतुरस्र तथा त्र्यस्र) चौंसठ हाथ लम्बे होते हैं और कनीय (विकृष्ट, चतुरस्र तथा त्र्यस्र) बत्तीस हाथ लम्बे होते हैं। इनमें से ज्येष्ठ देवताओं का, मध्यम राजाओं का और कनीय या छोटा साधारण लोगों का होता है।

इन सब प्रकार के प्रेक्षागृहों में मध्यम (विकृष्ट, चतुरस्र तथा त्र्यस्र) ही प्रशस्त होता है, क्योंकि उसमें पाठ्य और गेय सब कुछ अत्यन्त सुविधा के साथ सुनाई पड़ता है।

हाथ का परिमाण जानने के लिए भरत ने उसकी माप भी दे दी है। आठ अणु का रज, आठ रज का बाल, आठ बाल की लिक्षा, आठ लिक्षा का यूक, आठ यूक का यव, आठ यव का अंगुल, चौबीस अंगुल का हाथ और चार हाथ का दण्ड होता है। इस प्रकार एक हाथ लगभग डेढ़ फुट के बराबर होता है। इस नाप के अनुसार—

विकृष्ट ज्येष्ठ प्रेक्षा-गृह	१०८ × ५४ हाथ
विकृष्ट मध्यम प्रेक्षा-गृह	६४ × ३२ हाथ
विकृष्ट कनिष्ठ प्रेक्षा-गृह	३२ × १६ हाथ
चतुरस्र ज्येष्ठ प्रेक्षा-गृह	१०८ × १०८ हाथ
,, मध्यम ,,	६४ × ६४ हाथ
,, कनिष्ठ ,,	३२ × ३२ हाथ
त्र्यस्र ज्येष्ठ प्रेक्षा-गृह	१०८ हाथ लम्बा
,, मध्यम ,,	६४ हाथ लम्बा
,, कनिष्ठ ,,	३२ हाथ लम्बा

त्र्यस्र में लम्बे का अर्थ तीन भुजाओं की लम्बाई नहीं वरन् ऊपर के कोण से नीचे की भुजा के मध्य में पड़ने वाले लम्ब की लम्बाई है।

इस नाप के अनुसार चौंसठ हाथ (९६ फुट) लम्बा और बत्तीस हाथ (४८ फुट) चौड़ा विकृष्ट-मध्यम प्रेक्षागृह ही मर्त्य लोगों के लिए बनाना चाहिए। इससे बड़ा नाट्य-मण्डप नहीं बनाना चाहिए, क्योंकि बड़ा बनाने से नाट्य का रस नहीं मिलता। बड़े मण्डप में यदि ऊँचे स्वर से पाठ कहा जाय तो वह बहुत बेसुरा हो जाता है और अनेक प्रकार की दृष्टि से समन्वित मुख पर दिखाया जाने वाला भाव नाट्यमण्डल के बहुत लम्बे-चौड़े होने के कारण अस्पष्ट हो जाता है। इसीलिए सब प्रकार के प्रेक्षा-

गृहों में मध्यम ही सबसे अच्छा है, क्योंकि उसमें पाठ्य और गेय अधिक स्पष्ट रूप से सुनाई पड़ता है।

नाट्य को सार्ववर्णिक बताकर भी भरत ने प्रेक्षागृह के लिए देवता, राजा और इतर जनों का भेद क्यों रखा, इसका समाधान करते हुए अभिनवगुप्त ने कहा है कि 'समवकार' के समान संग्राम, मार-पीट आदि से भरे हुए नाटकों के लिए बड़ा, सात्त्विक अभिनय-प्रधान नाटक प्रकरण तथा नाटिका आदि के लिए मध्यम आकार का और 'भाण' जैसे दो-तीन अभिनेताओं वाले रूपकों के लिए कनिष्ठ प्रेक्षागृह उचित होते हैं किन्तु भाव-प्रकाशनकार ने इसे स्पष्ट कर दिया है।

इस मानुषी नाट्य-शाला का लक्षण बताते हुए और उसके निर्माण की विधि का निर्देश करते हुए भरत ने कहा है कि पहले भूमि का परीक्षण कर लेना चाहिए और फिर वास्तु-शास्त्र के प्रमाण के अनुसार इच्छानुसार प्रारम्भ करना चाहिए।

भूमि

जिस भूमि पर नाट्य-मण्डप बनाना हो वह समतल, पक्की, कठिन और काली-गोरी हो अर्थात् न पूर्णतः काली ही हो न गोरी ही हो। उस भूमि से झाड़-झंखाड़ निकालकर, झाड़-बुहारकर उस पर हल चलवा लिया जाय और फिर उसमें से हड्डी, कील, कपाल, घास और वृक्ष की ठूंठ और जड़ें निकाल दी जायँ।

नाट्य-कर्म के लिए उत्तरा भाद्रपदा, उत्तरा फाल्गुनी, उत्तराषाढा, विशाखा, रेवती, हस्त, तिष्य और अनुराधा ये प्रशस्त नक्षत्र माने गये हैं। पुष्य नक्षत्र के योग में बल्वज, मूँज या वल्कल की श्वेत डोरी फैलाकर नापना चाहिए जो बीच से कटी न हो। इस सम्बन्ध में बहुत सावधान होना चाहिए, क्योंकि यदि डोरी बीच से टूटी हो तो स्वामी का मरण होता है, तीसरे भाग पर टूटी हो तो राजकोप और चौथे भाग पर टूटी हो तो प्रयोक्ता का नाश और नापते हुए हाथ से छूट जाय तो कुछ न कुछ गड़बड़ होती है। इसलिए बहुत सावधानी से डोरा थामना चाहिए और अनुकूल मुहूर्त, तिथि और करण देखकर ब्राह्मण को तृप्त करके और पुण्याह-वाचन करके शान्ति-जल देकर डोरी लगानी चाहिए। डोरी को चौंसठ हाथ लम्बा फैलाकर उसके दो भाग किये जायँ। इसके पीठ के भाग के दो भाग करके और उसके बराबर आधे भाग में रंगशीर्ष और पश्चिम भाग में नेपथ्य-गृह बनाया जाय। तब शुभ नक्षत्र-योग में, शंख, दुन्दुभि, मृदंग, पणव आदि बाजों के साथ मण्डप की स्थापना की जाय। इस अवसर पर पाखण्डी, संन्यासी (गेरुआ वस्त्र पहनने वाले) तथा विकलांग (अपाहिज) आदि सब प्रकार के अनिष्ट पुरुषों को हटा देना चाहिए। रात को दसों दशाओं में गन्ध,

पुष्प, फल तथा अनेक प्रकार के भोज्य पदार्थों के साथ पूर्व में श्वेत अन्न की, दक्षिण में नील अन्न की, पश्चिम में पीले अन्न की तथा उत्तर में लाल अन्न की बलि दी जाय। जिस दिशा का जो अधिष्ठाता देवता माना गया है उसी के मन्त्र से उसके लिए बलि देनी चाहिए।

नींव डालने के समय ब्राह्मणों को घी और पायस (खीर) देना चाहिए। राजा को मधुपर्क (दही, घी और मधु), मण्डप बनाने वालों को गुडोदन (गुड़ और भात) देना चाहिए। किसी विद्वान् से ही मूल नक्षत्र में नाट्य-मण्डप की नींव डलवानी चाहिए। नींव पड़ चुकने के पश्चात् अच्छे मुहूर्त, तिथि और करण का विचार करके भीत (दीवार) वनाने का काम प्रारम्भ करना चाहिए।

भीतें बना चुकने पर अच्छे नक्षत्र, योग और करण का विचार करके रोहिणी या श्रवण नक्षत्र में खम्भे खड़े करने चाहिए। प्रातःकाल सूर्योदय हो चुकने पर ऐसे श्रेष्ठ आचार्यों के हाथों खम्भों की स्थापना करानी चाहिए जो पिछले तीन दिन, तोन रात तक निराहार व्रत रह चुके हों।

हमारे यहाँ संसार का प्रत्येक जड़-चेतन पदार्थ, जीव-जन्तु, लता, वृक्ष, जल, काष्ठ, पशु, पक्षी, स्वर, राग आदि सब पदार्थ चार वर्ण के माने गये हैं—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र। तदनुसार नाट्य-मण्डप के खम्भे भी चार वर्ण के होते हैं; ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र। इसका यह अर्थ नहीं है कि इन खम्भों के पास उन वर्णों के लोग बैठते थे। रंग के अनुसार ये खम्भे चार वर्ण के होते हैं—ब्राह्मण स्तम्भ, क्षत्रिय स्तम्भ, वैश्य स्तम्भ, शूद्र स्तम्भ। घी और सरसों से शुद्ध किये हुए पहले ब्राह्मण स्तम्भ पर श्वेत वस्तुओं से पूजा और सजावट करके खीर का दान करना चाहिए, क्षत्रिय स्तम्भ पर लाल वस्तु, लाल माला तथा लाल वस्तुओं से पूजा और सजावट करनी चाहिए और द्विजों को लाल गुडोदन देना चाहिए। पश्चिमोत्तर दिशा में वैश्य स्तम्भ की स्थापना करके पीली वस्तुओं से पूजा-अर्चा करके द्विजों को पीला घी और चावल देना चाहिए। इसी प्रकार पूर्वोत्तर दिशा में बड़ी विधि से शूद्र स्तम्भ की स्थापना करके नीली वस्तुओं से पूजा-अर्चा करनी चाहिए तथा द्विजों को मटर और चावल की मसालेदार खिचड़ी (कृसर) देनी चाहिए। सबसे पहले ब्राह्मण स्तम्भ पर श्वेत मालाएँ और श्वेत चन्दन लगाकर कर्णफूल के बराबर सोना उसकी जड़ में डाल देना चाहिए। इसी प्रकार क्षत्रिय स्तम्भ की जड़ में सोने के साथ ताँबा, वैश्य स्तम्भ की जड़ में सोने के साथ चाँदी और शूद्र स्तम्भ की जड़ में सोने के साथ लोहा डालना चाहिए।

स्वस्तिवाचन, पुण्याहवाचन और जय शब्द का घोष करते हुए पत्तों की माला से लिपटे हुए खम्भे लाकर रखने चाहिए और फिर ब्राह्मणों को रत्न, गौ और वस्त्र

आदि से सन्तुष्ट करके एक-एक खम्मा इस रीति से सीधा और अडिग खड़ा करना चाहिए कि वह न लपलपाता हो और न टेढ़ा-तिरछा हो, क्योंकि स्तम्भ के डगमगा जाने से सूखा पड़ता है। टेढ़े-तिरछे होने से मरण का भय और लपलपाने से शत्रु के आक्रमण की आशंका रहती है।

ब्राह्मण स्तम्भ स्थापन करते समय पवित्रता से मन्त्र के साथ दक्षिणा और गौ का दान करना चाहिए, निर्माता से सम्बन्ध रखने वाले लोगों को भोजन देना चाहिए, पुरोहित और राजा को मधु और पायस (खीर) खिलाना चाहिए तथा सभी कारीगरों को नमकीन खिचड़ी देनी चाहिए। यह सब करके और सब बाजे बजाकर धूम-धाम के साथ नियमपूर्वक स्तम्भ को अभिमन्त्रित करके पवित्रता के साथ खड़ा करे और कहे कि 'जिस प्रकार भारी मेरु पर्वत तथा विशाल हिमालय अचल है और जैसे राजा की जय अचल होती है वैसे ही तुम भी अचल बने रहो।' इसी प्रकार शास्त्रीय विधि से स्तम्भ, द्वार, भीत और नेपथ्य-घर भी बनायें जायँ।

रंगपीठ के पीछे अर्थात् रंगशीर्ष पर रंगपीठ से लगभग डेढ़ हाथ ऊँचे चार खम्भों पर मथवारी या अम्बारी (मत्तवारणी) बनायी जाय और रंगपीठ तथा मत्तवारणी दोनों पर समान ऊँचाई का रंगमण्डप बनाया जाय। रंगमण्डप को माला, वस्त्र, गन्ध पदार्थ और अनेक प्रकार के रंगों से सजाना चाहिए। भूतों को प्रिय लगने वाली बलि और खीर खम्भों के बनाने वाले शिल्पियों द्वारा दिलवायी जाय और ब्राह्मणों को भोजन में खिचड़ी दी जाय। इस प्रकार के पुरस्कार देकर मत्तवारणी बनवानी चाहिए। मत्तवारणी का अर्थ है मतवाले हाथी के आकार की। हाथी जब मतवाला होता है तब सूँड़ ऊपर उठा लेता है। उसे देखकर ही रथ की अम्बारी या हाथी की पीठ की अम्बारी या मकानों में ऊपर अम्वारी बनाते हैं जिसे राज-मिस्त्री लोग मथवारी कहते हैं और जो मत्तवारणी का स्पष्ट अपभ्रंश है। बाल-रामायण में तो मत्तवारणी का प्रयोग रथ की अम्बारी के लिए ही आया है किन्तु 'समरांगण सूत्रधार' में उसकी स्पष्ट व्याख्या ही कर दी गयी है। इसके पश्चात् शास्त्र-विधि से रंग-पीठ बनाया जाय।

छः लकड़ियों से रंगशीर्ष बनाने का विधान भरत ने बताया है किन्तु वे लकड़ियाँ कैसे लगायी जायँ यह स्पष्ट नहीं है। इसके पश्चात् लिखा है कि यहाँ नेपथ्य के दो द्वार बनाकर नेपथ्यगृह की भूमि काली मिट्टी से पाटकर, हल चलाकर, रोड़े, घास-पात और कंकड़ निकाल देने चाहिए। इस हल में केवल अंडुए बैल ही जोते जायँ। कारीगर अंगदोष से हीन हों, नये टोकरों से मिट्टी ढोते हों।

रंगशीर्ष इस सावधानी से बनाना चाहिए कि वह न कछुए की पीठ जैसा ऊँचा

हो, न मछली की पीठ के समान ढलवाँ ही हो, प्रत्युत शुद्ध दर्पण के समान चिकना, समतल रंगशीर्ष ही श्रेष्ठ समझा जाता है। इस रंगशीर्ष पर भी रत्न जड़ देने चाहिए। चतुर शिल्पियों को चाहिए कि पूर्व में वज्र (हीरा), दक्षिण में वैदूर्य, पश्चिम में स्फटिक, उत्तर में मूँगा और मध्य में सुवर्ण की जड़ाई की जाय।

इस प्रकार रंगशीर्ष का निर्माण करके लकड़ी का काम प्रारम्भ करना चाहिए और भली भाँति सोच-समझकर उसकी सज्जा में अनेक प्रकार की कलाओं का इस प्रकार प्रयोग करना चाहिए कि उसमें अनेक प्रकार की सजावट, बहुत से सर्पों की आकृतियाँ, अनेक प्रकार की कठपुतलियाँ, छोटे-छोटे झरोखे, अनेक प्रकार की सजावट से भरी वेदियाँ, अनेक प्रकार के यंत्र, जाली और झरोखे, अच्छे खम्भों पर बने हुए पीठ और घरन, अनेक रंगों से रँगी हुई वेदी पर सुसज्जित स्तम्भों वाला लकड़ी का काम हो।

भित्ति-कर्म

इस प्रकार के काम करके भीत (दीवार) का काम प्रारम्भ करना चाहिए। स्तम्भ, खूँटी, झरोखे और कोने कभी द्वार के सामने या द्वार को बाधा देने वाले न बनाये जायँ।

नाट्य-मण्डप पर्वत की गुफा की आकृति वाला, दो भूमि-तल वाला बनाना चाहिए, जिसमें छोटी-छोटी खिड़कियाँ हों, वायु न आती हो तथा शब्द गूँजता हो। इसलिए वास्तु शिल्पकारों को निर्वात नाट्य-मण्डप बनाना चाहिए, जिससे गाने-बजाने वालों के स्वर की गम्भीरता बनी रहे।

भित्ति-कर्म हो चुकने पर भीत पर पलस्तर करके उस पर चूना पोत देना चाहिए। जब भीत लीप-पोतकर ठीक कर दी जाय और समान शोभा वाली हो जाय तब उस पर चित्र बनाने चाहिए। चित्रों में स्त्री, पुरुष, लता आदि अपने अनुभव के बहुत से आचरण अंकित कर देने चाहिए। इस प्रकार विकृष्ट (आयताकार) नाट्य-घर बनाना चाहिए।

चतुरस्र प्रेक्षागृह चारों ओर से बत्तीस-बत्तीस हाथ (४८ फुट) का होना चाहिए। यह मण्डप भी सुन्दर भूमि पर बनाना चाहिए। जो विधि, लक्षण और मंगलाचरण पहले विकृष्ट के लिए बताया जा चुका है उसका ही चतुरस्र के लिए भी प्रयोग करना चाहिए। चारों ओर से बराबर भूमि नापकर डोरी से उसके भाग बाँट लिये जायँ और फिर बाहर चारों ओर पक्की ईंटों की जुड़ाई करके भीत बनायी जाय। फिर भीतर की ओर रंगपीठ के ऊपर मण्डप धारण करने के लिए दस समान खम्भे बनाये जायँ। न खम्भों के बाहर प्रेक्षकों के बैठने के लिए ईंट और लकड़ी से सीढ़ी के समान पीठा-

सन बनाये जायँ, जो क्रमशः अगले आसन से एक-एक हाथ ऊँचे उठे हुए हों, जिससे रंगपीठ भली भाँति दिखाई दे सके। जिस प्रकार खम्भे खड़े करने का विधान बताया गया है उस प्रकार उन दिशाओं में छः दृढ़ खम्भे खड़े कर दिये जायँ जिससे मण्डप तना रहे और फिर उनके आगे आठ खम्भे और लगा दिये जायँ जिन पर आठ हाथ लम्बा-चौड़ा पीठ बनाया जाय जिस पर मण्डप सँभालने के लिए उचित खम्भों का प्रयोग किया जाय। ये खम्भे धरन के सहारे कस देने चाहिए और उन पर पुतलियाँ खड़ी कर देनी चाहिए।

खम्भे लगाने के लिए भरत ने विधि-विधान बहुत दिया है और वैश्य स्तम्भ को पश्चिमोत्तर में तथा शूद्र स्तम्भ को पूर्वोत्तर में लगाने का विधान भी दिया है। किन्तु ब्राह्मण स्तम्भ और क्षत्रिय स्तम्भ के सम्बन्ध में न तो कोई स्पष्ट विधान ही दिया, न यही बताया कि इनका प्रयोजन क्या है। किन्हीं विद्वानों का मत है कि ये खम्भे विभिन्न वर्णों के बैठने के स्थान के बोधक थे। पंडित मोहनबल्लभ पन्त का मत है कि आग्नेय, नैर्ऋत्य, वायव्य और ईशान दिशाओं के क्रम से इन स्तम्भों को ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र स्तम्भ कहा गया है। भरत ने इन खम्भों के खड़े करने का विधान भित्ति-कर्म के पश्चात् बताया है—

भित्तिकर्मणि निर्वृते स्तम्भानां स्थापनं ततः।

यह तो स्पष्ट है कि ये चारों वर्णों के नाम वाले खम्भे थे जिनका कोई सम्बन्ध ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र जातियों या उनके स्थान से नहीं था। ये वास्तुसंस्कार के निमित्त विघ्नशान्ति के लिए खड़े किये जाते थे।

इसके पश्चात् प्रयोक्ताओं को नेपथ्यगृह बनाना चाहिए, जिसका एक द्वार रंग-पीठ पर अभिनेताओं के प्रवेश के लिए हो। प्रेक्षागृह में जनता के प्रवेश के लिए रंग-मंच के सामने की ओर दूसरा द्वार हो। नाप के अनुसार रंगपीठ आठ हाथ का बनाया जाय और चौकोर समतल वेदिका से सजी हुई पहले बताये हुए नाप के अनुसार मत्तवारणी बनायी जाय। इस वेदी के साथ चार खम्भों वाला ऊँचा तथा समतल रंगपीठ बनाया जाय।

त्र्यस्र नाट्यगृह तिकोना बनाना चाहिए और इसी त्रिकोण के बीच के कोने में रंगपीठ बनाना चाहिए। इस कोण से एक द्वार रंगपीठ पर प्रवेश करने के लिए बनाना चाहिए और दूसरा रंगपीठ के पीछे से। शेष सब विधान उसी प्रकार करना चाहिए जैसा पहले कहा जा चुका है। इस प्रकार पण्डितों को नाट्यगृह बनाना चाहिए।

चतुरस्र नाट्यगृह के ज्येष्ठ, मध्यम और कनिष्ठ भेदों में से भरत ने कनिष्ठ भेद का ही वर्णन इस प्रकार किया है कि ३२ हाथ का चौरस क्षेत्र लेकर उसके चारों ओर ईंटों की पक्की भीत बनायी जाय और भीतर की ओर रंगपीठ के आस-पास मण्डप सँभालने में समर्थ १० खम्भे खड़े किये जायँ। इन स्तम्भों के बाहर की ओर ईंटों और लकड़ी से प्रेक्षकों के लिए सीढ़ीनुमा बैठक बनायी जाय। इन सीढ़ियों को बनाते समय इस बात का ध्यान रहे कि उन पर बैठने वालों को रंगपीठ भली-भाँति दिखाई दे। चतुरस्र मण्डप का वर्णन करते हुए केवल इतना ही भरत ने कहा है कि पूर्वोक्त विधि के अनुसार ही नाट्यगृह का निर्माण करना चाहिए। पर इतने से चतुरस्र के रूप के सम्बन्ध में स्पष्ट ज्ञान नहीं होता। इसलिए टीकाकारों ने बहुत अटकलें लगाकर अनेक प्रकार से इसका वर्णन करने का प्रयत्न किया है। अभिनवगुप्त ने शंकुक के मत को प्रमाण मानकर उसका वर्णन इस प्रकार किया है--

'३२ हाथ लम्बा और ३२ हाथ चौड़ा एक वर्गाकार क्षेत्र लेकर लम्बाई और चौड़ाई में उसके ८-८ हाथ के खण्ड करे। उन विभाग-बिन्दुओं के समानान्तर रेखाएँ खींचकर शतरंज की पाटी के समान चार हाथ वर्ग के ६४ वर्ग बनाये जायँ। इनमें से ठीक बीचोबीच के चार वर्ग लेकर आठ हाथ वर्ग का रंगपीठ होगा (क ख ग घ)। उसके पश्चिम की ओर पूर्व-पश्चिम का १२ हाथ दक्षिणोत्तर ३२ हाथ क्षेत्र (च छ ज झ) बचेगा। इसमें से रंगपीठ में लगी हुई पूर्व-पश्चिम चार हाथ चौड़ी दक्षिणोत्तर ३२ हाथ लम्बी पट्टी (च छ ज थ) में से रंगपीठ के नाप का ही ८ हाथ लम्बा और चार हाथ चौड़ा भाग (द ख क घ) लेकर उसके पश्चिम की ओर भी उतना ही भाग जोड़ने से (प फ ग ख) रंगशीर्ष बनेगा। इसके भी पश्चिम का जो ४ हाथ चौड़ा और ३२ हाथ लम्बा (च ब भ क्ष) क्षेत्र रहा उसमें नेपथ्यगृह बनाया जाय।

रंगपीठ के आसपास लगने वाले १० स्तम्भों के सम्बन्ध में शंकुक ने कहा है—

रंगपीठ के चारों कोनों पर चार स्तम्भ (१, २, ३, ४) खड़े करे। इनमें से आग्नेय दिशा की ओर जो एक संख्या का स्तम्भ है उससे चार हाथ की दूरी पर दक्षिण की ओर पाँचवाँ स्तम्भ, नैर्ऋत्य की ओर दूसरे स्तम्भ से चार हाथ की दूरी पर छठा स्तम्भ हो। इस प्रकार वायव्य और ईशान की ओर के तीसरे और चौथे स्तम्भों से चार हाथ दूर उत्तर की ओर क्रमशः सातवाँ और आठवाँ स्तम्भ, आग्नेय और ईशान (१ और २) स्तम्भों से चार हाथ पूर्व की ओर क्रमशः नवाँ और दसवाँ स्तम्भ खड़ा किया जाय। ये छः और रंगपीठ के चारों कोनों के चार, कुल दस स्तम्भ हुए। इनके बाहर सामाजिकों के बैठने का स्थान होता है।

भरत ने इन दस स्तम्भों के अतिरिक्त भी ६+८ कुल १४ स्तम्भों को खड़ा करने के लिए कहा है। इन चौदह स्तम्भों का स्थान शंकुक के अनुसार इस प्रकार है—
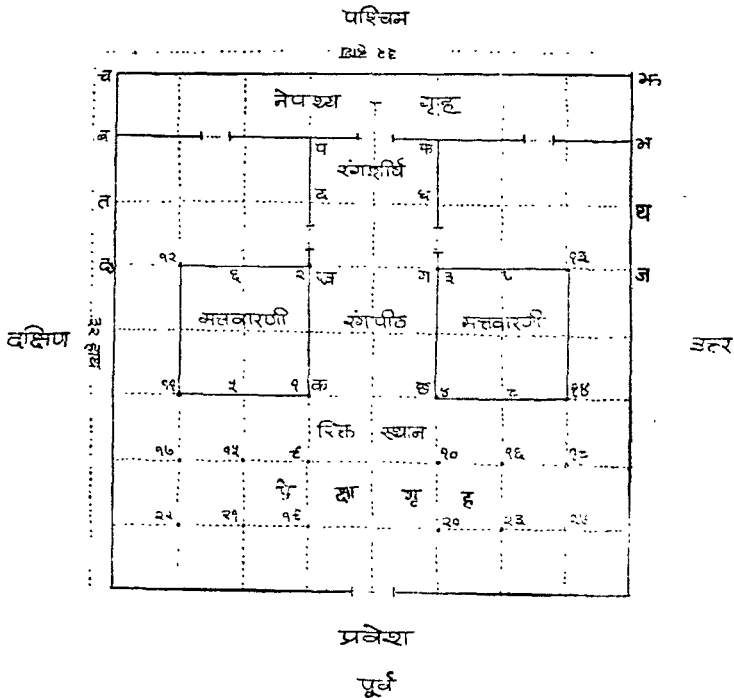
चित्र ३२——चतुरस्र कनिष्ठ नाट्यगृह

रंगपीठ के दक्षिण की ओर पाँचवें और छठे स्तम्भों से चार-चार हाथ की दूरी पर परस्पर आठ हाथ के अन्तर पर ग्यारहवाँ एवं बारहवाँ स्तम्भ, आग्नेय स्तम्भ के पूर्व नवें स्तम्भ के दक्षिण की ओर चार हाथ पर तेरहवाँ स्तम्भ, इसी प्रकार सातवें, आठवें और दसवें स्तम्भ के उत्तर की ओर चार-चार हाथ के अन्तर पर क्रमशः चौदहवाँ, पन्द्रहवाँ और सोलहवाँ स्तम्भ—इस प्रकार छः स्तम्भ खड़े किये जायँ। दक्षिण की भीत से उत्तर की ओर ग्यारहवें स्तम्भ के पूर्व में चार हाथ की दूरी पर सत्रहवाँ स्तम्भ। इसी प्रकार उत्तर दीवार से दक्षिण की ओर पन्द्रहवें स्तम्भ से चार हाथ की दूरी पर अठारहवाँ स्तम्भ, तदनन्तर पूर्वी भीत से चार हाथ पश्चिम रंगमण्डप

के दोनों भागों में नवें और दसवें स्तम्भों के पूर्व की ओर क्रमशः उन्नीसवाँ और बीसवाँ स्तम्भ, फिर इन दोनों स्तम्भों के उत्तर और दक्षिण चार-चार हाथ के अन्तर से दो-दो स्तम्भ अर्थात् इक्कीसवाँ, वाईसवाँ, तेईसवाँ और चौबीसवाँ स्तम्भ खड़े किये जायँ। इस प्रकार कुल चौवीस स्तम्भ हुए। प्रेक्षागृह के स्तम्भ सम्भवतः सोपानाकृति वैठक के आधार होंगे।
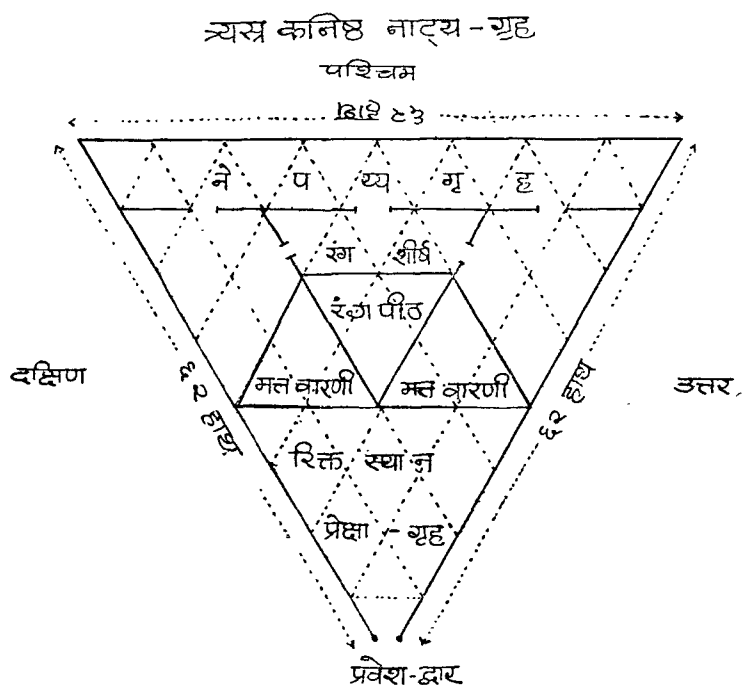
चित्र ३३—त्र्यस्र कनिष्ठ नाट्य-गृह

चतुरस्र मंडप का रंगशीर्ष विकृष्ट की ही भाँति आठ हाथ वर्ग होता था और उसके स्तम्भों पर दारु कर्म भी उसी प्रकार होता था। इसका नेपथ्यगृह विकृष्ट मंडप के नेपथ्यगृह की अपेक्षा चौड़ाई में कम होता था, परन्तु उसमें से बाहर निकलने के लिए उसी के समान रंगशीर्ष के दोनों पार्श्वों में दो द्वार, रंगशीर्ष में प्रवेश करने के लिए रंगशीर्ष के उत्तर-दक्षिण की ओर दो द्वार और प्रेक्षकों के प्रवेश करने के लिए प्रेक्षागृह के ठीक पूर्व में एक द्वार—कुल पाँच द्वार भी विकृष्ट नाट्यगृह के ही समान होते थे।

इस नाट्यगृह में रंगपीठ की ओर जाने के लिए प्रेक्षक-प्रवेश-द्वार के ठीक सामने एक और द्वार होता था। इसका उपयोग सूत्रधार एवं नटी के प्रयोग के लिए होता था। रंगपीठ के दोनों ओर के स्तम्भों पर मत्तवारणी भी ठीक उसी प्रकार होती थी और इनमें भी रंगपीठ तथा रंगशीर्ष और भागों की अपेक्षा ऊँचे होते थे।

तीसरे प्रकार का नाट्यगृह त्र्यस्र अर्थात् त्रिभुजाकार होता था। इसके भी ज्येष्ठ, मध्यम और कनिष्ठ प्रकारों का ऊपर उल्लेख हो चुका है। भरत ने तीनों में से किसी एक भेद का वर्णन न कर सामान्य त्र्यस्र नाट्यगृह का वर्णन किया है। वर्णन में पुनरावृत्ति न होने देने के लिए इतना ही कहकर छोड़ दिया है कि चतुरस्र के समान ही त्र्यस्र का भी विधान है। जिस प्रकार चतुरस्र में भित्ति-निर्माण, स्तम्भ-स्थापना और चित्रकारी होती है, उसी प्रकार त्र्यस्र में भी की जाय। चतुरस्र के समान ही सम-त्रिभुज की भी प्रत्येक भुजा के आठ-आठ भाग करके उन बिन्दुओं से दूसरी दोनों भुजाओं के समानान्तर रेखाएँ खीचें। इस प्रकार इस त्रिभुज के सम त्रिभुजाकार ६४ भाग हो जायँगे। इन ६४ भागों में से ठीक बीचोबीच के चार त्रिभुज रंगपीठ के होंगे। उसके पश्चिम की ओर की भुजा से लगे हुए पाँच त्रिभुज रंगशीर्ष के होंगे और उनके भी पीछे १६ त्रिभुजों की सारी पट्टी नेपथ्यगृह की होगी। रंगपीठ के दोनों ओर मत्तवारणी, उसके सामने चार हाथ की पट्टी को छोड़कर शेष प्रेक्षागृह होगा। द्वार भी चतुरस्र के ही समान ६ होंगे। प्रेक्षागृह का द्वार रंगपीठ के ठीक सामने पूर्वकोण में होगा। किन्तु यह सब गणना अटकल पर आधारित और अप्रामाणिक है।

यद्यपि भरत ने रंगशाला के निर्माण का जो विधान ऊपर दिया है यह अत्यन्त अस्पष्ट, जटिल और अपूर्ण है किन्तु उससे रंगशाला के कुछ अंगों का विवरण अवश्य मिल जाता है। भरत के अनुसार—१. भारतीय प्रेक्षागृह तीन प्रकार के होते हैं—विकृष्ट, चतुरस्र और त्र्यस्र। ये तीनों भी तीन-तीन प्रकार के होते हैं—ज्येष्ठ, मध्यम और कनीय या अवर। विकृष्ट आयताकार होता था जिसकी चौड़ाई से लम्बाई दुगुनी होती थी, चतुरस्र वर्गाकार होता था जिसकी लम्बाई-चौड़ाई बराबर होती थी और त्र्यस्र की लम्बाई एक कोण से सामने की भुजा के मध्य तक समान होती थी। कुछ विद्वानों ने त्र्यस्र की तीनों भुजाओं की लम्बाई समान मानी है, किन्तु यह उनकी भूल है।

२. इन प्रेक्षागृहों का आधा भाग दर्शकों के बैठने के लिए और शेष आधा अभिनय और नेपथ्य कर्म के लिए होता था। दर्शकों का स्थान रंगपीठ से चार हाथ दूरी पर होता था। आगे का स्थान प्राश्निकों और सिद्धिलेखकों (नाटक के गुण-दोष लिखने वालों) के लिए होता था जैसे आजकल संवाददाताओं (रिपोर्टरों) के लिए होता है।
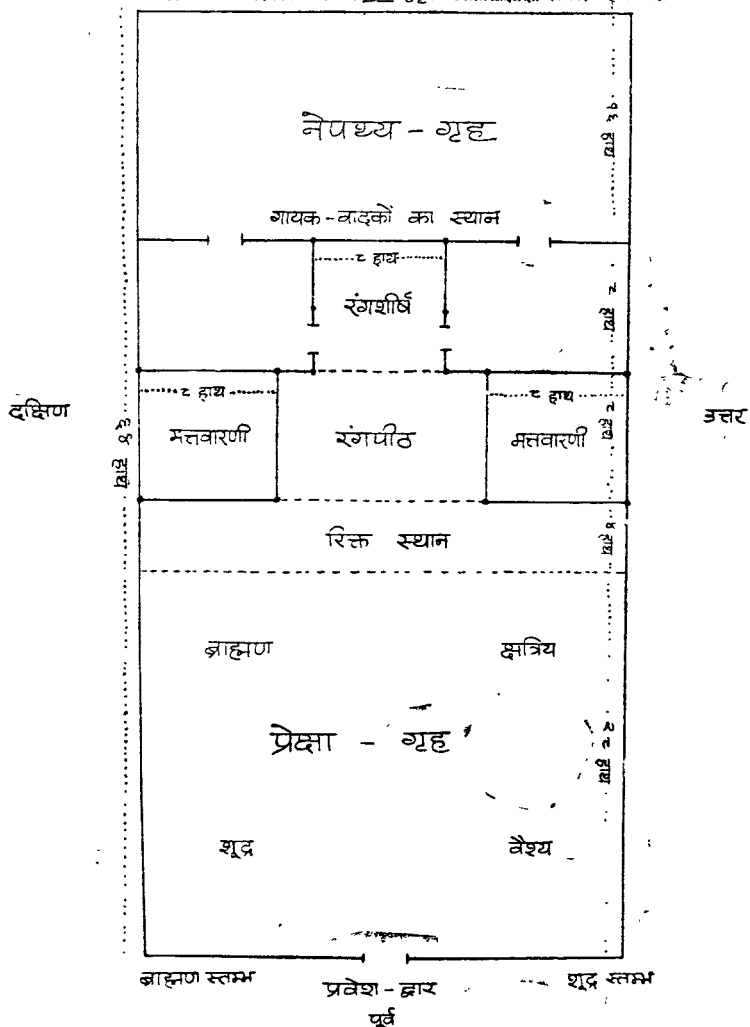
चित्र ३४—विकृष्ट मध्यम नाट्यगृह

प्रेक्षकों के ये स्थान सीढ़ी के ढंग से बनाये जाते थे। अभिनवगुप्त ने टीका में लिखा है कि 'रंगपीठ से पीछे के द्वार तक कुल १।। हाथ की ऊँचाई तक ये बैठने की सीढ़ियाँ बनती थीं और इस क्रम से बनती थीं कि पीछे के दर्शकों को सामने वालों से आड़ न हो।' किन्तु यह मत भ्रामक है। यदि छः-छः इंच भी पीछे की बैठकें ऊँची हों तो कुल पाँच पंक्तियाँ लग पायेंगी। अतः यह टीकाकार की अटकल-मात्र है।

प्रेक्षागृह के जिस आधे भाग में अभिनय होता था उसके दो भाग होते थे—पीछे के भाग में नेपथ्य-गृह और उसके आगे रंगमंच।

३. इस रंगमंच के दो स्तर होते थे या एक स्तर, यह भी स्पष्ट नहीं, क्योंकि विकृष्ट की व्याख्या में तो रंगपीठ और रंगशीर्ष के दो स्तर बताये गये हैं जिनमें से रंगपीठ और नेपथ्य-गृह के बीच में रंगशीर्ष बनाने का विधान है किन्तु चतुरस्र के लक्षण में रंगशीर्ष का कहीं नाम नहीं है।
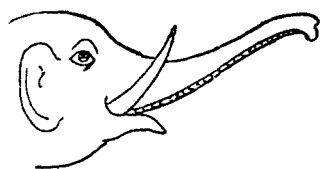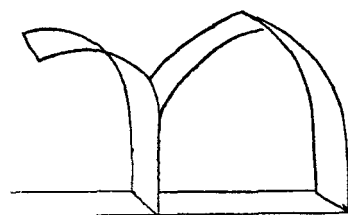
चित्र ३५—मत्त-वारण, मत्तवारणम्, मत्तवारणी

४. रंगपीठ के पीछे मत्तवारणी बनानी चाहिए जो रंगपीठ से डेढ़ हाथ ऊँची हो। किसी ने रंगपीठ के दोनों ओर आठ-आठ हाथ लम्बी-चौड़ी मत्तवारणी मानी है, किसी ने रंगशीर्ष पर। यह होनी चाहिए रंगशीर्ष पर और वह भी वेदी पर बनी होनी चाहिए। मत्तवारणी का अर्थ है मतवाले हाथी के आकार की (चित्र ३५)। समरांगण-सूत्रधार में इसका विवरण इस प्रकार दिया हुआ है—

> मुखभद्रं भवेद् युक्तं वेदिका मत्तवारणैः।
> क्षेत्रभागोदयार्था भूराभूमिफलकान्तरम्।।

[ऐसी मथवारी या अम्बारी से वेदिका का सामना सुहावना हो जाता है जो भूमि के एक छोर से उठकर भूमि के पूरे छोर तक के भाग को ढके रहे।]

—राजगृह अध्याय, ३०।९

उसी अध्याय में मत्तवारणी के झुकाव का विवरण देते हुए बताया गया है—

स स्यादभीष्टविस्तारो भागोच्चं मत्तवारणम्।
स्वोऽस्य त्रिभागेन तिर्यक् कार्योऽस्य निर्गमः॥

[मथवारी या अम्बारी जितनी बड़ी बनायी जाय उसकी ऊँचाई के तीसरे भाग के समान ही उसका निर्गम (निकास) बनाना चाहिए।] अर्थात् यदि १२ फुट ऊँची मत्तवारणी बनायी जाय तो उसके आगे की निकासी या छज्जा (छतरी) ४ फुट आगे निकलना चाहिए। भारतीय नाट्य-प्रणाली में मत्तवारणी अत्यन्त आवश्यक होती थी क्योंकि एक ही अंक-दृश्य में कई स्थलों पर अभिनय करने का निर्देश होता था। यह अभिनय मुख्यतः रंगपीठ पर आगे होता था। फिर जब कहा जाता था कि हमें अमुक स्थान पर ले चलो तब वे परिक्रमण करते थे (पूरा घूमते थे) और मत्तवारणी में सजे हुए दृश्य में पहुँचा दिये जाते थे।

अभिज्ञानशाकुन्तल का षष्ठ अंक लीजिए—

राजा का साला और उसके पीछे दो राजपुरुष धीवर को बाँधकर लाते हैं। सब राजद्वार पर पहुँचने के लिए घूमते हैं (सर्वे परिक्रामन्ति), फिर सब जाते हैं। इस प्रवेश के पश्चात् सानुमती अप्सरा नाट्य से अवतरण करके आती है। इस नाट्य के लिए रंगमंच के दो स्तर आवश्यक हैं। वहीं दो दासियाँ आती हैं, कंचुकी आता है, राजा और विदूषक का प्रवेश होता है। ये माधवीमण्डप में जाने के लिए घूमते हैं (उभौ परिक्रामतः)। यह माधवीमण्डप एक मत्तवारणी में बना होता है। वहाँ बैठकर चित्र बनाया जाता है, राज-कार्य भी पत्र द्वारा देखा जाता है। विदूषक चला जाता है। इतने में विदूषक का आर्तनाद सुनकर राजा बाहर निकल आते हैं और फिर वेग से उधर बढ़ जाते हैं जिधर दूसरी ओर की मत्तवारणी में प्रासाद बना हुआ है। अतः मत्तवारणी का रंगशीर्ष पर दोनों ओर होना अनिवार्य है।

५. इनके बैठने का स्थान सीढ़ीदार ढलवाँ होना चाहिए। इसके अतिरिक्त नाट्य-मण्डप का आकार पर्वत की गुफा के समान होना चाहिए, अर्थात् आगे जहाँ दर्शक बैठते हैं वह चौड़ा-ऊँचा हो जो रंगमंच पर पहुँचकर भोंपे के पिछले भाग के समान सँकरा हो जाय। इससे लाभ यह होता है कि रंगमंच पर बोला हुआ प्रत्येक शब्द सामने स्पष्ट सुनाई देता है।

६. बैठने का स्थान सीढ़ीदार और ढलवाँ होना चाहिए।

७. रंगमंच के खम्भों और भीतों पर अच्छी सजावट होनी चाहिए और रंगमंच का तल (फ़र्श) चिकना समतल होना चाहिए।

८. नेपथ्य से रंगपीठ पर उतरने के लिए दो द्वार होने चाहिए। यह भी स्पष्ट नहीं है, क्योंकि विकृष्ट के प्रकरण में दो द्वार (कार्यद्वारद्वयं चात्र नेपथ्यगृहकस्य च) की बात है किन्तु चतुरस्र में नेपथ्यगृह से एक द्वार (द्वारं चैकं भवेत्तस्य रंगपीठप्रवेशने) का विधान है और फिर रंग के सामने दूसरे द्वार की बात बतायी गयी है (रंगस्याभिमुखं कार्यं द्वितीयं द्वारमेव तु)। त्र्यस्र में भी इसी प्रकार बताया है कि मध्य में त्रिकोण रंगपीठ हो और एक प्रवेशद्वार उसी कोने से हो, दूसरा रंगपीठ के पीछे से। (द्वितीयं चैव कर्तव्यं रंगपीठस्य पृष्ठतः) बताकर उसे अस्पष्ट कर दिया है। मुख्य बात यह है कि एक द्वार नेपथ्य-गृह के सामने रंगपीठ पर खुले और एक पार्श्व से हो।

९. खम्भे कैसे, कितने, किस-किस क्रम से लगाये जायँ यह विवादग्रस्त छोड़ दिया गया है और सब स्थानों पर यही बता दिया गया है कि 'तत्र स्तम्भाः प्रदातव्यास्तज्ज्ञैर्मण्डप-धारणे' (खम्भे खड़े करने की विद्या जानने वाले लोग जहाँ ठीक हो वहाँ खड़े कर लें)। वास्तव में यह विवरण वास्तुशास्त्र वालों पर छोड़ दिया गया है, इसलिए इस सम्बन्ध में अटकलें लगाना और माथा-पच्ची करना व्यर्थ है।

भावप्रकाशनकार ने दशम अधिकार में तीन प्रकार के रंगमंडप माने हैं—चतुरस्र, त्र्यस्र और वृत्त। उसमें कहा गया है—जहाँ पर सभापति के मित्र सभ्य लोगों का गायन, वादन, नर्तन से युक्त भावों से रंजन होता है उसे रंगमण्डप कहते हैं। जहाँ अन्य देशों की नाट्य-मंडली वालों, नागरिकों तथा सज्जनों को राजा की ओर से संगीत सुनाने की योजना होती है वह वृत्त (गोल) रंगमंडप होता है। जहाँ वेश्या, अमात्य, धनिक, सेनापति, मित्र और पुत्रों के साथ राजा संगीत का आनन्द लेता है वह चतुरस्र होता है। त्र्यस्र मंडप में मार्गी संगीत, चतुरस्र में मार्गी और देशी मिश्रित संगीत तथा वृत्त में मार्गी देशी संगीत के साथ और भी विचित्र क्रियाएँ मिली रहती हैं। नाट्य-मंडप का यह भेद और उनके प्रयोजन की यह रीति सबसे भिन्न और नवीन है।

कुछ विद्वानों ने विचित्र चित्र खींच-खींचकर बड़े विस्तार से अटकल लगाकर तीनों प्रकार के प्रेक्षागृह समझाने का प्रयत्न किया है। किन्तु वह बौद्धिक प्रयास निरर्थक है। हाँ, यह निश्चित है कि भारतीय रंगमंच कलात्मक रीति से सजे हुए होते थे किन्तु भरत ने जैसे नाट्य-मंडप की बात कही है वैसे कभी कहीं बने या नहीं, यह संदेहास्पद है।

अध्याय २३

नाट्य-प्रदर्शन की पद्धतियाँ

भारतीय नाट्य-प्रदर्शन-पद्धति यह थी कि पहले पूर्वरंग प्रस्तावना होती थी और उसके पश्चात् ऐसे नाटकीय ढंग से नाटक प्रारम्भ कर दिया जाता था कि प्रस्तावना की समाप्ति से नाटक सहसा उद्भूत हो जाता था, जैसे अभिज्ञान-शाकुन्तल की प्रस्तावना के अन्त में नटी से सूत्रधार कहता है—

'तुम्हारे गीत के मोहक राग ने मेरे मन को बलपूर्वक वैसे ही खींच लिया, जैसे यह वेग से दौड़ता हुआ हरिण राजा दुष्यन्त को यहाँ खींच लाया है।'

बस, सूत्रधार-नटी दोनों निकल जाते हैं और मृग का पीछा करते हुए राजा दुष्यन्त का प्रवेश हो जाता है।

यद्यपि दृश्यों की सजावट होती थी किन्तु अभिनय प्रतीकात्मक या भावात्मक होता था। 'रथावतरणं नाटयति' का अर्थ यही है कि रथ से उतरने का नाट्य किया जाता है। न रथ होता था, न उससे उतरा जाता था। इसी प्रकार 'घटसेचनं नाटयति' का अर्थ यही था कि घड़े से जल सींचने का नाट्य किया जाता था, न घड़ा होता था न पानी।

भारतीय नाटकों में विमान (कंधे पर उठाये जा सकने वाले मंच) का प्रयोग होता था। विशेषतः देवता और राजा लोग पैदल नहीं प्रवेश करते थे। वे विमान पर बैठाकर लाये जाते थे और रंगपीठ पर स्थापित कर दिये जाते थे। इसी लिए संस्कृत नाटकों में निर्देश मिलता है—"ततः प्रविशति आसनस्थो राजा विदूषकश्च:" (तब आसन पर बैठे हुए राजा और विदूषक प्रवेश करते हैं)।

रंगमंच पर खुलने वाले नेपथ्य-द्वार पर जवनिका, पटी, अपटी (परदा) होती थी जिसे हटाकर अभिनेता रंगपीठ पर उतरते थे। रंगशीर्ष पर भी कभी-कभी दोनों मत्तवारणियों के बीच में जवनिका होती थी, विशेषतः जब नाटक में नाटक या नृत्य दिखाना होता था, जैसे बालरामायण में, उत्तररामचरित में और मालविकाग्निमित्र में। एक दृश्य समाप्त होने पर सब चले जाते थे, भले ही दूसरे दृश्य में उन्हें आना पड़े।

कुछ लोगों ने 'यवन' से 'यवनिका' शब्द की व्युत्पत्ति करते हुए बताया है कि यह 'यवनिका' यूनान से आयी, किन्तु यह शब्द 'जवनिका' है 'वेग से चलने या सरकने वाली।' हमारे यहाँ देव-मन्दिरों में, विशेषतः वैष्णव मन्दिरों में मूर्ति के शृंगार और भोग के समय परदा डालने और शृंगार या भोग हो चुकने पर उसे वेग से खींच देने की प्रथा है जिसका प्रयोग व्यापक रूप से होता रहा है। भरत ने नाट्यशास्त्र में स्पष्ट कहा है—

ध्रुवायां संप्रयुक्तायां पटे चैवावकर्षिते।
कार्यः प्रवेशः पात्राणां नानार्थरस-संभवः॥

[ध्रुवा अर्थात् गीत आदि हो चुकने और पट (परदा, जवनिका) खींच देने पर पात्रों का प्रवेश कराया जाय....।]

इस जवनिका के प्रयोग का प्रत्यक्ष प्रमाण मालविकाग्निमित्र नाटक के द्वितीय अंक में मिल जाता है, जहाँ राजा कहता है—

नेपथ्यपरिगतायाश्चक्षुर्दर्शनसमुत्सुकं तस्याः।
संहर्तुमधीरतया व्यवसितमिव मे तिरस्करिणीम्॥

[हे मित्र! नेपथ्य में खड़ी हुई अपनी प्यारी को देखने के लिए मेरी आँखें ऐसी उतावली हो रही हैं, मानो वे इस अधीरता में पटी या परदा [तिरस्करिणी] हटाने पर तुल गयी हों।]

इसके पश्चात् मालविका अपने गुरु गणदास के साथ आती है, क्योंकि नृत्य के अनुसार नर्तकी के साथ एक कुशल नट होना ही चाहिए। नृत्य हो चुकने पर मालविका पुनः नेपथ्य में चली जाती है और राजा कहता है—

भाग्यास्तमयमिवाक्ष्णोर्हृदयस्य महोत्सवावसानमिव।
द्वारपिधानमिव धृतेर्मन्ये तस्यास्तिरस्करिणीम्॥

[उसका परदे के पीछे छिपना मुझे ऐसा लग रहा है मानो मेरी आँखों का भाग्य फूट गया हो, जी का उल्लास ठंडा पड़ गया हो और धीरज पर ताला लग गया हो।]

इस विवरण से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि नेपथ्य और रंगमंच के बीच नेपथ्य-द्वार पर परदा अवश्य रहता था और कालिदास के समय इसे तिरस्करिणी, पटी और अपटी कहते थे। इस परदे या तिरस्करिणी का प्रयोग वहाँ भी होता था जहाँ कोई पात्र रंगमंच पर इस प्रकार उपस्थित होता था कि अन्य पात्रों से वह अलक्षित रहे। अभि-

ज्ञान-शाकुन्तल के पंचम अंक में सानुमती अप्सरा तिरस्करिणी से अपने को छिपाकर (तिरस्करिणीप्रतिच्छलाच्छन्ना) चलती है। किन्तु यहाँ तिरस्करिणी का अर्थ वह विद्या है जिसके द्वारा मनुष्य अपने को अदृश्य कर लेता है। किन्तु परदे के अर्थ में भी कालिदास ने इस शब्द का खुलकर प्रयोग किया है—"तिरस्करिण्यो जलदा भवन्ति" (कुमारसम्भव १।१४)। ये परदे रंगमंच पर यथावसर तथा यथावश्यक जहाँ उचित होता था टाँग दिये जाते थे।

कक्ष्या

भरत ने रंगमंच के सम्बन्ध में कक्ष्या का भी विधान किया है, और बताया है—

> **कक्ष्याविभागो निर्देश्यो रंगपीठपरिक्रमात्।**
> **परिक्रमेण रंगस्य कक्ष्या ह्यन्याविधीयते॥**

[रंगपीठ पर परिक्रमण करने या घूमने से कक्ष्या-विभाग निर्देश कर देना चाहिए क्योंकि रंग पर परिक्रमण करने से ही दूसरी कक्ष्या हो जाती है]।

ऊपर बताया जा चुका है कि मत्तवारणी में ही ये कक्ष्याएँ या कोठरियाँ बना ली जाती थीं। ये कक्ष्याएँ तीन होती थीं—रंगपीठ से लगी हुई कक्ष्या बाह्य, नेपथ्य-गृह से लगी हुई कक्ष्या आभ्यन्तर और इन दोनों के बीच मध्य होती थी। ये कक्ष्याएँ रंगमंच के दोनों ओर होती थीं और ये ही बाहर से आड़ या पक्ष (पखवाई) का भी काम करती थीं और इन्हीं से पार्श्व की ओर आगम और निर्गम होता था, जैसे अभिज्ञान-शाकुन्तल के पाँचवें अंक में बीच में तो राजा का सिंहासन लगा रहता है, इसलिए कण्व के शिष्य आदि तथा प्रतिहारी इन्हीं कक्ष्याओं की ओर से प्रवेश और निर्गम करते हैं। इन्हीं कक्ष्याओं के आगे और मत्तवारणियों में अनेक प्रकार के दृश्यों की अवतारणा कर ली जाती थी।

ये कक्ष्याएँ या इन कक्ष्याओं का स्थान कितनी दूर पर निर्दिष्ट हो इसका निश्चय पात्रों के परिक्रमण (घूमने) की संख्या से होता था। यदि दूर का स्थान निर्देश करना होता था तो पात्र देर तक परिक्रमण करते (टहलते रहते) थे और समीप होता था तो थोड़ा ही परिक्रमण करते थे। हमारे यहाँ रामलीलाओं में अभी तक इस पद्धति का प्रयोग होता है। भरत ने कहा भी है—

> **सैव भूमिस्तु बहुभिर्विकृष्टा स्यात्परिक्रमैः।**
> **मध्या वा सन्निकृष्टा वा तेषामेवं विकल्पयेत्॥ नाट्य० १४-१६**

[वही भूमि बहुत परिक्रमों से अधिक दूर की, उससे कम परिक्रमों से मध्य दूरी की और थोड़े परिक्रम से पास की बन जाती है।]

प्रवेश और निर्गम

भरत ने बताया है कि प्रमुख पात्र सदा आभ्यन्तर कक्ष्या में रहता था और गौण पात्र मध्यम कक्ष्या से आकर रंगशीर्ष के बीच में बैठ जाता था। अपनी बात कहने वाला पात्र उत्तर द्वार से प्रवेश करके दक्षिण की ओर मुंह करके संदेश कहता था और लौटकर उसी द्वार से चला जाता था जिससे आया था। यदि वह बाहर गया हुआ पात्र फिर किसी काम से लौटकर आये तो जिधर से आया हो उधर से ही लौटे।

नाटक का समय

भरत ने नाटक खेलने के लिए चार बेलाएँ बतायी हैं—प्रातःकाल, दिन के तीसरे प्रहर, रात के पहले प्रहर और रात के चौथे प्रहर में। रात के चौथे प्रहर और प्रातःकाल की बात सुनकर आश्चर्य हो सकता है, किन्तु नाट्य तो चाक्षुष यज्ञ माना जाता था इसलिए ब्राह्म मुहूर्त में और द्वि-सन्ध्याकाल में उसका विधान अनुचित नहीं है। इसी लिए प्रातःकाल धार्मिक नाटक, तीसरे पहर सत्त्वगुण-प्रधान तथा प्रौढ़ भाषा वाले नाटक, रात के प्रथम प्रहर में शृंगार और संगीत-प्रधान नाटक और रात्रि के चौथे प्रहर में करुण नाटक खेलने का विधान किया गया और यह भी ध्यान रखा गया कि भोजन और शयन के समय नाटक खेलकर जनता के स्वास्थ्य को हानि न पहुँचायी जाय। हाँ, यह छूट अवश्य थी कि प्रसंग, देश, काल और दर्शकों की प्रेरणा तथा राजाज्ञा से किसी भी समय नाटक खेला जा सकता था।

नाटक में समय का बड़ा ध्यान रखा जाता था और ठीक समय में नाटक पूर्ण किया जाता था। पूर्वरंग क्रिया के समय ही जब पारिपार्श्विक के हाथ सूत्रधार "जर्जर" (इन्द्र का दण्ड) दे देता था तभी जल में घटिका डाल दी जाती थी और जब वह घटिका भर जाती थी तभी नाटक पूर्ण हो जाता था।

इन नाटकों में कौन किस प्रकार बैठते थे, इसका विवरण अभिनयदर्पण में दिया हुआ है—

"सभापति को पूर्व की ओर मुंह करके बैठना चाहिए। इसका अर्थ यह है कि रंग-शाला का मुख पश्चिम की ओर हो। सभापति के दोनों ओर कवि, मन्त्री और मित्रगण बैठें। उनके सामने रंग पर नृत्य हो। नर्तकी के साथ एक कुशल नर्तक सदा रहे। नर्तकी की बायीं ओर दो व्यक्ति तालधारी (मजीरे वाले) हों और उसके दोनों ओर दो

मृदंग वाले हों जिनके बीच में गायक हो और उसी के पास श्रुतिकार (स्वर देने वाला) हो।"

भारतीय रंगशाला की अभिनय-पद्धति से ही यह स्पष्ट है कि सम्पूर्ण क्रिया निश्चित विधि-विधान से होती थी, इसलिए केवल नाट्य-शास्त्र के अनुसार शिक्षित नट ही रंगमंच पर आ पाते थे, आज के समान कोई भी नत्थू-बुद्धू मुँह रँगवाकर रंगमंच पर नहीं पहुंच सकते थे।

नाट्य-मंडप और शिलावेश्म

विन्ध्य-मेखला में अवस्थित सरगुजा प्रदेश की पहाड़ी में सीतावेंगा और जोगीमारा गुफाओं में जो शिलावेश्म बना हुआ है उसे बहुत लोगों ने प्राचीन रंगमंच मान लिया और उसके लिए भरत का यह वाक्य भी समर्थन में दे दिया है—

कार्यः शैलगुहाकारो द्विभूमिर्नाट्यमण्डपः।

[पर्वत की गुफा की आकृति का अर्थात् आगे से चौड़ा भीतर से ढलता हुआ सँकरा नाट्य-मण्डप दो तल वाला बनाना चाहिए ; एक तल दर्शकों के स्थान के लिए, दूसरा तल रंगपीठ और नेपथ्य गृह के लिए।] किन्तु भरत ने "शैल-गुहाकार" लिखा है, "शैल गुहामध्ये" (पर्वत की गुफा में) नहीं लिखा। दूसरी ध्यान देने की बात यह है कि यह गुहा रंगनिर्माण की शास्त्रीय विधि से बनायी नहीं जा सकती, इसमें इष्टका और दासकर्म के लिए अवकाश नहीं है। तीसरी मुख्य बात यह है कि उस उजाड़, बीहड़, निराले, निर्जन स्थान में सार्ववर्णिक छोटा सा मंडप बनाने का तुक क्या था और यदि वह लोक-नाट्य-मंडप था तो जोगीमारा के शिलालेख में यह क्यों लिखा है—

सुतनुका नाम देवदाशिक्यो...
तं कामयिथ बाल (ा) न शेये...
देवदिते नाम लूपदखे।

[सुतनुका नामक देवदासी ने अपने छैले (रूपदक्ष) बनारसी मित्र (के साथ प्रणय-क्रीड़ा) के लिए बनवाया था।]

और यह उसी प्रकार का शिलावेश्म था जिसका उल्लेख मेघदूत (१।२७) में है—

नीचैराख्यं गिरिमधिवसेस्तत्र विश्रामहेतोः
त्वत्संपर्कात् पुलकितमिव प्रौढपुष्पैः कदम्बैः।
यः पण्यस्त्रीरतिपरिमलोद्गारिभिर्नागराणाम्
उद्दामानि प्रथयति शिलावेश्मभिर्यौवनानि॥

[हे मेघ! वहाँ पहुँचकर तुम नीच नाम की पहाड़ी पर थकावट मिटाने के लिए उतर जाना। वहाँ फूले हुए कदम्ब के वृक्षों को देखकर ऐसा जान पड़ेगा मानो तुमसे भेंट करने उसके रोम-रोम फहर उठे हों। उस पहाड़ी की गुफाओं में से उन सुगन्धित पदार्थों की गन्ध निकल रही होगी जो वहाँ के छैले अपनी प्रेमिकाओं और वेश्याओं के साथ रति करते समय काम में लाते हैं। इससे तुम यह भी जान लोगे कि वहाँ के नागरिक कितना खुल्लम-खुल्ला जवानी का रस लेते हैं।]

इसी शिलावेश्म को कुमारसम्भव में कालिदास ने दरीगृह (१।१०) कहा है—

वनेचराणां वनितासखानां दरीगृहोत्संगनिषक्तभासः।
भवन्ति यत्रौषधयो रजन्यामतैलपूराः सुरतप्रदीपाः॥

[वहाँ किरात जब अपनी-अपनी प्रियतमाओं के साथ रति-विहार करते हैं उस समय यहाँ की चमकीली जड़ी-बूटियाँ ही उनके लिए बिना तेल के दीपक बन जाती हैं।]

यत्रांशुकाक्षेपविलज्जितानां यदृच्छया किम्पुरुषांगनानाम्।
दरीगृहद्वारविलम्बिबिम्बास्तिरस्करिण्यो जलदा भवन्ति॥ १-१४

[इन गुफाओं में अपने प्रियतमों के साथ रतिक्रीड़ा करते समय जब किन्नरियाँ अपने शरीर पर से वस्त्र हट जाने के कारण लजाने लगती हैं तब बादल ही उन गुफाओं के द्वारों पर परदे बनकर अँधेरा कर देते हैं।]

यह श्लोक सीतावेंगा सम्बन्धी दो समस्याओं का समाधान कर देता है। एक तो यह कि ऐसे दरीगृह काम-विलास के लिए प्रयुक्त होते थे और दूसरी बात यह कि उनके द्वार पर परदे स्वभावतः टाँगे जाते थे। बेचारे किन्नर कहाँ से परदा लायें, इसलिए बादल ही परदे बन जाते थे। सौन्दरनन्द (६, ३३) में भी विलास के लिए गुहा के प्रयोग का वर्णन मिलता है।

प्राचीन समय में छैले आनन्द-विलास के लिए पूरी मण्डली लेकर चलते थे, जैसे बाणभट्ट ने हर्षचरित के आरम्भ में स्वयं अपने सम्बन्ध में लिखा है। हमारे यहाँ पूर्वी उत्तर प्रदेश और बिहार के राजाओं, भूमिपतियों और धनिकों की तो आज तक यह विशेष रीति है कि स्थान-स्थान पर बसी हुई अपनी छावनियों में जाकर अनेक प्रकार के रागरंग करते रहते हैं। इसके लिए वात्स्यायन ने विस्तृत विधान भी कामशास्त्र में दिया है।

सीतावेंगा गुफा में जो दो पंक्तियाँ उत्कीर्ण मिलती हैं—

आदि पयंति हृदयं। सभावागरुकवयो ए रातयं
दुले वसन्तिया। हासावानुभूते। कुंदस्फतं एवं अलग (त)

इसका अर्थ जो डा० ब्लाख ने अटकल से लगाया है वह निरर्थक है। किन्तु इससे यह ध्वनि स्पष्ट निकलती है कि यहाँ कभी हास-विलास के साथ वसन्तोत्सव अवश्य मनाया गया।

जोगीमारा गुफा की भीतरी भीत पर बने हुए चित्र भी इस बात के साक्षी हैं। उसमें बीच में एक वृक्ष के नीचे एक पुरुष बैठा है, जिसकी बायीं ओर नर्तकियाँ और वादक हैं। दाहिनी ओर शोभायात्रा और हाथी हैं। और भी जो चित्र हैं विलास-परक ही हैं जो सम्भवतः सुतनुका और उसके प्रेमी देवदत्त की प्रणय-लीला के द्योतक हैं।

कुछ विद्वानों ने इसमें सीढ़ीनुमा बैठकें लगी देखकर इसे यूनानी प्रभाव समझ लिया है। किन्तु एक तो भरत ने ही "सोपानाकृतिपीठकम्" का विधान किया और स्वयं हमारे यहाँ की प्रासाद-वास्तुकला और मन्दिर-वास्तुकला में प्रारम्भ से ही "सोपानाकृति पीठकम्" का विधान है। अतः उक्त कथन कपोल-कल्पना मात्र है।

इस सीतावेंगा गुफा में लम्बाई ४६ फुट और चौड़ाई २४ फुट है जिसमें भीतर तीन स्तरों पर मेधियों में रंगमंच बना है और प्रत्येक मंच ७ फुट ६ इंच और एक दूसरे से ढाई फुट ऊँचा तथा ढालू है। भीतर प्रवेश करने का भूमितल पीठिका के कोने की भूमि से कुछ नीचा है। भीतर प्रवेश करने के लिए बायीं ओर से सीढ़ियाँ बनी हैं। मंच के द्वार पर ही भूमि में दो गहरे छेद हैं जिनमें सम्भवतः लकड़ी गाड़कर परदे से ओट कर ली जाती होगी अर्थात् तिरस्करिणी डाल दी जाती होगी। इस गुफा के आगे सीढ़ी-नुमा दर्शकों के बैठने का स्थल है जिस पर गद्दे बिछाकर लोग बैठते होंगे। इस प्रेक्षागृह में पचास व्यक्ति सुख से बैठकर देख सकते होंगे। स्थान का यह संकोच अर्थात् केवल ५० व्यक्तियों के बैठने के लिए स्थल होना ही इस बात का पर्याप्त प्रमाण है कि यह नृत्यशाला केवल व्यक्तिगत विलास-शाला थी जिसमें वाराणसी का छैला देवदत्त अपनी प्रेमिकाओं और देवदासियों को लेकर स्वच्छन्द और एकान्त विहार करता होगा।

भारत में नाट्य-मंडप और नाट्य-कला का अस्तित्व सिद्ध करने के लिए वेद से लेकर हर्ष के समय तक इतने प्रभूत और पुष्कल प्रमाण मिलते हैं कि उनके लिए सीतावेंगा और जोगीमारा गुफाओं को पकड़ बैठना और उन्हें नाट्य-मंडप सिद्ध करने के लिए उछल-कूद करना उचित नहीं है।

चीनी रंगमंच

यह माना जाता है कि चीन में 'चाउ' राज्य परिवार के शासन के काल (११२२-२५५ ई० पू०) में ही नाटकीय प्रदर्शन प्रारम्भ हो गये थे और आठवीं शताब्दी ई० में ही ताङ् राज्य-परिवार का सम्राट् मिङ् ह्वाङ् इस प्रकार के प्रदर्शनों का प्रबल पोषक था। किन्तु वास्तव में युआन राज्य-परिवार-युग (१२८०-१३६८ ई०) के सुरक्षित लगभग १३० नाटकों के आधार पर ही हम चीनी नाटकों के सम्बन्ध में कुछ-कुछ जान सकते हैं। ये नाटक '१०० युआन नाटक' शीर्षक संग्रह में सन् १६०० में प्रकाशित हुए थे।

कुछ शताब्दियों पश्चात् 'कुन चू' में लोकप्रिय तत्त्वों का समावेश करके उसमें ग्राम-नाटक के तत्त्व सम्मिलित करके वर्तमान पेकिंग ऑपेरा के रूप में उसे और भी लोकप्रिय बना लिया गया। यद्यपि युआन नाटकों ने ही बाद के नाटकों को आधार प्रदान किया किन्तु युआन नाटक स्वयं ऐसी भाषा में लिखे हुए हैं कि बहुत कम लोग उन्हें पढ़ और समझ सकते हैं। इसी प्रकार "पेकिंग ऑपेरा" भी प्रयोग की ही वस्तु है, इसे कभी पुस्तक रूप में प्रस्तुत नहीं किया गया।

चीनी रंगमंच केवल मंच भर है जो एलिज़ाबेथीय रंगशाला के अग्रमंच (एप्रन) के समान होता है जिसके तीन ओर दर्शक बैठ जाते हैं। इनमें से पुरुष तो नीचे धरती पर बैठते हैं और स्त्रियाँ कुछ ऊँचे पर छोटे-छोटे परदों में बँटे हुए कक्षों (बॉक्सेज़) में। जिस मंच पर अभिनेता आकर अभिनय करते हैं उसके ऊपर या अभिनेताओं के पीछे प्रायः एक छज्जा या मंच बना होता है जो दैवी या स्वर्गीय पात्रों के लिए सुरक्षित रहता है। चीनी रंगमंच पर किसी प्रकार की दृश्य-सज्जा (सीनरी) नहीं होती वरन् अत्यन्त भव्य और विशाल गोटे-ठप्पे, कलाबत्तू और ज़रदोजी के काम से कढ़ा हुआ बड़ा सा परदा पीछे पृष्ठपट के रूप में लटका रहता है।

सबसे विचित्र बात यह है कि जैसे हमारे यहाँ रामलीला में व्यासजी इधर से उधर पोथी लिये प्रत्येक अभिनेताओं को पाठ बताते फिरते हैं, उसी प्रकार चीनी रंगमंच पर रंग-सहायक (प्रॉपर्टी-मैन) निश्चिन्तता के साथ कुर्सी आदि संक्षिप्त आवश्यक सामग्री रंगमंच पर लाता और हटाता रहता है, अभिनय के बीच में ही अभिनेता आदि को भी छोटी-मोटी सामग्री थमाता और अभिनय के बीच में ही उनकी वेष-भूषा ठीक करता रहता है। इसका अर्थ यह है कि चीन के मंच पर वास्तविकता केवल अनावश्यक ही नहीं अवांछनीय भी समझी जाती है।

चीनी रंगमंच पर जो कुर्सी आदि छोटी-मोटी सामग्री अभिनेताओं को दी भी जाती है वह उनके अभिनय-भाव की कल्पना करने में सहायक होती है। उनका पूरा अभिनय

चित्र ३६—चीनी नायिका, उद्यान भूमिका में

इतन प्रतीकात्मक होता है कि एक कुर्सी लिटा कर रख देने से वे चट्टान का प्रतिनिधित्व करा देते हैं, फूल कढ़ा हुआ गलीचा ही उद्यान बन जाता है (चित्र ३६) और मेज़ ही पहाड़ का बोध कराती है। वे जितनी प्रतीकात्मक या रूढ मुद्राएँ प्रदर्शित करते हैं वे सबकी सब प्राचीन भारतीय चित्राभिनय-पद्धति को छोड़कर कहीं देखी नहीं जातीं। यदि किसी अभिनेता को पानी में चलने का अभिनय करना हो तो वह एक छोटा सा झंडा उठा लेता है जिस पर मछलियाँ चित्रित होती हैं। यदि उसे घोड़े पर चढ़ने का अभिनय करना होता है तो वह लम्बे-लम्बे डग भरता हुआ कोड़ा चलाता है। उसके रूढ प्रतीकों से ही वास्तविक भाव की कल्पना कर ली जाती है।

इसी प्रतीकात्मकता के अनुसार रंगमंच पर प्रस्तुत होने वाले पात्र अपने स्वर के अनुसार चार मुख्य प्रकारों में बँट गये हैं—(१) वीर (तार स्वर या ऊँचा स्वर), (२) सुरीला, (३) भारी और (४) हास स्वर। इनमें से प्रत्येक प्रकार के लिए निश्चित स्वर, ध्वनि और मुद्राएँ निर्धारित होती हैं। जहाँ एक ओर 'तान' (युवती) शरीर लचकाकर लय के साथ मटकती चलती है, वहीं दूसरी ओर 'लाओ तान' (बुढ़िया) अत्यन्त रूढ ढंग से काँपती, हिलती और झुकी हुई चलती है। इसी प्रकार नायक एक प्रकार से चलता है और खल नायक दूसरे प्रकार से। अतः ज्यों ही दर्शक किसी पात्र को देखते हैं त्यों ही उसके मुख से एक शब्द बिना सुने ही पहचान लेते हैं कि नाटक में इसकी कैसी और क्या भूमिका है। स्वर के उतार-चढ़ाव, चलने की गति और बाँहों के संचालन सब रूढ होते हैं और उसी के अनुसार संगीत भी चलता है, जैसे यदि कंधा हिलाया गया या हँसना हुआ तो उसी के अनुसार संगीत भी गति ग्रहण करता चलता है।

इनकी वेश-भूषा अत्यन्त भव्य होती है। किन्तु जिस विशेष नाटक में इनका प्रयोग होता है उसकी आवश्यकता से उनके रंग, उनकी काट-छाँट और बनावट का कोई सम्बन्ध नहीं होता। किन्तु कभी-कभी उनका विशेष अर्थ भी होता है, जैसे 'फूकोएइ' या उस भिखारी के चिथड़े जिसे आगे चलकर धनी होना होता है। अभिनेता आजकल मुखौटे नहीं लगाते। केवल नायक और स्त्रियों का मुख अस्पृष्ट खाल से चीता जाता है। इनका मुखराग (मेकअप) इतना गहरा और ऐसे ढंग से होता है कि कुछ अभिनेताओं के लिए तो ऐसा प्रतीत होता है मानो उन्होंने मुखौटे लगा रखे हों। इन मुख-रचनाओं से दर्शकों को पात्रों की अवस्था, चरित्र और प्रकृति का ऐसा जटिल आभास दिया जाता है कि रंगमंच पर लगभग २०० प्रकार के ऐसे मुख-रूपों के प्रदर्शन हो जाते हैं जिन पर बनी हुई प्रत्येक रेखा और प्रत्येक रंग का अपना महत्त्व होता है। मुख पर लगाये हुए रंगों का भी विशेष अर्थ होता है, जैसे बूढ़े के लिए भूरा, युवक के लिए श्वेत और धर्मात्मा के लिए नीला।

इन नाटकों में पश्चिम के संगीत-नाट्य (ऑपेरा) के समान निरन्तर ही संगीत-वाद्य चलता रहता है। इन चीनी नाटकों में वाद्य-संगीत इतना तीव्र और कर्णकटु होता है कि सम्भवतः हम लोग थोड़ी ही देर में ऊब उठें। चीनी नाटकों के अभिनेता सब पुरुष ही होते हैं जिनके पाँच प्रकार हैं—१. शेङ (नायक), २. तान (नायिका), ३. चिङ (खलनायक), ४. चाङ (विदूषक) और ५. मौ (अतिरिक्त पात्र) होते हैं जो अपने पाठ्य को रूढ स्वरों में और लम्बे संवादों में मंत्रपाठ के समान पढ़ते चले जाते हैं। यद्यपि उनमें कुछ वार्ता-संवाद भी होते हैं किन्तु अधिकांश गीत ही होते हैं। इनके नाटकों में करुणा अधिक प्रदर्शित होती है, प्रहसन अत्यन्त दरिद्र होता है और लोमहर्षक घटनाएँ अत्यन्त कोलाहलपूर्ण।

चीनी नाट्य-प्रदर्शन

चीनी नाट्य-प्रदर्शन भी विशेष रीतिबद्ध ढंग से होता है। प्रत्येक पात्र रंगमंच पर आते ही अपना नाम, कुल, शिक्षा-दीक्षा और वर्तमान पद सबका विवरण देता (देती) है और खलनायक तो अपने मन की सारी बात ही दर्शकों को बता देता है। पात्रों के शब्दों से ही यह स्पष्ट होता चलता है कि अब किस स्थान का दृश्य दिखाया जा रहा है। चीनी नाटकों में काव्यत्व का भी बड़ा अभाव होता है, इसी लिए चीनी रंगशाला का आनन्द उसकी नाटकीय शैली में उतना नहीं होता जितना उसके पूर्ण प्रदर्शन में होता है। उनके संवाद बहुत रूढिबद्ध होते हैं और वे संवाद सहसा एक नाट्य-प्रसंग से दूसरे प्रसंग पर कूद जाते हैं। उनमें अति प्राकृतिक (सुपर नैचुरल) या दैवी दृश्यों और भावनाओं का अभाव होता है और रंगमंच का वातावरण उदात्त होने के बदले अत्यन्त साधारण स्तर तक उतर आता है। रंगमंच पर दरिद्रता और कंगाली अत्यन्त अभव्यता के साथ प्रदर्शित की जाती है।

किन्तु चीनी रगमंच ने यह बात अवश्य स्पष्ट कर दी है कि चतुर्थ-भित्ति रंगमंच (फ़ोर्थ व.ल स्टेज) की प्रकृतिवादी रूढियों पर अवलम्बित होकर ही दर्शकों का हृदय आकृष्ट नहीं किया जा सकता वरन् परिस्थिति, चरित्र और भावावेग के प्रदर्शन के लिए प्राच्य रंगशालाओं से भी कुछ ग्रहण किया जा सकता है।

जापानी रंगशाला (कबूकी)

जापान में मीजी परिवर्तन के पश्चात् ५० वर्षों में अनेक नाटकीय रूपों का विकास हुआ और बाहर से भी अनेक बाह्य रूप लाकर ग्रहण किये गये। आजकल भी पश्चिमी नाट्य-कला के नये—ऑपेरा, बैले, रिव्यू आदि—प्रयोग किये जा रहे हैं किन्तु

जापान की मुख्य नाट्य-शैली कबूकी ही है जिसमें इस युग तक के भी ज्ञात सभी नाट्य-तत्त्व विद्यमान हैं और जो पिछली तेरह शताब्दियों की जापानी नाट्य-रूढियों, परिपाटियों, संश्लिष्ट योजनाओं और विशेषताओं से भी संयुक्त हैं। कबूकी में अभिनय, संवाद, कंठ-संगीत, लगभग तीस से अधिक प्रकार के वाद्यों की संगति, नृत्य, पुत्तलिका-नृत्य सबके तत्त्व विद्यमान हैं।

कबूकी की उत्पत्ति सत्रहवीं शताब्दी में हुई और उसके प्रवर्तन का श्रेय इजूमो प्रान्त के ओकूनी देवता की उपासिका और उसकी नृत्य-मंडली को है। प्रारम्भ में यह 'नैम्बुत्सु ओदोरी' नामक नृत्य मात्र था। धीरे-धीरे जनता का प्रोत्साहन पाकर यह नाटक के रूप में विकसित हो गया। प्रारम्भ में कबूकी रंगशाला पर केवल स्त्रियाँ ही अभिनय करती थीं। फिर पुरुष और स्त्रियाँ दोनों मंच पर आने लगे। इससे इतना भ्रष्टाचार फैला कि स्त्रियों पर रोक लगा दी गयी और केवल कोमल स्त्री-प्रकृति वाले पुरुष ही स्त्रियों का अभिनय करने लगे। यह कबूकी यद्यपि बहुत पीछे का (सत्रहवीं शताब्दी का) और कम महत्त्व का तो है किन्तु है सबसे अधिक लोकप्रिय।

इस जापानी 'कबूकी' नाट्यशैली की उत्पत्ति नृत्य-गीताभिनयात्मक शैली के उस आदिम देहाती नृत्य से हुई जो 'नोह' नृत्य में आकर ऐसा व्यवस्थित हुआ कि रंगमंच और संगीत से उसका सम्बन्ध जुड़ गया। नृत्य के अतिरिक्त कुछ व्यंग्यात्मक प्रहसन भी 'नोह क्योजेन' (घरेलू व्यंग्यात्मक प्रहसन) से लेकर कबूकी रंगमंच पर खेले जाते थे और उनके तत्त्व कबूकी में भी होते थे, इसलिए वे कबूकी क्योजेन भी कहलाते थे।

नोह नाटक

जापानी नाटक का दूसरा रूप है नोह। नोह नृत्य और नोह क्योगेन में नाटक के दो मुख्य तत्त्व—नृत्य और व्यंग्यात्मक प्रहसन विद्यमान हैं, जिन्हें आज भी उच्च श्रेणी के लोगों ने सुरक्षित कर छोड़ा है। नोह क्योगेन चौदहवीं शताब्दी में ही पूर्णतः व्यवस्थित हो गया था। क्योगेन में नाटकों के समान संगीत-रहित अभिनय और संवाद होता है जो नोह नृत्य के बीच-बीच में प्रवेशक और विष्कम्भक के समान होता चलता है।

यद्यपि नोह नृत्य और नोह क्योगेन की विकास-कथा तो अज्ञात है किन्तु यह निश्चित है कि उनका सम्बन्ध उस गीगाकू (मुखौटा नृत्य) से अवश्य रहा है जो सातवीं शताब्दी में कोरिया वालों ने मध्य एशिया, भारत और चीन के माध्यम से ग्रहण करके जापान में चलाया। इस 'गीगाकू' के प्रदर्शन का रूढिगत विधान पीछे चीन से लिये

हुए 'संगाकू' के साथ जोड़ दिया गया जिसे लोग 'सरूगाकू' कहते हैं। यह प्रदर्शन सात सौ वर्ष बन्द रहने के पश्चात् मन्दिरों में प्रचलित 'एन्नेन-नो-माइ' नामक बहुरूप नृत्य से विकसित होकर पुनः कामाकुरा युग (१३वीं शताब्दी) में 'नोह' के रूप में ढला। उस समय 'नोह' में संगीत और नृत्य के माध्यम से कोई कथा कही जाती थी। बाद में यह एन्येन का 'नोह' नृत्य उस 'डेंगाकू' नृत्य से मिला दिया गया जो देहाती नृत्य का विकसित रूप मात्र था। तब से यह 'डेंगाकू नोह' कहलाने लगा। इस नोह-नृत्य और नोह क्योजन ने ही कबूकी के विकास में बड़ा योग दिया।

बुगाकू

उपर्यंकित नृत्यगीताभिनयात्मक नोह नाटक का प्रदर्शन मुखौटा लगाकर होता है। इसके वास्तविक तत्त्व 'बुगाकू' में प्राप्त होते हैं जो आज की राजसभा के संगीत के रूप में सुरक्षित है। पहले यह अत्यन्त भव्य 'मुखौटा-नृत्य' था जिसके अव्यवस्थित रूप को हेइ युग के संगीतज्ञों और नर्तकों ने जापानी बना लिया। यह 'बुगाकू' एक विशेष प्रकार के रंगमंच पर खेला जाता है। उसकी संगत के लिए शो, हिचिरिकी, कोतो, बिवा आदि वाद्य बजाये जाते हैं। इसके लम्बे गीत दो-दो घण्टे चलते रहते हैं। इस बुगाकू में नृत्य और गीत की दो धाराएँ हैं जिनमें से एक आयी भारत और चीन से, दूसरी आयी मंचूरिया और कोरिया से। यही जापानी नृत्य और संगीत का मूल है। प्रारम्भ में इस नृत्य के साथ संवाद भी चलते थे किन्तु पीछे अलग कर दिये गये और इस प्रकार इसे कबूकी का जनक समझना चाहिए। इस तरह यह सातवीं शताब्दी से नाट्य-कला की अखण्ड धारा जापान में विकसित होती चली गयी।

कबूकी का रंगमंच तीन ओर से दर्शकों से घिरा रहता है और इन्हीं दर्शकों के बीच से दो सँकरे ऊँचे पुष्प-पथ (खानामिची) नामक मार्ग होते हैं जिन्हें अभिनेतागण नेपथ्य से रंगमंच तक आने-जाने के काम लाते हैं। इस प्रकार पूरा नाटक ही दर्शकों के बीच में होता है और अभिनेताओं को अभिनय करने के लिए स्थान भी अधिक मिल जाता है।

चीन के समान ही जापान में भी रंग-सहायक (प्रापर्टी-मैन) अभिनेताओं के साथ-साथ ही काला कपड़ा पहने घूमता हुआ रंगमंच पर भी सामग्री हटाता, रखता तथा अभिनेताओं को आवश्यक सामग्री थमाता रहता है, किन्तु कबूकी में दृश्य-परिवर्तन इतना अधिक होता है कि यह रंग-सहायक ऐसी रीति और पद्धति से काम करता है जो चीनी रंगशाला वाले नहीं जानते।

कबूकी की दृश्य-सज्जा बड़ी विचित्र होती है। अभिनेताओं का अभिनय अधिकांश

सर्व-परिचित और रूढ गतियों तथा मुद्राओं द्वारा होता है। उनका मुखराग भी वैसा ही जटिल और रूढि-बद्ध होता है जैसा चीनियों का। इसमें खलनायक लाल रँगे जाते हैं और नायक श्वेत, किन्तु उनके मुख पर बनी हुई प्रत्येक रेखा उनकी अवस्था, सामाजिक परिस्थिति, स्वभाव और अभिनेता के तात्कालिक पद स्पष्ट कर देती है। जापानी रंगशाला में बहुत सा अभिनय तो बिना किसी सामग्री का प्रयोग किये केवल अभिव्यंजनात्मक मुखमुद्रा से ही कर दिया जाता है, जैसे द्वंद्वयुद्ध में केवल नृत्य-गतियों से एक की तलवार दूसरे की तलवार के पास पहुँच जाती है पर स्पर्श नहीं करती। इसी प्रकार बिना प्याले के चाय पी ली जाती है। यह अभिनय-पद्धति ठीक वैसी ही है जैसे हमारे यहाँ 'रथावतरणं नाटयति' या 'घट-सेचनं नाटयति' के लिए होती है।

दृश्य-सज्जा

जापानी रंगमंच पर सजावट बहुत होती है। अभिनेताओं के पीछे ढालू छत के साथ एक ढाँचा खड़ा करके और उसमें अनेक वास्तविक तथा रूढ दृश्यपीठ कलात्मक चित्रों से अलंकृत करके प्रस्तुत कर दिये जाते हैं। चक्रिल रंगमंच (रिवौल्विंग स्टेज) और झटकों (टेप) की जटिल प्रणाली से क्षण भर में स्थान-परिवर्तन हो जाता है और कोई भी बाहर का या भीतर का दृश्य ऐसा नहीं होता जो वास्तविक-तुल्य न प्रतीत हो। ये दृश्यपीठ सपाट पक्षों (फ़्लैट विंग) के प्रयोग से बनाये जाते हैं।

जापानी नाटक भी चीनी नाटकों के समान संगीतमय होते हैं जिनके गीत निरंतर वाद्यों के साथ गाये जाते रहते हैं। अधिकांश कबूकी नाटक इतने फूहड़ और ग्राम्य दृश्यों से भरे रहते हैं कि उनमें किसी प्रकार की नाटकीय कला ढूँढ़ना निरर्थक है।

यद्यपि संगाकू नर्तकों ने तो 'नोह' के विकास में योग दिया ही किन्तु चौदहवीं और पन्द्रहवीं शताब्दी के नार्मी कियोत्सुगू और उसके पुत्र सेयामी मोचोकियो ने 'नोह' नाटक का अधिक विकास किया। यह 'नोह' नाटक मन्दिर में उत्पन्न हुआ और आगे चलकर श्रेष्ठ सभ्य लोगों का प्रिय विनोद-साधन सिद्ध हुआ। यद्यपि इसके कुछ तत्त्व कबूकी में भी ले लिये गये थे तथापि यह अपने कठोर और अटूट नियमों में सदा बँधा ही पड़ा रहा।

इन नोह प्रदर्शनों के लिए रंगमंच बहुत सरल होता था। लगभग १८ फुट लम्बा और उतना ही चौड़ा स्थान इसके लिए पर्याप्त होता है जो चारों ओर से दर्शकों से घिरा रहता है। इसकी दाहिनी ओर एक सँकरा चौतरा गायकों के लिए और पीछे दूसरा चौतरा वादकों के लिए होता है जिस पर वादकगण वंशी और तीन प्रकार के ढोलों

का प्रयोग करते हैं। नेपथ्य-गृह कुछ दूरी पर बायीं ओर होता है जो मुख्य मंच से एक 'हाशिगाकारी' नामक मार्ग (पुल) द्वारा मिला दिया जाता है। इसी पुल पर से होकर अभिनेता रंगमंच पर आते हैं। सम्भवतः प्रारम्भ में ये नोह् नाटक जंगल या झाड़ी में होते रहे होंगे इसलिए हाशिगाकारी (पुल) पर कुछ वृक्ष लगा दिये जाते हैं और दृश्य-सज्जा के स्थान पर केवल एक लकड़ी का परदा पीछे लगा दिया जाता है जिसके एक ओर पाइन के वृक्ष का और दूसरी ओर बाँसों का चित्र बना होता है। हाशिगाकारी में भी पाइन की तीन शाखाएँ लगा दी जाती हैं।

इन अभिनेताओं के वस्त्र और मुखौटे अत्यन्त भव्य, रंग-बिरंगे तथा अत्यन्त कलात्मक होते हैं। इसमें सभी अभिनेता पुरुष होते हैं, जो बचपन से ही इस कला में दक्ष कर दिये जाते हैं। इस अभिनय की छोटी से छोटी मुद्रा का भी अर्थ और महत्त्व होता है। पंखे की अत्यन्त सूक्ष्म गति से ही मन का कोई भाव प्रकट कर दिया जाता है और हाथ के एक विशेष ढंग के प्रचालन से मन की कथा व्यक्त कर दी जाती है। यह सम्पूर्ण मुद्रा-कला पारम्परिक रीति से सिखायी जाती है।

जापानी रंगमंच पर भी चीनी रंगमंच के समान सामग्रियों का प्रयोग केवल व्यंजना के लिए होता है, वास्तविकता के लिए नहीं।

जापानी पुतली नाटक (बुनराकूजा)

इसी नोह् नाटक तथा भारतीय और चीनी नाटकों के प्रभाव से जापान में पुतली-मंच (मैरियोनेत स्टेज) का विकास हुआ। इस 'बुनराकूजा' में मनुष्य के आधे आकार की पुतलियों के द्वारा उच्चतम नाट्य-कला की अभिव्यक्ति हुई। इनमें से एक-एक पुतली तीन-तीन चार-चार व्यक्तियों द्वारा नियंत्रित की जाती है। इनकी गति भी बड़ी जटिल, रूढ और परम्परागत होती है तथा इनके लिए भी वैसे ही नाटक लिखे जाते हैं जैसे सजीव अभिनेताओं के लिए। यह पुतली-नाच भी जापान में १३वीं शताब्दी में भारत और चीन से पहुँचा। इसके अव्यवस्थित रूप को जोरूरी (नाटकीय गीत) के साथ मिला दिया गया जो सामेसामिशेन् वाद्य के साथ गाया जाता था। यह प्रदर्शन इतना कलात्मक हुआ कि इसके आगे 'कबूकी' भी फीका पड़ गया। किन्तु ये पुत्तलिका-रंगशालाएँ समाप्त हो गयीं और अब केवल ओसाका की 'बुनराकूजा' रंगशाला में 'जोरूरी' के रूप में ही अवशिष्ट रह गयी हैं।

आजकल बुनराकूजा या अन्य जिन रंगशालाओं में पुत्तलिका-नृत्य दिखाये जाते हैं उनमें बायीं ओर जोरूरी (गीत नाटक) गाये जाते हैं और पुतली नचानेवाले उन गीतों के अनुसार उन्हें चलाते हैं या यों कहना चाहिए कि कूमिसेन वाद्य की ताल पर पुतलियाँ

अभिनय करती हैं और कथा गायी जाती है। पुतलियाँ नचाने की दो रीतियाँ हैं—एक तो सीधे हाथ से पकड़कर और दूसरे डोरियों के सहारे, किन्तु बुनराकूजा की पुतलियों को तीन सूत्रधार चलाते हैं। जापानी पुतलियाँ संसार की सर्वश्रेष्ठ पुतलियाँ होती हैं। वे पुतलियाँ केवल हाथ-पैर ही नहीं वरन् भौंहें, आँखें, मुँह और उँगलियाँ भी चलाती हैं।

यूरोपीय रंगशालाएँ

भारत ने जिस भवन को प्रेक्षागृह कहा है उसी को यूरोप में और अमेरिका में 'थियेटर' कहते हैं। यह शब्द यूनानी भाषा के 'थियोथाइ' या 'थिए ओमाइ' शब्द से बना है जिसका अर्थ है 'देखने का स्थान'। यद्यपि यूरोपीय लेखकों ने नाट्यशाला का इतिहास एथेंस के दिअनुसस के थिएटर से ही प्रारम्भ किया है तथापि भारतीय प्रेक्षा-गृह उससे बहुत पुराना है और भारतीय नाट्य का विवरण बहुत पुराने ग्रन्थों में वैदिक काल से ही प्राप्त होता रहा है।

निश्चित रंगशालाओं का प्रारम्भ पश्चिम में यूनानी सभ्यता के साथ हुआ किन्तु उससे बहुत पहले ४००० ई० पू० मिस्र में मन्दिरों और समाधिस्थलों से सम्बद्ध कुछ नाटक हुआ करते थे। वहाँ ओसरिस देवता की पूजा के साथ नाट्य का प्रारम्भ हुआ और ओसरिस के मन्दिर में ही मूर्ति के सामने चौकोर मंडप में नाटकों का प्रयोग होता था, किन्तु उनका विशेष विवरण प्राप्त नहीं है।

यूनानी रंगशाला

यूनानी रंगशाला का प्रारम्भ बाल नृत्यस्थली (आरकेस्ट्रा) से हुआ जिसके बीच में एक वेदी और पैंड़ियाँ (बेमा) बनी रहती थीं जो मन्दिर से सम्बद्ध होती थीं। दर्शक लोग इसी नृत्यस्थली के चारों ओर मुख्यतः पहाड़ी के ढाल पर खड़े होते या बैठते थे, जैसे एथेंस में एक्रोपोलिस के नीचे दिअनूसी रंगशाला (दि अनूसिअन या डायोनीजियन थिएटर, छठी शताब्दी ई० पू०) में पहाड़ी की ढाल पर लकड़ी की पाटियाँ लगा दी गयी थीं और वेदी के पास लकड़ी का एक चौतरा बना दिया गया था। इसके थोड़े दिनों पश्चात् ही वहाँ एक स्थायी डेरा (स्क्रीन) खड़ा कर दिया गया जिसके पीछे अभिनेता अपने वस्त्र रखते और बदलते थे। धीरे-धीरे सारा अभिनय-व्यापार इस डेरे के सामने ही केन्द्रित हो गया और नृत्यस्थली के घेरे का मूल रूप ही समाप्त हो गया। पाँचवीं शताब्दी ई० पू० में दर्शकों के बैठने का स्थान पत्थर का बना दिया गया और अभिनय का स्थल भी अधगोला या उससे कुछ अधिक बड़ा बना दिया गया और इस अधगोले

के पीछे लकड़ी की दो तल्ला भीत (स्क्रीन) बना दी गयी। इसके पश्चात् इस लकड़ी की भीत के बदले एक या दो खण्ड की पत्थर की भीत बनाकर उसमें तीन द्वार खोल
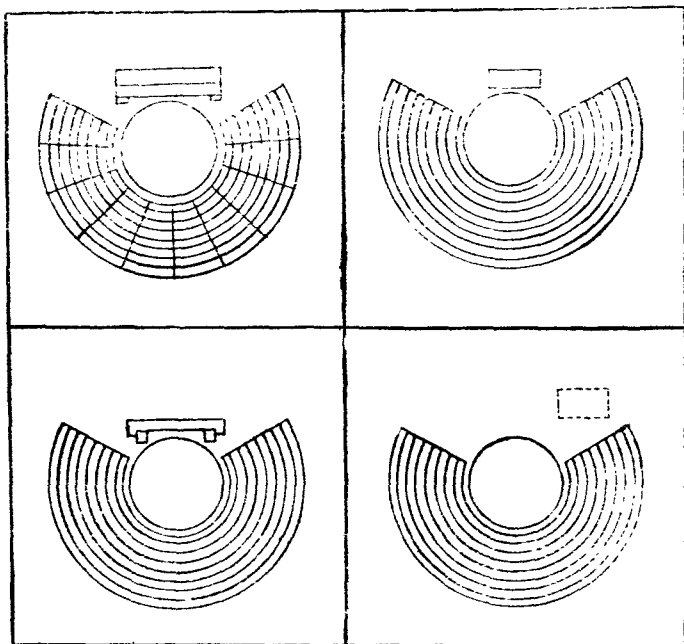
चित्र ३७—(क) प्राचीनतम रूप की यूनानी रंगशाला
(ख) रंगशाला के तीन भाग—बैठने का स्थान, समवेत गायन-पीठिका (आरकेस्ट्रा) एवं पृष्ठभित्ति
(ग) दृश्य-भवन के सम्मुख जुड़ी हुई बरसाती
(घ) दृश्य-भित्ति के साथ मंच जोड़ दिया गया है

दिये गये। इस भीत और अधगोले दर्शक-कक्ष (सेमीसर्कुलर ओडिटोरियम) के बीच में दोनों ओर शोभा-यात्रा-पथ (प्रोशेसन या पारोदोई) बना दी गयी। अब स्क्रीन (भीत) के सामने उठा हुआ चौतरा या अग्रमंच (प्रोसीन) ही मुख्य अभिनय का स्थल बन गया। थोड़े ही दिनों पीछे इस मंच पर आगे को निकली हुई पखवाइयाँ (साइडिंग्स या पारसके-निया) जोड़ दी गयीं और धीरे-धीरे उस पर दृश्य-पीठ तथा कुछ यंत्र-प्रक्रियाओं का भी प्रयोग होने लगा।

यूनान और एशिया माइनर में यूनानी रंगमंच की योजना इसी प्रकार से हुई। किन्तु अग्रमंच का बाहरी भाग स्वतन्त्र रूप से समृद्ध किया जाने लगा जिसमें एक विशेष प्रकार से अवस्थित खम्भों की पंक्ति अग्रमंच के पीछे वाली भीत के आगे खड़ी करके बनायी जाने लगी, जैसे इरीत्रिया, ओरोपस और प्रीन में है।

यदि सूक्ष्मता के साथ अध्ययन किया जाय तो प्रारम्भ में यूनानी थियेटर केवल गोल रेखा के भीतर नृत्य-चक्र मात्र था, जो मन्दिर की वेदी के चारों ओर बना रहता था। यह चक्र किसी पहाड़ी की ढाल से लगा हुआ बनाया जाता था और दर्शक इसी पहाड़ी की ढाल पर खड़े होकर या बैठकर वेदी या नृत्य-चक्र की क्रियाएँ देखा करते थे। सर्वप्रथम बने हुए यूनानी प्रेक्षाभवन ने इसी प्राकृतिक रूप से प्रेरणा प्राप्त की। परिणाम-स्वरूप एक गोल घेरा (आर्केस्ट्रा या आर्क्षेस्त्रा) तो समवेत गायकों (कोरस) और अभिनेता या अभिनेताओं के लिए बनाया जाता था और लकड़ी की पटरियों से जड़े हुए सीढ़ीनुमा उठे हुए घेरे में पहाड़ी की ढाल पर ही दर्शकों के बैठने का स्थान बना दिया जाता था। यह बैठने के स्थान का घेरा प्रायः नृत्य-मंच के चारों ओर लगभग दो-तिहाई या अधिक से घिरा रहता था। क्योंकि उस समय तक नृत्य या गीत ही अभिनय की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण था और दर्शकों को रंगमंच का सामना नहीं करना पड़ता था। किन्तु यह भी स्पष्ट है कि किसी भी युग में कोई भी दो यूनानी प्रेक्षागृह एक से नहीं रहे।

दिअनुसस के प्रेक्षागृह में दिअनुसस एलेअथरेअस देवता का मन्दिर एक्रोपोलिस के दक्षिण-पूर्व की ओर था। कुछ लोगों का मत है कि छठी शताब्दी के इस मन्दिर के रूप ने ही रंगपीठ (स्टेज) का रूप स्थिर करने में सहायता दी जो आगे चलकर बैठने के स्थान के सामने नृत्य-चक्र के साथ जोड़ दिया गया। किन्तु व्यापक रूप से यह माना जाता है कि अभिनेताओं के विश्राम और वेशभूषा-परिवर्तन के लिए नृत्यचक्र के एक ओर आवश्यकता के कारण एक डेरा (स्क्रीन) जोड़ दिया गया। आगे चलकर इसी डेरे (स्क्रीन) ने ही बढ़ते-बढ़ते रंगपीठ-भवन का रूप धारण कर लिया और यूनानी समृद्धि के युग में ही वह उन सम्पूर्ण सुन्दर वास्तुकला के अलंकरणों से सुसज्जित कर दिया गया जिनसे यूनानी लोग अपने भव्य भवनों की सज्जा करते थे।

इस डेरे (स्क्रीन) ने रंग-भवन का रूप कब धारण किया यह तो नहीं कहा जा सकता किन्तु पूर्ण प्रेक्षागृह के तीन प्रत्यक्ष खंड कई शताब्दियों में विकसित हुए—१ थिएत्रोन (प्रेक्षागृह), २. औरक्षीस्त्रा (नृत्यचक्र) या आरकेस्ट्रा और ३. सीन या स्क्रीन (दृश्य-भित्ति)। किन्तु उस युग में अभिनेता केवल नृत्य-चक्र में ही अभिनय आदि करते थे और यह दृश्य-भित्ति (स्क्रीन) केवल उनके अभिनय के वास्तु-कलात्मक

पृष्ठभाग के रूप में और अभिनेताओं के विश्राम-भवन की आड़ करने के काम में आती थी। यह भाग प्रेक्षागृह से पूर्णतः पृथक् था और इसके आगे दोनों ओर से प्रवेश मार्ग या गलियारे (पारादोइ) बने हुए थे।

यह रंगशाला पाँचवीं शताब्दी ई० पू० में प्रारम्भ हुई और थोड़े-बहुत परिवर्तन के साथ अस्कुलस, सफ़क्लेस और इउरिपिदेस के समय तक ज्यों की त्यों बनी रही। उस समय दृश्य (स्क्रीन) का रूप क्या था और वह कितना ऊँचा होता था इसकी केवल अटकल ही लगायी जा सकती है। किन्तु एथेंस में जो खुदाई हुई है, उससे प्रतीत होता है कि प्रारम्भ में जो रंगमंच (स्टेज) बना वह नृत्य-चक्र (आरकेस्ट्रा) से लम्बा होता था और उसके दोनों सिरे प्रेक्षागृह की ओर बढ़े रहते थे। पुरातत्व-वेत्ताओं ने इस बात पर बड़ी माथा-पच्ची की है कि उठा हुआ रंगपीठ कब प्रारम्भ हुआ, किन्तु यह निश्चित है कि यूनानी नाटक की समृद्धि के युग में कोई चत्वर-रंगपीठ (प्लेटफ़ार्म स्टेज) नहीं था। एथेंस की रंगशाला का सामान्य रूप यही था कि उसमें भित्ति (स्क्रीन) और नृत्यचक्र के बीच में पखवाइयाँ (पारसकीनिया) बना दी गयी थीं।

यूनानी रंगशालाएँ नियमित रूप से पहाड़ी की ढाल की तलहटी में बनायी जाती थीं जिससे बैठने की सीढ़ीनुमा बैठकों के लिए सहारा देने वाला ढाँचा न बनाना पड़े और यदि बनाना भी पड़े तो प्रेक्षागृह के दोनों बड़े छोरों के लिए ही केवल बनाना पड़े। प्रेक्षागृह (थिएत्रोन या ऑडिटोरियम) का भाग नीचे से ऊपर तक सीढ़ीदार खंडों में बँटा हुआ था जिसमें फन्नी (वैज) के आकार में बैठने के खंड सजे रहते थे। कभी-कभी ये खण्ड एक या अधिक पार्श्वीय भागों (लेटरल ईल) में भी बँटे रहते थे जिससे दर्शकों के आने-जाने, चढ़ने-उतरने में भी सुविधा हो।

आगे चलकर नृत्य-चक्र के साथ अभिनय के लिए एक सहायक ऊँचा मंच जोड़ दिया गया। इसके पश्चात् पूर्णतः भिन्न प्रकार का प्रेक्षागृह वह था जिसमें रंग-भवन के आगे दर्शकों की ओर एक ऊँचा सँकरा चौतरा या अग्रमंच (प्रौसकेनियन, प्रौसीनियम) जोड़ दिया गया जिसे कभी-कभी 'लोगेईऔन' (बोलने का स्थान) भी कहते थे। धीरे-धीरे ज्यों-ज्यों अभिनय की प्रधानता होती गयी त्यों-त्यों यह रंगभवन या दृश्य-भित्ति (स्क्रीन) ही ऐसे पृष्ठभाग और चौतरे के सम्मिलित रूप में विकसित हो गयी ताकि अभिनेता और भी स्पष्ट रूप से ऊँचे पर दिखाई देने लगें। यद्यपि प्रेक्षागृह और रंग-भवन दोनों अब भी अलग-अलग रहे किन्तु अभिनय तो नृत्यचक्र और रंगमंच दोनों में बँट गया।

यूनानी और यूनान-रोमी युगों में यह संकुचित भाषण-स्थली (लोगोइऔन) निरन्तर चौड़ी होती रही। इसमें अभिनेताओं को अपना स्वर भी बहुत साधना पड़ता

था। पहली बात तो यह थी कि स्वर इतना ऊँचा होना चाहिए था कि तीस सहस्र दर्शक सुन सकें और उसमें इतने प्रकार आवश्यक थे कि बालक, युवा, वृद्ध पुरुष और स्त्री सबकी बोली का वाचिक अभिनय अभिनेता कर सके। कुछ अभिनेता तो ऐसे भी थे जो संसार भर की लौकिक ध्वनियों का भी अनुकरण कर सकते थे, जैसे पवन की सरसराहट, बादल या समुद्र का गर्जन और पक्षियों तथा पशुओं की बोलियाँ। निम्न कोटि के अभिनेता प्रायः इन्हीं सब कलाओं से लोगों को आकृष्ट कर लेते थे।

प्रारम्भ में यूनानी रंगशाला इतनी अस्थायी और साधारण थी कि लकड़ी की चौकियों का मंच बनाकर उसके पीछे अभिनेताओं के लिए एक तमोटी खड़ी कर दी जाती थी और रंगमंच के आगे साधारण लकड़ी की पेटियों पर दर्शक बैठकर नाटक देखते थे। थेस्पिस के समय तक रंगशालाएँ स्थायी हो चुकी थीं। चौकियों के मंच और तमोटी के बदले स्थायी रंग-भवन बन गये थे और लकड़ी की पैड़ियों के बदले पत्थर का ढालू पैड़ीदार अर्धवृत्त प्रेक्षागृह बन गया था। इनमें सबसे प्राचीन रंगशाला एथेन्स की है जो ५०० ई० पू० में बननी प्रारम्भ हुई तो दो सौ वर्ष तक बनती ही रह गयी। इसके लिए एक पहाड़ी का ढाल चुन लिया गया और निचले तल से आधी गोलाई में बैठने के लिए पत्थर की सीढ़ियों की पालें ऊपर तक काट ली गयीं। इसका आकार देखने में घोड़े की नाल के समान था। इसमें नीचे बीच में गोल वाद्य-स्थल या नृत्य-स्थल (आरकेस्ट्रा) बना लिया गया जिस पर गायक समवेत गान करते थे। इसके पीछे रंगमंच या चौतरा था जो लम्बा तो बहुत था पर चौड़ा कम था। उसके पीछे रंगभित्ति या मुख्य दृश्य था जिस पर वास्तु-कला के प्रायः सभी शृंगार और स्तम्भ कलात्मक ढंग से बने हुए थे। इस मुख्य दृश्य के बीच में बहुत बड़ा द्वार था जिसके दोनों ओर छोटे-छोटे एक-एक या दो-दो द्वार होते थे और ये सभी द्वार अभिनेताओं के प्रस्थान या प्रवेश के काम आते थे। एथेन्स की रंगशाला का मुख दक्षिण की ओर था, जिसकी दाहिनी ओर दूर पर समुद्र और बायीं ओर समूचे देश का अन्तर्भाग था। जब कोई पात्र दूर देश से समुद्र-पथ से आता हुआ दिखाना होता था तो उसका प्रवेश दाहिने हाथ के द्वार से होता था और जो आस-पास के देश से आता हुआ दिखलाया जाता था उसका प्रवेश बायें हाथ के द्वार से होता था। गायक लोग भी दोनों पार्श्व के द्वारों से ही बीच के वाद्यस्थान में आते थे। रंगमंच इस वाद्यस्थान या नृत्यस्थली से लगभग १२ फुट ऊँचा होता था। जब अभिनेताओं और गायकों में संवाद चलता था तब गायक लोग अभिनेताओं की ओर मुँह तथा दर्शकों की ओर पीठ करके खड़े हो जाते थे और जब उन्हें उत्तर देना होता था तब वे दर्शकों की ओर मुँह कर लेते थे।

रंगमंच के पीछे की रंगभित्ति (स्क्रीन) उतनी ही ऊँची होती थी जितनी प्रेक्षागृह के सबसे पीछे की दर्शक-पीठिका। इससे अभिनेताओं को संवाद सुनाने में बड़ी सुविधा होती थी। दर्शक-कक्ष ऊपर से खुला रहने के कारण दर्शकों को भगवान् के भरोसे रहना पड़ता था। यद्यपि वर्षा और धूप दोनों में अपार कष्ट होता था तथापि उत्सव होता था वसन्तागम काल में, इसलिए धूप सुहावनी होती थी।
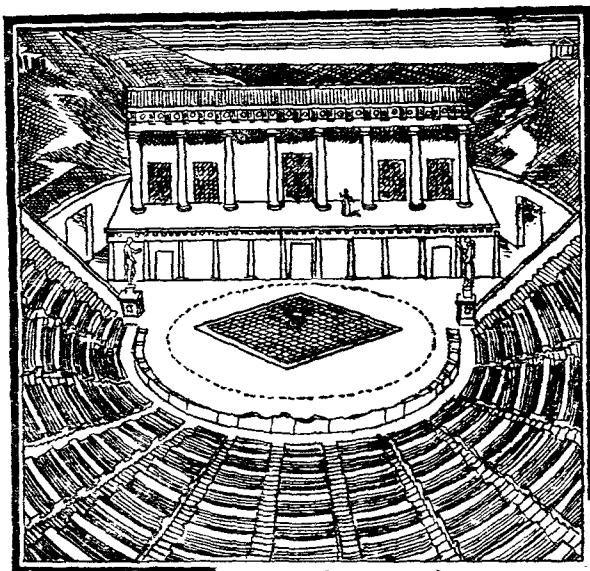
चित्र ३८—यूनानी रंगशाला

यूनानी नाटकों की प्रकृति देखने से भी प्रतीत होता है कि एक स्थान ऐसा होना चाहिए जहाँ अभिनेतागण अभिनय करें, उसके आगे दूसरा ऐसा स्थान होना चाहिए जहाँ गायक समवेत गीत गायें और तीसरा वह स्थान हो जहाँ दर्शक बैठें। दर्शक भी दो-चार सौ या सहस्र की संख्या में नहीं, कई सहस्र की संख्या में एकत्र होते थे। उस वसन्तोत्सव में जितने भी लोग एकत्र होते थे वे पुरोहित, राजकर्मचारी, कवि, अभिनेता तथा धनी नागरिक सब मिलकर यात्रा (जुलूस) बनाकर सुन्दर चमकदार रंगीन वस्त्राभूषण से सुसज्जित होकर, दिअनूसस के मन्दिर में जाते थे और वहाँ से मूर्ति लाकर रंगशाला में प्रतिष्ठित करते थे। पहले तो वहाँ सबको निःशुल्क नाटक दिखाया जाता था किन्तु जब यह आरोप होने लगा कि बाहरी आने वाले ही सब स्थान घेरकर

बैठ जाते हैं, तब नाम मात्र का शुल्क लगा दिया गया। यह उत्सव इतना पवित्र माना जाता था कि इसमें सम्मिलित होने के लिए बंदियों को भी मुक्त कर दिया जाता था। इसी लिए इतनी भारी भीड़ को नाटक दिखाने के लिए यूनानी रंगशाला का रूप आजकल की रंगशाला से स्वभावतः बहुत भिन्न होता था।

त्रिपृष्ठ-पटी

प्रसिद्ध यूनानी नाटककार अस्कुलस ने जिन विचित्र दृश्यों का प्रयोग अपने नाटकों में किया था वे केवल प्रतीकात्मक होते थे। रंगमंच के दोनों पार्श्वों में एक त्रिपक्षीय (तीन पहलुओं वाला) परदा खड़ा कर दिया जाता था जिसके तीनों ओर तीन विभिन्न चित्र बने रहते थे। ये परदे इस प्रकार घुमा दिये जा सकते थे कि तीन में से वह चित्र जनता के सम्मुख आ जाता था जिससे नाटक का दृश्य सम्बद्ध होता था। यह निश्चय-पूर्वक नहीं कहा जा सकता कि प्रारम्भ में यनानी रंगशाला में इस त्रिपृष्ठ-पटी (पीछे के परदे) का प्रयोग होता था या नहीं, किन्तु रोम की रंगशालाओं में उसका प्रयोग अवश्य होता था। इन त्रिपक्षीय चित्रों को घुमा देने के सरल विधान से दर्शकों को दृश्य-परिवर्तन का ज्ञान हो जाता था। यदि दोनों परदों में से एक घुमाया जाता था तो उसका अर्थ यह होता था कि घूमा हुआ दृश्य पिछले दृश्य के पड़ोस का है और यदि दोनों परदे घुमा दिये जाते थे तो उसका तात्पर्य यह होता था कि पूरा दृश्य ही बदल गया। सफ़क्लेस और इउरीपिदेस के नाटकों के अधिकांश दृश्य मन्दिर या राजभवन के सामने के हैं। अतः उनके लिए तो रंग-भित्ति (स्क्रीन) ही उपयुक्त पृष्ठ-दृश्य बन जाती थी। यदि त्रिपृष्ठ-पटी का प्रयोग होता भी होगा तो उसके निचले भाग में भवनों और प्राकृतिक परिदृश्यों का चित्रण हुआ रहता होगा और ऊपर के भाग में आकाश का, क्योंकि बहुत से नाटकों में देवता की भूमिका वाले पात्र प्रायः भवन के ऊपरी भाग में प्रकट होते थे। कभी-कभी तो इन देवता पात्रों को ऊपर से नीचे उतारने के लिए या देवताओं से मिलने जाने वाले पात्रों को ऊपर उड़ाकर ले जाने के लिए उत्थापकों (क्रेन्स) का प्रयोग किया जाता था।

दृश्यपीठ और यानमंच

यूनानी लोग प्रायः एक छोटी सी पहिएदार गाड़ी का भी प्रयोग करते थे जिस पर पात्रों को बैठाकर नीचे के बड़े द्वार से रंगमंच पर ढकेल देते थे। हमारे यहाँ भी "ततः प्रविशति आसनस्थो राजा विदूषकश्च" में विमान (कंधे पर उठायी जानेवाली चौकी) या इसी प्रकार की पहिएदार चौकी का प्रयोग होता था। यनानी रंगमंच पर भी

भारतीय नाट्यशास्त्र के सिद्धान्त के समान वध और युद्ध के उत्तेजनात्मक दृश्य निषिद्ध समझे जाते थे और वध के दृश्य रंगमंच के बाहर होते थे। यद्यपि वहाँ सभी दृश्य सामने प्रत्यक्ष होते थे किन्तु यदि कोई महत्त्वपूर्ण नाट्य-व्यापार नेपथ्य में किया भी जाता था तो पात्रों को विशेष स्थिर मुद्रा (टेबलौ) में पहिएदार चौकी पर बैठाकर मंच पर बढ़ा दिया जाता था। मंच पर बीच में कुछ चोर-छिद्र भी बने रहते थे जिन्हें खोलकर निम्न लोक में रहने वाले भूत, प्रेत, पिशाचादि को ऊपर लाया जाता था। पहले तो वेदी, समाधि, देवताओं की मूर्तियाँ आदि ही दृश्यपीठ (सेटिंग) के रूप में मंच पर स्थापित कर दी जाती थीं किन्तु आगे चलकर तो घोड़े और रथ भी मंच पर लाये जाने लगे।

एपीदौरस की रंगशाला प्राचीन रंगशालाओं में सबसे सुन्दर समझी जाती है। उसका रंगमंच यद्यपि केवल ८ फुट चौड़ा है किन्तु लम्बाई में ७८ फुट है जिस पर रथ भी लाया जा सकता है और घोड़ा भी दौड़ाया जा सकता है।

रोमी रंगशाला

रोमी प्रेक्षागृहों में रंगपीठ और दर्शक-कक्ष दोनों मिलाकर एक कर दिये गये और पहाड़ी की ढाल पर बनाने के बदले स्वतन्त्र रूप से डाट दे-देकर (आर्च कन्स्ट्रक्शन करके) स्वतन्त्र भवन के रूप में बना दिये गये । उसमें नृत्य-चक्र भी छोटा होकर अधगोला हो गया और दर्शक-स्थली से जुड़ गया। सारा अभिनय अब रंगपीठ (प्लेटफ़ार्म स्टेज) पर होने लगा जिसके पीछे अत्यन्त सुसज्जित और विस्तृत भित्ति-दृश्य (स्क्रीन) तथा पखवाइयाँ (पैरस्कीनिया) अत्यन्त कलात्मक सज-धज के साथ बहुत ऊँची खड़ी रहती थीं। प्रहसनों के काम आने वाले विशेष प्रकार के लकड़ी के चौतरे के रंगपीठ का कोई प्रभाव रंगमंच के परम्परागत रूप पर कुछ नहीं पड़ा।

रोम की रंगशालाओं में दृश्य-परिवर्तन की सुविधाएँ नहीं थीं, इसलिए यह माना जाता है कि वहाँ न तो चित्रमय दृश्य ही थे और न स्थान-परिवर्तन के निर्देश करने का कोई प्रयास ही कभी किया गया। हाँ, कुछ चमत्कारी प्रभाव और भूत-प्रेत आदि दिखाने के लिए यंत्रों का प्रयोग अवश्य किया जाता था। रंगमंच की भित्ति (स्क्रीन) ही एक दृश्य के रूप में बना ली जाती थी जिसमें नियमित रूप से पाँच द्वार होते थे—तीन तो पीछे की ओर और एक-एक दोनों पखवाइयों या पैरसकीनिया में। बीच का बड़ा फाटक ही प्रासाद-द्वार होता था। पौंपेआइ में प्राप्त दो रंगशालाओं में से बड़ी रंगशाला है तो हैलैनी युग की किन्तु वह भी तीन बार पुनर्निर्मित हुई और यह भी स्पष्ट नहीं है कि उसमें रोमी ढंग का नीचा रंगमंच कब बना। सम्भवत:

८० ई० पू० में जब सुल्ला ने पौंपिआइ में रोमन उपनिवेश स्थापित किया उस समय वह बना होगा। प्लूतार्क के अनुसार पौंपिआइ की रंगशाला मुतिलेने के अनुकरण पर बनायी गयी। इसका अर्थ यह है कि रोमी रंगशालाएँ बाद के यूनानी ढाँचे पर बनीं।

जनतान्त्रिक युग में जब यह पुकार मची कि दर्शकों के बैठने के स्थान वाले स्थायी प्रेक्षागृहों का रूप यूनानी विलासिता का द्योतक है और वह रोमी साम्राज्य के सरल नागरिकों की प्रकृति के अनुकूल नहीं है, तब १५४ ई० पू० में सीपियो नासिका ने महासभा (सीनेट) को प्रभावित करके सी० कैशियस लौंगिनस द्वारा प्रारम्भ की हुई प्रथम प्रस्तर रंगशाला ढहवा दी और जब ५५ ई० पू० में पौंपे ने रंगशाला बनवायी तो उसने वीनस विक्त्रिक्स की प्रतिमा ढाल के ऊपर रखवा दी जिससे यह समझा जाय कि सीढ़ियाँ दर्शकों के बैठने के लिए नहीं वरन् मन्दिर में पहुँचने के साधन के रूप में बनवायी गयी हैं। यह पत्थर की अत्यन्त सुन्दर रंगशाला ५२ ई० पू० में तैयार हुई जिसमें प्लीनू (प्लिनी) के कथनानुसार ४० सहस्र और हुइलसन के कथनानुसार ९ से ११ सहस्र तक दर्शक एक साथ बैठ सकते थे। इस रंगशाला का प्रयोग सिंहों और भयानक जंतुओं की लड़ाई आदि उन भयानक दृश्यों के लिए होता था जिन्हें रोम के लोग बौद्धिक विनोद की अपेक्षा अधिक रुचि के साथ देखते थे, क्योंकि इस रंगशाला के उद्घाटन के दिन ही तलवार चलाने का पराक्रम दिखाने वाले वीरों ने पाँच सौ सिंह और बीस हाथी इसी के प्रांगण में मार डाले थे। इसी रंगशाला के पास दो और भी रंगशालाएँ हैं जिनमें से एक वह थी जो जूलियस सीज़र ने बनवानी आरम्भ की थी और जिसे १३ ई० पू० में औगस्तस ने अपने भतीजे मार्सेलस के नाम से पूरा कराया और जिसका भव्य रूप आज तक विद्यमान है। दूसरी उसी समय के लगभग कौर्नेलियस बाल्वस ने बनवायी थी किन्तु उसका कोई चिह्न अब नहीं मिलता।

रोमी रंगशालाओं में अग्रमंच की बाहरी सज्जा (फ़्रोन्स सीनाय) और भी अधिक भव्यता के साथ कई खण्ड की होने लगी। यह सज्जा ६० और ५० ई० पू० में हुई। ये रोमी रंगशालाएँ यूनानी रंगशालाओं के समान पहाड़ी से घिरी हुई न होकर स्वतन्त्र रूप से अलग बनायी जाती थीं। इनमें दर्शक-कक्ष और नृत्य-स्थली की गहराई (चाविया या केविया) का रूप पूर्णतः अर्धगोलाकार हो गया था और रंगमंच भी यूनानी रंगमंच से कुछ नीचा हो गया था। इनमें से कुछ रंगशालाओं के मंच पर कहीं-कहीं छत भी डाल दी गयी थी जिससे वह अलग बन्द हो गया था, यहाँ तक कि उसके दोनों ओर शोभा-यात्रा के लिए बने हुए गलियारे (पारोदोइ) भी ढक दिये गये थे। पहली शताब्दी ई० पू० में रोमी रंगशालाओं का वास्तुरूप निश्चित हो चुका था, जैसे

रोम में मार्सेलस थिएतर या पौंपेआइ का थिएतर, जैसा कि वित्रूवियस और प्लीनू ने वर्णन किया है। रंगशालाओं में चल-दृश्य और जटिल यंत्रों का भी प्रयोग किया जाता था, किन्तु ईसाई धर्म के आगमन के साथ इन रंगशालाओं का भी अन्त हो गया।

प्लीनू ने एक और भी अत्यन्त भव्य रंगशाला का विवरण दिया है जिसे ५८ ई० पू० में ऐमीलियस सौरस नामक भवन-निर्माता ने बहुत द्रव्य लगाकर बनवाया था। कहा जाता है कि इसमें अस्सी सहस्र दर्शक एक साथ बैठ सकते थे। प्लीनू ने यह भी विवरण दिया है कि किसी क्यूरियो नामक व्यक्ति ने ५० ई० पू० में चूल पर घूमने वाली ऐसी दो लकड़ी की रंगशालाएँ बनावायी थीं जो प्रातःकाल तो दो अलग-अलग रंगशालाओं के रूप में काम आती थीं और तीसरे पहर उन्हें मिलाकर रंगभूमि (एम्फी थियेटर) बन जाता था, जिसके आगे रोमी खेल होते थे।

प्रायः रोम के सभी प्रान्तीय नगरों में एक-एक रंगशाला होती थी। वर्षा, धूप के कारण अथवा संगीत-प्रदर्शन के लिए ढकी हुई रंगशाला भी बनायी जाती थी, जैसी अओस्ता में है। ऐसी रंगशाला को ओदिया (संगीत-भूमि) कहते थे। ऐसा एक ओदेअम (संगीत-भवन) हैरोदस अत्तिकस ने अर्ध-गोलाकार भूमि से युक्त एथेन्स के एक्रोपोलिस के दक्षिण-पश्चिम कोने पर बनवाया था। पहाड़ खोदकर बनायी हुई इसकी गोलिया (केविया) में लगभग पाँच सहस्र दर्शक बैठ सकते थे और यह विशाल दिअनूसी रंगशाला से एक बरसाती के द्वारा जुड़ी हुई थी। वहाँ यह भी प्रथा थी कि खली रंगशालाओं के पास एक छोटी-सी ढकी हुई रंगशाला बनवा दी जाय जिससे आँधी-पानी में नाटक खेले जा सकें, जैसे पौंपेआइ में है।

रोमी लोग यूनानियों की अपेक्षा अधिक सज-धज और प्रचुरता के साथ दृश्य-सज्जा (सीनरी) और रंगमंच-प्रभाव का प्रयोग करते थे। वित्रूवियस ने तीन प्रकार के चल-दृश्यों का वर्णन किया है—१. त्रासद (ट्रेजेडी) नाटक के लिए सार्वजनिक भवनों का रूप दिखाने के लिए खम्भों सहित उनका बाहरी भाग, २. प्रहसनों के लिए खिड़कियों और छज्जों से युक्त साधारण लोगों के घर, और ३. व्यंग्य-नाटकों के लिए ग्राम के दृश्य जिनमें पहाड़, गुफा और वृक्ष सब दिखाये जाते थे।

इस विवरण से स्पष्ट हो जाता है कि यूनान और रोम में जो प्रारम्भिक नाट्य-शालाएँ बनीं उन्हें नाट्यशाला न कहकर नाट्य-अक्षवाट (नाटक का अखाड़ा) कहना अधिक उपयुक्त होगा। क्योंकि वे शालाएँ नहीं थीं, उनका आधा भाग अर्धवृत्ताकार होता था जो पहाड़ की ढाल पर दर्शकों को बैठाने के लिए सीढ़ियों के समान गोलाई में

काट लिया जाता था, उसके व्यास की ओर लम्बा सा अर्धवृत्त बना लिया जाता था जिसमें दर्शकालय की ओर भी चढ़ने के लिए दोनों ओर सीढ़ियाँ बना दी जाती थीं और भीतर से रंगपीठ पर प्रवेश करने के लिए रंगपीठ के दोनों ओर दो द्वार बना लिये जाते थे। रंगपीठ के पीछे की ओर खड़ी भीत (स्क्रीन) पर अनेक द्वारों और मेहराबों की बनावट होती थी। इस भीत में ऊपर और नीचे दो खण्ड होते थे। इनमें से निचले खण्ड में भी ऐसे द्वार होते थे जिनसे रंगपीठ पर प्रवेश किया जा सकता था। रंगपीठ और दर्शक-वृत्त के बीच में गायक-वादकों के लिए वृत्ताकार स्थान सुरक्षित कर लिया जाता था। यह प्रणाली उन स्थिर नाट्यशालाओं के लिए ही उपयुक्त सिद्ध हुई जिनमें विशेष पर्वों और उत्सवों पर ही नाट्य की योजना होती थी।

दसवीं शताब्दी के नाट्य-गृह

दसवीं शताब्दी में यूरोप में गिरजाघरों की ओर से होने वाले नये नाटकों में स्थायी लकड़ी के रंगमंच बना लिये जाते थे, जिनमें अलग-अलग कक्षों में विभिन्न अभिनय-व्यापारों के अनुरूप स्थान बनाये जाते थे, जैसे एक ओर स्वर्ग, दूसरी ओर नरक और बीच में पृथ्वी के मार्ग। ये नाटक खुले मैदान में विशेषतः गिरजाघर के सामने की चौरस भूमि में खेले जाते थे जहाँ स्वयं गिरजाघर ही पृष्ठभूमि का काम करता था। ये व्यक्तिगत रंगमंच ही धीरे-धीरे अत्यन्त टीम-टाम के साथ सजे हुए प्रासाद (मैन्शन्स) बन गये। इनमें दर्शक लोग या तो ग्रैण्ड स्टैण्ड (पैड़ियों) के रूप में लगी हुई लकड़ी की पाटियों पर बैठाये जाते थे या वे विभिन्न मंचों के आगे चलते-फिरते रहते थे। उस समय ऐसा कोई प्रबन्ध नहीं किया गया कि दर्शकों के बैठने के स्थान का मुख्य रंगमंच से कोई सम्बन्ध जोड़ दिया जाय। वह ठीक वैसा ही था जैसे हमारे यहाँ रामलीला में होता है। इन नाटकों के लिए गिरजाघर के सामने का पूरा मैदान या बाजार का चौक ही रंगशाला बन जाता था। इंग्लैण्ड में ये अलग-अलग प्रासाद चलती गाड़ियों पर लगा दिये जाते थे और सारा प्रदर्शन यात्रा-दृश्य या झाँकियों, (चौकियों, पेजेन्ट) के समान बन जाता था ।

सन् १४९१ में सर्वप्रथम खोजे हुए प्राचीन नाटकों का प्रदर्शन फरारा में भवन के भीतर हुआ। वर्तमान रंगशाला ने दृष्टि-बद्धता (पर्स्पेक्टिव) के प्रयोग और वित्रूवियस की खोज के द्वारा निश्चित स्वरूप ग्रहण कर लिया। सर्वप्रथम सीबेस्तियन सेर्लियो ने सन् १५४५ में वित्रूवियस द्वारा वर्णित यूनानी और रोमी रंगशालाओं का अध्ययन करके प्रथम वर्तमान-कालीन रंगशाला का रूपण किया, जिसमें अत्यन्त सीधा-सादा

लकड़ी का रंगमंच था और पीछे पृष्ठपटी या एक परदा (बैक ड्रोप) पड़ा हुआ था। यह रंगमंच से डेढ़ गज ऊँचा था और इसमें दर्शकों के बैठने की पीठिकाएँ गोलाई में एम्फीथियेटर के समान लगी हुई थीं। यह रंगमंच किसी भी आँगन के चौरस भाग में या भीतर के कक्ष में खड़ा किया जा सकता था, क्योंकि ऐसी रंगशाला किसी राजा के लिए ही व्यक्तिगत रूप से बनायी जाती थी।

मैडीवल थिएटर (मध्यकालीन रंगशाला)

प्राचीन गिरजाघर के नाटकों का प्रारम्भिक रंगमंच केवल वेदी और गिरजाघर के बीच का चक्र मात्र था। उसके पश्चात् उन लोगों ने गिरजाघर के एक खंड (सिपल-कर) में ईसा की समाधि के रूप में एक चौतरा बना दिया। जैसे-जैसे नाटक का विकास होता चला वैसे-वैसे शूली का स्थान या मसाला बेचनेवाले की दुकान आदि अन्य स्थल भी छाँटकर बनाये जाने लगे। इन स्थानों के आगे एक खुला स्थान (प्लातिया) होता था, जो विशिष्ट पात्रों के द्वारा प्रयुक्त होने पर एक विशेष स्थान मान लिया जाता था।

रहस्यात्मक चक्र (मिस्टरी सर्किल) या भाव-नाटक (पैशन प्लेज़) अनेक ढंगों में खेले जाते थे, जैसे—

१. विशेषतः फ्रांस में एक स्थिर दृश्य या अनेक दृश्य-पीठों (सेटिंग) वाला दृश्यपट बना लिया जाता था जिसमें अनेक प्रकार के भवनों का एक मुहल्ला जनता के सम्मुख उपस्थित कर दिया जाता था, जो या तो एक सीधी रेखा में ही सामने होता था या अर्ध-गोलाकार में। इसमें यह प्रणाली चली कि पात्र की बायीं ओर नरक होता था और दायीं ओर स्वर्ग। १५वीं शताब्दी तक नाटक प्रस्तुत करने के लिए विशिष्ट यंत्रों का भी प्रयोग हो चला था।

२. कौर्नवाल में रहस्यात्मक नाटकों के खेलने का एक दूसरा ढंग यह था कि एक गोलाई के स्थान के चारों ओर उठे हुए कई खण्ड वाले सीढ़ीदार पुश्तों पर जनता बैठती थी और उसके पीछे चारों ओर अनेक भवन भी बने होते थे। केवल बीच में ही खुला स्थान रहता था, जहाँ नाटक खेले जाते थे।

३. तीसरी प्रणाली जो इंग्लैन्ड, हालैन्ड और बेल्जियम में चलती थी, गाड़ियों के बने रंगमंच की थी। ये एक-एक मकान के ढाँचे होते थे जिन्हें पहियों पर रखकर बना लेते थे और नगर में स्थान-स्थान पर घूमते हुए खेलते चलते थे, जैसा अब भी काशी की कुछ रामलीलाओं में होता है जहाँ पहिएदार रथ पर मंच बने होते हैं। इस

प्रकार ये रहस्यात्मक नाटक सड़कों के कोनों और चौराहों पर खड़े हुए लोगों का मनोविनोद करते थे।

चित्र ३९—मध्ययुग के चमत्कार नाटक का एक दृश्य

अद्भुत नाटक (मिरेकिल प्ले) खेलने के ढंग प्रायः सर्वत्र एक से ही थे और नैतिक नाटक (मौरेलिटी प्ले) भी इसी प्रकार खेले जाते थे। नैतिक नाटकों के प्रारम्भ होने के साथ-साथ मध्यकालीन रंगशाला में कुछ व्यावसायिकता आने लगी और अव्यवसायी अभिनेताओं के बदले व्यवसायी नाट्य-मंडलियाँ अत्यन्त सरल ढंग से चौराहों पर खड़े किये हुए खुले चौतरों या बड़े भवनों और प्रासादों के एक ओर बनाये हुए मंचों पर नाटक खेलने लगीं। १६वीं शताब्दी में पेरिस में भवनों के भीतर बने हुए टेनिस के चौगान ही रंगशाला के रूप में परिणत हो गये और सन् १५४८ में तो वहाँ एक

रंगशाला भी बन गयी। इन मध्यकालीन रंगमंचों पर दृश्य के लिए बने हुए स्थायी निर्देशकों या चिह्नों को प्रासाद (मैन्शन) कहते थे जो अभिनेता की बायीं ओर बने हुए नरक के खुले हुए जबड़ों से लेकर दाहिनी ओर स्वर्ग के फाटक तक फैले हुए होते थे। इन दोनों के बीच में मदिरालय, राजसभा, घर और गिरजाघर बने हुए होते थे और ज्यों-ज्यों पात्र सीधे तथा संकुचित या सुमनपथ (प्रिमरोज़ पाथ) पर बढ़ते चलते थे त्यों-त्यों उसी दृश्यपीठ के सामने नाटकीय व्यापार होता चलता था।
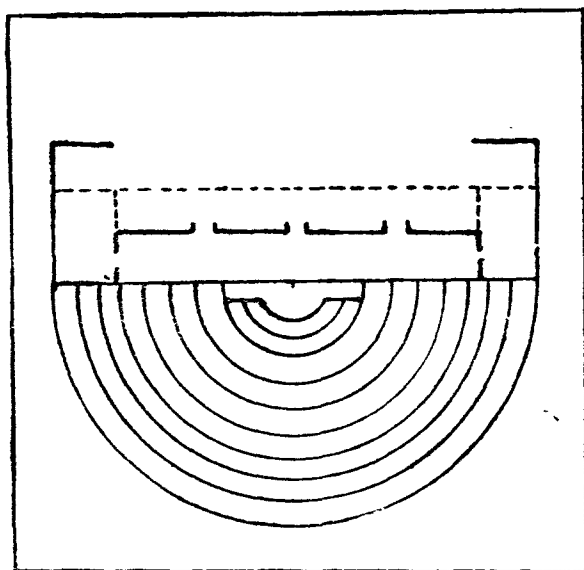
चित्र ४०—रोमन रंगशाला का पूर्ण निर्मित रूप

जागर्ति-काल की रंगशालाएँ

रोमी सभ्यता के ह्रास के साथ उदात्तवादी रंगशालाएँ (क्लासिक थियेटर) अप्रयुक्त सिद्ध हो चुके थे किन्तु वास्तव में पुनर्जाग्रत इटली के नगरों में उन्ही रंगशालाओं को देखकर विद्वानों की समितियों ने रंगशाला का रूप स्थिर किया। ओलिम्पियन अकादमी का विसेन्ज़ा में स्थित रिनेसाँ थियेटर या उसके प्रसिद्ध निर्माता के नामानुसार पैलेडियन थियेटर आज भी अपनी सज-धज और भव्यता के साथ ज्यों का त्यों खड़ा है। यह ढका हुआ छोटा सा रोमी थियेटर जागर्ति-काल के सुधार और रोम

शैली की सजावट से अलंकृत है। इस रंगमंच की भीतें वास्तु-कला की सजावट और मूर्तियों से भली-भाँति समृद्ध हैं और उनके पाँचों द्वार यथापूर्व रूढ स्थानों पर अवस्थित
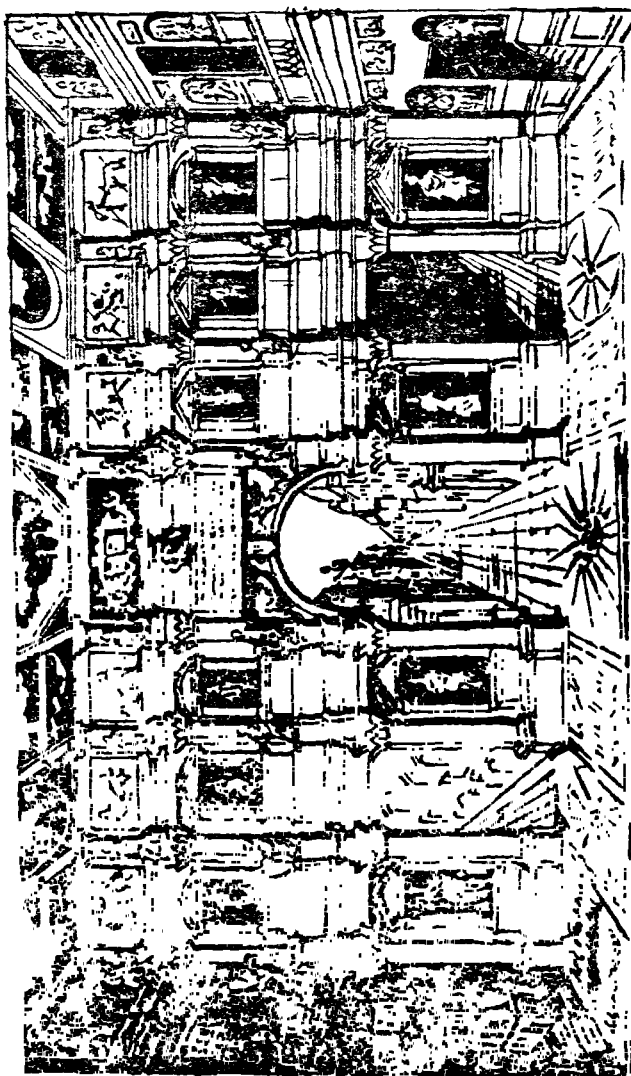
चित्र ४१—इटली में विसेंज़ा-स्थित ओलिम्पियन अकादमी की रंगशाला (पॅलेड्यिो थियेटर, १५१८-१५८०) अभी तक ज्यों की त्यों है।

हैं। सन् १५८५ में स्कामोजी ने इस उदात्तवादी रंगमंच की दीवार में बने हुए पाँचों द्वारों के पीछे दृश्य-विस्तार (विस्टास या पर्स्पेक्टिव) जोड़कर इसे आगे आने वाली
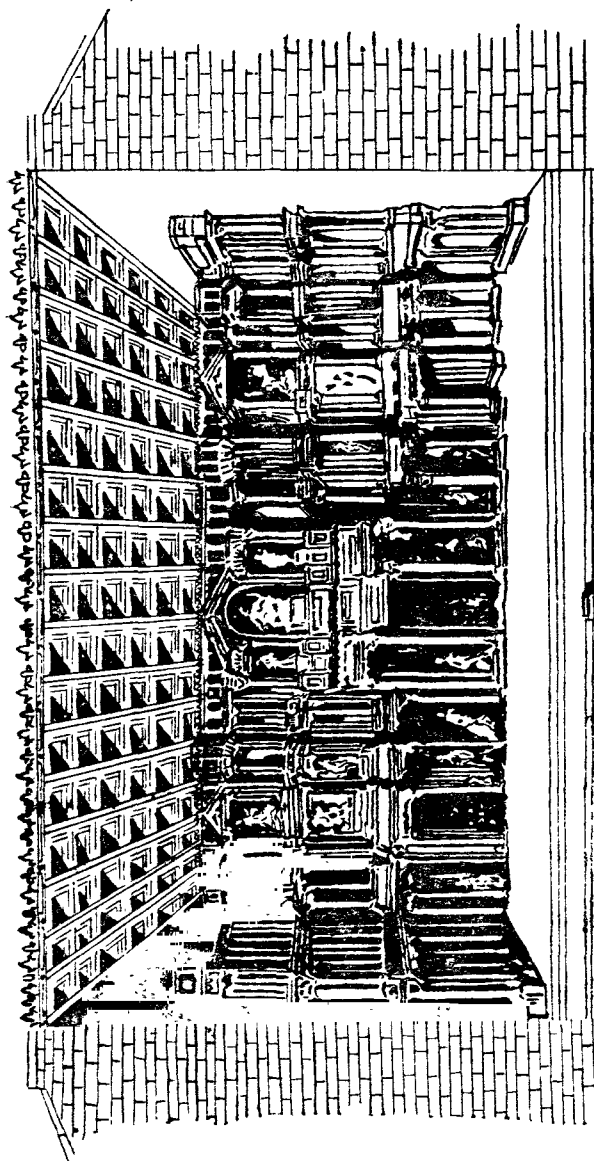
चित्र ४२—रोमी रंगशाला की पृष्ठभूमि, जिसमें संकरा 'प्रासाद' मध्यद्वार था जो पुनर्जागृति-काल की रंगशाला में सुधार किया गया।

रंगशालाओं से सम्बद्ध कर दिया। इस प्रकार इसमें पुराने विश्वसनीय दृश्यों की पूर्ति कर दी गयी जो प्राचीन काल से सुरक्षित चले आ रहे थे। रहस्य (मिस्टरी) और
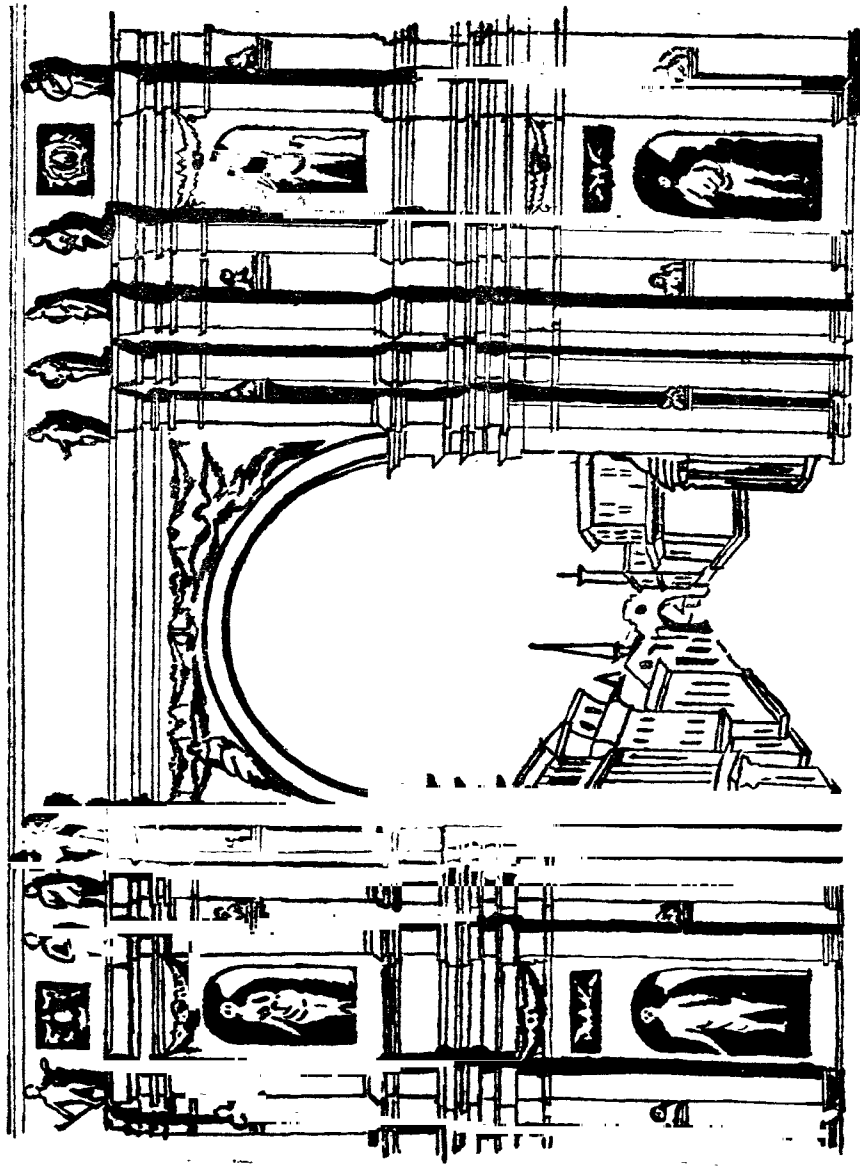
चित्र ४३—इनिगो जोन्स द्वारा निर्मित विस्तृत मध्यद्वार वाला रंगमंच

चमत्कार (मिरेकिल) नाटकों में भी अर्ध-निर्मित प्रयोग होता था, जैसे 'नरक-मुख' (हेल माउथ) में और राजसभाओं में जो कठपुतली नाच के मूक दृश्य खेले जाते थे उनमें भी इस दृश्य-विस्तार-शैली के चित्र होते थे। इस प्रकार रोमी शैली के भवन और विसेंज़ा में जोड़े हुए दृश्य-विस्तार से रंगमंच की एक नयी योजना बन गयी।

चित्र-दृश्यों (पेंटेड सीन) का निर्माण पीछे के दृश्य-पीठ (सेटिंग) के रूप में उतना नहीं हुआ जितना अधिक दृश्यात्मक आकर्षण के रूप में, और वह भी इटैलियन मूक-नाटकों (मास्क्स) में। पहले तो नवीन शैली के इन दृश्य-पीठों का कोई उदात्तवादी प्रभाव पुनर्नवीन रंगशालाओं के रूपों पर नहीं पड़ा। किन्तु थोड़े ही दिनों में वर्तमान रंगशालाएँ सजीव हो उठीं जिनमें दोनों धाराएँ आ मिलीं। इस दृष्टि से विसेंजा के पैलेडियन थियेटर का महत्त्व दुहरा हो गया जिसमें एक ओर रोम की रंगशाला के रूप और उसके रूढ वास्तु-कलात्मक रंगपीठ युक्त स्वरूप की रक्षा हुई और दूसरी ओर नयी अपरिवर्तनीय दृश्य-सज्जा (सीनरी) का भी प्रयोग होने लगा जो रोमी और पैलेडियन पुनर्जागर्ति-काल के रंगमंच के दृश्य भाग में अन्यन्त स्पष्ट हो जाता है। उस समय के बहुत कलाकार यह भी सोचने लगे कि चित्रमय पीठ के साथ उदात्तवादी रंगमंच का गठबन्धन कैसे किया जाय। इसलिए उन्होंने बीच का प्रासाद-महाद्वार और भी चौड़ा कर दिया जिससे दृश्य-विस्तार (विस्टा) के भीतर भी अभिनय का स्थान निकाला जा सके। इस प्रकार इनिगो जोन्स ने एक योजना बनाकर उसके अनुरूप रूपमान (डिज़ाइन) बनाया और सेबियोनेता में बनी हुई रंगशाला का सारा रंगमंच एक सँकरे दृश्यपीठ के दृश्य-विस्तार के रूप में छा गया (सन् १५८८)।

आन्द्रिया क्लादियो और विन्चेन्जी स्कामोजी (१५८०-८४) ने विन्चेन्जा में तिएत्रो ओलिंपिको नामक जो पूर्ण रंगशाला विद्वत्परिषद् के सदस्यों के लिए बनाकर खड़ी की, उसका दर्शककक्ष फैले हुए अधगोले के रूप में बना हुआ था, जिसमें बारह सौ दर्शकों के बैठने का स्थान (आडिटोरियम) और नृत्यस्थल (आरकेस्ट्रा) बना हुआ था जिसके सामने कुछ थोड़ा ऊँचा अग्रमंच (प्रोसीनियम) था। इस अग्रमंच के पीछे की भीत पर अत्यन्त कलात्मक उदात्तवादी वास्तु-कला का अधिष्ठान किया गया था। इस भीत में पाँच द्वार बने हुए थे जिनमें से तीन द्वारों के अर्धवृत्तों (आर्चेज़) या मेहराबों में स्थायी सड़कों का दृश्य बनाकर उनमें प्रासादों की प्रतिमूर्तियों की पंक्ति दिखायी जाती थी और वह भी अतिशय रंग-दृश्य-विस्तार (स्टेज पर्स्पेक्टिव) के रूप में होती थी।

उन नाटकों में अब विशेष श्रणी के दर्शकों का बन्धन नहीं रहा इसलिए अधिक संख्या में दर्शक आने लगे। सन् १६११ में फ्लोरेन्स में नृत्य-नाट्य (ऑपेरा) का

प्रारम्भ हुआ और वह बड़ा लोकप्रिय भी हुआ। दृश्यपीठ (सेटिंग) भी सरकाये, हटाये और बदले जा सकने वाले बना दिये गये। एक नये प्रकार का रंगमंच पारमा की तिएत्रो फ़ार्नीज़ नामक रंगशाला में गियोवानी बतिस्ता अलेयोत्ती ने सन् १६१९-२८ में बनाया जिसमें अर्ध-वृत्ताकार दर्शककक्ष में दो हज़ार पांच सौ दर्शकों के बैठने का स्थान था। इसके रंगमंच के पीछे भीत के बीच में गोल मेहराब वाला एक विशाल ऊँचा फाटक बनाया गया और तीन द्वार हटाकर इसी एक विशाल द्वार से पीछे के रंगमंच के साथ अग्रमंच को सम्बद्ध कर दिया गया। पीछे का मंच परिवर्तनशील पखवाइयों और परदों से सजाकर अभिनय का स्थान बढ़ा दिया गया और वर्तमान रंगशाला का रूप ऐसा निश्चित कर दिया गया जहाँ दृश्यपीठों के भीतर अभिनय किया जा सके, उनके सामने नहीं।

इस दृष्टि से वर्तमान रंगशाला का प्रथम जनक कहलाने वाला नाट्यघर पारमा में स्थित तिएत्रो फ़ार्नीस (१६१८ तथा १६१९) ही है। इसमें पूरा रंगपीठ ही प्राचीन रंगपीठ के पीछे वाली भीत के बीच ढकेलकर पीछे डाल दिया गया और रोमी पृष्ठभित्ति (स्क्रीन) की सब सजावट केवल वर्तमान अग्रमंच-मस्तक (प्रोसीनियम आर्च) की सजावट-मात्र रह गया है। भीतर का रंगपीठ बाहर के प्रेक्षागृह से परदे के द्वारा अलग करके परिवर्तनीय चित्रित दृश्यपीठों के अनुकूल बना दिया गया है। तब से आज तक परदे वाला रंगमंच और अग्रमंच-द्वार दोनों ही रंगशाला के आवश्यक अंग बन गये हैं।

फ़ार्नीज थियेटर का रूपमान इस दृष्टि से भी महत्वपूर्ण है कि इसमें प्रेक्षागृह का रूप अर्ध-वृत्ताकार स्थान-समूह के बदले 'यू' (U) के आकार का बन गया। इसका कारण यह था कि मास्क्स (मुखौटे वाले प्रहसन) प्रायः नृत्यभवन (बौल रूम) या मौज-भवन (बैंक्वेट हॉल) में हुआ करते थे जहाँ भवन के एक सिरे पर एक रंगमंच बना लिया जाता था और शेष भाग नृत्य, दृश्य-यात्रा (पेजेन्ट्री) के अक्षवाट या मंडप के लिए छोड़ दिया जाता था जिसमें दर्शक लोग रंगमंच से दूर तीन ओर कुर्सियाँ लगाकर स्थायी मंचों या छज्जों पर बैठकर देखते थे। नाट्य-भवन के निर्माताओं ने यह यू (U) आकार का प्रेक्षागृह परदे युक्त अग्रमंच मस्तक वाले रंगमंच के साथ मिलाकर नाट्यशाला का रूप उस रूप में ला दिया जो प्रसिद्ध घुड़नाल प्रेक्षागृह का आधार बना।

यह इतालवी रंगमंच-रूप-योजना सम्पूर्ण पश्चिमी जगत् की नाट्यशालाओं के लिए स्वीकार कर ली गयी और धीरे-धीरे इसने फ्रान्सीसी राजभवन, औस्ट्रिया, बैवेरिया तथा अन्य देशों के राजभवनों के नाट्य-गृहों को परास्त कर दिया।
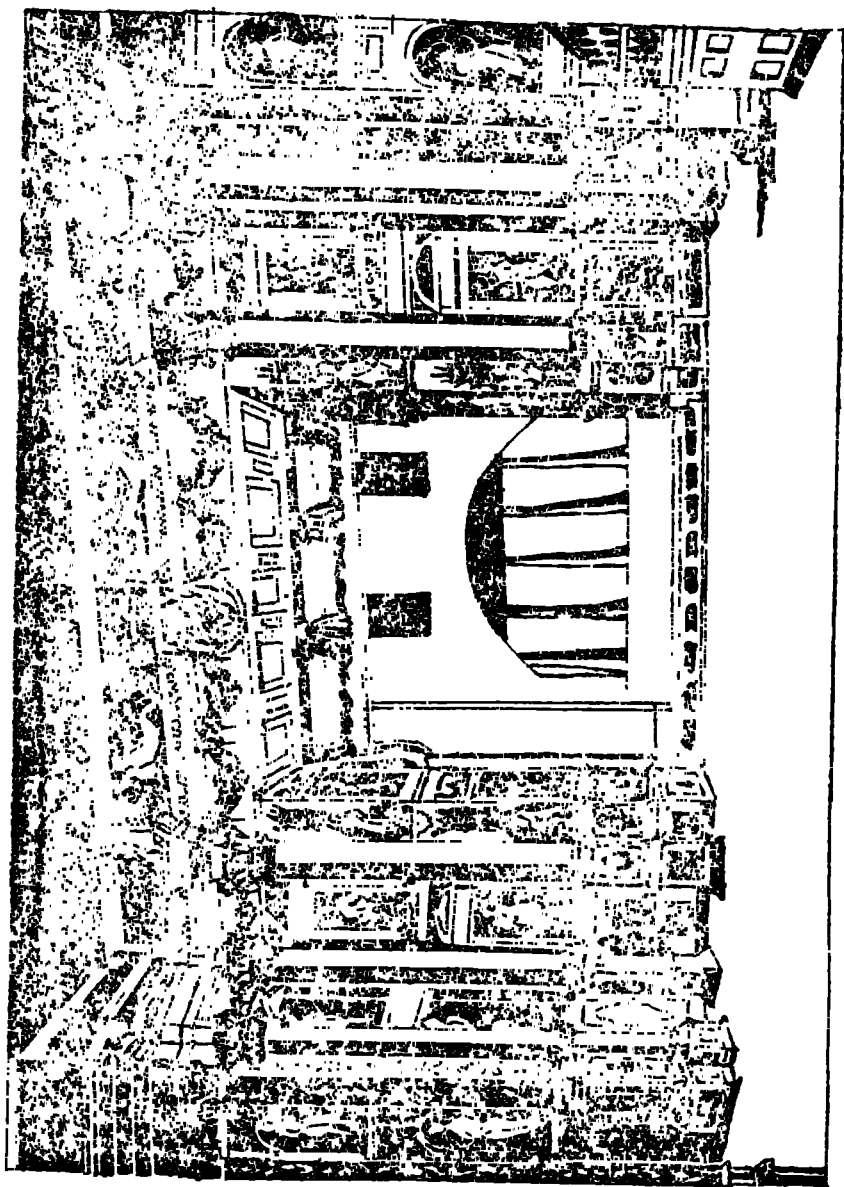
चित्र ४४—वर्तमान शैली के रंगमंच का सर्वप्रथम रूप

इंग्लैण्ड में जो खुली सार्वजनिक रंगशाला (वरवेज का थियेटर १५७६), परदे, स्वांग और ढकी हुई निजी रंगशालाएँ बनायी गयीं वे या तो किसी सराय के आँगन में या चौक में गोल या ग्लोब थियेटर के समान अठकोनी बनायी गयीं, जिनकी पिछली भीत पर एक छोटा सा कलश बना रहता था। इनका रंगपीठ भी ऊँचे चौतरे के रूप में
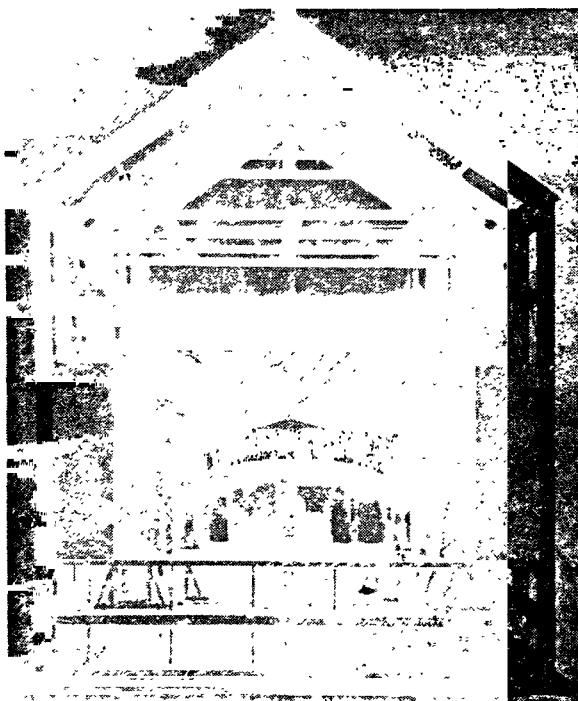
चित्र ४५—१७वीं शताब्दी की रंगशाला का ढाँचा

आगे दर्शकों के बीच तक बढ़ आता था जिससे खड़े होकर देखने वाले भी देख सकें। रंगमंच का एक भाग आगे निकली और दो खम्भों पर टिकी हुई छत से ढक दिया जाता था और उसके आगे का भाग एक परदे से ढका जाता था। पीछे की दीवार में दो ओर आगे चलकर तीन द्वार बनाये जाने लगे और ऊपर ऐसे कक्ष (बौक्स) बने रहते थे जिनका प्रयोग नाटक के समय अभिनेता और दर्शक दोनों करते थे। निम्न श्रेणी के लोगों (ग्राउण्ड-लिंग्स) के खड़े होने के स्थान के चारों ओर दर्शकों के लिए दो या तीन

खण्ड की पीठिका (गैलरी) बनी होती थी। ब्लैक फ्रायर्स, ह्वाइट फ्रायर्स तथा ड्रूरीलेन की कौकपिट जैसी निजी रंगशालाएँ छतों से ढकी हुई होती थीं और उनमें कृत्रिम प्रकाश किया जाता था। वास्तु-कला-विशारद इनिगो जौन्स (१५७२-१६५२) की प्रसिद्धि रंगशाला के निर्माण के लिए उतनी नहीं है जितनी मुखौटे वाले प्रहसनों (मास्क) के लिए बनाये हुए दृश्यपीठों (सेटिंग) के और रंगमंच सम्बन्धी अन्य विकास-योजनाओं के लिए है।

इतालिया में रंगशाला का विकास सन् १६५० में पहले तो राजसभाओं और जनता के विनोद-साधन से आरम्भ होकर लोक-संस्था के रूप में विकसित हुआ। सर्व-प्रथम सार्वजनिक नृत्यशाला (औपेरा हाउस) वेनिस में सामकासिसानो नाम से (सन् १६३० में) स्थापित हुई जिसमें तीन घेरेदार खंडों में छोटे-छोटे अलग-अलग दर्शक-कक्ष बना दिये गये थे।

फ्रान्स में रंगशाला का विकास राजाश्रय में हुआ, जैसे १५७४ में रिचेलो और लुई चौदहवें की संरक्षकता में पाले पैतीबोरबो और १६२० में पाले रोयाल बनी। इन फ्रान्सीसी रंगशालाओं में सब सज्जाएँ सचल अर्थात् हटायी-बढ़ायी जा सकने वाली थीं, अन्यथा इतालवी रूप की ही प्रधानता थी। पेरिस की अत्यन्त प्रसिद्ध रंगशालाओं में तूलेरी का औपेरा हाउस 'सालेदा नैशीम' सन् १६६०-१६७० में अमान्दिनी और विगरानी ने बनाया था, जिसमें १८०० दर्शकों के बैठने का स्थान था। सत्रहवीं शताब्दी के उत्त-रार्ध में और अठारहवीं शताब्दी में इतालिया में असंख्य रंगशालाएँ बनायी गयीं। इनकी विशेषता यही थी कि इनमें राजा के लिए एक कक्ष बना दिया जाता था। सत्रहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में इस प्रकार राजकीय रंगशाला और लोकरंगशाला का गठबन्धन कर दिया गया। इनका प्रेक्षागृह (औडिटोरियम या दर्शक-कक्ष) घुड़नाल के आकार का था। रंगशाला-निर्माण के विशेषज्ञ गाला बिबिएना परिवार के वास्तु-कला-विशारद सबके सब रंगशाला बनाने के कौशल के बदले रंगमंच के दृश्य-पीठ बनाने की कला में सिद्ध थे। फर्दिनान्दो (१६५७-१७४३), तिएत्रोरिएल, मन्तुआ (१७३१), फ्रान्सि-सको (१६५९-१७३९), तिएत्रोटा फिलहार मोनिको, बेरोना (१७२०), अलेसान्द्रो (१६८७-१७६९) ने १७४२ में मानहीन में औपेरा हाउस बनाया, गोएसेसेल (१६९६-१७५६) ने १७४८ में बेरूथ में औपेरा हाउस बनाया। आन्तोनियो (१७००-७४) ने १७६३ में बोलोना में तिएत्रोकामिलेन बनाया। दर्शक-कक्ष और रंगमंच को अण्डाकार रूप में सम्मिलित करने का भाव कोसीमो मोरेली ने १७८० में अपने इमोला की रंगशाला में प्रवर्तित किया।

आस्ट्रिया और जर्मनी में लुदोविचो बुरनाचिनो (१६३६-१७०७) ने और
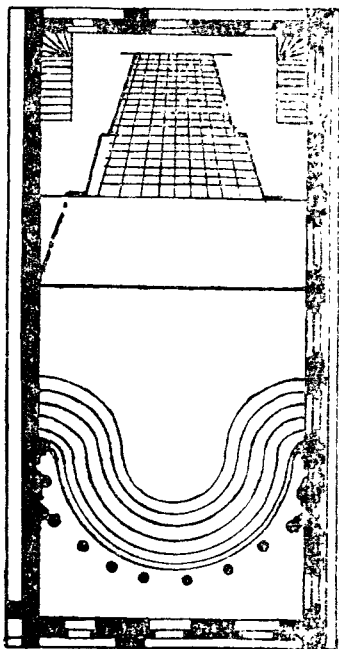
चित्र ४६ क—स्कामोजी द्वारा निर्मित रंगशाला का रूपमान
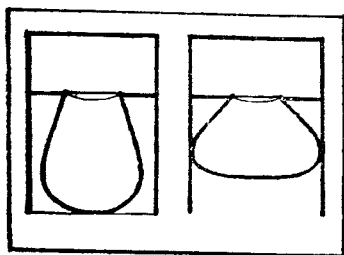
चित्र ४६ घ—वर्तमान रंगशाला के प्रसिद्ध रूप
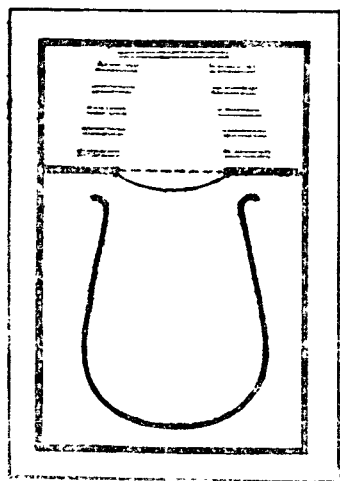
चित्र ४६ ख—घुड़नाल आकार के प्रेक्षागृह का रूपमान
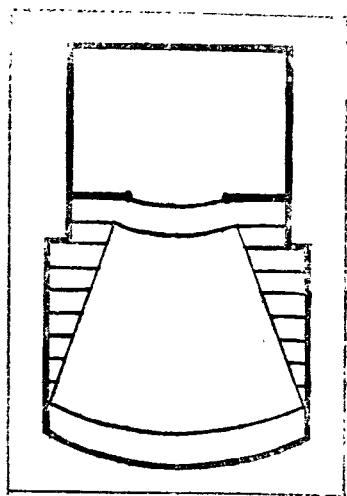
चित्र ४६ ग—बेरिन्थवे रंगशाला का बाह्य रूपमान

उसके पिता गियोवानी (मृत्यु १६५५) ने रंगमंच के शिल्प में बड़ी ख्याति प्राप्त की। फ्रान्सेसिको, सांतुरिनी (१६२७-८२) ने सन् १६५४-५७ में म्युनिख में सांतालवा तोरे नामक नृत्यशाला (औपेरा हाउस) बनायी जो जर्मनी में सबसे पुरानी है और जिसका पुनःसंस्कार दोमेनिको और गासपारो माउरो ने सन् १६८६ में किया था। इनिगो जोन्स की योजनाओं से प्रभावित होकर रेस्टोरेशन के पश्चात् इंग्लैण्ड में बहुत-सी नयी रंगशालाएँ बनीं। इस युग की सभी अँगरेजी रंगशालाओं की यह विशेषता है कि अग्रमंच के दोनों पार्श्वों में चार द्वार बनाये जाते थे। अब अग्रमंच छोटा किया जाने लगा, यहाँ तक कि उसमें उतनी ही जगह रह गयी जितनी कौन्टीनेन्टल रंगशालाओं में पायी जाती है, जैसे न्यू ड्रूरीलेन थिएटर जिसमें बौक्स बहुत कम हैं और कवेन्ट गार्डन थिएटर (१८०९) जिसमें विशिष्ट कक्षों (बौक्सों) की तीन गैलरियाँ हैं। (दे० चित्र ४६ क, ख)

इतालवी पुनर्जागरण-काल का प्रभाव इंग्लैंड में इतना बढ़ा कि एलिज़ाबेथीय नाट्यशाला की शैली अमान्य हो गयी। इसका बहुत थोड़ा प्रभाव रेस्टोरेशन के पश्चात् रहा और फिर यह शैली घूम-फिरकर अमेरिका भी पहुँच गयी। दृश्य-सज्जा भी शीघ्र ही व्यवस्थित हो गयी और पखवाई तथा पीछे के परदे के बीच फन्नी के आकार में रंगपीठ के तल पर अभिनय की भूमि परिमित हो गयी और प्रेक्षागृह की पार्श्वरेखाएँ रंगमंच की पखवाइयों के छोरों की रेखाओं से जा मिलीं (चित्र ४६ ग)। यह चित्र-दृश्य (पिक्चर सीन) बड़ी सजधज के साथ ढाई शताब्दी तक चलता रहा, जिसमें रंगमंच की लम्बाई बढ़ती चली गयी और प्रेक्षागृह पूरी नाट्यशाला के अर्धभाग में घुड़नाल (हौर्स शू) रूप में बहुत सी पीठिकाओं (गैलरियों) पर स्थिर हो गया। यह प्रेक्षागृह का भाग गोल और संकरा बनता हुआ उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम भाग तक छोटे कोर्ट प्ले हाउस से लेकर बड़े-बड़े औपेरा हाउस में व्याप्त रहा। (देखो चित्र ४६ घ)

प्रारम्भ में तो प्रेक्षागृह का बीच का रंगस्थल (एरिना) केवल सपाट भूमितल था, इसलिए बैठने का श्रेष्ठतम स्थान वहाँ न होकर पहले छज्जे (बालकनी) के सामने होता था, किन्तु घुड़नाल (हौर्स शू) आकार की रंगशाला के युग में मुख्य भूमितल थोड़ा सा तिरछा हो गया जिससे एक के पीछे दूसरी करके तीन-चार या पाँच पीठिकाएँ (गैलरियाँ) बन गयीं।

अमेरिका में अठारहवीं शताब्दी में बड़े-बड़े सभा-भवनों में नाटक खेले गये। सबसे पहला नाट्य-घर सन् १७३६ में डाकस्ट्रीट थियेटर नाम से चार्ल्स्टन (एस० सी०) में अँगरेजी शैली पर खोला गया।

उन्नीसवीं शताब्दी की प्रसिद्ध रंगशालाओं में अब भी प्राचीन राजाश्रित रंगशालाओं की रूप-रेखा विद्यमान है जिसमें कुछ थोड़ा-बहुत जनतांत्रिक योग मिलता है, जैसे सन् १८१८ में फ्रीडिक शिंकेल द्वारा बर्लिन में रोयाल शाउसपील-हाउस, ई० फौन डेयर नूल और ए० फौन सिकार्ड्सवर्ग द्वारा १८६१-६९ में वियना में नृत्यशाला (औपेरा हाउस) बनी। सन् १८६२-७४ में चार्ल्स गार्निए ने पेरिस में ग्रैण्ड औपेरा बनाया। सन् १७८७ में गौटफ्री डेस्डन ने औपेरा हाउस बनाया, जोशिया क्लीवलैन्ड कैंडी ने न्यूयार्क में मेट्रोपोलिटन औपेरा हाउस बनाया जो पहले सन् १८८०-८३ में बना था। सामाजिक सभाओं के लिए बड़े-बड़े सभाकक्ष, अग्नि से रक्षा के साधन, जटिल रंगप्रदीपन-प्रणालियाँ (विशेषतः वर्तमान रंगसज्जा के कौशल की विशेषताओं से युक्त), परिवर्तित परिमाण वाले रंगमंच (जैसे सन् १८७९ में न्यूयार्क में बने हुए मेडिसन स्कायर थियेटर में स्टील सेक केई का दुहरा रंगमंच) आदि मुख्य हैं। उन्नीसवीं शताब्दी में पैलेडियम एम्फी थियेटर की दिशा में कुछ सुधार हुए। जैसे गौटफ्रीड सेम्पर ने (१८७२-७६ में) रिचार्ड वाग्नेर के फेस्ट्सपील हाउस में किये थे, किन्तु उनका कोई बहुत अच्छा परिणाम नहीं हुआ।

अध्याय २४

नयी रंगशालाएँ, नये रंगमंच

बीसवीं शताब्दी के आरम्भ में जो रंगशालाएँ बनीं उनमें छज्जे (बालकनी) की संख्या कम करके एक कर दी गयी और रंगशाला के दर्शक-स्थल का भूमितल ढालू बना दिया गया, जिसका परिणाम यह हुआ कि सर्वश्रेष्ठ स्थान आगे पड़ गये जहाँ बाजे वाले बैठते हैं। आज भी फ्रान्स और इटली में जहाँ सत्रहवीं और अठारहवीं शताब्दी के रंगमंच विद्यमान हैं उनमें वाद्य-स्थान (औरकेस्ट्रा) तथा अधिक मूल्य के स्थान या तो ऊँचे गोल दर्शक-कक्ष में हैं या ऊपर छज्जे पर आगे की ओर हैं।

उन्नीसवीं शताब्दी में ही चित्र-दृश्य (पिक्चर सीन) और उसके साथ घुड़नाल (हौर्स शू) आकार के प्रेक्षागृह को सुधारने का प्रयत्न किया गया था, क्योंकि उसका सबसे बड़ा दोष यह था कि उसमें बैठने के बहुत से स्थान ऐसे कोने में थे जहाँ से रंगमंच दिखाई नहीं पड़ता था। इस सम्बन्ध में पहला प्रयत्न उन्नीसवीं शता दी के अन्त में जर्मनी के सर्वप्रसिद्ध रंगशाला-निर्माता मार्क्स लिटमान ने फेस्टिवल थिएटर, बेरू के रूप में प्रारम्भ किया था। उसने म्यूनिख में अपने प्रिंस रीजन थिएटर, कुन्स्टल थिएटर तथा बर्लिन के शारलोटेनबुर्ग में अपने शिलर थिएटर में जो सरल रीति से बैठने का स्थान-समूह बनाया था उसका यूरोप और अमेरिका दोनों में बड़ा प्रभाव पड़ा। लिटमान ने वर्तमान रंगदीपन की आवश्यकताओं का ध्यान करके अपने रंगमंच के अग्रमंच (प्रोसीनियम) के ढाँचे में भी सुधार किया। अब तो विशेषतः जर्मनी और संयुक्त राज्य अमेरिका में रंगशाला बनाने की योजना एक विशेष रूप में व्यवस्थित हो गयी है। इसमें रंगशाला-निर्माता लोग घोड़े की नाल के आकार वाले दर्शक-कक्ष को बहुत आगे नहीं बढ़ने देते, क्योंकि अब दृश्य पीठ फन्नी के आकार के न रहकर चौकोर डब्बे (बौक्स) के आकार के हो गये हैं और प्रेक्षागृह भी अग्रमंच की चौड़ाई की दृष्टि से कुछ सँकरा हो गया है।

बड़े नगरों में, जहाँ भूमि का मूल्य और महत्त्व अधिक होता है, व्यावसायिक रंगशालाओं में चौड़े अग्रमंच और चौड़े प्रेक्षागृह पंखे के आकार में बनने लगे हैं। अग्नि-काण्ड से सुरक्षा के नियमों के कारण बीच में कुछ गलियारे और पास में द्वार होने चाहिए।

इस प्रकार जर्मनी की रंगशाला-निर्माण-शैली में कुछ थोड़े परिवर्तन हो गये हैं। साधारण रूप से कहा जा सकता है कि वर्तमान प्रेक्षागृह में एक ही ठसाठस भरा हुआ स्थान-समूह होता है जिसकी भूमि का तल या तो समान रूप से सीधा, ढालू या छिछली कड़ाही के समान चारों ओर से ढालू होकर घुड़नाल युग के प्रेक्षागृहों की अपेक्षा अधिक ढालदार हो गया है। इसमें दोनों ओर अग्रमंच की चौड़ाई के छोरों तक बैठने के स्थान वने होते हैं जिससे रंगमंच का कोई भी दृश्य दृष्टि से बाहर न हो सके। साधारणतः इस रंगशाला के ऊपर एक ही छज्जा (वालकनी) होता है जिसका तल भी पीछे से आगे को ढालू होता है। इन प्रेक्षागृहों में परिवार-कक्ष (बौक्स) नहीं होते और यदि होते भी हैं तो वादकों (आरकेस्ट्रा) के पीछे लगा दिये जाते हैं। वर्तमान शिल्प-विज्ञान इतना समृद्ध हो गया है कि अब रंगशाला के बीच में खम्भे लगाने की आवश्यकता नहीं पड़ती, इसलिए बीच में अब किसी प्रकार का व्यवधान नहीं पड़ता। इसका मानचित्र भी अक्षवाट-रंगशाला (एरिना थिएटर) या बहुत पीठिका (गैलरी) वाले उस औपेरा हाउस के बीच के भाग (पिट पोर्शन) से भिन्न नहीं है जिसमें चारों ओर के गलियारे अलग कर दिये जाते हैं। इस रूप-योजना की सरलता के साथ-साथ सजावट में भी सरलता आ गयी। बीसवीं शताब्दी की रंगशाला-निर्माण के दो उदाहरण इस प्रगतिशीलता के प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। जो लोग और भी तीव्रगामी प्रयोक्ता हैं उन्होंने तो पूरे अग्रमंच ढाँचे वाले रंगपीठ को छोड़कर वह विधान स्वीकार किया है जो चित्र-दृश्य (पिक्चर सीन) वाली रंगशालाओं से पहले की रंगशालाओं में था। केवल वर्तमान प्रकाश-व्यवस्था का ध्यान वे अवश्य रखते हैं। इससे यह समझा जा सकता है कि इस प्रकार के कुछ परिवर्तन अवश्य होंगे और लोग पुनः रोम-युग के वास्तु-कलात्मक (आर्कटेक्चरल) रंगमंच की ओर लौटेंगे। तब प्रेक्षागृह के निर्माण में प्रभावतः अन्तर आ ही जायगा। किन्तु अभी तक जितनी रंगशालाएँ अग्रमंच-द्वार (प्रोसीनियम आर्च) से रहित औपचारिक रंगपीठ वाली बनी हैं वे बहुत भिन्न हैं और उनका प्रयोग भी विशिष्ट प्रकार के नाटकों के लिए होता है। वे इतने भिन्न प्रकार की हैं कि उनका कोई एक व्यापक रूप नहीं बताया जा सकता।

उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम चरण में यूरोप के दर्शक तत्कालीन नाटकों से ऊब उठे थे। वही हेमलेट, वही ओथेलो और वे ही शेक्सपियर के चरित्र देखते-देखते लोगों की आँखें थक गयी थीं। अस्वाभाविक वाणी से अतिरंजित अभिनय का रूपक देखते देखते लोगों को नाटक से विरक्ति हो चली थी। परिणाम यह हुआ कि यूरोप के विभिन्न भागों में युवक विद्रोहियों ने अपने दल संघटित करके नये लेखकों और रंगाध्यक्षों को नये नाटक प्रस्तुत करने के लिए प्रोत्साहित किया और नयी रंगशालाएँ स्थापित कीं।

यथार्थता के नाम पर तत्कालीन रंगशालाओं में जो कुछ प्रदर्शित किया जाता था वह भी बनावटी रंगशाला की यथार्थता थी। यह विद्रोह विशेषतः उन संस्थाओं के प्रति था जहाँ कुछ अभिनेताओं ने रंग-व्यवस्था अपने-अपने हाथ में ले ली थी और जहाँ मुख्य भूमिकाओं के अभिनय के लिए एक विशिष्ट दल के लोग ही चुने जाते थे।

इंग्लैण्ड में जे० टी० ग्रीन ने इसी प्रकार का एक दल स्थापित किया जिसका उद्देश्य यह था कि यूरोप तथा इँगलिस्तान के बहुत से नाटककारों के जो नाटक सार्वजनिक रंगमंच पर नहीं दिखाये जाते हैं उन्हें चुनी हुई जनता के समक्ष प्रस्तुत किया जाय। इस संस्था का नाम रखा गया "ग्रीन का स्वतंत्र रंगदल" (ग्रीन्स इण्डिपेन्डेन्ट थिएटर-ग्रुप) और यही संस्था आगे चलकर रंगसभा (स्टेज सोसायटी) बन गयी। इस संस्था ने सन् १८९१ में इब्सन के 'घोस्ट्स' (भूत) का प्रयोग किया। इब्सन स्वयं कवि तो था ही, साथ-साथ रंगकौशल (स्टेज टेकनीक) का आचार्य भी था। पहले उसका सम्बन्ध नौर्वे की रंगशाला से भी था। उसने प्रारम्भ में जो काव्य-नाटक लिखे थे उनकी कथाएँ बड़ी अस्पष्ट और रहस्यात्मक थीं जिनमें 'पिअर गिन्ट' सर्वाधिक प्रसिद्ध है। किन्तु ५० वर्ष की अवस्था तक पहुँचने पर उसने अपने वे गद्य-नाटक प्रारम्भ कर दिये थे जिनकी ख्याति दूर-दूर देशों में फैल चुकी है। भूत (घोस्ट्स) उसका दूसरा गद्य-नाटक है जिसमें व्यक्ति और समाज का भयानक संघर्ष दिखलाया गया है। इस नाटक ने इंग्लैण्ड में इतनी हलचल मचा दी कि उसकी वैसी ही प्रतिक्रिया होने लगी जैसी किसी भी क्रान्तिकारी आंदोलन से संभव हो सकती है। इब्सन के सभी पात्र वास्तविक जगत् के साधारण मनुष्य के गुण और दोष से पूर्ण प्राणी हैं और उनकी विशेषता यह है कि चाहे घटना का क्षेत्र चिकित्सक का घर हो या नगरपिता का, किन्तु संवाद इस कौशल के साथ रचे गये हैं कि उनमें से नाटक के काव्यगुण निरंतर छलके पड़ते हैं। इसके पश्चात् सन् १८९२ में जार्ज बर्नार्ड शा का प्रथम नाटक 'रँडुओं के घर' (विडोअर्स हाउसेज़) और सन् १८९९ तक २६ नये नाटक उस दल ने खेल डाले। इस दल में लगभग दो सौ सदस्य थे जिनमें काशी की अभिनव रंगशाला के सदस्यों के समान अभिनेता, आलोचक, नाटककार और शिष्ट नागरिक सभी सम्मिलित थे। इस संस्था ने थोड़े ही दिनों में इब्सन, गोर्की, मेटरलिक, हाउप्टमान, बर्नार्ड शॉ, स्ट्रिण्डबर्ग, बार्कर और यीट्स के नाटक खेलकर कलात्मक तथा उत्कृष्ट नाट्य की नींव दृढ़ कर दी।

मास्को आर्ट थिएटर

सन् १८९७ में ब्लाडीमीर नेमिरोविच दन्त्नोंको और कंस्तेतिन स्तानिसलवस्की ने मिलकर ऐसी नाट्य-संस्था की योजना बनायी जिसमें नये प्रकार के नाटक खेले जा

सकें। दन्त्शेंको स्वयं प्रतिभाशाली नाटककार, आलोचक और नाट्य-प्रयोक्ता था और स्तानिसलवस्की भी धनी व्यापारी था जिसने असामा य तथा रोचक नाटक खेलने के लिए अव्यावसायिक अभिनेताओं का बड़ा-सा दल संघटित कर लिया था। उन दोनों अध्यवसायियों को मिल गया एक सनकी करोड़पति, मोरोसोफ़, जिसने रुपया लगाकर मास्को आर्ट थिएटर की स्थापना कर दी। इस रंगशाला की नीति यह स्थिर की गयी कि रूस तथा बाहर के विशिष्ट नाटकों का प्रयोग किया जाय, नाटक के मुख्य भाव-चरित्र-चित्रण तथा अन्य व्यवस्थाओं पर अधिक ध्यान देकर व्यक्तिगत अभिनय का रोग कम कर दिया जाय। तत्कालीन नाटकशालाओं में इन लोगों ने चली आती हुई रंगशाला की रूढियाँ तोड़ डालीं।

इन लोगों का नाट्याभ्यास करने का ढंग भी निराला था। इनकी पद्धति यह थी कि जब सब अभिनेता रंगमंच पर पहुँच जायँ तो सबको पाठ की प्रतियाँ बाँट दी जायँ, सब अपने-अपने पाठ के अनुसार बोलने लगें, रंगमंच पर घूम-फिरकर अपने-अपने अभिनय के लिए प्रभावशाली स्थान निश्चित कर लें और जब सबको पाठ कण्ठस्थ हो जाय तब वह नाटक अभिनय के योग्य समझ लिया जाय। प्राचीन नाट्यशालाओं में कभी-कभी नाट्य-प्रयोक्ता लोग कुछ ऐसी ऊटपटाँग गतियाँ बता देते थे जो नाटक की दृष्टि से भले ही महत्वपूर्ण न हों पर देखने में यदि प्रभावशाली जान पड़ती थीं तो अभिनेता उन्हें स्वीकार कर लेते थे। पर स्तानिसलवस्की ने ये सब नियम तोड़ डाले। उसकी कला-रंगशाला (आर्ट थिएटर) में रंग-तारकों (स्टेज स्टार्स) अर्थात् प्रसिद्ध अभिनेताओं का बहिष्कार कर दिया गया और सब अभिनेताओं को नाट्य-प्रयोक्ता के कठोर शासन में रहना अनिवार्य हो गया। नाटक का अभ्यास रंगशाला में न होकर एक घरेलू भवन में होने लगा जहाँ नाट्य-प्रयोक्ता तथा सब अभिनेतागण मिलकर नाटक के विभिन्न अंगों पर विशद विचार-विमर्श कर चुकने पर पाठ बाँट लेते। कभी-कभी स्वयं नाटककार को भी निमंत्रण देकर बुला लिया जाता और उसकी भी सम्मति ले ली जाती। जब सब अभिनेता नाटक को समझ लेते तभी नाट्य का अभ्यास प्रारम्भ होता। एक दिन में छोटा-सा अंश लेकर उसके वाचिक, आंगिक और सात्विक अभिनय का पक्का अभ्यास कर लिया जाता और इस प्रकार क्रमशः पूरा नाटक तैयार हो जाता। तत्कालीन अन्य रंगशालाओं में वेशभूषा के साथ नाट्य का अभ्यास (ड्रेस रिहर्सल) करने की प्रथा नहीं थी। सब अभिनेताओं के पास अपने-अपने बहुत से वस्त्र रहते थे और जब जिसे जो अच्छा लगता वह पहनता और अभिनेत्रियां भी परस्पर समझौता करके वस्त्र-निश्चय कर लेती थीं जिसमें रंग का संघर्ष न हो। किन्तु स्तानिसलवस्की का नियम था कि वेशभूषा, दृश्य तथा

नेपथ्य-कर्म या मुँहरँगाई (मेकअप) के साथ पाँच-छः नाट्याभ्यास कर लिये जाते थे।

कला-रंगशाला का दूसरा सिद्धान्त यह था कि प्रत्येक नाटक का दृश्यपीठ उस नाटक की कथा और भाव के अनुकूल अलग-अलग हो। यह न हो कि जंगल, मकान, बँगला, उपवन, झील आदि के बने-बनाये रंगीन परदे ला-लाकर टाँग दिये जायँ।

इतनी तैयारी और इन नये सिद्धान्तों के अनुसार सन् १८९८ के अक्टूबर मास में इस कला-रंगशाला के उद्घाटन के अवसर पर सर्वप्रथम टोल्स्टाय का जार थेओडोर खेला गया। इसके पश्चात् शेक्सपियर का मर्चेन्ट ऑफ़ वेनिस, गल्डोनी के दो नाटक, पिजेमस्की के अभिनव रूसी नाटक, हाउप्टमान का दि संकेन बौल, सफक्लेस (सोफोक्लीज) का ऐंतिगोने, इब्सन का हेडा गेबलर और चेखोफ का दि सी गल क्रमशः खेले गये। इसका परिणाम यह हुआ कि अभिनेता भी प्रति दिन एक ही नाटक करने की नीरसता से बच गये और दर्शकों को भी नित्य नया प्रदर्शन देखने को मिलने लगा।

इस नयी रंगशाला का जनता ने बड़ा भव्य अभिनन्दन किया और यद्यपि प्रारम्भ में इसमें दर्शकों की संख्या बहुत कम हो चली थी किन्तु चेखोफ़ के सी गल (seh gull) के पश्चात् सफलता के लक्षण दिखाई देने लगे। पहले भी चेखोफ़ का यह नाटक खेला जा चुका था किन्तु उसमें सफलता न मिल सकी। उसका कारण यह था कि चेखोफ़ व्यवसाय से चिकित्सक था और रूसी जीवन पर छोटी कहानियाँ लिखकर उसने अपना साहित्यिक जीवन प्रारम्भ किया था। उसके पश्चात् उसने दो एकांकी प्रहसन लिखे, 'रीछ' और 'प्रस्ताव'। जिस समय चेखोफ़ ने अपना 'सी गल' मास्को स्मौल थिएटर वालों को दिया तो वहाँ के प्रसिद्ध अभिनेता लेन्स्की ने नाटक लौटाते हुए चेखोफ़ से कहा—'आप नाटक लिखना बन्द कर दीजिए।' चेखोफ़ का बड़ा भारी दोष यह था कि वह पात्रों का चित्रण अपने अनुभव और निरीक्षण के आधार पर करता था। उसके संवादों में उसके पड़ोसियों का स्वर भरा रहता था और इस स्वाभाविकता का परिणाम यह हुआ कि कृत्रिम स्वर और चेष्टाओं के साथ अभिनय करने वाले अभिनेता उसमें कोई रस न पा सके। चेखोफ़ ने भी निश्चय कर लिया कि अब मैं नाटक नहीं लिखूँगा। किन्तु दो वर्ष बाद दन्त्सोंको ने उससे नाटक लिखने का अनुरोध किया।

स्तानिसलवस्की ने प्राचीन अतिरंजित अभिनय का बहिष्कार कर ही दिया था, इसलिए चेखोफ़ के नाटक उसके स्वाभाविक अभिनय में बड़े खिले और परिणाम यह हुआ कि उसके नाटक चल निकले। स्वाभाविक अभिनय और स्वाभाविक वातावरण के साथ उसके नाटकों की गीतात्मकता निखर उठी।

कला-रंगशाला ने प्रकाश का भी अधिक स्वाभाविक ढंग खोज निकाला और इतने प्रकार के प्रकाशों का प्रयोग किया जिनकी सम्भावना भी न थी। उस रंगशाला में कभी-कभी तो रंगपीठ पर इतना कम प्रकाश होता था कि बड़ी कठिनाई से अभिनेता दिखाई पड़ते थे। दृश्य-पीठों के चित्रण के लिए भी रूस की यथार्थवादी कला का चित्रकार सिमोफ बुलाया गया और उसने नये प्रकार के ऐसे स्वाभाविक दृश्यपीठ बनाने प्रारम्भ किये कि 'सी गल' के अभिनय के समय एक उपवन का दृश्य देखकर दर्शकों में से एक बालक माँ से कहने लगा—'अम्माँ चलो ! इस फुलवारी में चलकर घूमा जाय।'

सन् १९०१ में कला-रंगशाला में चेखोफ का 'तीन बहनें' नामक नाटक सब से सुन्दर उतरा। इसके पश्चात् सन् १९०४ में चेखोफ का 'चेरी उद्यान' खेला गया और उसी वर्ष ग्रीष्मावकाश में वह चल बसा।

कला-रंगशाला के लिए लिखने वाले दूसरे प्रसिद्ध लेखक थे मैक्सिम गोर्की। उनके नाटकों में रूस के भीतरी निम्न वर्ग के वास्तविक आचार-विचार और रहन-सहन का ऐसा सहज तथा सजीव चित्रण है कि वह रंगशाला के अतिरिक्त कहीं दिखाया भी नहीं जा सकता था। किन्तु इससे यह नहीं समझना चाहिए कि मास्को कला-रंगशाला में केवल स्वाभाविक चित्रण वाले नाटक ही खेले जाते थे। जब उसने मेटरलिंक का 'नीला पक्षी' (ब्ल्यू बर्ड) खेला तो उसमें स्वाभाविकता का तत्त्व पूर्णतः दबाकर उसे शुद्ध-कल्पना-सिद्ध बना दिया।

क्रेग के प्रयोग

सन् १९११ में गौर्डनक्रेग ने इसी कला-रंगशाला में अपने निराले ढंग से हेमलेट खेला। दृश्य-पीठों के प्रयोग के विषय में उसका विचार था कि अभिनेतागण लम्बे-चौड़े, ऊँचे त्रिपरिमाणीय (थ्री डाइमेन्शनल) हाड़-मांस के पुतले होते हैं तो दृश्य-रचना में भी केवल द्वि-परिमाणीय (टू डाइमेन्शनल) अर्थात् लम्बे-चौड़े परदे ही क्यों टाँगे जायँ, उनमें भी लम्बाई, चौड़ाई के साथ मोटाई होनी चाहिए और दृश्य-पीठों का भी रंगशाला की क्रिया के साथ उसी प्रकार व्यवहार-संबंध होना चाहिए जैसे अभिनेता का होता है। फलतः उसने साधारण भावात्मक रूपों के ऐसे दृश्यपीठ बनाये जिनमें कई तल (पहल) हों। इन विभिन्न तलों पर कई कोणों से कई प्रकार के प्रकाश देकर वह इस प्रकार नाटकीय प्रभाव उत्पन्न करता था कि वे दृश्यपीठ अचल होते हुए भी चलते-फिरते दिखाई देते थे और अभिनेताओं को भी अपनी गति इन विभिन्न तलों के अनुसार नियमित करनी पड़ती थी। क्रेग के ये दृश्यपीठ प्रायः सादे रंग में रँगे जाते थे जिन पर रंगीन प्रकाश डालकर रंगीन प्रभाव उत्पन्न किया जाता था। वास्तव में

क्रेग ही पहला व्यक्ति था जिसने नाटकीय प्रभाव उत्पन्न करने के लिए छाया का महत्त्व पहचाना था। उसकी प्रणाली का अर्थ ही यह था कि अभिनेता स्वेच्छा से कुछ न करके नाट्य-प्रयोक्ता के निर्देश के अनुसार ही अपना अभिनय व्यवस्थित करें, क्योंकि नाटक का मूल भाव, दृश्यपीठ का प्रवर्तन, प्रकाश की व्यवस्था आदि सब वही जान सकता है और वही अभिनेता की गति और वाणी को ठीक समझा भी सकता है। क्रेग की इन काष्ठमय दृश्य-पीठिकाओं का यूरोप में बड़ा प्रचार हुआ। जर्मनी में एडोल्फ़ अप्पिया नामक चित्रकार ने भी क्रेग के समान ही दृश्यपीठ का प्रयोग करके वाग्नर के औपेरा के लिए दृश्यपीठ बनाये थे।

रेखावादी (क्यूबिस्ट) और निर्माणवादी (कन्स्ट्रक्टिविस्ट) रंगमंच

कला-रंगशाला की स्वाभाविकता से असहमत होने वाला प्रथम और महत्त्वपूर्ण नाट्य-प्रयोक्ता था—मेयरहोल्ड। उसने कला-रंगशाला के कई नाटकों में अभिनय भी किया था किन्तु वहाँ से छोड़कर वह तत्कालीन प्रसिद्ध अभिनेत्री वीरा कोमीसार जेविस्काया की रंगशाला का नाट्य-प्रयोक्ता बन गया। इस रंगशाला में कुछ समय काम करने के पश्चात् वह सेन्टपीटर्सबर्ग की अलेक्ज़ांड्रिस्की तथा मेरिंस्की नामक दो राजकीय रंगशालाओं का नाट्य-प्रयोक्ता बना। उसे न तो कला-रंगशाला की स्वाभाविक प्रदर्शन की ही नीति अच्छी लगी और न वहाँ का वातावरण ही, क्योंकि वह एलिज़ाबेथीय रंगशाला से बहुत प्रभावित था, यद्यपि रूढिगत रंगपीठ की चित्रमय प्रदर्शनी भी उसे बहुत नहीं भाती थी। उसका विचार था कि दर्शक लोग अभिनेताओं के और भी समीप आ जायँ और वे केवल नीरस दर्शक मात्र न रहें। परिणामतः उसने सामने का प्रकाश (फुटलाइट) और आगे का परदा हटा दिया। दृश्यावली भी प्रायः हटा दी गयी और केवल पीछे की भीत ही दर्शकों के सामने रह गयी। इतना ही नहीं, रंगशाला से दर्शकों तक पहुँचने के लिए उसने सीढ़ियाँ लगवा दीं। पुराने नाटकों को भी सम्पादित करके मेयरहोल्ड ने चलचित्र के कौशल के अनुसार छोटे-छोटे कथा-निबन्धों में बाँट दिया और रूसी विद्रोह के पश्चात् जब बहुत से सामाजिक प्रहसन निकल पड़े तब मेयर-होल्ड ने रंगमंच पर ऐसे भीड़ के दृश्य उपस्थित किये जिनमें अभिनेतागण साधारण कपड़े पहने, बिना मुँह रँगाये, रंगपीठ की भूमि पर आ पहुँचते थे। उसने नये प्रकार के भावात्मक रंगपीठ बनाये और चित्रण-कला में जो नया रेखावाद (क्यूबिज़्म) चला उससे प्रभावित होकर उसने रेखागणित के अनेक रूपों में मानवीय या प्राकृतिक वस्तुओं की आकृतियाँ उपस्थित करनी प्रारम्भ कर दी, जो अनेक प्रकार की चतुष्कोणी या त्रिकोणी आकृतियों के साथ गोल या नियमित रूपों की योजना करने के पश्चात्

विभिन्न आकार की बन जाती थीं। मेयरहोल्ड ने अपने इस भावात्मक दृश्य-विधान का प्रयोग करके चित्रित परदे निकाल बाहर किये और एक नये प्रकार का, लकड़ी के विभिन्न रूपों के ढाँचों से युक्त रंगपीठ बनाकर निर्माणवाद (कन्स्ट्रक्टिविज़्म) का प्रवर्तन किया। इस सम्बन्ध में कौमिसर जव:की ने कहा है कि विद्रोह के पश्चात् मोटा कपड़ा इतना अप्राप्य हो गया कि नाटक वालों को हार-झख मारकर निर्माणवाद की शरण लेनी पड़ी। य निर्माणवादी दृश्यपीठ पूर्णत: अवास्तविक थे और मंच, सीढ़ियाँ तथा पीठिकाएँ बनाकर इस रूप में लगा दिये जाते थे कि अभिनेता लोग उन पर विभिन्न तलों, कोणों और स्थानों से अभिनय कर सकें, यहाँ तक कि एक दृश्य तो ऐसा बन गया था कि वह पूरा यंत्रशाला जान पड़ने लगा था।
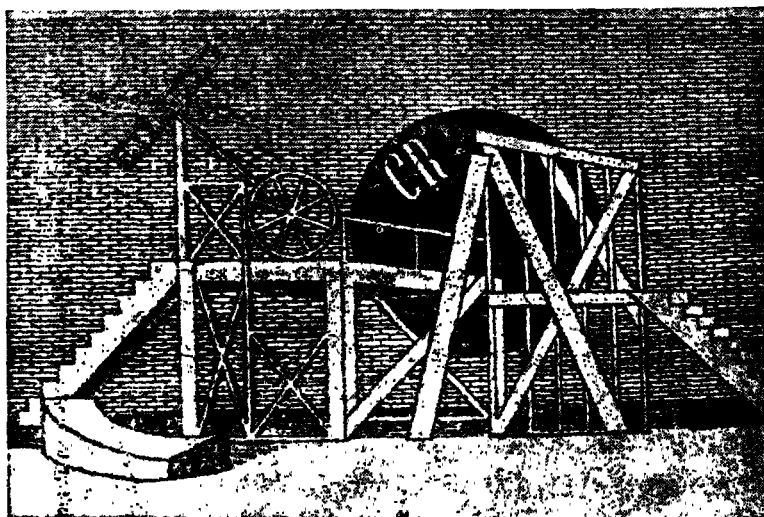
चित्र ४७—मेयरहोल्ड के नाटक के लिए निर्माणात्मक दृश्यपीठ

इस निर्माणवादी प्रयोग का परिणाम यह हुआ कि अभिनेता लोग नट बन गये और अभिनय के बदले रंगमंच पर उछल-कूद और नट-विद्या होने लगी। किन्तु धीरे-धीरे समय बदला और रंगमंच की दशा भी बदली।

एरिना थिएटर, ओपेन एअर थिएटर

बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में गार्डेन क्रेग ने यह सुधार-आन्दोलन और भी आगे बढ़ाया, कम से कम सिद्धान्त रूप में। आज तो बहुत से सुधार उसमें हो गये हैं, जैसे १—

छोटे भवन के आकार का घरेलू नाटच-गृह 'इन्टीमेट' या 'चेम्बर थिएटर' जिसमें कुछ थोड़े से विशिष्ट लोगों को बुलाकर नाटक दिखाये जा सकें। २—जनता के लिए रंगशालाएँ, जिनमें अधिक लोगों के बैठने का स्थान हो, जैसे १९१९ ई० में हान्स कोयिल्ज़िग ने बर्लिन में श्लाउसपील हाउस बनाया था। इसके अतिरिक्त सन् १९२० ई० में माक्स रीनहार्ट ने साल्ज़बुर्ग में फेस्ट्सपील नामक अक्षवाट रंगशाला (एरिना थिएटर) और खुली रंगशाला (ओपेन एअर थिएटर) बनायी थी। ये एरिना थिएटर या सरकस थिएटर ठीक उस प्रकार के होते थे जैसे व्यायाम-चक्र (सरकस) वाले बीच के स्थान में सम्पूर्ण व्यायाम-खेल करते और दर्शक चारों ओर सीढ़ीनुमा गोलाकार पीठिकाओं पर बैठते हैं। इन एरिना थिएटरों में भी बीच में प्रदर्शन होता था और चारों ओर दर्शक बैठते थे, जैसे हमारे यहाँ कहीं-कहीं रामलीला या रासलीला में होता है। 'एरिना' शब्द का लातिन में अर्थ होता है 'रेतीली भूमि' और यह द्योतक है 'एम्फी-थिएटर' या दर्शक-भूमि के मध्य भाग का। रोमवासियों ने ऐसी रंगशाला का प्रयोग अन्य प्रकार के उत्सवों और विनोदों के लिए किया था, जैसे मेढ़ों या भैंसों की लड़ाई अथवा मनुष्य और हिंसक पशुओं के द्वन्द्व में।

बीसवीं शताब्दी के आरम्भ में जब रंगशाला का विकास इस चरम सीमा तक पहुँच गया तब पुनः अभिनेता और दर्शक में अत्यन्त निकट सम्बन्ध स्थापित करने की प्रवृत्ति बढ़ चली और तदनुसार अनेक रंग-व्यवस्थापकों और नाट्य-प्रयोक्ताओं ने आगे को दर्शकों के बीच निकले हुए नये रंगमंच बनाये, जैसे स्विटज़रलैण्ड में ऐदोल्फ अप्पिया और इंग्लैण्ड में गार्डेन क्रेग का थिएटर।

वृत्ताकार रंगस्थली

सन् १९१० में माक्स रीनहार्ट ने 'ओडीपस' नाटक के जर्मन संस्करण के लिए इस सरकस-रंगशाला का सुधरा हुआ रूप प्रस्तुत किया जिसमें प्रेक्षागृह के एक ओर ऐसा दृश्यात्मक रंगमंच बनाया जिस पर होने वाला अभिनय-व्यापार बढ़कर मध्यस्थ रंगपीठ तक चला आता था। इस प्रकार की वृत्ताकार रंगस्थली के प्रयोग का सबसे अधिक प्रचार सोवियत रूस में हुआ। १९३२ में निकोलाइ ओखलोपकी के निर्देश में 'मास्को तथ्यवादी रंगमंच' (मास्को रीअलिस्टिक थिएटर) ने गोर्की का 'माँ' नाटक खेलने के लिए ऐसा गोल चौतरा बनाया था जिस पर चढ़ने के लिए चारों ओर से गोलाई में सीढ़ियाँ थीं और जिसके चारों ओर दर्शक बैठते थे। अमेरिका में भी वाशिंगटन संघ ने इस प्रकार के केन्द्र-मंचीय नाटकीय प्रयोगों को बहुत प्रोत्साहन दिया। वहाँ सन् १९३२ से इसी केन्द्रमंच शैली में बड़े छायादार छाजन के तले 'बैठकों' में होने वाले

'सुखान्त नाटक' (ड्राइंगरूम कौमेडी) खेले गये। १९४० में तो इस प्रकार का एक 'छाजनदार थिएटर' (पेन्टहाउस थिएटर) ही बना दिया गया था।

केन्द्रीय मंच

इस प्रकार के केन्द्रमंच अभिनयों का उद्देश्य यही होता है कि चरित्र-चित्रण और संवादों को अधिक महत्त्व दिया जाय, क्योंकि अग्रमंच-द्वार (प्रोसीनियम आर्च) वाले रंगमंचों की अपेक्षा इस प्रकार के सर्वदृश्य केन्द्रमंचों पर अभिनय अधिक स्वाभाविक हो सकता है, क्योंकि इस मंच पर अभिनेता एक ओर ही मुँह करके सब कुछ कहने के बदले साधारण व्यवहार की भाँति चाहे जिस ओर मुँह करके अभिनय कर सकता है और दर्शकों से भी निरन्तर सम्पर्क बनाये रख सकता है। इस केन्द्रमंच पर यह भी सम्भावना रहती है कि वह अधिक स्वाभाविक स्वर में अधिक वेग से बोलकर भी दर्शकों के लिए श्रव्य बना रह सके, क्योंकि जब दर्शक एक ओर तथा रंगमंच दूसरी ओर होता है तब अभिनेता को अनावश्यक मन्द गति और ऊँचे स्वर से बोलना पड़ता है। यद्यपि इस प्रकार के केन्द्र-मंच में दृश्यात्मक पृष्ठभूमि (सीनिक बैक-ग्राउण्ड) का प्रयोग नहीं हो सकता तथापि वेश-भूषा, अन्य रंग-सामग्री तथा परीवाप (फर्नीचर) के प्रयोग से स्थान और युग का परिचय अवश्य दिया जा सकता है। इस प्रकार के मंच पर दृश्य-परिवर्तन भी सबके सामने ही होता है क्योंकि दृश्य-परिवर्तन के प्रत्यक्ष कौशल का भी जनता स्वागत करती है। आजकल नाटकों के प्रयोग के लिए इस केन्द्रमंच-कौशल का प्रयोग दो कारणों से किया जा रहा है, एक तो यह है कि लोग बन्द रंगपीठों की रूढि से ऊब गये हैं और दूसरे, चलचित्रों ने अभिनेताओं, उनकी बातों तथा कार्यों को अत्यन्त समीप ला दिया है। इतनी सुविधा होने पर भी इस केन्द्रमंच में एक ही सबसे बड़ा दोष यह है कि जब कभी बैठक या राज-सभा का दृश्य उपस्थित किया जाता है तब एक ओर के दर्शकों को सदा मुख्य नेता की पीठ ही दिखाई पड़ती है।

प्रयोगात्मक रंगशाला (एक्सपेरिमेन्टल थिएटर)

उपर्युक्त प्रयोगों के अतिरिक्त एक प्रयोगात्मक रंगशाला भी चली जिसमें कृत्रिमता का घोर साम्राज्य था और जिसमें प्रत्येक नाटक के लिए अलग दृश्यपीठ होते थे और वास्तविक के बदले भावात्मक नाटकीयता की ओर अधिक प्रवृत्ति थी। इस रंगशाला के प्रयोक्ता तैरोफ ने यूजीन ओनील के नाटक लेकर स्वाभाविक और सरल एक-रंगे दृश्यपीठ का विधान किया। इस रंगशाला का सबसे प्रसिद्ध नाटक था—विस्नेवेस्की का लिखा हुआ 'आशावादी त्रासद'। इस नाटक में नये ढंग के भावात्मक

दृश्यपीठ-प्रकाश, अभिनय और संगीत के लिए चित्र-विचित्र कौशलों का प्रयोग किया गया था।

वाख्तान गोफ भी उन प्रसिद्ध नाट्य-प्रयोक्ताओं में से है जिसके अभिनेतागण चरित्र के व्यापार के अनुसार अपने भाव प्रकट करते हैं। उसने भी मेयरहोल्ड के समान नाटकों को अपने दृश्य-विधान के अनुसार ऐसा रूपान्तरित किया कि उसकी मृत्यु के पश्चात् वाख्तान गोफ थिएटर ने जब हेमलेट का अभिनय किया तो उसमें से सारी दार्शनिकता निकाल दी गयी थी और उत्तराधिकारी तथा बलाधिकारी के बीच राज्य के लिए संघर्ष मात्र दिखलाया गया था।

चित्र ४८—भावात्मक दृश्य-सज्जा वाले वास्तविकतावादी रंगमंच पर अभिनय

नवीन प्रयोग

रूसी जनतंत्र ने इन सब नाट्य-प्रवृत्तियों से प्रभावित होकर नाट्य को लोक-शिक्षा का अच्छा साधन माना और उसे भरपूर सहायता दी। कला-रंगशाला (आर्ट

थिएटर) का नाम बदलकर उसे 'मास्को गोर्की थिएटर' कर दिया गया और नाट्य-शाला की कला बदलकर राजनीति की पैंड़ी बन गयी। अब आश्वानोफ का 'सैनिक रेलगाड़ी' और तौल्स्तौय का 'पुनर्जीवन' (रिसरेक्शन) खेले जाने लगे और एक नयी प्रणाली चली—प्रस्तावना के रूप में नाटक और नाटककार के भाव का स्पष्टीकरण करने की। इसी समय कुछ अति वास्तविकतावादी (सुपररियलिस्ट) लोगों ने यथार्थवाद को इस पराकाष्ठा तक पहुँचा दिया कि उपचेतन, अर्धचेतन अवस्था तथा स्वप्नमय वातावरण दिखाने के लिए अनेक टेढ़ी-मेढ़ी, टूटी, अपूर्ण वस्तुओं का संग्रह करके उसका प्रभाव उत्पन्न करने लगे। किन्तु यह कला की हत्या और वास्तविकता की मूर्खता-पूर्ण अति है।

जर्मनी में नाट्य-प्रयोक्ता का कठोर शासन अभी तक चल रहा था, विशेषतः ड्यूक ऑफ मोयनिंगेन की रंगशाला में। किन्तु जर्मन-रंगशाला पर सबसे अधिक प्रभाव पड़ा माक्स रीनहार्ट का, जिसने दृश्य-प्रदर्शन का एक बड़ा विशाल और प्रदर्शनात्मक रूप उपस्थित किया। बर्लिन में उसका 'ग्रोसेस हाउसपील हाउस' थिएटर एक प्रकार का सरकस-भवन था जिसमें एक ओर रंगपीठिका बनी हुई थी जिसके साथ लगी हुई दर्शक-पीठिकाएँ ऊपर तक उठती चली गयी थीं। इसमें वह प्रकाश और समुन्नत यन्त्रों के द्वारा नाटकीय प्रभाव उत्पन्न करता था। उसके सब दृश्यों में अभिनेताओं की भीड़ रंगपीठ से चलकर दर्शकों तक पहुँच जाती थी और रंगपीठ प्रायः पृष्ठभूमि मात्र रह जाता था। यद्यपि रीनहार्ट ने भी मेयरहोल्ड के समान लकड़ी के बहुफलक ढाँचों वाली सामग्रियों से अपने दृश्यपीठ का निर्माण किया था किन्तु उसमें अभिनेताओं को नटों के समान उछल-कूद नहीं करनी पड़ती थी। इस रंगमंच पर उसने नये प्रकार के नैतिक (मोरैलिटी) या अद्भुत (मिरैकिल) नाटक खेले। हिटलर के समय उसे जर्मनी छोड़कर अमेरिका भाग जाना पड़ा जहाँ १९४३ में उसका अवसान हो गया और उसके साथ-साथ जर्मनी का नया नाट्य-युग भी समाप्त हो गया। अब फिर जर्मनी की नाट्यशालाओं में पुराना राग अलापा जाने लगा।

छोटी रंगशाला

चेकोस्लोवाकिया में 'छोटी रंगशाला' (लिटिल थिएटर) नाम से जो नया नाट्य-आन्दोलन चला उसमें आन्दोलकों का मुख्य अभिप्राय यही था कि दृश्य-विधान इतना सरल कर दिया जाय कि छोटी-छोटी अव्यावसायिक नाट्य-समितियाँ भी सब प्रकार के नाटक खेल सकें। किन्तु जहाँ तक अभिनय का प्रश्न था वे उसी रूप में विद्यमान रहीं।

अमेरिका की रंगशालाएँ

अमेरिका में जो नाट्यशालाएँ स्थापित हुईं वे इंग्लैण्ड के समान केवल मध्यवर्गीय संस्थाएं भर नहीं थीं वरन् उनमें इंजिन-चालक, भिखमंगे, आवारे और साधारण श्रेणी के जितने रूप हो सकते हैं, सब पर रचनाएँ की गयीं किन्तु वहाँ भी रंगशाला तथा रंगपीठ के जो प्रयोग हुए थे उनका अधिक उपयोग न हो सका। यह अवश्य हुआ कि उन लोगों ने पुराने नाटकों के प्रधान चरित्रों को अपने रूप में ढाल दिया। सन् १९३७ में औसन वैलेस में जूलियस सीज़र को आजकल के अधिनायकों के वस्त्र पहना दिये, रंगशाला से दृश्य हटा दिये और दृश्यपीठ के स्थान पर रंगमंच भर बचा रह गया। इस प्रयोग में विभिन्न प्रकार के प्रकाशों द्वारा दृश्य-परिवर्तन दिखाये जाने लगे और परिमित-प्रकाशक (डिमर) बाहर की ओर रख दिये गये। वहाँ हब्शियों की अपनी रंगशालाएँ हैं जहाँ 'मैकबेथ' नाटक में स्कॉटलैण्ड के दृश्य के बदले हैती के दृश्य दिखाई पड़ते हैं। यहाँ भी छोटी रंगशालाओं की भरमार हो गयी है, जैसे पसाडेना कम्युनिटी प्ले हाउस और न्यूलैण्ड प्ले हाउस, जो प्रायः संयुक्त राष्ट्र अमेरिका की म्युनिसिपैलिटियों की ओर से चलाये जाते हैं। इनमें प्रायः वार-नाटक-प्रथा है अर्थात् प्रति सप्ताह किसी निश्चित वार को एक नाटक खेला जाता है। किन्तु इनके अतिरिक्त व्यावसायिक रंगशालाएँ भी हैं।

अमेरिका की रंगशालाओं में विश्वविद्यालयों और महाविद्यालयों की रंगशालाएँ भी हैं, जहाँ नाट्य में उपाधियाँ (डिग्रियाँ) भी दी जाती हैं और जहाँ रंगशाला सम्बन्धी सभी कौशल दिखाये जाते हैं।

इंग्लैण्ड की वर्तमान रंगशाला

आज की रंगशाला इंग्लैण्ड में मध्यमवर्गीय संस्था है जिसमें लेखक, अभिनेता और दर्शक सम्मिलित हैं। दूसरी बात यह है कि इसमें युवकों के लिए इतना स्थान नहीं है जितना युवतियों के लिए। वेस्ट एण्ड थिएटर में युवतियों की विराट् संख्या इसका प्रमाण है। इंग्लैण्ड की रंगशाला में कोई महत्त्व का परिवर्तन भी नहीं हुआ और कोई विशेष उन्नति भी नहीं हुई। वहाँ के अभिनेताओं पर नाट्य-प्रयोक्ताओं का अभी उतना शासन नहीं है जितना पहले था। नाटकों के प्रयोगों की दशा वैसी ही है जैसी पचास वर्ष पूर्व थी। एक नया परिवर्तन अवश्य हुआ है कि वहाँ अब एक ही दृश्य-पीठ वाले ३-३ अंक के नाटक खेले जाने लगे हैं, जिसका परिणाम यह हुआ कि दृश्यपीठ भारी किन्तु अधिक स्वाभाविक और वास्तविक लगने लगा है। अभिनेतागण भी अब गैरिक या बैटर्टन की वाणी में न बोलकर सीधे-सादे ढंग से बातचीत करने लगे हैं।

सन् १९४४ में वेस्ट एण्ड में वार-प्रणाली भी चलायी गयी और निश्चित वार पर निश्चित नाटक दिखाये जाने लगे। न्य थिएटर में ओल्डविन थिएटर कम्पनी ने शेक्सपियर, इब्सन और चेखोफ़ के नाटक दिखाये हैं और मार्केट थिएटर में जॉन गीलगुड की कम्पनी ने शेक्सपियर, कौनग्रीव, जॉन वेब्स्टर और सॉमरसेट माम के नाटक खेले। इंग्लैण्ड के थिएटरों में नाटक तो बढ़ते जा रहे हैं पर उनमें कोई महत्त्वपूर्ण परिवर्तन नहीं हो रहा है। यह अवश्य है कि दृश्य-परिवर्तन के लिए यन्त्रों का प्रयोग आरम्भ हो गया है। वहाँ की सरकार की ओर से एक नया प्रयोग यह किया जा रहा है कि 'संगीत तथा कथा-प्रोत्साहन परिषद्' (कौन्सिल फॉर दि इनकरेजमेन्ट आफ़ म्यूज़िक ऐण्ड आर्ट) के द्वारा व्यावसायिक अभिनेताओं को गाँव-गाँव में भेजकर नाटक दिखाये जायँ, किन्तु रंगशाला के भीतर नाटक देखने में जो विशेप प्रभाव पड़ता है वह इन घुमन्तू नाटकों से नहीं पड़ सकता।

खुले रंगमंच

दर्शक और अभिनेताओं के बीच का व्यवधान हटाने के लिए आन्दोलन के फल-स्वरूप आजकल एक नये प्रकार के खुले रंगमंच (ओपेन एअर थिएटर) की भी प्रथा चली है, जिसमें डेढ़ फुट से लेकर साढ़े चार फुट ऊँचे तक अधगोले मंच बनाये जाते हैं, जिनके पीछे की अधगोली रेखा के साथ वैसी ही अधगोली भीत (साइक्लोरामा) बना दी जाती है। इस मंच के दोनों ओर आगे आड़ करने के लिए छोटी सी सीधी भीत होती है जो थोड़ी-थोड़ी मंच के भीतर तक चली आती है और इस भीत के पीछे दोनों ओर प्रवेश और निर्गम-द्वार बने होते हैं। यह मंच ऊपर से खुला रहता है और सामने भी प्राचीन भारतीय प्रेक्षागृहों के समान सीढ़ीदार गोलाई में बैठने के खुले स्थान बने होते हैं। भारत में ऐसी रंगशाला दिल्ली के तालकटोरा गार्डेन में भारत सरकार के शिक्षा-विभाग द्वारा बनायी गयी है जहाँ समय-समय पर नाट्योत्सव होते रहते हैं।

चल-मंच (वैगन स्टेज)

इधर रंगमंच के स्वरूप में जो बहुत विचित्र परिवर्तन हुए हैं उनमें एक है चल मंच (वैगन स्टेज)। यह पूरा मंच छोटे-छोटे पहियों पर इस प्रकार टिका रहता है कि आवश्यकता पड़ने पर पूरा मंच इधर-उधर सरका या हटा दिया जाय और मंच के दूसरे भाग पर जो दूसरा सजा हुआ दृश्य हो वह सामने आ जाय और पहले दृश्य पर लगी हुई सम्पूर्ण दृश्यावली परिवर्तित की जा सके। ऐसे रंगमंच पर दो दृश्य एक साथ लगाये जा सकते हैं। इसी को सर्पक मंच (शिफ़्ट स्टेज) भी कहते हैं।

इस सर्पक मंच की यह विशेषता है कि इसमें एक साथ दो मंच सजाये जा सकते हैं और एक दृश्य के समाप्त होने पर वह मंच दायें या बायें सरका देने पर दूसरा मंच सामने आ जाता है। इस मंच पर परदों का उठना और गिरना नहीं होता। इनके लिए केवल दृश्यपीठ (सेटिंग) ही लगा दिये जाते हैं और ऊपर गोलाई में मंच के पीछे की भीत आकाश के समान रँग दी जाती है जिसमें आवश्यकता पड़ने पर चन्द्रमा और तारों की चमक, सूर्य और उसकी प्रचण्ड धूप दिखाई जा सके। इसी शैली के वे भी रंगपीठ हैं जिनके नीचे बड़े-बड़े तालाब बने होते हैं जो यंत्र के सहारे लुप्त भी कर दिये जाते हैं और दर्शकों के सामने समुद्र, नदी, तालाब, जलाशय, स्नान-ताल के रूप में दिखा भी दिये जाते हैं।

उन्नयन मंच (लिफ़्ट स्टेज)

एक और प्रकार के उन्नयन मंच (लिफ़्ट स्टेज) भी होते हैं जो बिजली की चढ़ानों (लिफ़्ट) के सहारे नीचे-ऊपर किये जा सकते हैं।

चित्र ४९—भावात्मक चित्रकारों द्वारा निर्मित रूपाकार

अभिनव प्रयोग

इन रंगपीठों के अतिरिक्त कुछ और भी नये प्रयोग हुए जिनमें तीन मुख्य हैं—

एक पेटिका रंगपीठ (बौक्स स्टेज) जो तीन ओर से बन्द रहता है और इन्हीं तीन पक्षों में रंगपीठ पर आने के केवल द्वार भर रहते हैं। ऐसे रंगमंच उन सामाजिक नाटकों के लिए अधिक अनुकूल होते हैं जिनमें बैठक के दृश्य में दिखाये जाने वाले घरेलू सामाजिक या समस्या नाटक खेले जाते हैं।

जब से एक दृश्यपीठ वाले नाटकों का प्रयोग चला है तब से रंगपीठ की जटिलताएँ बहुत कम हो गयी हैं। ये एक दृश्यपीठात्मक रंगपीठ (मोनो सेटिंग स्टेज) दो प्रकार के होते हैं—एक तो वे जिन पर केवल मेज़-कुर्सी आदि परीवाप लगा दिया जाता है। दूसरे वे जिन पर सीढ़ी, कमरे, छत, मकान आदि त्रि-परिमाणीय अर्थात् लम्बाई, चौड़ाई और गहराई वाले दृश्य-पीठ लगाये जाते हैं। इधर अतिवास्तविकतावादी (सुपररियलिस्ट) कलाकारों ने दृश्यपीठों के रूप में कुछ विशेष परिवर्तन करके कुछ में तो पीछे धुंधले, गम्भीर, रहस्यात्मक भाव-चित्र बना दिये हैं, कुछ में वे फूल-दान, वाद्ययंत्र, एक पात्र आदि कुछ कला की वस्तु चित्रित करके रख देते हैं—किसी में अतिवास्तविकतावाद को व्यक्त करने के लिए एक स्त्री का चित्र बनाकर उसके हृदय का भाग खोखला
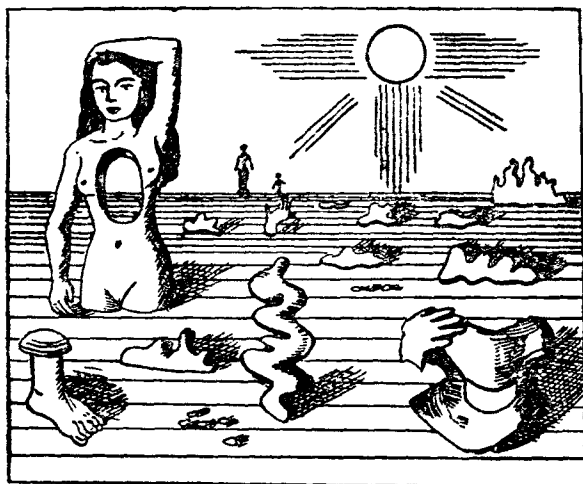
चित्र ५०—अति वास्तविकतावादी चित्रकारों द्वारा चित्रित स्वप्निल वातावरण

करके हृदय का चित्र अलग बना देते हैं, बड़ी सी आँख एक ओर बनाकर रख देते हैं और हाथ-पैर भी काटकर अलग रख देते हैं।

द्विपक्षीय रंगमंच

कुछ ऐसे भी खुले रंगमंच होते हैं जिनमें रंगमंच के चारों ओर दर्शक बैठ सकते हैं, जैसे जापान के नाटकों में, किन्तु एक और भी प्रकार के खुले रंगपीठ होते हैं जिनमें आमने-सामने दो मंच होते हैं और दर्शक उन दोनों मंचों के बीच का गलियारा छोड़ कर दायें-बायें बैठते हैं। प्रायः भारत की राम-लीलाओं में इसी प्रकार के दुहरे मंचों का व्यवहार होता है जहाँ एक ओर राम की और दूसरी ओर राक्षसों की सेना होती है। कभी-कभी यूरोप के घुमनियाँ या गाड़ी-मंच वालों के समान विमान-मंचों का प्रयोग होता है जहाँ पहियेदार गाड़ियों पर बने हुए मंचों पर सजावट के साथ अभिनय हुआ करते हैं। ये भी भारतीय राम-लीलाओं में प्रायः बारात या नक्कटैया (शूर्पणखा के नासिकाछेदन) के अवसर पर बनाये जाते हैं।

ट्रेडमिल स्टेज (पैरचक्की मंच)

यूरोप की कुछ रंगशालाओं में रंगमंच के आर-पार चलती हुई पट्टी (एस्केलेटर) लगी रहती है जिस पर अभिनेता और दृश्य इस प्रकार चलते हैं मानो कोई लम्बी यात्रा कर रहे हों या कोई रहस्यमयी यात्रा का दृश्य दिखा रहे हों। इसका प्रयोग पहले घुड़दौड़ के दृश्यों के लिए होता रहा है। इस प्रकार का प्रयोग दिखलाने के लिए कुछ नाटकों में तो रंगमंच के पीछे का परदा भी वेग से घूमता है।

चक्रिल रंगमंच (रिवौल्विंग स्टेज)

सन् १७३० के लगभग जापान में सिवोजोन नामक नाट्य-लेखक ने जापानी रंगशाला में नियमित रूप से चक्रिल रंगमंच का प्रयोग किया, जो एक चूल (पिट) पर गोल पीठ के रूप में बनाया और हाथ या बिजली से चलाया जाता है। इस पर एक साथ तीन दृश्य लगाये जा सकते हैं और एक दृश्य समाप्त हो जाने पर बत्ती बुझाकर रंगपीठ घुमाकर दूसरा दृश्य सामने कर दिया जा सकता है। इसका आविष्कार तो जापान में हुआ किन्तु इसका प्रचार सन् १८०६ में म्यूनिख में लाउटेन श्लेगर ने किया था। भारत में कलकत्ते की 'श्यामली' रंगशाला में चक्रिल रंगमंच का प्रयोग होता है।

कारपा

मैक्सिको में अब भी छोटे-छोटे पटमंडप (शामियाने) तानकर नाट्य-प्रदर्शन किये जाते हैं जो घूम-घूमकर भी दिखाये जाते हैं। इस प्रकार की घूमने वाली मंडलियों

को 'कारपा' कहते हैं जो शामियानों में नाटक करती फिरती हैं, जैसे हमारे यहाँ नौटंकी, भँड़ैती या बिदेसिया होता है।

चित्र ५१—रंगमंच पर चक्रिल मंच की योजना

रेडियो सिटी म्यूज़िक हॉल

इस प्रयास में जिन अनेक प्रकार की रंगशालाओं का निम ण हुआ है उनमें रेडियो सिटी म्यूजिक हॉल, न्यूयार्क ही संसार का सबसे बड़ा नाट्य-गृह है जो सन् १९३७ में बनाया गया। इसका अग्रमंच-द्वार (प्रोसीनियम आर्च) साठ फुट ऊँचा है। इसके रंगमंच पर कई चक्रिल मंच (रिवोल्विंग स्टेज), उत्थापक यंत्र (एलिवेटर्स), अपसारक मंच (टर्न टेबिल या ट्रैवर्स टेबिल), चलते हुए पट्टे (मूविंग वैण्ड बैगन), जिस पर मनुष्य दौड़ता जाता है और पीछे का दृश्य उलटा चलता जाता है। उस पर केवल दौड़ने का अभिनय मात्र करते हुए भी ऐसा प्रतीत होता है मानो वह बड़े वेग से दौड़

रहा हो), आश्वासन परदे (कन्सोल कर्टेन), तलदीप (फुटलाइट्स), बेलादीप (बौर्डर लाइट्स), विद्युत्-यंत्र, रंग के साधन, जलचालित-उत्थापक (हाइड्रोलिक एलिवेटर), परदे, वृत्तभित्ति (साइक्लोरामा), वाद्यभूमि (आरकेस्ट्रा पिट) आदि अनेक नवीनतम साधनों का विधान है।
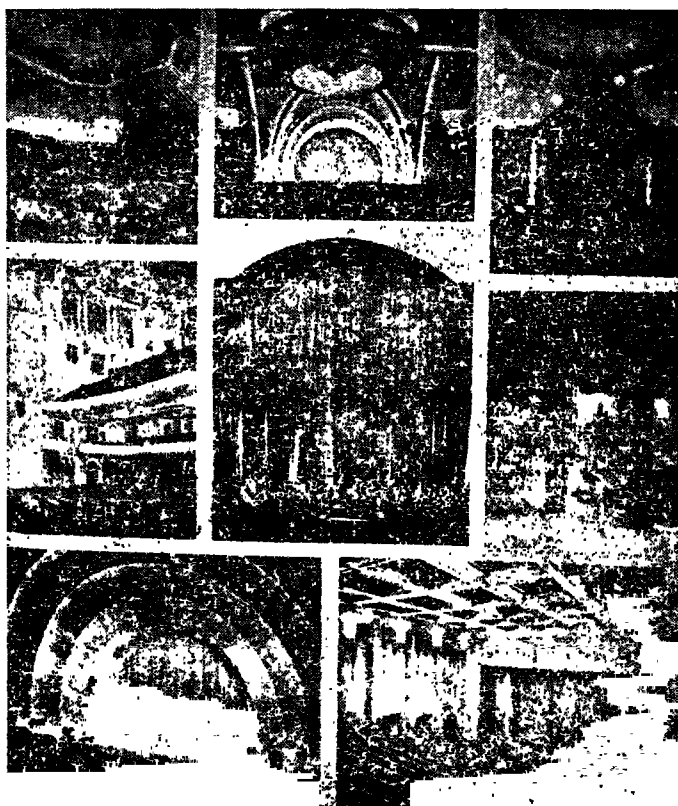
चित्र ५२—कुछ रंगशालाओं की झाँकी

१ कैपिटल थिएटर बर्लिन का प्रेक्षागृह
२. टिटानिया पैलेस, बर्लिन
३. कैपिटल थिएटर का रंगमंच
४. राक्सी थिएटर, न्यूयार्क
५. रेडियो सिटी म्यूजिक हॉल (वादक-वृन्द)
६. ओस्मर स्ट्रनाड का प्रोजेक्टेड थिएटर
७. रेडियो सिटी म्यूजिक हॉल, न्यूयार्क
८ कुन्स्टलर थिएटर, म्यूनिख

रेडियो सिटी म्यूज़िक हॉल के विशाल भवन के चारों ओर दूर तक दस सहस्र व्यक्ति अमेरिका के कोने-कोने से प्रति दिन नाटक देखने के लिए आकर लम्बी पाँत में इस प्रकार शान्ति, धैर्य, सन्तोष और सौजन्य के साथ खड़े रहते हैं मानो उन्हें यहाँ खड़े होने के लिए ही निमन्त्रण मिला हो। वहाँ की व्यवस्था इतनी अच्छी है कि लगभग तीन घंटे में उनमें से छः सहस्र दो सौ व्यक्तियों को टिकट मिल जाते हैं और शेष भीड़ स्वतः शान्तिपूर्वक इस प्रकार खिसक जाती है मानो उसमें से कोई भी नाटक देखने की इच्छा से न आया हो। इन छः सहस्र दो सौ व्यक्तियों में यदि गर्भवती महिलाएँ, विकलांग या पादरी होते हैं तो उन्हें विशेष प्रवेशक (अशर्स) लोग पाँत में से छाँटकर भवन में ले जा बैठाते हैं और उनके लिए टिकट ला देते हैं। ये विशेष प्रवेशक (स्पेशल अशर्स) पंक्ति में खड़े हुए दर्शकों की सेवा ही नहीं करते वरन् नाट्यशाला की व्यवस्था के सम्बन्ध में लोगों की आलोचनाएँ सुनकर उनके आधार पर अपना तथा वहाँ की व्यवस्था का सुधार भी करते चलते हैं। वहाँ के सेवक इतने सच्चे और निष्ठावान हैं कि आप लाख पुरस्कार या घूस का प्रलोभन दीजिए किन्तु हँसकर उधर से आँखें फेर लेंगे। वहाँ के छोटे-बड़े सभी सेवक इतने अधिक नम्र और विनयी हैं मानो संसार का समस्त शील उन्होंने ही आत्मसात् कर लिया हो। वहाँ के सेवकों को विनय की ऐसी शिक्षा दी जाती है कि गाली तो कुछ भी नहीं, यदि वहाँ काम करने वाले किसी भी व्यक्ति को कोई सड़ासड़ बेंत भी मार दे तो वह क्रोध और क्षोभ प्रदर्शित करने के बदले तत्काल उलटकर कहेगा —

'अनेक धन्यवाद, मैं आपकी क्या सेवा कर सकता हूँ ?'

इस शील का उन्हें पुरस्कार भी मिलता है। यदि कोई दर्शक किसी सेवक की शालीनता की प्रशंसा कर दे तो वहाँ के अधिकारी इसे अपना गौरव समझते हैं और उस सेवक को दो दिन की सवेतन छुट्टी दे देते हैं।

नाट्य-भवन में रंगमंच के ठीक सामने जिस वेदी पर विशाल संगीत-मंडली बैठती है उसके नीचे ऐसा यंत्र लगा हुआ है कि वह उस वेदी को आवश्यकता के अनुसार रंगमंच के बराबर उठा दे, नीचे उतार दे, अथवा ज्यों का त्यों उठा और सरकाकर रंगमंच पर पहुँचा दे।

वहाँ के 'रोशे' नामक नृत्य-नाट्य में लम्बी-लम्बी टाँगों वाली, समान शरीर और डील-डौल वाली छत्तीस बालिकाएँ जब सटीकता नृत्य (प्रिसीज़न डान्सिंग) करती हुई एक साथ अपनी गति, चारी, मुद्रा या भंगिमा चलाती हैं तो जान पड़ता है मानो वे भी यंत्र से चालित हो रही हों, क्योंकि किसी के अभिनय में भी एक क्षण या बाल भर का अन्तर नहीं होता। ये बालिकाएँ तीन सप्ताह कार्य करके चार सप्ताह का

वेतन पाती हैं। इनमें से प्रति वर्ष सात-आठ बदल भी दी जाती हैं, क्योंकि उनमें से कुछ का विवाह हो जाता है।

इस रंगमंच पर खेले जाने वाले दृश्य-विधान, रंग-व्यवस्था, रंग-दीपन, नेपथ्य-सज्जा, अलंकरण, सहवादन, आंगिक, वाचिक तथा सात्त्विक अभिनय, रंगपीठ-परिवर्तन, यवनिका-संचालन, ये सब इतने शान्तिपूर्ण, कलात्मक तथा भावात्मक रीति से होते चलते हैं कि छः सहस्र सामाजिक मौन, मूक, जड़ और तन्मय होकर उसे मन्त्र-मुग्ध होकर देखते रह जाते हैं।

इस नाट्यशाला का रंगमंच तीन भागों में विभक्त है। इसके नीचे छः विशाल यंत्र लगे हैं जो इन तीनों भागों को आवश्यकता के अनुसार अलग-अलग या समवेत रूप से विभिन्न ऊँचाइयों पर उठा सकते हैं। आगे लटके हुए विशाल सुनहरी जरी के लहरदार परदे का ही बोझ तीन टन (लगभग ८३ मन) है इसलिए यह परदा हाथ से नहीं उठाया-गिराया जा सकता। इसे तेरह मोटर मोटे-मोटे सात तारों के सहारे नीचे-ऊपर गिराते-उठाते हैं और उठाकर सात झालरों में सुन्दरता के साथ ऊपर लटका देते हैं। वहाँ के रंग-व्यवस्थापक प्रति दिन नाटक की आवश्यकता के अनुसार इस परदे के लिए इस क्रम से बिजली के बटन सजा देते हैं कि जब परदा उठता है तो वह नित्य प्रति नये-नये आकार बनाकर ऊपर लटक जाता है।

वहाँ की प्रकाश-व्यवस्था का कक्ष संसार के सबसे बड़े रेलगाड़ी के निर्देश-प्रकोष्ठ (सिग्नल केबिन) के समान है। इसके रंगदीपन प्रकोष्ठ (स्टेज लाइटिंग केबिन) में चार सहस्र हत्थे (हैंडिल), बटन (स्विच), चक्कर (स्टीअर) और अन्तर्बद्ध झटके इस भवन की पचीस सहस्र बत्तियों का एक साथ नियंत्रण करते हैं। केवल एक ही व्यक्ति पहले से इनका क्रम ठीक कर रखता है और वही अकेला इन पचीस सहस्र प्रदीपों के दीपन का एक साथ नियन्त्रण करता है।

उस रंगशाला में एक विचित्र और विशाल वाद्ययंत्र है जिसमें से एक साथ तीन सह-वाद्यों का प्रभाव उत्पन्न होता है और केवल एक व्यक्ति इस वाद्ययंत्र को संचालित करता है। इस वाद्ययंत्र में आधी पेंसिल की लम्बाई से लेकर पचीस फुट तक लम्बी धातु-नलिकाएँ हैं और आठ पंखे निरन्तर वायु धोंककर ध्वनि उत्पन्न करते हैं। यह वाद्ययंत्र इतना विशाल है कि बड़े-बड़े आठ प्रकोष्ठों में यह समेटकर रखा जाता है।

वहाँ की स्वच्छता अत्यन्त दर्शनीय, अद्भुत और अनुकरणीय है। वहाँ बिछा हुआ कालीन यदि कहीं एक फुट भी घिस जाय तो झट निकालकर बदल दिया जाता है, प्रति वर्ष अस्सी लाख व्यक्तियों के जूतों से मर्दित होने के कारण प्रति चौथे वर्ष वह पूरा कालीन बदल दिया जाता है।

वहाँ का अग्रकक्ष (लौबी) आज पचीस वर्ष पश्चात् भी इतना स्वच्छ, सुन्दर, नवीन, आकर्षक और मनोहारी है मानो अभी एक घण्टे पूर्व ही बनकर उसका उद्घाटन हुआ हो। उस अग्रकक्ष में सुनहरी जरी के परदों से सजे हुए चौंसठ फुट ऊँचे दर्पण लगे हुए हैं, जिन पर तीस-तीस फुट लम्बी नल-बत्तियों का प्रकाश सहस्त्रगुणित होकर उस भवन को छबि-गृह वना देता है।

नाटक समाप्त हो चुकने पर आधी रात से ही भवन की स्वच्छता प्रारम्भ हो जाती है, क्षण भर में सुन्दर वेश-भूषा से सुसज्जित एक सौ भंगी और भंगिनें हाथ में बिजली के धूलि-शोषक (वैकुअम क्लीनर्स) लेकर उस भवन को शुद्ध करने के लिए आ जुटते हैं। देखते-देखते वेग से वे उस भवन में स्थान-स्थान पर लगे हुए दो सहस्त्र सात सौ सिगरेट की राख के डब्बे, भीतें, भवन में बनी हुई मूर्तियाँ, हाथ धोने के जलाधार, शौचालय आदि स्वच्छ कर डालते हैं। इस स्वच्छता के पश्चात् रात को ही दूसरे दिन के अभिनय के लिए सामग्री जुटाने की तैयारी होने लगती है और प्रातःकाल होते-होते अगले दिन के नाटक के लिए भवन भी शुद्ध हो जाता है और सारी व्यवस्था भी पूरी हो जाती है।

वहाँ का दृश्य-विधान-भवन अत्यन्त विशाल, ऊँचा प्रकोष्ठ है जिसमें लगभग पचास रोम-कालीन रथ और घोड़े, लन्दन का पूरा वेस्ट मिन्स्टर ऐबे (विशाल गिरजाघर) और पाँच इंजन वाला विशाल विमान खड़ा मिलेगा; यदि इनका प्रयोग अगले दिन के नाटक में होने वाला हो।

यद्यपि संसार में बहुत सी नाट्यशालाएँ और रंगमंच हैं किन्तु इतना अद्भुत, विशाल, स्वच्छ, सुन्दर और व्यवस्थापूर्ण नाट्य-गृह दूसरा नहीं है, जिसमें छः सहस्त्र दो सौ व्यक्ति एक साथ बैठकर नाटक देखते हों और रंगमंच पर किया हुआ कोई अभिनय तथा मुँह से निकाला हुआ कोई स्वर किसी दर्शक के नेत्र या श्रवण की पकड़ से छूट जाय।

वर्तमान भारतीय रंगमंच

भारत में आठवीं शताब्दी के पश्चात् रंगमंच समाप्त हो गया। अंग्रेज़ों के राज्य के साथ जो रंगमंच भारत में अपनाया गया वह चित्र-चौखटा रंगमंच (पिक्चर फ़्रेम स्टेज) के अनुकरण पर था, जिसमें चित्रित परदे, प्लॉट और दृश्यपीठ की बड़ी तड़क-भड़क रहती थी और अभिनय भी अतिरंजित होता था, जिसे पारसी शैली का अभिनय कहते हैं। इसमें वेश-भूषा बहुत-कुछ अंग्रेज़ी ढंग की होती थी।

भरत ने अपने नाट्यशास्त्र में जिन रंगशालाओं का विवरण दिया है उन रंग-

शालाओं का या उनके अस्तित्व का कोई प्रत्यक्ष प्रमाण प्राप्त नहीं हे ता। कुछ विद्वानों ने विन्ध्य की निर्जन पर्वतमाला में समवस्थित सीतावेंगा और जोगीमारा गुफाओं के शिलावेश्मों को भूल से भारतीय नाट्यशाला का अवशेष मान लिया है। वास्तव में भारतीय नाट्यशालाएँ स्थायी रूप से बनायी ही नहीं जाती थीं। वे विशेष अवसरों पर निर्मित कर ली जाती थी और नाट्य-प्रयोग हो चुकने पर रंगदेवता का विसर्जन करके वे उजाड़ दी जाती थीं। राज-प्रासादों और सरस्वती-मन्दिरों में जो नाट्य-प्रयोग होते थे उनके लिए वहीं किसी कक्ष में नाट्य-वेश्म का विधान कर लिया जाता था। किन्तु यूरोप में यूनानी रंगशाला के व्यवस्थित रूप से जो अन्य रंगशालाओं का विकास हुआ उसमें सामूहिक रूप से वड़े व्यवसायियों, शासकों और धर्मनेताओं ने भी सहयोग दिया। आगे चलकर धनी नाट्य-व्यवसायियों का सहयोग पाकर स्तानिसलवस्की, कौमिसार-जेवस्की, इनिगो जोन्स, मेयरहोल्ड आदि अनेक नाट्य-शास्त्रियों ने अभिनय-प्रणाली, रंगशाला, रंग-सज्जा, दृश्य-सज्जा तथा रंगदीपन के सम्बन्ध में अनेक प्रयोग करके एक नया रंगशास्त्र-विधान ही स्थापित कर दिया जो यद्यपि भरत के नाट्यशास्त्र के निर्दिप्ट विधान के समान सूक्ष्म और विस्तृत तो नहीं है किन्तु विशेष सिद्धान्तों पर व्यवस्थित रूप से आश्रित अवश्य है। यह खेद की बात रही है कि यद्यपि भारत सरकार की ओर से नाट्य-संगीत अकादमी की स्थापना अवश्य हुई, नाट्य-प्रयोगों पर पुरस्कार भी दिये जाने लगे, दिल्ली के तालकटोरा गार्डेन में खुली रंगशाला भी स्थापित की गयी और इधर भारतीय जनपदों के लिए खुली रंगशाला के निर्माण के निमित्त कुछ अनुदान भी दिये जाने की बात चल रही है; किन्तु अभी तक भारतीय नाट्यशास्त्रियों को नाट्य-प्रयोग के लिए न तो उचित अवसर ही मिल सका और न कोई सुन्दर व्यवस्थित भारतीय रंगशाला ही निर्मित की जा सकी। यद्यपि बम्बई के पृथ्वी थियेटर्स ने कुछ त्रि-परिमाणीय एकपीठ-दृश्य बनाकर नाटक खेले भी, बंगाल में चक्रिल रंगमच का प्रयोग भी हुआ और बम्बई के मंचों पर चलचित्र के प्रभाव भी दिखाये गये तथापि अभिनव-भरत के अतिरिक्त किसी ने कोई विशेष प्रयोग नहीं किये।

भारत में अभी तक अधिकांश व्यावसायिक और अर्धव्यावसायिक नाट्य-मंड-लियाँ पारसी रंगशालाओं के रंगमंच की शैली पर नाटक खेलती जा रही हैं जिनमें १९वीं शताब्दी के यूरोपीय शैली के चित्रित परदों वाले तथा पखवाइयों और झालरों वाले रंगमंच का ही प्रयोग होता है। उनके परदे गोल डंडे में लपेटकर ऊपर खींच लिये जाते हैं, या सपाट चित्रित ढांचे (फ़्लैट) मिलाये-हटाये जाते हैं, या कभी-कभी कटे हुए परदे (कट आउट) का भी प्रयोग होता है।

अभिनव-भरत के नाट्य-प्रयोग

सन् १९३८ में महामना पं० मदनमोहन मालवीय की प्रेरणा से और अभिनव-भरत के उद्योग से काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के टीचर्स ट्रेनिंग कालेज में पेटिका-रंगमंच (बौक्स स्टेज) निर्मित कराया गया। इसमें रंगपीठ (ऐक्टिंग स्पेस) के तीनों ओर नीले रंग के तिपल्ली (ट्रिप्लाई) लकड़ी के परदे थे और ऊपर की छत भी लकड़ी के परदे से ढकी हुई थी। इसमें दोनों ओर दो-दो द्वार बने हुए थे और पीछे की ओर आधी ऊँचाई तक लकड़ी का परदा खड़ा करके उसके तीन द्वार बनाये गये थे और शेष ऊपर का भाग खुला हुआ था जिस पर आवश्यकतानुसार दो खंड का मकान भी बनाया जा सकता था और जिसे पीछे के परदे के द्वारा पूरा या आधा ढका भी जा सकता था। इस रंगमंच की दूसरी विशेषता यह थी कि इसमें नीचे से गोल बल्लियों पर परदे न लपेटे जाकर ऊपर छत पर चर्खों (क्रैंक) से लपेटे जाते थे। इसके लिए रंगमंच में बायीं ओर सीढ़ी लगाकर लकड़ी का मचान (पार्च) बना दिया गया था जिस पर बैठकर परदे भी चलाये जाते थे और बचे हुए दृश्यपीठ भी रखे जाते थे। इस रंगमंच में चित्रित परदों के बदले गहरे हरे, नीले और बैंगनी रंग के परदे टँगे हुए थे। बीच में एक श्वेत परदा भी था जिस पर कभी-कभी पीछे से प्रकाश देकर छाया-नाटक या चलचित्र भी दिखाये जाते थे इन रंगीन परदों के अतिरिक्त इस रंगमंच पर वृक्ष, भवन, सीढ़ी इत्यादि के दृश्य-पीठ लगाकर दृश्यात्मक प्रभाव भी उत्पन्न किया जाता था। किन्तु ये सभी दृश्य-पीठ द्वि-परिमाणीय (टू डाइमेन्शनल) ही थे। इस रंगमंच की एक विशेषता यह भी थी कि स्त्री-भूमिकाओं का अभिनय कुलीन परिवारों की सुशिक्षित महिलाएँ ही ग्रहण करती थीं। यद्यपि काशी के 'चित्रा' भवन में द्वि-परिमाणीय रंगमंच पर 'कालिदास' नाटक अत्यन्त सफलतापूर्वक खेला जा चुका था तथापि अभिनव रंगशाला के पेटिका-रंगमंच पर मंगल प्रभात, शबरी, पूर्व कालिदास, उत्तर कालिदास, सेनापति पुष्यमित्र, अलका, अंगुलिमाल, उर्मिला, दन्तमुद्रा आदि कई नाटक खेले गये।

पेटिका-रंगमंच के प्रयोग के पश्चात् दूसरा विशेष प्रयोग अभिनव-भरत ने बम्बई में १९४७ में प्रसिद्ध अभिनेता पृथ्वीराज के पृथ्वी थिएटर्स के सहयोग से औपेरा हाउस में किया जहाँ काशी के ही प्रतिष्ठित अभिनेताओं ने महाकवि कालिदास नाटक का अभिनय 'रूपकार-दृश्यपीठ मंच' (फ़ॉर्म-कट सेटिंग स्टेज) पर किया जिसमें पीछे काला परदा देकर उसके आगे द्वि-परिमाणीय रूपकार-दृश्यपीठ (फ़ॉर्म कट सेटिंग्स) लगाये गये थे और मंदक (डिमर्स) की सहायता से रंगदीपन किया गया था।

तीसरा प्रयोग भी सन् १९४८ में अभिनव-भरत ने बम्बई में ही किया। जहाँ मरीन ड्राइव के मैदान में 'देवता' नाटक के लिए त्रि-परिमाणीय खुले रंगमंच में 'एक-

दृश्य-बहुपीठात्मक दृष्टिबद्ध रंगमंच' (मोनो सीन मल्टीसेटिंग पर्स्पेक्टिव स्टेज) बनाया गया था। इस रंगपीठ की व्यवस्था यह थी कि एक दृश्य में कई स्थान बनाये गये थे और पूरे नाटक की कथा क्रमशः विभिन्न स्थानों में एक साथ इस प्रकार होती चलती थी कि सबका क्रमबद्ध प्रवाह बनता चलता था और कहीं संघर्ष नहीं होता था। इसके लिए जो 'देवता' नाटक लिखा गया उसमें दृश्यों के बदले स्थान के अंक दिये हुए हैं जिसमें दो-दो स्थानों पर एक साथ अत्यन्त जटिल किन्तु कलात्मक रूप से नाट्य-व्यापार होते चलते थे। यह प्रयोग विश्व भर के रंगप्रयोगों में पूर्णतः नया था। इसमें बने हुए दृश्यपीठों के पीछे मरीन लाइन्स स्टेशन, दौड़ती हुई बिजली की रेलगाड़ियाँ और उसके पीछे बम्बई राज्य के भव्य प्रासाद सब स्वाभाविक रूप से पृष्ठ-दृश्य बने हुए विद्यमान थे।

अभिनव-भरत ने एक अन्य प्रयोग सन् १९४९ में बलिया में किया जहाँ एक दृश्यात्मक रंगपीठ पर तीन अंकों में 'विश्वास' नाटक खेला गया, जिसकी विशेषता यह थी कि पात्रों का जो वास्तविक नाम था वही भूमिका के पात्रों का नाम भी था।

इसके पश्चात् एक दृश्यपीठ वाले कई पूर्ण नाटक खेले गये जिनमें काशी के बसन्त कन्या महाविद्यालय में 'मीराबाई' और 'जय सोमनाथ' नाम के दो नाटक खेले गये जिनमें त्रि-परिमाणीय (थ्री डाइमेन्शनल) दृश्य-पीठ की भी अंशतः योजना की गयी थी।

सन् १९५७ में बम्बई के वल्लभ भाई स्टेडियम में अभिनव भरत ने 'जय सोमनाथ' नाटक के लिए 'मध्यस्थ केन्द्रीय रंगमंच' (सेन्ट्रल फ़ोकल स्टेज) का अद्भुत प्रयोग किया। इस रंगमंच की विशेषता यह थी कि स्टेडियम की सीढ़ियों पर बैठे हुए लगभग तीन सहस्र दर्शकों के सामने उनसे लगभग सौ फुट की दूरी पर पाँच फुट ऊँचा मंच बनाया गया था (देखो चित्र ५३)। उस मंच पर बीस फुट पीछे पाँच फुट ऊँचे मंच पर सोमनाथ का मन्दिर त्रि-परिमाणीय शैली में बनाया गया था। उसके दोनों ओर मंच को छोड़कर दृश्य-विस्तार के सिद्धान्त के अनुसार तिरछे काले परदे लगाये गये थे और दो-दो सहस्र प्रकाशशक्ति की बत्तियाँ उस दृश्य को प्रकाशित कर रही थीं। मंच पर स्थान-स्थान पर ध्वनि-विस्तारक यन्त्र लगे हुए थे जिनसे दर्शकों को सुनने और देखने में कोई असुविधा नहीं होती थी। इसमें रंगमंच ढका हुआ था और दर्शक-कक्ष खुला हुआ था।

जब खुली रंगशाला की धूम मची तब दिल्ली के चतुर्थ युवक समारोह में सन् १९५७ में टाउन डिग्री कालेज बलिया की ओर से अभिनव-भरत ने 'मायावी' नाटक

प्रस्तुत किया। यद्यपि इससे पूर्व बम्बई प्रान्तीय साहित्य सम्मेलन के अवसर पर १९५५ में इसी शैली पर खुले रंगमंच पर शबरी नाटक भी खेला जा चुका था, तथापि वास्तव
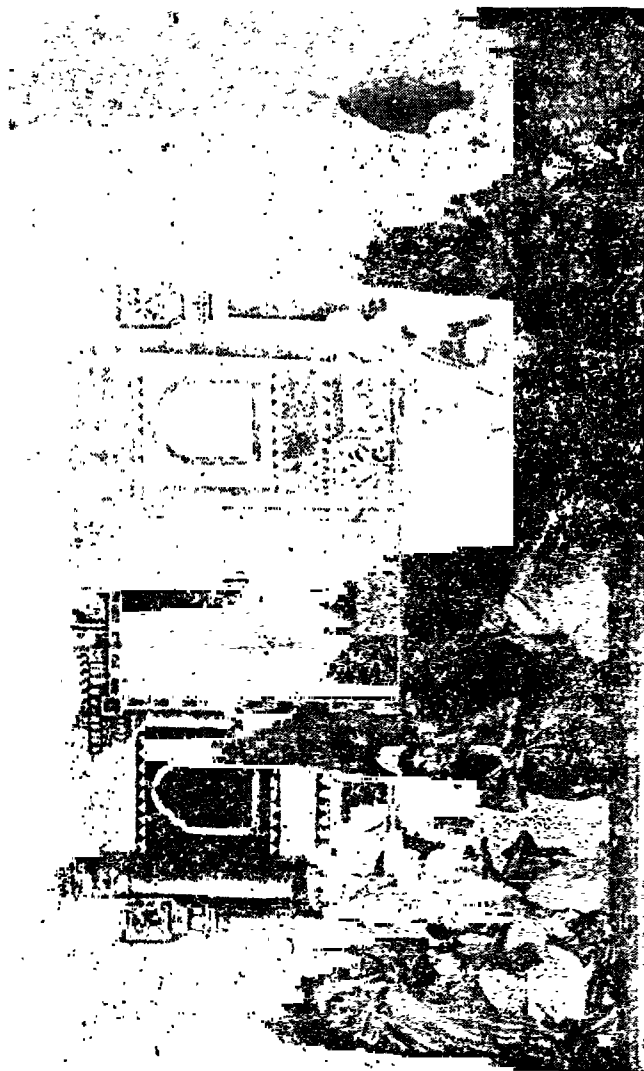
चित्र ५३—सरदार पटेल स्टेडियम में 'जय सोमनाथ'

में खुला रंगमंच दिल्ली के तालकटोरा गार्डेन का है जिस पर संगीत-नाटक अकादमी

ने अभिनव-भरत द्वारा अनूदित, भास का 'चारुदत्त' नाटक अत्यन्त सफलता के साथ अभिनीत किया था।

सन् १९५८ में बलिया में ग्राम-समस्यात्मक 'पारस' नाटक 'त्रि-परिमाणीय आकाशरेखा स्वाभाविक स्थिर रंगपीठ' (थ्री डाइमेंशनल स्काइलाइन नेचुरल स्टेटिक स्टेज) पर खेला गया था। इसमें दृश्य को पूर्णतः ग्रामीण बनाने के लिए घर की स्थिर पृष्ठभूमि के साथ मूँज और सरपत की झोपड़ी तथा बाड़े के साथ-साथ वास्तविक वृक्ष, चरनी तथा कुएँ का दृश्यपीठ प्रस्तुत किया गया था।

इन प्रयोगों के अतिरिक्त अभिनव-भरत ने बम्बई में सन् १९५८ में हरिजन नगरी फ़ण्ड की सहायता के लिए 'भगवान् बुद्ध' नामक नृत्य-नाट्य (डांस बैले) एक्सेलसियर थिएटर हाल में लगातार पन्द्रह दिन तक खेला जिसमें साठ छात्र और छात्राओं ने गीत, नृत्य और नाटक में भाग लिया था। दूसरा 'मदन-दहन' नामक गीत-नृत्य-नाट्य काशी के बसंत कन्या महाविद्यालय में अभिनीत किया गया था जिसे अखिल भारतीय आकाशवाणी प्रयाग ने स्वयं तैयार करके प्रसारित भी किया था। किन्तु इन सब प्रयोगों में सबसे विचित्र प्रयोग था 'आकाशरेखा रंगमंच'।

आकाशरेखा रंगमंच

काशी की अखिल भारतीय विक्रम परिषद् ने लखनऊ के संस्कृति-संघ के निमंत्रण पर उत्तर प्रदेश सरकार के सूचना विभाग के सहयोग से भारतीय रंगमंच के ही नहीं अपितु विश्व के रंगमंच की दृष्टि से भी १९, २०, २१ दिसम्बर सन् १९५६ को भातखण्डे संगीत विद्यापीठ के प्रांगण में अभिनव-भरत द्वारा कल्पित अभूतपूर्व नाट्य आकाशरेखा रंगपीठ का प्रयोग किया जिस पर उन्हीं का लिखा हुआ 'विक्रमादित्य' नाटक खेला गया।

खुला रंगमंच

यूरोप और अमेरिका की खुली रंगशालाओं (ओपेन एअर थिएटर) के आन्दोलन के साथ दिल्ली के तालकटोरा गार्डेन में भारत सरकार की ओर से भी लम्बा-चौड़ा खुला मंच बनवा दिया गया। इस खुली रंगशाला में एक नीचा मंच (फ़्लैट फ़ार्म) बनाया गया है जिसमें पीछे भीतर को झुकी हुई गोल भीत (साइक्लोरामा) बना दी गयी है। उसी के आगे मंच पर अभिनेता लोग नृत्य या नाटक करते हैं। किन्तु इस रंगमंच का सबसे बड़ा दोष यह है कि यह सब प्रकार के नाटकों के और सब ऋतुओं के लिए उपयुक्त नहीं होता। इस पर लोक-नृत्य अथवा समवेत उल्लास-नृत्यों का

प्रदर्शन तो बहुत अच्छा होता है किन्तु भावपूर्ण नाटकों का प्रयोग इस पर ठीक-ठीक हो पाना असम्भव है। यदि रामलीला के समान इन नाटकों की कथा-वस्तु भी प्रसिद्ध

चित्र ५४—आकाशरेखा रंगमंच पर 'विक्रमादित्य' नाटक

हो और जन-मानस की भावभूमि स्वतः संस्कारतः उनसे आबद्ध हो तब तो सफलता प्राप्त

हो सकती है, किन्तु जिस प्रकार के रस-भावहीन नाटकों का आजकल प्रदर्शन होने लगा है उन्हें खुले रंगपीठ पर कभी सफलता प्राप्त नहीं हो सकती। दूसरी कठिनाई उसमें यह है कि वर्षा, धूप और शीत में ऐसी रंगशाला बहुत काम की नहीं होती। दृश्य-संयोजन का अभाव होने के कारण भी इस प्रकार की रंगशाला में दर्शकों को दृश्यात्मक आनन्द नहीं मिल पाता। इसलिए खुले मंच और पूर्णतः बन्द रंगशाला के मध्यम मार्ग के रूप में अभिनव-भरत ने अत्यन्त स्वाभाविक 'आकाशरेखा संपृक्त दृश्यपीठ मंच' (स्काइ लाइन कम्पोज़िट सेटिंग थिएटर) की कल्पना की।

आकाशरेखा रंगपीठ ऊपर, दायें, बायें और पीछे पूर्णतः खुला रहता है। इसमें न बाँस-बल्ली बाँधने का खटराग होता है न परदे की झंझट, न पखवाइयों की भीड़। इसमें प्रत्येक दृश्य के लिए आवश्यकता के अनुसार केवल दृश्यपीठों (सेटिंग्स) का इस प्रकार संयोजन कर दिया जाता है कि पाँच मिनट में कोई भी दृश्य लगा और हटा लिया जा सके।

ये आकाशरेखा रंगपीठ तीन प्रकार के होते हैं—एक में तो सपाट या द्वि-परिमाणीय दृश्यपीठ (टू डाइमेन्शनल फ़्लैट सेटिंग) लगाये जाते हैं। दूसरे में घनायतन दृश्यपीठ (ब्लॉक सेटिंग) या त्रि-परिमाणीय दृश्यपीठ (थ्री डाइमेन्शनल सेटिंग) का संयोजन होता है और तीसरे में पक्का भवन या स्थिर दृश्यपीठ (स्टेटिक सेटिंग) ही होता है, जैसे रोम की नाट्यशाला में दृश्य-भित्ति (स्क्रीन) होती थी। सपाट दृश्यपीठ इसलिए अग्राह्य है कि इसमें लम्बाई-चौड़ाई तो होती है किन्तु गहराई नहीं होती। इसके लिए लकड़ी की खपाची पर तने हुए सपाट कपड़े, किरमिच, गत्ते या तिपल्ली लकड़ी (प्लाइवुड) के पट्टों पर दृश्य अंकित कर दिये जाते हैं और उन्हें आगे पीछे रखकर दृश्य का संयोजन कर लिया जाता है। किन्तु इसमें भी दोष यही है कि लगा दिये जाने पर वे स्पष्टतः प्रतीत होते हैं कि एक के पीछे दूसरा टुकड़ा लगा हुआ है। किन्तु सम्पृक्त दृश्यपीठ (कम्पोज़िट सेटिंग) त्रि-परिमाणीय होते हैं, जिनमें लम्बाई-चौड़ाई और गहराई तीनों होती हैं और जो देखने में पूर्णतः वास्तविक प्रतीत होते हैं। उन्हें लगा देने पर पहाड़ सचमुच पहाड़ लगता है जिस पर आप चढ़-उतर भी सकते हैं (चित्र ५५) और भवन भी इस प्रकार बन जाते हैं कि आप उनमें से किसी भी प्रकोष्ठ में ठीक उसी प्रकार आ, जा, उठ, बैठ सकते हैं जैसे किसी वास्तविक घर में। यदि किसी मंदिर के प्रकोष्ठ का अंश दिखाना हो तब तो यह दृश्यपीठ तीन ओर की भीतों और ऊपर की छत से घिर जाता है और पर्वत या उपवन के दृश्यों में यह ऊपर से खुला रहता है और उनमें बनी हुई पर्वत की चोटियाँ, भवनों के कँगूरे सब खुले आकाश से मिल जाते हैं और मंचाग्र (प्रोसीनियम) से पीछे

तक इस प्रकार दृश्य-संयोजन हो जाता है मानो पूर्ण दृश्य हो जिसमें कुछ भी बाहर से जोड़ा न गया हो। इसी लिए इसमें पखवाइयाँ नहीं लगतीं और पखवाइयाँ न लगने

चित्र ५५—आकाशरेखा रंगमंच पर पर्वत का दृश्य

के कारण इसे 'पक्षहीन दृष्टिबद्ध रंगशाला' (विंगलेस पर्स्पेक्टिव थिएटर) भी कहते हैं।

इस रंग-शाला में भवन, द्वार, प्रकोष्ठ, अलिन्द आदि अलग-अलग त्रि-परिमाणीय खंड बना लिये जाते हैं जिन्हें अनेक प्रकार से आगे-पीछे, दायें-बायें जोड़कर लगाने से सैकड़ों प्रकार के दृश्य-संयोग बन सकते हैं।

पक्के भवन के रूप में जो 'स्थिर आकाशरेखा रंगपीठ' बनाया जाता है उस पर एक ही या एक प्रकार के ही नाटक खेले जा सकते हैं—जैसे बैठक दृश्य वाले नाटक, उपवन के दृश्य वाले नाटक, कार्यालय के दृश्य वाले नाटक आदि। अतः ये भी व्यावहारिक दृष्टि से अधिक उपयुक्त नहीं होते, इसी लिए लखनऊ में 'आकाशरेखा सम्पृक्त दृश्यपीठ-मंच' का प्रयोग किया गया।

इस प्रकार की रंगशाला में रंगदीपन अर्थात् रंगपीठ पर प्रकाश की व्यवस्था भी नयी शैली से होती है। इसमें न तलदीप (फुट लाइट्स) होते हैं, न शीर्षदीप (हेड लाइट), न पार्श्वदीप (साइड लाइट्स)। इसमें आवश्यकतानुसार दिन के दृश्य के लिए स्वाभाविक प्रकाश की भाँति केवल एक ओर से ही सूर्य-प्रकाश (सन-लाइट) दिया जाता है। यह सूर्य-प्रकाश एक प्रकार का विद्युद्दीप होता है जिससे धूप के समान प्रकाश निकलता है। उसी के साथ नीचे ऊपर प्रतिच्छायक लगे रहते हैं जो धूप के अतिरिक्त स्थानों में उस प्रकार का प्रकाश फैला देते हैं जिस दिन में धूप पड़ने वाले स्थानों के अतिरिक्त अन्य स्थानों में सहायक या प्रतिबिम्बित प्रकाश के रूप में मन्द प्रकाश (डिफ़्यूज़्ड लाइट) फैल जाता है। यह प्रकाशदीप रंगमंच के एक ओर एक डण्डे पर स्थापित रहता है और उसके साथ ऐसा हत्था (हैंडिल) लगा रहता है कि इच्छा और आवश्यकता के अनुसार उस प्रकाश-दीप को सूर्य की गति की भाँति चल बना सकते हैं और उसके प्रतिच्छायकों (रिफ़्लेक्टर) को आवश्यकतानुसार इधर-उधर सरका सकते हैं। इसी लिए इसके प्रकाश-विधान को एक-पार्श्वापसरणोच्चालित प्रदीपन (मोनो बैंड लिफ़्ट-शिफ़्ट लाइटिंग) कहते हैं।

इस प्रकार के रंगपीठ में कुछ लोग अत्यन्त तीव्रग्राही ध्वनियंत्र लगा देते हैं जिससे साधारण फुसफुसाहट भी दूर तक सुनाई पड़ सके। किन्तु यदि यह यंत्र न भी हो तब भी इस रंगपीठ की वाचिक अभिनय-प्रणाली इतनी स्वाभाविक तथा व्यावहारिक होती है कि उसमें पारसी रंगशालाओं जैसा अनावश्यक कोलाहल और उच्च स्वर से पाठ नहीं होता। इसलिए इसके वाचिक अभिनय को 'मन्द-स्वर-पाठ' (ह्विस्पर टोन इन्टोनेशन) कहते हैं जिसे स्वाभाविक वाचिक अभिनय का ही पर्याय समझना चाहिए।

कोमल अभिनय (सौफ़्ट ऐक्टिंग)

यूरोप में शेक्सपियर के समय अत्यन्त कृत्रिम प्रभाववादी (इम्प्रेशनिस्ट) अभि-

नय की प्रणाली चली जिसमें अनावश्यक रूप से स्वर तथा आंगिक अभिनय की अति-रंजना होती रही। यह अतिरंजना स्पेन और पुर्तगाल में तो सीमा लाँघ गयी है किन्तु अठारहवीं शताब्दी में फ़ांस में जब भावपूर्ण नाटकों की बारी आयी तो अभिव्यंजना-त्मक (एक्सप्रेशनिस्टिक) अभिनय चल पड़ा, जिसमें कृत्रिम अभिनय पर बड़ा अंकुश लगाया गया। बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में स्ट्रिंडबर्ग और इब्सन ने स्वाभाविक नेचुरलिस्टिक) अभिनय की नींव डाली जो प्रारम्भ में तो बहुत लोकप्रिय नहीं हो पायी किन्तु आगे चलकर उसका बड़ा सम्मान हुआ और रूस, जर्मनी, फ़ान्स, अमेरिका आदि देशों ने उसे अपना लिया। किन्तु सन् १९३० के पश्चात् जब से रंगमंच पर ध्वनि-यंत्रों का प्रयोग होने लगा तब से कोमल अभिनय (सौफ़्ट ऐक्टिंग) की पद्धति चल पड़ी जिसका सिद्धान्त है—'सब गतियाँ आवश्यक और ललित हों।' यही शैली आकाशरेखा रंगमंच पर काम आती है।

इस रंगमंच पर अभिनेता सदा सामाजिकों की ओर मुँह करके ही अभिनय नहीं करते वरन् परिस्थिति के अनुसार आगे, पीछे, दायें-बायें खड़े हुए अपने सम्बोध्य की ओर मुँह करके उससे उसी प्रकार बातचीत करते हैं और उसे उसी प्रकार सम्बोधित करते हैं, जैसे वास्तविक जीवन में। इसी लिए इस रंगपीठ पर किये जाने वाले आंगिक अभिनय को बहुमुखाभिनय (मल्टिटर्न ऐक्शन) कहते हैं।

इस प्रकार के रंगपीठ पर प्रेरणा (प्रोम्टिंग) भी रंगपीठ पर बायें-दायें से न की जाकर रंगपीठ के सामने बने हुए प्रेरक प्रकोष्ठ (प्रोम्टर्स केबिन) में बैठे हुए प्रेरक द्वारा दी जाती है। यह प्रकोष्ठ लकड़ी या टीन का बना होता है जिसका सिर इस प्रकार रंगपीठ की ओर खोलकर आगे लगा दिया जाता है कि इसकी सारी ध्वनि रंगमंच पर ही जाती है किन्तु दर्शकों की ओर तनिक भी नहीं।

इस प्रकार के सम्पृक्त-पीठ मंच (कंपोज़िट सेटिंग स्टेज) की कई विशेषताएँ हैं। यह आकाशरेखा सम्पृक्त दृश्यपीठ किसी भी स्थान पर पाँच मिनट में खड़े किये या हटाये जा सकते हैं, इकट्ठा करके एक बैलगाड़ी पर लादकर किसी स्थान तक पहुँचाये जा सकते हैं और दो या तीन महाप्रकाश (फ़्लैश लाइट) या गैस के हण्डों के सहारे से ही सारा नाटक खेला जा सकता है। इसकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि आठ दृश्यपीठ-खण्ड बनाकर उन्हें उलट-पलटकर दायें-बायें जोड़-तोड़कर सैकड़ों प्रकार के दृश्य बनाये जा सकते हैं और एक ही दिन में यदि आवश्यक हो तो कई स्थानों पर लगाये जा सकते हैं। यदि वर्षा, धूप या ठंड का भय हो तो ये भवन के भीतर भी लगाये जा सकते हैं और छोटी से छोटी और बड़ी से बड़ी रंगशाला में समेट या फैलाकर लगाये जा सकते हैं।

ये सब रंगमंच सम्बन्धी प्रयोग व्यक्तिगत थे। यदि केन्द्रीय तथा राज्य-सरकारें, धनिकवर्ग अथवा व्यावसायिक मंडलियाँ धन-संग्रह करने के बदले कुछ व्यय करके नवीन प्रयोग भी करें तो निश्चित रूप से ही हमारे यहाँ नाट्य-कला और रंगमंच की बहुत उन्नति हो सकती है। यह खेद की बात है कि जहाँ एक ओर विश्व भर में रंगमंच सम्बन्धी इतने प्रयोग हो रहे हैं वहाँ हमारे देश में अभी तक चित्रित परदे वाले रंग-मंचों पर पारसी शैली वाले ही नाटक दिखाये जा रहे हैं।

अध्याय २५

रंगशालाओं का बाह्य और आभ्यन्तर रूप

कोई भी नाट्यशाला ऐसे स्थान पर अवश्य होनी चाहिए जहाँ नगर के सब भाग के निवासी सरलता से पहुँच सकें। इतना ही नहीं, उसका बाह्य रूप भी अत्यन्त आकर्षक होना चाहिए। यह आकर्षण केवल बाहरी सजावट में ही नहीं होना चाहिए वरन् नाट्यशाला के तीनों अंगों (रंगमंच, प्रेक्षागृह और विश्रामगृह) के खण्ड, स्पष्ट अलग-अलग दिखाई पड़ते हों।

स्थान—नाट्यशाला कहाँ बनायी जाय, इसका बड़ा महत्त्व होता है। यूरोप में प्रायः किसी चौराहे या चौड़ी सड़क से लगाकर नाट्यशालाएँ बनायी जाती हैं, जैसे पेरिस का औपेरा हाउस, बर्लिन का शाउस्पील हाउस, पेरिस का शाम्प्स इलूसी, वियेना का स्टाट सौपर, डेसडर्न औपर्न हाउस या म्यूनिख का प्रिंज़ रिगेंटेन। कभी-कभी पार्क में भी रंगशालाएँ बनायी जाती हैं, जैसे स्टटगार्ट के दो स्टेट थिएटर। भारत में प्रायः चलती हुई सड़कों पर ही रंगशाला बनाने की प्रथा है और उन्हें भी रंगशाला कहने के बदले चलचित्र-शाला ही कहना चाहिए। अमेरिका के न्यूयार्क जैसे विशाल नगरों में रंगशाला बनाना बड़ी जटिल समस्या है। संसार की सबसे बड़ी रंगशाला न्यूयार्क का रेडियो सिटी म्यूजिक हॉल ही रौकफेलर सेंटर के विशाल भवनों के बीच में बड़े बेढंगे स्थान पर बना है जिसमें लगभग ६२०० दर्शक बैठ सकते हैं। इसी लिए आजकल संसार के सभी नाट्य-गृहों में केवल एक ही ओर का बाह्य भाग दिखलाने की प्रथा चल पड़ी है, जैसे लंदन की कार्लटन या फॉर्चून रंगशाला।

जिन भवनों में केवल एक ओर का ही भाग दिख ई पड़ता है उनमें यह प्रदर्शित करना निर्माताओं के लिए असम्भव हो जाता है कि इन रंगशालाओं में कितने खण्ड और भाग हैं। फिर भी गिल्ड थिएटर जैसे कुछ भवनों में रंगमंच का भाग उसके आगे स्थित प्रेक्षागृह से ऊँचा दिखाकर दोनों खण्डों को स्पष्ट कर दिया गया है।

स्वास्थ्य और अग्निकांड के नियमों के कारण भी इस प्रकार की खंडान्वित शैली के निर्माण में बाधा पड़ी है। फिर भी कुछ ऐसे नाट्य-गृह अवश्य हैं जिनमें इस बात

का ध्यान रखा गया है। किन्तु अभी तक कोई ऐसा राज-नियम नहीं बना है कि रंग-शाला-निर्माता उन अनेक दर्शकों का भी ध्यान रखें जो वाहनों की प्रतीक्षा में भींगते हुए खड़े रहते हैं और जिनके लिए नाट्य-गृह के प्रवेश-द्वार के सामने बरसाती का होना अत्यन्त आवश्यक है।

रंगशाला की रूप-योजना का विकास

उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम चरण में रंगशाला-निर्माण की जो रूप-योजना प्रारम्भ हुई वह इस वेग से समुन्नति करती गयी कि दस वर्ष की रंगशाला पुरानी पड़ गयी और बीस वर्ष की पूर्णतः अमान्य। इस्पात का ढाँचा (स्टील गर्डर फ़्रेम) खड़ा करके भवन बनाने की नयी प्रक्रिया चलने के कारण रंगशाला की रूप-योजना में और भी प्रगति हुई। उधर आलोक-विज्ञान (सायन्स ऑफ़ लाइटिंग) में तथा वर्तमान काल के भवन-निर्माण में नये-नये प्रयोग होने लगे। इसी प्रकार सामाजिक और आर्थिक परिस्थितियों ने भी रंगशाला-निर्माण-कौशल को बहुत प्रभावित किया। भवन के भीतर खम्भे वाले और घोड़े की नाल के आकार वाले छज्जे (बालकनी) अब समाप्त हो गये। यहीं तक नहीं, अब तो छज्जे (बालकनी) और पीठिका (गैलरी) वाले भवन भी पुरानी चाल समझे जाने लगे हैं।

रंगशाला के कक्ष—वर्तमान रंगशाला में एक तो निम्नतम भूमितल होता है जिसे वादक-भूमिस्तर (आरकेस्ट्रा लेविल) कहते हैं और दूसरे खंड पर एक लम्बा बड़ा ढालू छज्जा (बालकनी) होता है। कभी-कभी नीचे के भूमितल और छज्जे (बालकनी) के बीच में एक छत (मीजेनाइन या लोगिया) डाल देते हैं। इन सब स्तरों पर प्रत्येक पीठासन इस प्रकार लगाया जाता है कि उससे रंगमंच निर्बाध रूप से दिखाई पड़े। प्रेक्षागृह के भूमितल और छज्जे (बालकनी) में इतना ढाल होना चाहिए कि दृष्टि-रेखाएँ (साइट लाइंस) पूर्णतः स्पष्ट हों और प्रत्येक व्यक्ति को रंगमंच की वस्तु स्पष्ट दिखाई और प्रत्येक शब्द तथा ध्वनि स्पष्ट सुनाई दे। इस प्रभाव के लिए उन सब साधनों का प्रयोग किया जाता है जिनसे कम से कम गूँज हो। सीढ़ियाँ, बाहरी जनकक्ष (फ़ौयर), टिकटघर (बौक्स आफ़िस), अलिंद (प्रोमीनेड), प्रतीक्षालय (लाउंज) और विश्राम-कक्ष (रिटायरिंग रूम्स) ऐसे बने होने चाहिए कि किसी प्रकार की अशान्ति और कोलाहल किये बिना ही दर्शक लोग भली प्रकार आ-जा और घूम-फिर सकें। (टिकट-घर (बौक्स आफ़िस) रंगशाला के प्रवेश-कक्ष या बाह्य अलिंद (लौबी) के दायें हाथ पर होना चाहिए। प्रवेश-द्वार और ऊपर छज्जे (बालकनी) पर जाने के लिए मुख्य सीढ़ी भी बायें हाथ होनी चाहिए। निर्गम के द्वार और छज्जे (बालकनी) से उतर-

कर जाने के लिए मुख्य गलियारे या अलिंद (प्रोमिनेड) के बायीं ओर सीढ़ी होनी चाहिए। इस व्यवस्था से आने वाले और जाने वाले दर्शकों को बिना धक्का-मुक्की के आने-जाने की सुविधा होती है।

स्थान की कमी और नयी रंगशाला

आजकल बड़े नगरों में भूमि का मूल्य इतना बढ़ गया है कि भवन निर्माणकार छोटे स्थान में अधिक से अधिक कक्ष वाला भवन बनाने की विधि निकालते हैं। अतः

चित्र ५६

१. एस्क्वायर थिएटर शिकागो
२. एस्क्वायर थिएटर का रंगमंच और प्रेक्षागृह
३. अलिन्द से ऊपर जाने की सीढ़ी
४. एस्क्वायर थिएटर का फ़ौयर (अलिन्द)

रंगमंच और प्रेक्षागृह बना देने के पश्चात् प्रायः बाहरी जनकक्ष (फ़ौयर) और विश्राम-कक्षों के लिए बहुत कम स्थान बच पाता है। बड़े नगरों में यातायात की बहुलता के कारण भी यह सम्भव नहीं है कि सब दर्शक परदा उठने के साथ ही भवन में आकर बैठ जायँ। देर से आने वाले दर्शक प्रायः जनकक्ष (फ़ौयर) और अलिंद (लौबी) में आकर बहुत से नाटकों का आरम्भ ही नष्ट कर देते हैं। इस कठिनाई को सुलझाने के लिए न्यूयार्क के नवीन गिल थिएटर में यह विधि निकाली गयी है कि वहाँ पर सड़क से नीचे बने हुए भूमितल से दर्शक चढ़कर रंगशाला में पहुँचते हैं। इसी तल में प्रतीक्षालय (लाउंज) और विश्राम-कक्ष (रिटायरिंग रूम) होते हैं। वहाँ बड़ी चौड़ी सीढ़ी से गलियारे (प्रोमिनेड) और प्रेक्षागृह के पीछे पहुँचा जा सकता है जहाँ से दर्शक विना बाधा दिये प्रेक्षागृह में प्रवेश कर सकता है। यद्यपि इस योजना में भवन का मुख्य तल सड़क के तल से ऊपर होता है किन्तु उस तल की ढाल ऐसी होती है कि मुख्य प्रेक्षा-गृह के नीचे का भाग सड़क के भूमितल तक चला आता है जहाँ मुख्य निर्गम-द्वार बने रहते हैं।

रंगशाला-निर्माण में चलचित्र-व्यवसाय ने बहुत प्रेरणा दी है। चलचित्र-शालाओं में अधिक से अधिक पीठासन लगाने और वृन्दवाद्य (आरकेस्ट्रा) के लिए स्थान बनाने का ही ध्यान रहता है इसलिए उसमें रंगमंच का पूर्ण अभाव होता है। यदि उन भवनों में चित्र के अतिरिक्त कोई प्रदर्शन होते भी हैं तो उनके लिए छोटा सा मंच ही पर्याप्त होता है। इनका प्रेक्षागृह वास्तु-कला और सजावट की दृष्टि से मंचहीन भवन के रूप में एक ही कक्ष माना जाता है। इस प्रकार की रंगशाला लम्बी अधिक होती है चौड़ी कम और इसी लिए यह प्रेक्षागृह पीछे से भी वैसा ही भव्य होता है जैसा आगे से। इस कारण बैठने वाले दर्शकों को भी ऐसा प्रतीत होता है मानो हम रंगमंच के पास बैठे हैं।

नाट्यशाला की समस्याएँ

नाट्यशालाओं और नृत्यशालाओं (औपेरा हाउस) में अन्तराल (इंटर्वल) के समय दर्शकों के निकलने और आने का ध्यान रखना पड़ता है क्योंकि उस समय दर्शक बहुत बड़ी संख्या में एक साथ निकल पड़ते हैं। इसलिए प्रतीक्षालय (लाउंज), जनकक्ष (फ़ौयर) और अलिंद (प्रोमिनेड) इतने बड़े होने चाहिए कि भीड़ न इकट्ठी हो पाये और लोग सुविधा के साथ इधर-उधर आ-जा सकें। बहुत सी चलचित्र-शालाओं में चौबीस घंटे खेल होते रहते हैं और दर्शक भी जब मन में आता है तभी आते-जाते रहते हैं। इसलिए उनमें आने-जाने की सुविधा बहुत आवश्यक है। इन भवनों का बाहर का रूप उत्सवबोधक होने के साथ उनमें होने वाले विशेष उत्सव या नाटक

का भी सूचक होना चाहिए। नाट्यशाला के बाहर का भाग तो अधिक संयत और भव्य होना ही चाहिए, चाहे चलचित्र-शाला या विनोद-नृत्य (वादेबिले)-शाला का बाह्य भाग सजा हुआ हो या न हो। चलचित्र में तो सभी आत-जात लोगों को आकृष्ट किया जाता है इसलिए उसका बाहरी भाग बहुत आमंत्रणपूर्ण और असाधारण सजावट से पूर्ण होना चाहिए, विशेषत: बिजली की चमक-दमक उसमें पर्याप्त होनी चाहिए।

बिजली की सजावट

नाट्यशाला के बनते समय ही निर्माता का ध्यान इस बात पर अधिक रहना चाहिए कि भवन दूर से निमंत्रण देता दिखाई पड़े। स्थानीय निगमों और नगरपालिकाओं ने सड़क से पीछे हटाकर नाट्यशाला बनाने के ऐसे नियम बना दिये हैं कि नाट्य-भवनों के आगे L, H या U आकार के आँगन बना दिये जायँ। जिन नगरों में सौ-सौ खंड के भवन होते हैं उनके आगे ये तीन-चार खंड की रंगशालाएँ इतनी अधिक छोटी लगती हैं कि इन्हें दूर से आकर्षक बनाने के लिए बिजली की बत्तियाँ और बिजली के लेख लगाना आवश्यक हो जाता है, जैसे लंदन के 'प्लाज़ा थिएटर' में।

बरसाती—प्रत्येक रंगशाला के द्वार पर ढकी हुई बरसाती (मारकी) होनी चाहिए। इससे दो काम निकलते हैं, एक तो वर्षा आदि के दुर्दिन में भीतर आने और बाहर जाने वाली जनता की रक्षा होती है और दूसरे इससे बड़ा भारी विज्ञापन होता है। वर्तमान रंगशालाओं में इस प्रकार की बरसाती के तीनों ओर बिजली की सजावट और विज्ञापन कर दिया जाता है। यह ऐसे ढंग से बननी चाहिए कि वह रंगशाला के सामने के भाग की शोभा बढ़ाने वाली हो।

वर्तमान रंगशाला-निर्माताओं को भवन-निर्माण करते समय तीन बातों का ध्यान रखना पड़ता है—१. बिजली से विज्ञापन करने का स्थान (एडवर्टाइज़िंग स्पेस), २. अग्नि से रक्षा (फ़ायर एस्केप्स) की व्यवस्था और ३ बरसाती (मारकीज़)। बिना इनके रंगशाला-भवन का निर्माण निरर्थक समझा जाता है।

नाटक के अनुसार रंगशाला

सब प्रकार के नाटकों के लिए सब प्रकार की रंगशालाएँ उपयुक्त नहीं होती हैं। नृत्य-नाट्य, चलचित्र तथा नाटक आदि प्रत्येक प्रकार के खेल के लिए अलग-अलग प्रकार का दर्शक-कक्ष होना चाहिए। प्राचीन यूनान में रंगशालाओं का निर्माण उस युग के नाटकों और प्रहसनों की प्रकृति के अनुसार किया गया था, क्योंकि उनमें समवेत गायकों की संख्या अपरिमित होती थी। किन्तु रोम में वही रंगशाला हमारी

वर्तमान रंगशाला के स्वरूप के बहुत समीप आ गयी थी, क्योंकि तब तक समवत गान समाप्त हो गया था। आज रंगशाला-निर्माता के सामने सबसे बड़ी द्विविधा यह खड़ी हो गयी है कि उस भवन का प्रयोग नाटक के लिए होगा या कोई धनिक उसे लेकर उसमें चलचित्र-प्रदर्शन (सिनेमा) या संगीत-नाट्य-प्रदर्शन (म्यूज़िकल रिव्यूज़) करेगा। इसलिए साधारणतः रंगशाला ऐसी बनानी चाहिए जिसमें रंगमंच और प्रेक्षागृह सब प्रकार के प्रदर्शनों के लिए उपयुक्त हों।

चलचित्रशाला

चलचित्रशाला (सिनेमा हाउस) में दर्शकों की दृष्टि उस पट पर लगी रहती है जिस पर बिजली की चमक भी अधिक होती है और जिस पर अभिनेताओं के आकार भी साधारण रूप से बड़े होते हैं। इसलिए चलचित्रशालाओं के प्रेक्षागृह इतने लम्बे होने चाहिए कि दर्शकों को असुविधा न हो। साथ ही वे बहुत चौड़े और ऊँचे नहीं होने चाहिए क्योंकि सपाट परदे पर कोने और ऊँचाई से देखने पर द्वि-परिमाणीय आकृतियों के रूप अत्यन्त कुदर्शन प्रतीत होने लगते हैं। ऐसे भवनों में सब दर्शक मध्य के दोतल्लों में ही बैठाने चाहिए। इस प्रकार का आदर्श भवन बर्लिन का मारमोर हाउस, यूटी थिएटर, न्यूयार्क का कैपिटल और राक्सी थिएटर और लंदन के प्लाज़ा, एम्पायर और पिकेडिली थिएटर हैं।

संगीतशाला (रिव्यू थिएटर)

विशाल संगीत-कार्यक्रम (म्यूज़िकल रिव्यू) के लिए भवन लगभग वैसा ही होना चाहिए जैसा चलचित्र-घर का। किन्तु उसकी कुछ अपनी भी विशेषता होनी चाहिए। इसमें दर्शकों की रुचि मुख्यतः रंगमंच के दृश्य-चित्र (स्टेज पिक्चर), वेश-भूषा और दृश्य-सज्जा की सुन्दरता पर ही केन्द्रित रहती है, क्योंकि इन संगीत-प्रदर्शनों (म्यूज़िकल रिव्यूज़) में भड़कीली वेश-भूषा और रंग-विरंगे दृश्यों के साथ प्रहसन आदि से युक्त अत्यन्त मनोरंजक और विनोद-जनक नाटकीय संगीत-प्रदर्शन होते हैं। इसलिए भवन वहुत लम्बा नहीं होना चाहिए, क्योंकि प्रहसन के दृश्य और एकाकी गीतों का आनन्द प्राप्त करने के लिए दर्शकों को अभिनेताओं से उतनी दूर नहीं रहना चाहिए जितना चलचित्र में। इन संगीत-प्रदर्शनों में नृत्य भी होते हैं इसलिए पीठासन (सीट्स) रंगपीठ (स्टेज) की अपेक्षा इतने ऊँचे अवश्य होने चाहिए कि नर्तकों के पैर दिखाई पड़ सकें। ऐसे भवनों में रंगपीठ और प्रेक्षागृह इस प्रकार सम्पृक्त हों कि दर्शक और अभिनेता में अलगाव न हो।

शुद्ध नाट्यशाला में अभिनेताओं और दर्शकों के बीच एक चौथी दीवार (फ़ोर्थ वाल) होनी ही चाहिए, इसलिए नये भवनों में चौखटा-रंगमंच (पिक्चर-फ़्रेम

चित्र ५७ क—नाट्यशाला का अलिन्द (प्रोमिनेड)

स्टेज) अभिनेता और दर्शकों को अलग करने का पर्याप्त साधन है। इस दृष्टि से भवन-निर्माता उसके लिए या तो प्रेक्षागृह को छोटा रखते हैं और यदि अधिक दर्शक

चित्र ५७ ख—प्रयोगात्मक रंगमंच

बैठाना वांछनीय हो तो ऊपर एक छज्जा (बालकनी) आगे तक बढ़ा देते हैं और विशिष्ट कक्ष (बौक्स) का पूर्ण बहिष्कार कर देते हैं। किन्तु चलचित्रशालाओं में सबसे ऊपर

पीछे के खंड में इस प्रकार के विशिष्ट कक्ष बना दिये जाते हैं। अब विशिष्ट कक्ष (बौक्स) आगे रखने की प्रणाली हटा दी गयी है क्योंकि वे दर्शक और रंगमंच के बीच में बाधक होते थे। सजावट में भी प्रेक्षागृह का रंग कुछ हलका कर दिया गया है क्योंकि नाटक होने के समय दर्शक पूर्णतः अन्धकार में रहते हैं। इन सुविधाओं की दृष्टि से न्यूयार्क का लिटिल थियेटर और हेनरी मिलर रंगशालाएँ आदर्श मानी जाती हैं।

स्थान और बैठाने की समर्थता

जहाँ भवन-निर्माता को चौरस चौकोनी भूमि मिल जाती है वहाँ तो उसे रंगमंच, नेपथ्यगृह, प्रेक्षागृह और विश्राम-गृह के साथ लगे हुए जनकक्ष (फ़ौयर) की योजना बैठाने में सुविधा होती है किन्तु जहाँ भूमि टेढ़ी-मेढ़ी होती है वहाँ उसे उतने ही स्थान में उपर्यंकित सब प्रकार के कक्षों की व्यवस्था करने के साथ-साथ अधिक से अधिक लोगों के बैठने का स्थान बनाना पड़ता है। इसका परिणाम यह हुआ कि रंगमंच चौड़ा करने के साथ प्रेक्षागृह भी इतना चौड़ा कर दिया गया कि उसमें केवल संगीतात्मक प्रदर्शन (रिव्यू) ही सुविधा के साथ हो सकते हैं। इतना ही नहीं, भवन-निर्माता छज्जे (बालकनी) को और आगे बढ़ाकर बैठने का स्थान विस्तृत कर देते हैं और आर्थिक दृष्टि से रंगशाला सफल हो जाती है।

जहाँ परिमित आकार की भूमि मिलती है वहाँ भवन-निर्माता प्रायः रंगमंच को कोने में लगा देते हैं और शेष भाग पंखे के आकार में आगे फैला देते हैं, जैसे हमारे यहाँ प्राचीन काल में त्र्यस्र रंगमंच बनाया जाता था। यद्यपि इस प्रकार की नाट्यशाला चलचित्र के रंगपीठहीन भवन के लिए ही अधिक उपयुक्त होती है किन्तु न्यूयार्क की 'दि एम्बेसेडर' रंगशाला इसी आकार की बनी है। जिन बड़ी चलचित्र-शालाओं में अत्यन्त समृद्ध रंगपीठ हैं उनमें इस शैली से बने हुए पामबीच का 'पैरामाउन्ट', सिडनी का 'बौन्डी', लीड्स का 'मैजिस्टिक' और न्यूयार्क का 'रौक्सी' थियेटर प्रसिद्ध है।

प्रेक्षागृह का आकार

प्रेक्षागृह का आकार जो पहले घोड़े की नाल के रूप का था अब पंखे के आकार का हो गया है जिसका उभरा हुआ भाग आगे और पीछे की ओर कुछ घूमा हुआ रहता है। पिट्सवर्ग के कार्नेगी इन्स्टीट्यूट ऑफ टेक्नोलौजी, न्यूयार्क के ज़ीकफ़ैल्ड थियेटर तथा फोर्ट्समाउथ के 'न्यू सिनेमा' में अंडाकार रूप के प्रेक्षागृह अत्यन्त सफलता के साथ बनाये गये हैं जो देखने में भी सुन्दर लगते हैं। इनका सीधे पार्श्वों वाला पंखे और चौड़े गोपुच्छ का आकार 'बेरायथ फैस्टस्पीलहाउस' में प्रयुक्त हुआ है जहाँ विशिष्ट कक्ष

(बौक्स) सीधी रेखा में रंगशाला के पीछे आर-पार बने हुए हैं और आगे 'हीरक-घुड़नाल विषेश कक्ष' (डायमन्ड हौर्स शू बौक्स) पूर्णतः हटा दिये गये हैं।

श्रव्यता (एकाउस्टिक्स)

सभी नाट्यशालाओं में श्रव्यता की समस्या सदा से निर्माताओं को व्यथा देती रही है। सन् १८९५ में हार्वर्ड के प्रोफ़ेसर वालेस सी० सेवाइन ने ध्वनि के सिद्धान्तों और प्रेक्षागृहों के प्रतिरूपों में ध्वनि-लहरों के चित्रों द्वारा किसी रंगशाला के रूपमान (डिज़ाइन) में श्रव्यता के गुण कुछ सटीकता से बता सकने की युक्ति निकाली थी। इधर इस सम्बन्ध में जो खोजें हुई हैं उनसे सहायता लेकर यद्यपि नमदे (फ़ेल्ट), तार, ध्वनिकारक पट्टों (साउंडिंग बोर्ड) आदि के द्वारा भवनों की श्रव्यता की बाधाओं को दूर करने का प्रयत्न किया गया है, किन्तु प्रेक्षागृह के भीतर अनुकूल श्रव्यता लाने के लिए लकड़ी ही सर्वश्रेष्ठ और एकमात्र साधन है परन्तु अग्निकांड के भय के कारण उसका प्रयोग नहीं किया जा सकता।

दृश्यता (विज़िबिलिटी)

रंगशाला के निर्माण में अभी तक एक विषय पर उतना विचार नहीं किया गया है जितना होना चाहिए था कि प्रेक्षागृह (औडिटोरियम) का भूमितल और छज्जे (बालकनी) की ढाल रंगमंच की ऊँचाई के अनुपात में कितनी हो, क्योंकि रंगशाला में यह अत्यन्त आवश्यक है कि भवन में लगे हुए प्रत्येक पीठासन से रंगमंच के किसी भाग में होने वाली प्रत्येक क्रिया दर्शकों को दिखलाई दे। आजकल इसके लिए अच्छी प्रणाली यह पालन की जा रही है कि आगे तनिक भी ढाल न हो और फिर जैसे-जैसे पीछे को चलता जाय वैसे-वैसे यह ढलाव अधिक खड़ा होता चला जाय। बहुतेरे देशों में तो प्रेक्षागृह या छज्जों की ढाल की व्यवस्था वहाँ के निर्माण-नियम के अनुसार होती है। प्रेक्षागृह के तल से रंगमंच की ऊँचाई के सम्बन्ध में कहीं भी किसी प्रकार के नियम या प्रतिबन्ध नहीं हैं, इसलिए यदि कहीं स्थानीय भवन-निर्माण के नियम प्रेक्षागृह के भूमितल और छज्जों के सम्बन्ध में बाधक हों तो रंगमंच ही इतना ऊँचा बनाया जा सकता है कि प्रेक्षागृह के प्रत्येक पीठासन से रंगमंच के अभिनेता भली प्रकार से पूरे दिखाई दे सकें।

क्रैप ने ब्लीचर स्टेडियम और इकहरे छज्जे (सिंगिल बालकनी) की शैलियों को मिलाकर एक मध्यगोलक (एरिना) शैली निकाली, जो न्यूयार्क के चैनिन्स फोट्टी-सिक्स्थ थियेटर और मैजिस्टिक में प्रयुक्त की गयी। इसमें प्रेक्षागृह और रंगमंच के

बीच आगे का तल (आर्केस्ट्रा फ़्लोर) बहुत गहरा करके जनता के प्रवेश करने के लिए जनकक्ष (फौयर) उसके खड़े ढलुआ पृष्ठ के नीचे बना दिया गया है। न्यूयार्क के गिल्ड थियेटर में तो अत्यन्त खुले जनकक्ष ठीक प्रेक्षागृह के नीचे ही बने हुए हैं और प्रेक्षागृह भी सड़क से इतना ऊँचा नहीं है कि अग्नि-सुरक्षा के नियमों में बाधा डाले।

जर्मनी में बैठने की व्यवस्था

जर्मनी की रंगशालाओं में एक विशेष प्रकार से प्रेक्षागृह बनाया जाता है कि भूमितल को बीच के गलियारों में बिना बाँटे यहाँ से वहाँ तक पीठासन लगे रहते हैं। पीठासनों की पंक्तियों के बीच में साधारण से अधिक स्थान दिया रहता है और दोनों ओर की भीतों में इतने अधिक द्वार होते हैं कि एक मिनट में सब दर्शक निकलकर दोनों ओर के जनकक्षों में चले जा सकते हैं। इसका प्रयोग सफलता के साथ शिकागो के कैनेथ, सीनियर, गुड मैन और मेमोरियल थियेटरों में किया गया है।

प्रेक्षागृह से रंगदीपन

नेपथ्यगृह (ड्रेसिंग रूम), सामग्री-गृह (प्रोपर्टी रूम) और दृश्य-संग्रह-स्थली (सीन स्टैकिंग स्पेस) के अतिरिक्त रंग-व्यवस्था का सारा सम्बन्ध रंगशाला-निर्माता की अपेक्षा रंग-व्यवस्थापक, दृश्य-नियोजक और विद्युत्-प्रबन्धक से ही है। यद्यपि रंगदीपन के सम्बन्ध में अलग विस्तार से बताया गया है तथापि प्रेक्षागृह में भी ऐसा स्थान अलग अवश्य बना रखना चाहिए जहाँ से प्रकाश-दीपों के द्वारा रंगमंच और अभिनेताओं को आलोकित किया जा सके। सन् १९१४ में प्रसिद्ध अभिनेता और नाट्य-प्रयोक्ता ग्रेनविल बार्कर ने न्यूयार्क के बैलेक्स थियेटर में तल-दीपों (फुट लाइट) के बदले शक्तिशाली चमक-बत्तियाँ (फ़्लैश लाइट) छज्जे (बालकनी) के चारों ओर लगा दी थीं। डेविड बैलास्को ने एक पग और आगे बढ़कर छज्जे की रोक (रेलिंग) के नीचे द्वार बनाकर ऐसी बत्तियाँ लगा दीं जिन्हें रंगमंच के विद्युत्केन्द्र (स्विच बोर्ड) से नियन्त्रित किया जा सकता था। कुछ इस प्रकार की व्यवस्था या छत में छिपे हुए प्रकाश की व्यवस्था नये नाट्य-भवनों में अवश्य होनी चाहिए, जैसे न्यू हैवन के येल-यूनिवर्सिटी थियेटर में या न्यूयार्क के गिल्ड थियेटर में की गयी है।

सजावट

यूरोप और अमेरिका में प्रेक्षागृह के भीतर की सजावट मुख्यतः नाटकीय प्रदर्शन के प्रकार पर अवलम्बित है। आजकल रंगशालाओं में बहुत बड़े, चिकने और बहुत कम

अलंकृत भित्ति-तल ही रखे जाते हैं जिससे दर्शकों का ध्यान अभिनेताओं से हटकर दीवार के चित्रों पर न जा टिके। म्यूनिख के रेजिडेंस थियेटर में किया हुआ अतिरंजित अलंकरण निश्चय ही अत्यन्त भावपूर्ण है और औस्कार एच० काउफ़मान ने बर्लिन के फ़ोल्क्स बुएह्ने तथा अन्य रंगशालाओं में प्रारम्भ तो किया अत्यन्त सादगी के साथ किन्तु फिर चीनी विचित्र अलंकरणों से बर्लिन के थियेटर आम कुरफुएर स्टेंडाम और कोमोडी थियेटरों को चित्रित करा डाला। इसका तात्पर्य यह है कि अलंकरण की व्यवस्था पूर्णत: रंगशाला-निर्माता की प्रतिभा और रुचि पर निर्भर है।

औपेरा हाउस का विकास

रोम के पतन और उदात्तवादी (क्लासिकलिस्ट) संस्कृति के ह्रास के साथ उदात्तवादी रंगशाला समाप्त हो गयी। केवल उसके कुछ रूपों की झाँकी पुनर्जागरण-काल (१४ से १६वीं शताब्दी) के कुछ वर्षों पीछे तक अवश्य चलती रही। रंगशाला और प्रारम्भिक नृत्य-नाट्य (औपेरा), जिसे लोग उदात्तवादी त्रासद (क्लासिकल ट्रेजेडी) पर अवलम्बित मानते थे, भव्य राजकीय उत्सवों के बदले केवल विनोद का साधन मात्र बन गया। उस समय दर्शकों की यही इच्छा रहती थी कि सब दर्शक एक दूसरे को भली प्रकार दिखाई दे सकें, इसलिए रंगमंच पर दृश्यता में दोष आ गया। उस समय लोकप्रिय इतालवी नृत्य-नाट्य (इटैलियन औपेरा) का ही बोल-बाला था। गायक लोग अपने महत्त्वपूर्ण गीत और तानें प्रेरक-कक्ष (प्रोम्पटर बौक्स) के अत्यन्त निकट होकर अलापते थे और समवेत गायक (कोरस) पूर्णतः निर्जीव होकर खड़े रहते थे। रंगमंच और प्रेक्षागृह का संपर्क लुप्त हो गया। अत्यलंकृत (बारोक) १७वीं-१८वीं शताब्दी की रंगशालाओं में लोग अच्छी श्रव्यता और भव्य सामाजिक प्रदर्शन ही चाहते थे। उस समय अत्यन्त सुसज्जित और अलंकृत प्रेक्षागृह ही सौन्दर्य का आदर्श समझा जाता था। धीरे-धीरे उसमें अत्यन्त घातक इतालवी (इटैलियन) सजावट की नयी प्रणाली चल पड़ी जिसके उदाहरण अब भी कहीं-कहीं प्राप्त हो जाते हैं। १९वीं शताब्दी के अन्तिम चरण में इस वृत्ति में परिवर्तन हुआ। भव्य अभिनय, भड़कीले दृश्यपीठ और उचित ऐतिहासिक वेश-भूषा ही नृत्य-नाट्यों की संगति का अलंकार समझा जाने लगा। फलतः रंगशाला-निर्माताओं ने रंगशाला की भीतों का अलंकरण बन्द कर दिया और प्रेक्षागृह के रूप को ढालने और अत्यलंकृत रंगशाला (बारोक थियेटर) को सरल करने की ओर उन्होंने विशेष ध्यान देना प्रारम्भ किया।

सरकस थियेटर (वृत्त-रंगशाला)

स्टील मैक्केयी नामक अभिनेता, नाटककार, कलाकार, नाट्य-प्रयोक्ता और अनु-

संधायक ने सर्वप्रथम वृत्त-रंगशाला (सरकस थियेटर या एरिना थियेटर) का प्रसिद्ध रूपमान (डिजाइन) प्रस्तुत किया। सन् १८९२ के शिकागो के विश्व-मेले में उसने अपना प्रसिद्ध रंगमंच तैयार किया जिसका नाम था स्पैक्टैटोरियम (दृश्यशाला), जिसमें लगभग दश सहस्र दर्शकों के बैठने का स्थान था और यह प्रयत्न किया गया था कि वह दर्शकों का स्थान रंगमंच के अत्यन्त समीप हो। मैक्केयी ने इसमें यह व्यवस्था की थी कि जहाँ जनता बैठती थी उसके नीचे से अभिनेता और समवेत गायकों को सीढ़ियों के द्वारा वाद्य-स्थलों (आर्केस्ट्रा पिट) तक पहुँचा दिया जाय। उसने ऐसा अग्रमंच-द्वार (प्रोसीनियम ओपेनिंग) बनाया जो आवश्यकताओं के अनुसार छोटा या बड़ा किया जा सकता था। उसने ऐसा अर्ध चन्द्राकार रंगमंच बनाया था जिस पर दृश्यपीठ खाँचियों (टैंक्स) पर सरकाये जा सकते थे और आवश्यकता पड़ने पर पूरा रंगमंच पानी से भर दिया जा सकता था। इस अर्ध गोलाकार रंगमंच के पीछे एक कपड़े की गोल दीवार (साइक्लोरामा) बनी रहती थी जिसके साथ ऐसे बादल-यन्त्र लगे हुए थे जिनसे उस पर चलते-फिरते बादल दिखाये जा सकते थे। वर्तमान रंगशाला-कौशल का संभवतः कोई ऐसा विकास-पक्ष नहीं रह गया जो मैक्केयी ने सोच न लिया हो, किन्तु सन् १८९३ में जो आर्थिक संकट उठ खड़ा हुआ उसने इस पूरी योजना को ही ठप कर दिया। इसी पद्धति पर माक्स रीनहार्ट ने अपने यूनानी त्रासदों के लिए सरकस-भवन बनवाये जिसके फलस्वरूप बर्लिन में ग्रोसैस-शाउसपील हाउस निर्मित हुआ जो उदात्तवादी रंगशाला की रूपरेखा के लगभग समीप आ गया, जिसमें अर्धगोलाकार संगीत-पीठिका (आरकेस्ट्रा पिट) से अभिनेतागण दर्शकों के लगभग बीच में ही पहुँच जाते थे और फिर से उठकर पूर्णतः सुसज्जित उस रंगमंच पर पहुँच जाते थे, जिसमें पीछे आकाश-मण्डल (स्काइडोम), चक्रिल रंगमंच और वर्तमान सभी प्रकार के रंगमंच सम्बन्धी यन्त्र और साधन प्रस्तुत रहते थे। स्टील मैक्केयी के पुत्र पर्सी मैक्केयी ने अपने पिता की खुली रंगशाला में मुखौटों (मास्क्स) का बहुत प्रयोग किया।

वृत्ताकार रंगशाला (थियेटर इन दि राउंड)

ये वृत्त-रंगशालाएँ अमेरिका में बहुत लोकप्रिय हुईं जहाँ इनका नाम वृत्तगत रंगशाला (थिएटर इन दि राउंड) पड़ गया है। सर्वप्रथम सन् १९१४ में अजूबा लाथम ने न्यूयार्क के कोलंबिया विश्वविद्यालय में 'हर्ष का मुखौटा' (दि मास्क ऑफ ज्वाय) नामक नाटक, वृत्त-रंगमंच पर खेला। फिर तो सन् १९४० में प्रो० ग्लेन ह्यजेज ने सीएटल (वाशिंगटन) में पैंट हाउस एरिना थियेटर बनाया। १९४१ में टफ़्ट्स यूनिवर्सिटी एरिना

थिएटर बना जिसमें अंडाकार रंगमंच (१७×२७) बनाया गया और जिसमें केवल २०० दर्शकों के बैठने का स्थान था।

इससे पूर्व सन् १९२४ में ही एक घटबढ़वा (फ़्लैक्सिबिल) प्रकार के रंगमंच का श्रीगणेश हो गया था जब कैलिफ़ोर्निया (अमेरिका) के पसाडेना स्थान में गिल्मर ब्राउन और राल्फ़ फ़ौमड ने सर्वप्रथम नाट्य-पेटिका (प्ले बौक्स) रंगमंच बनाया था जिसमें यह सुविधा थी कि नाटक की प्रकृति और उपस्थित करने की शैली के अनुसार उसमें दर्शक-कक्ष और रंगमंच चाहे जितना और चाहे जिस ओर घटाया-बढ़ाया जा सकता था।

वृत्त-मंचीय (सेन्ट्रल स्टेज) और घटबढ़वा (फ़्लैक्सिबिल) रंगमंच का इतना प्रचार संयुक्त राज्य अमेरिका में हुआ कि उसकी देखादेखी पेरिस (फ़ान्स) में आन्द्रे विलिए ने थिएत्र एँ रोंद' (वृत्त-रंगमंच) स्थापित कर दिया। अमेरिका में जो इस प्रकार के व्यावसायिक, सार्वजनिक और सांस्कृतिक वृत्त-रंगमंच जहाँ-तहाँ स्थापित हो गये हैं उनमें से प्रसिद्ध हैं डल्लास (टेक्सास) में मार्गो जोन्स थिएटर, हाउस्टन (टेक्सास) के प्ले हाउस और ऐले थिएटर, न्यू औलियन्स का गैलेरी सर्किल और वाशिंगटन का एरिना थिएटर।

भारत में इस अमेरिकी मार्गो जोन्स थिएटर की शैली के वृत्त-रंगमंच (थिएटर इन दि राउंड) पर नवम्बर, सन् १९५८ में दिल्ली में लिटिल थिएटर ग्रुप ने अमेरिकी दूतावास के एक अधिकारी की पत्नी श्रीमती क्रिस रोज़ेनफ़ेल्ड के निर्देश के अनुसार जॉन पैट्रिक का 'हड़बड़िया हृदय' (हेस्टी हार्ट) शीर्षक सुखान्त नाटक खेला था। हमारे यहाँ उत्तर प्रदेश और बिहार में नौटंकी और बिदेसिया तो इस शैली के रंगमंच पर खेले ही जाते रहे हैं किन्तु इससे भी पूर्व शारदातनय ने अपने भावप्रकाशनम् नामक ग्रन्थ में जिन तीन प्रकार की रंगशालाओं का उल्लेख किया है उनमें चतुरस्र और त्र्यस्र के साथ विकृष्ट के बदले वृत्त-रंगमंडल का उल्लेख है। उस प्रसंग में उसने लिखा है कि दूसरे देशों के नाट्यशास्त्रियों (परमंडलिकों), सभासदों, नागरिकों तथा सभ्यों के साथ राजा की ओर से संगीत का आयोजन वृत्त-रंगमंडप में होता है, जहाँ मार्ग और देशी संगीत का मिश्रण करके उसमें विचित्रता लायी जाय; चतुरस्र (चौरस) रंगमंच में वेश्या, मन्त्री, सेठ, सेनापति, मित्र और राजकुमारों के लिए राजा की ओर से संगीत का आयोजन होना चाहिए और त्र्यस्र रंगमंच पर पुरोहित, आचार्य, अन्तःपुर के लोग और राजमहिषी के साथ संगीत सुनने की योजना होनी चाहिए। तात्पर्य यह है कि त्र्यस्र मंडप में अत्यन्त घरेलू, चतुरस्र में शासनाधिकारी और वृत्त-रंगमंडप में सार्वजनिक संगीत-नाट्य का आयोजन होता था।

वृत्त-रंगशाला में लाभ यही है कि इसमें भवन-निर्माण के व्यय में तो कमी होती ही है साथ ही इसमें रंगसज्जा (स्टेज सेटिंग ऐंड डेकोरेशन) का झंझट नहीं होता। इसमें बीच में उठे हुए रंगमंच के चारों ओर उठी हुई सीढ़ीदार पीठिकाओं पर दर्शक बैठ जाते हैं तथा दर्शक और अभिनेताओं के बीच की मिथ्या रुकावटें दूर करके उन्हें एक दूसरे के अत्यन्त समीप ला दिया जाता है, रंगमंच पर कोई दृश्यपीठ न रखकर बैठने की कुर्सी आदि छोटी-मोटी वस्तुएँ रखकर काम चला लिया जाता है। नाटक प्रारंभ होने के समय प्रकाश मन्द करके नेपथ्य संगीत शुरू कर दिया जाता है। इस बीच रंगमंच पर अभिनेता आ पहुँचते हैं और पूरा प्रकाश हो जाता है। यह प्रयोग सस्ता तो है किन्तु इसमें कम लोग देख पाते हैं और नाटकीयता न होकर घरेलू उत्सव का-सा वातावरण बन जाता है।

कौपू का थियेटर

जैक्स कौप ने पेरिस के थिएत्र दु ब्यू कौलम्बिए नामक नाट्यशाला में दर्शक-अभिनेता-सान्निध्य का एक नया प्रयोग किया, जिसमें अभिनेतागण खुले रंगमंच पर आते थे और सामने दर्शक बैठते थे। दर्शक और अभिनेता के बीच अग्रमंच (प्रोसीनियम आर्च) जैसा कोई व्यवधान नहीं रहता था किन्तु रंगशाला बहुत छोटी होती थी। ब्रुसेल्स के थियेत्र दु मारे नामक रंगशाला में तथा इस प्रकार के अन्य प्रयोगों में कौपू की रंगशाला का ही प्रयोग किया गया।

अवास्तविकतावादी रंगशालाएँ

कुछ नाट्य-प्रयोक्ताओं ने शेक्सपियर के नाटकों को शेक्सपियर-कालीन दृश्यहीन रंग-मंच पर खेलने का प्रयोग किया, जिसमें कपड़े का परदा अग्रमंच के मुख्य द्वार पर उसी प्रकार लगाने लगे जैसे एक शताब्दी पूर्व अंग्रेज़ी रंगशाला में वह प्रयुक्त होता था। यह परदा केवल दृश्य-सज्जा का प्रतिनिधित्व करता था। अभिनेता तथा दर्शक-कक्ष को सम्बद्ध करने के ये साधन ही कुछ रंगशालाओं में वास्तविक अग्रमंच बन गये, जैसे संयुक्त राज्य में यहाँ-वहाँ बने हुए लिटिल थिएटर (छोटी रंगशाला) में। इस प्रकार के कुछ प्रयोग कोलोन के बैंकबुन्ड थिएटर में हुए जिसमें रंगमंच तीन भागों में बँटा हुआ है और यही प्रयोग पेरिस की कला-सज्जा-प्रदर्शनी (आर्ट्स डेकोरेटिव्ज एक्ज़ीबीशन) में ए० ऐण्ड जी० पैरेट तथा ए० ग्रेनेट के थिएटर में प्रस्तुत किया गया था। किन्तु इस ढंग की अत्यन्त औपचारिक और अतिशय वर्तमान-कालिक रंगशाला मेरिया थेरेसा के नृत्यकक्ष (बाल रूम) में स्थापित वियेना का थिएटर इनडेयर-रीडा-उटेन-

साल है जिसमें रंगमंच स्थायी दीवार से घिरा हुआ है, किन्तु जिसमें न अग्रमंच (प्रोसीनियम) है न फ़्लाई गैलरी (उड़नखंड)। इस भवन में नाटक खेलने के पश्चात् रीनहार्ट ने वियेना की सुन्दर पुरानी रंगशाला जोसेफ्स थिएटर का पुनः संस्कार किया और फिर साल्ज़-बुर्ग के रीट-शूले में आवास्तविकतावादी रंगशाला बनायी जिसे वह पौएलज़िग की योजना के अनुसार भव्य नवोदात्तवादी (ग्रैंड निओ-क्लासिसिस्ट) उत्सव रंगशाला के रूप में परिवर्तित करने के फेर में है।

आकाशरेखा-रंगमंच

भारत में अभिनव-भरत द्वारा काशी में स्थापित अभिनव रंगशाला का पेटिका मंच (बौक्स स्टेज), लखनऊ में प्रयुक्त आकाशरेखा रंगमंच और बम्बई में प्रयुक्त एक-दृश्य-बहुपीठात्मक रंगमंच (मोनो सीन मल्टी सेटिंग ओपेन स्काइ-बैक नेचुरल सिटी
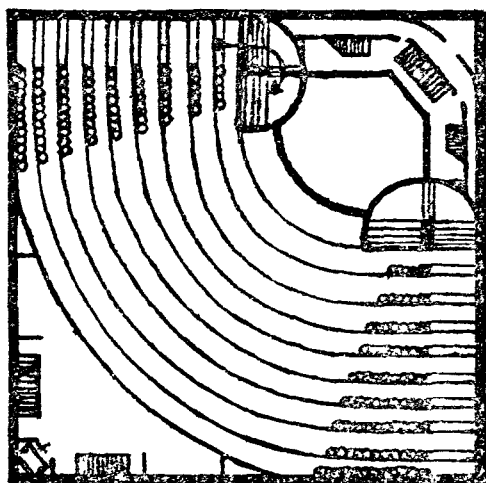
चित्र ५८—नॉर्मन ब्रैल गेडे थिएटर का समकोण रूपमान, कोने का रंगमंच दृश्य-परिवर्तन के लिए है।

पर्स्पेक्टिव थ्री-डाइमेंशनल स्टेज), मध्यस्थ केन्द्रीय रंगमंच (सेन्ट्रल फ़ोकल स्टेज), रूपाकार दृश्यपीठ-मंच (सिलहुट सेटिंग स्टेज) का विवरण नयी रंगशालाओं के प्रकरण में दिया जा चुका है।

क्रान्तिकारी प्रयोग

रंगशाला-निर्माण के लिए सबसे अधिक क्रान्तिकारी रूपमान बनाये हैं अमेरिका के प्रसिद्ध वास्तु-निर्माता फ़्रैंक लायड राइट ने। नॉर्मन ब्रैल गेडे ने एक कोने में रंगमंच वाली विचित्र रंगशाला बनायी है जिसमें पूरे दर्शक-कक्ष और अभिनय-स्थल को एक प्रकाश-गोलक द्वारा घेर दिया गया है। उसने एक और लम्बा चौकोर प्रेक्षागृह बनाया है जिसमें अभिनय ऐसे मंच पर होता रहता है जो पूरे भवन में एक किनारे से दूसरे किनारे तक चलता रहता है और दर्शक दोनों ओर बैठे रहते हैं, जैसे हमारे यहाँ रामलीलाओं में एक ओर राम और दूसरी ओर रावण की सभा लगती है और बीच में लम्बे मैदान में लीला होती रहती है और दर्शक दोनों ओर बैठ या खड़े होकर लीला देखते रहते हैं। इसी का एक रूप वह भी है जहाँ बीच के लम्बे-चौड़े मैदान में अभिनेता घूम-घूमकर लीला दिखाते और अभिनय करते रहते हैं और दर्शक उस मैदान के चारों ओर बैठे रहते हैं। नॉर्मन ब्रैल गेडे ने ही शेली के 'डिसेन्सी' नाटक के लिए रॉबर्ट एडमन्ड जॉन्स के सुझाव के अनुसार गोल रंगशाला बनायी है जिसमें बीच में रंगमंच है। रंगमंच और दर्शकों में अधिकाधिक निकटता स्थापित करने की अनेक रीतियों के अनुसार
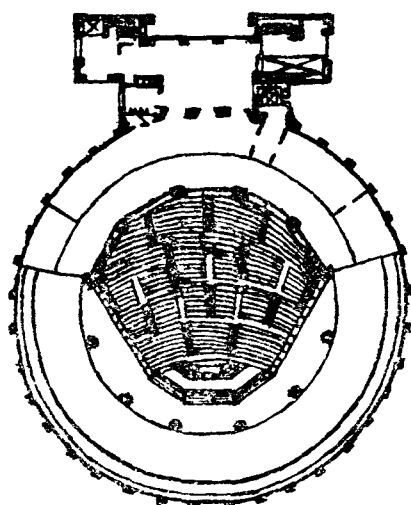
चित्र ५९—ऑस्कर स्ट्रेण्ड की गोल रंगशाला

बहुत प्रकार की रंगशालाएँ बनायी गयीं जिनमें फ़्रीडरिख कीज़लर की एक योजना भी है कि एक ही रंगमंच के दोनों ओर दो प्रेक्षाकक्ष बनाये जायँ। एक और विचित्र गोल

रंगशाला ऑस्कर स्ट्रेण्ड की है जिसमें दर्शक तो बीच में बैठे रहते हैं और उनके चारों ओर घूमने वाले सचल रंगमंच का बड़ा घेरा केवल एक दृश्य सामने प्रस्तुत करता है।

इस प्रकार के और भी अनेक प्रयोग किये जा रहे हैं और यह आशा की जाती है कि कोई ऐसा समय आयेगा जब अभिनेता स्वाभाविक रूप में दर्शकों में से उठकर रंगमंच पर चले जायँगे और रंगमंच पर से उतरकर दर्शकों में आ जायँगे, जब अभिनेताओं और दर्शकों के बीच का भेद दूर हो जायेगा और तब दर्शक और अभिनेता एक कक्ष में एकात्मक होकर इतने समीप हो जायँगे कि अभिनेताओं को भली प्रकार देख भी सकेंगे और सुन भी सकेंगे।

भावी रंगशालाएँ

भावी रंगशालाओं में जहाँ एक ओर पूर्ण सादगी होगी वहीं दूसरी ओर मास्को आर्ट थियेटर जैसी भव्य रंगशालाओं की अतिशय यन्त्रात्मकता भी होगी, जिनमें रेल-गाड़ियाँ चलेंगी, वायुयान उड़ेंगे, जलयान तैरेंगे, युद्ध होंगे और एक साथ सहस्रों व्यक्ति नाटक में अभिनय कर सकेंगे। ऐसी भी रंगशालाएँ होंगी जिनमें पूरे के पूरे दृश्य ऊपर उठ जायेंगे और नीचे से दूसरा दृश्य ऊपर उठ आयेगा या ऊपर का दृश्य नीचे चला जायगा और ऊपर से एक दृश्य नीचे उतर आयेगा, पूरा रंगमंच दायें या बायें सरकाया जा सकेगा। पूरा रंगमंच ही झूले के समान घुमाकर बारी-बारी से दिखलाया जा सकेगा। इतना ही क्यों, आकाश में रंगशालाएँ बनेंगी जिससे पूरा नगर या जनपद घर बैठे नाटक का आनन्द ले सकेगा और दर्शकों की ओर से जो अनेक प्रकार की बाधाएँ खड़ी हो जाती हैं वे भी न होंगी। यद्यपि टेलीविज़न ने इस सम्भावना को कुछ अंश में सत्य कर दिया है किन्तु कोई आश्चर्य नहीं कि निकट भविष्य में उड़नखटोले वाले रंगमंच हों और दर्शक भी अपने-अपने उड़नखटोले लेकर आकाश में ही पहुँचकर नाटक देखने लगें। बिजली के प्रकाश के बदले स्वाभाविक सूर्य के प्रकाश या किसी अन्य साधन से अधिक तीव्र प्रकाश देने की व्यवस्था की जायगी और लोग सुविधा के साथ अपना काम करते हुए मनोविनोद भी करते रह सकेंगे।

रंगशाला का भीतरी भाग और उसकी सजावट

पहले लोग रंगमंच का मत्था (आर्चहेड) और अग्रमंचद्वार या अग्रमुख (प्रोसीनियम आर्च) बहुत अधिक सजाते थे। अग्रमंच से लगे हुए विशेष दर्शक-कक्षों (प्रोसीनियम बौक्स) को अग्रमंच की अपेक्षा कुछ कम रीति से सजाते थे। इन विशेष

कक्षों से लेकर छज्जे (बालकनी) के बीच के भाग तक अत्यन्त साधारण सजावट होती थी और वहाँ से पीछे तक का भाग सज्जाहीन सादा छोड़ दिया जाता था, किन्तु वर्तमान सिद्धान्त के अनुसार पूरी रंगशाला को एक कक्ष मानकर समान रूप से आगे-पीछे तक सजावट की जाती है जिससे दर्शकों की सब श्रेणियों के प्रति समानता का भाव रहे।

आकार-वृद्धि

रंगशाला के रूपमान में सबसे नवीनतम प्रयोग है सुपर सिनेमा पैलेस का, जिसमें सब ओर दृश्यता और श्रव्यता अत्यन्त पूर्ण है। इस भवन में प्रकाश की व्यवस्था भी कुछ असाधारण होती है और वह इस प्रकार बनाया जाता है कि इसमें बोलपट (टॉकी), लोकव्याख्यान, ध्वनि-विस्तारक (लाउड स्पीकर), यंत्रचालित रंगमंच (मिकेनाइज़्ड स्टेज), वाद्य-उत्थापन (आर्गन लिफ़्ट) की भी सुविधा होती है। यह रंगशाला दिन में बारह घंटे जगी रहती है और प्रति दिन लगभग तीस सहस्र व्यक्ति इसमें आते हैं। ये भवन जगमगाहट, रंग, आलोक तथा भीतरी सजावट सब में भव्य होते हैं, ये चौड़े भी बहुत होते हैं और खम्भे न होने के कारण इन विशाल भवनों के निर्माण में भी बड़ी कठिनाई होती है। किन्तु इन्हें बनाते समय इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि गर्मी में ताजा ठंडा पवन और जाड़े में शुद्ध गरम वायु निरन्तर सबको मिलती रहे।

रंगशाला की साधन-सम्पन्नता

आजकल संसार के प्रायः सभी बड़े नगरों में पाँच सहस्र से छः सहस्र तक दर्शकों के पीठासनों वाले ऐसे-ऐसे चित्रशाला-भवन बने हुए हैं जिनमें लगे हुए अनेक गुप्त ध्वनि-विस्तारकों का संचालन एक व्यक्ति एक कोने में बैठकर इस प्रकार करता है कि वह एक गुल्ली (नौब) घुमाकर रंगमंच पर बोलने या गाने वाले अभिनेता के स्वर को इच्छानुसार बढ़ा या घटा सकता है। भवनों की गूँज दूर करने के लिए विशेष प्रकार से तैयार किये हुए पलस्तर या नमदे आदि ध्वनि-शोषक सामग्रियों से गूँज रोकी जा सकती है। ऐसे भवनों में वृन्द-वाद्य-उत्थापक (आर्गन एण्ड आर्केस्ट्रा लिफ्ट) भी होते हैं जो पूरे के पूरे वादक-मण्डल को बीच से उठाकर भीतर ले जायँ या बिना दर्शकों को बाधा दिये भीतर से बाहर ले आयें। इन उत्थापकों (लिफ़्ट्स या ऐलिवेटर्स) के द्वारा पूरी वादक-मण्डली को विशेष गीतों या वाद्य-प्रदर्शनों के लिए ऊँचा उठा देते हैं या चित्रों के साथ होने वाले सहकारी संगीत के लिए उन्हें पूर्णतः नीचे छिपा देते हैं। ये उत्थापक वाद्य-नायक (आर्केस्ट्रा लीडर) के पास लगे हुए धक्के-बटन (पुश बटन) से संचालित होते हैं। इन भवनों में चित्र-प्रदर्शन-कक्ष (आपरेटिंग रूम या प्रोजेक्टिंग बूथ) भी

आवश्यक हो गये हैं,क्योंकि जब से बोलते चित्र आने लगे हैं और रंगीन चित्र तथा ध्वनि-विस्तार-प्रणाली चल पड़ी है तबसे चित्र-प्रदर्शन-कक्ष का संयोजन अनिवार्य हो गया है। ये कक्ष पूर्णतः ज्वलन-रोधी (फ़ायर प्रूफ़) होने चाहिए जिनमें अग्नि से रक्षा के आधुनिकतम साधन प्रस्तुत हों। इस कक्ष में ऐसे मोखे होने चाहिए जो स्वतः चालित खटकों द्वारा बन्द हो जायँ। इसमें प्रयुक्त होने वाला परीवाप (फ़र्नीचर) भी ज्वलन-रोधी धातु का होना चाहिए। इसी के साथ यंत्र-चालकों के लिए नहाने-धोने और विश्राम करने के लिए विश्राम-कक्ष भी और चित्र-पट्टी (फ़िल्म) चढ़ाने के लिए भी एक अलग कक्ष होना चाहिए।

चलचित्र-शाला के समान ही रंगशाला भी नवीनतम साधनों से सम्पन्न होनी चाहिए। उसका विद्युत्-केन्द्र (स्विच बोर्ड) ऐसा होना चाहिए जो रंगमंच और मुख्य प्रेक्षागृह के बहुरंगी प्रकाश को नियंत्रित कर सके। अनेक रंगों वाले अग्रगामी प्रकाश (पायलेट लाइट्स), पूर्व व्यवस्थित बिजली (स्विच) के हत्थे और अन्य अनेक प्रकार के नियंत्रकों के साथ वह पूर्ण यंत्र-केन्द्र जैसा हो जाता है। अब पुराने चाल के उड़नखंड (फ़्लाई गैलरी), सूचिका-पटरी (पिन रेल) और प्रतिमार (काउन्टरवेट) के लिए रेत के थैले प्रयोग करने का युग चला गया। अब तो दृश्य-सज्जा (सीनरी) को वर्तमान नवीन प्रतिभार (काउन्टरवेट) प्रणाली से चलाते हैं जिसमें एक छोटी सी कमानी (लीवर) के द्वारा आगे की यवनिका को विना परिश्रम के शीघ्रता से ठीक स्थान पर ला दिया जाता है। यह पूरा नियंत्रण रंगमंच पर से ही होता है। अब पुरानी चाल की रस्सियों के बदले तार (केबिल) लगे रहते हैं। गैस-पाइप के बदले लकड़ी के विद्युत्प्रकांड (बेटन) लगे रहते हैं। प्रत्येक रंगमंच में स्प्रिंकलर प्रणाली के स्वयं-चालित वायु-गवाक्ष (वेन्टिलेटर) और ज्वलन-रोधी परदे लगे रहते हैं। वर्तमान सुरक्षा-नियमों के अनुसार सारी दृश्य-सज्जा ही ज्वलन-रोधी होती है इसलिए आजकल अग्निकाण्ड बहुत कम हो गया है। वर्तमान रंगमंच का सबसे महत्त्वपूर्ण अंग है पृष्ठ-भित्ति (साइक्लोरामा), यह और कुछ नहीं, विशाल अंडाकार रचना की दृश्य-सज्जा (सीनरी) है जो रंगमंच के पिछले तल से ऊपर छत (ग्रिडिरौन) तक बनी रहती है। यह अत्यन्त सादी होती है जिस पर ऐसा सरल (न्यूट्रल टोन का) रंग चढ़ा रहता है कि सब प्रकार का प्रकाश उस पर अपना प्रभाव डाल सके। यह पृष्ठ-भित्ति दृश्यपीठ के पृष्ठभाग या आकाश का काम देती है। सुन्दर रंगमंचीय प्रभाव के लिए यह पृष्ठभित्ति अद्वितीय साधन मानी गयी है। साधारणतः यह पृष्ठभित्ति पलस्तर की या भारी लकड़ी की चादर (शीटबोर्डिंग) की बनायी जाती है और प्रायः ध्वनिक-पट्ट (साउण्डिंग बोर्ड) का भी काम देती है।

रंगशाला के कक्ष

किसी भी वर्तमान बड़ी रंगशाला में निम्नांकित कक्ष होने ही चाहिए-- अभिनेता-कक्ष (एसेम्बली-रूम), प्रसाधन या मुखराग कक्ष (ग्रीन रूम), परिधान-कक्ष (ड्रेसिंग रूम), समवेत गान (कोरस) और नृत्य-कक्ष (बाल रूम), पुरुषों और स्त्रियों के लिए स्नानागार (टॉयलट रूम) जिनमें वर्तमान शैली के शौच-स्नान की सुविधा हो, रंगव्यवस्थापक और सहायक रंगव्यवस्थापक के कार्यालय, वस्त्र-कक्ष (वार्डरोब रूम), सामग्रीकक्ष, सामग्री-विधान विभाग (कमिसरी डिपार्टमेन्ट), बढ़ई और बिजली के कार्यागार, छोटी और बड़ी सामग्री रखने के कक्ष (प्रॉपर्टी रूम), कार्यवाहक (कण्डक्टर), सहायक कार्यवाहक (असिस्टेन्ट कन्डक्टर) और वादक (आर्गेनिस्ट) के निजी कार्यालय, संगीत-पुस्तकालय और संगीतपत्रक (शीट म्यूज़िक) संग्रह के लिए अग्नि-रोधी कक्ष, कालक्षेप-कक्ष (लाउंज रूम) जिसके साथ आवश्यक शौच-स्नानागार और संगीतज्ञों के लिए कीलित कक्ष (लॉकर रूम) हों, वाद्ययंत्र, कक्ष-वाद्य-धौंकनी (आर्गनब्लोअर) और यांत्रिक उत्थापकों (एलिवेटर) के लिए ध्वनि-रोधी (साउंड प्रूफ) मोटर-कक्ष और अभ्यास-कक्ष (रिहर्सल रूम) हो, जिसके साथ चित्रपट और चित्रप्रदर्शन-कक्ष (ऑपरेटिंग-बूथ) लगा हुआ हो। पुरुष और स्त्री-सेवकों के लिए बन्द-कक्ष (लॉकर) और स्नानागार, भवन-निरीक्षण का कार्यालय, सफाई करने वाले सेवकों के लिए स्नानागार, बिजली की बत्ती तथा अन्य सामग्रियों के लिए अनेक छोटे कक्ष, प्रतीक्षालय (लाउंज) और विश्राम-कक्ष (रिटायरिंग रूम) बनाने का विशेष ध्यान रखा जाता है। कहीं-कहीं धूम्रपान करने वालों के लिए अलग कक्ष भी बनाये जाते हैं किन्तु अग्नि-काण्ड की आशंका से धूम्रपान का पूर्ण निषेध कर दिया गया है।

प्रेक्षागृह

प्रेक्षागृह इस प्रकार बनाना चाहिए कि प्रत्येक दर्शक सरलता के साथ उसमें प्रवेश कर सके और अन्य लोगों को बिना बाधा दिये अपने स्थान पर पहुँच सके, सुख से बैठ सके और रंगमंच पर होने वाली प्रत्येक चेष्टा और ध्वनि को देख-सुन सके। रंगमंच और पीठासनों के बीच दृष्टि का सर्वश्रेष्ठ कोण अपने कन्धे की ऊंचाई है। किन्तु आज की सर्वश्रेष्ठ रंगशालाओं में सबसे अधिक शुल्क वाले पीठासन आगे के समझे जाते हैं, किन्तु उनमें दर्शकों की आँखें अभिनेता के पैर की सीध में पड़ती हैं, जिसका परिणाम यह होता है कि उन्हें अपना सिर उठाकर अभिनेताओं की मुख-मुद्रा देखनी पड़ती है और ग्रीवा में पीड़ा होने लगती है। चाहिए तो यह कि पीठा-

सनों की प्रत्येक क्रमिक पंक्ति रंगमंच से ऐसे कोण पर हो कि दर्शक को आगे बैठे हुए दो व्यक्तियों के सिरों के बीच में झाँकना न पड़े और रंगमंच की क्रिया देखने के लिए सिर झुकाना या उठाना न पड़े।

दर्शक का महत्त्व

रंगशाला-निर्माता तथा नाट्य-प्रयोक्ता को यह समझ रखना चाहिए कि दर्शक ही नाटक के प्रधान अंग हैं। उनके बिना नाटक का कोई अस्तित्व नहीं है। नाटककार, नाट्य-प्रयोक्ता, दृश्य-सज्जाकार और अभिनेता सबके सम्मिलित प्रयास से ऐसी परि-स्थिति उत्पन्न की जाती है कि दर्शकों की कल्पना पर विशेष प्रभाव पड़े। इसलिए जब तक दर्शक की सुविधा और उसके सहयोग से नाटक न खेला जाय तब तक नाटक का कोई महत्त्व नहीं है। यही कारण है कि प्रत्येक प्रकार के नाटक के लिए विशेष प्रकार के दर्शक आते हैं। रंगशाला की क्रियाओं को तभी कलाओं के अन्तर्गत स्थान मिलता है जब दर्शकगण रंगशाला के बाहर होने वाले वास्तविक जीवन की प्रतिमूर्ति देखने के बदले वह अनुभव करने लगते हैं जो रंगशाला के बाहर उन्हें कहीं नहीं मिलता।

जब नाटककार नाटक लिखता है तब वह रंगमंच, अभिनेता और दर्शक तीनों को सम्मिलित माध्यम बनाकर लिखता है। जब दृश्य-सज्जाकार (सीन डिज़ाइनर) किसी नाटक को प्रस्तुत करने का भार लेता है तब वह उसके सभी दृश्यात्मक पक्षों का ध्यान रखकर उसका विधान करता है। वह नाटक की प्रकृति, गति, लय, प्रस्तुत करने की रीति, दृश्यपीठ, वेश-भूषा और प्रकाश सबका ध्यान रखता है। अन्त में नाट्य-प्रयोक्ता इन सब तत्त्वों को एकत्र करके सर्वांग-सुसज्जित प्रयोग के रूप में अभ्यास कराता है। इस प्रकार नाटककार घुमा-फिराकर द्रविड़ प्राणायाम के द्वारा नाट्य-प्रयोक्ता, दृश्य-सज्जाकार और अभिनेताओं के द्वारा अपने नाटक को दर्शकों तक पहुँचाता है। इस परिणाम को अधिक प्रभावशाली बनाने के लिए विश्व के सभी नाट्य-प्रयोक्ता अत्यन्त सजग हो रहे हैं और इसी कारण रंगशाला के रूप की सम्भावनाएँ भी अभिनव हो चली हैं।

जब हम रंगशाला की बात सोचते हैं तब हम स्वभावतः रंगमंच से ही प्रारम्भ करते हैं। प्रेक्षागृह इसी रंगमंच के चारों ओर कहीं बनाया जा सकता है, क्योंकि इन दो मुख्य कक्षों (रंगमंच और दर्शक-कक्ष) का सम्बन्ध अवश्य होना ही चाहिए। यही नवीनतम नाट्यशाला-निर्माण का सिद्धान्त है। प्रायः सभी नवीन भवनों में दर्शक-कक्ष की अपेक्षा रंगमंच बहुत छोटे होते हैं जिसका परिणाम यह होता है कि लगभग आधे दर्शक न ठीक से देख पाते हैं और न ठीक से सुन पाते हैं। रंगमंच की अपर्याप्तता की

ओर लोगों का इतना कम ध्यान है कि यदि किसी नाटक में अभिनेताओं को चलने-फिरने भर के लिए स्थान मिल जाता है तो उसे ही लोग बहुत समझते हैं। वास्तव में किसी दृश्य में जितना स्थान अभिनेता अपने काम में लाता है वह रंगमंच के लिए काम में आने वाले सम्पूर्ण घन-स्थान का दशम भाग होता है। रंगातिरिक्त पार्श्व-स्थान [अभिनय-स्थली (ऐक्टिंग स्पेस) के दोनों ओर तथा पीछे छूटा हुआ स्थान] अभिनय-स्थली से तिगुना होना चाहिए जिससे दृश्यपीठों को सुविधा के साथ हटाने-बढ़ाने और बदलने में सुविधा हो। बहुत से वर्तमान नाट्यगृहों में तो इसका दशमांश स्थान भी नहीं मिलता, जिसका परिणाम यह होता है कि अभिनेताओं के प्रवेश और निर्गम, दृश्य-सज्जा हटाने-बढ़ाने, अन्य सामग्री रखने और सरकाने और बिजली की व्यवस्था रखने-हटाने तक की सुविधा नहीं मिल पाती। वास्तव में रंगपीठ के ऊपर खुला स्थान (फ़लाई स्पेस) सबसे ऊँचे दृश्य से चौगुना ऊँचा होना चाहिए, किन्तु ऐसा होता ही नहीं। आजकल की रंगशाला में नाटककार की सहायता के लिए कोई व्यवस्था नहीं है, उलटे उसे असुविधा देने और उसके लिए चिन्ता खड़ी करने के लिए पर्याप्त साधन रहते हैं, क्योंकि द्विपरिमाणीय साधनों के कारण उसकी समझ में यही नहीं आता कि किसी विशेष प्रभाव या विचार को किस प्रकार प्रस्तुत किया जाय। होता यह है कि अभिनेता उस रंगमंच पर चल ध्वनि-विस्तारक-कक्ष (मूविंग लाउड स्पीकर हाउस) बना रह जाता है। इधर पिछले कुछ वर्षों से जल-चालित यंत्र (हाइड्रोलिक), चक्रिल (रिवौल्विंग), अपसारक (स्लाइडिंग) या स्थानान्तरण (टर्निंग ओवर) यन्त्रों का प्रयोग होने लगा है, जो दृश्य-सज्जा सहित पूरे या आंशिक रंगमंच को बदल देते हैं। इसके अतिरिक्त पीछे की ओर रँगा हुआ परदा लटकाने के बदले अब स्थायी पलस्तर की पृष्ठ-भित्ति (साइक्लोरामा) बना दी जाती है जो आकाश जैसी प्रतीत होती है और जिस पर किसी भी रंग का प्रकाश डालकर कोई भी रंग चढ़ाया जा सकता है। किन्तु इतना सब होने पर भी यह कठिनाई बची रह जाती है कि अनेक प्रयोगों और आवश्यकताओं की विभिन्न शैलियों के लिए उपयुक्त रंगशाला नहीं बन पा रही है।

भावी रंगमंच की योजना

इस दृष्टि से विचार किया जाय तो भावी रंगमंच का आकार-प्रकार अधिक गतिशील त्रि-परिमाणीय रंगमंच-रूप (प्लास्टिक थ्री डाइमेंशनल स्टेज स्ट्रक्चर) होगा जो रूपात्मक, भव्य और स्वसत्ताहीन (न्यूट्रल) होगा, जिस पर अभिनय के लिए कई मंच होंगे जिन पर अनेक प्रकार की चेष्टाएँ सम्भव हो सकेंगी और जिसमें प्रकाश के लिए भी पर्याप्त स्थान रहेगा। ऐसे रंगमंच पर विभिन्न भाव, स्थान और वृत्ति के अनेक क्रमिक

दृश्य दिखलाये जा सकेंगे जो भौगोलिक दृष्टि से अनुकरणात्मक होकर भी नाटकीय दृष्टि से रचनात्मक होंगे और जिनमें नाटकीय क्रिया तथा दर्शकों पर प्रभाव डालने की वृत्ति अधिक रह सकेगी। यह रंगमंच ठोस और दीर्घ-कालिक होगा जिसमें अनेक प्रकार के स्तर, चौतरे, ढाल, दर्शकों के बीच आगे निकले हुए मंच (एप्रन्स) और पीछे की ओर ऊपर उठे हुए ऊँचे मंच होंगे। ये सब मिलकर विभिन्न स्तरों पर खड़े हुए अभिनेताओं और विभिन्न कोणों से डाले हुए प्रकाश में होने वाली उनकी गतियों से मिलकर अत्यन्त विचित्र प्रकार का चित्रात्मक प्रभाव उत्पन्न कर सकेंगे। नाटक होते समय आवश्यकता होने पर यह पूरा दृश्य या इसका कुछ भाग बदला भी जा सकेगा। इन नवीन रंगमंचों पर नाटक की समाप्ति के समय किसी ऐसे कौशल का प्रयोग किया जायगा जिसमें अनेक गतियों या लयों की शृंखला का मेल होगा और आज के नाटक के समान रंगमंच पर अँधेरा करके या जवनिका गिराकर दृश्य-परिवर्तन नहीं किया जायगा।

इस प्रकार की गतिशील नाटकीय रंगशालाओं से चलचित्र-शालाएँ और दृश्य-चित्र (टेलीविज़न)-नाट्यशालाएँ भिन्न होंगी और जैसे परदे के चलचित्र नाटक में द्वि-परिमाणीय दृश्य होगा वैसे ही दूसरी ओर रंगमंच का नाटक निश्चय ही त्रि परिमाणीय होता चला जायगा।

अध्याय २६

रंग-संस्कार (स्टेज सेटिंग)

रंगमंच पर अनेक प्रकार की वस्तुओं की वह सम्पूर्ण क्रमिक संस्थापना और व्यवस्था की जटिलता ही रंग-संस्कार कहलाती है, जो दर्शक को सम्पूर्ण नाट्य की परिस्थिति समझने में सहायक हो। इसके चार मुख्य भाग होते हैं—१—पृष्ठभूमि (बैक ग्राउण्ड) या पृष्ठ-दृश्य (बैक सीन), जो रोमी रंगशालाओं के समान पक्के बने हुए स्थायी भवन का अग्रभाग आदि हो या भीति अथवा कपड़े पर बना हुआ किसी दृश्य का चित्र हो या परिवर्तनीय सादा रँगा हुआ या चित्रित परदा हो या वृत्त-भित्ति (साइक्लोरामा) हो या भित्ति-आकाश-मण्डल (स्काई डोम) हो। २—सहायकपार्श्व भाग (विंग्स), जैसे—पखवाइयाँ जो या तो दोनों ओर बनी हुई सादी या रंगीन सीधी दीवारें हों या एक क्रम से परिवर्तनीय चौखटों पर रँगे या चित्रित कपड़ों पर दृष्टिक्रम (पर्स्पेक्टिव) के अनुसार लगी हुई पखवाइयाँ हों या दृष्टि-क्रम के अनुसार लगी हुई क्रमिक भवनों की पंक्ति हो। ३—अन्य वस्तुएं (प्रौप्स) या परीवाप, कुर्सी-मेज़ आदि अथवा अलग-अलग दृश्यपीठ के रूप में बने हुए द्वि-परिमाणीय या त्रि-परिमाणीय पहाड़, जंगल, वृक्ष आदि के चित्रित टुकड़े। ४—रंगद्वार (प्रोसीनियम आर्च) अर्थात् वह रँगा हुआ या सादा ढाँचा या पक्का बना हुआ गोलाकार या अन्य किसी आकार का चौखटा जिसके पीछे मुख्य जवनिका टाँग दी जाती है और जो रंगमंच तथा दर्शकों के बीच व्यवधान का कार्य करता है। इन चारों तत्वों का महत्त्व और प्रयोग रंगशाला के इतिहास में विभिन्न युगों में विभिन्न प्रकार से रहा है। संकुचित अर्थ में यह संस्कार (स्टेज सेटिंग) पुनर्जागरण-काल में प्रारम्भ हुआ।

भारतीय रंगमंच की दृश्य-सज्जा

प्राचीन भारतीय रंगशालाओं में दृश्य-सज्जा के लिए पुस्त का प्रयोग होता था जिसका विवरण भरत ने अपने नाट्यशास्त्र में दिया है। उनके कथनानुसार अनेक रूप और प्रमाणों के अनुरूप पुस्त तीन प्रकार का होता है; सन्धिम, व्याजिम और वेष्टिम। किलिंज (भोजपत्र) और बाँस के पत्ते आदि तथा चर्म के वस्त्रों से जो सामग्री बनायी

जाती है उसको सन्धिम पुस्त कहते हैं, जो यंत्र के द्वारा संचालित की जाती है उसको व्याजिम कहते हैं। जो कुछ लपेटकर बनायी जाती है उसे वेष्टिम कहते हैं। नाट्य में शय्या, यान, विमान, चर्म, वर्म, ध्वज और नग आदि जो बनाये जाते हैं इसे पुस्त कहते हैं। वर्तमान नाट्यशास्त्री इन्हें रंग-सामग्री (प्रोप्स) कहते हैं। इससे स्पष्ट हो जाता है कि भारतीय रंगमंच पर भी यन्त्रों का प्रयोग होता था।

भरत ने कहा है कि नाटक के लिए प्रासाद, गृह, यान, अनेक शस्त्र आदि जो कुछ जीव-लोक में द्रव्य दिखाई देते हैं, उनकी अनुकृति ही नाटक में उपकरण के रूप में बनायी जाती है, इसलिए लोहे का (सारमय) सामान नहीं बनाना चाहिए क्योंकि वह भारी और कष्टकर होता है। इसलिए लकड़ी, चमड़ा, वस्त्र, जतु (लाख), वेणु और पत्तों से ही नाट्य के उपकरण बना लेने चाहिए। वर्म, चर्म, ध्वज, शैल, प्रासाद, देवगृह, घोड़े, हाथी, यान, विमान, गृह आदि को पहले बाँस की खपाचियों से बनाकर फिर उन्हें रंगीन कपड़ों से ढककर उन्हें यथास्वरूप बना लेना चाहिए। यदि वस्त्र न मिल सके तो ताड़, किलिंज आदि से ही वस्त्र का काम निकाल लेना चाहिए।

इसी प्रकार तृण, वेणु, दल आदि से और जतु-भांड क्रियाओं से अस्त्र-शस्त्र आदि बना लेने चाहिए। पाद, सिर, हस्त और त्वचा का रूप तो तृण, किलिंज और मंड से ही बना लेना चाहिए। जिसका जैसा रूप दिखाना हो वैसी ही मिट्टी से उसका रूप बना लेना चाहिए। मंड, वस्त्र, मोम, लाख, आम्रदल, अतसी (तीसी), सन और मूंज से विविध प्रकार के पर्वत या मार्ग बनाये जा सकते हैं। इसी प्रकार मंड, वस्त्र, मोम और लाख से अनेक प्रकार के फूल-फल बनाये जा सकते हैं और मंड, वस्त्र, मोम, ताम्रपत्र, नीले रंग, अबरख और अबरख को रँगकर मणियाँ बनायी जा सकती हैं और फिर इनका उपाश्रय शुल्ववंग से किया जा सकता है। एवं अनेक प्रकार के मुकुटों को अबरख के पत्तरों से उज्ज्वल करके उन्हें मणि-व्याल आदि से सुशोभित कर लेना चाहिए।

सवर्ण, रत्न आदि से मुकुट और भूषण नहीं बनाने चाहिए, क्योंकि युद्ध, नियुद्ध, नृत्त और दृष्टि-व्यापार आदि में भारी होने के कारण उनसे स्वेद या मूर्छा हो सकती है और नाटक भी नष्ट हो सकता है। इतना ही नहीं, कभी प्राण-हानि भी हो सकती है, इसलिए ताँबे, अभ्रक, मण्ड और मोम से ही आभरण बनाने चाहिए।

रंगमंच पर शस्त्रों से न भेदना चाहिए, न छेदना चाहिए, न प्रहार करना चाहिए, केवल उस क्रिया का संकेत मात्र कर देना चाहिए, अथवा योग्य शिक्षा और विद्या-माया से शस्त्र चलाना चाहिए, जैसा चीनी रंगमंच पर आज भी होता है।

प्रहरण या अस्त्र-शस्त्र

युद्ध, सम्फेट (भिड़ंत), और उपरोध में अनेक प्रहरणों या शस्त्रों का प्रयोग करना चाहिए और पुरुषों के प्रमाण से जैसा पुस्त हो उस क्रम से आयुध बनाने चाहिए। जैसे भिण्डि बारह ताल का, कुन्त दस ताल का और शतघ्नी, शूल, तोमर तथा शक्ति आठ ताल की, धनुष आठ ताल का, किन्तु उसका आयाम दो हाथ का होना चाहिए। बाण, गदा और वज्र चार ताल के होने चाहिए। चवालिस अंगुल की तलवार, बारह अंगुल का चक्र, छः अंगुल का प्रास और पट्टिस, बीस अंगुल का दण्ड और कणय, सोलह अंगुल चौड़ा सबल संप्रघंटिक, तीस अंगुल का खेटक। जर्जर, दण्डकाष्ठ, प्रतिशीर्षक, छत्र, चामर, ध्वज तथा अन्य जो श्रृंगार लोगों के प्रयोग में आते हैं, सब नाट्य में प्रयुक्त होते हैं। जर्जर लकड़ी का बनवाना चाहिए किन्तु वेणु या बाँस का सबसे अच्छा होता है। जो बाँस श्वेत भूमि में उत्पन्न हुआ हो उसे पुष्य नक्षत्र में लाकर उससे जर्जर बनाना चाहिए। यह जर्जर एक सौ आठ अंगुल का, पाँच पोर का, चार गाँठों का और ताल मात्र होना चाहिए। यह न मोटी गाँठ वाला हो, न शाखा वाला हो, न कीट से युक्त हो, न कीड़ों से खाया हुआ या घुना हुआ हो और न अन्य प्रकार के बाँसों से हीन हो। उसे मधु, घी और सरसों से युक्त करके तथा माल्य और धूप से पुरस्कृत करके तथा वेणु की उपासना करके जर्जर के लिए ग्रहण करना चाहिए। महेन्द्रध्वज के लिए जो विधि और क्रम है वही पुष्यवेणु के जर्जर करने के लिए करना चाहिए। जिसमें बड़े पोर हों, छोटे पत्ते हों और परवाभ्र तण्डुल हो वह पुष्यवेणु कहलाता है।

कैथ, बेल और बाँस का दण्डकाष्ठ बनाना चाहिए, जो तीन भागों में टेढ़ा हो किन्तु जिसे कीड़ों ने न खाया हो, घुना हुआ न हो और मन्दशाख न हो।

शीर्ष विभाग के लिए बड़े प्रयत्न से घटी या घड़ी बनानी चाहिए, जो अपने प्रमाण से बत्तीस अंगुल की हो। बिल्व के मध्य से सिर समाश्रित घटी बनानी चाहिए, जो स्विन्न और द्रव बिल्वकल्क से समन्वित हो।

भस्म या तुष से प्रतिशीर्षक बनाना चाहिए और तब घटाश्रय बिल्ल-दिग्ध वस्त्र से उसे ढक देना चाहिए। बिल्व-कल्क से चीर को दग्ध करके घटी का संयोजन करे, जो न स्थल हो, न आनत हो, न छोटी हो, न बड़ी हो। उसे धूप में सुखाकर अथवा अच्छी तरह से सुखाकर उसमें तीक्ष्ण शस्त्र से आधे का आधा भाग करके अपने प्रमाण से ललाट के कोण पर अर्धांगुल, ललाट पर छः अंगुल छेद करे और घटी में दो अंगुल और आधे का आधा अंगुल छेद करे। कर्णनाल के कटान्त में दो अंगुल अधिक छेद करे और कर्णविवर में तीन अंगुल छेद करे, तब बारह अंगुल की सुषमा अबट्ट बनानी चाहिए।

उसके ऊपर बहुत शिल्पकारी के साथ मुकुट बनाना चाहिए जो अनेक रत्नों से प्रतिच्छन्न हो।

यूनानी रंगशाला में दृश्य

प्राचीन यूनानी रंगशाला में रंगमंच के पृष्ठदृश्य के रूप में केवल भवन की बाह्य भीत बनाकर ही रंगशाला का पृष्ठ बना लिया जाता था। उस पीछे की भीत में तीन द्वार बने होते थे और कुछ चित्रित दृश्यों का भी प्रयोग होता था। पाँचवीं शताब्दी ई० पू० के पश्चात् एक-एक चित्रित दृश्यपीठ (जैसे चट्टानों के चित्र) का प्रयोग होता था और एक चित्रित चपटे कपड़े (काउलिसे) का भी प्रयोग होता था। किन्तु ये चित्र दृष्टि-क्रमानुसार होते थे या नहीं, यह स्पष्ट नहीं है। एक दूसरी जटिल दृश्य-प्रणाली भी क्रम-दृश्य (सीनादक्तिलिस) की थी, अर्थात् अनेक चित्रित परदे एक के पीछे एक इस प्रकार लगे रहते थे कि एक को हटा देने पर दूसरा दृश्य निकल आता था। एक घुमौवा तिकोना चक्रिल त्रिपृष्ठ-पट (पैरियाक्तोई) भी लगाते थे जो स्थिर भवनात्मक पृष्ठभूमि या पृष्ठ-दृश्य का काम देता था और जो द्वार के साथ लगा रहता था। वित्रूवियस ने विभिन्न प्रकार के नाटकों के लिए विभिन्न प्रकार की दृश्य-सज्जा का विवरण दिया है। उसने त्रासद और प्रहसन के लिए तो भवन का बाह्य भाग बनाने की बात कही है और ग्राम-नाटकों (सातिर) के लिए ग्रामीण दृश्य की। किन्तु यह अधिक सम्भव है कि यह वर्णन रोमी रंगशालाओं का हो, यूनानी का न हो।

यंत्रों का प्रयोग

यूनानी रंगशाला में यंत्रों का भी प्रयोग हुआ करता था। इनमें से सबसे महत्त्व का होता था सर्पिल रंगमंच (एकीलेमा) जो अर्धवृत्ताकार या चौकोर होता था और जो बीच के द्वार से बाहर को ढकेल दिया जाता था। इस पर वेदी या सिंहासन आदि के दृश्यपीठ भी लगे रहते थे। इसी प्रकार ऊपर एक लटकी हुई टोकरी भी टँगी होती थी, जैसे बादल में सुकरात (सॉक्रेटीज़) बैठा हुआ दिखाने के लिए। इसी टोकरी का विकास होते-होते देव-प्रकाशक यन्त्र (ड्यूक्स एक्स मेशीना) या देवताओं को प्रकट करने का यंत्र निकल आया। रोम की रंगशाला वालों ने चित्रित दृश्यों का प्रचुरता से प्रयोग किया। पौम्पियाइ में जो अवशिष्ट भित्ति-चित्र मिले हैं, वे इस बात के प्रमाण हैं कि दृष्टिक्रम (पर्सपेक्टिव) का ज्ञान उन लोगों को था, इसलिए वे दृश्य, स्थिर बने हुए पीछे के भवनों (सीनाफ़्रान्स) से सम्बद्ध न होकर स्वतंत्रतापूर्वक भिन्न-भिन्न रूपों से सहयुक्त होते थे। मध्य युग में यह विकास का क्रम कुछ रुक गया क्योंकि ईसाई नाटक सब गिरजाघर

के भीतर होने लगे जिनमें पहले तो वेदी के सामने ही कुछ चल सामग्री सजा दी जाती थी, जैसे—फूस से ढकी हुई छत के नीचे एक छोटी सी कुटिया या ईसा की समाधि। उसके पश्चात् एक साथ छोटे-छोटे बक्से या फाँसी के तख्ते लगा दिये जाते थे जो पवित्र कथाओं के विभिन्न स्थानों का प्रतिनिधित्व करते थे और ये सब गिरजाघर के भीतर ही सजा दिये जाते थे। उनके साथ नरक के मुख के अतिरिक्त कुछ दृश्य-संकेत रहते थे, जिनके ढाँचे अत्यन्त उदारता के साथ सुसज्जित रहते थे। जब चौदहवीं और पन्द्रहवीं शताब्दी में नाटक गिरजाघर के भीतर से निकलकर बाहर आँगन में आ गया या चौहट्ट में पहुँच गया, तब दृश्य-सज्जा अधिक विस्तृत होने लगी। अधिकांश दृश्यों में भवनों का चित्रण होता था, जिनमें स्वर्ग, यरूसलम, लिम्बो और नरक दिखाये जाते थे। फल यह हुआ कि अलग-अलग मंडलियाँ ऐसी यथार्थवादी सामग्री या ऐसे चित्रित परदों का प्रयोग करने में प्रतिद्वन्द्विता करने लगीं जिनमें दृष्टिक्रम का कोई ध्यान नहीं रखा जाता था। यंत्र-प्रयोग इतने जटिल हो चले थे कि चित्रित सामग्री या यथार्थवादी सामग्री के बदले उड़ने की प्रक्रिया, फुहारे और जलती हुई नरक की बटलोइयाँ आदि उपस्थित की जाने लगीं। इंग्लैण्ड में इस प्रकार के एक-एक निर्मित भवन पहियों पर लगा-लगाकर एक स्थान से दूसरे स्थान पर इस प्रकार ले जाये जाने लगे जैसे सजे हुए बजड़े एक के पश्चात् एक चले आ रहे हों और एक साथ कई दृश्यपीठ लगाने की योजना बन्द हो गयी।

पुनरुत्थान (रिनैसाँ काल, १४ से १६ वीं शताब्दी) की रंग सज्जा तीन उद्गमों से प्राप्त हुई— १—रोम के नाटकों (विशेषतः सेनेका, प्लाउतस और तेरेन्स के नाटकों) की पुनः खोज से, जो उन मध्यकालीन भवनों के सम्मुख खेले जाने लगे जहाँ बीच-बीच में परदे खड़े करके खम्भे डाल दिये जाते थे, जो या तो सब एक पंक्ति में ही होते थे या अधगोले, अठपहलू या चार पहलू में होते थे और इस प्रकार विभिन्न स्थानों का प्रदर्शन हो जाता था। २—१६वीं शताब्दी के प्रथम दशक में वित्रूवियस द्वारा दिये हुए प्राचीन रंगमंचों के विवरण से, जिसके बहुत से संस्करण हुए, उसके जो रूप बनाये गये वे यद्यपि पुरातत्व की दृष्टि से तो ठीक नहीं थे किन्तु उससे रंगमंच पर दृष्टि क्रम (पर्स्पेक्टिव) की स्थापना अवश्य हुई। ३—त्रियान्फी या मास्क या एन्त्री या बाले (संगीत नाट्य) पन्द्रहवीं शताब्दी में चले, ये वास्तव में यात्रा-उत्सव थे जिनमें अध्यवसानात्मक रूपक सजावट के अनुसार अलग-अलग चलदृश्य होते थे (जैसे काशी में नक्कटैया के समय बहुत से विमानों पर अनेक लागें निकाली जाती हैं।) चित्रित सामग्री के बीच में वे सुसज्जित अभिनय जटिल यंत्रों पर चलते थे और मध्यकालीन रहस्यात्मक रंगमंच के यांत्रिक तत्वों का प्रयोग करते थे, जिनमें कृत्रिम जानवरों या अन्य कई विधियों का प्रयोग होता था। सेबेस्तियानो सर्लियो ने जो रंगमंच बनाया

उसमें इन तीनों का सम्मिश्रण था। उसने कहा है कि वित्रूवियस ने त्रासद (ट्रेजेडी), प्रहसन (कॉमेडी) और ग्राम्य-नाट्य (सतूरा) के लिए तीन विभिन्न प्रकार की दृश्य-सज्जाओं का विधान किया है। उसने पीछे के परदों या पृष्ठ दृश्य को दृष्टिक्रम से चित्रित परदे के रूप में रखा है। उसके दायें और बायें अलग अलग दो उसी प्रकार चित्रित टुकड़े रहते हैं और इन सबको मिलाकर ही पूरा दृग्यस्थल बनता है।

रंग-सज्जा का आरम्भ

आन्द्रिया पलादियो और विनसेन्ज़ो स्कामोज़ी ने विसेन्ज़ा में जो थियेत्रो ओलिम्पिको स्थापित किया, उसी में सर्वप्रथम चल दृश्यपीठों का प्रयोग हुआ। सर्लियो के सुझाव के आधार पर चपटे, दृष्टिक्रमानुसार चित्रित दृश्यों के बदले त्रि-आकारी दृग्यपीठों का प्रचलन हुआ। किन्तु तीन विजय द्वारों में से दृष्टिगोचर होने के कारण वे पृष्ठ दृश्य ही बने रह गये। उसी समय पेरियाक्तोई (तेलारी) (त्रिपृष्ठ चक्र) के पुनः प्रचारित होने से परिवर्तनीय दृश्यपीठों का प्रयोग भी होने लगा। इसका पूर्ण रूप गिओवानी के रंगपीठ पर मिलता है, जहाँ पुराने तीन या पाँच द्वारों के बदले एक विशाल रंगद्वार बना हुआ है। इसके पीछे के रंगमंच पर दृष्टिक्रमागत दृश्यपीठों के बदले केवल एक पीछे का परदा और दोनों ओर परिवर्तनीय चित्रित पखवाइयों की श्रेणी है, इस प्रकार रंगमंच के पीछे की ओर अभिनय करना सम्भव हो गया और तभी से वर्तमान रंग-सज्जा का प्रारम्भ हुआ।

सत्रहवीं और अठारहवीं शताब्दी में रंग-सज्जा स्वयं अपने लिए एक कला के रूप में विकसित हुई। अनेक ग्रन्थों में इसके लिए असंख्य प्रकार के चित्र-रूपों का प्रकाशन किया गया। अलफोन्ज़ो पारिगी, गुइलियो पारिगी और जैक कैलेट ने अनेक प्रकार के इंटरमेज़ो (लघु नाटकीय या सांगीतिक प्रदर्शन), एन्ट्री या ओंक्त्रा (मंगलाचरण या प्रस्तावना संगीत) या ओंत्राक्त (दो दृश्यों के बीच वाद्य-वादन), बाले या बल्ला (मूक नृत्य नाट्य) और पेजेन्ट (चल दृश्य) आदि अनेक नाट्य-रूपों के लिए दृश्य-विधान किया। इसकी सबसे अधिक आवश्यकता हुई नृत्य-नाट्य में। विनोद के इन सब नाट्य-रूपों में अनेक प्रकार के यांत्रिक प्रयोग (उड़ने वाले यंत्र, अग्नि-प्रयोग, बन्द द्वार आदि) हुए। दृश्यों के ये सब चित्रकार एक दूसरे से स्पर्धा करके एक से एक नये ढंग के विचित्र और अद्भुत दृश्य-सज्जा के प्रयोग करने लगे, यहाँ तक कि जब नाटक के अन्त में प्रकाशित आकाश पर यंत्र से देवता प्रकट होते थे, तो इससे केवल नाटक का सुखान्त ही नहीं होता था, वरन् एक अद्भुत-दृश्यात्मक चमत्कार भी होता था।

अलेवत्ती के शिष्य गिया कोमोतोरेली (१६०९ से ७८) ने इतालवी रंगमंच की सब विशेषताएँ और समुन्नत प्रयोग फ्रान्स में (१६५० से ६०) ले जा पहुँचाये। गियो-वानी और उसके पुत्र मूदोविचो ओत्ताबियो बुर्नाचिनी (१६३६ से १७०७) ने वियेना के आस्ट्रियायी सम्राट् के लिए रंगमंच सम्बन्धी बहुत प्रयोग किये। उनके प्रयोग, कौशल और आवश्यक यंत्र सबके सब मुख्यत: निकोलो सब्बातिनी (१५७४ से १६५४) के अनुभवों और सिद्धान्तों पर अवलम्बित थे। उनके दृश्य समानुपाती शैली से बने हुए थे और वे पानी तथा आग के खेल और मध्य में उड़ने वाले यंत्रों का अधिक प्रयोग करते थे। उस समय अत्यन्त भव्य दृश्य-भित्ति बनाने का बड़ा प्रचलन था, और जंगल, वृक्ष, झाड़ियाँ, मरुभूमि, समुद्र, गाँव या कारागार सबके सब समानुपाती योजना के अनुसार बनाये जाते थे। परिणामत: १७वीं शताब्दी और प्रारम्भिक १८वीं शताब्दी के रंगमंच में तत्कालीन बारोक (अत्यलंकृत) निर्माण-शैली की अपेक्षा रूपात्मक संयम अधिक था। १७वीं शताब्दी के चौथे दशक में अंग्रेज़ी रंगमंच पर परिवर्तनशील दृश्य उपस्थित होने लगे, जिनकी प्रेरणा सर्लियो और पलादियो से मिली थी। इससे पहले मास्क (मुखौटा नाटक) में इसका प्रयोग हो चुका था, जिसके लिए इनिगो जोन्स (१५७३ से १६५२) ने अपने इटली-भ्रमण से प्रेरणा पायी थी। वह त्रिपृष्ठ चक्रों (पेरियाक्तोई) का अधिक प्रयोग करता था, जो आगे चलकर त्रिपक्षीय के बदले द्विपक्षीय हो गये। इसके पश्चात् तियोत्रो फार्नीज और सबातिनी के सिद्धान्तों के प्रभाव में आकर उसमें परिवर्तनीय चौकोट फट्टे (फ्लैट) बनने लगे और पीछे परदे लगाये जाने लगे। रेस्टोरेशन (सन् १६६०) के पश्चात् क्रिस्टोफ़र (१६३२ से १७२३) और उसके सहायक जीन वेव ने इतालवी परम्परा ग्रहण कर ली और नाट्यशाला के रूप-निर्माण में भी सुधार किया। जर्मनी और आस्ट्रिया में इतालवी चित्रकारों ने इटली की अपेक्षा अधिक भव्यता के साथ कार्य किया, क्योंकि वहाँ के सम्राट् और उस समय के कुछ शासक इस काम में बहुत धन लगा रहे थे। सम्राट् के नृत्य-नाट्य और इंटरमीडी या इंटरमीज़ो (लघु नाट्य) के लिए दृश्य-पीठ भी जीसुइतों के धार्मिक नाटकों के दृश्यपीठों के समान थे, जो लोकरंजन और प्रचार की दृष्टि से अत्यन्त प्रचलित थे।

वास्तु-कला की समानुपातिता से हटकर और दृष्टिक्रम के अनुसार स्वाभाविक दृश्य दिखलाने का श्रेय आन्द्रिया पोज़ो (१६४२ से १७०९) को है, जिसने अपने तियेत्रा साक्रा (धार्मिक उत्सवों के अवसर पर गिरजाघरों को सजाने के लिए बड़े चित्र) और अपनी रंग-सज्जाओं में दृश्यक्रम भावना के अनुसार दृश्यपीठ बनाये, जिसमें स्वाभा-विकता लाने के लिए अत्यलंकरण (बारोक) शैली के सम्पूर्ण छलन-प्रयोग का सौन्दर्य

भर दिया था। इस प्रक्रिया में अन्तिम कार्य किया फ़रदिनेन्दो गाली दिविएना (१६५७ से १७४३) ने, जिसने रंगमंच के लिए कोणात्मक दृष्टिक्रम का आविष्कार किया। तब से दर्शक केवल चतुर्थ भित्तिहीन प्रकोष्ठ के समान रंगमंच पर देखने के बदले स्वयं उस प्रकोष्ठ के अन्तर्गत हो जाता था जो रंगमंच पर दिखाया जा रहा है अर्थात् प्रेक्षागृह और रंगमंच के बीच की सीमा-रेखा इस प्रकार दूर हो जाती है। दिविएना के ये सिद्धान्त उसके परिवार वाले चलाते रहे, जो यूरोप के सब नृत्य-भवनों में प्रयुक्त होते रहे। इनमें से सबसे महत्त्वपूर्ण सदस्य गिउसेप्पे था, जिसने रंग-सज्जा की भव्यता अपने पिता से भी अधिक बढ़ा दी।
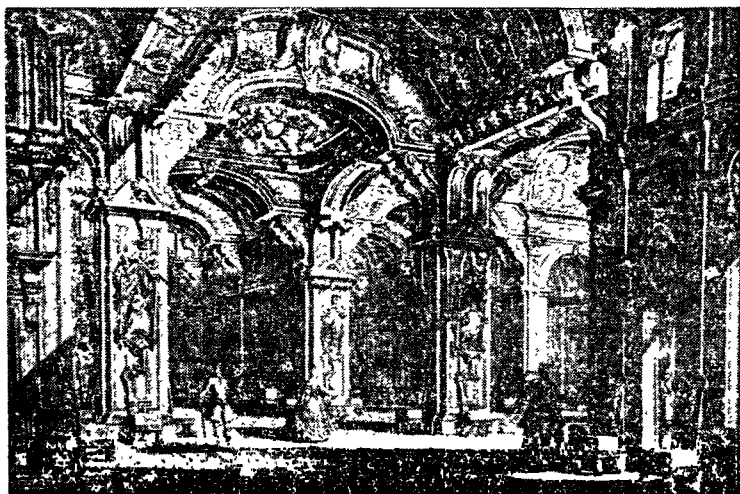
चित्र ६०—गिउसेप्पे गाली दि विएना औपेरा के लिए दृश्य-सज्जा

इस नयी भ्रामक अतिरंजित भव्यता वाली कोण-प्रणाली के विरुद्ध अठारहवीं शताब्दी के मध्य में विशेषतः फ्रान्स में प्रतिक्रिया प्रारम्भ हुई। वास्तु कला में उस समय जो उदात्तवादी प्रवृत्ति धीरे-धीरे विकसित हो रही थी, उसने इसमें सहायता दी। कुछ लोगों ने यह भी कहना प्रारम्भ किया कि प्राचीन काल के ही प्रभाव प्रदर्शित किये जायँ। इस प्रकार उन्होंने दिवियेना के भव्य चित्रण को शिथिल कर दिया। फ्रांस में कुछ रंग-चित्रकारों ने इन भावनात्मक दृश्यपीठों पर मानवीय मूर्तियाँ बनानी प्रारम्भ कीं। गेटे ने सौन्दर्य की दृष्टि से इस प्रकार के समन्वय का बड़ा समर्थन किया। सर्वान्दोनी

ने मूक दृश्यों का कुछ ऐसा नया विधान किया कि कई घंटों तक दृश्यों का ऐसा क्रम दिखाया जाता था जिसमें एक पूरी कथा बन जाती थी। इसके साथ संगीत भी चलता रहता था। इसी से वास्तव में क्रमिक चित्रावली (पैनोरामा) और अँधेरे भवन में बने हुए द्वारछिद्र से चित्र-प्रदर्शन (दायोरामा) का श्रीगणेश हुआ।

धीरे-धीरे इन दृश्य-पीठों में पुरातन भावनाओं का प्रवेश भी होने लगा और कुछ लोगों ने उदात्तवादी भावनाओं को स्पष्ट करने के लिए इसमें बड़ी-बड़ी कल्पनाएँ लगायीं। इसमें कुछ इस प्रकार का दृश्य उपस्थित किया जाने लगा कि दर्शक उस स्थल को देखने पर उससे कुछ विशेष प्रकार की दैवी प्रेरणा प्राप्त करता था, स्वयं उसका प्रत्यक्ष दर्शन नहीं करता था। ग्रैव्राइल पियरे भी सर्वान्दोनी के समान इतालवी और फ्रान्सीसी उदात्तवाद का समन्वय करने के पक्ष में था। कुछ और भी लोग इसी प्रकार जटिल कारागार के दृश्य, रहस्यात्मक सीढ़ियों और कुछ स्वैरवादी (रोमांटिक) खँडहर दिखाने लगे। इनके अतिरिक्त जर्मनी के नवोदात्तवादियों ने रंग-सज्जा के प्रचुर मात्रा में सुधार किये जिनमें से कुछ ने तो स्वाभाविक उपवन और गॉथिक भवनों के चित्र तक भी उपस्थित कर दिये।

अठारहवीं शताब्दी के अन्त में भीतरी दृश्य समाप्त करके एक-एक पखवाई लगाकर दृश्य दिखाना स्वाभाविकता और यथार्थवाद के प्रतिकूल जान पड़ने लगा और यह समझा जाने लगा कि रंगमंच के लिए तीन ठोस भित्तियों की परम आवश्यकता है। अतः सन् १७७० ई० के लगभग अंग्रेजी रंगशालाओं में डब्बाकार रंगमंच (बॉक्स स्टेज) दिखाई देने लगा। कुछ जर्मन सिद्धान्तवादी भी इसी के पक्ष में थे, यद्यपि गेटे इसका विरोधी था और कहता था कि यह भी दिदरो के प्रकृतिवाद का एक और परिणाम है।

स्वैरवादियों (रोमांटिस्ट्स) और उनके पश्चात् उन्नीसवीं शताब्दी के यथार्थवाद (रीअलिज़्म) ने सत्रहवीं और अठारहवीं शताब्दी की दृश्यात्मक रुचि को शिथिल कर दिया। रंगमंच में यंत्र और प्रकाश की समुन्नति होने पर भी रंग-परीवाप और पखवाइयों के शिथिल समन्वय ने (जो किसी समय पुरातनवाद की दृष्टि से सत्य था और कभी-कभी वह भी नहीं था) नाटकीय व्यापार का स्थल स्पष्ट कर दिया।

रंग-रूपण (स्टेज डिज़ाइन)

सन् १९०० तक यूरोपीय रंगशालाओं में जो चित्रित दृश्य प्रस्तुत किये जाते थे उनमें रूप, रंग, गठन या प्रकार किसी का भी ध्यान नहीं रखा जाता था। सन् १८५० से सन् १९०० तक किसी भी प्रकार की नीरस और भद्दे ढंग से चित्रित दृश्य-सज्जा

ही रंगमंच पर दिखायी जाती रही, जिसका प्रयोग हमारे यहाँ आज तक भी होता जा रहा है। ये दृश्य उस समय और भी भद्दे लगते थे, जब अभिनेता तो वास्तविक जीवन से सम्बन्ध रखने वाले नाटकों में अधिक से अधिक वास्तविक जीवन का अभिनय करने का प्रयत्न करते थे और उनके पीछे का दृश्य अत्यन्त कृत्रिम, मद्दा, बेढंगा और असंगत होता था। चित्रित दृश्य-सज्जा सदा कृत्रिम नहीं होती, क्योंकि इधर इनिगो जोन्स, बैराएँ और वियेना वालों ने जो दृश्य चित्रित किये हैं, वे सुन्दर भी हैं, कलात्मक भी हैं। पर अन्तर यह है कि उन्नीसवीं शताब्दी की दृश्य-सज्जा जितनी ही अभव्य और असुन्दर थी, उतनी ही इनकी दृश्य-सज्जाएँ भव्य और सुन्दर हैं। आज के नाटककार (इब्सन, शॉ, हाउप्टमान, स्ट्रिंडवर्ग, सिंजे और ओ'नील आदि) भी रंगशाला को शुद्ध मनो-विनोद का स्थान नहीं मानते। वे उसे जीवन का चित्रण और जीवन की अभिव्यक्ति मानते हैं, जहाँ पहुँचकर हमारा मनोविनोद भले ही होता हो, किन्तु साथ-साथ हम मानव-चरित्र के अन्तस्तल में भी प्रवेश करते हैं और मनुष्य के भाग्य की नवीन भावना का परिचय प्राप्त करते हैं।

वर्तमान दृश्य-सज्जात्मक आन्दोलन

अभिनय और दृश्य की पारस्परिक असंगति से ऊबकर यूरोप के प्रत्येक देश के नाट्य-प्रयोक्ताओं ने जर्मनी से प्रारम्भ करके संयुक्त राज्य अमेरिका तक ऐसे चित्र-कारों तथा रूपकारों (डिज़ाइनर) का संग्रह करना प्रारम्भ किया, जो रंगमंच के संसार को नाटक का संसार बना दें अर्थात् जैसा नाटक हो, उसकी प्रकृति के अनुसार दृश्य-सज्जा बना दें। यही वर्तमान दृश्य-आन्दोलन का मूल है। गौर्डन क्रेग ने यह भविष्य-कामना की थी कि रंगमंच की दृश्य-सज्जा में ऐसा परिवर्तन हो कि उसके द्वारा नाटक की ठीक व्याख्या हो सके। आज वर्तमान चित्रकला की प्रत्येक रीति और पद्धति किसी न किसी प्रक्रिया के द्वारा रंगशाला में पहुँचा दी गयी है। पलस्तर के बने हुए पृष्ठ आकाशमण्डल (स्काई डोम) पर प्रकाशमान बत्तियों के सहयोग से स्वर्ग का दृश्य दिखाई देने लगता है और रंगमंच को दिन के व्यापक प्रकाश से भर देता है। स्थलप्रकाश (स्पॉट लाइट) इस प्रकार प्रयुक्त किया जाता है कि पात्रों के मुख पर चित्र जैसे छाया-प्रकाश का प्रभाव लक्षित हो। मौने और सेवरा के ढंग पर रंगों से मिले हुए प्रकाश के द्वारा रंगों में कम्पन उत्पन्न करके अब प्रभाववादी (इम्प्रेशनिस्टिक) वातावरण भी उत्पन्न कर दिया जाता है अथवा महीन रेशमी कपड़े या तार की जाली से छना हुआ प्रकाश देकर व्हिसलर के रात्रि के दृश्य का प्रभाव उत्पन्न किया जा सकता है। इस प्रकार प्रभाववाद (इम्प्रेशनिज़्म), पर-प्रभाववाद (पोस्ट इम्प्रेशनिज़्म),

बहुपक्षवाद (क्यूबिज़्म) या भविष्यवाद (फ्यूचरिज़्म) आदि वर्तमान चित्रकला के सभी कौशलों का प्रयोग रंगमंच की दृश्य-सज्जा में खुलकर किया जा रहा है। रंगशाला

चित्र ६१—नार्थ आम्सफोर्ड दृश्य के लिए पूरी दृश्य-सज्जा

के अग्रमुख के चौखटे के भीतर जो चित्र प्रस्तुत किये जाते हैं, उनमें यह प्रयत्न होता जा

रहा है कि वे दर्शकों को दृश्य की सत्यता का आभास दें और नाटककार के विचारों की सटीक व्याख्या करें।

अब सभी समझने लगे हैं कि रंगशाला का पुनर्निर्माण होने वाला है और रूपकार को निम्नांकित पद्धतियों में से अपना ठीक मार्ग निश्चय कर लेना चाहिए—केवल परदे वाला रंगमंच हो, बिना परदों वाला रंगमंच हो; केवल परदों पर बनी हुई चित्रकारी के साथ दृश्य-सज्जा हो; वृत्त-रंगशाला (सर्कस थिएटर) हो जहाँ अभिनेता दर्शकों के
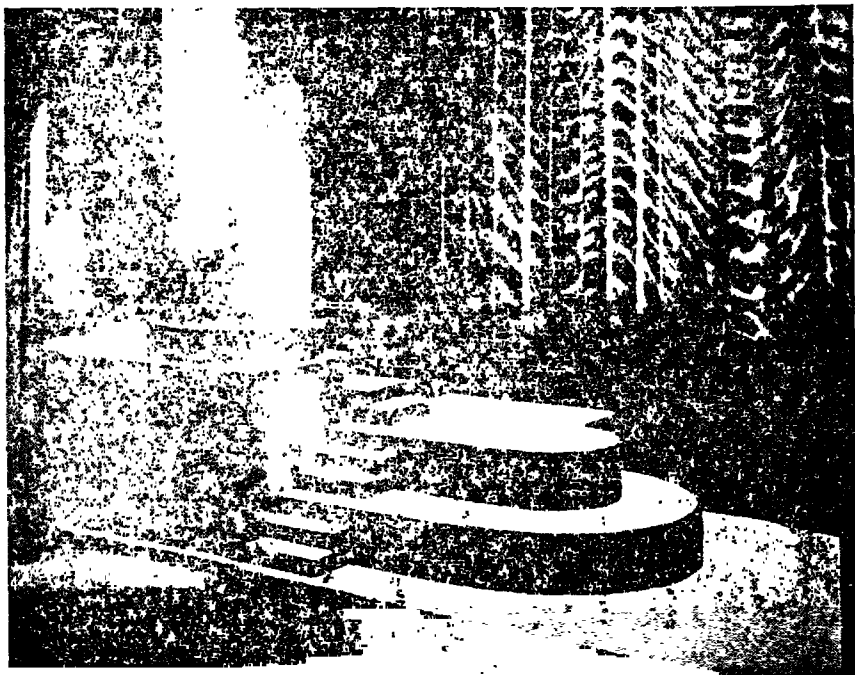
चित्र ६२—ऐडा नाटक के लिए फोनट्राफ द्वारा दृश्यपीठ

साथ मिल जाता है; ऐसी दृश्य-सज्जा हो जिसमें केवल प्रकाश ही हो; ऐसी दृश्य-सज्जा हो, जो केवल प्रतीकात्मक रंग से ही व्यक्त हो; या ऐसी दृश्य-सज्जा हो जिसमें केवल लकड़ी के ढाँचे ही ढाँचे आदि हों। प्रश्न यह है कि किसी विशेष प्रकार की जनता के सम्मुख कोई नाटक किस प्रकार प्रस्तुत किया जाय अर्थात् नाट्य-प्रयोक्ता किसी नाटक के अर्थ को जनता के सम्मुख किस प्रकार प्रस्तुत करे? इस पद्धति का निर्णय

केवल रंगमंच के भावात्मक सौन्दर्य से नहीं, वरन् उस नाटक की विशेष परिस्थिति की आवश्यकताओं से ही होगा। तात्पर्य यह है कि जो नाटक प्रस्तुत किया जाय, उसके कथा-निर्वाह और उसकी नाटकीयता सत्य, वास्तविक और नाटक में वर्णित युग के देश और काल की सटीकता के ऐसी अनुरूप हो कि वह ऐतिहासिक और भौगोलिक दृष्टि से पूर्णतः विश्वस्त और सत्य यथार्थ हो।

भावात्मकता की प्रणाली

जिन नाटकों में रंगशाला के चित्रमय दृश्य का अभाव रखा जाता है, उनमें भी दृष्टि और प्रक्रिया वही रहती है, जो दृश्यमय रंग-सज्जा में। अतः दृश्य-सज्जा का रूपमान (डिज़ाइन) बनाना केवल चित्र बनाने की समस्या मात्र नहीं, वरन् किसी नाटक के भाव को ठीक प्रकार से प्रस्तुत करने का आवश्यक अंग है, चाहे रूपकार भावात्मवाद (एब्स्ट्रेक्शन) ग्रहण करे या तथ्यवाद (रीअलिज़्म)। रूपमान (ड़िजाइन) की पद्धति दृश्य-सज्जा की दृष्टि से तभी अच्छी समझी जा सकती है, जब वह दर्शकों की कल्पना को स्पर्श करके उन्हें नाटक के तथ्य और उसकी वास्तविकता का विश्वास दिलाये। किसी नाटक की दृश्य-सज्जा प्रस्तुत करना उसकी अभिनय-प्रक्रिया का वह आवश्यक अंग है, जो उसे नाटकीय शक्ति प्रदान करता है। चित्र की दृष्टि से अत्यन्त सुन्दर होने पर भी कोई पद्धति तब तक ठीक नहीं है, जब तक वह दर्शकों को नाटकीय तथ्य का विश्वास न दिला दे। जिस प्रकार नाटकों के अनेक प्रकार होते हैं, उसी प्रकार दर्शकों के भी अनेक प्रकार होते हैं। उनमें से सबके लिए किसी नाटक का एक अर्थ नहीं होता। अनेक मनुष्यों के लिए उसके अनेक अर्थ हो सकते हैं। अतः नाट्य-प्रयोक्ता की कल्पना के द्वारा यह निश्चय हो जाना चाहिए कि नाटक का क्या विशेष अर्थ है और फिर दृश्य-संयोजक को अपनी दृश्य-सज्जा से उसी का समर्थन करना चाहिए।

किसी नाटक को प्रस्तुत करने का कोई ढंग ही नहीं है, यहाँ तक कि उदात्तवादी श्रेष्ठतम नाटकों के लिए भी किसी विशेष पद्धति का निर्देश नहीं किया जा सकता। भास, कालिदास, एउरिपिदेस या शेक्सपियर सबको सदा नये ढंग से प्रस्तुत करते रहना चाहिए, जिससे वे और उनकी वाणी सदा जीवित रहे और संगत प्रतीत हो।

किसी भी युग के पात्रों को ग्रहण करते समय उनकी वेश-भूषा और मुख-सज्जा युग के अनुरूप होनी चाहिए, तभी वह प्रभावशाली हो सकती है। एक प्रकार के दर्शकों के लिए शेक्सपियर के नाटकों में एलिज़ाबेथीय रंगमंच की पद्धति के अनुसार पीछे एक दफ़्ती पर दृश्य का नाम भर लिख देना ही पर्याप्त होता है। जो शेक्सपियर के शब्द-सौन्दर्य से प्रभावित होने वाले लोग हैं, उनके लिए केवल एक सीधा-सादा परदा ही पर्याप्त

है। किन्तु जिन जर्मन दर्शकों को कालिदास या शेक्सपियर का नाटक अनुवाद के रूप में मिलता है, उन्हें मूल काव्य का रस दिलाने के लिए रंगमंच पर अधिक चित्रात्मक दृश्य-

चित्र ६३—ली सीमन्सन द्वारा दृश्य-रचना—रेल की पुलिया

सज्जा आवश्यक है। जर्मनी और अमेरिका के जिन दर्शकों के लिए कालिदास या शेक्स-पियर के कथानायक केवल काल्पनिक व्यक्ति हैं, उन्हें वे पात्र उस समय और भी अवास्तविक प्रतीत होने लगते हैं जब वे रँगी हुई जालियों या फीतों के जंगल (जैसे रीनहार्ट और बार्कर ने 'ए मिड समर नाइट्स ड्रीम' के लिए प्रयोग किया था) या रक्त के समान लाल रंग वाली सीढ़ी (जैसनर द्वारा रिचर्ड तृतीय का प्रयोग) या सुनहले परदों (स्तानिसलवस्की के साथ क्रेग द्वारा मास्को आर्ट थिएटर में हैमलेट का प्रयोग) की अवास्तविक पृष्ठ-सज्जा में प्रस्तुत किये जाते हैं। तात्पर्य यह है कि दृश्य-विधान की कला ऐसी सजीव है कि उसके लिए कोई निश्चित विधान निर्धारित नहीं किया जा सकता और वह कला तब तक सजीव रहेगी, जब तक वह प्रत्येक युग के, प्रत्येक नाटक में नये-नये अर्थों की खोज करती रहेगी। दृश्य-सज्जा (सीनरी) तो किसी भी नाटक की पृष्ठ-भूमि होती है जो तल-दीपों (फुट लाइट्स) के पार बैठे हुए दर्शकों को

नाटक का अर्थ प्रसारित करने के अनवरत प्रयास में सक्रिय योग देती रहती है और यह प्रयास प्रत्येक युग और प्रत्येक देश में उसकी कल्पना, भावना और साधन-सामग्री के अनुसार भिन्न रहेगा ही।

चित्र ६४—'दी टाइडिंग ब्राट टु मेरी' के लिए दृश्य-सज्जा

दृश्य-सज्जा का ढाँचा

वर्तमान दृश्य-सज्जा का विधान दो प्रकार से होता है—एक तो प्रचलित रंगशाला की दृष्टि से जो १८वीं शताब्दी की रंगशाला की तुलना में अत्यन्त छिछले डब्बे के समान बन गयी है। दूसरी बात यह है कि वह काला डब्बा पूर्णत: बिजली के प्रकाश से भरा जा सकता और नियन्त्रित किया जा सकता है। १७वीं और १८वीं शताब्दी की रंगशालाओं ने उनके भवन-निर्माण का वह स्वरूप स्थिर कर दिया था, जो सजावट, छज्जों के प्रसार, लम्बाई और क्रम के साधारण परिवर्तनों के साथ आज भी विद्यमान है। किन्तु आज बड़ा भारी अन्तर हो चला है रंगमंच और प्रेक्षागृह के स्थान के अनुपात में। १८वीं शताब्दी के रंगमंच में प्रेक्षागृह की अपेक्षा डेढ़ गुना अधिक

स्थान होता था और वह रंगमंच कभी ७५ फुट से कम लम्बा नहीं होता था। वर्तमान रंगमंच (औपेरा हाउस और यूरोप की राजकीय रंगशालाओं को छोड़कर) प्रेक्षागृह से एक तिहाई के लगभग (पचास से तीस फुट तक) लम्बे होते हैं।
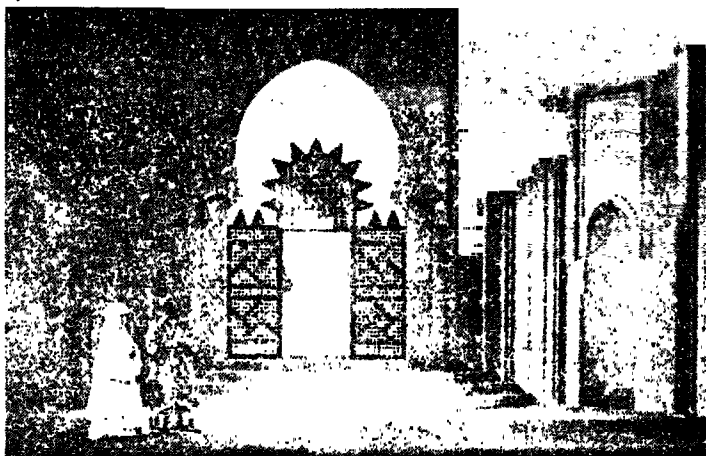
चित्र ६५—मोरक्को का दृश्य—ली सीमन्सन द्वारा

अठारहवीं शताब्दी के रंगमंच वाले चित्रदृश्य को दृष्टिक्रम (पर्स्पेक्टिव) में सम्बन्धित करने का विशेष ध्यान रखते थे। उनके रंगमंच का तल ढालू होता था। पखवाइयाँ इस प्रकार पीछे तक बढ़ा-बढ़ाकर लगायी जाती थीं कि रंगमंच का पिछला भाग शुद्ध क्षितिज सीमा (वैनिशिंग प्वाइन्ट) तक पहुँच जाता था, जिससे वृक्षों या खम्भों की पंक्ति पूर्णतः स्वाभाविक प्रतीत होती थी। किन्तु वर्तमान रंगमंच पर इतना कम स्थान होता है कि दर्शकगण को सुदूरता की भ्रान्ति होना असम्भव है, क्योंकि किसी भी साधारण नाट्य-प्रयोग में उपवन की दीवार से दूर पर दिखाये जाने वाले पर्वतों के बीच आठ या दस फुट से अधिक अन्तर नहीं होता और खिड़की से आकाश-दृश्य के बीच का अन्तर कुल चार या पाँच फुट का ही होता है।

दृश्य-सज्जा हटाने के लिए पहले यह रीति थी कि पखवाइयाँ और चौड़े-चौड़े दृश्य खाँचीदार पटरियों पर जोड़े में लगे रहते थे, जो एक डंडे से बँधे हुए नीचे तलकक्ष में लगी हुई चर्खियों से सम्बद्ध रहते थे और जहाँ ये चर्खियाँ निश्चित समय तक चलीं कि पीछे के सपाट दृश्यपीठ खट से चढ़ जाते थे और आगे के दृश्य सामने से हट जाते थे। पूरा

का पूरा दृश्य बदल जाता था। रंगमंच की छत में शहतीर पर लगे हुए लोहे के ढाँचे (ग्रिड) में जड़ी हुई चर्खियों के द्वारा बादलों के दृश्य नीचे-ऊपर कर दिये जाते थे और
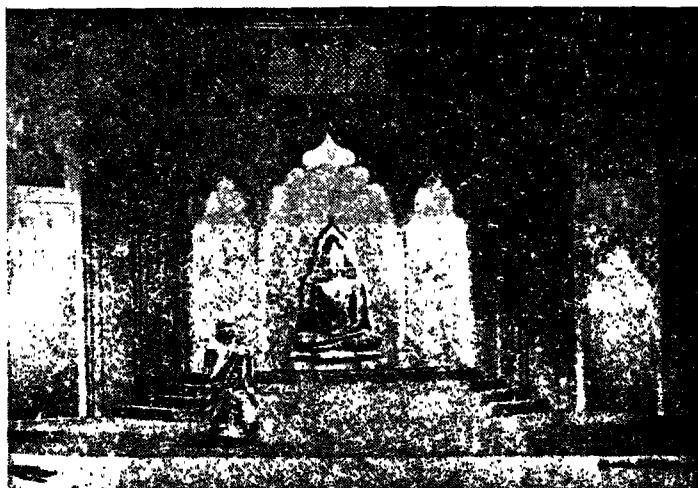
चित्र ६६—भारत का दृश्य—ली सीमन्सन द्वारा

देवी-देवताओं के विमान नीचे रंगमंच पर उतार दिये जाते थे, किन्तु आजकल रंगमंच पर स्थान कम होने के कारण और अग्रमंच का आगे बढ़ा हुआ भाग (एप्रन) कम होने के कारण आगे बैठे हुए दर्शक रंगमंच के ऊपर की छत और दोनों ओर की पखावाइयों के पीछे का सारा राम-रौला भली भाँति देख लेते हैं। इसी लिए वर्तमान रंगमंच पर इस प्रकार दृश्यपीठ लगा दिया जाता है कि वह भीतर के किसी कक्ष का दृश्य दिखाने के लिए तीन पक्ष वाले डब्बे के ऊपर छत लगी हुई पेटिका के समान पेटिका-मंच (बॉक्स स्टेज) बन जाता है। किन्तु बाह्य दृश्य दिखाने के लिए उसके पीछे कपड़े या पलस्तर का ढालू आकाश (स्काई डोम) बना दिया जाता है। अब १८वीं शताब्दी के रंगमंचों के समान झालरों से आकाश नहीं दिखाया जाता। आज के रंगमंच पर दृश्य-सज्जा की सामग्री एकत्र करने के लिए भी इतना कम स्थान होता है कि उसमें की अधिकांश सामग्री केवल प्रत्येक दृश्य-परिवर्तन के लिए खोल या तोड़कर ऊपर लटका देनी पड़ती है। ये दृश्यपीठ कभी-कभी २४-२४ और ३०-३० फुट लम्बे होते हैं, इसलिए इन्हें इतने ऊंचे टाँगना पड़ता है कि दर्शकों की आँख से ओझल रहें। इसलिए ऊपर जिस लोह के जाल (ग्रिड) से वह दृश्यपीठ लटके रहते हैं, वह रंगमंच के आवश्यक साधनों में बहुत

महत्त्वपूर्ण साधन माना जाता है। अतः अग्रमंच के चौखटे में दर्शक जो रंगद्वार देखते हैं, वह चौकोर ऊँचे कक्ष के नीचे बनी हुई चूहेदानी के द्वार के समान ही होता है। साधारणतः रंगमुख की ऊँचाई २४ से ३० फुट होती है और आगे की जवनिका बाह्य दृश्यों
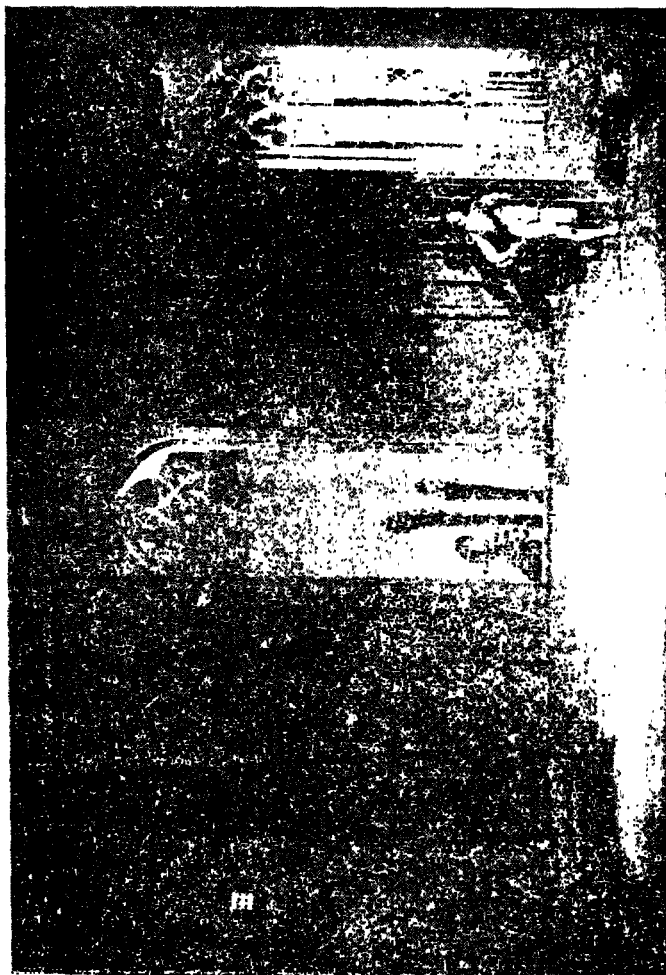
चित्र ६७—वेनिस का दृश्य, मार्कोमोलियस नाटक के लिए

के लिए २० फुट और भीतरी दृश्यों के लिए १२से १४ फुट तक ऊपर उठायी जाती है। शेष भाग झालरों से ढका रहता है। रंगमंच की छत में ऊपर लोहे की जाली के डंडे

(ग्रिड आयरन) ६५ फुट ऊँचे लगे होते हैं, जिन्हें दर्शकों की आँख से ओझल रखने के लिए ८० से ८५ फुट ऊँचे रखा जाता है। न्यूयार्क के सेंचुरी थियेटर में यह लोहे की जाली १०० फुट की ऊँचाई पर है।

जो भी हो, रंगमंच के पीछे और ऊपर का भाग दृश्य-सज्जा को ऊपर लटकाने और संग्रह करने का एक ही स्थान होता है। साधारणतः बड़े से बड़े दृश्य की सज्जा के लिए पूरे रंगमंच का लगभग एक सातवाँ भाग लगता है और यही अनुपात अमेरिका और यूरोप की बड़ी-बड़ी व्यावसायिक रंगशालाओं में भी रहता है।

रंगमंच पर दृश्यपीठ उठाने और चढ़ाने की यह प्रक्रिया वैसी ही है जैसे जहाज पर पाल या मस्तूल बाँधने की। सम्भवतः इसी लिए आज भी रंगमंच पर काम करने वाले श्रमिकों को खलासी (क्रयू) ही कहते हैं। जापान से चक्रिल रंगमंच (रिवॉल्विंग स्टेज) की जो शैली लाउटेन श्लेगर ने जर्मनी में चलायी, उसका इतना प्रचार हुआ कि ऊपर दृश्य-सज्जा बाँधने की लोहे की जाली (ग्रिड आयरन) का चलन ही बन्द हो गया। ड्रेसडन में लिनेबाख़ ने 'स्टेट थिएटर' में और हसायत ने ऑपेरा में ऐसे उत्थाप्य रंगमंच (एलिवेटर स्टेज) लगा दिये, जो जल-शक्ति (हाइड्रोलिक पावर) से संचालित होते थे। इन उठौवा मंचों के कारण भारी से भारी दृश्यपीठ भी नीचे तलघर में पहुँचाये जा सकते थे और आवश्यकता पड़ने पर अत्यन्त असाधारण वेग से उठाकर रंगमंच पर यथास्थान लगाये जा सकते थे। ये तलघर दो-दो तीन-तीन खण्ड गहरे होते हैं, इसलिए उनमें पूरे दो या तीन नाटकों के दृश्यपीठ पूर्ण रूप से तैयार करके चाहे जब तक रखे जा सकते हैं।

किन्तु इस प्रकार के यांत्रिक चमत्कारों का विकास इसलिए नहीं हो पाया कि युग की आर्थिक दशा इनके अत्यन्त प्रतिकूल है। भूमि इतनी मँहगी है कि उतना स्थान और उतनी खुदाई सम्भव नहीं है। सब वस्तुओं के मूल्य इतने बढ़ गये हैं कि इस प्रकार की व्यवस्था यदि एक स्थान पर हो गयी, तो दूसरे स्थान पर होनी असम्भव है। संयुक्त राज्य अमेरिका में १२ फुट चौड़ा और ३० फुट लम्बा उत्थाप्य मंच बनाने में लगभग २५ हज़ार डालर लगते हैं। अतः इस प्रकार के उत्थाप्य मंचों से सम्पन्न रंगमंच बैठाने में इतना अधिक व्यय होता है कि संसार की सबसे धनी नाट्यमंडली भी उसका व्यय-भार नहीं सँभाल सकती। परिणाम यह हुआ कि रंगशालाएँ बहुत छोटी और छिछली होती गयीं एवं लगभग सर्वत्र अमेरिका के ही निर्माण-नियमों का पालन होने लगा कि कोई भी भवन सौ वर्ग फुट (१००' × १००') से अधिक में न बनाया जाय।

इधर चौखटे वाले रंगमंच (पिक्चर फ़्रेम स्टेज) या झाँक-दृश्य रंगशाला (पीप-शो थिएटर) का इतना विरोध हुआ कि अब रंगमंच के लिए केवल एक ऐसा मंच मात्र

दिखाया जाता है, इसलिए इसमें यन्त्रों का प्रयोग अत्यन्त प्रचुरता से किया जाता है। स्वीडन में गेटेबोर्ग और माल्मे में भी ऐसी रंगशालाएँ बनायी गयी हैं।

संयुक्त राज्य अमेरिका की व्यावसायिक मंडलियाँ किसी एक स्थान पर जमकर रहने की अपेक्षा घूम-घूमकर द्रव्य अर्जित करती हैं। इसी लिए वहाँ यांत्रिक व्यवस्था का अधिक विकास नहीं हो पाया। इनमें ऊपर खींचे जाने वाले परदों की रस्सियाँ ऊपर दृश्य-अट्टालिका (फ़्लाई गैलरी) से सम्बद्ध थीं और एक बाँधने के डंडे (पिन-रेल) में लगे हुए काँटों (हुकों) से बाँध दी जाती थीं, जो जहाज के पिन-रेल के समान होती हैं। इसी लिए इनमें भारी और ठोस दृश्य-सज्जा नहीं बनायी जाती। छोटे-छोटे पाँच फुट नौ इंच से कम चौड़े टुकड़ों में दृश्यपीठ बना लिये जाते थे, जिन्हें खोलकर एक छः फुट ऊँची सामग्री-गाड़ी (बैगेज कार) के द्वार में सरका देते थे। अमेरिकी रंगशालाएँ आज भी भ्रमणशील ही हैं, जो न्यूयार्क में तैयार होती हैं और फिर देश भर में घूम-फिरकर न्यूयार्क पहुँच जाती हैं, जहाँ कुछ दिन चलाकर देख लिया जाता है कि सफलता मिलती है या नहीं। यदि सफलता मिली तो उन्हें पुनः घुमाने के लिए भेज दिया जाता है। इसी लिए इन रंगशालाओं की सामग्री किसी एक स्थायी रंगशाला के परिणाम के अनुसार न बनाकर ऐसी बनाते हैं जो विभिन्न आकार-प्रकार की रंगशालाओं में ठीक बैठायी
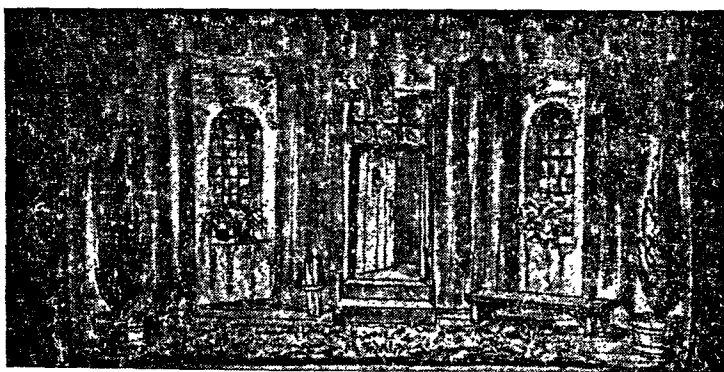
चित्र ६८—केवल परदों से बना हुआ दृश्यपीठ

जा सके। इसलिए अमेरिका के अनेक नगरों की अधिकांश रंगशालाएँ इन भ्रमणशील नाट्य-मंडलियों को किराये पर देने के लिए बनायी जाती हैं, जिनमें बिजली का प्रबन्ध भी पुराने ढंग का और बहुत कम होता है—थोड़ी सी ऊपर पट्टी में लगी हुई बत्तियाँ

(बॉर्डर्स) और नीचे तल-दीप (फुट लाइट्स)। शेष बत्तियाँ, तार, मंदक-फलक (डिमर बोर्ड या ह्लिऔसटैट) आदि सब सामग्री मंडलियों को अपने साथ लानी पड़ती है। हाँ, एक यांत्रिक सुधार अवश्य हुआ है कि दृश्य-अट्टालिका (फ़्लाई गैलरी) से पुरानी रस्सियों के नीरस खिचाव के बदले नीचे से ही संचालित की जा सकने वाली प्रतिबलित पटरियाँ (काउन्टरवेटेड लाइन्स) लगा दी गयी हैं।

पिछली शताब्दी में जितनी रंगशालाएँ बनायी गयीं, उनमें रंगमंच पर एक ही खटक-द्वार (ट्रैप) होता था, जिसे हैमलेट का कूट-द्वार (हैमलेट ट्रेज) कहते थे, जो इस प्रकार बना होता था कि औफिलया उसमें सरलता के साथ समाविस्थ की जा सके। जो नाट्य-मंडलियाँ चक्रिल या सरकन रंगमंच काम में लाती हैं वे अपना पूरा टंट-घंट अपने साथ लेकर चलती हैं और जहाँ नाटक करना होता है, वहाँ लगा लेती हैं। सन् १९२९ ई० के मुद्रा-अवमूल्यन (डिफ़्लेशन) के पश्चात् बहुत कम नाट्य-शालाएँ बनीं, जैसे न्यूयार्क का सेंचुरी प्ले हाउस, मर्टीन बैंक थिएटर और गिल्ड थिएटर। कुछ नृत्य-नाट्य-शालाएँ (ऑपेरा हाउस) शिकागो और सैन फ़्रांसिस्को में बनीं। साधारणतः संयुक्त राज्य अमेरिका की व्यावसायिक रंगशालाओं को अभी तक अच्छी अवस्था नहीं हो पायी और भ्रमणशील नाट्य-मंडलियों के लिए बनी हुई रंगशालाओं के अतिरिक्त शेष सबके रंगमंच बहुत छिछले और रंगमंच के अतिरिक्त स्थान (एक्स्ट्रा स्पेस) से रहित हैं, इसी लिए उनमें सुविधा के साथ सामग्री एकत्र करने और दृश्य-परिवर्तन करने की व्यवस्था करने के लिए स्थान का अभाव है।

किन्तु इधर जब से वहाँ के महाविद्यालयों और विश्वविद्यालयों में रंगशालाएँ बनने लगीं, तब से यान्त्रिक साधनों में विकास और सुधार होने लगा है, जैसे स्टेनफ़ोर्ड यूनिवर्सिटी का 'न्यू थिएटर' और मैडिसन में 'विस्कन्सिन यूनियन थिएटर'। इन्डियाना के ब्लूमिंगटन विश्वविद्यालयों में बने हुए प्रेक्षागृह और ऐम्हर्स्ट तथा डार्टमाउथ कालेज की नियोजित रंगशालाएँ इसके प्रमुख उदाहरण हैं। इन रंगशालाओं में रंगमंच ३५ से ४० फुट तक लम्बे हैं और भवन की चौड़ाई भीतर एक भीत से दूसरी भीत तक ७० से ८० फुट है। इनमें परदे बाँधने के लोहे के डंडे (ग्रिड आयरन) लगभग ७० फुट ऊँचाई पर लगाये गये हैं। इनमें पूरी प्रतिबलित प्रणाली (काउंटरवेट सिस्टम) भी है और रंगमंच का तल भी इतना लम्बा-चौड़ा है कि उसका एक तिहाई भाग ही अभिनय के काम में लाया जाता है। इनके साथ कारखाने भी लगे हुए हैं, जिनमें दृश्य बनाये और चित्रित किये जाते हैं। स्टेनफ़ोर्ड, विस्कन्सिन और ब्लूमिंगटन में दो-दो प्रेक्षागृह बने हुए हैं। एक तो बड़ा प्रेक्षागृह है, जिसमें तेरह सौ से तीन सहस्र तक दर्शक बैठ सकते हैं और जिसे परदे लगाकर थोड़े दर्शकों के लिए छोटा भी किया जा सकता है।

इसके अतिरिक्त एक छोटा प्रेक्षागृह भी होता है जो अधिक आत्मीय लोगों या प्रयोगात्मक नाटक खेलने के काम में आता है। ब्लूमिंगटन और विस्कन्सिन में बिजली से संचालित एक अग्रमंच (फोर स्टेज) होता है जो बटन दबाते ही प्रेक्षागृह के तल से नीचे चला जाता है और यदि उस पर कोई खेल दिखाना हो तो वह प्रेक्षागृह के तल से ऊँचा उठ जाता है (जैसे एलिज़ाबेथीय नाटकों में हुआ करता था) या प्रेक्षागृह के तल तक पहुँचाकर उसमें दर्शकों के लिए अधिक पीठासन लगा दिये जाते हैं।

इन रंगशालाओं के बनाने में ही पाँच लाख से साढे पाँच लाख डालर (२५ से साढे २५ लाख रुपये) तक या इससे भी अधिक द्रव्य लग जाता है, इसलिए रंगमंच पर बिजली से घूमने वाले चक्रिल रंगमंच या सरकन मंच (वैगन स्टेज) जैसे यान्त्रिक साधन एकत्र करना सम्भव नहीं हो पाता। महाविद्यालय में जो रंगशालाएँ बनी हैं उनके मंचों पर भी इतना स्थान नहीं होता कि इस प्रकार के सरकन मंचों को स्थान दे सकें। डार्टमाउथ थिएटर के मानचित्र में इस प्रकार के दो सुरक्षित सरकन मंचों के लिए स्थान बना है और विलियम एवं मेरी प्रतियोगिता के लिए पुरस्कार विजय करने वाले मान-चित्र में (देखो थिएटर आर्ट्स, जून १९३९) उनका प्रयोग भी समझाया गया है, किन्तु आज की रंगशालाओं में सबसे महत्त्व की बात विद्युत्-प्रकाश का प्रयोग है, जो स्वयं दृश्य-सज्जा बन गया है। अतः आज के प्रत्येक नाट्य-प्रयोक्ता को बिजली की इस व्यवस्था का विस्तृत विवरण जानना ही चाहिए।

आधुनिक रंग-सज्जा

आधुनिक रंग-सज्जा को न तो हम कोई एक नाम देकर व्यक्त कर सकते हैं, न उसके यंत्रविधान और रंगदीपन के कौशल के अनुसार उसकी व्याख्या ही कर सकते हैं। १९वीं शताब्दी में रंग-सज्जा अत्यन्त हेय और तुच्छ हो गयी थी। किन्तु द्वितीय जॉर्ज ने १८७४ के लगभग दृश्यपीठ को अधिकतम सत्य बनाने का संकल्प किया। सत्य का तात्पर्य यह था कि जो दृश्य दिखाया जाय, वह ऐतिहासिक दृष्टि से सटीक हो। इस प्रकार उसने रंगमंच पर ऐतिहासिकता के नाम सामग्री का अम्बार लगवा दिया। कलात्मक दृष्टि से यह प्रयोग अत्यन्त असफल हुआ, क्योंकि पखवाइयों और चित्रित परदों के सामने तीन आकार वाले परीवाप का संग्रह होने लगा, जिनके पीछे के परदे पुराने ही ढंग के थे। किन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं कि उसने रंगमंच को प्रकृतिवाद या स्वाभाविकतावाद की ओर प्रेरित किया।

अत्यन्त सूक्ष्म सटीकता से पूर्ण यथार्थवाद का प्रयोग मास्को आर्ट थिएटर में कौन्सेन्तिन स्तानिसलवस्की (१८६३ से १९३८) ने किया। उसने प्राचीन सपाट

दृश्यों में इन सपाटों (फ़्लैटों) के बदले दोनों ओर की ठोस दीवारों का प्रयोग किया। उसने एक चुने हुए यथार्थवादी दृश्य में इन वस्तुओं का प्रयोग प्रारम्भ करके दृश्य का एक भाव-रूप रचने का प्रयत्न किया। जर्मनी में मैक्स रीनहार्ट ने इस तीन परिणाम वाले प्रकृतिवाद में नये खोजे हुए चक्रिल रंगमंच (रिवॉल्विग स्टेज), पृष्ठभित्ति (साइ-क्लोरामा) और चलमंच (वैगन स्टेज) आदि यन्त्रों का प्रयोग किया, यद्यपि उसके रंगचित्रकारों ने उसके प्रकृतिवाद में कुछ विभिन्न और विरोधी प्रवृत्तियों तथा शैलियों का समन्वय भी किया था। रंगमंच पर काम करने वाले लोगों और जनता के रंगमंच की आवश्यकता के अनुसार उनका भेद समझते हुए रीनहार्ट ने ऐसी रंगशाला बनायी, जिसमें दर्शक भी अधिक से अधिक भाग ले सकें। रीनहार्ट में जो बात अत्यन्त अस्वाभाविक प्रतीत होती थी, वह वास्तव में एडोल्फ़ अप्पिया और एडवर्ड गौर्डन क्रेग की रचनाओं में भी मूलतः विद्यमान थी। एडोल्फ़ अप्पिया ने अपने स्वामी रिचर्ड वैगनर का अनुकरण करते हुए नाटकीय प्रदर्शन को ऐसा 'गैसाम्ट कुन्स्टवेर्क' (दृश्य, श्रव्य, संगीत और साहित्य के सम्मिलित प्रभावों का समन्वय) समझा था, जो लय द्वारा सम्बद्ध हो। उसने भी तीन परिमाण की परिपाटी का प्रयोग करके लयात्मक नियमों के अनुसार रंग और प्रकाश के मनोविज्ञान पर ध्यान दिया। अभिनेताओं की लम्बाई-चौड़ाई ही नाप की सीमा थी और स्थान का नियम संगीत के ताल-नियम के अनुसार चलता था। संगीत, अभिनेता की गति, दृश्य और विस्तृत रूप तथा सभी दृश्यों और विस्तृत रूपों के द्वारा संगीत की लय तथा नियम, प्रकाश के संयोग से जेक्स दाल्क्रजे के सिद्धान्त में अधिक स्पष्ट होते हैं। यद्यपि एडवर्ड गौर्डन क्रेग इतना क्रान्तिकारी नहीं था किन्तु उसने भी यह कहा कि सब बातों को सरल करके भावनात्मक रूप प्रस्तुत करना चाहिए और उन्हें घनरूपों (क्यूबिक फ़ॉर्म) में प्रस्तुत करना चाहिए, वर्गरूपों (स्क्वायर फ़ॉर्म) में नहीं। यान्त्रिक कठिनाइयों से अविचलित रहकर उसने वास्तविकता के अनुपातों को बदल दिया। नृत्य के द्वारा प्रभावित होकर उसने स्थान की भावना को प्रदीप्त करने के लिए सीढ़ियों और चौतरों का प्रयोग किया और इस प्रकार अभिनय-कार्य या नाट्य-व्यापार को रंगमंच के कई स्तरों पर उपस्थित किया। इसके पश्चात् उसने विशिष्ट भावनात्मक रूपों का परित्याग करके मुड़ने वाले परदों का प्रयोग किया, जो अनेक रूपों में बैठाये जा सकें। उसने दैवी गति (डिवाइन मूवमेन्ट) को ही नाटकीय कला का आधार बनाया और अभिनेता का पाठ्य कम करके यह कहा कि उसे पूर्ण कौशल का प्रयोग करना चाहिए, क्योंकि उसका आदर्श यह था कि अभिनेता को विशिष्ट कठपुतली (सुपर मारियोनेत्ति) की भाँति आचरण करना चाहिए। इस प्रकार की रंगशाला को आदर्श बनाने के लिए उसने एक दृश्य-रूप में लय का प्रयोग किया और

उसे सहसा रंग-सज्जा में प्रविष्ट कर दिया। उसके सिद्धान्त इतने प्रभावशाली सिद्ध हुए कि उनका व्यापक प्रचार हुआ। दूसरी ओर रूस में वसेवोलोद एमीलिविच मेयरहोल्ड नटविद्या (बायोमिकेनिक्स) के सिद्धान्त के अनुसार शारीरिक उछल-कूद (जिमनास्टिक) पर अधिक बल देकर अभिनेता के शरीर की आवश्यकता के अनुसार रंगमंच का निर्माण कर रहे थे। इसलिए उन्होंने पूरे रंगमंच को एक विशिष्ट प्रकार की बहुस्तर-पूर्ण रंगशाला के रूप में परिवर्तित कर दिया, जिसमें बहुत सी सीढ़ियाँ और बहुत से स्तर थे। जनता की भावना को प्रभावित करने के लिए रूसी रंगशाला की व्यवस्था ने उसकी रंग-सज्जा स्थिर करने में अधिक सहायता दी। लियोपोल्ड जेस्नर ने जर्मनी में इस प्रयोग को ग्रहण किया और फिर अमेरिका में भी इसका व्यापक प्रयोग हुआ।

एलेक्ज़ेन्डर तैरोव ने अपने स्वतंत्र रंगमंच में एक नयी रचना-विधा का प्रवर्तन किया, जिसमें उसने ढाँचे (स्कैफोल्ड) और कुछ यान्त्रिक रचनाएँ बढ़ा दीं (कामर्नी थिएटर, मास्को १९१४)। उसके इस नव यथार्थवाद ने वास्तविक स्थान का प्रदर्शन करने के बदले सब निर्माण-तत्त्वों (कन्स्ट्रक्टिव एलिमेन्ट्स) पर अधिक बल दिया और सब प्रकार की रंग-भ्रान्ति (कलर इल्यूज़न) या दृश्य-भ्रान्ति (सीन इल्यूज़न) समाप्त करके सब कुछ प्रत्यक्ष कर दिया और कहा कि प्रयुक्त होने वाले यंत्र भी दर्शकों को ज्यों के त्यों दिखाये जायँ। इस नव यथार्थवादिता से अभिनेता भी एक यंत्र बन गया, फिर भी तैरोव के मुख्य रूपकार एलेक्ज़ेन्डर एक्तेर ने कुछ ऐसे विचित्र रहस्यात्मक निर्माणात्मक रूप भी उपस्थित किये, जिनमें अभिनय-कौशल प्रदर्शित करने के लिए भी पर्याप्त अवसर मिल जाता था। कभी-कभी तो तैरोव ऐसे एक परदे के सामने ही खेल प्रस्तुत कर देता था, जिसमें दृश्यपीठ होता ही नहीं था और कभी-कभी वह पूरे सुसज्जित रंगमंच की लम्बाई का पीछे तक प्रयोग करता था। कार्ल श्लेमर ने लोकोमोटिव बाले (नृत्य) और ट्रायडिक बाले में तथा एल० लिसिज़्की ने मैशीन बाले आदि में जो अधिक यान्त्रिक प्रयोग किये थे वे इन्हीं सब प्रेरणाओं से हुए थे।

पश्चिमी यूरोप में इसी समय रंगमंच पर घनवाद (क्यूबिज़्म) और भविष्यवाद (फ़्यूचरिज़्म) का बड़ा प्रभाव पड़ रहा था। वास्तविकता के बदले लोग विभिन्न स्तरों से युक्त ऐसे रंगमंच की बात करने लगे थे, जो घनवर्गीय चित्रण जैसा दिखाई पड़े। बउहाउस के कलाकारों ने इसे भावात्मकता, वेश-भूषा और अभिनेताओं की यंत्रवत् गति में भी प्रयुक्त किया। राजनीतिक दृष्टि से भव्य रंगमंच (ईपिक थिएटर) की जो भावना बर्लिन में अरविन पिस्केटर ने चलायी, उसने रंग-सज्जा को बड़ा प्रभावित किया और वह उतनी ही महत्व की हो गयी जितना अभिनेता। चक्रिल रंगमंच

(रिवॉल्विंग स्टेज), उत्थाप्य रंगमंच (एलिवेटर स्टेज), चल मंच (वैगन स्टेज) में विभिन्न स्तरों का प्रयोग होता था और इस प्रकार रंगमंच पर निरन्तर तीन परिमाण का नाट्य-व्यापार होता चलता था, जो मारियानो फार्चुरी के विस्तृत प्रकाश से अधिक प्रभावशाली हो जाता था और जिसका प्रयोग पृष्ठभित्ति (साइक्लोरामा) के साथ बर्लिन में १९०९ में हो चुका था। इन नाटकों में स्थिर चित्रों और चल-चित्रों के प्रयोग से राजनीतिक भावना भी स्पष्ट कर दी जाने लगी, जो कभी-कभी निर्देशक द्वारा भी स्पष्ट कर दी जाती थी। आकार, प्रकार, अनुपात, प्रकाश और रंग; कोई भी वास्तविकता के नियमों में बँधे नहीं रह गये। इन अत्यन्त गतिशील दृश्यपीठों में किसी भी शैली के उपयुक्त साधनों का प्रयोग होने लगा। निर्माणात्मक रंगमंच (कान्स्ट्रक्टिव स्टेज) का प्रयोग पेरिस, इंग्लैण्ड और जर्मनी आदि में गौर्डन क्रेग द्वारा सम्पन्न हुआ। पैलेडियन या शेक्सपीरियन रंगमंच को वर्तमान आवश्यकता के अनुसार ग्रहण करते हुए प्रयोक्ता किसी एक निश्चित दृश्यपीठ पर स्थान की सूचना छोटे छोटे दृश्यपीठों या परीवाप से दे देते थे, जिसका मुख्य दृश्यपीठ रंगमंच की मूल भावनात्मक भित्ति होती थी या किसी विशेष प्रदर्शन के लिए रंगमंच पर उसे ग्रहण कर लिया जाता था। सन् १९०५ में एल्फ्रेड रौलर ने वियेना में एक निश्चित प्रकार का भवन-रूपात्मक रंगमंच बनाया, जिसमें सजावट की भावना बहुत अधिक थी। वाल्टर ग्रोपियस और अरविन पिस्केटर के कुछ ऐसे भी प्रयोग हुए हैं जिनमें रंगमंच के बदले प्रेक्षागृह ही घूमता है। इन सबका उद्देश्य यही है कि जनता और रंगमंच का अधिक सम्पर्क हो और जनता उसमें अधिक भाग ले।

साधारणतः प्रथम विश्वयुद्ध के पश्चात् वास्तविकता को अधिक दबाने की ओर लोगों की प्रवत्ति अधिक हुई, अर्थात् दृश्य के स्थान के बदले केवल एक संकेत मात्र देना पर्याप्त समझा जाने लगा तथा वास्तु-रूप, रंग, प्रकाश और अभिनय भी केवल भाव अभिव्यक्त करने के लिए प्रयुक्त होने लगे। इस प्रकार इस शैली के कारण नाटक की मूल भावना के साथ उस दृश्यपीठ का सामंजस्य हो जाता है। एक वस्तु, जैसे सड़क की लालटेन या पेड़ या सीढ़ी या गॉथिक मेहराब ही अभिव्यक्ति या परिस्थिति के लिए पर्याप्त प्रतीक समझे जाते थे, जिसके लिए अन्य विशिष्ट विवरण नहीं दिये जाते थे। इन वास्तु-रूपों, प्रतीकों और भावात्मक प्रवृत्तियों के विरुद्ध एक दूसरा विरोधी आन्दोलन भी साथ-साथ उठ खड़ा हुआ, जिसमें शुद्ध रूप से चित्रण और दृष्टि-क्रमानुसार रंग-प्रयोग की बहुलता रही। यद्यपि इनमें वास्तविकता का भ्रम उत्पन्न करने की प्रवृत्ति तो नहीं रही, किन्तु चित्रकारों की जो बहुत ही प्रभाववादी, घनवादी और भविष्यवादी आदि शैली-धाराएँ चल रही थीं, उनका प्रयोग रंगमंच पर भी होने लगा और ये लोग पुनः

चित्र ६९—'दीवार' नाटक (पृथ्वी थियेटर्स के तृतीय अंक की दृश्य-सज्जा)
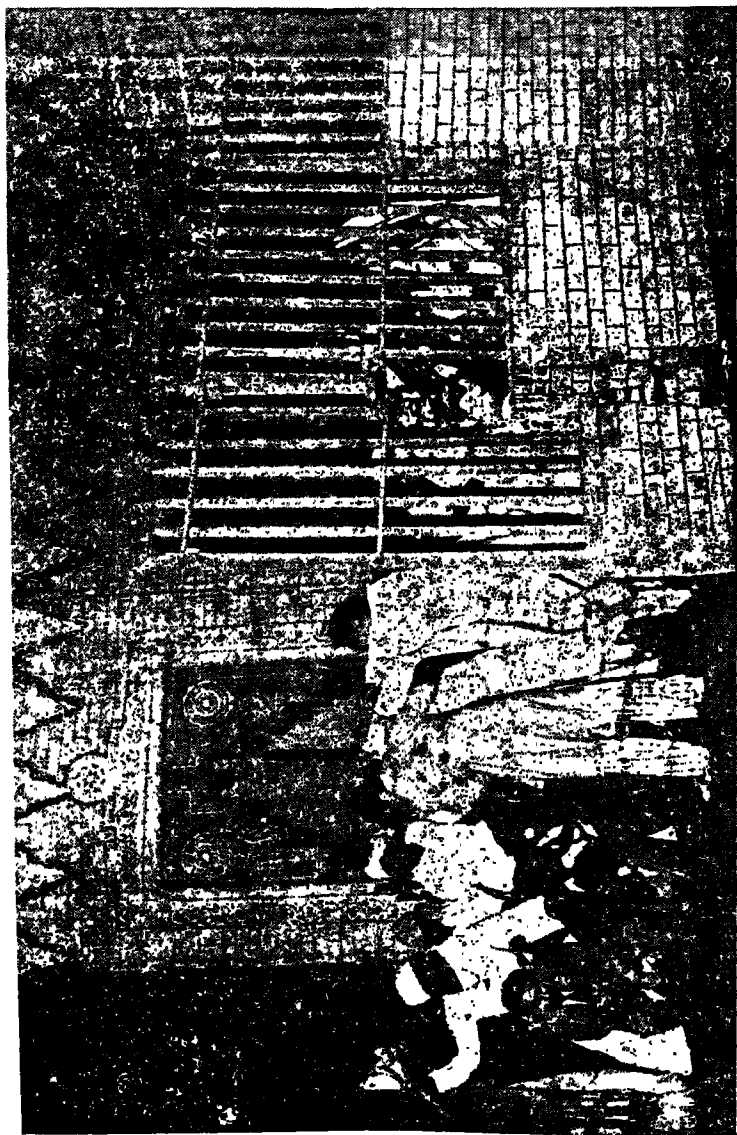
जान-बूझकर द्वि-परिमाणीय सजावट की ओर लौट पड़े। अभिनेता जो वेश-भूषा धारण करता था, वह भी दृश्य-सज्जा (डेकोर) का अंग बन गयी। स्पष्टतः दीवार पर चित्रित कुर्सी अभिनेताओं की ओर संकेत करती है। इनमें से कुछ सामग्री वास्तविक होती है, कुछ मूर्तिरूप में होती है और कुछ चित्रित। यह अति कृत्रिमता नियमित वाइज़ेन्टाइन शैली के साथ प्रारम्भ हुई, जिसमें लियोवास्ट तथा रूसी नृत्य-नाट्य (रशन बाले) के अन्य कलाकार सम्मिलित थे। इन शैलियों का प्रयोग अन्य लेखकों ने भी समय-समय पर किया। डेविड बेलास्को ने अमेरिकी रंगमंच की जो शैली स्थापित की, उसके अनुसार वास्तविक प्रकृतिवाद ने सब स्थानों पर नये-नये रूप ग्रहण कर लिये। कुछ नये लोगों ने जो दृश्यपीठ बनाये, वे अत्यन्त प्रकृतिवादी से लेकर अत्यन्त सरल, व्यंजनापूर्ण, अत्यन्त शैलीयुक्त तथा नाटक के अनुसार होते थे। कुछ नाटक ऐसे भी होने लगे हैं, जिनमें नग्न रंगमंच से प्रारम्भ करते हैं और दृश्य का गिराना और लगाना सब दर्शकों के सम्मुख होता चलता है।

अध्याय २७

दृश्य-रूपण (सीनिक डिज़ाइन)

भरत ने अपने नाट्यशास्त्र में दृश्य-रूपण के सम्बन्ध में स्पष्ट बताया है कि चमड़े, लकड़ी, लाख या अन्य ऐसे पदार्थों से पहाड़ इत्यादि के पुस्त बनाकर दृश्यपीठ खड़ा करना चाहिए। चीन और जापान में केवल एक पीछे का चित्रित परदा लगाना ही पर्याप्त होता है। खुली रंगशाला (ओपेन एयर थिएटर) वाले दृश्य-सज्जा को कोई महत्त्व नहीं देते, किन्तु जिस प्रकार किसी नाटक को प्रस्तुत करने के लिए उस युग के अनुरूप वेश-भूषा, मुख-सज्जा अर्थात् आहार्य अभिनय आवश्यक है, उसी प्रकार नाटक में वर्णित दृश्य के अनुरूप दृश्य-सज्जा भी आवश्यक है, जिसके आगे अभिनेतागण उस नाटक को प्रस्तुत करते हैं। यह दृश्य-सज्जा (दृश्यपीठ) प्रत्येक नाटक की प्रकृति के अनुसार भिन्न होनी चाहिए, किन्तु इतनी भड़कीली भी नहीं होनी चाहिए कि दर्शक नाटक में रस लेने के बदले उस दृश्य-सज्जा में ही रस लेने लगें, क्योंकि यह भी नाटक के प्रभाव को नष्ट करने में सहायक हो सकती है। जिस प्रकार अभिनय स्वाभाविक होना आवश्यक है, उसी प्रकार दृश्य-सज्जा भी स्वाभाविक प्रतीत होनी चाहिए, इसलिए आजकल नाट्य-जगत् में दृश्य-रूपणकार (सीन डिज़ाइनर) का अपना अलग महत्त्व हो गया है।

दृश्य-रूपण के प्रकार

आजकल के प्रायः सभी सामाजिक नाटक किसी वर्तमान युग की बैठक के दृश्य में दिखाने के लिए निर्दिष्ट होते हैं। कुछ प्रयोक्ताओं वाले नाटकों (प्रोड्यूसर्स प्लेज़) को प्रस्तुत करने में नाट्य-प्रयोक्ताओं को पर्याप्त कल्पना और मौलिकता प्रदर्शित करने का अवसर रहता है। ऐसे नाटकों में दृश्य-सज्जाकारों को भी अपनी कला दिखाने का पर्याप्त अवसर मिलता है। कुछ नाटकों में दृश्य-सज्जाकार के लिए कोई अवसर नहीं रह जाता, जैसे साधारण मध्यम श्रेणी के परिवार वालों का सारा नाटकीय व्यापार ऐसी बैठक या कोठरी में होता है, जिसके लिए दृश्य-सज्जाकार को कोई कल्पना नहीं करनी पड़ती। उनमें मूल रंगों के व्यापक प्रभाव का चित्रण व्यर्थ होता है, किन्तु दृश्य-सज्जाकार यदि चाहे तो उसमें भी भीतें, परदे, परीवाप (फ़र्नीचर)

आदि की सज्जा इस प्रकार कर सकता है कि उसे देखते ही दर्शक-गण यह बता सकें कि यह किस श्रेणी के व्यक्ति का घर है। उस सज्जा और वातावरण में अभिनेता को भी अपना कौशल दिखाने के लिए उचित और पर्याप्त अवसर तथा क्षेत्र मिल सकता है।

साधारणतः रंगरूपण (स्टेज डिज़ाइन) दो प्रकार का होता है—तथ्यवादी (रीअलिस्टिक) और प्रभाववादी (इम्प्रेशनिस्टिक)। तथ्यवादी सज्जाकार यह प्रयत्न करते हैं कि जिस अवस्था का दृश्य दिखाना हो, उसे पूर्णतः स्वाभाविक बनायें, मानो दृश्य उसी स्थान पर हो रहा हो जिसका नाटककार ने निर्देश किया है। किन्तु प्रभाववादी लोग व्यापक प्रभावों द्वारा यह निर्देश करते हैं कि हम क्या चित्रित करने जा रहे हैं और वास्तविक रूप का कोई दृश्य प्रस्तुत किये बिना ही इच्छित स्थान का प्रभाव उत्पन्न कर देते हैं। इसे यों समझना चाहिए कि तथ्यवादी तो वास्तविक चित्र (फोटोग्राफ) प्रस्तुत करना चाहता है और प्रभाववादी वर्तमान शैली के तैल-चित्र, जिनमें से कुछ का भाव तो सबकी समझ में आ जाता है किन्तु कुछ को केवल कलाकार ही समझ पाते हैं। प्रभाववादी दृश्य-सज्जा भी इसी प्रकार रूप, शैली और आकार-प्रकार में भिन्न होती है। इधर प्रायः अधिकांश कलाकार इसी प्रकार के प्रभाववादी चित्रण के द्वारा प्रभावित होकर उसकी ओर घूम चले हैं, किन्तु यह प्रवृत्ति बड़ी घातक है। उन्हें समझ रखना चाहिए कि दृश्य-सज्जा का स्वतः कोई अलग महत्त्व नहीं है। वह नाटक के प्रयोग का ऐसा अंग है, जो सब प्रकार के दर्शकों को समान रूप से नाटक का भाव ठीक-ठीक समझ सकने और नाटक की रसानुभूति तीव्र करने में सहायक हो, बाधक नहीं।

तथ्यवादी दृश्य-सज्जा

तथ्यवादी दृश्य-सज्जा का तात्पर्य यह नहीं है कि उसमें चित्र (फोटोग्राफ) जैसी सटीकता हो। सामान्यतः रंग-रचना (स्टेज क्राफ़्ट) स्वयं अतिरंजन की कला है। साधारण से साधारण रंगमंच भी साधारण बैठक या कोठरी से बड़ा होता है और अभिनेता भी वहाँ साधारण बातचीत के स्वर से ऊँचे स्वर में बोलता है और साधारण भाव-भंगी की अपेक्षा कुछ व्यवस्थित और निर्णीत आंगिक अभिनय का प्रयोग करता है। मुख-चेष्टाओं को स्पष्ट करने और असाधारण तीव्र प्रकाश द्वारा पड़ी हुई छायाओं को संतुलित करने के लिए मुख भी रँगे ही जाने चाहिए। यह सब इसी लिए किया जाता है कि दर्शकों को सब कुछ स्वाभाविक प्रतीत हो। इसी प्रकार तथ्यवादी दृश्य-सज्जा को स्वाभाविक बनाने के लिए कुछ अतिरंजन आवश्यक भी है। दूसरी समस्या यह भी उत्पन्न होती है कि दर्शक उस दृश्यपीठ को दूर से देखते हैं और वह दूरी भी सब दर्शकों की भिन्न-भिन्न होती है।

तथ्यवादी दृश्य का भीतरी भाग इस प्रकार अंकित किया जाता है कि उसे देखते ही दर्शकों को विश्वास हो जाय कि जो नाटक खेला जा रहा है, उसके लिए यही दृश्यपीठ उपयुक्त है। उसमें इस बात का भी ध्यान रखा जाता है कि छोटी से छोटी संगत वस्तु भी इस सज्जा से छूट न जाय। वर्तमान युग की बैठक में एक सोफ़ा सेट, फूलदान रखने की छोटी मेज़ और उसके साथ पीछे पुस्तकों की आलमारी, पढ़ने की मेज़, उस पर बिजली की बत्ती, उसके साथ की कुर्सी, मेज़ पर घड़ी, कलमदान, पैड, रद्दी की टोकरी, भीत पर कैलेन्डर, कुछ प्राकृतिक दृश्यों के चित्र और नाटक के नायक की प्रकृति के अनुसार चित्र (राजनीतिक व्यक्ति हो तो गाँधीजी का चित्र, धार्मिक हो तो शिव, विष्णु, राम या कृष्ण का चित्र, वैज्ञानिक हो तो किसी वैज्ञानिक का चित्र टँगा हो), द्वारों पर परदे लगे हों, गुलदस्ता रखने का स्थान हो और कोने में मिट्टी या धातु की मूर्तियाँ रखी हों तथा उसकी छत से बिजली का पंखा या फानूस टँगा हो। नाटक में निर्दिष्ट नायक की सामाजिक और आर्थिक परिस्थिति के अनुसार इस दृश्य-सज्जा में कमी या वृद्धि कर दी जाती है और देख लिया जाता है कि जिस युग का नाटक खेला जा रहा है, उस युग के अनुरूप पीठासन, परीवाप (फ़र्नीचर) तथा अन्य सामग्री है या नहीं।

बीएँ सिआँसे (संभवता का सिद्धान्त)

फ़्रांस में नाटक के सम्बन्ध में सत्य-तुल्यता या सम्भवता (वैरी सिमिलिट्यूड) या व्रासाम्ब्लाँ के सिद्धान्त के अन्तर्गत कलात्मक औचित्य या विश्वासोत्पादकता (आर्टिस्टिक कन्विंसिंगनेस) का सिद्धान्त भी निहित है। इसके दो रूप हैं—१. बिएन सेआँ एक्सतर्ने, अर्थात् जिस युग के नाटकीय चरित लिये जायँ, उनके कार्य उस युग के अनुरूप हों। २. बिएन सेआँ इंतर्ने, अर्थात् नाटक में जिस पात्र का जो चरित्र दिखाया जाय, वह आद्यन्त एक ही रूप हो। इसी के साथ यह भी मान लिया गया कि जो दृश्य प्रस्तुत किया जाय, वह भी सत्य-तुल्य हो। इस भावना और सिद्धान्त ने नाटक की दृश्य-सज्जा को तथ्यवादी बनाने में बड़ी प्रेरणा दी।

कुछ लोग समझते हैं कि वर्तमानकालीन सामाजिक नाटक खेलना बड़ा सरल है। कुछ अंश तक यह सत्य भी है, क्योंकि साधारण बैठक के दृश्य में प्रायः नाट्य-प्रयोक्ता या रंग-व्यवस्थापक सभी सामग्री प्रस्तुत कर लेते हैं, किन्तु कभी-कभी विशेष कक्षों की भी आवश्यकता होती है, जैसे अस्पताल, आश्रम, क्लब, फाँसीघर, जुआघर, डाकघर। ऐसे दृश्य प्रस्तुत करते समय दृश्य-सज्जाकार को जाकर देख आना चाहिए कि अमुक स्थान में क्या-क्या विशेष परीवाप किस व्यवस्था के अनुसार लगे होते हैं। भारतीय ऋषियों

के आश्रम और बौद्ध विहार में बहुत अन्तर हो जाता है। अतः बहुत सावधानी के साथ युग की अनुरूपता के अनुसार दृश्यपीठ की सज्जा करनी चाहिए।

खिड़कियों और द्वारों के पीछे का भाग भी सटीक प्रस्तुत करना चाहिए। ऐसा न हो कि उन्हें खोलते समय उनकी पोल खुल जाय और वे झूठे प्रतीत हों। अतः जो द्वार या खिड़कियाँ रंगमंच की ओर खुलें, उनके आगे और पीछे के भाग भली प्रकार चित्रित कर देने चाहिए। खिड़कियों के लिए अच्छा विधान यही है कि उन पर मलमल के परदे टाँग दिये जायँ जिससे पीछे का दृश्य उनसे छनकर अधिक स्वाभाविक दिखाई दे।

आन्तरिक सजावट

आन्तरिक सजावट में दृश्यपीठ के अलग-अलग सपाट (फ़्लैट) टुकड़े भली प्रकार जोड़े जायँ, क्योंकि पूरी दृश्य-सज्जा इन्हीं टुकड़ों के जोड़ पर अवलम्बित होती है। यों तो इनकी चौड़ाई चाहे जितनी हो सकती है, किन्तु व्यावहारिक दृष्टि से यह छः फुट से अधिक बड़ी नहीं होनी चाहिए। वे जहाँ जुड़ते हों, वहाँ किसी प्रकार का जोड़ नहीं दिखाई देना चाहिए। अतः अच्छा यही है कि सपाट (फ़्लैट) जोड़कर उसके जोड़ों पर ऊपर से नीचे तक कपड़े की पट्टी चिपका दी जाय। किन्तु यदि ये दृश्य-पीठ उठाये जाने वाले हों, तब ये जोड़ लगाये जायँ।

उपमंच (रोष्ट्रम)

कभी-कभी रंगमंच पर और भी कई मंच (रोष्ट्रम) बनाने पड़ते हैं, जो या तो कई स्तरों पर अलग-अलग होते हैं या एक ही स्तर पर फैले हुए होते हैं। ऐसी परिस्थिति में यह जान लेना चाहिए कि उपमंच के साथ सीढ़ी लगानी है या पूरा दृश्य ही ऊँचे चौतरे पर रखना है और दृश्यपीठ भी रंगमंच पर लगाने हैं या रंगमंच पर बने हुए इन उपमंचों पर, क्योंकि रंगमंच पर चढ़े हुए उपमंचों पर लगने वाले दृश्यपीठ स्वभावतः छोटे होते हैं। प्रत्येक उपमंच पर पीछे की ओर द्वार वाला दृश्यपीठ लगा होना चाहिए। कभी-कभी मंच की ऊँचाई पर पीछे के दृश्यपीठ में कटे हुए द्वार भी सहायक हो सकते हैं।

रंगमंच पर एक बिछावन (स्टेज क्लॉथ) बिछा होता है, जो मोमजामे (फ़्लोर बोर्ड) पर चतुर्भुज अथवा अन्य किसी रूपमान के फर्श के रूप में चित्रित होता है। ऐसे बिछावन पर दरी या कालीन बिछाने की आवश्यकता नहीं होती। प्रायः लोग रंगमंच पर एक दरी बिछाकर उसी पर दृश्यपीठ लगा देते हैं, किन्तु बैठक के दृश्य के लिए यह उचित होने पर भी जंगल या उपवन या पुतलीघर के लिए ठीक नहीं है।

रंग-रूढ़ियाँ

रंगमंच के सम्बन्ध में कुछ ऐसी मनोवैज्ञानिक रूढ़ियाँ भी हैं, जिनसे लोग अभ्यस्त हो गये हैं। नाटक के सम्बन्ध में ही एक सिद्धान्त है—'अविश्वास को जान-बूझकर दूर रखना' (विलिंग सस्पेंशन ऑफ़ डिसबिलीफ़), अर्थात् रंगमंच पर जो कुछ होता चलता या दिखाई देता है, उसे दर्शक जान-बूझकर सत्य मानता चलता है। इसी लिए रंगमंच पर जो खिड़कियाँ या द्वार बनाये जाते हैं, वे सामान्य आकार-प्रकार के न बनाये जायँ और यदि उनका कुछ भाग अधिक निकला और छूटा हो, तो दर्शक उसकी चिन्ता नहीं करेंगे, क्योंकि सामान्यतः दृश्यपीठ १६ फुट ऊँचे होते हैं, पर कमरे इतने ऊँचे नहीं होते। अतः दर्शक इतने ऊँचे दृश्यपीठ से सधे रहते हैं।

दर्शक यह भी मान लेता है कि रंगमंच पर जो दृश्य दिखाई पड़ रहा है, उसके तीन ही पक्ष हैं चार नहीं, क्योंकि नाटक को दृश्य करने के लिए चौथी दीवार का अभाव आवश्यक है। कभी-कभी कुछ लोग तल-दीप (फुट लाइट्स) के पास कमरे की अँगीठी बनाकर चौथी दीवार का निर्देश कर देते हैं। कभी-कभी अभिनेताओं के मुख पर प्रकाश डालने के लिए केन्द्र-दीप (फ़ोकस लैम्प) रखा रहता है, जिसमें से आग का सा प्रकाश अभिनेताओं के मुख पर पड़ता है और वहीं अँगीठी के पास रखा हुआ कम्बल, अँगीठी के आगे की रोक, चिपटे और उसके सामने दर्शकों के मुँह की ओर रखी हुई कुर्सियाँ लगा दी जाती हैं, मानो अभिनेता जाड़े के दिनों में अँगीठी ताप रहे हों। किन्तु इस प्रकार का सांकेतिक विधान बहुत अच्छा नहीं होता। यद्यपि नाट्य-प्रयोक्ता लोग दर्शकों की ओर अभिनेताओं का मुख कराने के लिए स्वाभाविक प्रतीत होने वाला विधान तो करते हैं, तथापि यह अत्यन्त अस्वाभाविक प्रतीत होता है। कभी-कभी छत दिखाने के लिए झालर (बॉर्डर) का भी प्रयोग करते हैं, किन्तु अब तो छत ही लगाने लगे हैं। प्रायः जहाँ वेग से दृश्य-परिवर्तन वांछनीय होता है, वहाँ छत लगाना सम्भव नहीं होता और झालर (बॉर्डर) से काम लेना अधिक उपयुक्त होता है। यह झॉलर (बॉर्डर) चाहे तो टाट पर हो या कपड़े पर, किन्तु यदि कैनवास (टाट) की हो, तो उसका रंग और वस्तु दृश्यपीठ के साथ मिलती-जुलती होनी चाहिए। बाह्य दृश्य के लिए जो आकाश की झालर (बॉर्डर) काम में लायी जाती है वह भीतर के दृश्य के लिए प्रयुक्त नहीं होनी चाहिए। जब छत का प्रयोग किया जा सके, तो काले मखमल के बॉर्डर का प्रयोग करना अधिक उपयुक्त होता है। ऐसी अवस्था में दृश्यपीठ के ऊपर का सिरा धुँधली छाया देते हुए ऊपर काला कर देना चाहिए, जिससे वह उस झालर (बॉर्डर) में मिल जाय। यदि नीचे के भाग पर पूरा प्रकाश हो और ऊपर के भाग में छाया रहे, तो दर्शकों का ध्यान ऊपर जायगा ही नहीं। यह भी रंग-सज्जा की एक रूढ़ि है।

बाह्य दृश्य की रूप-सज्जा

साधारणतः दृश्य-सज्जाकार को आन्तरिक दृश्य की अपेक्षा बाह्य दृश्य का अंकन करने में अधिक व्यापक क्षेत्र तो प्राप्त होता है, किन्तु साथ ही अनेक जटिल समस्याएँ भी उठ खड़ी होती हैं। ये बाह्य दृश्य भी तथ्यवादी और प्रभाववादी दोनों प्रकार के हो सकते हैं। आजकल तथ्यवादी बाह्य दृश्य का प्रयोग सांगीतिक सुखान्त (म्यूज़िकल कॉमेडी) और मूक नाट्य (पैन्टोमीम) को छोड़कर प्रायः नहीं होता। प्रायः बौद्धिक श्रेणी के नाटकों में इस प्रकार के तथ्यवादी बाह्य दृश्य नहीं मिलते, जिनमें साधारण व्यावसायिक नाटक की अपेक्षा अधिक बाह्य दृश्य हों। बाह्य दृश्य का प्रस्तुतीकरण कठिन होने के कारण ही तथ्यवादी नाटककार उनका निर्देश ही नहीं करते, क्योंकि आज से पचास वर्ष पूर्व जिस तथ्यवादी दृश्य पर लोगों ने हर्ष से तालियाँ पीटी थीं, आज लोग उसकी हँसी उड़ा सकते हैं, सम्भवतः चलचित्र के विकास के कारण ही।

बाह्य सज्जा का बहुत कुछ अंश तो बाह्य दृश्य के प्रकार पर अवलम्बित है। यदि सारा दृश्य भवनों का समूह मात्र हो, तो कठिनाई कम हो सकती है। फिर भी भीतर का दृश्य अंकित करने की अपेक्षा बाह्य दृश्य अंकित करना सरल ही है। प्राकृतिक दृश्य, पेड़ और झाड़ियाँ स्वतः दृश्य को असफल कर सकती हैं, क्योंकि पीछे के परदे को उचित दृश्य-परिधि में चित्रित करना सरल नहीं है। कारण यह है कि प्रेक्षागृह में केवल एक ही ऐसा स्थान हो सकता है, जहाँ से चित्रित परदे को ठीक दृष्टि-परिधि से देखा जा सकता है। शेष सब स्थानों से वह विकृत ही दिखाई देता है। यद्यपि दृष्टि-परिधि के चित्रण की प्रणाली इतालिया के पुनर्जागरण-काल से प्रारम्भ हुई, किन्तु कभी पूर्णतः संतोषजनक नहीं हो पायी। अतः अच्छा यही है कि पीछे चित्रित परदा टाँगने के बदले आसमानी रंग में रँगा हुआ सादा परदा टाँग दिया जाय। यदि सपाटे के टुकड़े लगाना आवश्यक हो, तो इस प्रकार के सीधे सपाटे (फ़्लैट) टुकड़े होने चाहिएँ, जिन्हें सरलता से उठाया, लगाया या हटाया जा सके। उसमें स्थायित्व लाने वाली कोई प्रक्रिया होनी ही नहीं चाहिए।

इसके लिए दूसरी प्रक्रिया है चक्रिल रंगमंच (रिवॉल्विंग स्टेज) की, जिस पर कई दृश्यपीठ एक साथ लगाये जा सकते हैं। तीसरी प्रक्रिया है सरकन मंच (स्लाइडिंग स्टेज) की, जिसमें पूरा रंगमंच बायें-दायें सरकाकर दूसरा रंगमंच वहाँ ला बैठाया जा सकता है। यदि चक्रिल रंगमंच सम्भव न हो, तो अन्य उपायों का अवलम्ब लेना चाहिए, जिनमें से एक है सम्पृक्त रंगमंच (कम्पोज़िट स्टेज) का प्रयोग, जैसा अभिनव-भरत ने बम्बई में 'देवता' नाटक के लिए किया था, जिसमें उद्यान, भोजन-शाला, सड़क, ऊपर की छत तथा पास के दूसरे मकान में होने वाले सारे व्यापार एक ही सम्पृक्त दृश्यपीठ (कम्पोज़िट

स्टेज) में बैठा दिये गये थे या जैसे 'ग्रैन्ड होटल' नाटक के तीनों दृश्यों को कौमिसार जैवस्की ने मास्को थिएटर में एक ही दृश्य में ला बैठाया था और जिसे लन्दन के 'एडेल्फ़ी' के चक्रिल रंगमंच पर तीन दृश्यपीठों में दिखाया गया था।

सम्पृक्त दृश्य-पीठों में केवल इतना ही करना पड़ता है कि जिस भाग पर अभिनय-व्यापार होता है, उसी भाग को प्रकाशित रखा जाता है, शेष भागों को अँधेरे में रखा जाता है। आजकल रंगपीठ पर कई स्तरों के मंच लगाने की प्रथा चल पड़ी है, जिसमें परदे और प्रकाश की व्यवस्था इस प्रकार की जाती है कि दर्शकों का ध्यान केवल उसी स्थान पर केन्द्रित रहे, जहाँ अभिनय-व्यापार हो रहा हो।

रूपमान (डिज़ाइन)

दृश्य-सज्जा करने से पूर्व दृश्य का रूपमान (डिज़ाइन) भी बना लेना चाहिए, जिससे दृश्य-सज्जाकार तथा नाट्य-प्रयोक्ता को यह जानने में सुविधा हो कि कहाँ क्या वस्तु रखनी या लगानी है। इससे दृश्य-सज्जाकार को भी सुविधा होती है और अभिनेताओं को भी यह ज्ञान रहता है कि हमें किधर से प्रवेश या निर्गम करना है या दृश्यपीठ के किस भाग का कहाँ क्या प्रयोग करना है। कभी-कभी रंगमंच पर इधर-उधर बहुत खम्भे बने रहते हैं। ऐसी स्थिति में रूपमान बनाते समय ही ध्यान रखना चाहिए कि ये खम्भे ऐसे स्थान पर न हों कि वेग से प्रवेश या निर्गम करने वाले अभिनेता उनसे टकरा जायँ और चोट खा लें। यह रूपमान बन जाने के पश्चात् यह निश्चय कर लेना चाहिए कि दृश्यपीठ के कौन-कौन से सपाट (फ़्लैट) के टुकड़े कहाँ-कहाँ किस प्रकार लगाने होंगे।

प्रतिमूर्ति (मॉडेल)

रूपमान बनाने के पश्चात् या तो दृश्य का दृष्टिक्रम से युक्त चित्र बना लेना चाहिए या गत्ते की प्रतिमूर्ति बना लेनी चाहिए। प्रतिमूर्ति से नाट्य-प्रयोक्ता को अधिक सहायता मिलती है। यह प्रतिमूर्ति जितनी ही बड़ी बनायी जायगी उतना ही चित्रण स्पष्ट होगा। एक फुट के लिए आधे इंच की नाप से प्रतिमूर्ति बनानी अधिक उपयुक्त होगी। इस प्रतिमूर्ति में दृश्यपीठों के अतिरिक्त द्वार, सीढ़ी, खिड़की, अँगीठी आदि सबकी प्रतिमूर्तियाँ लगा देनी चाहिए। ऐसा करने से यह समझने में सुविधा होती है कि अभिनय का क्रम, क्षेत्र और प्रकाश-व्यवस्था किस प्रकार की जायगी।

दृश्य-सज्जा केवल दृश्य तक ही परिमित नहीं है, उसके अन्तर्गत सम्पूर्ण परीवाप, परदे, झालर, पंखा, बत्ती, कुरसी, मेज़, गुलदस्ता, दरी, कालीन तथा अन्य वह सब सामग्री

आ जाती है, जिसका उपयोग नाटक के समय रंगमंच के ऊपर सजावट या प्रयोग के लिए किया जाता है। दृश्य-सज्जाकार को अपने पास ऐसी पुस्तिका रखनी चाहिए, जिसमें वह विभिन्न युगों की भवन-निर्माण-शैली, परीवाप-शैली, वेश-भूषा, घरेलू प्रयोग के बरतन, अस्त्र-शस्त्र आदि के चित्र काटकर चिपकाये रखे, जिससे समय-समय पर उसके अनुसार नाटक में दृश्य-सज्जा, वेश-सज्जा और अन्य सामग्री की सजावट की जा सके ।

दृश्य (सीनरी) निर्माण

प्रत्येक नाटक-मंडली या रंगमंच के साथ एक कारखाना होना चाहिए, जिसमें दृश्य के ढाँचे बनाकर उन पर टाट या कपड़ा लगाकर उन्हें उचित रंगों से चित्रित किया जा सके। इस कारखाने में हथौड़ी, आरी, छेनी, रंदा, ब्रेस (सहारे के डंडे) के टुकड़े, रूल, कोनिया (स्टे स्क्वायर), सरेस, ब्रश, कील, पेच, चूल, लकड़ी, कपड़ा, रंग, ऐंगिल प्लेट आदि सामान के साथ हलकी और सूखी लकड़ी होनी चाहिए। प्रायः चीड़ की लकड़ी इसके लिए अधिक उपयुक्त होती है। लाल या सफ़ेद पाइन का भी प्रयोग सपाट (फ़्लैट) बनाने में अच्छा रहता है। मंच, छत के भाग या अधिक बोझ वहन करने वाले टुकड़ों (फ़िट अप) के लिए शीशम या अन्य कोई दृढ़ लकड़ी लगानी चाहिए। अच्छा यही होता है कि जितनी लम्बी या चौड़ी लकड़ी की आवश्यकता साधारणतः पड़ती हो, वह सीधी चिरवाकर मँगवा ली जाय। कपड़े या टाट की अपेक्षा जूट के परदे अधिक दिनों तक चलते हैं। यह सब सामग्री इकट्ठी करके तिपल्ली (प्लाई वुड) के पटरे भी ले रखने चाहिए, जिन्हें आवश्यकतानुसार यन्त्र से या हाथ से इच्छित आकार में काटकर सपाट (फ़्लैट) के साथ जोड़ा जा सके। सपाट (फ़्लैट) के अतिरिक्त अनेक रूप और आकार में द्वार, खिड़की, अँगीठी आदि भी बनायी जा सकती हैं। इसी प्रकार सीढ़ियाँ, टेकन (रेलिंग) और नेवेल पोस्ट आदि का भी निर्माण सावधानी से करना चाहिए। यह सब कार्य यद्यपि सामान्य बढ़ई भी कर सकते हैं, किन्तु रंगमंच के लिए विशेष प्रकार के शिक्षित बढ़इयों से काम लेना चाहिए, जो काटन यन्त्र (कट आउट या फ्रेटिंग मशीन) द्वारा पूरे प्लाई वुड से आकार काट लें। इसके अतिरिक्त प्लैस्टिक यूनिट से भी नदी, तट, खम्भे, वृक्ष और झाड़ियाँ आदि बना लेनी चाहिए। खंभे दिखाने के लिए पतले प्लाई वुड से गोल खम्भों का केवल उतना ही भाग बनाना चाहिए, जितना दर्शकों को दिखाना अपेक्षित हो।

दृश्य-चित्रण (सीन-पेंटिंग)

दृश्य-चित्रण स्वयं कला है और यह दृश्य-चित्रण पानी के रंगों से किया जाता है,

तैल-रंगों से नहीं, क्योंकि बिजली के प्रकाश में तेल के रंग चमक उठते हैं और भद्दे दिखाई देने लगते हैं। यदि कभी लकड़ी आदि पर तैल-रंग लगाना भी पड़े, तो मैट आयल पेन्ट लगाना चाहिए, जो चमकता नहीं।

रंगों के चूरे पौंड के हिसाब से बिकते हैं, जो साइज़ (चूरा किये हुए गोंद) के घोल में मिला लिये जाते हैं। एक पौंड चूरे से दो गैलन तरल साइज़ (गोंद) बनता है। पहले साइज़ (गोंद) का चूरा थोड़े से पानी में मिला और हिलाकर दो गैलन के डब्बे में लपसी जैसा मिला लिया जाता है, तब उस डब्बे में उबलता हुआ पानी भरकर उस पूरे घोल को भली भाँति चला लिया जाता है। यदि जूट का परदा नया हो, तो उस पर पहले साधारण सफ़ेदा (कौर्मशल ह्वाइटिंग) लगा देना चाहिए। इसे लगाने के लिए आधा डब्बा सफ़ेदा (ह्वाइटिंग) से भरकर उसमें गोंद (साइज़) का गरम घोल मिलाकर चला देने से मलाई जैसा बन जाता है। चित्रण के लिए भी इसी प्रकार रंग मिलाये जाते हैं, किन्तु उनके लिए रंगों का चूरा कम डाला जाता है, सफ़ेदा (ह्वाइटिंग) अधिक होता है। सब रंगों के लिए अलग-अलग बाल्टियाँ होनी चाहिए और कोई भी रंग इतना पर्याप्त तैयार होना चाहिए कि वह पूरे दृश्य के चित्रण में काम आ सके, अन्यथा यह भय सदा बना रहता है कि दो बार रंग घोलने से उनमें दो छायाएँ प्रतीत होने लगें। परदा रँगने से पहले कहीं थोड़ा सा रंग लगाकर उसे सूख जाने पर देख लिया जाय कि वह इच्छित रंग की छाया दे रहा है या नहीं, क्योंकि गीली अवस्था में रंग का ठीक स्वरूप ज्ञात नहीं होता। इतना ही नहीं, रंगीन काग़ज़ (जिलेटिन) लगा-कर और प्रकाश डालकर यह भी देख लेना चाहिए कि रंगमंच पर वह रंग कैसा खिलेगा। इसके पश्चात् चित्रण का काम चित्रकार का है और वह कला स्वत: अपने में भिन्न है, जिसे चित्रकार भली भाँति जानता है।

दृश्य-प्रयोग

दृश्य बनाना ही पर्याप्त नहीं है, उसका प्रयोग भी आना चाहिए। रंगमंच साधारणत: पीछे से आगे को ढालू होता है। रंगमंच के ऊपर इतना पर्याप्त स्थान (फ़्लाई स्पेस) रहता है कि पूरा का पूरा दृश्य ऊपर छत तक लोगों की दृष्टि से ऊपर खींच लिया जा सके अर्थात् दृश्य की ऊँचाई जितनी होती है, उससे दूनी ऊँचाई पर बन्धन-लौह (ग्रिड) होता है, जिसमें समकोण पर आर-पार शहतीर लगे होते हैं। इन शहतीरों में लकड़ी के पट्टे (ब्लाक) और घिर्रियाँ (पुलियाँ) लगी रहती हैं, जिनमें से रस्सी (लाइन्स) डाल कर परदे या सपाट (फ़्लैट) में ऊपर खींच लिये जाते हैं। प्रत्येक परदे या सपाटे (फ़्लैट) में ऊपर तीन रस्सियाँ बाँध दी जाती हैं, दो दोनों छोरों पर और एक बीच में। ये तीनों

रस्सियाँ (लाइन्स) एक मेल (सेट) कहलाती हैं। इन रस्सियों के छोर दृश्य-मंच (फ़्लाई गैलरी) में लगे हुए भारी कुंदों (क्लीट्स) में बाँध दिये जाते हैं। यह दृश्य-मंच (फ़्लाई गैलरी) ऊँचा सा मचान होता है जो रंगमंच के दोनों ओर की दीवार के सहारे आगे से पीछे तक रंगमंच के तल से पच्चीस फुट ऊँचा बना होता है। इस प्रकार से ये दृश्य ऊपर खींचे या उड़ाये (फ़्लोन) जाते हैं और इस ऊपर के रिक्त स्थान को उड़ाने का स्थान (फ़्लाई स्पेस) कहते हैं। ये रस्सियाँ क्रमशः लम्बी, मध्यम और छोटी कहलाती हैं और इन्हीं के अनुसार परदे को खींचने वाले (फ़्लाई मेन) को आदेश दिया जाता है।

कुछ वर्तमान नाट्यशालाओं में परदा उठाने-गिराने के लिए 'प्रतिभार-प्रणाली' (काउन्टरवेट सिस्टम) का प्रयोग किया जाता है। इसमें ऊपर छत-जालिका (ग्रिड) में लगी हुई घिर्रियाँ तो वैसी ही होती हैं, किन्तु उन पर से जो रस्सियाँ जाती हैं, वे उन प्रतिभारों से जुड़ी रहती हैं, जो रंगमंच के एक ओर की दीवार में जड़े हुए खाँचों में से होकर नीचे-ऊपर सरकते रहते हैं। ये इस प्रकार से बने होते हैं कि इनमें आवश्यकता के अनुसार भार घटाया या बढ़ाया जा सकता है। इसके द्वारा दृश्य को उड़ाने की प्रक्रिया इतनी सरल हो जाती है कि रंगमंच पर खड़ा हुआ एक ही व्यक्ति उसे चला सकता है; अन्यथा रस्सी के सहारे तो किसी भारी सपाटे (फ़्लैट) को ऊपर उठाने में कई आदमियों की आवश्यकता पड़ती है। जहाँ इस प्रकार की प्रतिभार-प्रणाली (काउन्टरवेट सिस्टम) है, वहाँ एक स्थायी रंग-व्यवस्थापक (रेज़िडेन्ट स्टेज मैनेजर) होता है, जो यह जानता है कि उसका संचालन किस प्रकार किया जाय।

रंगमंच पर कुछ उत्पीड़क (टॉरमेन्टर्स) सपाटे (फ़्लैट) भी रंगमुख के दोनों ओर पीछे की ओर झुके हुए स्थायी रूप से खड़े कर दिये जाते हैं। ये लगभग चार फुट या आवश्यकतानुसार अधिक चौड़े भी हो सकते हैं। इनमें आठ फुट की ऊँचाई पर छेद बने रहते हैं, जिनके द्वारा मचान-दीप (पार्च स्पॉट) से प्रकाश डाला जा सकता है। ये परदे प्रायः काले रँगे होते हैं और इनका उद्देश्य यह होता है कि रंगमंच के आगे के दोनों ओर के भाग, विशेषतः वे प्रेरक कक्ष (प्रॉम्प्ट कार्नर) दर्शकों की दृष्टि से छिपे रहें, जहाँ प्रेरक खड़े रहते हैं। कभी-कभी दृश्यपीठ के आगे के सपाटे (फ़्लैट) इसी उत्पीड़क से कसे (क्लीट किये) हुए रहते हैं। किन्तु अधिकांश रंगशालाओं में स्थायी पखवाई (रिटर्न या ब्लैट) होती हैं, जो आठ फुट चौड़ी काली रँगी होती हैं और टॉरमेन्टर से पीछे की ओर उनसे समकोण बनाती हुई लगी रहती हैं। ये प्रायः खाँचियों में लगी रहती हैं और आवश्यकता पड़ने पर रंगमंच को अधिक या कम चौड़ा करने के लिए हटायी या बढ़ायी जा सकती हैं।

परदे ऊपर छत (ग्रिड) से लटकाये जाते हैं और यदि ऊपर परदों को पूरा उड़ा ले जाने के लिए स्थान न हो, तो उन्हें तहाया (टंबिल किया) जा सकता है। जहाँ बन्धन-लौह (ग्रिड) नहीं होता, वहाँ छत में ही घिरियाँ लगा दी जाती हैं और रस्सियाँ रंगमंच के एक ओर बाँध दी जाती हैं। इन परदों में लकड़ी का बल्ला (रूला) लगा कर रस्सी के द्वारा ऊपर लपेट लिया जाता है। किन्तु तहाने (टंविल करने) में ऊपर और नीचे का भाग दोनों एक साथ ऊपर छत (ग्रिड) तक खींच लिये जाते हैं। इससे परदे उलट कर तह कर लिये जाते हैं। जब कोई परदा लटकाया जाता है, तो उसके नीचे भी एक लम्बा डंडा लगा दिया जाता है। तहाना (टंबलिंग) वहीं किया जाता है जहाँ पूरा परदा उड़ाने के बदले केवल आधा ही उड़ाने का स्थान हो। परदा इस प्रकार टँगना चाहिए कि उसमें सलवटें न पड़ें, इसी लिए ऊपर और नीचे दोनों ओर चौकोर डंडे (बेटन) लगा देने चाहिए। लपेटने के बदले तहाने (टंविल करने) में यह लाभ होता है कि परदे का रंग नहीं छूटता और उसमें धारियाँ नहीं पड़तीं।

झालर (बॉर्डर्स)

झालरें भी परदों के समान ही टाँगी जाती हैं। ये छोटी-छोटी कम चौड़ी कपड़े की पट्टियाँ होती हैं, जिनसे आकाश या छत के प्रदर्शन का काम लिया जाता है और ये इस क्रम से आगे-पीछे बँधी होती हैं कि उनका सिरा दर्शकों को न दिखाई दे। ये झालरें चित्रित टाट या कपडे (ड्रेपरी) की झालरों से बनायी जा सकती हैं। प्रायः लोग इसके लिए काले मखमल की झालरें लगाते हैं।

दृश्य-परिवर्तन करने के समय सपाटे (फ़्लैट) भी उड़ाये जा सकते हैं। जब ऐसा करना हो, तो दृश्य-पीठ (सेट) की पिछली दीवार को डंडे से बाँध देना चाहिए, अर्थात् पिछली दीवार के सब फ़्लैटों की पीठ में डंडा (लेटरल बैटन) बाँध देने चाहिए, जिससे वे सब एक इकाई में आ जायँ अर्थात् एक साथ हो जायँ। पर यह सब तभी सम्भव है, जब सभी सपाटे (फ़्लैट) एक ही तल (प्लेन) पर हों। रंगमंच पर सब सपाटों (फ़्लैट) को परस्पर रस्सियों या क्लीट से और रंगमंच पर ब्रेस के सहारे से फँसा देना चाहिए। इनमें एक्सटेशन ब्रेस अच्छे होते हैं।

सादे परदे

कभी-कभी केवल सादे परदे लगाकर ही नाटक खेले जाते हैं। इस प्रकार के परदे सस्ते भी मिलते हैं, उन्हें सरलता के साथ इधर-उधर लाया-ले जाया भी जा सकता है और उन्हें अनेक नाटकों में लगाया भी जा सकता है। उन्हें लगाने पर दृश्य हटाने-बढ़ाने

का झंझट भी नहीं होता। नाट्य-प्रयोक्ताओं का मत है कि चित्रित दृश्य की अपेक्षा रंगीन झालरदार परदे (ड्रेपरीज़) अधिक अच्छे होते हैं। भली भाँति लटकाया हुआ और ठीक प्रकार से रूपित किया हुआ (डिज़ाइन्ड) परदा बहुत अच्छा होता है। इस प्रकार के परदे के लिए यद्यपि मखमल सबसे अच्छा होता है, किन्तु वह मँहगा बहुत होता है। इसी प्रकार रेशम भी अच्छा होते हुए मँहगा होता है। अतः वैलर (मखमली कपड़े) का प्रयोग ठीक है, जो मखमल के समान दिखाई पड़ने पर भी बहुत सस्ता होता है। वह भारी होने के कारण भली प्रकार लटकता है, विजली के प्रकाश में भली भाँति खिलता है और प्रकाश को सोख नहीं जाता। इसके पश्चात् ऊन और रुई मिला हुआ कपड़ा अच्छा होता है। कपड़े के परदे में दोष यह होता है कि थोड़ी सी बयार में ही वह उड़ने लगता है। इससे भी अच्छा और सस्ता है, हेसियन या जूट का परदा जो रँगा भी जा सकता है और उसका स्वाभाविक रंग (कुछ पीला बफ़) रंगमंच के लिए बहुत अच्छा होता है। उसमें एक ही दोष होता है कि वह कुछ कड़ा होता है और ठीक प्रकार से लटकता नहीं इसलिए उसे भली भाँति सीधा करके लटकाना चाहिए।

परदों का रंग

इन परदों का रंग हलका होना चाहिए और जब विभिन्न दृश्य-पीठों के लिए रंगीन परदे रखे जायँ तो उनका रंग जहाँ तक हो तिरंगा (न्यूट्रल) होना चाहिए। भरे और फौन रंग सम्भवतः सबसे अधिक अच्छे होते हैं। काले और नैवी ब्ल्यू रात के प्रकाश में बड़े अच्छे प्रभावशाली होते हैं, किन्तु एक ही दृश्यपीठ (सेट) के लिए उन्हें रखना ठीक नहीं होता।

परदों की ऊँचाई

परदों की ऊँचाई रंगमुख की ऊँचाई पर अवलम्बित है। ये परदे जहाँ तक हो, सँकरी चौड़ाई के बनाने चाहिए, जिससे जहाँ आवश्यक हो, वहाँ उनके बीच में सपाटे (फ्लैट) डाले जा सकें और अधिक से अधिक प्रकार के दृश्यपीठ बैठाये जा सकें। अतः बड़े रंगमंच पर कोई परदा चुन्नट डालने पर छः फुट से अधिक चौड़ा और छोटे मंच पर चार फुट से अधिक चौड़ा नहीं होना चाहिए। तात्पर्य यह है कि जितनी चौड़ाई रखनी हो, उसका एक तिहाई अधिक भाग लेकर चुन्नट डालकर उतना बना लेना चाहिए, जैसे छः फुट चौड़े परदे के लिए आठ फुट चौड़ा कपड़ा लेना चाहिए। इन परदों के सँकरे छोर पर एक-एक फुट की दूरी पर छल्ले बाँधकर उन छल्लों को तार में डाल देना चाहिए, किन्तु प्रायः वेग से दृश्य बदलते समय चुन्नट का ध्यान नहीं

रहता, इसलिए अच्छा यही है कि पहले चुन्नट डालकर उसके ऊपर एक पट्टी सी देनी चाहिए और उस पट्टी में छल्ले लगाकर उसे तार में डालना चाहिए। परदों के नीचे भी एक नाफ़ा बनाकर उसमें सीसे की गोलियाँ डाल देनी चाहिए, जिससे वह सीधा लटका रहे, उड़े नहीं।

झालरें

झालरें भी उसी कपड़े की बनानी चाहिए, जिस कपड़े के परदे हों और उन्हें भी चुन्नट के साथ टाँगना चाहिए। उनकी संख्या और गहराई रंगमंच की लम्बाई और चौड़ाई पर अवलम्बित है। अच्छा तो यही है कि एक सँकरी पट्टी या झालर चारों ओर सिरे पर वैसी ही बाँध दी जाय, जैसे सामान्य खिड़कियों के परदों के आगे टाँग दिये जाते हैं, जिससे सपाटे (फ़्लैट) या परदों के ऊपरी भाग दिखाई न पड़ें। ये परदे अनेक प्रकार से लटकाये जा सकते हैं। पर उद्देश्य यही है कि पूरा रंगमंच भरा रहे, कहीं से खुला न दिखाई दे। किन्तु यदि पाँच परदे पिछली दीवार पर और तीन-तीन परदे दोनों ओर लगा दिये जायँ तो उनके बीच सरलता से सपाटे (फ़्लैट) डाले जा सकते हैं और ये सपाटे (फ़्लैट) इस प्रकार रखने चाहिए कि वे पूरे दिखाई दें। कभी-कभी परदे की चौड़ाई के ही सपाटे बनाये जाते हैं और उनके सिरे पर एक डब्बा बना दिया जाता है, जिसमें परदे का लटकता हुआ भाग लपेटकर रख दिया जाता है। कभी-कभी छोटे-छोटे डंडों से बीच में चूल लगाकर परदा टाँगने से यह लाभ होता है कि परदों का पखवाई के रूप में भी प्रयोग कर सकते हैं, विशेषतः जब बाह्य दृश्य हो, ऐसे एक ही डंडे पर दो परदों के दो समूह टाँगे जा सकते हैं कि डंडे को घुमाकर ही पूर्णतः भिन्न प्रकार के परदे दिखाई पड़ जाते हैं। एक बात भली भाँति स्मरण रखनी चाहिए कि इन परदों पर चित्र, तिथिपत्र, सूचना अथवा ऐसी कोई वस्तु नहीं टाँगनी चाहिए, जो दीवारों पर टाँगी जाती है। दूसरी बात ध्यान रखने की यह है कि ये परदे पतले होते हैं, इसलिए इनके पीछे किसी प्रकार का प्रकाश नहीं होना चाहिए अन्यथा भीतर की क्रिया सब बाहर दिखाई देने लगेगी।

सजावट (कॉर्निशिंग)

रंगमंच की सजावट के अन्तर्गत परीवाप (फर्नीचर), दरियाँ, कालीन, परदे, तकिये, बिजली की बत्तियाँ, पुस्तक, समाचार पत्र, गमले, रेडियो, तिथिपत्र, घड़ी, कलमदान, चारपाई, मसहरी, चित्र, टेलिफोन आदि वे सभी सामग्रियाँ आ जाती हैं, जिनसे उस दृश्य की वास्तविकता पूर्ण होती हो। इन सब सामग्रियों में कुछ तो

ऐसी होती हैं, जो अभिनय में काम आती हैं और कुछ केवल सजावट के लिए ही होती हैं। किन्तु जो भी सामग्री हो, वह नाटक के युग के अनुरूप हो, ऐसा न हो कि चन्द्रगुप्त मौर्य के युग का नाटक दिखाते समय वर्तमान काल की कुर्सी, मेज़ और घड़ी लगा दी जायँ। इन सामग्रियों के सम्बन्ध में यह भी ध्यान रखना चाहिए कि सभी सामग्री हल्की हो जो सरलता के साथ उठायी या हटायी जा सके। जहाँ तक हो, फूल ताज़े लिये जायँ और यदि न मिल सकें और बनावटी फूल लेने ही हों, तो वे काग़ज़ के बदले कपड़े के बने हों कि जिससे हाथ लगाने पर वे सरसरायें नहीं। कभी-कभी यह भी अच्छा होता है कि हरी पत्तियों में बनावटी फूल लगा दिये जायँ।

यदि रंगमंच पर दर्पण लगाना हो, तो उसे सामने नहीं लगाना चाहिए, अन्यथा दर्शकों को अपना मुँह दिखाई देने लगेगा या बत्तियों के प्रकाश की चौंध उनकी आँखों पर चमक डालेगी। पुस्तकों की आलमारी भी वास्तविक होने के बदले चित्रित होनी चाहिए, अन्यथा उसे हटाना-बढ़ाना कठिन हो जाता है। चित्र भी दृश्य और परिस्थिति तथा जिस व्यक्ति को प्रकोष्ठ में दिखाया जाय, उसकी प्रकृति के अनुरूप होने चाहिए।

कुछ वर्तमान नाटकों में रंगमंच पर खाने-पीने का प्रकरण दिखाया जाता है। भारतीय नाट्यशास्त्र के अनुसार यह वर्जित है, किन्तु यदि आवश्यक ही हो, तो मदिरा के बदले रंगीन मीठे शर्बत आदि का प्रयोग करना चाहिए, जिससे रंगमंच का परीवाप और उसकी मर्यादा नष्ट न हो। जहाँ तक हो, दृश्य को वास्तविक बनाने का प्रयत्न तो करना ही चाहिए, किन्तु इसके कारण गंदगी या बीभत्सता उत्पन्न करने का प्रयत्न नहीं करना चाहिए।

विशेष रंग-प्रभाव (स्टेज इफ़ेक्ट)

रंगमंच पर नाटक के साथ विशेष वातावरण प्रस्तुत करने के समय रंग-प्रभाव की योजना की जाती है। आजकल आँधी, पानी, बिजली, भूत-प्रेत, बादल, आग, गर्जन, चिड़ियों की बोली, प्रभंजन, करका-पात, समुद्र-गर्जन, हिम-पात, द्वार बन्द करने की ध्वनि, मोटर, रेलगाड़ी या वायुयान की घरघराहट, युद्ध, कोलाहल, गोलियों की बौछार तथा अनेक प्रकार के वाद्य आदि को प्रभाव-यन्त्र (पैनाट्रोप या विवर्धित ग्रामोफोन) से दर्शाया जाने लगा है, क्योंकि इस प्रभाव-यन्त्र (पैनाट्रोप) के प्रयोग से सब प्रकार का प्रभाव डालना सम्भव हो गया है। इस ग्रामोफोन के साथ सब प्रकार की ध्वनियों के रिकार्ड रहते हैं, जिन्हें आवश्यकता के अनुसार लगाकर ध्वनि उत्पन्न की जा सकती है। हिज़ मास्टर्स वायस, कोलम्बिया और डेका कम्पनियों ने इस प्रकार के बहुत से रिकार्ड

इस्पात के तवों पर बनाये हैं, जो ट्रेलर सुइयों से चलाये जाते हैं। फिर भी घिसने पर ये विगड़ जाते हैं, इसलिए समय-समय पर इन्हें बदलते रहना चाहिए। आँधी, भीड़ का कोलाहल, मोटर-गाड़ी, रेलगाड़ी, वायुयान, चिड़ियों की बोली, युद्ध-कोलाहल और विभिन्न वाद्यों का संगीत सब कुछ उस यन्त्र के द्वारा दिखाया जा सकता है, किन्तु बहुत से ऐसे प्रभाव भी हैं, जिनके लिए सस्ते यन्त्र भी बनाये जा सकते हैं।

इन सब प्रभावों के सम्बन्ध में यही आवश्यक है कि ये ठीक समय पर दिखाये जायँ, इसलिए अच्छा यह है कि रंग-व्यवस्थापक या प्रेरक-कक्ष में दो रंग के बटन रखे जायँ। जब कोई प्रभाव प्रकट करना हो, तो वह कुछ देर पूर्व सावधान करने के लिए लाल बत्ती वाला बटन दबा दे, जिससे प्रभावक सावधान हो जाय और फिर ज्यों ही रंग-व्यवस्थापक हरी बत्ती का बटन दबाये, त्यों ही वह प्रभाव उत्पन्न हो जाय। यदि दो रंग के प्रकाशों की सुविधा न हो, तो एक ही प्रकाश देकर सावधानी के लिए दो झटकों में वह प्रकाश दिखाया जाय और उस समय एक झटका देकर संकेत कर दिया जाय। यदि यह भी न हो, तो हाथ से भी संकेत किया जा सकता है, किन्तु इसके लिए सीटी या घंटी का प्रयोग नहीं करना चाहिए।

अग्नि

प्रायः सभी नाटकों में किसी न किसी रूप में अग्नि का प्रदर्शन किया जाता है। जलते हुए दीपक, मोमबत्ती या फुलझड़ी आदि तो ज्यों की त्यों दिखाई जा सकती हैं, किन्तु इसके लिए अत्यधिक सावधानी की आवश्यकता है, क्योंकि तनिक सी असावधानी से सारे भवन को क्षति पहुँच सकती है। जलती हुई अग्नि दिखलाने के लिए लकड़ी और कोयला रखकर उसके ऊपर तार की जाली में पतले-पतले लाल और पीले रंग की कागज की कतरनें लगा रखनी चाहिए। नीचे से बिजली के पंखे से वायु देने पर ये कतरनें उड़ने लगेंगी और जान पड़ेगा कि लपटें उठ रही हैं। किन्तु तार की जाली और पंखा इस प्रकार रखना चाहिए कि वह दिखाई न पड़े। उसके साथ ही आगे की ओर किसी वस्तु से आड़ देकर लाल बत्ती लगा देनी चाहिए, जिससे इसका प्रभाव और भी बढ़ जायगा। यदि दूर की अग्नि दिखानी हो, तो नेपथ्य में लाल प्रकाश कर देना चाहिए और उसके आगे कोई कपड़ा हिलाते रहना चाहिए, जिससे यह प्रतीत हो कि पीछे लपटें उठ रही हैं।

बिजली

बिजली दिखाने के लिए साधारण प्रणाली यह है कि इनसुलेट किये हुए हत्थों (हैंडिल) में दो कार्बन के सिरे (टर्मिनल) या बिजली के डडें (लाइटिंग स्टिक्स) ले

लिये जायँ। ये मुख्य तार (मेन लाइन) से जुड़े रहते हैं। जहाँ इन सिरों (टर्मिनलों) को पास लाया गया वहीं उनमें से चमक निकलती है, किन्तु इसे बहुत सावधानी के साथ चलाना चाहिए और यह ऐसे स्थान से दिखाना चाहिए कि जहाँ से रंगमंच पर उसकी चमक भर दिखाई पड़ सके। कभी-कभी किसी चमकदार महादीप या दीप-दण्ड (वेटन) को वेग से जलाते-बुझाते रहने से भी बिजली का प्रभाव उत्पन्न किया जा सकता है।

बादल और समुद्र

बादल और समुद्र की लहरें दिखाने के लिए चलती-फिरती फ़िल्में बनवाकर चित्रप्रदर्शक यन्त्र (प्रोजेक्टर) द्वारा पीछे के श्वेत परदे पर दिखला देना चाहिए। स्थिर बादल या स्थिर समुद्र दिखलाना उचित नहीं होता। समुद्र या नदी दिखलाने के लिए आसमानी रंग के परदों पर सफेद लहरिया धारी डालकर दो कपड़ों को एक साथ नीचे ऊपर हिलाने से भी नदी का प्रभाव दिखाया जा सकता है, किन्तु वह अत्यन्त कृत्रिम होता है।

बिजली की कड़क

बिजली की कड़क प्रभाव-यन्त्र (पैनाट्रोप) से भी सुनवायी जा सकती है, किन्तु यह उपाय बहुत अच्छा नहीं है। इसके लिए पुराना उपाय ही प्रभावशाली है, जिसे गर्जन की चादर (थण्डर शीट) कहते हैं। यह गर्जन की चादर और कुछ नहीं, केवल टीन या लोहे की दो फुट चौड़ी और छः फुट लम्बी चादर है जो ऊपर दो छेद करके उनमें डोरी डालकर ऊपर रस्सी से लटका दी जाती है। इसे संचालित करने वाला व्यक्ति इसके नीचे के सिरे को एक हैन्डिल से पकड़कर उसे झटके देता है, जिससे उसमें बादल की गरज और कड़क सुनाई पड़ती है। यदि गम्भीर स्वर का ढोल मुगरी से गर्जन के स्वर में तीव्र गति से हलके-हलके पीटा जाय, तो उससे भी मन्द गर्जन उत्पन्न किया जा सकता है। तीसरी विधि है गर्जन-ताल (थन्डर टैंक) की, जो गैल्वेनाइज्ड लोहे का बना होता है। यह भी एक कोने में लटका दिया जाता है और जब इस पर ढील की मुँगरी चलायी जाती है, तब इससे इसी प्रकार वास्तविक गर्जन का प्रभाव उत्पन्न होता है। इनमें सबसे बढ़िया गर्जन-चादर (थण्डर शीट) ही होती है। गर्जन के साथ बिजली भी होती है, किन्तु यह ध्यान रखना चाहिए कि बिजली पहले दिखाई दे और गर्जन पीछे सुनाई दे।

आँधी

यों तो रिकार्ड से भी आँधी और प्रभंजन की ध्वनि उत्पन्न की जा सकती है, किन्तु इसके लिए आँधी-यन्त्र (विन्ड मशीन) सबसे सरल और सुगम उपाय है। इसमें एक लकड़ी की पट्टियों से बना हुआ ढोल होता है, जो तकुवे (स्पिंडल) और हत्थे (हैंडिल) से चलाया जाता है। यह एक लकड़ी के ढाँचे पर कसा रहता है। इस ढोल के ऊपर खुरदरा टाट लगा रहता है, जो ढाँचे के एक ओर लकड़ी से जड़ा रहता है और दूसरी ओर एक हलके लकड़ी के डंडे से बँधा रहता है जो उस ढाँचे के एक ओर एक चर्खी (ट्रैडिल) से इस प्रकार जुड़ा रहता है कि चलाने वाला अपने पैर से दबाकर इस कैनवास को कस या ढीला कर सके। जब यह ढोल चलाया जाता है, तो लकड़ी के टुकड़े इस कैनवास से रगड़कर आँधी का प्रभाव उत्पन्न करते हैं। इस हत्थे को धीरे या वेग से चलाकर तथा चर्खी दबा या उठाकर आँधी की गति कम की जा सकती है। इस आँधी का प्रभाव रंगमंच के अभिनेताओं पर दिखाने के लिए बिजली के बड़े स्टैन्ड फ़ैन का प्रयोग करना चाहिए, जिससे अभिनेताओं के कपड़े उड़ते दिखाई दें।
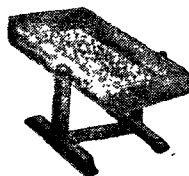
चित्र ७०—आँधी का यन्त्र वर्षा का यन्त्र वर्षा का यन्त्र

वर्षा

वर्षा दिखाने के लिए एक बहुत छेदों वाला नल पीछे की ओर बाँध देना चाहिए और नीचे ऐसा कोई कंडाल या पारछा रख देना चाहिए, जिसमें ऊपर का पानी गिरकर इकट्ठा हो सके और उसके साथ एक रबड़ या अन्य किसी पदार्थ की नली लगा देनी चाहिए कि पानी बाहर निकल जाय। ऊपर के बहुत छेद वाले नल का सम्बन्ध पानी की टंकी या नल से जोड़ देना चाहिए, जिससे वर्षा का दृश्य स्वाभाविक दिखाई दे सके। यह ध्यान रखना चाहिए कि पानी का सम्पर्क किसी प्रकार भी बिजली के किसी यन्त्र या तार से न हो। वर्षा के समय प्रकाश की व्यवस्था ऐसी रखनी चाहिए कि दर्शकों को वर्षा दिखाई दे। यदि किसी खिड़की से ही वर्षा दिखानी आवश्यक हो, तो साधारण पेड़ों में पानी देने वाले फुहारे से भी काम चल सकता है।

वर्षा की ध्वनि के लिए वर्षा-यन्त्र (रेन मशीन) का प्रयोग करना चाहिए। इसके लिए दोनों ओर मढ़ी हुई दो इंच मोटी और तीन फुट चौड़ी लकड़ी की चलनी या ढपली ले ली जाय और इसके भीतर मटर के दाने या छर्रे डाल दिये जायँ। यह जब लम्बी करके चलनी के समान दोनों हाथों से गोलाई में चलायी जायगी, तो वर्षा का प्रभाव उत्पन्न हो सकेगा। लोहे की चलनी से भी यह प्रभाव उत्पन्न किया जा सकता है। इसमें बड़े दाने डाले जायेंगे तो अधिक वर्षा का स्वर सुनाई देगा और छोटे दाने डाले जायेंगे तो लहरों का स्वर सुनाई देगा।

एक और भी प्रकार का वर्षा-यन्त्र बनाया जाता है, जो लम्बा, सँकरा, छिछला लकड़ी का डब्बा होता है, जिसके तल में अनियमित ढंग से बहुत सी कीलें ठुकी रहती हैं और उनमें छर्रे, मटर के दाने या छोटी-छोटी गोलियाँ डाल दी जाती हैं। यह डब्बा ऐसे ढाँचे पर कस दिया जाता है कि वह बीच में इस प्रकार कसा रहे कि दोनों ओर इधर-उधर झुकाया जा सके। यह ज्यों-ज्यों एक ओर को झुकाया जायगा, त्यों-त्यों कीलें डब्बे के तल से टकराकर वर्षा की ध्वनि उत्पन्न करेगी। यदि गोलियाँ डाल दी जायँ, तो यन्त्र के चलाने से ऐसा प्रतीत होगा मानो टीन की चादर पर ओले बरस रहे हों या भारी वर्षा हो रही हो।

हिम-वर्षा

हिम-वर्षा तो चित्र-प्रदर्शक-यन्त्र (प्रोजेक्टर) से दिखलाना अच्छा होता है। पुराना उपाय यह भी है कि कागज के छोटे-छोटे टुकड़े एक छेद वाली लकड़ी के डब्बे से गिराये जायँ। उसमें छर्रे भर रखने चाहिए कि जब उस डब्बे को धीरे-धीरे हिलाया जाय, तो छर्रों के दबाव से कागज गिरते रहें। धरती पर या कपड़ों पर हिम दिखाने के लिए नमक का प्रयोग किया जाता है, किन्तु कपड़ों के लिए तो साबुन का झाग ही अधिक प्रभावकारी होता है।

द्वार की धमक

द्वार की धमक दिखाने के लिए या तो रंगमंच के पीछे कोई वास्तविक द्वार हो, जो आवश्यकता और अवसर पर बन्द कर दिया जाय या माइक्रोफोन के पास एक द्वार का ढाँचा हो, जो संकेत द्वारा द्वार बन्द कर देने की धमक उत्पन्न कर सके।

घंटी

रंगमंच पर प्रायः दो प्रकार की घंटियाँ प्रयोग में आती हैं। एक तो द्वार की घंटी और दूसरी टेलीफोन की घंटी। द्वार की घंटी तो प्रेरक या रंग-व्यवस्थापक ही दबाकर

बजा सकता है। किन्तु टेलीफोन की घंटी में यह ध्यान रखना चाहिए कि उसमें दुहरी घंटी वजती है और ज्यों ही सुनने वाला टेलीफोन उठा ले, त्यों ही घंटी बन्द हो जाय। कहीं-कहीं घंटियों के बदले घूँ-घूँ करनेवाले घुंघ (बज़र्स) भी लगाये जाते हैं। इसका भी प्रयोग घंटी के समान ही होता है।

भीड़ की ध्वनि

यों तो भीड़ का कोलाहल प्रभावक-यन्त्र (पैनाट्रोप) से भी दिखाया जा सकता है, किन्तु यदि भीड़ बहुत बड़ी न हो, तो पाँच-सात व्यक्तियों को सिखाकर भी कोलाहल कराया जा सकता है। इस कोलाहल में सबके स्वर, वातचीत, शब्द और ध्वनि की उच्चता विभिन्न होनी चाहिए।

जानवरों की ध्वनि

जानवरों की ध्वनियाँ सब रिकार्ड पर प्राप्त होती हैं, किन्तु घोड़े की टाप के लिए अच्छी रीति यह है कि अपनी तीन उँगलियों में लोहे के छल्ले पहनकर किसी कड़ी लकड़ी पर एक दो तीन, एक दो तीन की गति से माइक्रोफोन के आगे लकड़ी पर ताल देता रहे, तो घोड़े की टापों का बहुत सुन्दर प्रभाव उत्पन्न होता है।

गोली चलने की ध्वनि

यद्यपि गोली की ध्वनियों के भी रिकार्ड मिलते हैं, पर उनका प्रयोग ठीक नहीं है। यदि वाहर गोली की ध्वनि सुनवानी हो, तो घोड़े के बाल के सोफ़े पर अथवा वैसी ही किसी वस्तु पर बेंत फटकारने से भी गोली चलाने की ध्वनि सुनाई पड़ती है, किन्तु यदि दृश्य में ही गोली चलती दिखलानी हो, तो झूठी पिस्तौलों का प्रयोग करना चाहिए। किन्तु कभी भूलकर भी सच्ची और भरी हुई पिस्तौल या बन्दूक रंगमंच पर नही ले जानी चाहिए। इसी प्रकार युद्ध में होने वाली गोलावारी के भी रिकार्ड मिलते हैं।

प्रायः इतने ही प्रभाव ऐसे हैं, जिसका प्रयोग रंगमंच पर रंग-व्यवस्थापक करते हैं और जिनके लिए नाटककार आदेश भी देते हैं।

अध्याय २८

रंग-व्यवस्था

नाट्य-प्रयोक्ता के सम्बन्ध में जो गुण पीछे बताये गये हैं, ठीक वे ही रंग-व्यवस्थापक के लिए भी आवश्यक हैं। रंग-व्यवस्थापक में यह गुण अवश्य होना चाहिए कि वह अत्यन्त नियमित और व्यवस्थित क्रम से काम करने वाला और शीघ्रता से सोचने वाला हो, अर्थात् यदि कोई संकट या समस्या उत्पन्न हो जाय, तो वह तत्काल उसका समाधान कर सके। उसे अत्यन्त शान्तचित्त होकर चतुराई से काम लेना चाहिए। उसे अपने कार्य में स्वतः स्वाभाविक रुचि होनी चाहिए, क्योंकि अभिनेता को तो लोक-प्रशंसा प्राप्त हो जाती है किन्तु नाटक की सफलता का श्रेय रंग-व्यवस्थापक को मिलना आवश्यक होने पर भी नेपथ्य में रहने के कारण उसका कोई कुछ महत्त्व नहीं समझता। रंग-व्यवस्थापक को अभिनयकला, रंगदीपन, दृश्य-सज्जा, यंत्र-विधान सबका व्यवस्थित ज्ञान होना चाहिए, क्योंकि नाटक की सम्पूर्ण सफलता उसी की योग्यता पर अवलम्बित होती है। उसमें इतनी साहित्यिक योग्यता भी होनी चाहिए कि वह नाटक में वर्णित युग के अनुरूप वेश-भूषा, दृश्य-सज्जा और रंग-सज्जा की सामग्री एकत्र कर सके या बनवा सके। कुछ नाटकों में रंग-व्यवस्थापकों को भी अभिनय में योग देना पड़ता है। ऐसी स्थिति में उसे अपना कोई सहायक पूर्णतः शिक्षित करके रखना चाहिए, जो उसकी अनुपस्थिति में सारी व्यवस्था कर सके। रंग-व्यवस्थापक को अभिनेताओं तथा अन्य कार्यकर्ताओं का इतना आदरपात्र और श्रद्धापात्र बनना चाहिए कि आवश्यकता पड़ने पर वह किसी से भी कोई काम ले सके, उन पर शासन कर सके, निर्देश दे सके, अवसर पर डाँट भी सके और अभिनेताओं तथा कार्यकर्ताओं में पारस्परिक वैमनस्य या कलह होने पर उसका निपटारा भी कर सके। यह तभी सम्भव है, जब वह रंग-व्यवस्था की सभी कलाओं और उसके सभी पक्षों से पूर्णतः अभिज्ञ हो और सभी कार्यकर्ता तथा अभिनेता उसे रंग-व्यवस्था में निष्णात मानते हों। उसे त्वरितबुद्धि या प्रत्युत्पन्नमति भी होना चाहिए ताकि कोई कठिनाई उपस्थित होने पर, प्रकाश बन्द होने पर अथवा अभिनेता द्वारा रंगमंच पर ले जाये जाने वाला सामान पीछे छूट जाने पर वह अपनी बुद्धि से कोई ऐसी रीति निकाल ले, जिससे दर्शकों को यह प्रतीत हो कि प्रकाश स्वयं नहीं बन्द हुआ है, यह जान-बूझकर बन्द किया गया है और नाटक का स्वाभाविक अंग है,

तथा किसी दूसरे पात्र के द्वारा वह छूटी हुई सामग्री मंच पर भिजवा दे जो निर्दिष्ट अभिनेता ले जाना भूल गया हो। प्रायः व्यावसायिक नाट्य-मण्डलियों में तो रंग-व्यवस्थापक को बहुत कठिनाइयाँ नहीं झेलनी पड़तीं किन्तु अव्यावसायिक नाट्य-मण्डलियों में इस प्रकार की समस्याओं का सामना पग-पग पर करना ही पड़ता है।

रंग-व्यवस्थापक को नाटक होने से पूर्व रंगमंच सम्बन्धी प्रत्येक व्यवस्था, रंगदीपन, विभिन्न प्रकार के प्रकाशदीप, रंग-सज्जा, दृश्य-सज्जा, वेश-भूषा, रंगमंच पर प्रयुक्त की जाने वाली सामग्री, बिछावन आदि प्रत्येक वस्तु का भली भाँति निरीक्षण और परीक्षण कर लेना चाहिए। यदि विशेष प्रकार के रंग-प्रभाव (स्टेज इफ़ेक्ट) डालने हों तो उनकी व्यवस्था भी रंग-व्यवस्थापक को स्वतः देख लेनी चाहिए। साधारण अभ्यास अथवा सवेश अभ्यास (ड्रेस रिहर्सल) के समय रंग-व्यवस्थापक को स्वतः उपस्थित होकर रंगमंच पर काम करने वाले सभी यांत्रिकों और कार्यकर्ताओं पर शासन और नियंत्रण करना चाहिए। यदि नाट्य-प्रयोक्ता अथवा नाटककार कोई विशेष परिवर्तन उचित समझते हों तो उनका कर्तव्य है कि इस विषय में रंग-व्यवस्थापक से परामर्श करके उसे अपना पक्ष समझा दें, किन्तु स्वतः उस कार्य में हस्तक्षेप न करें।

रंग-व्यवस्थापक के सहायक

रंग-व्यवस्थापक को यह स्वतन्त्रता होनी चाहिए कि वह अपने सहायक कार्यकर्ताओं को स्वतः चुने। अपने अधीन ऐसे उप-रंग-व्यवस्थापक, रंग-प्रबन्धक तथा रंगदीपनकार आदि की नियुक्ति स्वयं रंग-व्यवस्थापक को ही करनी चाहिए जिनके सम्बन्ध में उसे पूर्ण सन्तोष और विश्वास हो। प्रायः यूरोपीय रंगशालाओं में सहायक रंग-व्यवस्थापक ही पुस्तक हाथ में लेकर प्रेरक-कक्ष (प्रौम्प्ट कार्नर) का संचालन करता है। वह जहाँ एक ओर अभिनेताओं को वाक्य-प्रेरणा (क्यू) देता है, वहीं साथ-साथ वह परदे वाले, बिजली वाले, संगीत वाले तथा अन्य प्रभाव डालने वाले सहायकों को भी प्रेरणा देता है। वास्तव में वही एक प्रकार से वहाँ का व्यवस्था-अधिकारी होता है। यह काम सहायक रंग-व्यवस्थापक को ही करना भी चाहिए, क्योंकि रंग-व्यवस्थापक को अन्य कार्यों और व्यवस्थाओं के लिए मुक्त रहना चाहिए। कुछ रंगशालाओं में रंग-संचालक (स्टेज डाइरेक्टर) होते हैं और उनके अधीन रंग-व्यवस्थापक (स्टेज मैनेजर) तथा सहायक रंग-व्यवस्थापक (असिस्टेंट स्टेज मैनेजर) भी रखे जाते हैं। चाहे रंग-व्यवस्थापक एक हो या अनेक, किन्तु उसमें वे सभी गुण होने चाहिए, जिनका विवरण ऊपर दिया गया है।

सहायक रंग-व्यवस्थापक

रंग-व्यवस्थापक का काम केवल नाटक प्रारम्भ होने के समय ही प्रारम्भ नहीं होता, वरन् जिस दिन नाटक और पात्र चुने जाते हैं, उस दिन से लेकर वेश-युक्त अभ्यास (ड्रेस रिहर्सल) तक और उसके पश्चात् नाटक के समय प्रारम्भ से अन्त तक और नाटक समाप्त हो चुकने पर सब सामग्री एकत्र करके उसे यथास्थान बन्द करने तक रहता है और कभी-कभी तो उसके पश्चात् भी अगले दिन की तैयारी तक रहता है, जैसा कि न्यू-यार्क के रेडियो म्यूज़िक हाल में होता है। रंग-व्यवस्थापकों में से किसी एक को निरन्तर पुस्तक हाथ में लेकर अभ्यास के प्रत्येक दिन उपस्थित होकर रंग-सामग्री, रंग-सज्जा, दृश्य-सज्जा, रंगदीपन, विशेष प्रभाव सबका विवरण नियमतः अंकित करते चलना चाहिए और ऐसी बातों और ऐसे स्थानों को भी अंकित करते चलना चाहिए, जिनके सम्बन्ध में अभिनेता अनिश्चित हों और उनके सूखने (ड्राई होने) अर्थात् भूलने या भूल करने की आशंका हो। वही व्यक्ति जो प्रारम्भ से अन्त तक पुस्तक लेकर प्रेरणा देता है, उसी को अन्त वाले दिन अर्थात् नाटक के दिन भी प्रेरक का काम करना चाहिए। इससे अभिनेताओं में विश्वास उत्पन्न होता है और उन्हें यह भी आत्म-प्रतीति बनी रहती है कि यदि यह व्यक्ति प्रेरक रहेगा, तो हमें कठिनाई नहीं होगी।

रंग-प्रबन्धक

प्रेरणा की आवश्यकता तब तक ही नहीं होती जब तक अभिनेता अपने पाठ को भली भाँति कण्ठस्थ नहीं कर लेता, वरन् उसके पश्चात् भी रहती है, किन्तु रंग-प्रबन्धक (स्टेज मैनेजर) को पहले दिन से ही पुस्तक हाथ में लेकर प्रेरणा प्रारम्भ कर देनी चाहिए। और यह अभ्यास कराना चाहिए कि अभिनेता प्रेरणा-सूत्रों (क्यू) को ग्रहण कर सके। यदि अभ्यास के समय किसी अभिनेता का पाठ घटाने-बढ़ाने या बदलने की आवश्यकता हो, तो वह परिवर्तन रंग-प्रबन्धक की प्रति में सर्वप्रथम अंकित हो ही जाना चाहिए। इस प्रति में प्रवेश, निर्गम, उठना, गिरना, चलना, घूमना, कुछ उठाना, लाना आदि सम्पूर्ण चेष्टाओं का तथा रंग-दीपन, रंग-प्रभाव तथा अन्य प्रेरणाओं का संकेत अवश्य रहना चाहिए। इस दृष्टि से इस रंग-पुस्तिका या प्रेरणा-पुस्तिका (प्रौम्प्ट स्क्रिप्ट) का बड़ा महत्त्व हो जाता है। इसलिए उसे बड़ी सावधानी के साथ सुरक्षित रखना चाहिए और वह पुस्तक किसी भी दशा में किसी भी व्यक्ति को नहीं देनी चाहिए, चाहे कोई भी क्यों न हो और थोड़ी देर के लिए ही क्यों न लेता हो। कभी-कभी अभिनेता पुस्तक माँगने लगते हैं, किन्तु यह पुस्तक किसी को कभी नहीं देनी चाहिए।

इस पुस्तिका में जो कुछ संशोधन, परिवर्तन और परिवर्धन किये जायँ, वे सब इतने स्पष्ट और स्वच्छ हों कि कोई भी उन्हें देखकर पढ़ और समझ सके। इस पुस्तिका में प्रत्येक पन्ने के बीच एक कोरा पन्ना लगा रहना चाहिए, जिस पर आवश्यक निर्देश, संकेत आदि लिख लिये जा सकें। यह पुस्तिका साधारण पुस्तक के आकार की होनी चाहिए, बहुत लम्बी-चौड़ी नहीं, अन्यथा उसे सँभालने में बड़ी कठिनाई होती है। इस पुस्तिका में प्रत्येक अभिनेता की गति के सम्बन्ध में जो संकेत दिये जाते हैं, वे स्थिर होते हैं और यदि उनके अनुसार नियमतः अभ्यास कराया जाय, तब किसी प्रकार की कठिनाई नहीं होती।

रंग-सामग्री और रंग-व्यवस्थापक

प्रायः व्यावसायिक मण्डलियों में सब सामग्री पहले से एकत्र रहती है, फिर भी कुछ वस्तुएँ, जैसे फूलों के हार, विशेष प्रकार के पात्र आदि वस्तुएँ अलग-अलग स्थानों पर अथवा नाटक की प्रकृति के अनुसार संग्रह करनी पड़ती हैं। अव्यावसायिक मंडलियों में तो सभी सामग्री एकत्र करनी पड़ती है। अतः रंग-व्यवस्थापक को परीवाप (फर्नीचर), परदे, तकिये, मेज, कुर्सी, बत्ती, गमले, फूलदान, सिंगारदान तथा अन्य रंग-सामग्री की सूची बनाकर यह अंकित कर देना चाहिए कि कौन सी वस्तु किसके यहाँ से प्राप्त करनी चाहिए, जिससे सवेश अभ्यास से पूर्व वह सामग्री संचित की जा सके।

सवेश अभ्यास से पूर्व रंग-व्यवस्थापक को निम्नांकित व्यवस्था कर रखनी चाहिए—

१. रंगशाला में लगाये जाने योग्य दृश्य-सज्जा तथा दृश्यपीठ।

२. रंग-सामग्री, परीवाप, प्रभाव-व्यवस्था तथा अतिरिक्त प्रकाश-व्यवस्था।

३. रंग-दीपन, विभिन्न रंगों के प्रयोग, प्रकाश मन्द या तीव्र करने की व्यवस्था आदि के सम्बन्ध में विद्युत्-प्रबन्धक को रंगदीपन की योजना समझा देनी चाहिए।

४. रंगमंच पर काम करने वाले यांत्रिकों तथा सहायकों को नाटक सम्बन्धी प्रत्येक गति और क्रिया समझा देनी चाहिए कि कब कौन सा परदा गिरेगा या खुलेगा, कब क्या दृश्य-सज्जा होगी।

५. दृश्य-योजना, सामग्री-योजना, रंगदीपन-योजना और प्रेरणासूत्र के संकेतों का विवरण तैयार करके दे देना चाहिए। नाटक प्रारम्भ होने से पूर्व उस दिन प्रातः-काल ही पहला दृश्य पूर्ण सज्जा के साथ प्रस्तुत कर रखना चाहिए और रंग-व्यवस्थापक को उसका भली भाँति निरीक्षण कर लेना चाहिए। इस व्यवस्था में संपूर्ण रंगसामग्री भी ठीक उसी प्रकार यथास्थान रख देनी चाहिए, जैसे नाटक में प्रयुक्त होती हो।

पहले बताया जा चुका है कि प्रत्येक नाटक के प्रत्येक दृश्य का पहले से दृश्यायोजन (सीन प्लॉट) बना लेना चाहिए। इस दृश्यचित्र में परीवाप तथा दृश्य-सज्जा दोनों का सम्मिलित विवरण मानचित्र के रूप में बना रहता है। इस मानचित्र की एक प्रति किसी ऐसे स्थान पर टाँग रखनी चाहिए जहाँ वह रंग-सज्जा करने वाले कार्यकर्ताओं को सुविधा के साथ प्राप्त हो सके। उसकी दूसरी प्रति प्रेरक-कक्ष (प्रौम्प्ट कॉर्नर) में रख देनी चाहिए।

रंग-सामग्री का विवरण-पत्र

जिस प्रकार परीवाप और दृश्य-सज्जा के लिए मानचित्र अपेक्षित है, उसी प्रकार प्रत्येक दृश्य का सामग्री-पत्रक भी बनाकर रख लेना चाहिए, जिसमें प्रत्येक दृश्य की प्रत्येक रंगसामग्री का विवरण यथास्थान हो। इसकी भी तीन प्रतियाँ बना रखनी चाहिए, जिसकी एक प्रति रंग-व्यवस्थापक के पास, एक सहायक रंग-व्यवस्थापक के पास और तीसरी सामग्री-व्यवस्थापक (प्रौपर्टी मास्टर) के पास हो।

जो व्यक्ति इस सामग्री का परीक्षण करे, वह उसकी एक प्रति कहीं उचित स्थान पर गत्ते या लकड़ी पर चिपका रखे।

रंगमंच के कार्यकर्ता

रंगमंच पर काम करने वालों में सर्वप्रथम बढ़ई का महत्त्व है, उसके पश्चात् बिजली के मिस्त्रियों का और उसके पश्चात् सामग्री-व्यवस्थापक का। यह बढ़ई केवल साधारण लकड़ी का काम करने वाला न होकर रंगमंच पर लकड़ी के काम से अभिज्ञ होना चाहिए और उसे अपने साथ ऐसे भी मिस्त्री रखने चाहिए, जो दृश्य-सज्जा को घटा-बढ़ा सकें, परदे खींच सकें तथा अन्य रंगमंच सम्बन्धी व्यवस्था में सहयोग दे सकें। इसी प्रकार बिजली के व्यवस्थापक को भी अपने साथ ऐसे मिस्त्री रखने चाहिए, जो समय-समय पर किसी प्रकार कठिनाई उपस्थित हो जाने पर काम दे सकें तथा विभिन्न प्रकार के प्रकाश-दीपों को संचालित कर सकें।

नाटक की सफलता का श्रेय रंग-व्यवस्थापक की पूर्व तैयारी पर ही अवलम्बित है। जिन नाटकों में पूरा नाटक एक दृश्य-सज्जा पर ही खेला जाता है, वहाँ तो अधिक कठिनाई नहीं होती, किन्तु जहाँ अनेक दृश्य-परिवर्तन करने पड़ते हैं, वहाँ कुछ समस्या जटिल हो जाती है, विशेषतः उन नाटकों में जहाँ एक गहरे दृश्य के पश्चात् दूसरा ऐसा गहरा दृश्य आता है, जिसमें पर्याप्त रंग-सामग्री बदलकर लगानी पड़ती हो। ऐसे नाटक यदि चक्रिल रंगमंच या सरकन मंच (स्लाइडिंग स्टेज) पर खेले जायँ, तो कोई कठिनाई नहीं है

किन्तु साधारणतः न तो चक्रिल रंगमंच ही सर्वत्र प्राप्त होता है, न सरकन रंगमंच ही। ऐसी स्थिति में रंग-व्यवस्थापक को चाहिए कि नाटककार अथवा नाट्य-सम्पादक को बुलाकर दृश्यों का क्रम इस क्रम से बनवा ले कि एक दृश्य आगे का इस प्रकार का हो, जिसमें रंग-सामग्री अधिक लगानी पड़े, क्योंकि ऐसा न करने से निश्चय ही व्यवस्था में कठिनाई उत्पन्न हो सकती है। रंग-व्यवस्थापक को पहले से ही प्रत्येक दृश्य का समय, रंग-व्यवस्था, रंग-सामग्री का क्रम, परदों या चित्रित दृश्यों का क्रम, सपाटों (फ़्लैट) का प्रयोग आदि के विवरण के साथ-साथ यह भी विवरण-पत्रक बना लेना चाहिए कि अभिनेता नेपथ्य से अपने हाथ में क्या सामग्री लेकर आयेंगे और कब जायेंगे तथा उनके लिए दोनों ओर कक्ष में कौन सी सामग्री रखी जाय, जिसका प्रयोग अभिनेताओं को करना होगा।

इसी प्रकार विभिन्न प्रभावों के सम्बन्ध में भी एक निर्देश-पत्र बना रखना चाहिए कि कब बिजली, गर्जन, वर्षा, वाद्य, कोलाहल आदि का प्रभाव रंगमंच पर या बाहर या दूर दिखाना होगा। इन प्रभावों को भी अभ्यास के समय ही साध लेना चाहिए। इसी प्रकार गायकों, वादकों तथा पृष्ठवाद्य-संगीतज्ञों के लिए भी संकेत-पत्रक बना रखना चाहिए। रंग-व्यवस्थापक को यह भी देखना चाहिए कि दोनों ओर पखवाइयों में अथवा इधर-उधर न तो अभिनेता एकत्र हों, न कोलाहल करें और बाहर के लोग तो किसी भी प्रकार रंगमंच पर आकर बाधा न दें। यह अत्यन्त आवश्यक अंग है। इतनी व्यवस्था करने पर रंग-व्यवस्थापक का काम यह है कि प्रारम्भ वही कराये और अन्त भी उसी के आदेश से हो। इतनी व्यवस्था करने पर ही रंग-व्यवस्थापक का काम और रंग-व्यवस्था पूर्ण होती है।

रंगमंच के सम्बन्ध में इतना विकासपूर्ण प्रयास होने पर भी जब हम रंगपीठ की बात करते हैं, तब हमारे सम्मुख वह रंगमंच उपस्थित हो जाता है, जिसे नाटक की पारिभाषिक शब्दावली में चौखटेदार रंगमंच (पिक्चर फ़्रेम स्टेज) कहते हैं। दूसरे प्रकार के रंगमंच वे हैं, जिन्हें खुले रंगमंच (ओपेन एअर स्टेज) कहते हैं और जिनके लिए एक ऊँचा चौतरा और उसके पीछे भीतर को झुकी हुई अधगोली या धनुषाकार भीत (साइक्लोरामा) ही पर्याप्त है।

प्राचीन समय में यूरोप में प्रायः रंग-कौशल का कोई महत्त्व नहीं समझा जाता था। उस समय आंगिक और वाचिक अभिनय तथा वेश-भूषा की ही प्रधानता थी; यहाँ तक कि मुख-सज्जा (मेकअप) की कला भी मुखौटों (मास्क) के प्रयोग के कारण अपना अस्तित्व नहीं स्थापित कर पायी थी। किन्तु उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त और बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में रंगशाला ने पूर्णतः नया स्वरूप धारण कर लिया। बिजली

के प्रयोग ने रगशाला की रूप-सज्जा में और भी अधिक सहयोग दिया और इसी लिए रंग-कौशल की दृष्टि से रंगमंच पर दो कलाओं का अलग-अलग प्राधान्य हुआ—दृश्य-विधान और रंगदीपन।

दृश्य-विधान के सम्बन्ध में पीछे बताया जा चुका है कि सर्वप्रथम गौर्डन क्रेग तथा उसके समकालीन साथियों ने नाटक के भाव को तीव्रतम रूप से अभिव्यक्त करने के लिए दृश्य-विधान की व्यवस्थित शैली खड़ी की, तभी से रंगमंच पर विभिन्न प्रकार के ऐसे चित्रित परदे या सपाटे (फ़्लैट) टाँगे जाने लगे, जो या तो घिर्री पर ऊपर लपेट दिये जाते थे या लकड़ी के ढाँचों में कसकर इधर-उधर सरका दिये जाते थे। किन्तु आगे चलकर दृश्य-परिवर्तन अर्थात् किसी यंत्र या हाथ के द्वारा सारा का सारा दृश्य सहसा बदल देना भी रंगमंच का अद्भुत कौशल समझा जाने लगा। यों तो यूनानी रंगमंच पर भी कुछ यन्त्रों का प्रयोग होता था, जैसे—आकाश में किसी देवता को दिखाने के लिए टाँगन (ड्युक्स एक्स मशीन), पीछे की भवनाभास भित्ति (स्क्रीन) के साथ खड़े हुए चित्रित त्रिकव (त्रिपक्षीय चक्र), जो लकड़ी की खूँटियों पर घूम जाते थे। मध्यकाल तथा पुनर्जागरण-काल एवं सत्रहवीं और अठारहवीं शताब्दियों में इटली, इंग्लैण्ड तथा यूरोप की सभी रंगशालाओं में भी ऐसे ढकनेदार गड्ढे रंगमंच पर बनाये जाते थे जिनमें से धुएँ या आग की लपट के साथ पात्र प्रकट होते थे तथा सरकौआ चौतरों का भी प्रयोग किया जाता था। किन्तु जब दृश्यात्मक परदों का प्रयोग होने लगा तब तो गोल लट्ठों पर रस्सियों के सहारे रँगे हुए परदे लटकाये और लपेटे जाने लगे। इतना यान्त्रिक प्रयोग होने पर भी प्रकाश की व्यवस्था उस समय तक नहीं हो पायी थी।

किन्तु जिस युग (अठारहवीं शताब्दी) में यूरोपीय रंगशाला वाले केवल इतने तक ही पहुँच पाये थे, उस युग में जापानियों ने चक्रिल रंगशाला (रिवॉल्विंग स्टेज) स्थापित करके नाट्य-जगत् में चमत्कार उत्पन्न कर दिया। सन् १८९८ ई० में म्यूनिख में उसी का अनुकरण करके चक्रिल रंगमंच स्थापित किया गया, उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त में जर्मनी में कुछ उठौवा और सरकौआ मंच भी बनाये गये और उनके साथ-साथ कुछ ऐसे मंच भी बनाये गये जो पूरे दृश्यपीठ के साथ सरकाकर हटा दिये जा सकते थे। ये चल मंच (वैगन स्टेज) बिजली के सहारे चलाये जाते थे। बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में प्राचीन रंगशालाओं का रूप और आकार-प्रकार बदल गया। अब तो ३५ से ४० फुट चौड़े और ७० से ८० फुट तक लम्बे और ६० फुट ऊँचे रंगमंच बनाये जाने लगे हैं जिनमें तीन-तीन खंड ऊँचे भवनों के दृश्य भली भाँति दिखाये जा सकते हैं।

सात प्रकार के दृश्य-विधान

यदि हम विश्व भर की रंगशालाओं के दृश्य-विधान का विश्लेषण करें तो हमारे सम्मुख ग्यारह प्रकार के दृश्य-विधान उपस्थित होते हैं—१. प्राचीन भारतीय मंच जो दो स्तर का होता था, जिसमें दोनों ओर दो मत्तवारणी बनी हुई थीं, दोनों पार्श्वों में आगे से पीछे तक तीन-तीन कक्षाएँ होती थीं, नेपथ्य से रंगमंच पर खुलनेवाले द्वार पर जवनिका टँगी रहती थी और रंगमंच अत्यन्त कलात्मक ढंग से सजा रहता था। २. चीनी या जापानी रंगपीठ, जिनमें पीछे एक चित्रित भारी परदा टँगा रहता है और रंगपीठ के तीन ओर दर्शक बैठे रहते हैं। ३. चौखटेदार रंगपीठ (पिक्चर फ़्रेम स्टेज) जिसमें आगे एक मत्था (प्रोसीनियम आर्च), दो बड़ी पखवाइयाँ (विंग्स) और उसके पीछे दृष्टिक्रम-रेखा (पर्स्पेक्टिव लाइन) में दोनों ओर तीन से पाँच फुट तक चौड़ी पखवाइयों के कई जोड़े, जो विभिन्न प्रकार के दृश्यों के लिए आगे-पीछे सरकाकर दृश्य पूर्ण करने में काम आते हैं, रंगमंच के अग्रभाग से लेकर पीछे तक विभिन्न दृश्यों से चित्रित परदों की पंक्ति जो रस्सी के सहारे लकड़ी के बेलनों पर ऊपर लपेटी जाती है और दृश्य के अनुसार खोलकर लटका दी जाती है। ४. पेटिका-रंगमंच (बॉक्स स्टेज) जो डब्बे के रूप में सामने की ओर से खुले रहते हैं, जिनमें एक आगे का परदा, पीछे तीनों ओर लकड़ी की भीतें और ऊपर या तो झालरें टँगी होती हैं या छत के समान ऊपर भी लकड़ी लगी होती हैं। ऐसे रंगपीठों में रंग के परदे लगाकर ही नाटक खेल लिया जाता है। आजकल के मनोवैज्ञानिक नाटकों में प्रायः इसी प्रकार के परदों का प्रयोग किया जाता है। ५. दृश्य-पीठात्मक रंगमंच (सेटिंग स्टेज); परदों के बदले केवल दृश्य-पीठ (सेटिंग) लगाना। ये दृश्य-पीठ द्वि-परिमाणात्मक (टू डाइमेन्शनल) भी होते हैं और त्रि-परिणामात्मक (थ्री डाइमेन्शनल) भी, जिसमें चौड़ाई, लम्बाई और गहराई तीनों होती हैं। ६. आकाशरेखा रंगमंच, जिसमें केवल सम्पृक्त दृश्यपीठ का ही प्रयोग होता है, न ऊपर झालरें होती हैं न दोनों ओर पखवाइयाँ होती हैं, वरन् वास्तविक दृश्य के समान ऊपर खुला आकाश रहता है। ७. मिश्र मंच, जहाँ परदे और दृश्यपीठ दोनों का सम्मिलित प्रयोग होता है। ८. स्थिर रंगपीठ या वास्तविक रंगपीठ, जिसमें बना-बनाया पक्का रंगपीठ होता है किन्तु उस पर एक ही प्रकार के नाटक खेले जा सकते हैं। ९. यन्त्रमय रंगपीठ, जिसके अन्तर्गत आज के वे सभी रंगमंच आ जाते हैं जिन पर यन्त्र से दृश्य-संचालन होता है, जैसे चक्रिल मंच (रिवॉल्विंग स्टेज), सरकन मंच (स्लाइडिंग स्टेज), चल मंच (वैगन स्टेज) आदि। १०. प्रयोगात्मक मंच, जिनमें दृश्य-सज्जा सम्बन्धी नये प्रयोग हो रहे हैं, जैसे निर्माणात्मक मंच (कन्स्ट्रक्टिव स्टेज), भावात्मक

दृश्य-चित्रण (एब्स्ट्रैक्ट पेंटिंग) आदि अथवा ज्यामितीय रेखात्मक चित्र। ११. यान मंच—जो एक स्थान से दूसरे स्थान पर गाड़ी पर सजाकर ले जाये जा सकते हैं।

इनमें से चाहे जो भी रंगमंच-पीठ लिया जाय किन्तु रंगाध्यक्ष का कौशल इस बात में है कि वह उसे अधिक से अधिक स्वाभाविक और वास्तविक बना दे। यदि शयन-कक्ष का दृश्य हो तो शयन-कक्ष की सब आवश्यक सामग्री—बत्ती, खूँटी, घड़ी, फूलदान, चित्र, खिड़की, शय्या के पास चौकी, शृंगारपीठिका, दर्पण, छोटा-सा पुस्तकाधार आदि—इस कला के साथ रखी हो कि वह न तो अभिनय में बाधा दे, न अपूर्ण लगे, न अतिरंजित प्रतीत हो। इसी लिए आजकल रंग-विधान में रंग-योजन (स्टेज कम्पोज़िशन) का बड़ा महत्त्व माना गया है। कुछ वर्तमान नाट्याचार्यों का मत है कि रंग-विधान का नाटककार ने भले ही निर्देश न किया हो किन्तु वह इस प्रकार किया जाय कि रंगपीठ पर होने वाला व्यापार कई धरातलों पर (कई ऊँचे-नीचे स्थलों पर) हो, एक तल पर नहीं। उनका कथन है कि नाटकीय व्यापार रंगमंच के कई कोणों से प्रादुर्भूत होना चाहिए। पहले रंगशालाओं में सहसा नीचे से देवता या राक्षस प्रकट करने या लुप्त करने के लिए रंग-पीठ के बीच में गड्ढा बना देते थे, किन्तु अब तो ऐसी अनेक पद्धतियाँ निकल गयी हैं कि रंगमंच पर काँच की छाया के द्वारा कोई भी व्यक्ति खड़े-खड़े सबके देखते-देखते लुप्त या प्रकट कर दिया जा सकता है।

इधर मास्को थिएटर और रूसी कलाकारों ने दृश्य-विधान में चित्रों के बदले ज्यामिति के विभिन्न आकरों में रेखात्मक भावचित्र बनाने प्रारम्भ किये हैं। उन्होंने निर्माणात्मक रंगपीठ पर सीढ़ी, ढोल, चौकोर या तिकोने लकड़ी के टुकड़े आदि के ढाँचे लेकर उन्हें विभिन्न प्रकार से सजाकर केवल बिजली के प्रकाश से छाया देकर विभिन्न प्रकार के दृश्य बनाने का भी आयोजन किया है। इसके अतिरिक्त भावात्मक दृश्य-विधान भी चल पड़ा है, जिसमें अनेक प्रकार की वस्तुओं का चित्र संयोजित करके एक विशेष भाव प्रदर्शित किया जाता है। किन्तु सबका उद्देश्य यही है कि जिस प्रकार भी हो, श्रोता या दर्शक के मन में नाटक की कथा-वस्तु अधिक से अधिक प्रभावशाली रूप से अंकित कर दी जाय और इस उद्देश्य की सिद्धि के लिए वर्तमान सभी रंग-व्यवस्थापक रंगदीपन को अपना सबसे बड़ा सहायक मानते हैं।

अध्याय २९

रंग-दीपन (स्टेज लाइटिंग)

भरत ने अपने नाट्यशास्त्र में नाटक के लिए जो समय निर्धारित किया है, उसमें दो समय, प्रातः और तीसरे पहर तो प्रकाश की आवश्यकता नहीं है, किन्तु रात्रि के प्रथम और अन्तिम प्रहर में अवश्य बाह्य प्रकाश की आवश्यकता और विशेष व्यवस्था अपेक्षित है। प्रातः और तीसरे पहर भी शैलगुहाकार नाट्यशाला में बाहरी प्रदीपन के बिना काम नहीं चल सकता, इसलिए भरत ने रंगप्रदीपन के सम्बन्ध में निर्देश देते हुए कहा है—जलता हुआ दीपक लेकर सम्पूर्ण रंगमंच को प्रदीप्त कर देना चाहिए (३।९३) अर्थात् रंगमंच पर रखे हुए दीपक जला दिये जायँ।

रंगदीपन का विकास

भारतीय नाट्यशास्त्र में रंगदीपन की जो पद्धति दी गयी है, उससे यूरोपीय रंगदीपन पद्धति भिन्न थी। यूनानी नाट्यशालाओं में दिन में ही नाटक होते थे, इसलिए वहाँ रंगदीपन की समस्या बहुत जटिल नहीं हो पायी। यदि वहाँ भी नाटक रात को हुआ करते, तो बीस-तीस सहस्र दर्शकों के लिए रंगदीपन की व्यवस्था करना संभव नहीं था। यही दशा रोम के रंगमंच की भी थी। सर्वप्रथम इतालिया-निवासी सर्लियो ने रंगमंच पर प्रकाश-विधान की आवश्यकता का महत्त्व समझा। उसने वर्णन किया है कि मैंने रंगीन पानी की शीशियों के पीछे मोमबत्तियाँ और लूकें (मशालें) रखकर दृश्य-सज्जा के बीच से प्रकाश डालने का प्रयत्न किया और प्रकाश को बढ़ाये रखने के लिए उन बत्तियों और लूकों के प्रतिबिम्बक (रिफ़्लेक्टर्स) के रूप में थालियाँ और तश्तरियाँ लगायी थीं। प्रारम्भिक ढकी हुई छत वाली रंगशालाओं में उल्काओं, चीड़ की गाँठों, तैरती हुई बत्तियों वाले तेल के दीवों या मोमबत्तियों से प्रकाश किया जाता रहा। इस प्रकार के प्रकाश का सर्वप्रथम प्रयोग इटली के 'पैलेडियो थिएटर' और इंग्लैण्ड के 'ब्लैक फ़्रायर्स इन' नामक बन्द रंगशाला में किया गया, जिनमें १५७६ से पहले कोई नाटक नहीं हुआ। कृत्रिम प्रकाश का उपयोग करने की पद्धति तभी से प्रारम्भ हुई, जब से बन्द नाट्यशालाओं में नाटक होने लगे। इंग्लैण्ड में

इनिगो जोन्स ने ही सर्वप्रथम इतालवी रंगमंच का स्वरूप लेकर रंगमुख (प्रोसीनियम आर्च) का प्रयोग किया और रंगशाला के भीतरी भागों में ऐसा सुनहरा रंग किया जो मंडप में रंगमंच के ऊपर छत से लटकी हुई मोमबत्तियों के झुण्ड का प्रकाश प्रतिबिम्बित करता था। इन बत्तियों से जो सामान्य प्रकाश होता था, वह भी उस युग में बहुत तीव्र समझा जाता था।

मोमबत्ती

सन् १६२८ में तत्कालीन रंगदीपन का वर्णन करते हुए जोसेफ़ फुरटेनबाख ने कहा है कि तल-दीप (फ़्लोट्‌स या फुटलाइट) और पक्ष-दीप (विंगलाइट या बॉर्डर्स) के रूप में मोमबत्तियाँ काम आती थीं। सन् १७७५ में प्रसिद्ध अभिनेता डेविड गैरिक ने नीचे मंच के सामने मोमबत्तियों की पंक्ति सजाकर उसके पीछे टीन के ढकने लगा दिये, जिससे दर्शकों की आँखें न चौंधियाएँ। रंगदीपन के इतिहास में यह नया प्रयोग था। १८वीं शताब्दी से तेल के दीपकों का प्रयोग प्रारम्भ हो गया। न्यूयार्क में सन् १७६७ में निर्मित 'जॉन स्पीड थिएटर' में तीस वर्ष तक मोमबत्तियाँ ही जलायी जाती रहीं।

तैल-दीप

सन् १७८३ में जब आरगैण्ड लैम्प का आविष्कार हुआ और मिट्टी का तेल और कैफाइन (शुद्ध किया हुआ तारपीन का तेल) तथा अन्य उच्च श्रेणी के तीव्र प्रकाशक पदार्थ काम में लाये जाने लगे, तब रंगशाला को और भी अच्छा प्रकाश प्राप्त होने लगा। सादा तेल और बत्ती के साथ काँच की चिमनी वाला नया दीपक चार सहस्र वर्षों में प्रकाश के सम्बन्ध में सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण आविष्कार था, क्योंकि इस दीप में पहली बार प्रकाश की खुली लौ के बदले उसे काँच की चिमनी से घेर दिया गया था। धीरे-धीरे ये दीपक मोमबत्तियों के बदले काम में लाये जाने लगे। ये दीपक कुछ तो इकट्ठे बहुत से छत से लटका दिये जाते थे और ये ही दीपक तल-दीप (फुटलाइट), अंचल दीप (बॉर्डर्स) तथा पक्ष-दीप (विंग लाइट्स) के रूप में भी प्रयुक्त होते थे। किन्तु इतना विकास हो चुकने पर भी अभी तक केवल इतना ही प्रकाश उपलब्ध होता था कि अभिनेता और दृश्य-सज्जा पहचानी जा सके।

गैस-बत्ती

इसके पश्चात् गैस का पदार्पण हुआ। सन् १७८१ में इंग्लैण्ड के विलियम मरडोक

ने उसके निर्माण का सर्वाधिकार (पेटेन्ट) ले लिया और सन् १८०३ में लन्दन के 'लीसियम थिएटर' में एफ० ए० विन्डसर ने गैस के प्रकाश की व्यवस्था कर ली। सन् १७९६ में फिलेडेल्फिया में बाह्य प्रकाश के लिए गैस का प्रयोग किया गया और वहीं सन् १८१६ में 'चेस्ट नट स्ट्रीट औपेरा हाउस' में गैस के प्रकाश की व्यवस्था कर दी गयी। यह गैस रंगशाला के पास रंगशाला के लिए ही उत्पादित की जाती थी इसलिए गैस -प्लान्ट लगाना व्यय-साध्य हो गया था, क्योंकि सन १८५० से पहले गैस का व्यापक प्रयोग नहीं हो पाया था। प्रारम्भ में गैस की टोंटियों या दीप-मुख (बार्नर्स) से या तो खुली लौ निकलती थी या खुले मुँह वाली काँच की चिमनियाँ उन पर लगी रहती थीं, किन्तु सन् १८८६ में वेल्सबाख प्रकाशजाली (इनकेंडिसेन्ट मैन्टिल) का आविष्कार हुआ जिससे प्रकाश की तीव्रता कई गुनी बढ़ गयी और इनका प्रयोग अंचलदीप (बॉर्डर्स), तलदीप (फुट लाइट), पक्षदीप (विंग लाइट) और समूह-दीप (ग्रुप लाइट) सबमें होने लगा।

गैस के आविष्कार से एक लाभ यह हुआ कि एक ही स्थान से पूरे रंगमंच का प्रकाश नियंत्रित किया जा सकता था। इस नियन्त्रण के लिए बारह-बारह इंच चौड़ी नलियों के साथ सहस्रों फुट सीधी और घुमायी जा सकनेवाली नलियाँ लगायी गयीं। लन्दन के 'लीसियम थिएटर' और अमेरिका के 'बोस्टन थिएटर' में सर्वप्रथम इस प्रकार के गैस-नियन्त्रक साधनों (गैस टेबिल्स) का प्रयोग किया गया। ये साधन इतने उपयोगी सिद्ध हुए कि बिजली के प्रारंभिक नियंत्रण-फलक (कन्ट्रोल बोर्ड) भी इन्हीं गैस टेबिलों के समान बनाये गये। यह नियंत्रण-फलक प्रेरक (प्रॉम्पप्टर) के पास ही रहता था जो एक मुख्य खटके (वाल्व) के द्वारा पूरे रंगमंच के प्रकाश को इच्छानुसार नियन्त्रित कर देता था। इस मुख्य खटके (वाल्व) के साथ और भी बहुत से मन्दक-खटके (डिमर वाल्व) और झटक-बटन (प्रेस-बटन) लगे रहते थे जिनके द्वारा तीव्र प्रकाश के झोके दिये जा सकते थे। किन्तु इस प्रणाली में आग लगने की बहुत आशंका रहती थी। इस युग की रंगशालाओं में बहुत बार लम्बे डंडों पर लगे हुए जलते स्पिरिट के उन डट्टों से आग लगी जो दृश्यपीठों में लगी हुई गैस की टोंटियों (बर्नर्स) को जलाने के लिए प्रयुक्त होते थे। कभी-कभी नर्तक के महीन कपड़े भी गैस के तलदीपों से आग पकड़ लेते थे। इन संकटों के कारण नियम बना दिये गये कि रंगशाला के विभिन्न स्थानों पर कहाँ कितने बर्नर लगाये जायँ और खुली हुई लौ पर ढक्कन या काँच की रोक लगा दी जाय। इसी युग में नाटक होने के समय प्रेक्षागृह का प्रकाश मन्द करने की पद्धति भी चली और इस प्रकार रंगशाला ने यह महत्त्वपूर्ण तथ्य खोज निकाला कि रंगमंच के अभिनेता और वहाँ की वस्तुओं को दृश्य बनाने

के लिए और दर्शकों को शान्त तथा एकाग्र बनाये रखने के लिए रंगमंच पर प्रकाश और प्रेक्षागृह में अन्धकार आवश्यक है।

गैस के प्रकाश ने दृश्य-सज्जा (सीनिक डिज़ाइन) और चित्रकारी (सीन पेंटिंग) पर भी बहुत बरसों तक के लिए अपनी गहरी छाप छोड़ी। उस समय के प्रकाश के साधन न तो बहुत कम थे और न बहुत पर्याप्त। तब प्राचीन ढंग के अंचलदीप (बॉर्डर्स), पक्षदीप (विंग लाइट) और तलदीप (स्पॉट लाइट) चलते रहे, जिनमें केवल इतना ही परिवर्तन हुआ कि तेल के डोंगों (फ़्लोट अर्थात् लम्बे खाँचीदार नाव के आकार के टीन के टुकड़े जिनमें तेल भरकर बीच-बीच में बत्तियाँ लगा दी जाती थीं) में चिमनियों और मोमबत्तियों के बदले गैस की टोंटियाँ (बर्नर) लगा दी गयी थीं।

गति-शील प्रकाश

हैनरी इर्विंग ने वास्तविकता के प्रभाव के प्रयोग में अधिक गतिशील प्रकाश के लिए एक-एक दीप का प्रयोग करके अन्य दीपों के सम्मुख पतले रंगीन रेशम के टुकड़े या परदे खींचकर उनका प्रकाश अन्ध करने का प्रबन्ध किया। उसने फलक-दीपों (बेटन) तथा अंचल-दीपों (बॉर्डर्स) में दो-दो बत्तियों के बीच में ओट लगाकर उन्हें खण्डों में बाँट दिया। आगे चलकर उसने स्थल-प्रकाशक (स्पॉट लाइट) का प्रयोग किया और इस प्रकार उस यंत्र की बहूपयोगिता बढ़ा दी। उसी समय रंगमंच के पीछे वृत्तभित्ति (साइक्लोरामा) का प्रयोग चला, जो अब भी रंगमंच पर बहुत उपयोगी सिद्ध हो रहा है।

चूना-प्रकाश

सन् १८१६ में टॉमस ड्रमण्ड ने चूना-प्रकाश (कैलसियम लाइट या लाइम लाइट) का आविष्कार किया, जिसका सन् १८६० तक रंगमंच पर व्यापक प्रयोग होने लगा। तब से अंग्रेज़ी में 'लाइम लाइट में आने' अर्थात् जनता के सामने आने की रूढोक्ति ही चल पड़ी। यह प्रकाश अत्यन्त श्वेत और केन्द्रित होता है इसलिए यह किसी लैन्स के पीछे या अनुवृत्त अथवा परवलय प्रतिबिम्बक (पैराबोलिक रिफ़्लेक्टर) के सामने केन्द्र-प्रकाशक (स्पॉट लाइट) के रूप में काम में लाया जा सकता था। इस यन्त्र का प्रकाश पूरे दृश्यपीठ के आगे पात्रों की गति के साथ-साथ भी चल सकता था और उससे रंगमंच पर व्यापक फैला हुआ प्रकाश भी किया जा सकता था, इसलिए प्रकाश-संचालक को बहुत एकाग्र और सावधान रहना पड़ता था।

बिजली का प्रारम्भ

रंगशाला में बिजली का प्रयोग सन् १८०८ में सर हैम्फ्री डेवी ने वृत्त-प्रकाश (आर्क) के आविष्कार के साथ किया। इसने सन् १८०२ में चकमक दीप (इनकैन्डिसेन्ट लैम्प) के साथ बिजली का प्रयोग किया था। यद्यपि यह दीप चूना-प्रकाश (लाइम लाइट) से पहले ही आविष्कृत हो चुका था, किन्तु वह बहुत दिनों तक काम में लाया नहीं जा सका था। उसमें झंझट यह थी कि उसे बार-बार ठीक करना पड़ता था, क्योंकि उसका कार्बन थोड़ी-थोड़ी देर में समाप्त हो जाता था, किन्तु वृत्त-प्रकाश (आर्क) का प्रयोग चूना प्रकाश (लाइम लाइट) की अपेक्षा कहीं अधिक अग्रेसर था। इस वृत्त-प्रकाश (आर्क) से दो प्रकार के दीप बनाये गये—एक में तो कार्बन के पीछे परवलय प्रतिबिम्बक (पैराबोलिक रिफ़्लेक्टर) लगाये जाते थे और दूसरा हाथ से संचालित ढक्कनों से युक्त था। इनमें से प्रथम का प्रयोग एम० जे० दुबोसेक और एम० फोनकाल्ट ने सन् १८४६ में किया था। पाँच वर्ष पीछे एम० जे० दुबोसेक ने इसी वृत्त-प्रकाश (आर्क) के आधार पर एक नया विद्युत्-यंत्र बनाया, जो अब भी काम आता है, एवं एक इन्द्रधनुष दीपक (रेनबो लैम्प) बनाया और एक प्रकाशमान आलोक फ़ौव्वारा (लाइट फाउण्टेन) बनाया।

जाब्लोखोव बत्ती

सन् १८७८ में पॉल जाब्लोखोव ने दो खड़ी समानान्तर कारबन सलाइयाँ लेकर उनके बीच में सुरक्षा-मिश्रण (इन्सुलेटिंग कम्पाउंड) लगाकर एक जाब्लोखोव बत्ती बनायी। वैसी बावन बत्तियाँ फ्रांस के लियोन्स नगर के 'बैलको थियेटर' में सन् १८७९ में प्रयुक्त की गयीं। किन्तु यह प्रणाली बहुत लोकप्रिय न हो पायी, क्योंकि एडिसन ने सन् १८७९ में जो प्रकाशदीप (इनकैन्डिसेन्ट लैम्प) चला दिया था, उसकी यह समता नहीं कर सका। इस प्रकाशदीप के आविष्कार से रंगशाला में पहली बार स्वच्छ, स्पष्ट, अत्यन्त शक्तिशाली और सरलता से नियंत्रित किये जाने वाले प्रकाश का साधन प्राप्त हो गया। इसके आ जाने से पहली बार यह प्रकाश ऐसे अनेक गतिशील रूपों, रंगों, तीव्रताओं तथा प्रकारों में काम आने लगा, जैसा पहले कभी सम्भव न था। वैगनर ने अपने नृत्य-नाटकों (ऑपेरा) में प्रकाश के प्रयोग की जो सम्भावनाएँ सुझायी थीं, उन्होंने नाट्यशाला के प्रयोक्ताओं के मानस को बहुत प्रेरित किया और उसी समय से अनेक प्रकार के प्रकाश-यंत्र आविष्कृत होने लगे और रंगदीपन भी कला के रूप में विकसित होने लगा।

किन्तु इन प्रकाश-दीपों के आविष्कार ने ही वर्तमान रंगदीपन की शैली को रंगशाला में नहीं पहुँचाया। हाँ, यह अवश्य है कि पुरानी शैली के प्रकार-साधनों की अपेक्षा इसका प्रभाव वेग से बढ़ा। सर्वप्रथम सन् १८८०-८१ में पेरिस के ग्रैण्ड ऑपेरा में अनेक प्रयोगों के फलस्वरूप इन प्रकाश-दीपों की व्यवस्था हुई। इस प्रयोग को सन् १८८२ में म्यूनिख के इलिक्ट्रो टेखनिसखे आउस्टेलूम में 'स्थिर थिएटर' के द्वारा सबसे अधिक प्रेरणा प्राप्त हुई। प्रेक्षागृह और रंगदीपन के लिए इनकैन्डिसेन्ट और आर्क प्रकाशों का प्रयोग हो रहा था और रंगमंच के अलग-अलग भाग दूर से नियंत्रित रंगीन ढक्कनों से भी संयुक्त थे। रंग-परिवर्तन के लिए 'अनुगंता तार यान्त्रिक प्रणाली' (ट्रैकर वायर मैकेनिकल मेथड) का जो प्रयोग उस समय प्रारम्भ हुआ वह आज तक ज्यों का त्यों चला जा रहा है।

सर्वप्रथम (सन् १८८३ में) जर्मनी में ही पूर्णतः बिजली के प्रकाश से समन्वित स्टुटगार्ट में 'लान्डेस थियेटर', म्यूनिख में 'रेसिडेन्स थियेटर', वियेना में 'स्टाटसोपर' और ब्रूम में 'स्टाट थियेटर' थे। लन्दन के 'सेवाय थियेटर' और बोस्टन के 'वीजू थियेटर' में विद्युत्-प्रकाश की व्यवस्था सन् १८८२ में हुई। न्यूयार्क में बोबारी पर 'पीपुल्स थियेटर' में सन् १८८५ में बिजली के प्रकाश की व्यवस्था हुई। सन् १८८२ में ही रंग-व्यवस्थापकों की एक सभा में भवनों और रंगशालाओं में बिजली से प्रकाश करने का समर्थन किया गया और सन् १८९१ में ही यह प्रणाली इतनी सुव्यवस्थित हो गयी थी कि प्रशा में राजनियम बना दिया गया कि किसी भी रंगशाला में गैस का प्रयोग न हो।

बिजली की बत्तियों का विकास

प्रारम्भ में बिजली के प्रकाश-दीपों (इन्कैन्डिसेन्ट लाइटों) का प्रयोग केवल तल-दीप (फुटलाइट), अंचल-दीप (बॉर्डर्स) और पार्श्वदीपों (साइड लाइटों) में होता रहा। जहाँ कहीं केन्द्रीय प्रकाश की आवश्यकता होती थी, वहाँ वृत्त-प्रकाश (आर्क) का प्रयोग होता था। उन दिनों बिजली की बत्तियाँ कार्बन तन्तु (कार्बन फिलामेन्ट) की होती थीं, जिनका प्रकाश कुछ मन्द नारंगिया रंग का होता था। धीरे-धीरे कार्बन के बदले ओस्मियम, टेटेल, ढाला हुआ टंगस्टेन और अन्त में खिचा हुआ टंगस्टेन ही प्रकाश-तन्तु (फिलामेन्ट) बनाने के काम में आने लगा। आगे चलकर इन बत्तियों में नाइट्रोजन और आइगौन मिलाकर भरने से बत्तियों की चमक बढ़ गयी और आकार घट गया। आजकल के स्थल-दीप (स्पॉट लाइट) के लिए लपेटे तार-तन्तु (क्वायल्ड कौएल फिलामेन्ट) की बत्ती, गैसें-भरी हुई बत्ती और ताप-निरोधक

काँच के गोले वाली पाँच सौ वाट की बत्तियाँ केवल डेढ़ इंच व्यास की भी मिलने लगी हैं और पाँच हज़ार वाट की बहुत बड़ी बत्तियाँ भी काम में आ रही हैं।

आकाश-गुम्बद

प्रकाश के इन साधनों से रंगदीपन में बड़ा विकास हुआ। प्रसिद्ध नाट्य-प्रयोक्ता और अभिनेता स्टील मैक्केयी ने वर्तमान रंग-प्रभाव तथा अन्य अनेक प्रकार के प्रकाश-प्रभाव वाले यंत्र बनाये थे। मारियो फौर्तूनी ने कुप्पेल हौरिजोन्ट या डोम (आकाश-गुम्बद) बनाया, जो स्वाभाविक या दृश्यात्मक आकाश और पृष्ठभूमि-प्रभाव के लिए अब भी सर्वोत्कृष्ट साधन माना जाता है। उसने एक रंगदीपन की प्रणाली भी निकाली थी, जो उसी के नाम से प्रसिद्ध है, जिसमें उसने रंगीन रेशम के टुकड़े बत्तियों के पीछे लगाकर प्रकाश रंगीन करने और फैलाने के लिए प्रयुक्त किये थे। इन रेशम के परदों को इधर-उधर सरकाकर रंग परिवर्तित किया जा सकता था और चमक कम की जा सकती थी।

डेविड बलास्को और उसके विद्युत्-संचालक लुई हार्टमान ने तल-दीप (फुटलाइट) का पूर्णतः बहिष्कार कर दिया, जिसका सुझाव वर्षों पहले हेनरी इरविन दे चुका था। उसने प्रेक्षागृह में से तथा रंगमुख के मत्थे पर से अभिनय-प्रदेश में प्रकाश डालने के लिए अलग-अलग बत्तियों का प्रयोग किया। उसके यन्त्रों ने विशेष प्रतिबिम्बक झालर (रिफ़्लेक्टर बॉर्डर्स) और लघु काचस्थल-दीप (बेबी लैन्स स्पॉट) के द्वारा स्वाभाविक प्रकाश का ऐसा मानदण्ड स्थापित किया, जो आज तक भी संयुक्त राज्य अमेरिका की सभी रंगशालाओं में प्रयुक्त होता है। जर्मनी में लेनेदाख, हसायट तथा अन्य अनेक नाट्य-प्रयोक्ताओं ने नाट्यशाला के यांत्रिक विकास में बहुत योग दिया है; उन्होंने एक लिपटने वाली वृत्त-भित्ति (रोलिंग साइक्लोरामा) का आविष्कार किया और प्रकाश के नियंत्रण की भी बड़ी विशद प्रणालियाँ निकालीं। उन्होंने फौर्तूनी प्रकाश-प्रणाली का प्रयोग ऐसा छोड़ा कि अब उसका अत्यन्त संकोच के साथ कहीं-कहीं और कभी-कभी प्रयोग होता है।

स्थल-दीप

आजकल कठोर काँच (हार्ड ग्लास) के गोलों (ग्लोब) वाले और केन्द्रित प्रकाश-तन्तु (फिलामेन्ट) वाले छोटे प्रकाश-दीपों तथा नये प्रकार के प्रतिबिम्बक साधनों का ऐसा विकास हुआ है कि दो नये प्रकार के स्थल-दीप (स्पॉट लाइट) बन गये हैं। एक में तो दीप (लैम्प) के बल्ब का व्यास कम करके और फ्रेसमेल या स्टैप्ड लेंस का

का प्रयोग करके अभिनय के क्षेत्र में प्रकाश किया जाने लगा है, जो व्यापक प्रभाव मिला देने में सरल होता है। यह यंत्र अत्यन्त प्रभावोत्पादक होता है और कोमल अंचल-

चित्र ७१---रंगशालाओं के लिए प्रकाश-व्यवस्था
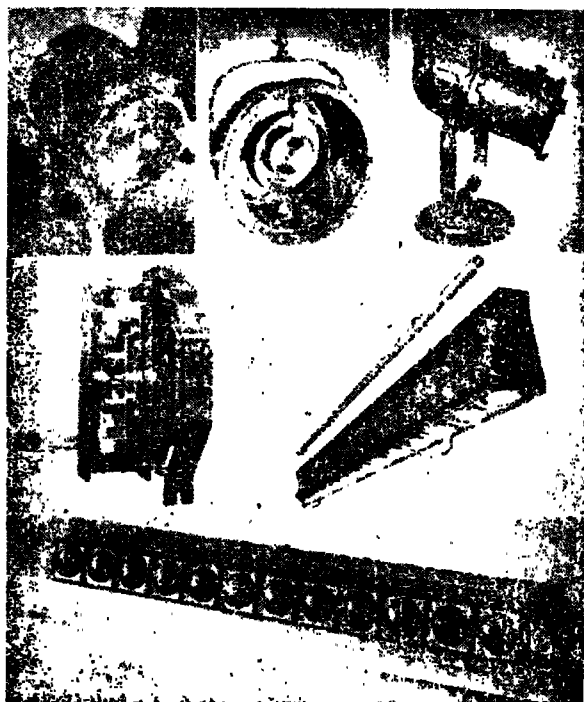
१. स्थलदीप (स्पॉट लाइट)

२. रेखाप्रकाश-दीप (बीमलाइट प्रोजेक्टर)

३. बाह्य लेंस और अण्डाकार प्रतिबिम्बक जो प्रकाश देता है।

४. मोटरचालित स्वयं परिवर्तक मंदक (आटो डिमर)

५. अंचल-दीप (बार्डर लाइट) जो अन्य प्रकाश ठीक करने के लिए लगाये जाते हैं।

६. तलदीप (फुट लाइट)

दीप (बॉर्डर लाइट) के प्रकाश के साथ समान प्रकाश देता है। दूसरे प्रकार का स्थल-दीप (स्पॉट लाइट) इससे पूर्णतः भिन्न है। इसमें बत्ती का सारा प्रकाश इकट्ठा करके लेंस के द्वारा फेंकने के बदले प्रतिबिम्बक के द्वारा पुनः प्रक्षिप्त किया जाता है।

प्रतिबिम्बक

अण्डाकार प्रतिबिम्बक (ओवल रिफ़्लेक्टर) में एक बड़ी विशेषता यह होती है कि उसके सहायक केन्द्रों पर जो प्रकाश उत्पन्न होता है, उसे वह दूसरे सिरे से पुनः प्रक्षिप्त कर देता है। यही अण्डाकार प्रतिबिम्बक स्थल-दीप (ओवल रिफ़्लेक्टर स्पॉट लाइट) का सिद्धान्त है। इसके लिए एक नली के समान काँच के खोल वाली और साधारणतः ऊपर सिर वाली (बेस अप बर्निंग प्रकार की) केन्द्रित प्रकाश-तन्तु (फिलामेन्ट) वाली बत्ती प्रतिबिम्बक में केन्द्रबिन्दु के पास प्रकाश-तन्तु (फिलामेन्ट) रखकर व्यवस्थित कर दी जाती है। इसके पश्चात् प्रतिबिम्बक और साथ के केन्द्रबिन्दु के बीच एक ढकना रख दिया जाता है, जो प्रतिबिम्बित प्रकाश से भरा रहता है। तब एक या दो लेंस इस ढकने के बिम्बक में बाहर प्रकाश के स्थान पर प्रक्षिप्त करते हैं। इस प्रकार समान तीव्रता वाले क्षेत्र उत्पन्न हो जाते हैं। इसके पश्चात् ढक्कनों के द्वारा रेखा-प्रकाश (बीम लाइट) दिया जा सकता है या ढक्कन पर और दूसरे प्रकार से नियंत्रित किये जा सकते हैं और बाहर के लेंस को बाहर-भीतर करके प्रकाश के छोर गहरे या हलके किये जा सकते हैं। इस प्रकार फ्रेंसनेल लेंस स्पॉट लाइट के सब प्रभाव इससे उत्पन्न किये जा सकते हैं। इन दोनों उपर्युङ्कित प्रकार के स्थल-दीपों ने संसिद्ध समान-उत्थित काच स्थल-दीप (स्टैन्डर्ड प्लेनो कन्वैक्स लेंस स्पॉट) का स्थान ले लिया है।

बिजली की पट्टी (स्ट्रिप लाइट)

इन स्थल-दीपों (स्पॉट लाइट्स) के अतिरिक्त तीन अन्य प्रकार के प्रकाश-साधन रंगमंच पर बहुत विस्तार से प्रयुक्त होते हैं। इनमें से पहला है पट्टी-प्रकाश (स्ट्रिप लाइट), जो वास्तव में पहले ही रूप में काम में आता है, क्योंकि प्राचीन पक्ष या छोर प्रकाश (विंग या बॉर्डर लाइट) दोनों पट्टियों के ही रूप में होते थे। पट्टी प्रकाश में नवीनतम विकास यह हुआ है कि अलग-अलग प्रतिबिंबक प्रकार के लेंस लगे हुए हैं और ये लेंस बुने हुए प्रतिबिंबक (स्पन्ज रिफ़्लेक्टर) में रंगीन काँच के गोले या रंगीन कागज (जिलेटिन) या रंगीन काँच के ढाँचे में लगे रहते हैं।

महादीप (फ़्लड लाइट्स) तथा सकोण दीप (एंगिल लाइट)

दूसरा है महादीप (फ़्लड लाइट्स), जो विशेष प्रकार के प्रतिबिंबकों के साथ अलग-अलग दीपों में लगाया जाता है। ये सँकरी या चौड़ी रेखा (बीम) के रूपों में बने होते हैं और इनमें छोटे या बड़े सभी प्रकार के दीप लगाये जा सकते हैं। तीसरा है चौड़ा सकोण महादीप (ऐंगिल फ़्लड लाइट), इसका प्रयोग पीछे के परदों या वृत्त-भित्तियों को प्रकाशित करने के लिए होता है। संयुक्त राज्य अमेरिका में ये कोण-महादीप अण्डाकार प्रतिबिम्बकों के साथ लगे होते हैं, जिनमें तीन या अधिक छन्ने (फ़िल्टर) दोनों छोरों पर इस प्रकार लगे होते हैं कि उसके द्वारा दोपहर से आधी-रात तक तथा सूर्यास्त तथा अरुणोदय की प्रकाशमान बेला के समय के आकाश का किसी भी प्रकार का रंग दिया जा सकता है।

विशेष प्रभाव दीप

प्रकाश-व्यवस्था की चौथी श्रेणी में वे विशेष प्रभाव (स्पेशल इफ़ेक्ट) आते हैं, जो स्थलदीप (स्पॉट लाइट) के आधार पर बनाये जाते हैं। इनके अन्तर्गत चित्रित काँच की पट्टियों से इन्द्रधनुष और चलते हुए बादलों से लेकर पानी की लहर, आतिश-बाजी, लहराता हुआ झंडा सब दिखाये जा सकते हैं। ये सब चित्र अबरख के पत्रों पर चित्रित करके किसी धातु के ढकने में लगा दिये जाते हैं और उन्हें बिजली या कमानी (क्लॉक वर्क) की मोटर से चलाया जाता है। ये विशेष प्रभाव स्थल-दीप (स्पॉट लाइट) के सामने रख दिये जाते हैं और इनके सामने एक-एक और लैंस लगा दिया जाता है, जिससे प्रकाश को केन्द्रित किया जा सके और फिर आगे का लैंस इन चलते हुए तवों के बिम्ब बाहर प्रक्षिप्त करता चलता है।

इस जटिल प्रभाव-प्रक्षेपक यंत्र से भिन्न होता है छाया-प्रक्षेपक (शेडो प्रोजेक्टर) जिसका सिद्धान्त तो बहुत पुराना है, किन्तु यह लिनेवाख लालटेन के रूप में रंगमंच पर प्रयुक्त होता है, जो इसके निर्माता एडोल्फ़ लिनेबाख के नाम पर प्रसिद्ध हुई है। इसमें भीतर से काला रँगा हुआ एक लम्बा डब्बा होता है । जिसके बीच में केन्द्रित तन्तु-दीप (फिलामेन्ट लैम्प या आर्क) होता है। यह एक ओर से खुला रहता है, जिसके मुख पर प्रक्षिप्त की जाने वाली रूप-योजना काच-फलक (स्लाइड) पर बनी रहती है। दीप-तन्तु या वृत्त-प्रकाश (लैम्प फिलामेन्ट या आर्क) का आकार निश्चित होता है, इसलिए लैंस से जिस प्रकार का स्पष्ट रूप-प्रक्षेपण होता है, वैसा इसमें सम्भव नहीं है, फिर भी इसमें सुविधा यह है कि थोड़ी दूरी से बहुत चौड़े क्षेत्र पर प्रकाश डाला

जा सकता है और विशेषतः स्काई लाइन या मोटी रेखाओं की छाया (सिलहुट) दिखाने के लिए तो यह प्रणाली अद्वितीय है।
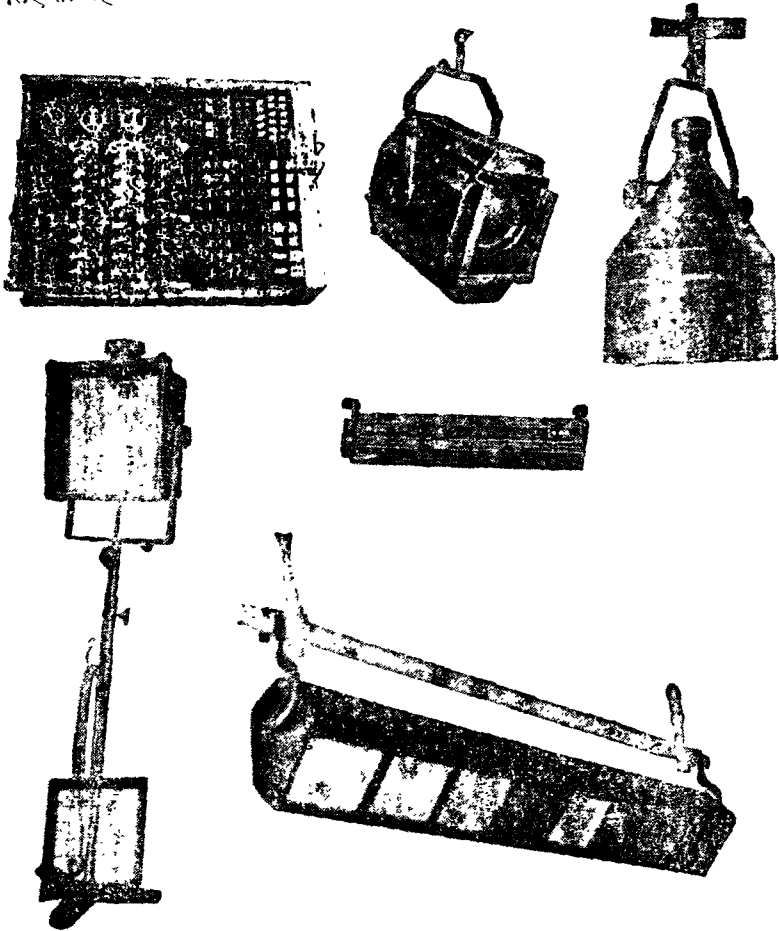
चित्र ७२--

१. विद्युत्-संचालन पट्ट (स्विच बोर्ड)
२. स्थल या केन्द्रित प्रकाश-दीप (स्पॉट ऑर फोकस लैन्टर्न)
३. अभिनय-स्थल महादीप (ऐक्टिंग एरिया फ़्लड)
४. आधारस्थ महादीप (फ़्लड लाइट आन स्टैंड)
५. मन्दक (डिमर)
६. दण्डस्थ प्रकाश (बेटन)

रंगीन प्रकाश

इन सब विकासों के साथ-साथ रंग का नया माध्यम भी विकसित हो रहा है। फ़ौर्तूनी और उसके साथियों ने प्रकाश को रंगीन बनाने के लिए रंगीन रेशम और प्रतिबिंबकों का प्रयोग किया था। इनकेंडिसेन्ड (उद्दीप्त) बत्तियों के आविष्कार के पश्चात् रंगीन बत्ती (लैम्प-डिप) का साक्षात्कार हुआ और अब तो रंगीन प्रकाश देने के लिए रंगीन कागज (जिलेटिन) के ताव ही व्यापक रूप से काम में लाये जाते हैं। ये ताव बड़े आकारों में बहुत रंगों और बहुत कम व्यय में प्राप्त होते हैं। इनमें से बहुत रंग तो पक्के होते हैं, साथ ही यह भी प्रयत्न किया जा रहा है कि इनका स्थायित्व बढ़ जाय। जिलेटिन में यह दोष होता है कि वह नम जलवायु में पिघलने लगता है और किसी भी जलवायु में बत्तियों की गर्मी पाकर चीमड़ होकर सिकुड़ जाता है। सैल्यूलाइड (ऐसीटेटस) आदि इससे अधिक कड़े होते हैं और पानी नहीं छोड़ते, किन्तु वे बहुत शीघ्र आग पकड़ लेते हैं, इसलिए उनका प्रयोग भी नहीं होता। यद्यपि जिलेटिन भी आग पकड़ता है तथापि उसमें यह गुण होता है कि धीरे-धीरे सुलगता है, भभक नहीं उठता।

कुछ दिनों से सिलोफेन का सफल प्रयोग हो रहा है और यह स्वच्छ-काले तथा स्वच्छ-काले के दो अंश फैले हुए रंग के अतिरिक्त ११ रंगों में प्राप्त हो जाता है। यह जिलेटिन से पतला होता है, पानी की नमी का भी इस पर कम प्रभाव पड़ता है और वहुत कठिनाई से आग भी पकड़ता है। इसके कुछ रंग तो पक्के होते हैं, किन्तु कुछ बहुत ही कच्चे होते हैं। इसमें यही एक असुविधा है कि पक्के रंग बहुत कम प्रकार के मिलते हैं।

रंगीन प्रकाश डालने के लिए सभी दृष्टियों से काँच सबसे अच्छा माध्यम है। तीव्र प्रकाश के सम्मुख जिलेटिन तो झट से जल जाता है, पर जब फ्रैसनल लैम्प और अण्डाकार बीम प्रकाश प्रक्षिप्त किया जाने लगा, तब तो नये रंग के फिल्टर का आविष्कार आवश्यक हो गया। रंगीन काँच के ताव फ़्लैट और पॉट दोनों रूपों में प्राप्त होते हैं, किन्तु दोनों में उष्णता का प्रतिरोध करने की शक्ति नहीं है। इसलिए एक विधि यह निकाली गयी कि एक बार जो काँच अग्नि या उष्णता से तड़क जाता है, वह फिर नहीं तड़कता। इसलिए काँच को एक विशेष रूपमान में तड़काकर ही क्यों न प्रयोग में लाया जाय। यह प्रणाली बहुत सफल सिद्ध हुई और यह विधि निकाली गयी कि रंगीन काँच की पट्टियाँ काटकर एस्बेस्टॉस कागज में सटाकर टीन या लोहे के ढाँचे में कस दी जायें। इस प्रकार के काँच के रंग-प्रकाशक पाँच सहस्र वाट की बत्तियों के सामने लगा देने और बहुत उष्ण हो जाने पर भी नहीं तड़कते। पर काँच बहुत अच्छा

माध्यम नहीं है, क्योंकि वह शीघ्र टूटने वाला, भारी और व्यय-साध्य होता है, इसके रंग की परिधि भी बहुत परिमित होती है, इसका रंग भी एक-सा नहीं पड़ता, यहाँ तक कि जहाँ से प्रारम्भ करके और जहाँ तक रंग फेंका जाता है, उसके बीच ५० प्रतिशत प्रकाश का अन्तर हो जाता है। अब प्लैस्टिक्स का भी सफल प्रयोग रंग के माध्यम के लिए किया जाने लगा है, किन्तु अभी तक कोई ऐसा पारदर्शी पदार्थ नहीं मिल पाया है, जो गर्मी के विरुद्ध डटा रह सके।

प्रकाश-नियन्त्रण

पुराने गैस के प्रकाश को नियंत्रित करने के लिए गैस-टेबिल बहुत पर्याप्त थे, क्योंकि उनमें रंग-नियंत्रण का भी प्रबन्ध कर दिया गया था। उसके पश्चात् जो पहली बार नियंत्रण-फलक (स्विच बोर्ड) बनाये गये, उनमें केवल तीव्रता-नियंत्रक लगाना ही आवश्यक समझा गया, यद्यपि सर्वप्रथम बिजली के जो मन्दक (डिमर) बनाये गये थे, वे केवल पानी के छोटे-छोटे पीपे थे, जिनमें ब्राइन (खारे पानी) का हलका घोल डालकर धातु के दो टुकड़े (प्लेट) डाल दिये जाते थे। इनमें से एक टुकड़ा (प्लेट) तो पीपे के नीचे टिका रहता था, दूसरा ऊपर। फिर सरकाकर उन दोनों टुकड़ों (प्लेटों) के बीच के खारे पानी के परिणाम को भिन्न करके विद्युत्-चक्र (सरकिट) का प्रतिरोध कम-अधिक किया जा सकता था। किन्तु ये प्रयोग बहुत सफल नहीं हुए, क्योंकि खारा पानी बड़े वेग से उड़ जाता था और यदि ये पीपे अधिक भरे होते थे, तो उनमें से बड़ी गन्दी दुर्गन्ध निकलती थी। इसके अतिरिक्त नियंत्रक झटकों (स्विचों) से तार-चक्र (क्वायल) तक बहुत तारों की आवश्यकता होती थी, जो बाद में निरोधन-फलक मन्दक (रेसिस्टेन्स प्लेट डिमर) का प्रचलन होने से कम हो गयी, जिसमें प्रतिरोधक तार एक फलक (प्लेट) पर फैला दिया जाता था, जो स्वयं प्रतिरोधक (इन्सुलेटर) होता था या उष्णता-प्रतिरोधक (इन्सुलेटिंग) द्रव्यों से पुता होता था। इसके लगाव-केन्द्र (स्विच प्वाइंट) ही तार से जुड़े होते थे। यह पूरा का पूरा उष्णता-निरोधक द्रव्य से पुता रहता था और केवल लगाव-केन्द्र (स्विच प्वाइन्ट) के सम्पर्क रखने वाले स्थान ही खुले रहते थे, उसके स्पर्श-हत्थे (टैपिंग आर्म) भी निरोधक-फलक (रेसिस्टेन्स ब्लाक) पर ही टिके रहते थे। अमेरिका के रंगमंच पर इसी शैली का प्रयोग होता है।

इस प्रतिरोध-नियंत्रण (रेसिस्टेन्स कन्ट्रोल) पद्धति का सबसे बड़ा दोष यह था कि सारी शक्ति विद्युत्-धारा को कम करने में लगायी जाती थी और फिर उष्णता के रूप में व्यय कर दी जाती थी। यह दोष १८९० में ही पकड़ लिया गया और सन् १८९६ में एक प्रतिक्रियात्मक प्रकार की मन्दक छड़ (डिमर बैन्ड) लन्दन के 'अर्ल्स

कोर्ट थिएटर' में १८९६ में लगाया गया। इसमें दुहरी प्रक्रिया होती थी, जिसमें एक लपेटन (क्वायल) दूसरे में से भीतर-बाहर निकलकर प्रत्येक चक्र (सर्किट) को नियंत्रित करता था और जिसमें सीधी (डाइरेक्ट) के बदले प्रत्यावर्ती (आल्टरनेटिंग) विद्युत्-धारा का प्रयोग होता था। यह पद्धति तो सफल हुई किन्तु प्रत्यावर्ती धारा सर्वत्र प्राप्त नहीं थी। इन प्रतिरोध-मन्दकों का दूसरा दोष यह था कि उनका आकार बड़ा और भार अधिक था और वे केवल विद्युत्-भार (लोड) को नियंत्रित करते थे। प्राय: प्रत्यावर्ती धारा को नियंत्रित करने के जितने भी साधन हैं, वे प्रकाश को परम तीव्रता से शून्य तक नियंत्रित करते हैं। अत: वे वोल्टेज को नियंत्रित करते हैं, धारा को नहीं।

रंगशाला की प्रकाश-तीव्रता के नियंत्रण के लिए आधुनिकतम साधन हैं, विद्युत्-कणीय नलिका (इलेक्ट्रॉनिक ट्यूब) और प्रतिक्रिया-चक्र (रिएक्टर सर्किट)। इनमें से नयी विद्युत्कणीय नलिका तो स्वयं बहुत विद्युत्-भार (करेन्ट लोड) लेती है। इन प्रणालियों के द्वारा नियन्त्रण-फलक (स्विच बोर्ड) के आकार बहुत छोटे कर दिये गये हैं और साधारण बड़े रेडियो के आकार का एक फलक पूरी रंगशाला के प्रकाश को नियंत्रित कर सकता है। इस प्रकार प्रकाश बढ़ाने और मन्द करने के साधन आकार में छोटे, भार में कम और व्यय में सस्ते हो गये हैं। अब तो इस प्रकार के पूर्वसिद्ध चक्र (प्रीसेट फैडर सर्किट) बन गये हैं कि एक मुख्य झटके (मास्टर लिवर) से बहुत से नियंत्रकों को चलाया जा सकता है और एक ही संचालक केन्द्र (सेटिंग) से दूसरे केन्द्र (सेटिंग) में किसी का प्रकाश मन्द और किसी का तीव्र करते हुए प्रकाश का संचालन किया जाता है।

वटिया तार (ट्रैकर वायर्स) और यान्त्रिक सम्बन्ध-गति (मिकैनिकल लिंक मूवमेन्ट) के द्वारा अब भी यूरोप में प्रकाश को रंगीन करने का विधान किया जाता है। इसमें एक ही संचालक केन्द्रीय नियंत्रण-फलक से ठीक उसी प्रकार रंग के ढाँचों को हटा-बढ़ा लेता है, जैसे वह झटक (लीवर) और चक्कर (डायल) चलाता है। संयुक्त राज्य अमेरिका में स्वयं-वर्णक-मोटर (सेल्फ़ सिड क्रोनस) और विद्युत्-चुम्बक (इलेक्ट्रोमेगनेट) नियंत्रक से प्रकाश को रंगीन करने की व्यवस्था की जाती है। विद्युत्-चुम्बक से इतने वेग से रंग-परिवर्तन होता है कि धीरे-धीरे रंग बदलाना इससे सम्भव नहीं है।

प्रकाश-संचालन

वर्तमान युग के किसी भी नाट्य-प्रयोक्ता को तब तक सफलता नहीं मिल सकती, जब तक वह प्रकाश की व्यवस्था भली भाँति न समझ ले, क्योंकि कुछ नाट्यशालाओं में सारा नाटक प्रकाश-व्यवस्था पर ही अवलम्बित होता है। वर्तमान रंगशाला का

सबसे महत्त्वपूर्ण यान्त्रिक साधन है प्रकाश-नियन्त्रण-व्यवस्था और वर्तमान युग के किसी भी नाटक की प्रमुख विशेषता है प्रकाश की सूक्ष्म-विविधता, जो किसी नाटक के अभिनय-व्यापार के साथ चलती रहती है और उसमें नाटकीयता या नाटकीय प्रभाव भरती रहती है। प्रकाश सम्बन्धी यह परिवर्तन या मन्दीकरण (डिम) का सिद्धान्त आज से कई शताब्दियों पूर्व प्रभावशील समझा जा चुका था। सन् १५६५ में मान्तुआ के रंग-संचालक लियोने दिसोमी ने अपने संवादों में प्रकाश की विविधता से दृश्य के भाव को प्रभावशाली बनाने के सम्बन्ध में बताया है कि प्रसन्नता के अवसरों पर प्राचीन और वर्तमान काल में सड़कों, घरों, मन्दिरों आदि पर हर्ष के लिए दीप जलाये जाते हैं, फुलझड़ियाँ छोड़ी जाती हैं, अग्नि-खेल (यानी आतिशबाजी) किये जाते हैं। अतः हर्ष के भाव व्यक्त करने के लिए प्रकाश आवश्यक है और जब विषाद का अवसर हो, उस समय प्रकाश कम कर देना निश्चय ही उस विषाद को तीव्र कर देता है।

छाया और प्रकाश

निकोला सब्बात्तिनी की प्रसिद्ध पुस्तक 'रंगशाला में दृश्य और यन्त्र बनाने की पद्धति' (दि प्रैक्टिस ऑफ़ मेकिंग सीन्स ऐंड मशीन इन दी थिएटर, सन् १६३८) में बताया गया है कि मोमबत्ती के प्रकाश को किस प्रकार मन्द किया जा सकता है। दिसोमी ने रंगप्रकाश के सम्बन्ध में कहा है कि जो व्यक्ति छाया में खड़ा होता है, वह प्रकाश में रखी हुई वस्तु को अधिक स्पष्टता के साथ देख सकता है, इसलिए मैं प्रेक्षागृह में थोड़ी बत्तियाँ लगाता हूँ और रंगमंच को अधिक प्रकाशित करता हूँ। इस दृष्टि से देखा जाय तो लगभग ४०० वर्ष पूर्व रंगमंच और प्रेक्षागृह दोनों का प्रकाश संतुलित करने की बात समझ ली गयी थी। किन्तु वर्तमान रंगदीपन की सूक्ष्म व्यवस्थाओं की पूर्णता एडोल्फ अप्पिआ की पुस्तक 'डि मुसिख उन्ड डी इन्सिनायरूंग' में ही व्यक्त हुई, जिसमें उसने विस्तार से 'ट्रिस्टान उन्ड इसोल्डे' नामक नाटक खेलने के लिए प्रकाश की विस्तृत योजना दी है। यह निर्देश उसी प्रकार का था जैसा संवत् २००० विक्रमी में काशी की चित्रा रंगशाला में खेले हुए महाकवि कालिदास नाटक के लिए अभिनव-भरत ने दिया था।

अब तो प्रकाश-योजना कार्यान्वित करने के लिए यान्त्रिक साधन भी बहुत एकत्र कर लिये गये हैं और पिछले बीस वर्षों में प्रकाश-नियन्त्रण-व्यवस्था ऐसी पूर्ण हो गयी है कि नाटकीय भाव और नाटकीय गति के साथ-साथ रंगमंच के प्रकाश और वातावरण में भी परिवर्तन होते चलते हैं।

वर्तमान रंगदीपन-व्यवस्था समझने के लिए रंग-दीपन सम्बन्धी अनेक यन्त्रों का परिचय प्राप्त कर लेना आवश्यक है। जिन तलदीप (फुट लाइट) और अंचलदीपों (बॉर्डर्स) का प्रयोग पहले बहुत होता था, वे आज आवश्यक नहीं समझे जाते। आज तो केन्द्रक काँच (फ़ोकसिंग लैन्स) वाले उन स्थल-दीपों (स्पॉट लाइट्स) का प्रयोग अनिवार्य हो गया है, जिनमें रंगीन प्रकाश देने के लिए काँच या जिलेटिन का प्रयोग किया जाता है। ये स्थलदीप (स्पॉट लाइट्स) प्रायः दो खड़े नल के डंडों पर रंगमंच के बाहर दोनों ओर लगा दिये जाते हैं और प्रकाश-संतापक (लाइट टॉरमेन्टर्स) और इस प्रकार प्रायः सात केन्द्र-दीप (फ़ोकस लैम्प) एक या दो नलों में बाँधकर ऊपर लटका दिये जाते हैं। इनके अतिरिक्त प्रकाशमान तलदीपों की सहायता लिये बिना ही अभिनेताओं को प्रकाशमान करने के लिए प्रेक्षागृह की छत में स्थल-दीप (स्पॉट लाइट्स) इस प्रकार लगा दिये जाते हैं कि वे लगभग ६० अंश से रंगमंच के अग्रभाग से ६ या ८ फुट ऊँचे तक अभिनेता के मुख पर प्रकाश डालते हैं। तलदीपों का प्रयोग न करने का कारण यह है कि उनसे अभिनेता के मुख पर जब प्रकाश पड़ता है, तब पीछे के दृश्य पर निश्चित रूप से बहुत बेतुकी छाया पड़ने लगती है। इन केन्द्रदीपों को एक साथ केन्द्रित करते हैं, जिससे विभिन्न अभिनय-क्षेत्र प्रकाशित हो जायँ। उनका रंग भी दृश्य की प्रकृति के अनुसार होता है, अर्थात् इस दृष्टि से होता है कि दिन है या रात, अथवा उनका प्रयोग अभिनेताओं को आलोकित करने के लिए किया गया है अथवा दृश्य पर ही रंग का प्रभाव डालने के लिए यह किया जा रहा है। इस व्यवस्था में वे नाटक के भाव के अनुसार क्रमशः एक विशेष तीव्रता के साथ निश्चित सीमा तक प्रकाशित कर दिये जाते हैं, अर्थात् या तो धीरे-धीरे तीव्र (डिम्ड अप) कर दिये जाते हैं या धीरे-धीरे मन्दित (डिम्ड डाउन) कर दिये जाते हैं।

प्रकाश-संचालन-फलक

इस प्रकार प्रकाश को अति मन्द से अति तीव्र तक करने के लिए संचालन-फलक (स्विच बोर्ड) का प्रयोग किया जाता है, जो सम्पूर्ण प्रकाश-व्यवस्था का स्नायु-केन्द्र है। अभी कुछ दिन पहले तक संसिद्ध मन्दक (स्टैन्डर्ड हिओस्टैट या डिमर) में प्रति-रोधक तार (रेसिस्टेन्स क्वायल) लिपटा हुआ अन्तर्मार्ग होता था, जिसके बीच से बिजली की धारा चलायी जाती थी। इसमें जब प्रकाश कम किया जाता था, तब जो बिजली की धारा चलायी जाती थी, उसका अधिकांश भाग उष्णता में परिवर्तित कर दिया जाता था। यह नियन्त्रण पूर्णतः यन्त्रगत होता था। ऐसे प्रत्येक मन्दक में एक हत्था लगा रहता था, जो मन्दक को पूर्ण प्रकाश से पूर्ण अन्धकार तक के बीच नियन्त्रित करता

रहता था। इस प्रकार के कई मन्दक एक साथ ही फलक पर लगाकर प्रमुख हत्थे से एक साथ चलाये जा सकते थे, किन्तु इनकी भी तो सीमा होती है, इसलिए सभी प्रकार के इच्छित प्रकाश को एक साथ संचालित करना सम्भव नहीं होता था। इसलिए या तो वहाँ कई संचालक एक साथ बैठे हों या कोई ऐसा प्रलम्ब-बाहु संचालक हो जो लंगूर के समान वेग से इधर से उधर उछलता और हत्थे चलाता रहे, क्योंकि वर्तमान मन्दीकरण की योजना में लगभग पचास या इससे अधिक बत्तियों को एक साथ विभिन्न अंशों की तीव्रता पर व्यवस्थित किया जाता है, जिनमें से कुछ पूर्ण प्रकाशित होती हैं, कुछ आधी, कुछ चौथाई और कुछ बहुत मन्द, अर्थात् प्रकाश-परिवर्तन में सब बत्तियाँ समान रूप से तीव्र या मन्दी नहीं होतीं। जो आधी प्रकाशित हैं, कुछ-कुछ मन्द कर दी जाती हैं, कुछ पूर्णतः बुझा दी जाती हैं और कुछ विरुद्ध दिशा में लगभग मन्द से लगभग प्रकाशित तक पहुँचा दी जाती हैं। अतः एक ही फलक पर मन्दकों के हत्थे लगाने से उन्हें तब तक संचालित करना सम्भव नहीं है, जब तक सब एक स्तर पर काम न आयें।

नवीन प्रकाश-नियन्त्रण

नवीन प्रकाश-नियन्त्रण-व्यवस्था में ये सब दोष दूर कर दिये जाते हैं। इनमें से प्रथम है प्रतिक्रियात्मक मन्दक (रिएक्टेंस डिमर) जो एक थाइरेट्रोन ट्यूब के रूप में सीधे विद्युत्-चक्र (सर्किट) की शक्ति (वोल्टेज) को नियन्त्रित करता है। दूसरा स्वतः परिवर्तक-मन्दक (ऑटो ट्रान्सफ़ार्मर हिऔस्टेट) है, जो अपने आप किसी बत्ती की शक्ति (वोल्टेज) को इच्छित प्रकाश-तीव्रता में परिवर्तित कर देता है। यह सम्पर्क मोटर से संचालित कार्बन या ताँबे के ब्रश से होता है। इन दोनों मन्दकों की शक्ति बड़ी व्यापक होती है। स्वतः परिवर्तक में तो बहुत विस्तृत विभिन्न भार वहन करने की शक्ति होती है। पुरानी चाल के प्रतिरोधक मन्दक (रिएक्टेन्स डिमर) में दोष यह था कि यदि वह सहस्र वाट का होता था तो वह एक सहस्र वाट की बत्तियों को ही भली प्रकार नियन्त्रित कर पाता था, किन्तु स्वतः परिवर्तक-मन्दक (ऑटो ट्रान्सफ़ार्मर डिमर) तो चार सहस्र वाट के दीपक या विद्युत्-चक्र से लेकर दस सहस्र वाट तक की बत्ती को पूर्ण प्रकाश से पूर्ण अंधकार तक वितरित कर सकता है।

यद्यपि प्रतिक्रियात्मक मन्दक अब बहुत सरल कर दिया गया है, तथापि उसमें तारों को बाँध भी बड़ी जटिल होती है। यह बहुत व्ययसाध्य भी है और स्वतः-परिवर्तक की अपेक्षा अधिक स्थान भी घेरता है। स्वतः-परिवर्तक की संचालन-प्रक्रिया में पोटेंशियो मीटर की एक क्रमिक माला है, जो २४ वोल्ट के विद्युत्-चक्र पर स्वतः-परिवर्तक

से सम्बद्ध मोटरों को संचालित करती है। यह नियन्त्रण छोटे-छोटे हत्थों से होता है जो क्रमबद्ध अर्धवृत्ताकार ऐसे वृत्त-खण्डों पर लगे रहते हैं, जो प्रत्येक विद्युत्-चक्र को पूर्ण प्रकाश से अंधकार तक के बीच संचालित कर सकते हैं। इससे लाभ यह होता है कि प्रकाश देने वाली बत्तियों को बिना स्पर्श किये अन्य हत्थे उन्हीं विद्युत्-चक्रों को नियन्त्रण करने वाले पहले से निश्चित तीव्रता के अगणित स्थानों पर बैठाये रहते हैं और इस प्रकार पहले से व्यवस्थित प्रकाश को बिजली के द्वारा व्यवस्थित कर देते हैं, जिससे प्रत्येक विद्युत्-चक्र निर्दिष्ट और पूर्ण व्यवस्थित स्थान पर आकर रुक जाता है। इसमें बिजली के प्रमुख नियन्त्रक दो मुख्य हत्थे लगे रहते हैं जिससे कोई भी छप्पन विद्युत्-चक्र एक प्रमुख हत्थे से और शेष दूसरे हत्थे के साथ सम्बद्ध कर दिये जा सकते हैं और प्रकाश का परिवर्तन एक साथ चुने हुए विद्युत्-चक्रों के समूह पर विभिन्न गति से एक ही दिशा या विविध दिशाओं में किया जा सकता है, अर्थात् पूर्ण प्रकाश से अन्धकार की ओर या अंधकार से पूर्ण प्रकाश की ओर अथवा पहले से निश्चित किन्ही भी अन्तरिम प्रकाश-सीमाओं तक किया जा सकता है। इस प्रणाली से चाहे जितने प्रकाश-दीपों और चाहे जितने प्रकाश-सम्बन्धों को पूर्णत: नियन्त्रित किया जा सकता है। निकट भविष्य में इनमें से कोई एक प्रणाली ही सर्व-सिद्ध (स्टैन्डर्ड) मानकर स्वीकार कर ली जायगी। इसमें एक लाभ यह भी है कि इसके नियन्त्रक तार प्रेक्षागृह तक या उसके पीछे चित्रित प्रदर्शक कक्ष (प्रोजेक्शन बूथ) तक भी ले जाये जा सकते हैं और एक उठौवा मन्दक-फलक (पोर्टेबिल डिमर बोर्ड) इस प्रकार सम्बद्ध कर दिया जा सकता है कि बाहर से भी सारा प्रकाश उसी प्रकार व्यवस्थित किया जा सकता है, जैसे रंगमंच से।

पृष्ठभित्ति-प्रदीपन (साइक्लोरामा लाइटिंग)

वर्तमान रंगदीपन-व्यवस्था का एक और भी अंग है पृष्ठ-भित्ति (साइक्लोरामा) का प्रदीपन। खुले आकाश की गहराई और उसमें विभिन्न स्थानों की भ्रान्ति वास्तव में पलस्तर-गुम्बद (प्लास्टर डोम) से ही सर्वश्रेष्ठ ढंग से होती है, किन्तु वह इतना भारी और विशद होता है कि उसके लिए रंगमंच के पीछे बहुत स्थान चाहिए। अत: उसके बदले कपड़े की पृष्ठभित्ति बनाना अधिक सरल होता है। यह पृष्ठभित्ति कपड़े या टाट का ढोल (सिलिंडर) होता है, जो ऊपर और नीचे एक अर्धवृत्ताकार पाइप से चिपटा रहता है, जिस पर ऊपर से नीचे तक परवलय-काँच के प्रतिबिम्ब (पैराबोलिक रिफ्लेक्टर्स) से प्रमुख रंग लाल, नीले और हरे सटीकता के साथ प्रक्षिप्त किये जाते हैं। विभिन्न तीव्रताओं में इन रंगों के मिश्रण से और उचित निरंग रंग से पृष्ठभित्ति को रँग देने पर इन्द्रधनुष के सब रंगों की छाया उस पर दिखायी जा सकती

है। रँगा हुआ टाट (कैनवास) नमी से इतना प्रभावित होता है कि उसे ठीक ढंग से लटकाना सम्भव नहीं होता, इसलिए उस पर रँगी हुई रुई के मखमल का प्रयोग किया जा सकता है और दृश्यों के बीच में दृश्य-सज्जा बदलने के लिए आगे और पीछे के रंगमंच के भाग छल्लों का काम कर सकते हैं। क्योंकि इस मखमल को पीछे खींचने से सिकुड़न पड़ने का डर बना ही रह सकता है।

दृश्य बदलने के लिए जो यान्त्रिक प्रगति हो चुकी है, उसमें अब और अधिक प्रगति होने की सम्भावना नहीं है। जो कुछ भी आगे परिवर्तन होंगे, बिजली के ही क्षेत्र में होंगे, अर्थात् कम वोल्ट या अधिक वाट की बत्तियाँ केन्द्रीय दीप (फ़ाकसिग लैम्प) की प्रकाश-परिधि में विस्तार, मन्दक (डिमर्स) की भार-विभिन्नताओं तथा बिजली के प्रमुख और उप-प्रमुख नियन्त्रकों में परिधि-विस्तार।

इस प्रकार रंग-दीपन का कार्य किसी भी नाटक के प्रयोग में इतना प्रमुख हो गया है कि नाट्य-प्रयोक्ताओं का सारा ध्यान दृश्य-सज्जा और रंग-सज्जा से हटकर बिजली की ही व्यवस्था पर केन्द्रित हो चला है।

रंग-दीपन-कला

जिस प्रकार अभिनय स्वतः कला है, उसी प्रकार रंगदीपन भी स्वतः कला है। किस दृश्य में, किस अवसर पर, किस प्रकार का, किस रंग का और किस तीव्रता का प्रकाश देने से नाटक के भाव में क्या सहायता मिलती है, इस सम्बन्ध में रंग-व्यवस्थापकों ने जो अनेक प्रयोग किये हैं उन्हें मनोवैज्ञानिकों ने अपने मनोवैज्ञानिक रंग-निर्देशन का भी आधार माना है। किस प्रकार कोई प्रकाश दर्शक के मन में क्या भावना उत्पन्न कर देता है, इस सम्बन्ध में एक अलग 'छाया का सिद्धान्त' (शेडो थिअरी) ही प्रतिपादित हुआ है। उनका कथन है कि यदि आप गम्भीर, भावोत्तेजक, भयप्रद तथा त्रासद प्रभाव उत्पन्न करना चाहें, तो रंगमंच पर प्रकाश कम होना चाहिए और यथासम्भव काले परदों का प्रयोग किया जाय। इससे त्रास की भावना और भी अधिक प्रभावशाली सिद्ध होगी। अधिक भयानक दृश्यों के लिए लाल प्रकाश और काले परदे का प्रयोग अधिक प्रभावशाली सिद्ध हुआ है। किन्तु अब तो रंगदीपन का स्वतः इतना विकसित विज्ञान हो गया है कि उसमें अनेक प्रकार के विद्युद्दीपों का विशेष क्रम के साथ प्रयोग करके विशेष प्रभाव उत्पन्न किया जाता है।

प्रकाश के प्रकार—चल प्रकाश

प्रकाश दो प्रकार के होते हैं—चल और अचल। चल प्रकाश वे होते हैं, जो चलते

हैं, जैसे चन्द्रमा का ऊपर चढ़ना, दीपक हाथ में लेकर चलना, पात्र की गति के अनुसार उसके मुख पर प्रकाश-निक्षेपक का प्रकाश पड़ते रहना। इनमें दीपक लेकर चलना तो नाट्यगत चल-प्रकाश है, किन्तु चन्द्रमा का ऊपर चढ़ना, प्रकाश-निक्षेपक का नायक की गति के अनुसार उसके मुख पर प्रकाश डालते रहना, यह व्यवस्थागत चल प्रकाश कहलाता है, क्योंकि ये दोनों कार्य प्रकाश-व्यवस्थापक के अधीन हैं, पात्रों के अधीन नहीं।

अचल प्रकाश

अचल प्रकाश एक स्थान पर स्थिर होता है। नाटक के अन्तर्गत किसी पात्र द्वारा प्रयुक्त होने वाले प्रकाश को नाट्यगत अचल प्रकाश कहते हैं, जैसे मेज के पास पहुँचकर मेजबत्ती जला देना, कक्ष में प्रकाश करना आदि।

व्यवस्थागत अचल प्रकाश वे हैं, जिनका प्रयोग विभिन्न प्रकार के प्रभाव उत्पन्न करने के लिए किया जाता है। ऐसे व्यवस्थागत अचल प्रकाश बारह प्रकार के होते हैं—

१. शीर्षदीप (हेड लाइट)—ये बत्तियाँ रंगपीठ की छत में आगे, बीच-बीच में और पीछे तक एक-एक पंक्ति में कई-कई के क्रम से अंचल दण्डों (बॉर्डर्स) में लगायी जाती हैं। आजकल सब परदों के बीच में या ऊपर प्रकाश लगाने की प्रथा नहीं है, क्योंकि उनसे पार्श्वस्थ प्रकाश की चमक का प्रभाव नष्ट हो जाता है। इनका प्रयोग अब उठ चला है।

२. इन्हीं में आगे की ओर कोने पर अत्यन्त तीव्र केन्द्रित प्रकाश देने वाले महादीपों को उज्ज्वल आलोक (लाइम लाइट) कहते हैं। ये प्रकाश दर्शकों को दिखाई नहीं देने चाहिए।

३. इन्हीं कुछ अधिक प्रकाश की बत्तियों को अग्रदीप (पाइलेट लाइट) कहते हैं। प्रायः मन्दक (डिमर) का सम्बन्ध इन्हीं से होता है। मन्दक (डिमर) उस यंत्र को कहते हैं, जिससे प्रकाश मन्द या तीव्र किया जाता है।

४. कोण-महादीप (ग्राउण्ड स्पॉट)—रंगपीठ के आगे दोनों कोनों में अधिक प्रकाश वाले चमकदीप लगा दिये जाते हैं, जिन पर आवश्यकतानुसार रंगीन मक्खन-कागज (बटर पेपर या जिलेटिन) लगाकर अलग-अलग रंग डाले जाते हैं। ये रंगपीठ के आगे वाली पखवाई के पीछे दोनों कोनों में या पखवाइयों के बीच-बीच में भी रखे जाते हैं।

५. पार्श्वदीप (विंग स्पॉट)—रंगपीठ के दोनों पार्श्वों में दीवटों पर बिजली के

चमकदीप लगा दिये जाते हैं, जो सामने के पात्रों के मुख का भाव स्पष्ट करने में सहायक होते हैं। प्रायः हमारे यहाँ नृत्य के समय इन पर रंगीन काँचों वाली चर्खी लगाकर घुमाने से अदल-बदलकर विभिन्न रंग डाले जाते हैं। यह प्रणाली फूहड़ और कुरुचिपूर्ण होती है।

६. तलदीप (फुट लाइट)—रंगपीठ के आगे एक रेखा में दर्शकों की ओर आड़ करके कुछ बिजली की बत्तियाँ लगा दी जाती हैं, जिनका प्रयोग अभिनेताओं की भाव-भंगी के स्पष्ट निर्देश के लिए ही होता है। इनका चलन अब प्रायः उठ चला है।

७. सूचीदीप (पिन स्पॉट)—रंगपीठ पर कभी कभी कुछ ऐसे दीप भी लगा दिये जाते हैं, जिससे उनकी परिधि में आये हुए अभिनेताओं का भाव-प्रदर्शन स्पष्ट किया जाता है। ये दीप छोटे होते हैं। इनके आगे छिद्र बने हुए गत्ते डालकर अत्यन्त सूक्ष्म घेरे में प्रकाश डाला जाता है।

८. स्थल-प्रकाश (स्पॉट लाइट) या एक-गत प्रकाश—प्रकाश-निक्षेपण-यंत्र द्वारा किसी एक विशिष्ट व्यक्ति, वस्तु या स्थल को अधिक स्पष्ट करने के लिए जो प्रकाश डाला जाय, उसे स्थल-प्रकाश कहते हैं। आजकल इसका बड़ा विस्तृत प्रयोग होता है।

९. चमकदीप (फ़्लैश लाइट)—कभी-कभी सम्पूर्ण रंगपीठ पर अधिक प्रकाश वाले एक ही महादीप का प्रयोग करके इतना प्रकाश दे दिया जाता है, मानो प्रकाश की बाढ़ आ गयी हो।

१०. मचान दीप (पर्च स्पॉट)—बहुत सी नाट्यशालाओं में प्रेक्षागृह में ही आगे की ओर दोनों पक्षों में कुछ ऐसे मचान बने रहते हैं, जिनमें बैठकर प्रकाश-व्यवस्थापक बड़े-बड़े दीपों से रंगपीठ को आलोकित करता रहता है। वह रंगमंच पर ही आलोक-प्रबन्धक के पास ऊँचाई पर कोई चलदीप (मूविंग स्पॉट) लेकर बैठता है और पात्रों की गति के अनुसार उन पर प्रकाश डालता रहता है।

११. छाया-दीप (शेडो लैम्प)—छाया नाटकों में परदे के पीछे से जिस दीप से प्रकाश डाला जाता है, उसे छाया-दीप कहते हैं। इस दीप से प्रकाश तो आता है, पर उसकी लौ या चमक परदे से छनकर बाहर नहीं दिखाई देती।

१२. चित्रदीप (प्रोजेक्टर)—आजकल जिन नाट्यशालाओं में चलचित्र दिखाये जाते हैं, उनमें उन्हीं यन्त्रों के द्वारा बीच में से ही रंगपीठ को आलोकित किया जाता और रंगीन प्रकाश डाला जाता है।

इनके अतिरिक्त चन्द्र , सूर्य, तारे और जल में पड़ती हुई किरणों के प्रकाश के

लिए अलग-अलग विधान हैं, जिनके लिए नाटककार अपने नाटकों में प्रायः निर्देश दे दिया करते हैं।

रंगमंच पर प्रकाश का संयोजन

नाटक खेलने से पूर्व नाट्य-व्यवस्थापक को प्रकाश-व्यवस्थापक से मिलकर रंग-दीपन की पूरी व्यवस्था कर लेनी चाहिए। प्रायः नाटक खेलते समय आजकल के प्रयोक्ता इस बात का ध्यान नहीं रखते कि किस क्रम से बिजली की बत्तियों का संयोजन किया जाय। वे आगे की ओर धुआँधार तलदीप (फुट लाइट) लगा देते हैं। दोनों ओर पार्श्वदीप (विंग लाइट) खड़े कर देते हैं और ऊपर चार-पाँच पंक्तियों में शीर्ष-दीप (हेड लाइट) लगा देते हैं। इसके साथ एक महादीप लगा दिया जाता है, जिसके सहारे बारी-बारी से रंग बदलते चलते हैं। यह सब विधान असंगत है।

रंगमंच पर उतना ही प्रकाश अपेक्षित है, जितना उस दृश्य के अभिनय को प्रभावशाली बना सके, दृश्य को नहीं। आजकल पूरा प्रकाश देने के बदले, छाया और प्रकाश का उचित योग देकर केवल निर्दिष्ट अंश को प्रकाशित किये रखते हैं और केवल एक ओर से अथवा ऐसे कोने से धारावाही अकेला प्रकाश देते हैं कि उससे अभिनेताओं की भावभंगी, मुद्रा और चेष्टाएँ अधिक स्पष्ट और प्रभावशाली प्रतीत हों। इसी लिए आजकल तल-दीप (फुट लाइट) का प्रयोग कम होने लगा है। प्रायः नाट्य-प्रयोक्ता यह ध्यान नहीं रखते कि तलदीप से बहुत तीव्र प्रकाश आता है और अभिनेताओं के सिर के ऊपर बहुत कम आता है। साधारण जीवन में भी यह अनुभव करने की बात है कि सूर्य का प्रकाश दायें-बायें या ऊपर से आता है, नीचे से नहीं। साधारण रूप से घरों में मेज-बत्ती भी कुछ ऊपर से एक ओर से प्रकाश देती है और बिजली तो ऊपर से प्रकाश देती ही है। अतः प्रकाश ऊपर से ही नीचे को आता है, नीचे से ऊपर को नहीं। इसी ऊपर से आने वाले प्रकाश के कारण या मुख के पलकों तथा अन्य भागों की ऐसी हलकी छाया मुख पर पड़ती है, जिससे प्रत्येक मानव-मुख की रेखाएँ स्पष्ट होती और निखरती हैं, किन्तु जहाँ तलदीप धुआँधार प्रकाशित हो, वहाँ मुख की छाया-रेखाएँ पूर्णतः लुप्त हो जाती हैं, मुँह सपाट हो जाता है। इसी कारण आजकल चित्र खींचने वाले सामने मुँह पर प्रकाश न डालकर पार्श्व से, पीछे से या कोने से प्रकाश डालते हैं, जिससे मुखाकृति की सब रेखाएँ और रूप-सीमाएँ स्पष्ट हो जायँ।

यदि तलदीप लगाना आवश्यक ही हो, तो यह देख लेना चाहिए कि उसमें सब लगी हुई बत्तियाँ एक प्रकार की हैं या नहीं। तलदीपों में चमकदार गैस-भरी बत्तियाँ लगानी चाहिए। ऐसा न हो कि कुछ तो गैस-भरी बत्तियाँ हों और कुछ सस्ती कार्बन

तंतु वाली (कार्बन फिलामेन्ट टाइप)। विभिन्न प्रकाश की बत्तियाँ लगाने से अभिनेताओं के मुख पर विभिन्न छाया और शक्ति वाले दीपों के कारण विचित्र प्रकार का हलका तीव्र प्रकाश मुख की मुद्रा अस्वाभाविक कर देता है। यह भी स्मरण रखना चाहिए कि अग्रमंच के एक कोने से दूसरे कोने तक फैले हुए तलदीप बड़ा अस्वाभाविक प्रकाश देते हैं। इसलिए अच्छा यह है कि तलदीपों के दोनों ओर दो-दो हाथ तक बत्तियाँ न जलायी जायँ, क्योंकि एक तो अभिनेता मंच के छोर पर खड़े नहीं होते, यदि हों भी, तो जितना प्रकाश रहता है, वही पर्याप्त होता है।

तलदीप (फुट लाइट) का प्रभाव कम करने के लिए ऊपर लम्बी लकड़ियों में दीपों की पंक्तियाँ (बेटन्स) टाँग देनी चाहिए। इनमें से पहली दीप-पंक्ति तो जवनिका (आगे के परदे) के ठीक पीछे लगानी चाहिए, जिससे वह अधिक से अधिक अभिनेताओं के सामने पड़े। दूसरी, तीसरी और चौथी पंक्तियाँ थोड़ी-थोड़ी दूर पर बीच के परदों के पीछे लगायी जायँ। यह प्रकाश-प्रणाली आकाशरेखा-रंगमंच (स्काई लाइन स्टेज) में प्रयुक्त नहीं होती। उसमें तो दोनों ओर उत्थाप्य-अपसार्य अर्थात् उठना-सरकना प्रकाश (लिफ़्ट शिफ़्ट लाइट) होता है। ऊपर जो दीप-पंक्तियों की बात कही गयी है, उसमें भी अलग-अलग रंग की बत्तियों के अलग-अलग चक्र (सर्किट) होने चाहिए, जिनमें एक तो हिमश्वेत का, एक नीले का, एक भूरापन लिये हुए पीले या एम्बर रंग का या सूर्य का हो, एक लाल, एक बैंगनी और एक हरे का और यदि सम्भव हो सके, तो प्रत्येक चक्र के साथ मन्दक (डिमर) लगा दिया जाय, जिससे आवश्यकतानुार प्रकाश कम-अधिक किया जा सके।

तलदीपों (फुट लाइट्स) का प्रयोग यथासम्भव कम करना चाहिए, क्योंकि तलदीपों का उद्देश्य रंगमंच को प्रकाशित करना नहीं, वरन् ऊपर के प्रकाश का प्रभाव कम करना है। अन्यथा यदि केवल ऊपर के प्रकाश रहें, तो अभिनेताओं के मुखों पर बहुत भद्दी छाया दिखाई पड़ने लगेगी और महिलाओं के मुख ऐसे प्रतीत होने लगेंगे, मानो उनके मूँछें निकल आयी हों। जब यह प्रतीत हो कि रंगमंच की पिछली दीवार (साइक्लोरामा) पर स्पष्ट छाया पड़ रही है और जब अभिनेता इधर-उधर चलते हैं, तब विचित्र प्रकार की अनेक छायाएँ इधर-उधर पड़ती हैं, तब समझना चाहिए कि तलदीपों ने ऊपर के प्रकाश को दबा दिया है। इसलिए यह सदा अच्छा रहता है कि ऊपर की दीप-श्रेणियों की अपेक्षा तलदीपों में कम प्रकाश हो। यदि ऊपर की पंक्ति-श्रेणी में आधी श्वेत हों, तो नीचे तलदीपों में चौथाई श्वेत प्रकाश होना चाहिए।

प्रायः श्वेत, पीला (हलका मझला और गहरा पीला) और मध्यम नीला रंग

का प्रकाश पर्याप्त होता है। श्वेत बत्तियों का प्रकाश सबसे अधिक होता है, इसलिए उनका प्रयोग यथासम्भव कम करना चाहिए। पीले (एम्बर) से गरम धूप का प्रभाव प्राप्त होता है और नीले का प्रयोग रात के लिए किया जाता है। यदि रंगीन बत्तियाँ न मिलें तो उस रंग के लिए मखनियाँ कागज (बटर पेपर) का प्रयोग किया जा सकता है।

तलदीप और ऊपर की दीप-श्रेणियों (बेटन्स) के अतिरिक्त महादीप या चमक-दीप (स्टेज फ़्लड्स) भी रखने चाहिए, जिससे पीछे का परदा और रंगमंच के द्वार आलोकित किये जा सकें। इसके अतिरिक्त केन्द्रदीप (स्पॉट लाइट) भी रखने चाहिए। ये केन्द्रदीप जहाँ तक सम्भव हो, उतने आगे टाँगने चाहिए। इन केन्द्र-दीपों का प्रकाश एक निश्चित घेरे में तीव्र पड़ता है, इसलिए उनका प्रकाश हलका करने के लिए या तो उनका प्रकाश-घेरा (फ़ोकस) चौड़ा कर देना चाहिए या हिमानी रंग का मखनिया कागज (जिलेटिन मीडियम) उनके आगे लगा देना चाहिए। यदि फिर भी प्रकाश का घेरा अत्यन्त तीव्र हो, तो मन्दक (डिमर) की सहायता से या तो उसे कम कर दिया जाय या दूसरा प्रकाश देकर उसका प्रभाव कम कर दिया जाय।

भाव और प्रकाश

हलके नीले रंग की किसी भी छाया या झलक (शेड) से ठंडी, तड़के की और पौ फटने की भावना उत्पन्न होती है और जिस दृश्य में शोक, निराशा या हानि का भाव दिखाया जाता हो, उसके लिए यह रंग बहुत उपयुक्त होता है। हिम-श्वेत रंग बहुत स्पष्ट किन्तु ठंडा होता है, जिसका प्रयोग जाड़े की रात, अकेलेपन तथा प्रतीक्षा के भाव प्रदर्शन करने वाले दृश्यों के लिए प्रयुक्त किया जा सकता है। हलका पीलापन लिये हुए श्वेत (जैसे गेहूँ के डंठल) का रंग स्वच्छ चमकदार दिन के प्रकाश के लिए काम आता है। राजसभा, उत्सव, शोभायात्रा, रथयात्रा, उल्लास और उत्साह के दृश्य इस प्रकाश में अधिक उपयुक्त लगते हैं। हलके भूरे पीले (एम्बर) रंग के प्रकाश का प्रयोग कमरे में सूर्य की धूप दिखलाने के लिए किया जा सकता है। मध्यम पीले (मीडियम एम्बर) का प्रयोग तीसरे पहर के प्रकाश के लिए किया जाता है। महादीप से लाल रंग के प्रकाश का प्रयोग दृश्यपीठ के पीछे छिपते हुए सूर्य का प्रदर्शन करने के लिए किया जाता है। इस प्रकार के प्रकाश में आगे का प्रकाश बन्द करके छायाकार अभिनेता दिखाकर विदा, निराशा, वृद्धावस्था, त्याग, उपेक्षा, विरक्ति आदि भावों का प्रदर्शन किया जाता है। ७ संख्या का गुलाबी रंग बहुत आकर्षक, कोमल तथा मोमबत्ती के प्रकाश के समान आँखों को सुखकर और संध्या के लिए उपयुक्त होता है।

उत्सुकता, सक्रियता, चहल-पहल, कहीं जाने की तैयारी, किसी के स्वागत की तैयारी आदि कार्य इस प्रकाश में अधिक प्रभावशाली होते हैं। १८ संख्यक नीला प्रकाश चन्द्र-ज्योत्स्ना दिखाने के लिए अधिक उपयुक्त होता है। मित्रों की गोष्ठी, शृंगार-लीला, विश्राम, विनोद, संगीत आदि कैशिकी वृत्ति वाले नाटकों के लिए यह प्रकाश अधिक उपयुक्त होता है। किन्तु १९-२० या २३ संख्या के रंग का प्रकाश भारतीय या विषुवत रेखा वाले प्रदेशों की चाँदनी रात दिखाने के लिए अधिक उपयुक्त होता है और यदि रात्रि में कोई छल, धूर्तता, पाप, अत्याचार इत्यादि का प्रदर्शन करना हो, तब उसके लिए 'चन्द्र-ज्योत्स्ना हरा रंग' (मूनलाइट ग्रीन) अर्थात् १६ संख्या का रंग अधिक उपयुक्त होता है। यूरोपीय मूक नाट्यों (पेन्टोमीम) में राक्षस-राज (डेमन किंग) को प्रकाशित करने के लिए हरे रंग का ही प्रकाश होता है, किन्तु जन्मोत्सव, बाललीला, ऋतुओं के उत्सव आदि में भी भूरे रंग का प्रकाश उचित प्रभाव उपस्थित करता है। गहरे लाल रंग का प्रभाव हत्या, वध, भयानक विपत्ति तथा अत्यन्त गम्भीर शोक की परिस्थिति में अति तीव्र होता है। भयानक और बीभत्स दोनों रसों में इसका प्रयोग किया जा सकता है।

भयानक दृश्यों में जब कोई तांत्रिक, जादूगर, डाकू या हत्यारा अपने हाथ में दीपक या मोमबत्ती लेकर आये, उस समय शेष सब प्रकाशों का बन्द रहना अधिक प्रभावशाली होता है। यों भी सदा मन्दक के सहारे धीरे-धीरे एक प्रकाश खोलना चाहिए और उसके पश्चात् अधिक तीव्र प्रकाश देना चाहिए। यदि कहीं अग्नि-कुण्ड का या यूरोपीय नाटकों में घर की अँगीठी का दृश्य हो, तो उसी कुण्ड या अँगीठी में अधिक प्रकाश होना चाहिए और शेष स्थान अँधेरा रखना चाहिए। यदि किसी खिड़की से प्रकाश आता दिखाना हो तो उसमें उतना ही प्रकाश लगाना चाहिए। तात्पर्य यह है कि प्रकाश स्वाभाविक हो, किन्तु इतना अवश्य हो कि उससे मुखाकृतियाँ स्पष्ट हो जायँ। स्वाभाविक रूप से यदि दिन के किसी भाग में आप अपनी बैठक को देखें, तो उसमें कुछ भाग अधिक प्रकाशित होगा, कुछ कम होगा और कुछ अँधेरा होगा। ठीक इसी प्रकार रंगमंच पर भी प्रकाश होना चाहिए, जिसमें मुख्य पात्रों पर अधिक और केन्द्रित तथा अन्य भागों पर छाया-प्रकाश ही हो।

संवाद और प्रकाश

भाव और प्रकाश के समान ही प्रकाश और संवाद का सम्बन्ध भी बनाये रखना चाहिए। यदि नाटकीय संवाद में यह कहा जा रहा हो कि देखो, बाहर कैसी अच्छी धूप है या खिड़की से धूप आ रही है या चाँदनी खिली है, तो उचित प्रकाश न दिखाना

नाटक के प्रभाव में बाधक हो सकता है, क्योंकि प्रकाश का उद्देश्य ही यह है कि वह अभिनेताओं और नाटक की परिस्थितियों के लिए उचित वातावरण उत्पन्न करे। भयानक, अनैतिक और हत्याकाण्ड वाले दृश्यों में अधिक प्रकाश देने और प्रहसन आदि में कम प्रकाश देने से नाटक की हत्या हो जाती है। एक पुरानी कहावत ही प्रसिद्ध है —'अँधेरे में परिहास नहीं होता।' किन्तु साथ ही अभिनेताओं को भी प्रकाश का उचित प्रयोग करने का अभ्यास होना चाहिए। कभी-कभी रंगमंच का अग्रभाग या अग्रमंच (प्रोसीनियम) बहुत आगे तक बढ़ा हुआ होता है। ऐसी स्थिति में अभिनेताओं की यह स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है कि आगे बढ़कर अभिनय करने लगें। वहाँ प्रकाश कम होने के कारण उनके अभिनय का सारा कौशल नष्ट हो जाता है। अतः उन्हें सावधान होकर अग्रमंच के घेरे के भीतर उचित प्रकाश की सीमा में ही काम करना चाहिए और बढ़े हुए अग्रमंच (एप्रेन स्टेज) का उपयोग करने की शेक्सपियरी प्रणाली का प्रयोग नहीं करना चाहिए। यदि यह अभीष्ट ही हो, तो उनके लिए दर्शक-भवन में से प्रकाश देने की व्यवस्था करनी चाहिए।

सावधानी

रंग-व्यवस्थापक को नाट्यशाला के सब कोनों में घूम-घूमकर देख लेना चाहिए कि सब ओर से ठीक-ठीक दिखाई देता है या नहीं। कभी-कभी स्वयं अभिनेता को ही मंच पर बत्ती जलानी पड़ती है, इसके लिए अच्छा तो यही है कि दृश्य-पीठ में ही बटन लगा हो। यदि ऐसा न हो और जलाने वाला बटन कहीं दूसरे स्थान पर हो तो अभिनेता को तब तक बटन पर हाथ रखना चाहिए, जब तक प्रकाश न आ जाय। किन्तु इसमें सदा किसी न किसी प्रकार की गड़बड़ी होने की संभावना रहती है। अतः उसका बटन रंगमंच पर ही होना चाहिए। जहाँ तक सम्भव हो, तेल के दीये, लालटेन, मोमबत्ती, दियासलाई, स्पिरिट, मिट्टी का तेल आदि रंगमंच पर नहीं ले जाना चाहिए, क्योंकि इससे अनेक प्रकार की दुर्घटनाएँ संभव हैं। यदि दीया या मोमबत्ती ले जानी ही हो, तो उसके बदले वैसी ही बिजली की बत्ती ले जानी चाहिए। यदि रंगमंच पर कोई बत्ती जलानी ही हो, तो उसको इस प्रकार रखना चाहिए कि उसकी चमक दर्शकों की आँख पर न पड़े। रंगमंच की इन बत्तियों पर ओट या टोपी लगा रखनी चाहिए ।

जिस प्रकार पूरे नाटक की योजना बनाते समय पात्रों का प्रवेश और निर्गम अंकित कर लिया जाता है, वैसे ही प्रकाश-व्यवस्था भी लिख लेनी चाहिए और प्रकाश का प्रबन्ध किसी विशेषज्ञ को सौंपना चाहिए। यह तो सिद्धान्त की बात है कि जिस

समय नाटक होता हो, उस समय रंगमंच पर प्रकाश रहे और दर्शक-कक्ष में अन्धकार। जिन नाट्यशालाओं में वादकगण आगे बैठकर वादन-पाठ देखकर वाद्य बजाते हों, वहाँ ऐसा प्रकाश होना चाहिए कि वह ढका भी रहे और केवल वादन-पाठ पर ही उसका प्रकाश पड़े। रंग-दीपन स्वयं एक कला है, जिसका अभ्यास अनुभव से ही आता है।

अध्याय ३०

संगीत-योजना

संगीतदर्पण में संगीत की परिभाषा यह की गयी है—

'गीतं, वाद्यं नर्तनं च, त्रयं संगीतमुच्यते।'

अर्थात् गीत या गाना, वाद्य और नर्तन तीनों को मिलाकर संगीत कहते हैं। कुछ का कहना है कि इन तीनों को मिलाकर संगीत होता है, कुछ इनमें से प्रत्येक को संगीत समझते हैं, किन्तु वास्तव में तीनों के समाहार को संगीत कहते हैं। इनमें से नृत्य तो वाद्य के सहारे चलता है और वाद्य गीत के सहारे चलता है, अतः इन तीनों में मुख्य गीत ही है।

संगीतदर्पणकार ने संगीत को दो भागों में विभक्त किया है—मार्ग और देशी। जिस संगीत का प्रदर्शन ब्रह्मा के निर्देश से भरत ने महादेवजी के सामने किया था और जो मोक्ष देने वाला है, वह मार्ग-संगीत है और विभिन्न देशों में विभिन्न रीतियों के अनुसार लोकरंजन के लिए जिस संगीत की योजना की जाती है, उसे देशी कहते हैं।

हमारे यहाँ सामवेद को उद्गाता लोग वैदिक यज्ञों के समय गाया करते थे। उसका उपवेद भी गान्धर्ववेद कहलाता है, जिसमें संगीत का पूरा विवरण दिया हुआ है। इसके अतिरिक्त वेदों में भी नृत्त और गीत की योजना का प्रमाण मिलता है और वह परिपाटी आज तक ज्यों की त्यों चली आ रही है। इसका विवरण नाट्य की उत्पत्ति के प्रसंग में दिया जा चुका है। रामायण, महाभारत तथा पुराणों में विस्तार से स्थान-स्थान पर गीत, नृत्य, नाटक, शैलूष, नर्तक, नट, कुशीलव, मागध, नान्दीपाठ, वन्दी, गायक, सौख्यसाक्षिक, वैतालिक, कथक, ग्रन्थिक, गाथी और सूत आदि संगीत-व्यवसायियों का उल्लेख मिलता है और देवताओं की सभाओं में तो गन्धर्व तथा अप्सराओं द्वारा देवताओं के मनोरंजन के लिए नृत्य, गीत और नाट्य के आयोजन का उल्लेख मिलता ही है।

भरत ने अपने नाट्यशास्त्र में संगीत की स्वर-विधि का निम्नांकित क्रम रखा है—

(अ) स्वर-संज्ञाएँ।

(आ) वादी, संवादी, अनुवादी, विवादी के रूप में चतुर्विध स्वर या उनके चतुर्विध सम्बन्ध।

(इ) वादी, संवादी का लक्षण।

(ई) मध्यम ग्राम में पंचम-ऋषभ तथा षड्ज ग्राम में षड्ज-पंचम के पारस्परिक संवाद को प्रतिपादित करने वाला श्लोक।

(उ) विवादी एवं अनुवादी का लक्षण एवं कुछ उदाहरण।

(ऊ) वादी, संवादी, अनुवादी एवं विवादी संज्ञाओं की अनिवार्यता।

(ए) षड्ज ग्राम के स्वरों की स्थापना का ज्ञान कराने वाला श्लोक, जिसमें षड्ज ग्राम में श्रुति-निदर्शन बताया गया है और जिसके रहस्य से परिचित होने पर मध्यम ग्राम के स्वरों का भी ज्ञान हो जाता है।

(ऐ) षड्ज ग्राम एवं मध्यम ग्राम से परिचित व्यक्ति के लिए एक स्थान में श्रुतिसंख्या एवं श्रुति-परिमाणों की प्राप्ति का उपाय-चतुःसारणा।

(ओ) दोनों ग्रामों में स्वरों की संख्या का स्मरण रखने के लिए संग्रह-श्लोक, जिनमें 'चतुःसारणा' का निष्कर्ष पद्यबद्ध है।

स्वर

षड्ज, ऋषभ, गान्धार, मध्यम, पंचम, धैवत और निषाद ये ही सातों स्वर सा रे गा मा पा धा नि कहलाते हैं। इनमें से षड्ज और पंचम तो स्थिर रहते हैं अर्थात् उनमें कोई रूप-परिवर्तन नहीं होता, किन्तु रे गा धा नि कोमल भी होते हैं और मध्यम तीव्र होता है। सात स्वरों के बीच में २२ श्रुतियाँ होती हैं। श्रुतियों के सम्बन्ध में नाट्य-शास्त्र में एक श्लोक है—

तिस्रो द्वे च चतस्रश्च चतस्रस्तिस्र एव च।
द्वे चतस्रश्च षड्जाख्ये ग्रामे श्रुतिनिदर्शनम्॥

अर्थात् षड्ज ग्राम में श्रुतियों की स्थिति क्रमशः तीन, दो, चार, चार, तीन, दो, चार है। अहोबल के अनुसार षड्ज की चार श्रुतियाँ हैं—तीव्रा, कुमुद्वती, मन्दा, और छन्दोवती; ऋषभ की हैं दयावती, रञ्जनी और रक्तिका; गान्धार की हैं रौद्री और क्रोधा; मध्यम की हैं वज्रिका, प्रसारिणी, प्रीति और मार्जनी; पंचम की हैं—शिती, रक्ता, सन्दीपिनी, आलापिनी; धैवत की हैं—मदन्ती, रोहिणी और रम्या; निषाद की हैं उग्रा और क्षोभिणी।

दन्तिल ने भी किसी ध्वनि को षड्ज मानकर उसके पश्चात् ऋषभ, गान्धार, मध्यम, पंचम, धैवत, निषाद और उसके पश्चात् षड्ज की श्रुतियों की संख्या का निर्देश किया है। जिनमें से प्रत्येक का क्रम इस प्रकार होगा—

गृहीत स रे ग म प
१, २, ३, ४, ५, ६, ७, ८, ९, १०, ११, १२, १३,
ध नि स
१४, १५, १६, १७, १८, १९, २०, २१, २२

दन्तिल ने श्रुतियों के ये नाम दिये हैं—

नान्दी चालनिका रसा च सुमुखी चित्रा विचित्रा घना
मातंगी सरसा भृता मधुकरी मैत्री शिवा माधवी।
बाला शार्ङ्गरवी कला कलरवा माला विशाला जया
मात्रेति श्रुतयः पुराणकविभिर्द्वाविंशतिः कीर्तिताः॥

कुछ आचार्यों के मतानुसार षड्ज में ४, ऋषभ में ३, गान्धार में २, मध्यम में ४, पंचम में ४, धैवत में २ और निषाद में २, इस प्रकार २२ श्रुतियाँ मानी गयी हैं। किन्तु यह क्रम नाट्यशास्त्र के क्रम से भिन्न है और आजकल श्रुतियों के सम्बन्ध में इतना विवाद खड़ा हुआ है कि इसके लिए शोध आवश्यक है। वास्तव में श्रुतियों का प्रयोग मार्गी संगीत में ही होता था, किन्तु मार्गी संगीत पूर्णतः लुप्त हो जाने के कारण श्रुतियों का प्रयोजन भी निष्फल हो गया।

गीत

संगीत में गीत प्रधान है और यह गीत किसी कविता के आश्रय पर राग के द्वारा गाया जाता है। संगीतदर्पणकार ने राग की परिभाषा इस प्रकार समझायी है—

योऽयं ध्वनिविशेषस्तु स्वरवर्णविभूषितः।
रंजको जनचित्तानां स रागः कथितो बुधैः॥
यैस्तु चेतांसि रज्यन्ते जगत्त्रितयवर्तिनाम्।
ते रागा इति कथ्यन्ते मुनिभिर्भरतादिभिः॥
यस्य श्रवणमात्रेण रज्यन्ते सकलाः प्रजाः।
सर्वानुरंजनाद्धेतोस्तेन राग इति स्मृतः॥ (संगीतदर्पण ८५)

स्वर और वर्ण से विभूषित जिस ध्वनिविशेष से लोगों के चित्त का अनुरंजन हो उसे राग कहते हैं, अथवा जिससे साधारण मनुष्य के चित्त में भी अनुराग का संचार

हो उसे राग कहते हैं। दार्शनिक दृष्टि से पातंजल योग-सूत्र के मत से 'सुखानुशयी राग' के अनुसार भी तृष्णा उत्पन्न करने वाला साधन ही राग कहलाता है। तात्पर्य यह है कि जब मनुष्य इस प्रकार गाने लगे कि सब अपना-अपना काम-धाम छोड़कर उसमें दत्तचित्त होकर तन्मय हो जायँ उस गायन को राग कहते हैं।

राग की उत्पत्ति के सम्बन्ध में संगीतदामोदर ने लिखा है कि भगवान् श्री कृष्ण के समक्ष सोलह सहस्र गोपियों ने एक-एक करके जिन रागों में गीत गाये उन्हीं से सोलह सहस्र रागों की उत्पत्ति हुई, जिनमें से छत्तीस राग प्रसिद्ध हैं।

वर्ण

ऊपर बताया गया है कि स्वर और वर्ण से विभूषित ध्वनि को ही राग कहते हैं। ऊपर शुद्ध, कोमल और तीव्र स्वरों तथा श्रुतियों का विवेचन किया जा चुका है। इन्हीं में से लिये हुए निश्चित स्वर-समूह को यथाविधि गाने को वर्ण कहते हैं। ये वर्ण चार होते हैं—स्थायी, आरोही, अवरोही, संचारी।

षड्ज आदि स्वरों में से जो स्वर रह-रहकर थोड़ी-थोड़ी देर पर किसी राग में उच्चरित होता है अथवा जिस स्वर में राग कुछ देर तक ठहरता है उस स्वर से युक्त गीत के प्रारम्भिक भाग को स्थायी कहते हैं।

क्रमशः स्वरों के ऊपर चढ़ने को अर्थात् षड्ज, ऋषभ, गान्धार, मध्यम, पंचम, धैवत और निषाद के क्रम से स्वरों को ऊपर चढ़ाकर गाने को आरोही कहते हैं।

क्रमशः निषाद, धैवत, पंचम, मध्यम, गान्धार, ऋषभ और षड्ज के अनुसार ऊपर से नीचे स्वर लाने को अवरोही कहते हैं।

स्थायी, आरोही और अवरोही मिलाकर स्वर-संचार करने को संचारी कहते हैं।

राग आदि में प्रयुक्त होने वाले स्वरों के प्रकार-भेद से उनके तीन नाम दिये गये हैं—ग्रह, न्यास और अंश। जो स्वर गीत आदि के प्रारम्भ में ही स्थापित हो जाता है उसे ग्रह स्वर कहते हैं। जिस स्वर में गीत के आदि की समाप्ति होती है उसे न्यास कहते हैं और जो स्वर किसी राग में अधिक प्रयुक्त होता है अर्थात् जिस स्वर के बिना राग की मूर्ति स्पष्ट नहीं होती है उसे अंश या जाम कहते हैं।

अंग

रागों के चार अंग हैं—रागांग, भाषांग, क्रियांग और उपांग। राग का छाया मात्र अनुकरण करने को रागांग कहते हैं। भाषा का छाया मात्र आश्रय लेने को भाषांग कहते हैं। राग आदि गाने में उत्साह दिखाने को क्रियांग कहते हैं और रागांग, भाषांग, क्रियांग तीनों का सामान्य अनुकरण करने को उपांग कहते हैं।

काण्डारला

किसी राग को गाते समय जब अत्यन्त उच्च स्वर का उच्चारण किया जाय, शीघ्रता और कौशल से अनेक प्रकार के गमक या स्वर-कंपन प्रदर्शित करके राग को विभूषित किया जाय उसे काण्डारला कहते हैं।

राग के भेद

मतंग के मत से राग तीन प्रकार के होते हैं—शुद्ध, छायालग और संकीर्ण। शास्त्र में बताये हुए नियम के अनुसार बिना किसी दूसरे राग को मिलाये शुद्ध रूप से किसी राग को गाकर प्रकट करना ही शुद्ध राग कहलाता है। जिस राग में अन्य किसी राग की छाया पायी जाय उसे छायालग कहते हैं और जिस राग में बहुत से रागों का सम्मिश्रण होता है उसे संकीर्ण कहते हैं।

औडुव, षाडव और सम्पूर्ण राग

शुद्ध, छायालग और संकीर्ण राग भी तीन भागों में विभक्त हैं—औडुव, षाडव और सम्पूर्ण। जिन रागों में षड्ज आदि सात स्वरों में से केवल पाँच स्वर व्यवहृत होते हैं उन्हें औडव कहते हैं। जिनमें छः स्वरों का प्रयोग होता है उन्हें षाडव कहते हैं और जिनमें सातों स्वरों का प्रयोग होता है उन्हें सम्पूर्ण कहते हैं। इनमें से कुछ रागों में आरोह में ५ और अवरोह में ७ स्वर लगते हैं। उन्हें औडुव सम्पूर्ण कहते हैं। इसी प्रकार रागों की संख्या के आरोह और अवरोह में प्रयोग के अनुसार औडुव, षाडव, औडुव-सम्पूर्ण, षाडव-औडुव, षाडव-सम्पूर्ण, सम्पूर्ण-औडुव, सम्पूर्ण-षाडव, औडुव-औडुव, षाडव-षाडव और सम्पूर्ण-सम्पूर्ण आदि भेद होते हैं।

थाट—स्वरों की जिस विशिष्ट रचना से विभिन्न राग-रागिनियों की उत्पत्ति की जा सके उसे थाट या ठाट कहते हैं। इसी थाट को दक्षिण के संगीतज्ञ मेल कहते हैं। इसका क्रम यह बताया गया है कि नाद ब्रह्म (अनाहत नाद) से स्वर, स्वर से सप्तक, सप्तक से थाट और थाट से राग-रागिनियों की उत्पत्ति हुई है।

थाट के प्रकार—थाटों की संख्या के संबंध में भारतीय ग्रन्थकारों में बड़ा मतभेद है। कुछ लोग छत्तीस और कुछ बहत्तर थाट मानते हैं किन्तु उत्तर भारतीय संगीत को भातखंडेजी ने दस ही थाटों में बाँध दिया है—विलावल, कल्याण, खमाच, भैरव,

पूर्वी, मारवा, काफी, आसावरी, भैरवी और तोड़ी। दक्षिण भारत के विद्वान् पं० वेंकट मखीजी ने चतुर्दंडी-प्रकाशिका में ७२ मेलों (थाटों) का अत्यन्त तर्कसंगत, शास्त्र-संगत और गणित-संगत वर्णन किया है।

थाट की विशेषताएँ—थाटों में निम्नांकित विशेषताएँ होनी चाहिए—

१. थाट में स्वर सात से कम नहीं होने चाहिए।

२. सातों स्वर स रे ग म प ध नि के क्रम से होने चाहिए।

३. थाट में केवल आरोही स्वर ही दिये जाते हैं, अवरोही नहीं।

४. थाट स्वयं गाया-बजाया नहीं जाता वरन् इससे उत्पन्न होने वाले राग ही गाये-बजाये जाते हैं। यह तो केवल राग का उत्पादक सूत्र है।

५. थाट के स्वरों की रचना ऐसी होनी चाहिए कि उससे राग-रागिनियों की उत्पत्ति हो सके।

६. थाट स्वयं आवश्यक रूप से रंजक नहीं होता।

७. थाट का नाम उस थाट से उत्पन्न उसके आश्रय-राग के अनुसार होना चाहिए।

८. थाट में वादी स्वर का होना आवश्यक नहीं है।

आश्रय राग—ऊपर बताया गया है कि थाट का नाम उससे उत्पन्न आश्रय राग के नाम पर होना चाहिए, किन्तु थाट और राग कभी एक नहीं होते, जैसे खमाच थाट खमाच राग से भिन्न है।

पूर्व राग और उत्तर राग—जो राग दिन के पहले भाग (पूर्वांग) अर्थात् १२ बजे दिन से १२ बजे रात तक गाये जाते हैं वे पूर्व राग कहलाते हैं और जो दिन-रात के दूसरे भाग (उत्तरांग) अर्थात् १२ बजे रात्रि से १२ बजे दिन तक गाये जाते हैं वे उत्तर राग कहलाते हैं।

अल्पत्व, बहुत्व—किसी राग में जब किसी स्वर का अधिक प्रयोग होता है तब उसका बहुत्व कहलाता है और कम प्रयोग होता है वह अल्पत्व कहलाता है।

तिरोभाव और आविर्भाव—गाते या बजाते समय थोड़ी देर के लिए मूल राग को छिपा देने की क्रिया को तिरोभाव और पुनः मूल राग पर आ जाने को आविर्भाव कहते हैं।

ग्रह, अंश और न्यास—जिस स्वर से राग का गायन प्रारंभ होता है उसे ग्रह स्वर और जिससे समाप्त होता है उसे न्यास स्वर कहते हैं। जिस स्वर का प्रयोग राग में सबसे अधिक होता है उसे अंश स्वर कहते हैं, जिसे आजकल वादी कहते हैं।

संधि-प्रकाश राग—जिन रागों में रे और ध कोमल लगते हैं वे संधि-प्रकाश राग कहलाते हैं, क्योंकि उनका गायन सूर्योदय या सूर्यास्त के समय होता है।

गायकों के गुण और अवगुण--संगीतरत्नाकर में गायकों के २२ गुण और २५ अवगुणों का उल्लेख है जिनमें से मुख्य गुण निम्नांकित हैं —

गमक, कण और मीड-मूर्च्छना लेने के योग्य मधुर और सुरीला कंठ हो तथा बिना अभ्यास के गाने की क्षमता हो। शुद्ध उच्चारण हो। स्वर और श्रुति का ज्ञान तथा उन्हें ठीक स्थान पर प्रयोग करने की क्षमता हो। लय और ताल का ऐसा ज्ञान हो कि लयदारी के साथ गीत के बीच-बीच सुन्दर मुखड़े मिलाने और मृदंग या तबले के साथ लड़न्त करने की क्षमता हो। अधिक से अधिक रागों का ज्ञान हो तथा तिरोभाव, आविर्भाव का कौशल हो। समुचित अभ्यास करता हो। स्वर, लय और भाव का उचित समन्वय करना जानता हो। सुन्दर तान, अलाप की रचना करने और पुनरावृत्ति दोष से बचकर नवीनता उत्पन्न करके गायन करने की क्षमता हो। बिना थके हुए एकाग्र चित्त होकर देर तक गाने या बजाने का अभ्यास हो। श्रोताओं को मुग्ध कर सके। नीचे से नीचे स्वर से उठाकर ऊँचे से ऊँचे स्वर तक पहुँचाने की शक्ति हो। आत्मविश्वास हो। गायकी आती हो और समय, अवसर तथा श्रोताओं की सुविधा और प्रकृति का ध्यान रखकर गा सकता हो।

गायकों के अवगुण

कर्कश कंठ, वेसुरा गायन, अशुद्ध उच्चारण, बिना ताल और लय का गाना, अभ्यास की कमी, पुनरावृत्ति दोष, मुद्रादोष अर्थात् बेढंगा मुँह बनाकर या बैठने के ढंग को कुढंग करके गाना-बजाना, अव्यवस्थित गायन, आत्मविश्वास की कमी, समय, श्रोता और अवसर का ध्यान न रखकर गाना, आवश्यकता से अधिक तैयारी दिखाना, स्वर, लय और भाव के समन्वय की कमी तथा नीरसता ऐसे दोष हैं जिनसे प्रत्येक गायक और वादक को बचकर संगीत का अभ्यास और प्रदर्शन करना चाहिए।

आधुनिक आलाप—पहले ध्रुवपद की गायन-पद्धति में आलाप का अवकाश नहीं होता किन्तु जब से ख्याल और तराने गाये जाने लगे तब से आलाप के लिए अधिक अवसर प्राप्त होने लगे। अधिकांश गायक ख्याल के प्रारम्भ में थोड़ा आलाप करते हैं क्योंकि वे गीत के बीच में ही विस्तृत आलाप करना अधिक संगत समझते हैं। यह आलाप आकार अर्थात् नोम-तोम् के ढंग से होता है या गीत के शब्दों को लेकर।

ये नोम-तोम वाले आलाप आकार चार अंगों में विभक्त होते हैं—स्थायी, अन्तरा, संचारी और आभोग।

तान और बोलतान—द्रुत गति में स्वर-समूहों को आकार में बोलने को तान और गीत के शब्दों को लेकर तान बोलने को बोलतान कहते हैं। तान के निम्नांकित

१२ प्रकार हैं—१. सपाट या क्रमिक तान—जिसमें क्रमानुसार राग के स्वर लगते हैं। सा रे ग म प ध नि स

२. शुद्ध तान—जिसमें किसी राग के आरोह-अवरोह के अनुसार तान ली जाती है।

३. कूट तान—जिसमें स्वर-क्रम के बदले टेढ़ी-मेढ़ी तान ली जाती है, जैसे—साग-रेम गप मप रेम गप।

४. मिश्र तान—जिसमें शुद्ध और कूट तानों का मिश्रण होता है, जैसे—सारे गप धप गप गम गरे रेग रेस।

५. आलंकारिक तान—जिसमें किसी अलंकार का प्रयोग हो, जैसे—सारेग, रेगम, गमप, मपध, पधनि, धनिस।

६. छूट की तान—जिसमें झटके के साथ कोई तान ऊपर से नीचे को आती है, जैसे—गं-गंरंसं-निध, पम, गरेसा।

७. दानेदार तान—जिसमें कण का प्रयोग होता है।

८. बराबर की तानें—जो गीत के बराबर लय में ली जाती हैं।

९. गमक की तानें—जिनमें गमक का प्रयोग होता है।

१०. लडन्त की तानें—जिनकी लय बार-बार बदलती रहे।

११. फिरंत की तान—जो सीमित स्वर-समुदाय के भीतर ही घूमती रहे। जैसे—गमपम, गमगम, गमगप, गमपम, पमपम, गमपम, गमगम, गममप, पमगम, गरेसा।

१२. जबड़े की तान—जो जबड़े की सहायता से अलापी जाय।

ध्रुवपद—ध्रुवपद का अर्थ है दृढ़ या गम्भीर चरण। अतः देवताओं की स्तुति और प्रार्थना इत्यादि मन्दलयात्मक गेय पद ध्रुव पद में गाये जाते हैं। इनमें तानों के प्रयोग के बदले द्विगुण, तिगुण और चौगुण बोल-तान तथा गमक इत्यादि का प्रयोग होता है और चौताला या शूल ताल आदि का उपयोग होता है। इनमें से किसी में चार अंग स्थायी, अन्तरा, संचारी और आभोग होते हैं, किसी में केवल स्थायी और अन्तरा।

बड़ा ख्याल या विलंबित ख्याल—बिलंवित लय में विस्तार के साथ गाये जाने वाले गीत को बड़ा या बिलंबित ख्याल कहते हैं, जिसमें धीमा तिताल, तेवड़ा, झमूरा, अड़ा चौताल तथा एक ताल आदि तालों का प्रयोग होता है। इसे तान-पलटों द्वारा अलंकृत करके गाया जाता है। मुगल बादशाह मुहम्मद शाह रंगीले के दरबारी तथा तानसेन के वंशज सदारंग तथा अदारंग बन्धु ही बड़े ख्याल के जन्मदाता माने जाते हैं।

छोटा ख्याल—खिलजी बादशाहों के दरबारी अमीर खुसरो ने तीव्र गति वाले बहुत तान-पलटों से भरे छोटे ख्याल का प्रचार किया है, जिसमें त्रिताल, झपताल और एकताल का अधिक प्रयोग होता है।

टप्पा—टप्पे की शब्द-रचना बहुत छोटी और गति चपल होती है। इसमें शृंगार रस की प्रधानता रहती है और छोटे-छोटे तान-पलटों के साथ मुर्की, खटके और फिख्त इत्यादि का प्रयोग होता है। इसमें स्थायी और अन्तरा दो ही अवयव होते हैं। पीलू, बरवा, झिझोटी, काफी तथा खमाच रागों में ही यह गाया जाता है।

ठुमरी—शृंगार रस प्रधान ठुमरी में थोड़े शब्दों में भाव-प्रदर्शन की प्रधानता होती है, तानों का प्रयोग नहीं होता, केवल छोटे-छोटे खटके, मुर्की और गिर्टाकीरी आदि का प्रयोग होता है। यह भी पीलू, भैरवी, खमाच, काफी, बरवा और झिझोटी इत्यादि में ही गाया जाता है और इसमें भी दो ही अवयव होते हैं; स्थायी और अन्तरा। इस पद्धति के गायन का प्रचलन बनारस और लखनऊ में अधिक है।

तराना—कुछ संगीतज्ञों का मत है कि तराने के आविष्कर्ता और प्रचारक ईरानवासी हजरत अमीर खुसरो थे। जिन्होंने ताल और राग में तराने गाने प्रारंभ कर दिये। इसमें शब्दों का कोई अर्थ नहीं होता, राग-ताल ही प्रधान होते हैं। इसमें देरे, तुम, न, तदारे, दीन आदि अर्थ-विहीन शब्दों का प्रयोग होता है।

धमार—धमार ताल में गाया जाने वाला होली संबंधी गीत ही धमार कहलाता है, जिसमें व्रज की होली का वर्णन होता है और ध्रुवपद की भाँति भी नोम-तोम का अलाप और अनेक प्रकार की लय-कारी दूर, चौगुन और आड़ इत्यादि में होती है।

होली—ठुमरी के ढंग का दीपचन्दी ताल और काफी जैसे राग में बँधा हुआ राधा-कृष्ण संबंधी होली के वर्णन से युक्त गीत ही होली कहलाता है, जिसमें मीड़ खटका, कण और मुर्की आदि का सुन्दर प्रयोग होता है।

चतुरंग—चतुरंग में चार वस्तुओं का मेल होता है—ख्याल के शब्द, तराना, पखावज या तबले के बोल तथा सरगम।

त्रिवट—त्रिवट में कविता, तराना और पखावज या तबले के तीन ही बोल मिले हुए रहते हैं।

रूपकालाप और रागालाप—प्राचीन संगीत-पद्धति में आलाप का एक दूसरा प्रकार है जिसे रूपकालाप कहते हैं, जिसमें मन्द गति से इस प्रकार स्वर लिये जाते थे कि राग या रागिनी का स्वरूप सामने खड़ा हो जाता था। किन्तु जिस गायन में रागों के ग्रह, अंश, मन्द तार, न्यास, अपन्यास, अल्पत्व, बहुत्व, षाडवत्व और औडुवत्व इन दस गुणों का प्रकाशन किया जाता है उसे रागालाप कहते हैं।

गीत—गान्धर्व, गान—मन का रंजन करने वाले स्वर-समुदाय को गीत कहते हैं, जिसके दो भेद हैं—गान्धर्व और गान। जिस अनादि और अपौरुषेय संगीत का प्रयोग ऋषि लोग करते थे और जिसका उद्देश्य मोक्ष-प्राप्ति होता था उसे गान्धर्व कहते थे। जो संगीत वाग्गेयकार (पद्य-रचना और स्वर-रचना करने वाले साहित्य-संगीत के पंडित) द्वारा लक्षण-बद्ध करके देशी राग-रागिनियों में लोकरंजन के लिए प्रयुक्त होता था उसे गान कहते थे। संगीतरत्नाकर के टीकाकार कल्लीनाथ ने कहा है कि गान्धर्व को तो मार्गी और शेष गायन को देशी समझना चाहिए। अब तो मार्गी संगीत पूर्णतः लुप्त हो गया है, केवल देशी संगीत का ही सर्वत्र प्रचार है। शार्ङ्गदेव ने भी अपने ग्रन्थ में देशी संगीत का ही विवरण दिया है। अतः नाटक में भी देशी संगीत का और वह भी ऐसे संगीत का आयोजन करना चाहिए जो सबका मनोरंजन कर सके, केवल संगीत का पांडित्य-प्रदर्शन और कला-प्रदर्शन न हो।

आलप्ति—गांधर्व और गान के आगे एक और भी संगीत की सीढ़ी है। जिसे आलप्ति कहते हैं और जिसमें राग के आविर्भाव और तिरोभाव का प्रदर्शन किया जाता है।

नाट्य में संगीत-योजना करते समय इस बात का विशेष विचार करना चाहिए कि किस स्थान पर किस राग और ताल में किस प्रकार के पात्र से किस गति से किस प्रकार के गीत की योजना करायी जाय अथवा वाद्य-संगति का प्रयोग किया जाय। आजकल सभी नाट्यशालाओं में अच्छे गुणी संगीतज्ञ नाटकों के लिए संगीत रचना करते हैं और तदनुसार अभिनेताओं को संगीत की शिक्षा देने के साथ वृन्द-वाद्य, पृष्ठ-वाद्य तथा नृत्य-वाद्य की स्वयं योजना बना लेते हैं। न्यूयार्क के रेडियो सिटी म्यूजिक हॉल में तो एक ऐसा विशाल वाद्य-यन्त्र ही बना लिया गया जिसे एक ही व्यक्ति संचालित करता है और जिसमें तीन सहस्र वाद्यों की ध्वनि संचालकों की इच्छानुसार यथास्थान और यथाक्रम प्रकट होती रहती है।

रागों की उत्पत्ति

सभी संगीत-शास्त्रों के मत से महादेव और पार्वती से ही राग उत्पन्न हुए हैं। महादेवजी के पाँचों मुखों में से सद्योजात मुख से श्री राग, वामदेव मुख से वसंत राग, अघोर मुख से भैरव राग, तत्पुरुष मुख से पंचम राग और ईशान मुख से मेघ राग की उत्पत्ति हुई और पार्वतीजी के मुख से नटनारायण राग की उत्पत्ति हुई। ये छहों तो राग या पुरुष हैं और छहों की छः-छः स्त्रियाँ या रागिनियाँ हैं। श्री राग की छः रागिनियाँ हैं—मालश्री, त्रिवणी, गौरी, केदारी, मधुमाधवी और पहाड़ी। वसंत की

छः रागिनियाँ हैं—देशी, देवकिरी, वरटी या वाराटी, तोड़िका, ललिता और हिन्दोली। भैरव की रागिनियाँ हैं—गुर्जरी, रामकिरी, गुणकिरी, वंगाली, सिन्धवी। पंचम की रागिनियाँ हैं—विभाषा, भूपाली, कर्णाटकी, वडहंसिका, मालवी और पट्‌टमंजरी। मेघ की रागिनियाँ हैं—मन्दारी, सोरठी, सावेरी, कौशिकी, गान्धारी और हर-शृंगारी। नटनारायण की रागिनियाँ हैं—कामोदी, कल्याणी, आभीरी, सारंगी, नट्‌टमहावीरा।

नारदसंहिता के मत से मालव, मन्दार, श्री, वसंत, हिन्दोल और कर्णाट ये छः राग हैं। इनमें से मालव की रागिनियाँ हैं—धानस्री, मालस्री, रामकिरी, सिन्धुड़ा, आसावरी, भैरवी। मन्दार की पत्नियाँ हैं—बेलावली, उर्वी, कानड़ा, माधवी, कौड़ा और केदारिका। श्री राग की रागिनियाँ हैं गान्धारी, सुभगा, गौरी, कौमारी, बन्दारी और वैरागी। वसंत की रागिनियाँ हैं—तुड़ी या तोड़ी, पंचमी, ललिता, पटमंजरी, गुर्जरी और विभाषा। हिन्दोल की रागिनियाँ हैं मालवी, दीपिका, देशकारी, पाहिड़ा, वराड़ी और मरहट्‌टा या मारहटी। कर्णाट की रागिनियाँ हैं—नाटिका, भूपाली, रामकेली, गड़ा और कामोदी।

रागार्णव के मतानुसार ये सब राग ही हैं, राग और रागिनी नामक कोई भेद नहीं है। उन्होंने छः प्रधान राग माने हैं—भैरव, पंचम, नाट, मल्लार, गौडमालव और देशाख्य। इनमें से भैरव-आश्रित पाँच राग हैं—बंगाली, गुणकिरी, मध्यादि, वसंत और धानश्री। पंचम के आश्रित हैं ललिता, गुर्जरी, देशी, वराडी और रामकिरी। नाट के आश्रित हैं नटनारायण, गान्धार, सालग, केदार और कर्णाट। मल्लार के आश्रित हैं मेघ, मल्लारिका, मालकौशिक, पट्‌टमंजरी और आसावरी। गौडमालव के आश्रित हैं हिन्दोल, त्रिवण, गान्धारी गौरी और पट्‌टहंसिका। देशाख्य के आश्रित हैं भूपाली, कुडारी, नाटिका और वेलावली।

संगीतनारायण ने अपने संगीतसार में श्री, नट, कर्णाटक, वेदगुप्त, वसंत, शुद्ध भैरव, बंगाल, सोम, आम्रपंचम, कामोद, मेघ, द्रविडगौड, वराटी, गुर्जरी, तोडी, माल-श्री, सिन्धवी, देवकिरी, रामकिरी, प्रथममंजरी, नट्‌टा, वेलावली और गौरी आदि रागों को सम्पूर्ण जातीय माना है।

संगीतसार में ही गौड़, कर्णाट गौड़, देशी, घल्लासिका, कोलाहल, वल्लारी, देशाख्या, शेखरी, सुस्थावती, हर्षपुरी, माधवादि, हंचिका, श्रीकंठ, माल, तारा, मालव-गौड, शुद्धाभीरी, मधुकरी, छाया और नीलोत्पल राग षाडव जाति के कहे गये हैं। इन्हें गाने से संग्राम में विजय, लावण्य की वृद्धि और सर्वत्र कीर्ति मिलती है।

मिश्र राग और रागिनी

देशाख्या और मल्लारी के संयोग से सौरठी; नट और मल्लार के सहयोग से नट्टा-मलिका; गुर्जरी और देश के मिश्रण से रामकेली; तोड़ी और घल्लसिका के संयोग से मराठी; देशाख्या और आशावरी के योग से वल्लारी; श्री और नट के सहयोग से गौरी; नट और कर्णाट के मेल से कल्याणी; कर्णाट और भैरव के योग से कर्णाटिका; मल्लारी, सैन्धवी और तोड़ी के सहयोग से आशावरी तथा सैन्धव और तोड़ी के संयोग से सुखावती इत्यादि मिश्र राग और रागिनियों की उत्पत्ति हुई है।

रागों के गाने का समय

संगीतदर्पण के मत से दिन में जिस समय जो राग गाने का विधान है, उसका वर्णन इस प्रकार किया गया है—मधु, माधवी, देशाख्या, भूपाली, भैरवी, बेलावली, मल्लारी, वल्लारी, सोमगुर्जरी, धानश्री, मालश्री, मेघ, पंचम, देशकारी, भैरव, ललित और बसन्त ये राग-रागिनियाँ प्रातः काल से लेकर दिन के एक प्रहर तक गायी जाती हैं। गुर्जरी, कौशिका, शावेरी, पटमंजरी, रेवा, गुणकिरी, भैरवी, रामकिरी, सौरठी रागिनियाँ दिन के एक प्रहर के बाद से दूसरे प्रहर के मध्य तक गानी चाहिए। वैराटी, तोड़ी, कामोदी, कुड़ारिका, गान्धारी देशी और शंकराभरण नामक राग-रागिनियाँ दिन के दूसरे प्रहर के पश्चात् तीसरे प्रहर के मध्य तक गायी जाती हैं। मालव, गौरी, त्रिवणा, नटकल्याण, सारंगनट, नाट, केदारी, कर्णाटी, आभीरी, बड़हंसी और पहाड़ी, ये राग-रागिनियाँ दिन के तीसरे प्रहर के पश्चात् आधी रात तक गायी जा सकती हैं। परन्तु राजा की अनुमति से कोई भी राग-रागिनियाँ किसी भी समय गाने में कोई दोष नहीं। नाटक में जिस समय का दृश्य हो उस समय के अनुकूल राग-रागिनी का प्रयोग करना चाहिए।

पंचमसारससंहिता के मत से विभाष, ललिता, कामोदी, पटमंजरी, रामकेलि, रामकिरी, वराड़ी, गुर्जरी, देशकारी, शुभगा, आभीरी, पंचमी, गौड़ी, भैरवी, कौमारी ये पन्द्रह रागिनियाँ पूर्वाह्ण में; वराटी, मालवी केन्द्रा, रेवती, धानश्री, वेलावली, मरहट्टा ये सात रागिनियाँ मध्याह्न के समय; गान्धारी, दीपिका, कल्याणी, प्रवारी, वरी, आशावरी, कान्दुला, गौरी, केदारी और पाहिड़ा ये रागिनियाँ सायंकाल गायी जाती हैं। परन्तु रात्रि दश दण्ड के पश्चात् सभी राग गाये जा सकते हैं, उसमें कोई दोष नहीं।

दाक्षिणात्यों के मत से देशाख्या, भैरवी, देवरक्तदंशी, माहुसा, नक्तरंजिका इन रागिनियों को प्रातःकाल में जो व्यक्ति गाता है, वह अत्यन्त सुखी होता है। सायंकाल

में इनका गाना अति निषिद्ध है और शुद्धनट्टा, सारंगी, नट्ट, वराटिका, छाया, गौड़ी, ललिता, मल्लारिका, गौरी, तोड़िका, गौड़, मालवगौड़, रामकिरी, कर्णाट और बंगाली, ये रागिनियाँ चन्द्र से उत्पन्न मानी गयी हैं, अतः प्रातःकाल के समय इनका गान करना अत्यन्त निन्दित है, सायंकाल के समय गान करने से महती लक्ष्मी प्राप्त होती है।

कौमुदी के मत से श्रीपंचमी (वसन्त-पंचमी) से लेकर दुर्गापूजा तक वसन्तराग दिन में किसी भी समय गाया जा सकता है, कोई दोष नहीं। प्रभात में भैरव आदि, मध्याह्न में वराटी आदि और सायंकाल कर्णाट आदि गाना उचित है।

इस प्रकार संगीतशास्त्र के आचार्यों ने गायन के लिए समय का अनेक प्रकार से विवरण दिया है। जिस देश में जिस प्रकार गायन की समय-विधि बतलायी गयी है, उसी का पालन नाटक में उस देश वाले के लिए करना चाहिए।

अकाल गायन का दोष

जिस राग-रागिनी का जो समय निर्दिष्ट किया गया है, उसका उल्लंघन करना सर्वनाश का मूल है। हाँ, श्रेणीबद्ध होकर राजा की आज्ञा या रंगभूमि में समयोल्लंघन करने में दोष नहीं है।

दोष का परिहार

यदि कोई लाभ या मोहवश समय का उल्लंघन करे तो अन्त में गुर्जरी रागिनी गाने से समस्त दोषों का खण्डन हो जाता है। किसी का मत है कि अकाल में कोई राग गाने या सुनने से जो दोष लगता है, वह महादेवजी की पूजा करने से दूर हो जाता है।

ऋतु-विभाग

श्रीराग और उसकी पत्नियाँ शिशिर ऋतु में, सस्त्रीक वसन्त ऋतु में, सपत्नीक भैरव ग्रीष्म ऋतु में, सस्त्रीक पंचम शरद ऋतु में, सहधर्मिणी सहित मेघ वर्षा ऋतु में तथा सपत्नीक नट्टनारायण हेमन्त ऋतु में इच्छानुसार गाये जा सकते हैं।

वाद्य

वाद्य चार प्रकार के माने गये हैं—तत, आनद्ध, शुषिर, और घन।

बिना ताल के गान की शोभा नहीं होती, गान की पूर्णता के लिए ताल की आवश्यकता है, यह ताल वाद्य से उत्पन्न हुआ है, इसलिए वाद्य ही सर्वश्रेष्ठ है। यह वाद्य तत, शुषिर, आनद्ध और घन चार प्रकार का होता है। वाद्यों में तन्त्री के वाद्य को तत,

वंशी प्रभृति फूंक से बजाये जाने वालों को शुषिर, चर्मावनद्ध को आनद्ध एवं ताल आदि देने वाले मँजीरे आदि को घन कहते हैं।
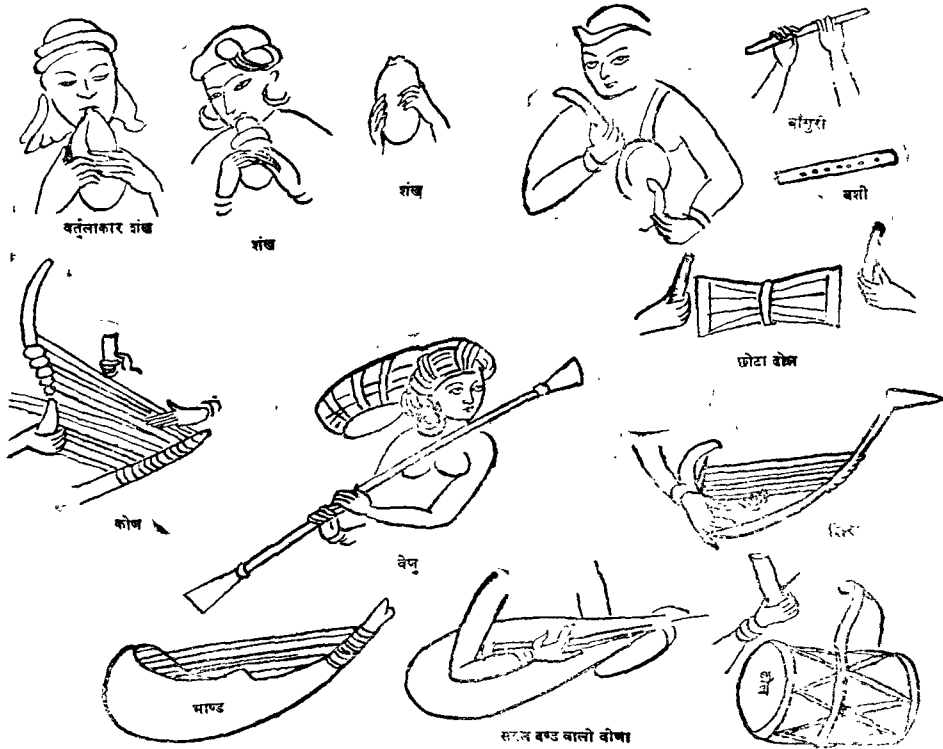
चित्र ७३ क—शुंग तथा कुषाण कालीन वाद्य

तत वाद्यों में आलापिनी, ब्रह्मवीणा, किन्नरी, लघुकिन्नरी, विपंची, वल्लकी, ज्येष्ठा, चित्रा, घोषवती, जया, हस्तिका, कुब्जिका, कुम्मी, शारंगी, परिवादिनी, त्रिशवी, शतचन्द्री, नकुलौष्ठी, ढंवसी, औडुम्बरी, पिनाकी, बिबन्ध, शुष्कल, गदा, वारणहस्त, रुद्र, शरमण्डल, कपिलास, मधुष्यन्दी और घोणा आदि तन्त्रीगत वाद्ययन्त्रों को तत वाद्य कहते हैं।

फूंक से बजायी जाने वाली वंशी, पारी, मधुरी, तित्तिरी, शंख, काहल, तुरही, मुरली, बुका, शृंगिका, स्वरनाभि, सिंगा, कापालिक, और चर्मवंशी आदि को शुषिर वाद्य कहते हैं।

मुरज, पटह, ढक्का, बिम्बक, दर्पवाद्य, प्रणाव, घन, सरुंजा, लावजाहूक, त्रिवल्य, करट, कमट, भेरी, कुड़क्का, हुड़क्का, झनस, मुरली, झल्ली, ढुक्कलौ, दौण्डिशाली,
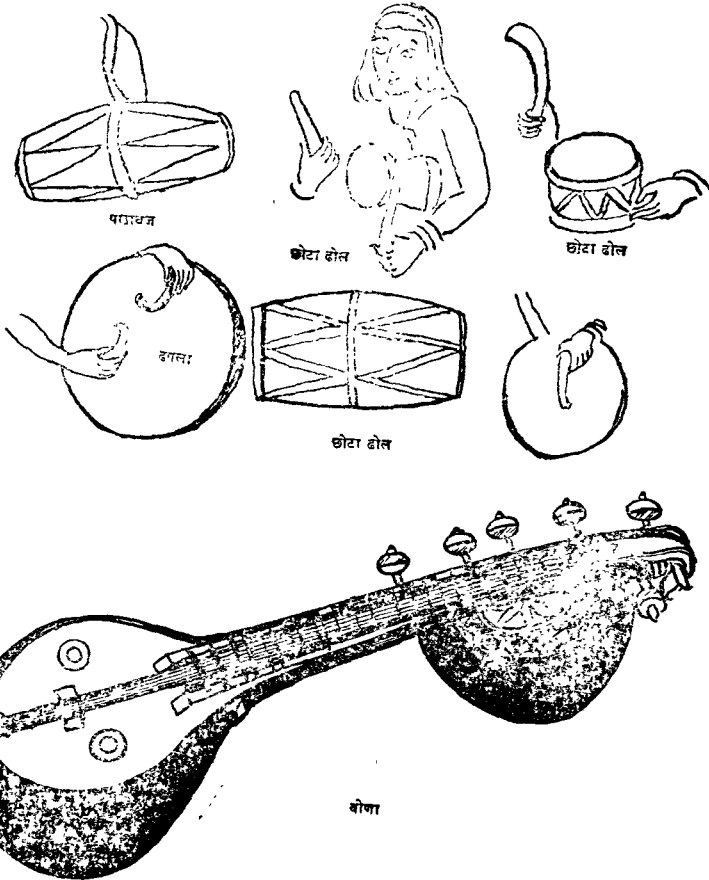
चित्र ७३ ख—शुंग और कुषाण कालीन वाद्य (वीणा इनसे अलग)

डमरू, टमुकी, मड्ड, कुण्डली, तंगुनामा, रण, अभिघट, दुन्दुभि, रज, डुडुकी, दर्दुर और उपांग आदि आनद्ध वाद्य कहलाते हैं।

कांस्यताल अर्थात् करताल आदि को घन कहते हैं। पुराण में लिखी हुई घटना का उल्लेख करते हुए संगीतदामोदरकार लिखते हैं कि रुक्मिणी और सत्यभामा आदि श्री कृष्ण की आठ पटरानियों के विवाह काल में ये चारों प्रकार के वाद्य एक साथ बजाये

गये थे। इन चारों प्रकार के वाद्यों में देवताओं के तत, गन्धर्वों के शुषिर, राक्षसों के आनद्ध और किन्नरों के घन वाद्य थे, किन्तु भगवान् श्री कृष्ण पृथ्वी पर अवतार लेकर ये चारों प्रकार के वाद्य इस मर्त्यलोक में ले आये, तब से ये वाद्य पृथ्वी में प्रचलित हैं।
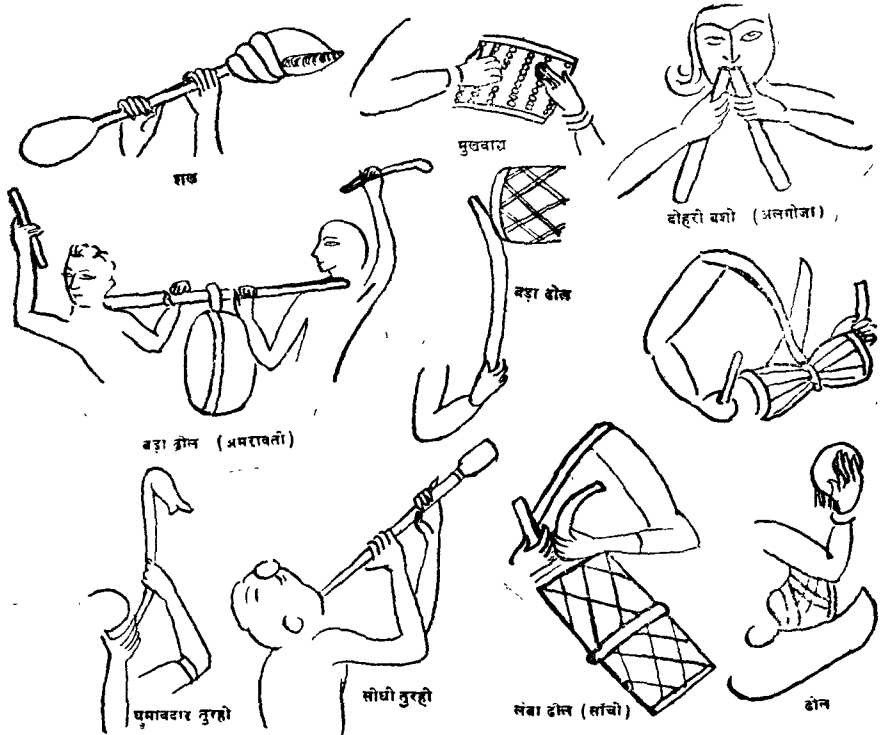
चित्र ७४—कुछ पुराकालीन शुषिर, आनद्ध वाद्य

विष्णुमन्दिर में ये सब वाद्य बजाने से विष्णु सन्तुष्ट होकर अभिमत फल प्रदान करते हैं, इसलिए विष्णुमन्दिर में प्रातः और सन्ध्या के समय ये सब वाद्य बजाये जाते हैं। शास्त्र में जो विष्णु-वाद अभिहित है, वह केवल उपलक्षण है, विष्णु शब्द से सभी देवताओं का बोध होता है। अतः सब देवताओं के मन्दिर में उसी तरह बाजा बजाने की विधि है।

शिवमन्दिर में झलुक (कांस्य निर्मित करताल), सूर्यमन्दिर में शंख, दुर्गामंदिर में वंशी तथा माधुरी बजाना निषेध है एवं विरंचि के मन्दिर में ढाक और लक्ष्मी के

मन्दिर में घण्टा नहीं बजाना चाहिए। यदि कोई वाद्यादि करने में असमर्थ हों, तो घण्टा बजा सकते हैं, कारण घण्टा सब वाद्यों का स्वरूप वतलाया गया है।

वाद्य संगीत का एक प्रधान अंग है। गीत, वाद्य और नृत्य इन तीनों के एकत्र समावेश को ही संगीत कहते हैं। कुछ लोग गीत और वाद्य इन दोनों के संयोग को संगीत कह गये हैं। उनके मतानुसार गीत और वाद्य ही प्रधान हैं, नृत्य इन दोनों का अनुयायी है। कोई-कोई तो गान, वाद्य और नृत्य प्रत्येक को ही संगीत कहते हैं। कारण, वाद्याभाव से गान और नृत्य शोभा नहीं पाते।

यह वाद्य ताल के अधीन है, बिना ताल के वाद्यादि लोगों को सुखदायक न होकर केवल क्लेशप्रद होते हैं। वह ताल त्रिघात्मक अर्थात् काल (क्षणादि), क्रिया (ताल की घटना), मान (दोनों क्रियाओं के मध्य विश्राम) नामक तीन विभागों के रूप में है। ताल शब्द के व्युत्पत्तिगत अर्थ से इसकी सार्थकता प्रतिपन्न होती है। प्रतिष्टार्थ वाचक 'तल' धातु के वाद घञ् प्रत्यय द्वारा ताल शब्द निष्पन्न होता है। इससे बोध होता है कि गान, वाद्य और नृत्य ये तीनों जिसके द्वारा प्रतिष्ठित होते हैं उसे ताल कहते हैं। काल, मार्ग (गति-पथ), क्रिया, अंग, ग्रह, जाति, कला, लय, यति और प्रस्तार ये दसों ताल के प्राणस्वरूप हैं। इन दसों प्राणात्मक तालों के जानने वाले व्यक्तियों को ही संगीतप्रवीण कह सकते हैं। बे-ताल गाने वाले व्यक्ति को संगीत विषय में मृत कहने से भी अत्युक्ति नहीं होती। जिस तरह साधारण नौका बिना कर्ण (पतवार) की सहायता के विपथ के सिवा कभी सुपथगामिनी नहीं हो सकती, उसी तरह बे-ताल गाना आनन्द प्रदान करने के बदले कर्णकटु ही होता है।

ताल के दस प्राणों में से काल मात्रा नाम से अभिहित होता है। इस मात्रा के पाँच भेद हैं, यथा-अणुद्रुत, द्रुत, लघु, गुरु और प्लुत। इनके सांकेतिक नाम—णुद, द, ल, ग और प हैं। इन्हें लिपिबद्ध करने के समय ,०,।,६; इस प्रकार से लिखना होता है। एक सौ पद्मपत्र उपर्युपरि भाव से रखकर सुई द्वारा छेदने में जितना समय लगता है, उसे क्षण कहते हैं। एक क्षण में अणुद्रुत वा णुद, दो क्षण में द्रुत वा द, दो द्रुत में (चार क्षण में) लघु वा ल, दो लघु में (आठ क्षण में) गुरु वा ग एवं तीन लघु में (बारह क्षण में) प्लुत वा प होगा। किसी-किसी संगीतज्ञ पंडित ने पाँच लघु वर्णों के उच्चारण-समय को एक लघु मात्रा वतलाया है एवं तदनुसार ही अणुद्रुतादि मात्रा-काल निर्दिप्ट किया है।

इन सब मात्राओं के विभिन्न प्रकार के विन्यास से बहुसंख्यक तालों की उत्पत्ति हुई है। उनमें कतिपय तालों के नाम तथा मात्राओं के विन्यास नीचे दिखलाये गये हैं। ताल प्रथमतः 'मार्ग' और 'देशी' भेद से दो प्रकार का है। ब्रह्मादि देवगण और भरतादि

संगीतविद्गण देवदेव महादेव के सामने जो संगीत प्रकाश करते थे, उसे मार्ग एवं भिन्न-भिन्न देशों के रीत्यनुसार उन देशवाशियों के चित्त जिसके द्वारा आकृष्ट और अनुरंजित होते हैं, उसे देशी संगीत कहते हैं। इस तरह संगीत दो प्रकार का होने के कारण ताल भी दो प्रकार के हैं।

संगीतविषय में सुनिपुण व्यक्ति ही गायक या नर्तक के भ्रम-निराकरण निमित्त कांस्यनिर्मित घन वाद्य अर्थात् करताल वा मँजीरा आदि के आघात द्वारा ताल बता देते हैं। ताल में सम, अतीत और अनागत——ये तीन प्रकार के ग्रह हैं। एक साथ गान और ताल आरम्भ होने से उसे सम ग्रह, गीतारम्भ के पहले ताल के आरम्भ होने से अतीत ग्रह एवं गानारम्भ के बाद ताल के आरम्भ होने से अनागत ग्रह कहते हैं। क्रिया के समय सामान्य विश्राम को लय कहते हैं। लय द्रुत, मध्य और विलम्बित भेद से तीन प्रकार की है। अति शीघ्रगति को द्रुत, उसकी दूनी धीमी गति को मध्य एवं मध्यापेक्षा दूनी धीमी गति को विलम्बित लय कहते हैं। इन तीनों प्रकार की लयों की फिर समा, स्रोतोवहा और गोपुच्छा, ये तीन प्रकार की गतियाँ हैं। आदि, मध्य और अन्त में एक ही समान रहने को समा, जल के स्रोत की तरह कभी द्रुत और कभी मन्दगति से गाये जाने को स्रोतोवहा एवं द्रुत, मध्य और विलम्बित इन तीनों ही भावों में गाये जाने को गोपुच्छा गति कहते हैं। संस्कृत श्लोकादि में ध्वनि के विश्राम-स्थान को जिस प्रकार यति कहते हैं, उसी प्रकार ताल के लय सम्बन्धी नियम भी यति नाम से अभिहित हैं।

वाद्य में ताल, यति और लय जिस प्रकार आवश्यक हैं, मात्रानिरूपण में भी इनकी वैसी ही आवश्यकता है। मात्रा की समता की रक्षा नहीं होने से संगीत का पद भंग हो जाता है, उस संगीत की कोई मर्यादा नहीं। इस कारण शिक्षार्थी को विशेष रूप से मात्रा के ऊपर ध्यान रखना चाहिए। मनुष्य की नाड़ी की गति के परिमाण से अर्थात् एक आघात के विराम से फिर आघात के समय तक १ मात्रा मान सकते हैं। इस तरह एक-एक आघात को एक-एक मात्रा-काल स्थिर कर उसी को दीर्घ, प्लुत करने से एक, द्वि, त्रि प्रभृति मात्रा-काल निर्दिष्ट होता है। घटिका-यन्त्र के समविरामान्तर आघात लेकर भी मात्रा का निरूपण हो सकता है। हमारे देश के कोई-कोई गायक और वादकगण अपनी इच्छा के अधीन अर्थात् अपने स्वर और हाथों के वजन के अनुसार काल स्थिर कर लेते हैं।

गायक और वादक एक मात्रा-काल मानकर जो समय स्थिर करेंगे, द्विमात्रा काल स्थिर करने में उसी निर्दिष्ट एक मात्रा-काल का दीर्घ करना होगा। वे त्रि वा चतुर्मात्रा में उसी तरह तिगुना वा चौगुना समय मान लेगें। इसी तरह आठ मात्राओं

को एकत्र करने से एक मार्ग होता है। किस ताल में कितनी मात्राएँ अर्थात् कितनी मात्राओं में एक-एक ताल होता है, वह तालविशेष के पर्याय से जाना जाता है। ताल के
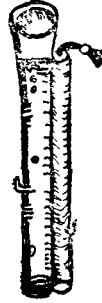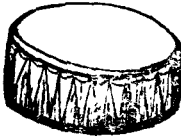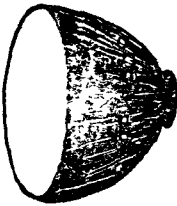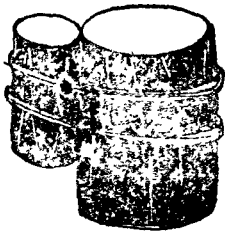
चित्र ७५ क—कुछ आनद्ध और तत वाद्य

समान विभाग का नाम लय एवं लघु-गुरु-निर्देश का नाम प्रश्न है। संगीत के छन्द की तरह ताल का भी पद है। इस पद वा गिरा के चार भेद हैं, यथा—विषम, सम, अतीत और अनागत। इनके मध्य फिर विराम, मुहूर्त, अणु, द्रुत, लघु, प्लुत अथवा अणु, द्रुत, लघु, गुरु, प्लुत, विराम और लघुविराम ये सात अंग हैं।

मार्ग और देशी इन दोनों तालों के मध्य पहले मार्ग, इसके बाद देशी ताल के नाम और मात्रा-विन्यास प्रदर्शित किये जाते हैं।

मार्ग ताल

चंचत्पुट, चाचपुट, षट्, पितापुत्र, सम्पर्कोष्टाक और उद्घट्ट, ये पाँचों मार्ग ताल पहले यथाक्रम से देवदेव महादेव के सद्योजात, वामदेव, ईशान, अघोर और तत्पुरुष, इन पाँच मुखों से उत्पन्न हुए। ये पाँचों ताल देवलोक में ही व्यवहृत होते हैं—१—चंचत्पुट, २—चाचपुट, ३—षट्पितापुत्र, ४—सम्पर्कोष्टाक, ५—उद्घट्ट।

देशी ताल

६. आदि व रस, ७. द्वितीय, ८. तृतीय, ९. चतुर्थ, १०. पंचम, ११. निःशंक-लीला, १२. दर्पण, १३. सिंहविक्रम, १४. रतिलील, १५. सिंहलील, १६. कन्दर्प, १७. वीरविक्रम, १८. रंग, १९. श्रीरंग, २०. चंचरी, २१. प्रत्यंग, २२. यतिलग्न, २३. गजलील, २४. हंसलील, २५. वर्णभिन्न, २६. त्रिभिन्न, २७. राजचूड़ामणि, २८. रंगोद्योत वा रंगोद्यत, २९. रंगप्रदीपक, ३०. राजताल, ३१. त्र्यस्र, ३२. मिश्र, ३३. चतुरस्र, ३४. सिंहविक्रीडित, ३५. जय, ३६. वनमाली, ३७. हंसनाद, ३८. सिंहनाद, ३९. कुड़कक, ४०. तुरंगलील, ४१. शरभलील, ४२. सिंहनन्दन, ४३. त्रिभंगी, ४४. रंगाभरण, ४५. मंचक, ४६. मुद्रितमंच, ४७. मंच, ४८. कोकिलप्रिय, ४९. निःसारुक, ५०. राजविद्याधर, ५१. जयमंगल, ५२. मल्लिका-मोद, ५३. विजयानन्द, ५४. क्रीड़ा वा चण्ड-निःसारुक, ५५. जयश्री, ५६. मकर-कन्द, ५७. कीर्ति ५८. श्रीकीर्ति, ५९. प्रीति, ६०. विजय, ६१. विन्दुमाली, ६२. सम, ६३. नन्दन, ६४. मंचिका, ६५. दीपक, ६६. उदीक्षण, ६७. ढेंचिका, ६८. विषम ६९. वर्णमल्लिका, ७०. अभिनन्दन, ७१. अनंग, ७२. नान्दी, ७३. मल्ल, ७४. पूर्णकंकाल, ७५. खंडकंकाल, ७६. समकंकाल, ७७. असमकंकाल, ७८. कन्दुक, ७९. एकताली, ८०. कुमुद ८१. चतुस्ताल, ८२. डोम्बरी, ८३. अभंग, ८४. रायवंगोल, ८५. वसन्त, ८६. लघुशेखर ८७. प्रतापशेखर, ८८. झम्प, ८९. जगझम्प, ९०. चतुर्मुख, ९१. मदन, ९२. प्रतिमंच, ९३. पार्वती-

लोचन, ९४. रति, ९५. लीश, ९६. करणयति, ९७. ललित, ९८. गारुडी, ९९. राजनारायण, १००. लक्ष्मीश, १०१. ललितप्रिय, १०२. श्रीनन्दन, १०३. जनक, १०४. वर्धन, १०५. रागवर्धन, १०६. षट्ताल, १०७. अन्तरक्रीडा, १०८. हंस, १०९. उत्सव, ११०. विलोकित, १११. गज, ११२. वर्णयति, ११३. सिह्, ११४. करण, ११५. सारस, ११६. चण्ड, ११७. चन्द्रकला, ११८. लय, ११९. कन्द, १२०, घत्ता १२१. भद्रताली वा त्रिपुट, १२२. द्वन्द्व, १२३. मुकुन्द, १२४. कुविन्द, १२५. कलध्वनि, १२६. गौरी, १२७. सरस्वतीकण्ठाभरण, १२८. भग्न, १२९. राजमृगांक, १३०. राजमार्तण्ड, १३१. निःशंक, १३२. शार्ङ्गदेव १३३. चित्र, १३४. इरावान्, १३५. सन्निपात, १३६. ब्रह्म, १३७. कुम्भ, १३८. लक्ष्मी, १३९. अर्जुन, १४०. कुण्डनाचि, १४१. सन्नि, १४२. महासानि, १४३. यतिशेखर, १४४. कल्याण, १४५. पंचघात, १४६. चन्द्र १४७. अद्रताली, १४८. गजनगंच, १४९. रामा, १५०. चन्द्रिका, १५१. प्रसिद्धा, १५२. विपुला, १५३. यति, १५४. पंच, १५५. अष्टकाली, १५६. रंगलील, १५७. लघुचंचरी, १५८. परिक्रम, १५९. वर्णलोल, १६०. वर्ण, १६१. श्रीकान्ति, १६२. लघु, १६३. राजझंकार, १६४. सारंग, १६५. नन्दिवर्धन, १६६. पार्वती-नेत्र, १६७. वंगदीपक, १६८. शिव, १६९. कम्प, १७०. अवलोकित, १७१. दुर्बल, १७२. रूपक, १७३. विद्याधर, १७४. वंगरूपक, १७५. वर्णभीरु, १७६. घटकर्कट, १७७. कंकण, १७८. राजकोलाहल, १७९. मलय, १८०. कुण्डल, १८१. खण्ड, १८२. मार्ग, १८३. मृङ्ग, १८४. वर्धमान, १८५. सन्निपात, १८६. राज-शीर्षक, १८७. उद्दण्ड, १८८. त्रिपुर, १८९. नप, १९०. चन्द्रक्रीड़ा, १९१. वर्णमंचिका १९२ टंक, १९३. मोक्षपति।

हम कह चुके हैं कि संगीत में वाद्य ही प्रधान अंग है। यह वाद्य यन्त्र के अधीन है, इस कारण भारतीय संगीतशास्त्र से यहाँ कुछ विषयों का उल्लेख किया जाता है। वाद्ययन्त्र प्रधानतः तत, अवनद्ध वा आनद्ध, शुषिर और घन इन, चार भागों में विभक्त हैं। जो वाद्ययन्त्र पीतल और लोहे के बने तार अथवा तन्तु (ताँत) के सहयोग से बजाये जाते हैं, उन्हें 'तत' यन्त्र कहते हैं, जैसे—वीणादि। जिन सब वाद्ययन्त्रों के मुख चर्मावनद्ध अर्थात् चमड़े से आच्छादित रहते हैं, वे 'आनद्ध' यन्त्र कहलाते हैं, जैसे मृदंगादि। जो यन्त्र बाँस, काठ, धातुओं के बने होते हैं एवं मुख से फूँककर बजाये जाते हैं, उन्हें 'शुषिर' यन्त्र कहते हैं, जैसे—वंशी आदि। जोसबयन्त्र काँ से प्रभृति धातुओं से बनाये जाते हैं एवं जिनसे वाद्य में ताल दिया जाता है उनका नाम 'घन' यन्त्र है, जैसे—करतालादि। इन चारों प्रकार के वाद्ययन्त्रों में

'तत' यन्त्र ही सर्वश्रेष्ठ है जो बहुत संख्या में विभक्त है। इसका स्वर बड़ा ही मधुर
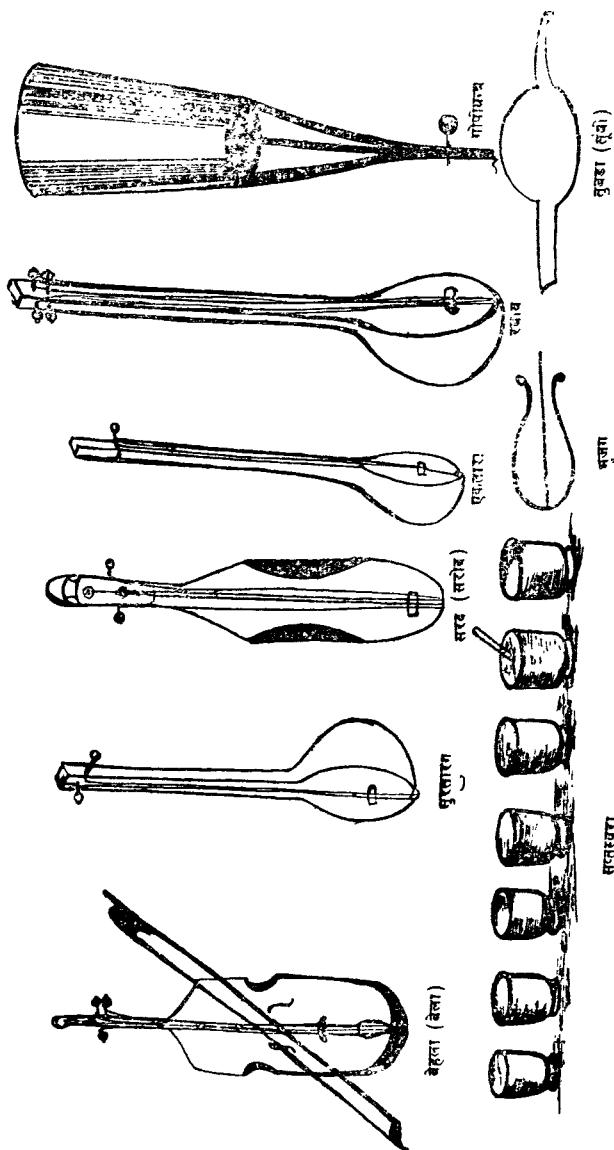
चित्र ७५ ख—कुछ तत, घन, शुषिर वाद्य

होता है किन्तु इसके बजाने में बहुत परिश्रम करना पड़ता है। पहले तत और इसके बाद अवनद्धादि यन्त्रों के विषय यथाक्रम से वर्णन किये जाते हैं।
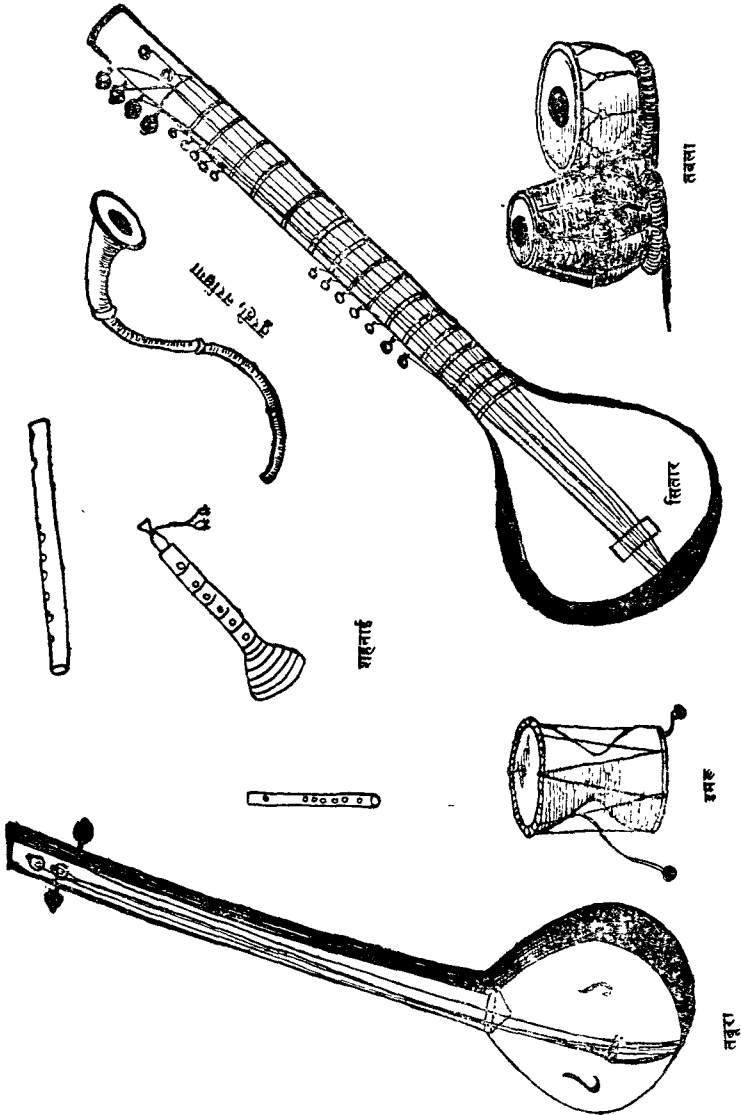
चित्र ७९ क—प्रमुख शुषिर, तत, आनद्ध वाद्य

तत यंत्र

आलापिनी, ब्रह्मवीणा, किन्नरी, विपंची, वल्लरी, ज्येष्ठा, चित्रा, घोषवती, जया, हस्तिका, कूर्मिका, कुब्जा, सारंगी, परिवादिनी, त्रिस्वरी, श्वेततंत्री, नकुलोष्ठी, ठंसरी, औडुम्बरी, पिनाक, निवंग, पुष्कल, गदा, वारण-हस्त, रुद्रवीणा, स्वरमंडल, कपिनासक, मधुष्यन्धी, घना, महती वीणा, रंजनी, शारदी वा सारद, सुशाब्द वा सुरसा, स्वरश्रृंगार, सुरबहार, नादेश्वर वीणा, भरत वीणा, तुम्बुरु वीणा, कात्यायन वीणा, प्रसारणी, इसराज, मायूरी वा ताऊश, आलाबू सारंगी, मीन सारंगी, सारिन्दा, एकतंत्री वा एकतारा, गोपीयन्त्र, आनन्दलहरी और मोचंग इत्यादि यन्त्र तत कहलाते हैं। संस्कृत संगीत-ग्रन्थों में कितनों का सिर्फ नाम और कितनों ही के आकार आदि का भी वर्णन है।

अवनद्ध या आनद्ध यन्त्र

पटह वा नगारा, मर्दल या मादल, हुड़क, आकरट, अघट, रंजा, डमरू, ढक्का, कडूली, टुक्करी, बिवली, डिण्डिम, दुन्दुभि, भेरी, निःसान, तुम्बकी, टमकी, मंड, कम्बूल, पणव, कुण्डली, पादवाद्य, शर्कर, मट्ट, मृदंग वा खोल, तबला, ढोलक, ढोल, काड़ा, जगझम्प, तासा, दमामा, टिकरा, जोड़घाई और खुरदक ये सब यन्त्र अवनद्ध कहे जाते हैं। इन सब यन्त्रों के केवल नाम दिये गये हैं, इनके आकारादि संगीतग्रन्थों में भी नहीं देखे जाते और न इनका व्यवहार ही दिखाई देता है। सभी अवनद्ध यन्त्र सभ्य, बाहिर्द्वारिक, ग्राम्य, सामरिक और मांगल्य इन पाँच श्रेणियों में विभक्त होते हैं।

शुषिर यन्त्र

जो यन्त्र छिद्रयुक्त होते हैं, उन्हें शुषिर यन्त्र कहते हैं। यह वाद्य मुख से फूंक मारकर बजाया जाता है। वंशी, पारिपार्श्विका, मुरली, मधुकरी, काहला, सिंगा, रण-सिंगा, रामसिंगा, शंख, भुड़ही, बुक्का, स्वरनाभि, अलापिक, चर्मवंशी, सजलवंशी, रोशनचौकी, शहनाई, कलम, तुरही, भेरी, गोमुखी, तुबड़ी तथा वेणु प्रभृति वाद्य शुषिर यन्त्र के अंतर्गत माने जाते हैं। बड़े दुःख का विषय है कि इनमें से अधिकांश के नाम ही पाये गये हैं, आकारादि का कोई भी चिह्न परिलक्षित नहीं होता। शुषिर यन्त्र प्रधानतः वंशी, काहल, सिंगा और शंख इन चार जातियों में विभक्त हैं।

घन यन्त्र

झाँझर, घड़ी, कांसी, घंटा, छोटी घड़ी, नूपुर, मजीरा, करताली, षटताली, राम-

चित्र ७६ ख—तत, घन और आनद्ध वाद्य
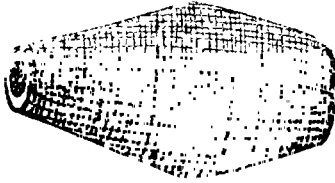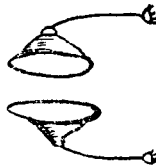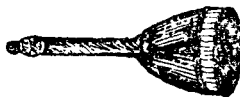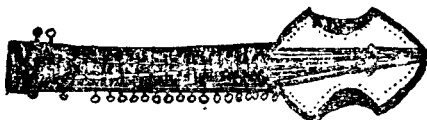
करताली और सप्तशराव वा जलतरंग इत्यादि यन्त्र घन यन्त्रों में गिने जाते हैं। ये यन्त्र लोहे, काँसे, काँच, प्रभृति धातुओं से तैयार किये जाते हैं, किन्तु इनके नाम से ज्ञात
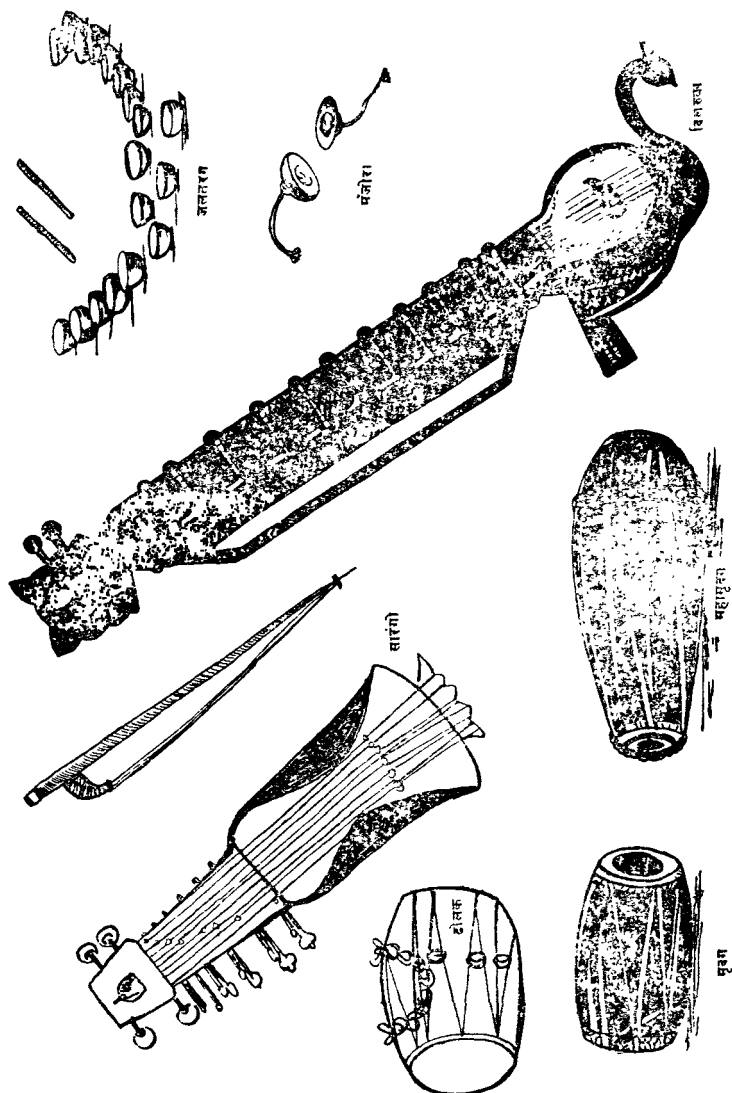
चित्र ७६ ग—कुछ प्रचलित लोकप्रिय वाद्य

होता है कि प्राचीन काल में ये यन्त्र लोहे के बने होते थे। कारण यह है कि लोहे का

दूसरा नाम घन है एवं इस धातु से तैयार होने के कारण ही यदि इनका नाम घन रखा गया हो तो कोई आश्चर्य नहीं। जो कुछ भी हो, धातुओं के आविष्कार के समय से ही इनका व्यवहार होता आ रहा है। घन यन्त्र के अधिकांश वाद्य स्वतः सिद्ध हैं, केवल मजीरा, करताली, काँसी और षटताली अवनद्ध यन्त्र के साथ बजायी जाती हैं।

इनके सिवा भारतवर्ष में और भी अनेक प्रकार के वाद्ययन्त्रों का प्रचलन देखा जाता है। इन यन्त्रों में कोई प्राचीन दो यन्त्रों के संयोग से, कोई वैदेशिक यन्त्र विशेष के अनुकरण पर और कोई प्राचीन और आधुनिक दो यन्त्रों के सम्मिश्रण से उत्पन्न हुआ है।

शिल्पविज्ञान की उन्नति के साथ-साथ यूरोप खण्ड में भी अनेक प्रकार के वाद्ययन्त्रों की उत्पत्ति हुई है तथा नये आविष्कारों के साथ ही उनका संस्कार और उन्नति होती जा रही है। यहाँ उन सब यन्त्रों का विशेष परिचय न देकर केवल कुछ यन्त्रों के नाम और उनके इतिहास दिये जाते हैं—

एकॉर्डियन—सबसे पहले चीन देश में इस यन्त्र का व्यवहार होता था। वर्तमान काल में जर्मनी और फ्रांस में भी यह यन्त्र बनाया जाता है। सन् १८२८ ई० में इंग्लैण्ड में इसका प्रचार हुआ।

इयोलियनहार्प—यह जान्तव तन्तुविशिष्ट एक प्रकार की वीणा है। अरगन नामक यन्त्र-निर्माता सुप्रसिद्ध फादर करचर ने इसका आविष्कार किया। यह यन्त्र वायुप्रवाह से ही बजाया जाता है।

बैग पाइप—यह बहुत पुराना वाद्ययंत्र है। हिब्रू और ग्रीकों में इस यन्त्र का बहुत प्रचार था। आज भी स्कॉटलैण्ड के हाइलैण्ड में यह प्रचलित है। डेनमार्क-नारवे-वासी पहले इस यन्त्र को स्कॉटलैण्ड ले गये। इटली, पोलैण्ड और दक्षिण-फ्रांस में भी इस यंत्र का यथेष्ट व्यवहार देखा जाता है।

बैससन—काष्ठनिर्मित एक प्रकार का वाद्ययंत्र है। मिस्टर हवाण्डेल ने इस यंत्र का इंग्लैण्ड में प्रचार किया। यह फूँककर बजाया जाता है।

बिगुल—पहले शिकारी लोग इस वाद्ययंत्र का व्यवह र करते थे। अब सामरिक वाद्ययन्त्रों के अन्तर्भुक्त होकर इस यंत्र की बड़ी उन्नति हो गयी है।

काण्ठानेटस—मूर और स्पेनियार्ड इस छोटे यन्त्र को बजाकर नाचा करते हैं। यह एक तरह का दो पीठा बाजा है।

कनसार्टिना—१८२९ ई० में प्रोफेसर हिवटस्टोन ने इस यन्त्र का आविष्कार कर अपने नाम पर इसकी रजिस्ट्री करायी।

क्लोरियन—एक प्रकार का तुरही वाद्यविशेष। तुरही की अपेक्षा इसका शब्द बहुत तीव्र होता है।

क्लोरियोनेट—एक प्रकार की वंशी। १७वीं सदी के शेष भाग में डेनर नामक

चित्र ७७ क—प्रमुख यूरोपियन वाद्य (चतुर्विध)

एक जर्मन संगीत-विद् ने इस यन्त्र का आविष्कार किया। सन् १७७९ ई० में इंग्लैण्ड में इसका प्रचार हुआ।

सिम्बल—करताल, यह बहुत प्राचीन यन्त्र है। पण्डित जैनोफन का कहना है कि साइरेनी देवी ने इस यन्त्र का आविष्कार किया। यूरोप-वासियों का ऐसा विश्वास है कि तुर्क और चीन में अच्छा करताल मिलता है। भारतवर्ष में बहुत पहले से इस यन्त्र का प्रचार है।

डाम—ढाक वा डंका। ग्रीसवासियों के मत से वेकसदेव ने इसका आविष्कार किया था। मिस्र और यूरोप में इसका यथेष्ट प्रचार है। आज भी युद्ध में डंके का व्यवहार होता है।

गिटार—तन्तुविशिष्ट वाद्ययन्त्र। स्पेन देश में इस वाद्ययन्त्र का उद्‌भव हुआ और वहीं इसका यथेष्ट प्रचार है। किसी समय यूरोप में इस यन्त्र का इतना अधिक प्रचार था कि अन्यान्य वाद्ययन्त्रों की बिक्री में अत्यन्त बाधा पहुँचती थी। गिटार में छः तार रहते हैं। सितार की तरह यह बजाया जाता है।

हार्मनिका—कुछ काँच के ग्लासों से इस प्रकार का वाद्ययन्त्र बनाया जाता था। अब इसका व्यवहार एक तरह से बन्द हो गया है।

हरमोनियम—बहुतों का ख्याल है कि यह वाद्ययन्त्र यूरोप में आविष्कृत हुआ है, किन्तु यथार्थ में ऐसा नहीं है। यूरोपवासियों के इसका नाम सुनने के बहुत पहले चीन देश में इसका प्रचार था। पेरिस नगर के डिवेन नामक एक व्यक्ति ने ही पहले-पहल इसकी उन्नति की।

हार्प—वीणा, बहुत प्राचीन यन्त्र है। इसका इतिहास पहले लिखा जा चुका है। १७९४ ई० में फ्रांस की राजधानी पेरिस के निवासी मूसो सिवेष्टियन एवार्ड नें इसकी बड़ी उन्नति की।

हार्डीगार्डी—तारविशिष्ट वाद्ययन्त्र। जर्मनी में इस यन्त्र का आविष्कार हुआ। दक्षिण यूरोप के अधिवासी इस यन्त्र को बजाना बहुत पसन्द करते हैं।

हार्पी-सिकर्ड—बड़े-बड़े पियानोफोटे की तरह वाद्य यंत्रविशेष। पियानो के पहले इसका बहुत प्रचार था। किन्तु पियानो यन्त्र के आविष्कार के बाद से इसका प्रचार बंद हो गया है। १६वीं सदी के पहले भी यह यन्त्र विद्यमान था। १७वीं सदी में इंग्लैण्ड में इसका प्रचार हुआ था।

फ्लाजिओलेट—यह फ्लूट जैसा वाद्ययन्त्र है। इसका स्वर बहुत तीव्र होता है। अभी इसका व्यवहार बहुत कम होता है।
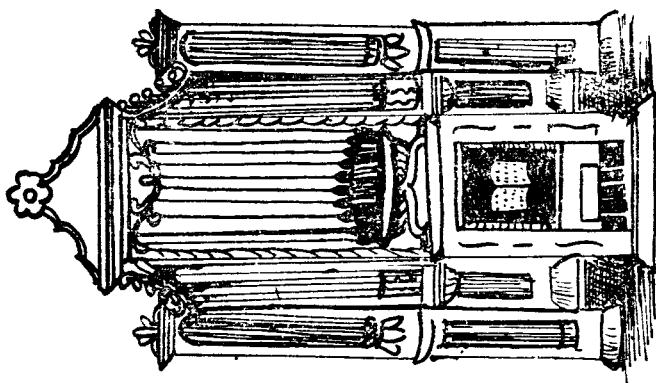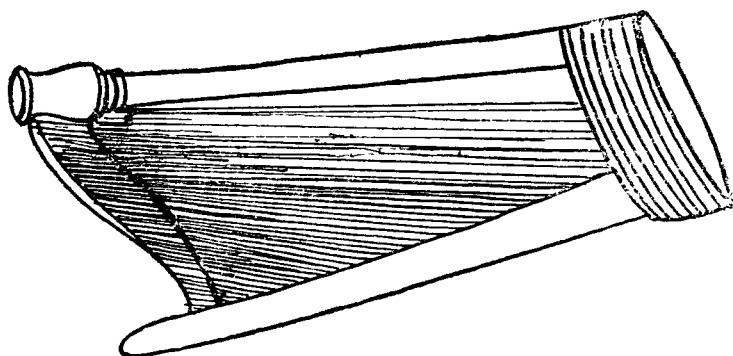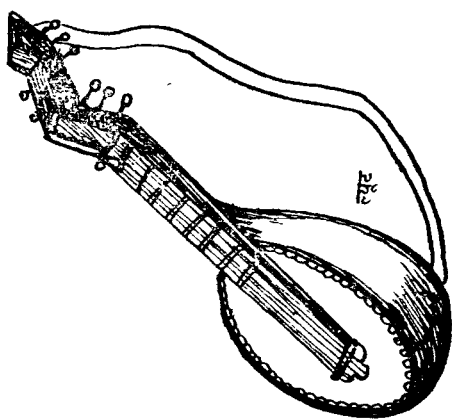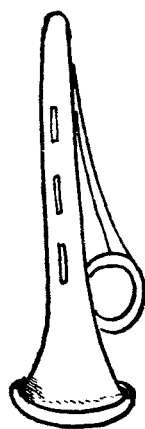
चित्र ७७ ख—प्रमुख यूरोपियन वाद्य

फ्रेंच हर्न—यह यन्त्र भी फूंककर बजाया जाता है। फ्लूट की तरह इसमें छेद नहीं होते, इसकी ध्वनि फूंक पर ही निर्भर रहती है।

फेटन-ड्राम—यह डँके जैसा होता है और ताँबे से बनाया जाता है।

ज्युस हार्प—यह बालकों के खेलने का वाद्ययन्त्र है।

न्यूट—यह गिटार या सितार आदि जैसा वाद्य-यन्त्र है। सितार की तरह बजाया जाता है। अति प्राचीन समय में यह यन्त्र प्रचलित था। प्राचीन अंग्रेज-कवि चॉसर के ग्रंथ में इस वाद्ययंत्र का उल्लेख है। गीटर के प्रचलन के बाद न्यूट का व्यवहार घट गया है।
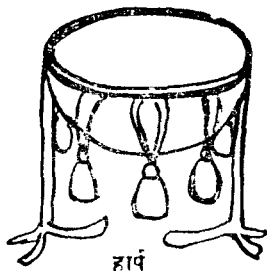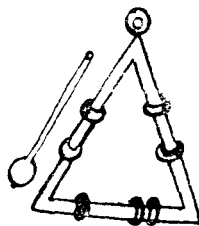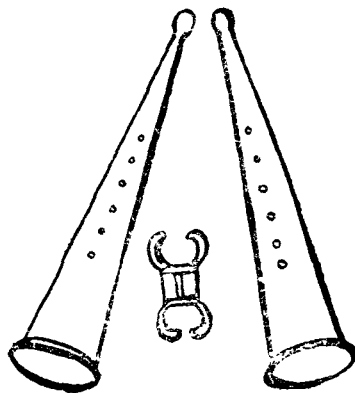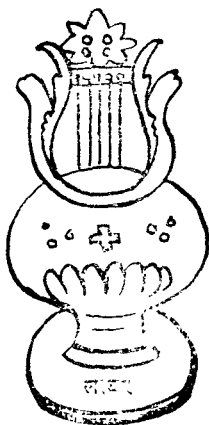
चित्र ७७ ग—कुछ यूरोपियन वाद्य

लायर—तारविशिष्ट वाद्ययंत्रों में से यही वाद्ययंत्र सबसे प्राचीन है। मिस्र के अधिवासियों में प्रवाद है कि पृथिवी-निर्माण के दो हजार वर्ष बाद मर्करीदेव ने इस

यन्त्र की सृष्टि की। ऐरिस्टफोनसे के ग्रंथ में इस यन्त्र का उल्लेख देखा जाता है। ग्रीसवासियों ने मिस्रवासियों से इस यन्त्र का व्यवहार सीखा है। पहले लायर तीन
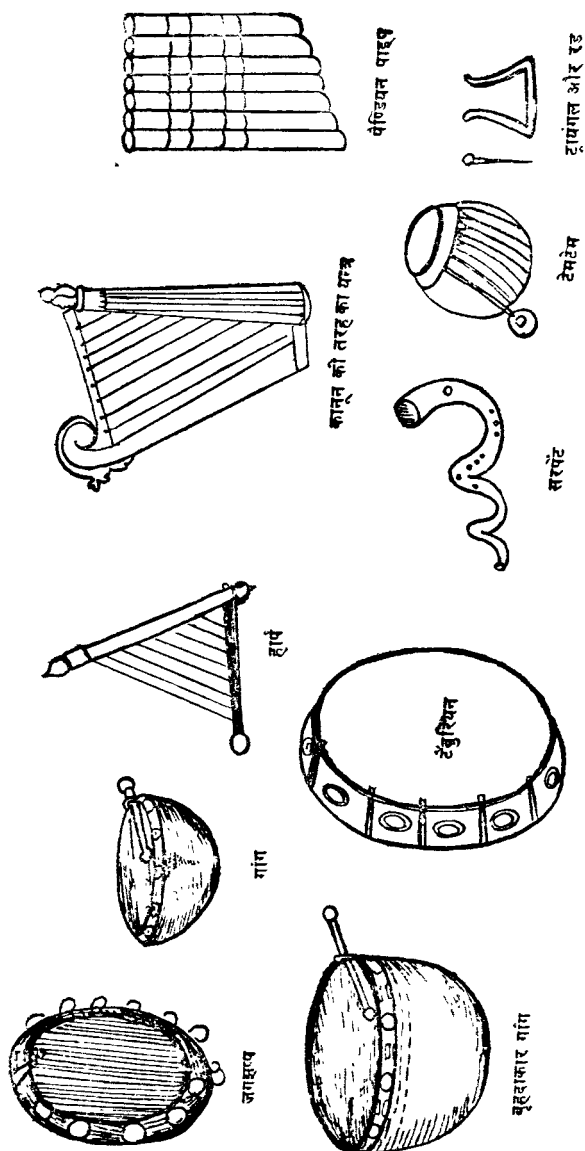
चित्र ७८ क—लोकप्रिय यूरोपियन वाद्य

तारों से बनाया जाता था। इसके बाद म्युजेज ने एक तार और बढ़ा दिया। पीछे आर्कियस ने एक तार, लीनक ने एक तार और संगीत-पण्डितों ने एक और तार बढ़ाकर लायर को सप्त स्वरों में परिणत किया। पाइथागोरस ने इसमें एक और तार जोड़ दिया था। ग्यारह तारों का लायर भी देखने में आता है। ल्युनार्ड में दाभिन्सी नामक एक वाद्ययंत्र-निर्माता ने घोड़े के सिर की हड्डी के साँचे में एक लायर बनाया था।

ओ-वय—इसका दूसरा नाम हटवय है। यह यंत्र फूंककर बजाया जाता है। इसकी आवाज मीठी और बहुत स्पष्ट होती है।

अफि-क्लाइड—सन् १८४० ई० में यह वाद्ययंत्र आविष्कृत हुआ। सर्जेंट नामक यंत्र की उन्नति के लिए इस यंत्र की सृष्टि हुई थी।

अरगान—पाश्चात्य देशों में जितने प्रकार के वाद्ययन्त्र हैं, अरगान उनमें सबसे बड़ा और प्रधान है। बहुत दिन हुए, इस वाद्ययन्त्र की सृष्टि हुई है। इसके प्राचीन इतिहास का पता नहीं लगता। इस जाति के यन्त्रों में ड्राइडेन के काव्य में भोकल-फ़ेम नामक यन्त्र का उल्लेख मिलता है। उसने लिखा है कि सेण्ट सेसिना इसके आविष्कारक थे। यूरोपियनों के उपासना-मन्दिर में यह यन्त्र रखा जाता है। यह यन्त्र सबसे पहले गिरजा में कब प्रचलित हुआ था इसका स्पष्ट प्रमाण नहीं मिलता। कुछ लोग कहते हैं कि सन् ६७० ई० में पोप भिटालियन ने गिरजाघर में इस यन्त्र का व्यवहार प्रवर्तित किया। फिर किसी का कहना है कि ग्रीकराज कप्रोनियस ने ७५५ ई० में एक अरगान फ़्रान्स के राजा पेपिन को प्रदान किया। उसने इसे कम्पिन नगर के सेण्ट-कर-लिनी गिरजा में रखा।

चार्लेमन के शासन-काल में यूरोप के अधिकांश नगरों के गिरजाघरों में अरगान का व्यवहार प्रचलित हुआ। ११वीं सदी के पहले तक इसकी उतनी उन्नति नहीं हुई थी।

११वीं सदी के अंतिम भाग से ही अरगान की चाबी का बनना शुरू हुआ। इस समय मैलडिवर्ग के गिरजा में जो अरगान रखा गया था उसमें १६ चाबियाँ थीं। इसके बाद से चाबी की संख्या बढ़ने और उसकी उन्नति होने लगी। द्वितीय चार्ल्स के राजत्व-काल तक भी इंग्लैण्ड में अरगान नहीं बनाया गया था। इस समय पूरिटन ईसाइयों के प्रादुर्भाव से गिरजाघर में संगीत-माधुर्यादि विलुप्त हुए। किन्तु उसके बाद ही से इंग्लैण्ड में फिर अरगान का बनाना आरम्भ हुआ। अभी अंग्रेजों के बनाये हुए अरगान का बहुत प्रचार है। यूरोप के निम्नलिखित स्थानों में बड़े-बड़े अरगान देखने में आते हैं। हायरलेन का अरगान १०३ फुट ऊँचा और ५० फुट चौड़ा है।

इसमें ८००० पाइप लगे हैं। १७३८ ई० में मूलर ने इस अरगान को बनाया था। रटारडम में भी प्रायः इसी तरह का एक अरगान है। सेमेली नगर के यन्त्र में ५३०० पाइप हैं। इंग्लैण्ड के बरमिघम टाउनहाल में, क्रिस्टल प्रासाद में, रॉयल अलबर्ट हॉल में तथा अलेकजान्ड्रा प्रासाद में आदर्शनीय बड़े-बड़े अरगान हैं।

पैण्डियन-पाइप—यह प्राचीन वाद्ययन्त्र है। यूरोपीय पैन नामक देवता ने इसका आविष्कार किया, इस कारण यह यन्त्र उसी के नाम पर पुकारा जाता है।

पियानो-फर्टि—'पियानो' शब्द का अर्थ कोमल और 'फर्टि' का अर्थ उच्च है अर्थात् जिस यन्त्र से कोमल और उच्च दोनों प्रकार के स्वर निकलते हैं उसका नाम पियानो -फर्टि है। १५वीं सदी के पहले भी इस प्रकार का यन्त्र प्रचलित था, उसके वहुत से प्रमाण भी मिलते हैं। डानलिमर, क्लेवाइकर्ड, वारजिनल आदि यन्त्र इसी जाति के हैं। एलिजावेथ के समय वारजिन्यास यन्त्र प्रचलित हुआ। इसके बाद हार्पसिकर्ड का नाम भी हवाण्डेल, हेडन, मोजार्ट और स्कारनोटी के ग्रन्थ में मिलता है। इस प्रकार यह यन्त्र धीरे-धीरे परिवर्तित होकर उन्नत आकार में बनाया जाता था। सन् १७१६ ई० में प्रकृत पियानो-फर्टि आविष्कृत हुआ। पेरिस नगर के मारियस नामक एक वाद्ययन्त्र-निर्माता ने सबसे पहले एक यन्त्र निर्माण किया। यही पियानो की प्रथम उन्नति है।

इसके बाद फ्लोरेन्सनिवासी क्रिस्टोफली द्वारा इस यन्त्र की बहुत उन्नति हुई थी। इसी समय से यह यन्त्र पियानो-फर्टि कहलाने लगा। १७६० ई० में लन्दन शहर के जुम्पी नामक एक व्यक्ति ने तथा जर्मनी के सिल्चरमैन नामक एक दूसरे व्यक्ति ने पियानो-फर्टि बनाकर उसका व्यवसाय करना आरम्भ कर दिया। फ़ान्स देश में सिवास्टियन एवार्ड इस यन्त्र की उन्नति कर गया है। यह सन् १८०९ ई० की बात है। उसके भतीजे पियारी एवार्ड ने १८२१ से लगायत १८२७ ई० तक पियानो यन्त्र की वड़ी उन्नति की है। मि० हैनकाक दण्डायमान पियानो के निर्माता हैं। इसके बाद साउथवेल ने इस प्रकार के यन्त्र की उन्नति की। ये ही कैविनेट पियानो के आविष्कर्ता हैं। अभी सारे यूरोप में, इंग्लैंड और वियेना की प्रणाली के अनुसार बनाये गये दो प्रकार के पियानो प्रचलित देखे जाते हैं। किन्तु फ़ान्स के सिवास्टियन की निर्माण-प्रणाली अभी सबको पसन्द आती है। पियानो-फर्टि यूरोपीय समाज में अभी बहुत प्रचलित है। प्रायः सभी धनिकों के घर में यह यन्त्र देखा जाता है।

सरपेण्ट—नलाकार प्राचीन वाद्ययंत्र है।

टैम्बुरिन—यह खंजरी की तरह एक प्रकार का प्राचीन वाद्ययन्त्र है। इसका विवरण पहले लिखा जा चुका है।
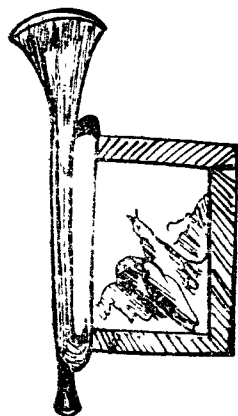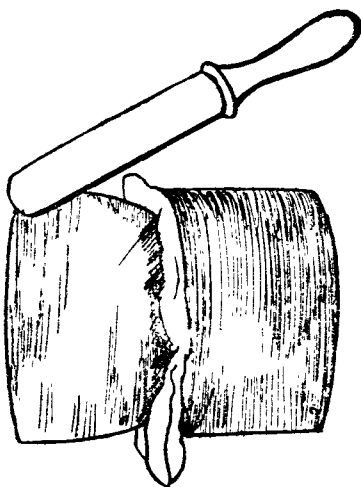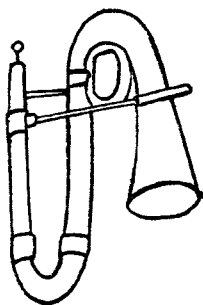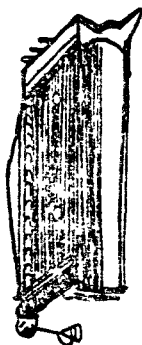
चित्र ७८ ख—पूर्व और पश्चिम के कुछ वाद्य

वायलिन––बेहला। किस समय बेहले की सृष्टि हुई, इसका पता लगाना कठिन है। कुछ मनुष्य कहते हैं कि यह आधुनिक वाद्ययन्त्र है। फिर किसी का कहना है कि प्राचीन काल में भी बेहला प्रचलित था। बेहले की उन्नति करने के लिए यूरोप में यथेष्ट चेष्टा हुई है, किन्तु कोई भी कृतकार्य न हो सका। क्रिमोनर अमाती और स्ट्रेडियो अरियस इन दो वाद्ययन्त्र-निर्माताओं ने बेहले की बनावट की जैसी उन्नति की है वैसी उन्नति उनके पहले और किसी ने भी नहीं की।

वायोलिन-सेलो––यह भी बेहले जैसा एक यन्त्र है, आकार और तारविन्यास में बहुत कम अन्तर है।

उक्त भारतीय और यूरोपीय यन्त्रों को छोड़कर पृथिवी के अन्यान्य देशों में और भी अनेक प्रकार के वाद्ययन्त्र प्रचलित देखे जाते हैं। सिस्टाम, सलेफन, टैमट्राल, टाम्पेट (तुरही) और जिदर आदि और भी अनेक प्रकार के यूरोपीय वाद्ययन्त्र हैं। विषय बढ़ जाने के भय से उन सबका उल्लेख यहाँ नहीं किया गया है।

इस देश में जलतरंग की तरह एक बाजे का प्रादुर्भाव हुआ है—एक इंच की चौड़ाई में लम्बे कई काँच के टुकड़े सूत में पिरोकर एक छोटे बक्स में रखे जाते हैं। इनमें से एक-एक टुकड़े पर एक लकड़ी की नोक से आघात करने से ऊँचा और नीचा स्वर निकलता है। इसका स्वर जलतरंग बाजे की तरह कोमल और सुमिष्ट है। कभी-कभी काँच के बदले स्वरानुमत घातविक पत्र व्यवहृत होता दिखाई देता है।

ऐसे बक्स में विभिन्न स्वरों का तार गाँथकर कानून नाम का एक बाजा तैयार किया जाता है। इसका वादन-कौशल प्रशंसार्ह और इसकी स्वरलहरी हृदयद्रावी है।

कुछ और बाजों के नाम ये हैं। १. एकर्डियान। २. यूलियन हार्प। ३. टेनर, यह डबल भास का है। ४. वासुन। ५. हाण्ट समेत बिगुल। ६. पाण्डियन पाइप। ७. बैगपाइप। ८. कास्टानेट्स। ९. एनसियेण्ट सिम्बल। १०. बलारियून। ११. क्लारिओनेट। १२. कन्सार्टिना। १३. डाम। १४. गिटार। १५. फ्लाजिओलेट। १६. फ्लूट। १७. हटवय और ओबी। १८. हार्डीगार्डी। १९. फ्रेन्च हर्न। २०. लायर। २१. हाण्टी हर्न। २२. ल्यूट। २३. अर्गान। २४. ओफीक्लोडी। २५. केटल्ड्राम। २६. हार्प। २७. दूसरी तरह का ट्रायंगल। २८. लागर। २९. हर्न वाद्यविशेष। ३०. जगझम्प नामक आकार का वाद्य। ३१. गंग नामक आनद्ध यन्त्र। ३२. एक प्रकार का हार्प। ३३. कानून की तरह का यन्त्र। ३४ बृहदाकार गंग। ३५. पैण्डियन बड़ा पाइप। ३६ टैम्बुरिन। ३७. सारपेण्ट। ३८. टेमटेम। ३९. ट्रायंगल और रड्। ४०. कर्नेट ए-विस्टन। ४१. ट्राम्पेट। ४२. भाओलिन्। ४३. ट्रम्बन। ४४ सोनोमिटर। यह दूसरी तरह का गिटार है।

अध्याय ३१

नाटक में संगीत-योजना

आजकल नाटकों में पाँच प्रकार से संगीत-योजना की जाती है—एक तो गीतों के साथ वाद्य-योजना के रूप में, दूसरे विशिष्ट रसों के अनुकूल नेपथ्य से उस रस का प्रभाव उत्तेजित करने वाली वाद्य-ध्वनि के रूप में, जिसे आजकल पृष्ठ-संगीत कहते हैं और जिसका प्रयोग प्रायः करुण और भयानक दृश्यों में किया जाता है। तीसरे, नेपथ्य से किसी विशेष प्रभाव के लिए घण्टा, झाँझ, घड़ियाल, विजयघण्ट, शंख अथवा नगाड़े का प्रयोग करके। चौथे, वे सब गीत हैं जो रंगपीठ पर उपस्थित पात्रों को कोई सूचना देने अथवा उनका विशेष प्रभाव डालने के निमित्त नेपथ्य से गवाये जाते हैं। विशेष जैसे अभिज्ञानशाकुन्तल के पंचम अंक में नेपथ्य से हंसपदिका गाती है और विदूषक कहता है—

भो वयस्य ! संगीतशालान्तरेऽवधानं देहि। कलविशुद्धाया गीतेः स्वरसंयोगः श्रूयते। जाने तत्रभवती हंसपदिका वर्णपरिचयं करोतीति।

[हे मित्र ! संगीतशाला की ओर ध्यान से सुनिए। वहाँ अत्यन्त सुस्वर गीत सुनाई दे रहा है। जान पड़ता है, हंसपदिका अभ्यास कर रही है।]

गीत सुनकर राजा कहता है—अच्छा उलाहना दिया है।

पाँचवें वे गीत हैं जो रंगपीठ पर गाये जाते हैं।

नाटककार को स्पष्ट रूप से यह निर्देश कर देना चाहिए कि किस दृश्य में, कहाँ, कितनी देर तक, किस प्रकार के वाद्य से, किस विशेष राग या ताल में संगीत की योजना की जाय। आजकल सभी चलचित्रों तथा नाटकों में संगीत के प्रभाव का बड़ा महत्त्व समझा जाने लगा है और इसमें सन्देह नहीं कि उसके प्रयोग से रसानुभूति में निश्चित सहायता मिलती है।

रागनिर्देश इस प्रकार किया जा सकता है—

गीत देकर यह निर्देश कर दिया जाय—राग-भैरवी तीन ताल। उसके साथ कुछ नाटककार गीत की स्वर-लिपि भी दे देते हैं। यद्यपि यह कुछ बुरा नहीं है किन्तु संगीत-

व्यवस्थापक को भी यह स्वतंत्रता देनी चाहिए कि वह भावानुकूल निर्दिष्ट राग में या राग की स्वेच्छित बाँध में गीत को बाँध ले। विशिष्ट रसों के अनुकूल पृष्ठ-संगीत की योजना के लिए जो निर्देश दिये जायँ वे भी स्पष्ट हों, जैसे—

"बुद्ध जिस समय यशोधरा के शयन-कक्ष में प्रविष्ट हो रहे हों उस समय तीव्र मूर्च्छना के साथ मन्द लय में शंकरा की तान बेले पर बजायी जाय और जब वे चलने लगें तब गति तीव्र हो जाय और वंशी के स्वर भी उसके साथ सुनाई देने लगें।"

गीत का अवसर

अवसर का अर्थ यह है कि किस ऋतु में, किस विशेष परिस्थिति में, किस पात्र के द्वारा गीत गवाने का आयोजन किया जा रहा है। जहाँ तक गीति-नाट्य की बात है उसमें तो पूरा नाटक ही गीत में होता है। इसलिए उसमें केवल रस या भाव का ही ध्यान रखा जाता है, किन्तु गद्य नाटक में गीत के प्रयोग के लिए अवसर की अनुकूलता अत्यन्त आवश्यक है। इधर कुछ वर्षों से ऐसी प्रणाली चल पड़ी थी कि विवाह के मंगल अवसर से लेकर अंतिम संस्कार तक सबमें गीत गवाना आवश्यक-सा समझा जाने लगा था और अभी तक भी हमारे बहुत से नाटककार गीत के लिए अवसर की चिन्ता नहीं करते। वे सभी अवसरों पर गीत का प्रयोग लोकाराधन के लिए आवश्यक ही समझते चले आये हैं, किन्तु यह अत्यन्त अनुचित और भ्रामक धारणा है। नन्दिकेश्वर ने नटन-प्रयोग काल के सम्बन्ध में अभिनयदर्पण में कहा है —

**पर्वकाले नरेन्द्राणामभिषेके महोत्सवे।
यात्रायां देवयात्रायां विवाहे प्रियसंगमे॥
नगराणामगाराणां प्रवेशे पुत्रजन्मनि।
शुभार्थिभिः प्रयोक्तव्यं मांगल्यं सर्वकर्मसु॥**

[पर्व, राज्याभिषेक, महोत्सव, यात्रा, देवयात्रा, विवाह, प्रिय-मिलन, नगर और भवन में प्रवेश, पुत्र-जन्म तथा सभी मंगल अवसरों पर नाट्य और नृत्य का प्रदर्शन करना चाहिए।]

किन्तु नाटक में गीत के लिए इतने ही अवसर पर्याप्त नहीं हैं। नाटक में निम्न-लिखित अवसरों पर भी पात्रों द्वारा गीत का प्रयोग किया जा सकता है—

१—एक पात्र अकेला बैठा हुआ मन बहलाने के लिए गाता हो।

२—अकेला व्यक्ति गीत या वाद्य सीख रहा हो या सिखा रहा हो।

३—पर्व या उत्सव पर कई व्यक्ति एक साथ गा रहे हों।

४—पर्व, मंगल-कार्य, उत्सव या देवकार्य पर बहुत लोगों के बीच एक या अनेक द्वारा गीत।

५—प्रेम-मिलन अथवा प्रेमाचार के अवसरों पर, वियोग में भी जी बहलाने या प्रिय की स्मृति में गीत गाया जा सकता है।

६—चक्की पीसने, पुरवट चलाने आदि के अवसर पर श्रम मिटाने के लिए गीत।

७—देवताओं की स्तुति तथा मंगलगान।

८—नाट्यारम्भ का गीत।

९—विशेष ऋतु के अनुकूल उस ऋतु के दृश्यों का गीत।

१०—भिक्षा माँगते समय।

११—किसी काव्य से कथा-गीत गाना, जैसे आल्हा आदि।

१२—सेना या किसी सैन्य-कल्प दल के अभियान के समय अथवा युद्ध के समय सेना को उत्साह दिलाने के लिए गीत।

१३—उपदेश के लिए गाना, जैसे सन्त लोग गाते हैं।

यह स्मरण रखना चाहिए कि रौद्र, भयानक और बीभत्स रसों में गीत का प्रयोग निषिद्ध और निन्द्य है।

हमारे नाट्याचार्यों ने इसी लिए चार वृत्ति के अथवा प्रकृति के नाटकों की योजना की है, जिनमें से कैशिकी वृत्ति के नाटक में ही गीत, वाद्य तथा नृत्य के अधिक आयोजन करने का विधान है। आरभटी वृत्ति के नाटकों में मार-काट अधिक होती है, इसलिए उनमें गीत की योजना का निषेध है। रस या प्रभाव के अनुरूप गीत की शब्द-योजना करना दूसरा मुख्य तत्त्व है और तदनुकूल राग या ताल में बाँधना भी उसका आवश्यक तत्त्व है।

गीत का प्रयोग

नाटक में गीत का प्रयोग संगीत के साथ-साथ आता है और इसलिए नाटककार का यह धर्म है कि वह गीत का निर्माण करते समय इस बात का ध्यान रखे कि कितनी मात्रा में, किस लय में, किस राग और काल में उसे बाँधा जाय। इसके लिए संगीत-शास्त्र का इतना ज्ञान आवश्यक है कि किस समय, किस अवस्था में, किस भाव के अनुसार, किस राग और ताल में गीत हो। आजकल पृष्ठ-संगीत द्वारा भी नाटकीय प्रभाव उत्पन्न करने का आयोजन किया जाता है, इसलिए नाटककार को यह भी

जानना चाहिए कि किस समय कौन से वाद्य द्वारा किस गीत से, किस राग से कितने समय में पृष्ठ-संगीत का प्रयोग करना उपयुक्त है।

गीत का प्रयोग करते समय रस, भाव और गति का ध्यान रखना चाहिए, साथ ही यह भी ध्यान रखना चाहिए कि शृंगार और करुण में मन्द तथा मध्य लय में गीत गाये जायँ, वीर, रौद्र तथा अद्भुत में तीव्र लय में तथा भयानक और बीभत्स में गीत का प्रयोग नहीं होना चाहिए। हास्य में आवश्यकता के अनुसार सब लयों का प्रयोग किया जा सकता है।

गीत के रूप और प्रयोग

गीत का प्रयोग नाटक में कई प्रकार से किया जा सकता है —

१—अकेला व्यक्ति बिना वाद्य से गाता हो।

२—अकेला व्यक्ति वाद्य के साथ गाता हो।

३—अकेला व्यक्ति बारी-बारी से गाता और बजाता हो।

४—अकेला व्यक्ति नृत्य (भाव-प्रदर्शन) और नृत्त (ताल-लय) तथा वाद्य के साथ गाता हो।

५—एक व्यक्ति दूसरे के नृत्य के साथ गाता हो।

६—दो या अधिक व्यक्ति एक साथ मिलकर गाते हों।

७—दो या अधिक व्यक्ति संवादात्मक गीत, अर्थात् ऐसा गीत गाते हों जिसमें एक कड़ी एक कहता हो, दूसरी कड़ी दूसरा।

८—बहुत से लोग मिलकर ऐसा गीत गाते हों जिसमें एक व्यक्ति एक पंक्ति कहता हो, शेष उसका अनुवर्तन करते हों।

९—गाने वालों के दो दल बारी-बारी से एक ही पंक्ति गाते हों।

१०—संगीत की शिक्षा देते समय गुरु सिखाता हो और शिष्य शिक्षा के अनुसार गाते हों।

११—लोक-गीत—जिसमें स्त्रियाँ अथवा पुरुष विशेष अवसर के उपयुक्त ढोल, मजीरा आदि कोई वाद्य लेकर विशेष योजना और उपचार के साथ नाचते या गाते हैं।

१२—नृत्य-गीत, जैसे गुजरात में गरबा नृत्य।

१३—श्रम-गीत, जैसे पुरवट चलाने, चक्की पीसने या सड़क कूटने के समय पुरुष और स्त्री श्रम मिटाने के लिए गीत गाते हैं।

१४—पर्वोत्सव गीत—विवाह तथा धार्मिक पर्व आदि उत्सवों पर गाये जाने वाले गीत।

१५—स्तोत्र-गीत—विशेष देवताओं को प्रसन्न करने के लिए विशेष अवसरों पर जो गीत गाये जाते हैं, जैसे देवी के गीत।

१६—ऋतु-गीत—जैसे सावन में हिंडोला या कजली और चैत में चैती आदि।

१७—भिक्षागीत, जिसका प्रयोग भिक्षु लोग करते हैं। यह भी सवाद्य और अवाद्य दोनों प्रकार का होता है।

१८—कथागीत—जैसे आल्हा।

१९—कोलाहल गीत—जिसमें बहुत से लोग मेले आदि के दृश्य में एक साथ गाते-नाचते दिखाये गये हों।

२०—विलाप गीत या सियापा—जो किसी के निधन पर विशेष राग में उसके गुण-कीर्तन के साथ छाती पीटकर रोते हुए गाये जाते हैं। पंजाब के खत्रियों में सियापा गाने वाली स्त्रियों का एक शिक्षित मण्डल ही रहता है।

२१—अभियान गीत—जो सेना की संचरण गति के अनुसार गाया जाता है।

२२—युद्ध में योद्धाओं को उत्साह देने के लिए गीत।

इसके अतिरिक्त कुछ, विशेष अवस्थाएँ हैं जिनमें गीत का प्रयोग होता है, जैसे सभा गीत, किसी मंगलोत्सव पर किसी अच्छे गवैये या गायिका को बुलाकर गीत का आयोजन करना। इसी प्रकार गोष्ठी-गीत भी है जिसमें कुछ मित्र मिलकर अपने मनोरंजन के लिए किसी का गीत स्वयं गाते या सुनते हैं। इन्हीं के साथ आजकल स्नान-घर संगीत तथा स्वेच्छा से राग अलापना या गुनगुनाना भी मनोवैज्ञानिक दृष्टि से संगीत की अवस्थाओं में गिना जाने लगा है और इसका प्रयोग भी नाटकों में यथा-स्थान किया जाने लगा है।

रसों या भावों के अनुसार राग

किस अवसर के लिए कौन सा राग उचित होता है, इस सम्बन्ध में संगीत के आचार्यों का यह मत है कि अलग-अलग भावों के लिए अलग-अलग रागों में गीत गाने चाहिए। यथा—

शृंगार में—मालश्री, भैरवी, पंचम, मेघ श्री, द्रविड़ गौड़, गुर्जरी, तीड़िका, सैन्धवी, गौड़ी, वल्लासिका, बल्लारी, शावरी, गुस्तावती, हुलिका, छाया और गौड़।

हास्य में—कौशिकी, कामोदी, बंगाल और कामोद।

करुण में—भैरव, रामकिरी, गुणकिरी, पटमंजरी, सावेरी, कौशिकी, कामोदी, बंगाल, कामोद, सैन्धवी, भूपति, देशी, आभीरी, गान्धार।

वीर में—सैन्धवी, धानश्री, द्रविड़गौड़, तीड़िका, शंकराभरण, गौड़ी, गौड़, बल्लासिका, हर्षपुरी। (विजय के समय श्रीकंठिका, तारा, श्री कंठिका छाया, तुरुप्क, गौड़ और मेघरंगी)।

विरक्ति-भाव में—भूपाली और देशी।

भयानक, वीभत्स और अद्भुत के लिए राग का विधान नहीं मिलता। केवल पुलिन्दिका एक ऐसी रागिनी है जिसका सब रसों में गाने का विधान मिलता है।

संगीत-शास्त्र के ग्रन्थों में इस प्रकार की व्यवस्था यद्यपि कुछ रागों के सम्बन्ध में दे दी गयी है किन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं कि अन्य राग-रागिनियों का प्रयोग नहीं किया जा सकता। संगीत के आचार्यों ने विभिन्न राग-रागिनियों के मेल से न जाने कितने भिन्न राग बना लिये हैं और यह देखा गया है कि उनका प्रभाव भी दर्शकों पर ठीक ही पड़ता है। इसलिए नाटककार को या तो स्वयं सरगम या स्वरलिपि के साथ गीत देना चाहिए या केवल इतना ही संकेत कर देना चाहिए कि अमुक ताल में अमुक राग में गीत गाया जा रहा है। शेष कार्य अर्थात् उस गीत को राग या ताल में बाँधने का भार संगीत-प्रयोक्ता पर छोड़ देना चाहिए।

कोमल और कर्कश वाद्य-निर्देश

नाटककार को पृष्ठ-संगीत के लिए निर्देश देते समय यह स्पष्ट बता देना चाहिए कि वह ध्वनि किस भाव की हो और किस प्रकार की हो अर्थात् वह कोमल हो या कर्कश। तारों के वाद्य, मंजीर तथा वंशी की ध्वनि कोमल कहलाती है। मृदंग, ढोल, बिगुल, शंख, झाँझ, घंटे आदि की ध्वनि कर्कश कहलाती है। सब देशों में सब वाद्यों का मिलना सम्भव नहीं है और वाद्य यदि मिल भी जाय तो बजाने वाला नहीं मिल सकता। अतः नाटककारों को इस सम्बन्ध में वाद्यों का नाम-निर्देश करने के बदले संगीत-व्यवस्थापक पर कुल भार छोड़कर केवल इस प्रकार निर्देश करना चाहिए—

'भीतर कोमल वाद्य-ध्वनि हो रही है।'

'करुण वाद्य बज रहा है। कर्कश वाद्य-ध्वनि सुनाई पड़ रही है।'

'बहुत से ढोल बजने की ध्वनि सुनाई पड़ती है।'

'घंटा बजता है।'

'पूजा के समय के मंगल-वाद्य सम्मिलित बज रहे हैं' आदि।

संगीत-निर्देश के सम्बन्ध में यह भी स्मरण रखना चाहिए कि करुण, विप्रलम्भ शृंगार तथा हास में मन्द तथा अतिमन्द लय में संगीत होता है, संयोग शृंगार

और अद्भुत रस में मन्द लय में संगीत होता है और वीर, भयानक, रौद्र तथा बीभत्स में तीव्र तथा तीव्रतर लय में संगीत होता है। इसलिए यदि नाटककार चाहे तो संगीत-व्यवस्थापक के लिए लय का निर्देश कर सकता है।

इसके अतिरिक्त भारतीय रागों का ऋतु तथा काल में गाने का विधान है। यह विधान अन्य देशों के संगीत में नहीं है किन्तु हमारे देश में उसकी विशिष्ट परम्परा है। इसलिए भारतीय नाटककार को उन रूढियों के अनुसार विभिन्न दृश्यों में उद्दिष्ट ऋतु तथा काल के अनुरूप गीत लिखकर उसके अनुकूल राग का निर्देश करना चाहिए।

पात्रों के लिए संगीत-योजना की निम्नलिखित अवस्थाएँ हो सकती हैं—

१—अपने प्रिय से मिलने की उत्कंठा में।

२—प्रिय के मिलने पर उसकी आज्ञा या अनुरोध से।

३—प्रिय से विरह में।

४—युद्ध तथा अन्य किसी पराक्रम के उत्साह में उस को उत्तेजित करने में।

५—भक्ति के आवेश में।

६—मनोविनोद के लिए।

७—अभ्यास के लिए।

८—मंगल-कार्य अथवा देवपूजन अथवा उत्सव आदि में। यह संगीत-योजना निम्नलिखित प्रकार से की जा सकती है—

१—केवल गीत; एक व्यक्ति का, कई व्यक्तियों का समवेत अथवा दो दलों या व्यक्तियों में परस्पर गीत-संवाद या गीत-प्रतिद्वन्द्वियों के रूप में।

२—केवल वाद्य (एक व्यक्ति द्वारा या कई व्यक्तियों द्वारा समवेत)।

३—केवल नृत्य (एक व्यक्ति द्वारा या कई व्यक्तियों द्वारा समवेत)।

४—केवल गीत और वाद्य (एक ही व्यक्ति गाता भी हो और वाद्य भी बजाता हो अथवा एक दल हो जिसमें कुछ गाते हों कुछ बजाते हों)।

५—केवल गीत और नृत्य (एक ही व्यक्ति गीत गाकर नृत्य करता हो अथवा कई व्यक्ति गाकर नृत्य करते हों अथवा उनमें से कुछ गाते हों कुछ नृत्य करते हों)।

६—केवल वाद्य और नृत्य (एक ही व्यक्ति बंशी जैसा वाद्य बजाकर नृत्य करता हो अथवा कई व्यक्ति हों जिनमें से कुछ वाद्य बजाते हों और कुछ नृत्य करते हों)।

७—स्वनयन्त्र (ग्रामोफोन), स्वनग्राह (रेडियो) आदि यन्त्रों के द्वारा गीत या वाद्य।

इन उपर्युक्त प्रकारों में पुरुषों, नपुंसकों और स्त्रियों के गीत एवं नृत्य भिन्न-भिन्न होते हैं। रौद्र और भयानक रसों में (पशुबलि अथवा नरबलि के दृश्यों में) अत्यन्त

उद्धत, गतिशील और भयोत्पादक संगीत की योजना की जानी चाहिए। विवाहोत्सव आदि में ललित, स्थायी तथा कोमल संगीत की व्यवस्था हो।

नृत्य-नाट्यों तथा गीति-नाट्यों में अभिनेतागण केवल अभिनय तथा नृत्य करते हैं। उसके गीतों, नृत्यों तथा भावों के लिए विशेष संगीत-निर्देश देना चाहिए, जिससे संगीत-व्यवस्थापक को नाटककार के उद्दिष्ट प्रभाव की साधना में सहायता प्राप्त हो सके।

कुछ विशेष प्रभाव नेपथ्य-वाद्यों अथवा नेपथ्य-गीतों से उत्पन्न किया जा सकता है, जैसे अभिनवभरत के सिद्धार्थ नाटक में महाभिनिष्क्रमण के समय सिद्धार्थ केवल अभिनय करते हैं और नेपथ्य के अभिनय के भावों को व्यक्त कराने वाला गीत कोमल करुण राग में गाया जाता है। इस प्रकार के मूक अभिनय के साथ ऐसी गीति-योजना तथा वाद्य-योजना का बड़ा प्रभाव पड़ता है।

पक्ष-वाद्य तथा पृष्ठ-संगीत

पक्ष-वाद्य तथा पृष्ठ-संगीत (बैक ग्राउंड म्यूजिक) की एक नयी कला अलग पल्लवित हुई है। कुछ वर्तमान नाट्याचार्यों का तो यहाँ तक विचार है कि प्रत्येक नाटक में आदि से अन्त तक रस और भाव के अनुसार निरन्तर मन्द वाद्य बजता रहना चाहिए। अभिनवभरत उससे सहमत नहीं हैं, क्योंकि संगीत का अपना अलग विशेष प्रभाव होता है। यदि उसमें विशिष्ट चमत्कार उत्पन्न हो जायगा तो यह अधिक सम्भव है कि अभिनय तथा संवाद में दर्शकों की रुचि कम हो जाय और उसके कारण रसानुभूति में बाधा पड़ जाय। अतः नाटककार को विचारकर विशिष्ट प्रभाव उत्पन्न करने के लिए पक्ष-संगीत की योजना करनी चाहिए और वहाँ इस प्रकार के निर्देश देने चाहिए जैसे—

तुमको अर्पित शत शत प्रणाम
शत शत प्रणाम शत शत प्रणाम

उपर्युक्त गीत गाते समय अन्तिम पंक्ति को अनेक व्यक्ति स्वर-कंपन के साथ क्रमशः स्वर चढ़ाकर और अन्तिम प्रणाम को खींचकर स्वर धीरे-धीरे मन्द करके करुण भाव उत्पन्न करें और फिर तीव्र कम्पन के साथ सब वाद्य झनझना और घनघना उटें।

पराश्रित गीत और वाद्य (प्लै बेक)

कभी-कभी कुछ अभिनेता न गा सकते हैं और न बजा सकते हैं। इसके लिए

नाटकीय विधान यह है कि रंगमंच पर अभिनेता केवल राग की शब्दावली या स्वरावली के अनुसार मुख चलाता या वाद्य हाथ में लेकर नाट्य मात्र करता है। वास्तव में कोई दूसरा ही व्यक्ति नेपथ्य में गाता या बजाता है। इस पराश्रित गीत या वाद्य का अत्यन्त प्रचार हो चला है, किन्तु अभिनवभरत इससे सहमत नहीं हैं। यह शैली चलचित्र में भले ही उपयुक्त हो किन्तु रंगपीठ पर आगे के दर्शक इसे तत्काल भाँप लेते हैं और इसका उपहास होता है।

कहने का तात्पर्य यह है कि नाटक में उपर्युक्त विधानों में से किस विधान का किस अवसर पर कौन सा प्रभाव उत्पन्न करने के लिए किस प्रकार प्रयोग किया जाना चाहिए यह जानकर उसी के अनुसार संगीत की व्यवस्था करनी चाहिए।

अध्याय ३२

शास्त्रीय नृत्य

जिस आश्विन पूर्णिमा को वैष्णव लोग रासपूर्णिमा कहते हैं उसी दिन ईसा के जन्म से २२२६ वर्ष पूर्व शुभ शरद् की ज्योत्स्नामयी यामिनी में श्री वृन्दावन में यमुना-कूल पर अनेक व्रजसुन्दरियों के साथ भगवान् श्री कृष्णचन्द्र ने महारास-लीला की थी। किन्तु यह रास कोई साधारण नृत्य मात्र नहीं वरन् चिन्मय पदार्थ है जो मुनिजनों के लिए वह ध्येय वस्तु है जिसका तत्त्व साधारण मनुष्य नहीं समझ सकता।

श्रीधर स्वामी ने लिखा है कि—**रासो नाम बहुनर्तकीयुक्तः नृत्यविशेषः।** (बहुत सी नर्तकियों के नृत्य विशेष का नाम रास है)। भा०, वै० तोषिणी टीका में लिखा है—

नटैर्गृहीतकंठीनामन्योन्यात्तकरश्रियम्।
नर्तकीनां भवेद् रासो मण्डली-भूय-नर्तनम्॥

[नट लोग नर्तकियों के कण्ठ में हाथ डालकर उनके साथ मण्डलाकार होकर जो नृत्य करते हैं उसे रास कहते हैं।]

भागवत के श्री जीव-गोस्वामी आदि टीकाकारों ने रास शब्द के भिन्न-भिन्न अर्थ किये हैं। वै० तोषिणी टीका में लिखा है—

रासः परम-रस-कदम्बमयः।

रस कदम्बमयः कश्चिद् विलक्षणो व्रजलीला विशेषः।
यद्वा मुख्यरसः शुद्धप्रेमा स एव रासः॥

[रास परम रस का समूह है सारे संसार के सुख के समूह कृष्ण ही रास हैं अर्थात् रस ही रास है। इससे भरी हुई कुछ विलक्षण व्रजलीला ही रास है या शुद्ध प्रेमरस ही रास है।] श्रीमद्भागवत में रास के वर्णन में लिखा गया है कि गोपांगनाओं के मण्डल से मण्डित होकर योगेश्वर श्री कृष्ण ने दो-दो गोपियों के मध्य में एक-एक श्री कृष्ण के रूप में सब गोपियों के कण्ठ में हाथ डालकर रास किया था।

रास के भी दो भेद हैं—महारास एवं नित्य रास।

महारास में माधुर्य के साथ ऐश्वर्य की भी अधिक वृद्धि होती है, परन्तु नित्य रास में यह बात नहीं है। महारास में जितनी गोपियाँ थीं उतने ही कृष्ण थे किन्तु नित्य रास में केवल एक श्री कृष्ण और राधिका आदि अनेक व्रजांगनाएँ रहती हैं।

रास की भाँति भगवान् की लीला भी तीन प्रकार की है—व्रज,वन और निकुंज। इसके भी दो-दो भेद हैं—प्रकट और अप्रकट; साधक की सिद्धि के लिए प्रकट और स्वसुख-सिद्धि के लिए अप्रकट।

श्रीधर स्वामी ने स्पष्ट लिख दिया है—'श्रृंगाररसकथोपदेशेन निवृत्तिपरेयं पंचाध्यायी' (श्रृंगार रस की कथा के बहाने यह रास-पंचाध्यायी निवृत्तिपरा है)। इसी की टीका में श्री जीव-गोस्वामी ने लिखा है कि यह रासलीला रिरंषा-ह्लादिनी शक्ति का अनादि विलास है। यह काममयी कदापि नहीं है।

हरिभक्तिविलासकार ने लिखा है कि कलि में केशव की प्रीति प्राप्त करने का सुगम मार्ग है श्रीपति के सम्मुख तालिकावादन द्वारा नृत्य करना। इस विधि को सुगम इस कारण बताया गया है कि प्रत्येक मनुष्य नृत्य और संगीत की ओर सहज रूप से आकृष्ट हो जाता है। उसे प्रवृत्त करने की आवश्यकता नहीं होती।

नृत्य और संगीत परस्पराश्रित हैं। जिस प्रकार सांगीतिक ताल और गति के अनुसार अंग-विक्षेप को नृत्य कहते हैं उसी प्रकार संगीत में भी भावों का प्रदर्शन करने के लिए अंग-संचालन आवश्यक होता है। आचार्यों ने नृ य की परिभाषा इस प्रकार की है—किसी विशेष लय, ताल और गति के अनुसार अंग-विक्षेप या अंग-संचालन करते हैं इस क्रिया को नृत्य कहते हैं।

नाट्य, नृत्य और नृत्त भिन्न वस्तुएँ हैं। पद विशेष के अर्थ का अभिनय करने को नाट्य (पदार्थाभिनयो नाट्यम्), भाव प्रदर्शित करने की क्रिया को नृत्य (भावाश्रयं नृत्यम्) और ताल एवं लय के साथ अंग संचालन को नृत्त कहते हैं (नृत्तं ताल-लयाश्रयम्)। विदेशों में डांस के नाम पर जो कुछ होता है वह विशुद्ध रूप से नृत्त ही है, किन्तु भारत में दोनों का प्रयोग साथ होता है। इसी लिए यहाँ सामान्य रूप से आजकल प्रत्येक प्रकार के ताल, भाव, लय के अनुसार होने वाले अंगविक्षेप के लिए नृत्य शब्द का प्रयोग चल पड़ा। अतः नृत्य और नृत्त दोनों के लिए यहाँ भी नृत्य शब्द का ही प्रयोग किया जा रहा है।

नृत्य के सम्बन्ध में नाट्योत्पत्ति के इतिहास के प्रसंग में बताया जा चुका है कि जब इन्द्र ने इच्छा प्रकट की कि वेदाधिकारहीन लोगों के लिए भी ज्ञान और मनोरंजन का साधन निकाला जाय, तब उनकी प्रेरणा से ब्रह्माजी ने चारों वेदों से पाठ्य, अभि-

नय, गीत और रस लेकर पंचम नाट्यवेद की रचना की जिसमें महादेवजी ने नृत्य जोड़कर उसे पूर्ण कर दिया। तात्पर्य यह है कि नृत्य भी नाट्य के साथ ही उत्पन्न हुआ और उसके आदि आचार्य भी भगवान् शंकर ही हैं। किन्तु शंकरजी का नृत्य ताण्डव या उद्धत पुरुष-नृत्य था इसलिए पार्वतीजी ने स्त्रियोचित कोमल लास्य नृत्य की सृष्टि करके उसकी रही-सही कमी भी पूरी कर दी। शंकरजी के पुरुष-नृत्य को पहले केवल 'नृत्य' कहते थे किन्तु तण्डु नाम के पार्षद ने उसका इतना प्रचार किया कि उन्हीं के नाम पर यह नृत्य 'ताण्डव' कहा जाने लगा।

नृत्य के प्राचीन भेद

आगे चलकर ताण्डव के दो भेद हुए १. पेलवि और २. बहुरूपक या लास्य, इसके भी दो भेद हुए—छुरित और यौवत। अभिनय-शन्य अंग-विक्षेप को पेलवि तथा अनेक प्रकार के भावों से युक्त अंग-विक्षेप को बहुरूपक कहते हैं। इसी प्रकार जब नायक-नायिका परस्पर आलिंगन-चुम्बन आदि करते हुए नृत्य करते हैं उसे छुरित और जब नाचने वाली एकाकी नृत्य करती है उसे यौवत कहते हैं। नृत्य तथा नृत्त दोनों संगीत पर ही आश्रित हैं, क्योंकि गान से वाद्य, वाद्य से लय और लय से ताल का बन्धान होता है। इनके साथ ही नृत्य या नृत्त, ताल, लय, भाव एवं अभिनय के संयोग से विभिन्न भावों का प्रदर्शन होता चलता है। इसकी योजना तथा इसका स्वरूप निश्चित होने के कारण नृत्य के अनेक प्रकार हो जाते हैं किन्तु उनमें दो मुख्य हैं—बन्ध और अबन्ध। गति आदि नियमों के साथ ताल, लय आदि का आश्रय लेकर जो नृत्य किया जाता है उसे बन्ध नृत्य कहते हैं परन्तु जिसमें गति आदि नियमों पर विशेष बल नहीं दिया जाता उसे अबन्ध नृत्य कहते हैं। नर्तननिर्णय के लेखक ने इनके भेदों में कमल-वर्तनिका, मकर-वर्तनिका, मयूरी, मृगी, नागबन्ध, पद्मबन्ध आदि अनेक भेद गिनाकर इनकी ताल और लय का भी विस्तारपूर्वक विवरण देकर बताया है कि किस बात की न्यूनता से नृत्य में कौन-सा दोष आ जाता है। ये सब नृत्य आजकल प्रचलित नहीं हैं। नर्तननिर्णय के रचयिता बिट्ठल पण्डित ने उस ग्रन्थ में नृत्यशाला, नर्तनलक्षण, नृत्यांग और उनके सौष्ठव आदि का विस्तृत विवेचन किया है और अन्त में मार्कण्डेय पुराण का वचन उद्धृत करके इस बात की पुष्टि कर दी है कि नृत्य करने वाले को, चाहे वह पुरुष हो या स्त्री, अत्यन्त सुन्दर स्वरूपवान् होना चाहिए तथा उसकी वेश-भूषा दर्शकों के चित्त में आह्लाद उत्पन्न करने वाली होनी चाहिए।

नृत्य के आधुनिक भेद

मुसलमानों के आक्रमण-काल से भारतीय नाट्यकला का ह्रास आरम्भ हो गया। नाट्य के साथ ही प्राचीन नृत्य भी समाप्त हो गया। अँगरेजों के शासनकाल में यूरोपीय शैली की नाट्यकला का अभ्युदय हुआ, इसलिए भारतीय नृत्य का भी विकास नये ढंग पर हुआ। उससे पूर्व मुसलमानों के समय में संगीत और नृत्य तो बचा रहा, क्योंकि नाटकों के प्रेमी न होते हुए भी मुसलमान संगीत और नृत्य के प्रेमी थे। इसलिए नृत्य उनके समय में भी चला अवश्य किन्तु वह प्राचीन भारतीय नृत्य न रहकर विलास-चेष्टाओं का समूह बन गया। आगे चलकर नाट्य-नृत्य अलग हो गया और उसकी स्वतंत्र सत्ता हो गयी। यों भी, पौराणिक काल से ही नृत्य की चर्चा अलग भी पायी जाती है। इन्द्र की राजसभा में अप्सराओं का नृत्य प्रसिद्ध है। ऋषियों का व्रत भंग करने के लिए कामदेव के साथ विशिष्ट अप्सराएँ भेजी जाया करती थीं। इसी आधार पर राजसभाओं में भी राजनर्तकियाँ रखने की चाल पड़ी जो निर्बाध गति से मुसलमानी राज्य-शासन तक चलती रही। दूसरे, यहाँ तो राजपरिवार की कन्याएँ भी नृत्यादि का ज्ञान प्राप्त करती थीं। बृहन्नला के रूप में अर्जुन की नियुक्ति उत्तरा को संगीत और नृत्य सिखाने के लिए ही हुई थी। इस प्रकार भारतीय नृत्य का विकास स्वतंत्र रूप से भी हुआ जिसका नाट्य से कोई सम्बन्ध नहीं रहा।

आजकल शास्त्रीय नृत्य के नाम पर उद्धत या पुंनृत्य के रूप में ताण्डव तथा लास्य या सुकुमार नृत्य के रूप में मणिपुरी, कथकली और कत्थक नृत्य प्रसिद्ध हैं। लास्य के इन तीनों भेदों के अनेक उपभेद हो गये हैं, विवेचन आगे किया जा रहा है।

कथकली नृत्य मुख्यत: दक्षिण भारत में चलता है। मणिपुरी नृत्य विशेष रूप से मणिपुर (असम प्रदेश) का है किन्तु इसका प्रचार असम और उससे लगे बंगाल के क्षेत्रों में अधिक है।

वात्स्यायन ने अपने कामसूत्र में स्त्रियों के लिए जिन चौंसठ कलाओं का निर्देश किया है उनमें गीत और वाद्य के साथ नृत्य का भी विधान है। अत: ऐतिहासिक युग में भी भारतीय शासकों ने नृत्यों को शास्त्रीय रीति से राजाश्रित करके चला रखा था और वे राजकीय कार्यों के लिए विषकन्या तथा नर्तकियों का पोषण करके उन्हें नृत्य की व्यवस्थित शिक्षा देते थे।

इन शास्त्रीय नृत्य-प्रकारों के अतिरिक्त सम्पूर्ण देश में ऐसे भी नृत्य प्रचलित हैं जो शास्त्रीय और लोक-नृत्य की खिचड़ी हैं और जिनका प्रदर्शन वेश्याएँ करती रहती हैं। राजनर्तकियों के अतिरिक्त सामान्य लोगों का मनोरंजन करने के लिए हमारे भारतीय समाज में सदा से वारवनिताएँ नृत्य करती आयी हैं।

पीछे बताया जा चुका है कि आजकल शास्त्रीय नृत्य की श्रेणी में भरतनाट्यम्, कथकली, मोहिनी अट्टम्, मणिपुरी और कत्थक नृत्य का नाम लिया जाता है, किन्तु वास्तव में इनमें से एक भी शुद्ध शास्त्रीय नहीं है। अर्थात् भरत ने अपने नाट्यशास्त्र में नृत्य और नृत्त के सम्बन्ध में जो व्यवस्था दी है उसका अनुसरण इनमें से किसी में भी नहीं होता। भरतनाट्यम् और मोहिनी अट्टम् में भरत द्वारा वर्णित कुछ मुद्राओं और चेष्टाओं का प्रयोग अवश्य होता है किन्तु पूर्ण रूप से भरत के नाट्यशास्त्र में वर्णित नृत्य और नृत्त की व्यवस्था का सांगोपांग अनुपालन इन दोनों में भी नहीं होता। फिर भी भरतनाट्यम् की एक अपनी परम्परा है, जो दक्षिण भारत के कुछ विशिष्ट घरानों में अभी तक सुरक्षित है।

भरतनाट्यम्

भरतनाट्यम् के अधिकारी शिक्षक नट्टुवन लोग हैं जो परम्परागत व्यवसायी संगीतज्ञ हैं। ये दक्षिणस्थ मन्दिरों की देवदासियों को नृत्य सिखाते थे। ये नट्टुवन लोग शिक्षा तो निःशुल्क देते किन्तु देवदासियों के जीविका-शुल्क से अपना भाग प्राप्त करते थे। इन नट्टुवन गुरुओं के बिना देवदासियाँ कभी प्रदर्शन भी नहीं किया करती थीं। वास्तव में उनका नृत्य-प्रदर्शन मन्दिरों में होता था और आगे चलकर राज-दरबारों में भी होने लगा। आज सबके हाथ में पड़कर भरतनाट्यम् की बड़ी दुर्दशा हो रही है। क्योंकि यह केवल स्त्रियों के लिए ही था किन्तु अव तो पुरुष भी भरतनाट्यम् करने लगे हैं।

'भरत' शब्द का भावार्थ यह है कि इसमें भाव, राग और ताल विद्यमान होते हैं। वास्तव में नट्टुवन और देवदासी इसे भरतनाट्यम् न कहकर केलि या सिलम्बू कहते हैं। इसके लिए प्राचीन तमिल शब्द है कूठु या अट्टम् जिसका अर्थ है खेल। अठारह सौ वर्ष पुराने तमिल ग्रन्थ सिलप्पदीकरम् में इसका नाम कूठु या चक्यारकूठु अर्थात् चक्यार जाति के नर्तकों का नृत्य बताया गया है। अभी तक केरल में चक्यार लोग विद्यमान हैं और मलावार के मन्दिरों में नृत्यभवन को आज भी कूठम्-बलम् कहते हैं।

दक्षिण भारत में नाट्यशास्त्र के अतिरिक्त और भी बहुत से ग्रन्थ लिखे गये हैं— जैसे तमिल भरतचूडामणि, नटनटीवाद्यरंजनम्। इनके अतिरिक्त अभिनयदर्पण, संगीतरत्नाकर और ताण्डवलक्षण नाट्यशास्त्र पर पीछे रचे हुए व्याख्या-ग्रन्थ हैं।

भरतनाट्यम् को समझने के लिए दक्षिण भारत की कुछ परम्पराएँ भी समझ लेनी चाहिए। वहाँ देवदासियों के तीन वर्ग हैं—राजदासी, देवदासी, स्वदासी। राजदासियाँ तो मन्दिरों के ध्वजस्तम्भ के आगे नृत्य करती हैं, देवदासियाँ शिवमन्दिरों

में नृत्य करती हैं और स्वदासियाँ कुम्भाभिषेक आदि विशेष अवसरों पर नृत्य करती हैं। नटीवाद्यरंजनम् के अनुसार भरतनाट्यम् भी बारह ताण्डवों में से एक है, जिसमें शृंगार रस प्रधान होता है और केवल स्त्रियों को ही उसे नाचने का अधिकार है। ये बारह ताण्डव हैं—आनन्द ताण्डव (सन्मय ज्योतिनाट्यम्), सन्ध्या ताण्डव (गीत नाट्यम्), शृंगार ताण्डव (भरत नाट्यम्), त्रिपुर ताण्डव (परनी नाट्यम्), ऊर्ध्व ताण्डव (चित्र नाट्यम्), मुनि ताण्डव (लय-नाट्यम्), संहार ताण्डव (सिंहल नाट्यम्), उर्गिर ताण्डव (राजनाट्यम्), भूत ताण्डव (पट्टस नाट्यम्), प्रलय ताण्डव (पवयी नाटयम्), भुजंग ताण्डव (पीठ नाट्यम्), शुद्ध ताण्डव (पदश्री नाट्यम्)।

इन विभिन्न प्रकार के ताण्डवों के लिए नवरस हैं—शृंगार, वीर, करुण, अद्भुत, हास्य, भय, रौद्र, शान्त और बीभत्स। पाँच आसन हैं—पद्म, सिंह, योग, वीर और सिद्ध। चार जानुभंग या घुटनों के मरोड़ हैं—मण्डल, अर्धमण्डल, सममण्डल और नृत्त-मण्डल। पैर की तीन स्थिति होती हैं—अंचित, कुंचित और ऊर्ध्वांचित। तीन भंग होते हैं—सम, ललित, वलित। इसके अतिरिक्त तीन अंगभेद, अनेक प्रकार के करण, अंगहार और मुद्राएँ होती हैं जिनका विवरण अंगाभिनय के प्रसंग में दिया जा चुका है।

किन्तु इस प्रकार के शाब्दिक ज्ञान से भरतनाट्यम् का ज्ञान नहीं होता। उसके लिए किसी नट्टुवन की सेवा करना आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य है। दुर्भाग्यवश अन्य प्रकार के कलाकारों, गुणियों और विद्याचारियों के समान वे लोग अपनी पूरी विद्या किसी को नहीं सिखाते, जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है। भरतनाट्यम् में भी नाट्यशास्त्र की नृत्त-पद्धति से भेद हो गया है। ऐसा माना जाता है कि वर्तमान भरत-नाट्यम् आन्ध्र से दक्षिण भारत में फैला और तन्जौर में राजाश्रित होकर पल्लवित हुआ। इसका कारण यह बताया जाता है कि उसका अधिकांश साहित्य तेलुगु भाषा में है और वर्ण, पद और शब्द के लिए गीत भी तेलुगु भाषा में ही हैं और तन्जौर की राजसभा में प्रसिद्ध देवदासियाँ भी तेलुगु स्त्रियाँ ही थीं। कुछ भी हो किन्तु वर्तमान भरतनाट्यम् कला का श्रेय तन्जौर राजसभा के चार नट्टुवन बन्धुओं को है—चिन्नियां, पुन्नियां, शिवानन्दम् और बडिवेलू। इनमें से बडिवेलू अत्यन्त प्रतिभाशाली संगीतज्ञ था जिसने कर्णाटकी संगीत में वेलावादन का प्रयोग किया था। उसी की कुल-परम्परा में आज भरतनाट्यम् के प्रसिद्ध आचार्य पंडनलूर मीनाक्षीसुन्दरम् पिल्लई विद्यमान हैं।

भरतनाट्यम् में दो अंग होते हैं—नृत्य जिसमें नृत्त भी सम्मिलित है और अभिनय। यह नृत्य कर्णाटकी संगीत की पल्लवी, अनुपल्लवी और चरणम्; उसकी पाँच

जेठियाँ—तिस्र, मिश्र, काण्ड, संकीर्ण और सत्वीशिर; सातों ताल—अड़ि, आड़ा, ध्रुव, मडिय, रूपक, त्रिपण और जम तथा राग और रागमालिका सभी का अनुसरण करता है। शुद्ध नृत्य अर्थात् नृत्त में राग की अपेक्षा ताल प्रधान होती है।

नृत्त का प्रारम्भ अलरिपु या स्तुति से होता है। यह शब्द तेलुगु के अलरिम्पू का अपभ्रंश है जिसका अर्थ है फूलों से सजाना। इसके प्रदर्शन के लिए नर्तकी अपने दोनों पैर मिलाकर और सिर पर दोनों हाथ जोड़कर सीधी खड़ी हो जाती है और तब रेचक अर्थात् ग्रीवा, आँख और हाथ की सहगतिक चेष्टाएँ प्रदर्शित करती है। एक स्थान में आधी बैठी हुई वह रेचकों की आवृत्ति करती है और फिर वेगपूर्ण गति से धिगी-धिगी तान के साथ पीछे हट जाती है। दूसरी क्रिया जेठी स्वरम् के लिए संगीत और गतियाँ कुछ जटिल हो जाती हैं। पाँच प्रकार की जेठियाँ या तालें हैं जिनमें तीन, चार, पाँच, सात और नव मात्राएँ होती हैं। पूरा नृत्य इनमें से किसी एक या अधिक तालों में बाँध दिया जाता है। पीछे बैठा हुआ गुरु ताल देता है। मृदंग बजाने वाला अनेक प्रकार के बाजों के साथ संगत करता है और नर्तकी उस ताल के साथ अपने पैरों की ध्वनि से उसमें रस उत्पन्न कर देती है। यद्यपि ध्वनि-मेल तो इस नृत्य का सौन्दर्य है ही किन्तु अभिनय-चेष्टाएँ भी कुछ कम मुन्दर नहीं होतीं। ग्रीवा की कलात्मक गतियाँ, नेत्रों की भावपूर्ण भंगिमा, करपल्लवों का ललित विन्यास और चरणों का तालपूर्ण संचरण अत्यन्त नयनाभिराम होता है।

इसके पश्चात् आता है शब्दम् अर्थात् शृंगार या भक्तिपूर्ण गीत के भावों का नृत्य द्वारा प्रदर्शन। यह गीत सामान्यतः तेलुगु में होता है और अत्यन्त काव्यपूर्ण तथा वर्णनात्मक होता है अतः इसमें अभिनय के लिए पर्याप्त अवसर रहता तथा संचारी भाव के प्रदर्शन के लिए बहुत क्षेत्र भी। साधारणतः इस नृत्त का भाव प्रायः छोड़ दिया जाता है। किन्तु जो नर्तकी इसके पश्चात् आने वाले वर्णनम् का प्रयोग करना चाहती है उसके लिए यह शब्दम् अत्यन्त लाभकर होता है। क्योंकि इसमें उसके पैरों को विश्राम मिल जाता है और भाव-प्रदर्शन के लिए समय।

भरतनाट्यम् का सबसे अधिक रोचक और कठिन भाव है वर्णन जो नृत्त और अभिनय का सुन्दर सम्मिश्रण है और जो एक घंटे से अधिक चलता रहता है। इसके साथ पीछे कोई शृंगारपूर्ण गीत चलता रहता है और अन्त होते-होते मृदंग की जेठी या थिरमनम् की गति अत्यन्त तीव्र हो जाती है। नर्तकी के चरण भी उसी वेग से लचने लगते हैं और परम वेग के सम पर आकर समाप्त हो जाता है। इस नृत्य का चरणम् भाग अत्यन्त कलात्मक गतियों से भरा रहता है। विशेषतः कल्याणी या नवरत्नमालिका आदि रागों में।

इस व्यायामपूर्ण और सम्पूर्ण नृत्त के पश्चात् नर्तकी को विश्राम अपेक्षित होता है, इसलिए वर्णम् के पश्चात् वह अभिनय प्रारम्भ कर देती है, जिसमें वह नेत्र, मुख, अंग और हाथों के द्वारा गीत के भावों की व्याख्या करती है। और इसी में वह अपनी सारी कला प्रदर्शित कर देती है। इसके गीत ही पद्म कहलाते हैं जो शृंगार से पूर्ण होते हैं। जयदेव, पुरन्दरदास, क्षेत्रज्ञ, मुट्ठुतण्डवत और भारती के गीत जनता में बड़े लोकप्रिय हैं।

तिल्लन शुद्ध नृत्त है जिसमें पैर की चपल और जटिल गतियाँ ही प्रधान होती हैं और जिसमें अन्य चेष्टाएँ बड़ी कलात्मक होती हैं। इस नृत्य में भरतनाट्यम् की सब सूक्ष्म गतियाँ, शोभा और कौशल प्रदर्शित हो जाता है। इसकी सफलता तब होती है जब नर्तकी का शरीर वैसा ही हो जैसा कालिदास ने मालविका का वर्णन किया है।

भरतनाट्यम् का कार्यक्रम लगभग ढाई या तीन घंटे चलता है जिसमें प्रायः नृत्त का भाग तो पहले ही घंटे में समाप्त कर दिया जाता है और शेष में अभिनय किया जाता है। किन्तु होना यह चाहिए कि दो घंटे नृत्त हो और एक घंटे अभिनय, क्योंकि भरतनाट्यम् वास्तव में नृत्त कला है, नाट्य कला नहीं।

कथकली

केरल देश प्राकृतिक वैभव से तो सम्पन्न है ही, किन्तु उसका सबसे अधिक आकर्षक है कथकली नृत्तनाट्य। यह नत्तनाट्य संसार के अत्यन्त व्यवस्थित मूक नाट्यों में से है। यद्यपि कथकली के वर्तमान रूप का श्रेय अठारहवीं शताब्दी के प्रारम्भ से ही तिरुवरांकूर के राजा को दिया जाता है, किन्तु उसके ताल, संगीत, वेष-भूषा, शृंगार आदि को देखते हुए प्रतीत होता है कि वह जावानी और केण्डीय नृत्यों का पूर्वज रहा है और उसने भरतनाट्यम् के भी सुशोभन कौशल ग्रहण किये हैं।

कथकली का अर्थ है कथा का खेल या कथाकेलि, अर्थात् किसी कथा को नृत्त के रूप में प्रस्तुत कर देना। किन्तु यह नाटक मूक होता है जिसके साथ संगीत होता है, गीत भी गाया जाता है। यह बड़ा विचित्र नाटकीय कौशल है जिसमें रामायण या महाभारत की पूरी कथा अभिनेता द्वारा केवल भावभंगी, मुद्रा और उसके साथ चलने वाले गीत और वाद्य से समझा दी जाती है और अभिनेता स्वयं एक शब्द भी नहीं बोलता।

रामलीला के समान कथकली भी खुले मैदान में होता है। एक शामियाना और गैस का हंडा या बिजली की बत्ती पर्याप्त समझी जाती है। एक सुन्दर रंगीन कपड़ा

अभिनेता के सामने तानकर परदा बना लिया जाता है और एक स्टूल रहता है जिस पर अभिनेता बैठता या अपने पैर को विश्राम देता है। इस संगीतमण्डली में दो गायक या कथा-गायक, एक मद्दलम् बजाने वाला, एक चेन्दई बजाने वाला, एक मजीरा बजाने वाला और एक गीत गाने वाला होता है। प्रदर्शन के प्रारम्भ में शख बजाया जाता है।

चित्र ७९--कथकली नृत्य के कुछ पात्र

आगे दर्शक बैठ जाते हैं और गायक तथा वादक अभिनेता के ठीक पीछे खड़े हो जाते हैं। यह नाटक रामायण या महाभारत की कथा पर आश्रित होता है और रात के ९ बजे से प्रारम्भ होकर प्रातः छः बजे तक चलता रहता है और कभी-कभी तो कई-कई रातों तक होता रहता है। अब इस प्रयोग में कवि वल्लतोल के निर्देशन से केरल कलामण्डलम् ने ऐसी व्यवस्था की है कि दो या तीन घटे में किसी कथा के कई दृश्य उपस्थित कर दिये जा सकें।

कथकली के प्रदर्शन की पद्धति (रूप) यह है कि सर्वप्रथम सन्ध्या को गाँवों में डुग्गी पिटवाकर घोषणा (केलिकोट्टू) कर दी जाती है। इसके पश्चात् थोडयम् (नृत्तसंगीत) और वन्दना परदे के पीछे होती है। इसके पश्चात् मृदंग, शंख आदि के गम्भीर निनाद के साथ अभिनेताओं का दर्शन (पुरप्पडु) होता है। इसके पश्चात् मुख्य कथा प्रारम्भ होने से पूर्व मद्दलम् और चेन्दई वादकों तथा गायकों के बीच संगीत प्रतियोगिता (मेलप्पड) होती है।

इस नृत्तनाट्य के साथ गायी जाने वाली कथाएँ काव्यात्मक, रागबद्ध होती हैं। कथकली में सरल और जटिल तीस प्रकार के नृत्त होते हैं जो शरीर की ताल और लयपूर्ण गति पर आश्रित होते हैं। इसमें सौन्दर्य पर उतना बल नहीं दिया जाता है जितना शक्ति पर, इसी लिए इसमें सुन्दर गतियों और पदों की बहुरूपता होती है। यह नृत्तनाट्य अत्यन्त वर्णनात्मक और वास्तविक होता है। जैसे—उनके मयर नृत्त में जितनी गतियाँ होती हैं वे पूर्णतः मयूर की सब चेष्टाओं का प्रतिनिधित्व करती हैं।

कथकली में शब्द का प्रयोग अभिनेता नहीं करता और केवल भावभंगी से ही कथा की व्याख्या करता है, इसलिए इस कला को भली प्रकार आत्मसात् करने के लिए बहुत समय अपेक्षित होता है। चौबीस मूल मुद्राओं और उनके अगणित मिश्र रूपों का ही समझना समयसाध्य कार्य है। किन्तु इस कला में पारंगत होने के लिए सिर के नौ अभिनय, आँख के आठ अभिनय, भौंह की छः गतियाँ, ग्रीवा की पाँच मुद्राएँ और पैर, एड़ी, पंजा, टखना, कमर, कलाई, हथेली, गाल और पलकों की चौसठ गतियों को भली प्रकार समझकर उनका प्रयोग करने की शक्ति प्राप्त करने में बहुत वर्ष लग जाते हैं। इसलिए कोई भी शिष्य छः वर्ष से कम में यह कला नहीं सीख पाता और जब तक कोई इतने दिनों तक सीख न ले वह सिखाने का अधिकारी नहीं माना जाता। इतना ही नहीं, सीखते समय जिस कठोर नियम का पालन कराया जाता है वह भी कम साधना नहीं होती। इस कला के आचार्य केरल में थाकजसी कुन्जू कुरूप, रवुन्नी मेनन, कवलपर नारायण नायर आदि इने-गिने लोग ही हैं।

कथकली नृत्य में रूपविन्यास और मुखौटे का बड़ा महत्त्व है और यह रूपविन्यास की कला कई वर्षों के अभ्यास से आती है। इसका विवरण मुखराग के प्रकरण में दे दिया गया है।

कथकली के वस्त्राभूषण अत्यन्त भारी और बेडौल होते हैं। यह ज्ञात नहीं है कि कसी हुई जाकट और गले में पड़े हुए कई साफे और श्वेत जामा कहाँ से आया, सम्भवतः अठारहवीं शताब्दी की यूरोपीय वेश-भूषा ही विकृत होकर मलावार में आ पहुँची।

यह देखने में तो बहुत सुन्दर होती है, विशेषतः ऊँचा मुकुट, किन्तु अभिनेता को बड़ी असुविधा होती है।

भयंकर और बीभत्स रस की अभिव्यक्ति में कथकली अभिनेताओं को संसार में कोई परास्त नहीं कर सकता, क्योंकि इन रसों में इनका वेश, मुखौटा, अभिनय और संगीत सब भयंकर हो जाता है। किन्तु शृंगार, करुण और वीर रस में भी उनका कौशल दर्शनीय होता है। साधारणतः कथकली की कथा शृंगार से प्रारम्भ होती है और करुण एवं वीर में चलती हुई अन्त में प्रातःकाल के समय भयंकर या बीभत्स में समाप्त होती है, जहाँ नाटक के अन्त में सब राक्षस एकत्र हो जाते हैं।

कथकली में पूरपाडु, थोडयम् और अष्टकलशम् केवल कठिन और जटिल ही नहीं वरन् अत्यन्त सुन्दर नृत्य होते हैं। ये ऐसे नृत्य होते हैं जिनमें इन नर्तकों के कलशम् भरतनाट्यम् के थिरमनम् के समान अत्यन्त चपल, चंचल पदगतियों तथा मृदंग की तीव्र और उच्च ध्वनि के साथ प्रदर्शित होते हैं। ये विशेष उद्धत या ताण्डव नृत्य होते हैं। कथकली में लास्य या कोमल नृत्य के प्रकारों में सारी, कुम्मी, पर्थडी आदि प्रसिद्ध हैं।

कथकली पूर्णतः मूक नाट्य है इसलिए इसमें नृत्त की अपेक्षा नृत्य अधिक विकसित हुआ है। यह पूर्णतः पुरुष-नृत्य है जिसमें स्त्री पात्रों की भूमिका भी पुरुष ही ग्रहण करते हैं। इस दृष्टि से यह भरतनाट्यम् का ठीक उलटा है जिसमें केवल स्त्रियाँ ही नृत्य करती हैं। मूक नृत्यनाट्य की दृष्टि से कथकली निश्चय ही संसार के सर्वश्रेष्ठ मूक नाट्यों में है।

मोहिनी अट्टम्

मोहिनी अट्टम् या कवि वल्लथोल के शब्दों में केरल-नृत्य वास्तव में भरत-नाट्यम् का ही एक रूप है, जो केरल में पनपा और प्रचलित हुआ और यद्यपि उसमें अधिकांशतः भरत द्वारा वर्णित कला का ही प्रयोग होता है किन्तु उसको स्वयं अपनी शैली, कौशल, शब्द, अभिव्यक्तियाँ मिलाकर कथकली तथा अन्य मलावार की सहयोगी कलाओं के सम्मिश्रण से मनोरम बना लिया गया है। यह नृत्य स्त्रियाँ ही करती हैं और इसे नृत्य की अपेक्षा नृत्त ही कहना चाहिए, यद्यपि इसमें गीतगोविन्द आदि की कथाओं की व्याख्या में अभिनय का भी प्राधान्य है। इसके साथ गाये जाने वाले गीत प्रायः वर्णनात्मक और रागबद्ध होते हैं जिनमें प्रेम की पीड़ा, निराशा, विरह, मिलन आदि का वर्णन होता है और जिसे नर्तकी अत्यन्त भावपूर्ण और व्यंजनापूर्ण मुखमुद्रा से व्यक्त करती चलती है। इसमें प्रत्येक रस या भाव के लिए उचित

गति और ताल निर्धारित हैं इसलिए इस पर आधिपत्य करने के लिए बहुत अभ्यास की आवश्यकता है।

मोहिनी अट्टम् को लोग भूल चले थे, यहाँ तक कि पिछले २५ वर्षों में तो यह कला लगभग समाप्त हो चुकी थी, किन्तु कवि वल्लतोल ने केरल कलामण्डलम् के द्वारा और श्री कल्याणी अम्मा के सहयोग से इसका पुनरुद्धार किया। कल्याणी अम्मा ने पहले तो कोचीन की कन्याओं को कुछ नृत्य सिखाया उसके पश्चात् वे कविवर रवीन्द्रनाथ ठाकुर के निमंत्रण पर शान्तिनिकेतन चली गयीं।

केरल में प्रचलित सम्पूर्ण नाटकीय कलाओं और नृत्यों में यद्यपि कुम्मी, काय-कुट्टीकली, थुल्लाल, चक्यारकूट्ठु और कथकली बहुत प्रचलित हैं, किन्तु मणिपुरी नृत्य के समान बाहर वालों के लिए मोहिनी अट्टम् अधिक सुन्दर है। भरतनाट्यम् के अलरिपु के समान मोहिनी अट्टम् में सोलकट्टू नृत्त होता है। अलरिपु का प्राचीन तमिल नाम भी सोलकट्टू है। यद्यपि इसके वर्णन तिल्लन और स्वरजेठी पूर्णतः भरतनाट्यम् की कला से नहीं मिलते किन्तु सामान्यतः उनका प्रभाव वैसा ही होता है। इसके कलशम् भी ऐसे ओजपूर्ण नहीं होते जैसे कथकली के और ऐसे सुन्दर भी नहीं होते जैसे भरतनाट्यम् के थिरमनम्।

तन्जौर के नाच नृत्य और मलावार के मोहिनी अट्टम् में बहुत बड़ा अन्तर यह है कि मोहिनी अट्टम् में नर्तकी स्वयं अधिकांश समय तक नृत्त करते समय भी गाती है और गायकों के साथ ही गाती है, जो टेक देते हैं अथवा नर्तकी के दिये हुए टेक के पीछे गाते हैं। इसके साथ लगभग वे ही वाद्य होते हैं जो भरतनाट्यम् में होते हैं, किन्तु एडकइ या एक प्रकार का डोरी का मृदंग या ढोल बजाया जाता है जो इस प्रदेश का सबसे पुराना वाद्य है। मोहिनी अट्टम् और तन्जौर के कुरवंचीकूट्ठु में बड़ा साम्य है, दोनों लास्य श्रेणी के हैं। दोनों में प्रेमकथा का चित्रण होता है, भावभंगियों और गतियों की बहुत आवृत्ति होती है। क्योंकि दक्षिण भारत के दासी अट्टम् के समान यह कला भी रूढ हो गयी है।

कहा जाता है कि तिरुवरांकूर के राजा ने सौ वर्ष पूर्व इसका प्रवर्तन किया था किन्तु सम्भावना यही है कि जिस प्रकार तन्जौर के राजा सरफोजा ने कुरवंची को राजाश्रय दिया था उसी प्रकार मोहिनी अट्टम् को भी वह मिला होगा। यह दुर्भाग्य की बात है कि भरतनाट्यम् के समान ही कथकली और मोहिनी अट्टम् दोनों ही नये नर्तकों और नर्तकियों के हाथ में पड़कर विकृत हो चले हैं।

मणिपुरी

ऊपर लोकनृत्य के प्रसंग में मणिपुरी का कुछ थोड़ा परिचय दिया जा चुका है

और उसके भेदोपभेदों का भी वर्णन कर दिया गया है। मणिपुरी का रासलीला-लोक-नृत्य अत्यन्त सरल होता है, जिसमें अनेक युवक और युवतियाँ ताल के साथ कभी मन्द और कभी वेग से नृत्य करते और हाथ में लिये हुए छोटे डंडे बजाते चलते

चित्र ८०—मणिपुरी नृत्य

हैं। इस रासमण्डल में एक मण्डल भीतर की ओर होता है और एक बाहर की ओर, भीतर वाले प्रत्येक नर्तक के साथ बाहर वाले मण्डल में एक उसका साथी होता है और ज्यों-ज्यों भीतर वाले नृत्य करते चलते और बढ़ते चलते हैं त्यों-त्यों बाहरी मण्डल वालों को नये-नये साथी मिलते चलते हैं। संगीत में कृष्ण की लीला का गान होता है और भक्ति रस की विशेषता होती है। इसका प्रचार मणिपुर (असम) में इतना अधिक है कि बालि द्वीप की कन्याओं के समान प्रत्येक पुत्री जन्म से ही नृत्यकला-

कुशल होती है। इस नृत्य के लिए लाल, नीली और हरी झिंगुलेदार लहंगी पहनी जाती है, जिसमें चमकीले काँच के टुकड़े टँके रहते हैं और दोनों ओर कामदार फुन्दने लटकते रहते हैं। शरीर पर कसा हुआ वस्त्र रहता है और सिर पर नोकीला टोपी जैसा उष्णीष होता है जो श्वेत महीन अवगुण्ठन से ढका रहता है। यह मुख्यतः राधाकृष्ण-नृत्य होता है इसलिए गोपियों का अभिनय तो लड़कियाँ करती हैं और कृष्ण का अभिनय कोई बालक। प्रायः चार या पाँच कन्याएँ इस नृत्य में भाग लेती हैं जिसमें एक राधा बनती है जो अत्यन्त सुन्दर वेश-भूषा से सुसज्जित होती है। कृष्ण के वेश में पलटदार पीताम्बर की धोती जिसके चारों ओर कामदार फुन्दने लटकते रहते हैं, गले में रत्नों की माला, माथे पर मोरमुकुट और हाथ में वंशी होती है। इसके साथ एक ढोलकिया बराबर ढोल बजाता रहता है। जिस समय यह नृत्य वेग से चलता है, उस समय अत्यन्त सुन्दर प्रतीत होता है।

सर्वप्रथम नवकुमार ने ही शान्तिनिकेतन में मणिपुरी नृत्य सिखाया था और नन्दलाल बोस की कन्या गौरी ने ही इसका सौन्दर्य भारतवर्ष में प्रसारित किया, किन्तु व्यवसायी नर्तकों के हाथ में पड़कर इसकी वैसी ही दुर्दशा हो गयी जैसे भरतनाट्यम् की।

कत्थक-नृत्य

इसका कोई ऐतिहासिक प्रमाण नहीं मिलता कि कत्थक-नृत्य की उत्पत्ति कब और किस प्रकार हुई। किन्तु फिर भी कुछ विद्वानों के मतानुसार इसे उतना ही प्राचीन कहा जा सकता है, जितना मृदंग और बीन का बोल कहा जाता है। क्योंकि इस नृत्य में मृदंग और बीन के बोलों के अनुसार ही अधिकतर बोल पाये जाते हैं। भगवान् शंकर, कृष्ण आदि के नृत्यों के बोलों में भी मृदंग और बीन के काम दिखाई पड़ते हैं। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि कत्थक-नृत्य भारत का एक प्राचीन ऐतिहासिक नृत्य है जो वैदिक काल से ही चला आ रहा है। ताण्डव और लास्य नृत्य भी (जिनके आविष्कारक भगवान् शंकर एवं पार्वती हैं) कत्थक नृत्य के ही अन्तर्गत माने जाते हैं, क्योंकि यह नृत्य भी ताल और लय पर अवलम्बित है, इसके भी छन्द एवं बोल पैरों में बँधे हुए घुँघरुओं के द्वारा लय और ताल में हाव-भाव और मुद्राओं सहित प्रदर्शित किये जाते हैं। साथ ही उसी लय-ताल में विभिन्न प्रकार के हाव-भावों को अपनी आंगिक क्रियाओं द्वारा व्यक्त किया जाता है। इस नृत्य में लय और ताल प्रधान हैं। अन्य नर्तकों की अपेक्षा कत्थक नृत्य के कलाकार ताल और लय में अधिक प्रवीण होते हैं। उपर्युक्त कथन से यह सिद्ध हो जाता है कि 'कत्थकनृत्य' की उत्पत्ति मृदंग और बीन के बोलों से ही हुई है, जिसका प्रदर्शन सर्वप्रथम भगवान् शंकर ने किया था।

वेदों और पुराणों के मतानुसार भगवान् विष्णु, भगवान् शंकर, पार्वती, रावण, कृष्ण, अर्जुन, इन्द्र आदि भी इस नृत्य के महान् कलाकार थे, जिससे यह ज्ञात होता है कि

चित्र ८१—कत्थक नृत्य

आदि काल से ही भारत में इस नृत्य का विशेष प्रभाव था। प्राचीन काल की पाषाण और धातु की कल्पित देवी-देवताओं की मूर्तियों की नृत्य-मुद्राओं एवं पैरों के घुंघरुओं से भी यह स्पष्ट होता है कि भारत का प्राचीन एवं शास्त्रीय नृत्य कत्थक-नृत्य ही है।

ईसा से ३२६ वर्ष पूर्व जिस समय सिकन्दर महान् तक्षशिला में आया, उस समय से पूर्व ही प्रसिद्ध वैयाकरण पाणिनि ने शिलाली और कृशाश्व नामक दो व्यक्तियों की चर्चा शास्त्रीय नृत्य के महान् कलाकारों में की है।

यवनकालीन कत्थक नृत्य

मुगल बादशाहों के दरबार के अधिकतर नृत्यों में शृंगारिक हाव-भाव एवं मुद्राओं की बहुलता होने लगी थी, जो धीरे-धीरे मुगल काल के अन्तिम नवाब वाजिदअली शाह के समय में अपनी चरम सीमा पर पहुँच चुकी थी। वही स्थिति लगभग सन् १९२० ई० तक बराबर उसी प्रकार चली आ रही थी। आर्यसमाज आदि कुछ संस्थाओं ने इस संगीत को रोकने का बहुत प्रयत्न किया, लेकिन वे कुछ भी कामयाब न हुईं जिसके कारण मुगलकालीन संगीत धीरे-धीरे एक दूसरे रूप में परिणत हो गया। यद्यपि महात्मा गाँधी आदि नेताओं के आन्दोलन से इसका कोई सम्बन्ध नहीं था, फिर भी उस आन्दोलन का प्रभाव मुगलकालीन संगीत एवं नृत्य पर इतना पड़ा कि वह स्वयं धीरे-धीरे लुप्त हो गया। यदि थोड़ी-बहुत कहीं उसकी झलक दिखाई पड़ती है तो वह कत्थक घरानों अथवा खानदानी कलाकारों में कहीं-कहीं पर। यह कहना अत्युक्ति न होगी कि मुगल सम्राट् अकबर के काल में शृंगारिक संगीत अवश्य था लेकिन प्रत्यक्ष रूप में भक्ति रस का संगीत विशेष दृष्टिगोचर होता था।

कहा जाता है कि अकबर के समकालीन स्वामी हरिदासजी शास्त्रीय नृत्य (जिसे आधुनिक युग में कत्थक नृत्य कहते हैं) के भी महान् आचार्य थे। कुछ लोगों का मत है कि ये श्री कृष्ण की मूर्ति रखकर उसके सामने नृत्य किया करते थे और भारत में जितने भी नृत्य के कलाकार हैं सब इन्हीं के अनुयायी हैं। कुछ विद्वानों का यह भी मत है कि स्वामीजी पंजाब के रहने वाले थे। इनके द्वारा देहली और पंजाब में नृत्य का अधिक प्रचार हुआ। कालिका विन्दादीनजी के पूर्वज भी पंजाब के ही रहने वाले थे, लेकिन जब मुगल राज्य खण्ड-खण्ड होकर नवाबों के हाथ में आया तो पंजाब और दिल्ली के कलाकार लखनऊ चले आये। लखनऊ के अन्तिम नवाब वाजिदअली शाह के समकालीन नटराज कालिका प्रसादजी, विन्दादीनजी नृत्य के सर्वश्रेष्ठ आचार्य माने जाते हैं। उत्तर प्रदेश के सभी नर्तक एवं नर्तकियाँ, जयपुर-राजस्थान के वरिष्ठ ढोलिये, सब इन्हीं के शिष्य हैं। कलकत्ता, बम्बई, रंगून में भी इनके शिष्य पाये जाते हैं।

भारत के वैदिककालीन शास्त्रीय नृत्य का, जिसे सर्वप्रथम देवताओं ने ही प्रारम्भ किया था, नाम 'कत्थक नृत्य' क्यों पड़ा, यह एक विचारणीय विषय है। भारतीय नृत्य के ऐतिहासिक पृष्ठों को सभी प्रकार से उलट-पुलटकर देखा गया, जिसमें प्राचीन काल से लेकर अकबर के समकालीन नृत्य-शिरोमणि स्वामी हरिदासजी के समय तक वैदिक एवं शास्त्रीय नृत्य के बहुत बड़े-बड़े आचार्यों ने भिन्न-भिन्न प्रकार के नृत्यों का

प्रदर्शन किया। किन्तु यह आश्चर्य का विषय है कि इस समय तक किसी भी नृत्य को कत्थक नृत्य नहीं कहा जाता था।

यह सर्वविदित है कि बादशाह औरंगजेब ने अपने दरबार से संगीत-कलाकारों को अलग कर राज्य से भी निकाल दिया था। ये कलाकार औरंगजेब के दरबार से निकल-कर दूसरे-दूसरे शहरों, रियासतों और प्रान्तों में जा बसे। दरबार से पृथक् होने के कारण कलाकारों को बहुत बड़ी मुसीबत का सामना करना पड़ा। यहाँ तक कि उनके सामने परिवार के पालन-पोषण की भी विकट परिस्थिति उत्पन्न हो गयी, जिससे सभी कलाकार अपने पारिवारिक जीवन-निर्वाह के लिए कुछ न कुछ उद्योग-धन्धों में लग गये। कुछ कलाकारों ने साधारण जन-समाज में भी संगीत की शिक्षा देना आरम्भ कर दिया। कलाकारों के कुछ दलों ने संगीतशिक्षा को अपना खानदानी पेशा ही बना लिया। ये लोग अपने बच्चों को बाल अवस्था से ही संगीतशिक्षा देने लगे, जिससे वे शीघ्र ही अच्छे कलाकार बन जायँ और संगीत की शिक्षा देकर अपना जीवन-निर्वाह कर सकें। इस दशा में सामाजिक भेद-भाव के कारण संगीत-कलाकारों का एक अलग समाज एवं दल बन गया। इसी बीच में संगीत का स्तर इतना गिर गया कि सभ्य समाज में लोग इसे घृणा की दृष्टि से देखने लगे। हिन्दू समाज में पहले की भाँति इसका आदर न रहा। अपनाना तो दूर रहा, लोगों ने इसे प्रोत्साहन देना भी बन्द कर दिया। ऐसी परिस्थिति में संगीत-कलाकारों को बड़ी परेशानी उठानी पड़ी जिसके कारण उनके कुछ दल गणिकाओं आदि छोटी जातियों को भी संगीत एवं नृत्य की शिक्षा देकर अपने परिवार का पालन-पोषण करने लगे। साथ ही इसी दल के कुछ लोग गणिकाओं को सिखाने वाले कलाकारों का विरोध करने लगे। फलस्वरूप आपसी विरोध के कारण यह दल दो हिस्सों में विभाजित हो गया। आगे चलकर इसी दल के लोग 'भट्ट' और 'कत्थक' कहलाने लगे। इस प्रकार यद्यपि इनकी दो जातियाँ हो गयीं फिर भी ब्याह-शादी, खान-पान आदि व्यवहारों में ये लोग लगभग एक ही साथ थे, और हैं। कहा जाता है कि हिन्दू जाति के सभी कत्थक और भट्ट सरयूपारी ब्राह्मण थे। कत्थक ब्राह्मण कुछ वर्ष पहले अपने को 'कत्थक' कहने में आदर समझते थे, लेकिन अब इसे अपमान-जनक समझते हैं। वे लोग अपने को शुक्ल, मिश्र, तिवारी आदि ही कहते हैं। भट्ट लोग अपने को भट्ट ही कहते हैं। ये लोग इस शब्द को अपमानजनक नहीं समझते।

हमारा वेदकालीन शास्त्रीय नृत्य जो मुगल काल में अल्प समय के लिए उपेक्षित सा हो गया था और जिसे लोग अपमान एवं घृणा की दृष्टि से देखने लगे थे, उसे यदि आज संगीत-संसार में गौरवपूर्ण उच्च स्थान प्राप्त हो रहा है तो इसका सारा

श्रेय कत्थक जाति को ही है। जैसा कि लोग समझते हैं, कत्थक जाति कल्पनातीत होते हुए भी पतित नहीं है। वे वेदों तथा पुराणों का महत्त्व अच्छी तरह जानते हैं।

लखनऊ के नवाव वाजिदअली शाह के समकालीन श्री ठाकुरप्रसादजी मिश्र, श्री विन्दादीनजी मिश्र तथा श्री कालिकाप्रसादजी मिश्र भारतीय शास्त्रीय नृत्य के सर्वश्रेष्ठ पुनरुद्धारक एवं प्रचारक माने जाते हैं। उत्तर प्रदेश के जितने नर्तक और नर्तकियाँ हैं, वे सब इसी घराने के अनुयायी हैं। आज भारत के कोने-कोने में, देश-विदेश में भारतीय शास्त्रीय नृत्य का जो प्रचार हो रहा है, उसका सारा श्रेय श्री विन्दादीनजी के ही अनुयायियों को है। उपर्युक्त कथन से स्पष्ट हो जाता है कि लखनऊ का कत्थक घराना ही शास्त्रीय नृत्य का केन्द्र था। अधिकतर लोग यही मानते हैं।

रीवाँ राज्य के कत्थक इस नृत्य को 'आरखा नृत्य' भी कहते हैं। उनका कहना है कि हमारे पूर्वज श्री विष्णुपाल जी ने जो अरखा नगर के निवासी थे, संवत् १८३३ के लगभग इस नृत्य का आविष्कार किया था। कुछ दिनों के पश्चात् यह हँडिया और अरखा गाँव के कलाकारों द्वारा लखनऊ के नबाव वाजिदअली शाह का दरबारी नृत्य बन गया। कुछ विद्वानों का मत है कि इस नृत्य का पुनरुद्धार एवं प्रचार कत्थकों द्वारा ही हुआ है, अतः इसका नाम उस जाति के अनुसार ही 'कत्थक नृत्य' होना चाहिए। किन्तु कुछ लोग इसके विरोध में थे, लेकिन उनकी संख्या अधिक न होने के कारण लोग इसे धीरे-धीरे कत्थक नृत्य ही कहने लगे। इस प्रकार हमारे प्राचीन शास्त्रीय नृत्य का नाम 'कत्थक नृत्य' पड़ गया। आज भी शास्त्रीय नृत्य को लोग 'कत्थक नृत्य' ही कहते हैं, यद्यपि कुछ विद्वान् इसे शास्त्रीय नृत्य भी कहते हैं।

कत्थक नृत्य करने के नियम

कत्थक नृत्य करने के लिए नर्तक के पास कुछ नृत्य की सामग्री अवश्य होनी चाहिए, जिसे वह क्रम से इस प्रकार दर्शकों के सामने प्रदर्शित कर सके—

तबले पर उठान—कत्थक नृत्य में सर्वप्रथम लहरा बजता है और उसके दो-एक आवर्तन के बाद तबले पर उठान या परन बजती है।

निकास—परन बजने के बाद नृत्यकार रंगमंच पर अपनी किसी एक मुद्रा में एक स्थान पर खड़ा होता है और सम, खाली या किसी भी मात्रा से पदाघात कर अपने स्थान से हटकर दूसरे स्थान पर ठीक समय पर पहुँचकर एक विशेष आकर्षक मुद्रा में खड़ा हो जाता है जिसे हम निकास कहते हैं।

ततकार—निकास के पश्चात् नृत्यकार पैरों के पदाघात द्वारा ततकार करता है।

लयकारी—फिर ततकार में थोड़ी सी लयकारी दिखाता है।

आमद—एक विशेष प्रकार का भाव वनाता है जिससे किसी महत्त्वपूर्ण कला या कलात्मक भावभंगिमाओं एवं मुद्राओं का संकेत मिलता है।

सलामी—आमद के बाद एक तोड़ा नाचकर सम पर आकर एक सलामी का भाव दिखाता है। उसे ही हम सलामी कहते हैं।

[**सूचना**—जब कलाकार किसी देवी या देवता के वेश में रहता है तो सलामी का भाव कभी नहीं करता।]

टुकड़े, गत आदि—सलामी करने के बाद नृत्यकार तरह-तरह के टुकड़े, साघारंम, चक्करदार, आड़ी लय के एवं विभिन्न लयों के टुकड़े, गति, परन आदि नाचते हैं, जो लय मात्रा से भरपूर रहते हैं।

गतभाव—इसके पश्चात् कलाकार गतभाव करता है। गतभाव ताल कहरवे की भाँति चक्कर खाते हुए चलता है। इसमें नर्तक राधा-कृष्ण की छेड़-छाड़, गगरी लेने का भाव, पानी भरने का भाव, माखन चुराने का भाव आदि विभिन्न प्रकार के कृष्ण सम्बन्धी कथात्मक भाव दिखाता है।

ततकार द्वारा पैरों की तैयारी दिखाना—अंत में कलाकार अपनी तैयारी पैरों द्वारा दिखाता है। वह ततकार के विभिन्न पलटे विभिन्न लयों में, द्रुत लय में कहकर अपनी कला का अंत करता है।

इस प्रकार कत्थक नृत्य के नाचने का क्रम होता है। करीब-करीब सभी कलाकार अपनी इच्छानुसार नृत्य करते हैं। उनके मन में किसी प्रकार का क्रम नहीं होता। जैसे कभी-कभी कलाकार रंगमंच पर आते ही एक परन या टुकड़ा नाचकर किसी विशेष मुद्रा में खड़ा हो जाता है जिसे हम ठाठ कहते हैं।

कत्थक-नृत्य की वेश-भूषा भी भिन्न होती है। प्रायः सभी कत्थक नर्तक सिर पर बाल रखते हैं और चोटी गूँथकर पीछे वेणी लटका लेते हैं। सिर पर कामदार मखमल की टोपी, मलमल का कुर्ता, उस पर कसी हुई जाकट, चूड़ीदार पायजामा, गले में झीना दुपट्टा और घुँघरू बांधकर नृत्य करते हैं। कत्थक नृत्य में नृत्त की प्रधानता होती है और प्रायः भगवान् श्री कृष्ण के जीवन की प्रेम-लीला, मान-लीला आदि का ही अभिनय होता है। किन्तु अभिनय की मात्रा बहुत कम होती है और ताल की बोल पर ही प्रायः नृत्य होता है।

नर्तक या नर्तकी के गुण

अभिनयदर्पण में नर्तकी के लक्षण बताते हुए कहा गया है कि वह पतली हो, रूपवती हो, युवती हो, मोटे और उन्नत पयोधर वाली हो, प्रगल्भ हो, सरस हो, सुन्दर हो और कब क्या प्रारम्भ करना चाहिए और क्या समाप्त करना चाहिए इसमें कुशल हो। बड़े-बड़े नेत्रों वाली हो, गीत और ताल के साथ नृत्त करने वाली हो, सुन्दर वेश-भूषा से सम्पन्न हो और सदा हँसमुख रहती हो।

जिन स्त्रियों की आँखों में फूले पड़े हों, सिर पर बाल न हों, मोटे ओठ वाली, लटके हुए स्तन वाली, अत्यन्त मोटी, अत्यन्त पतली, अत्यन्त लम्बी, अत्यन्त ठिंगनी, कुबड़ी, या स्वरहीन हो उसे नृत्त के लिए वर्जित समझना चाहिए।

किसी भी नर्तकी में वेग हो, स्थिरता हो, रेखा हो, भ्रमण की योग्यता हो, सुन्दर दृष्टि हो, श्रम करने की शक्ति हो, मेधा हो, अपने गुरु और कला में श्रद्धा हो, शुद्ध वाणी हो, गाने की शक्ति हो, तभी वह अच्छी नर्तकी हो सकती है। इसी प्रसंग में यह भी बताया गया है कि पैरों में बँधने वाले घुँघरू काँसे के हों, अच्छे बजने वाले हों, सुन्दर हों और सूक्ष्म हों और एक दूसरे से एक अंगुल की दूरी पर बँधे हुए हों। नर्तकी को चाहिए कि ऐसे सौ-सौ या दो-दो सौ घुँघरू नीले डोरे से कसी हुई गाँठों में दोनों पैरों में बाँध ले।

नृत्त प्रारम्भ करने से पूर्व मुरज (मृदंग) के देवता गणपति का स्मरण करे और फिर आकाश तथा पृथ्वी का और तब अनेक प्रकार के संगीत, वाद्य आदि से अन्य देवताओं की पूजा करे। इसके पश्चात् अनेक प्रकार की सुन्दर तान बज चुकने पर नर्तकी अपने गुरु से आज्ञा माँगकर अपना शृंगार प्रारम्भ करे। फिर रंगदेवता की पूजा करके वहाँ फूल बिखेरे तथा पूर्वरंग क्रिया करे और तब नृत्त प्रारम्भ करे। अभिनय-दर्पण में इतना ही नहीं, सभापति, मन्त्री और सभा, सबके गुणों का वर्णन है।

नृत्य के साथ वाद्य का प्रयोग

भरत ने अपने नाट्यशास्त्र में बताया है कि सर्वप्रथम नियमानुसार कुत्तप-विन्यास करना चाहिए अर्थात् वाद्य का विधान करना चाहिए। ये कुत्तप या वाद्य चार प्रकार के होते हैं; तत (तार या ताँत के बाजे), आनद्ध (ढोल आदि उँगली या डंडे से बजाये जाने वाले), शुषिर (फूँक से बजाये जाने वाले बाजे) और घन (झाँझ, करताल, मजीरा आदि धातु के वाद्य)। वाद्य विधान कर चुकने पर नटों को चाहिए कि वे आसारित अभ्यास करें। तब तार या ताँत के बाजों के साथ, कंठ संगीत के साथ और भांड (मृदंग) के साथ उपोहन (स्वर देकर) नर्तकी को नृत्य के लिए आगे बढ़ना

चाहिए। जहाँ कोई गीत अभिनय के द्वारा प्रस्तुत करना होता है वहाँ वाद्य यंत्र नहीं लगाने चाहिए। अंगहार के लिए भांडवाद्य का प्रयोग करना चाहिए। ताण्डव में नृत्त के अनुकूल ऐसा वाद्य संगीत होना चाहिए जो स्वर और ताल में बँधा हुआ हो और श्रुतिमधुर हो। कंठ और वाद्य संगीत हो चुकने पर नर्तकी को लौट जाना चाहिए। अन्य जिन लोगों को रंगमंच पर उतरना आवश्यक हो उन्हें भी इसी क्रम से आना चाहिए। इसके पश्चात् जो नर्तक या नर्तकियाँ पिण्डीबन्ध करती हों उन्हें आना चाहिए। जब तक पिण्डीबन्ध न हो जाय तब तक परिहस्त बनाये रखना चाहिए। अर्थात् पूरा शरीर विशाल घने बादल के रूप में विक्षेप की मुद्रा में फैला दिया जाय उसे परिहस्त कहते हैं। इसके पश्चात् सभी नर्तकियों को पिण्डी अर्थात् समूह बनाकर लौट जाना चाहिए। जब पिण्डीबन्ध अर्थात् नर्तकियों का समूह बनता हो उस समय वाद्य संगीत चलता रहना चाहिए और पिण्डी के साथ परिहस्त के अनुकूल सुन्दर वृन्द-वाद्य होता रहना चाहिए। इस सम्बन्ध में पहले के समान उपोहन या अपवाहन होना चाहिए। इसके पश्चात् भांड तथा अन्य वाद्यों के साथ नर्तकी को रंगमंच पर उतरना चाहिए। अन्य वादकों को एक बार पुनः आसारित (वेगपूर्ण संगीत की ध्वनि) का प्रदर्शन करना चाहिए।

उपर्युक्त विधान के अनुसार नर्तकी को रंगमंच पर जाकर गीत के भाव के अनुसार अभिनय करना चाहिए और फिर उसे नृत्य में मिलाकर प्रदर्शित करना चाहिए। आसारित हो चुकने पर नर्तकी को लौट जाना चाहिए। अन्य लोगों को भी इसी प्रकार रंगमंच पर आना चाहिए और सबके साथ आसारित होना चाहिए।

पिण्डीबन्ध

पिण्डीबन्ध चार प्रकार का होता है—पिण्डी, शृंखलिक, लताबन्ध और भेद्यक। पिण्डीबन्ध तो पिण्ड के समान बनता है, शृंखलिक झाड़ी के समान, लताबन्ध लताओं के समान और भेद्यक में नृत्त साथ होता चलता है। पिण्डीबन्ध अन्त में होता है, शृंखलिक लास्य के बीच में होता है, लताबन्ध मध्य में होता है और भेद्यक प्रारंभ में।

अध्याय ३३

भारतीय लोक-नृत्य और लोक-नाट्य

नृत्य का मुख्य उद्देश्य यद्यपि लोक-मनोरंजन है किन्तु यों भी किसी कारण विशेष से उल्लसित होकर मनुष्य नाचने लगता है। उल्लास की इस अवस्था में मनुष्य का मन-मयूर हर्षविभोर होकर अपने उल्लास की स्वाभाविक अभिव्यक्ति के लिए जो भाव-भंगिमा और अंग-संचालन प्रदर्शित करता है उसे हम नृत्य कहते हैं। कभी-कभी मनुष्य के निवारण में भी संगीत अर्थात्—गीत, वाद्य और नृत्य सहायक होते हैं। अतः एक ओर नृत्य जहाँ उत्फुल्लताजन्य है, वहीं उत्फुल्लता का जनक भी है। यही कारण है कि ऐसी वस्तु के साथ मानव-समाज का सम्बन्ध किसी न किसी रूप में अनादि काल से चला आया है। इसी लिए जो लोग शास्त्रीय पद्धति नहीं जानते वे भी नृत्य का आयोजन करके अपना मन-बहलाव करते रहते हैं।

होली या अन्य पर्वों के अवसर पर, फसल कटने के समय, विशेष आयोजनों पर, देवपूजा आदि उत्सवों पर, विशेष समारोहों की घड़ी उपस्थित होने पर गाँव के लोग नृत्य आदि करके अपने मन का जो उल्लास प्रकट करते हैं उसे लोक-नृत्य कहते हैं। इसका कोई भेद नहीं किया जा सकता। इतने बड़े देश में इसके कई सहस्र भेद हो सकते हैं और होंगे। संक्षेप में हम संगीतदामोदर के रचयिता के शब्दों में यही कह सकते हैं—

> **देशरुच्या प्रतीतोऽथ तालमानरसाश्रयः।**
> **सविलासोऽङ्गविक्षेपो नृत्य इत्युच्यते बुधैः॥**

लोक-नृत्य

ऊपर बताया गया है कि स्वाभाविक उल्लास की अवस्था में मनुष्य का मन नाच उठता है। मन की प्रवृत्ति से ही काया को गति मिलती है, इसलिए मन के उल्लसित होने पर शरीर भी नाचने लगता है, मन के हर्ष-विभोर होने पर शरीर में नृत्य की क्रिया अपने आप होने लगती है। उल्लास की इस अभिव्यक्ति से ही आगे चलकर नृत्य, नाट्य और अभिनय का कला के रूप में विकास हुआ। किन्तु कला के रूप में

इनके विकास का अर्थ इतना ही नहीं है कि शिक्षित और संस्कृत वर्ग ने इन्हें किस रूप में ग्रहण किया। मूल रूप में इनका जिस प्रकार आरम्भ हुआ उसमें कुछ परिष्कार करके इन्हें लय, ताल व गति की सीमाओं में बाँधकर जिस प्रकार निखारा गया उसे ही इनका संस्कृत रूप समझना चाहिए। शिष्ट समाज का मनोरंजन इन कलाओं के इस संस्कृत रूप में ही होता है। किन्तु ग्रामीण अथवा पर्वतीय प्रदेशों में निवास करने वाले लोग भी अपने मनोल्लास की अभिव्यक्ति के लिए आदि काल से ही नृत्य का आश्रय लेते रहे हैं और इसलिए संसार की सभी आदिम जातियों में नृत्य और नृत्योत्सवों की अपनी-अपनी परम्परा चली आ रही है। समय के परिवर्तनों के साथ सम्भव है कि इनमें कुछ हेर-फेर हुए हों किन्तु ग्रामीण, वन्य तथा पर्वतीय प्रदेशों के ये नृत्य अपने मूल रूप में उन-उन प्रदेशों के अर्ध-शिक्षित अथवा अशिक्षित लोगों का मनोरंजन आज भी उसी प्रकार कर रहे हैं जिस प्रकार अतीत में करते रहे। इन्हीं को सुरुचिसम्पन्न लोगों ने लोक-नृत्य की संज्ञा दे रखी है।

भारतीय लोक-नृत्य

भारत बहुत बड़ा देश है। यहाँ अनेक सभ्यताओं और संस्कृतियों का सम्मिलन हुआ है। आर्यों की सभ्यता, संस्कृति, ज्ञान, विज्ञान और कला का प्रचार समग्र देश में होने के पूर्व भी अन्य देशों के लोग सामाजिक जीवन की प्रणाली में आवद्ध हो चुके थे। इसलिए उन्होंने मनोरंजन के साधन भी अपनी रुचि के अनुसार विकसित कर रखे थे। इसलिए आर्य संस्कृति के प्रसार के पश्चात् भी सर्वत्र पुरानी विधियाँ उन लोगों में चलती रहीं, अतः ये लोक-नृत्य भी स्थान-भेद से अनेक रूपों में चलते चले आये। अतः यहाँ प्रदेशों के अनुसार कुछ बहुत प्रसिद्ध और प्रचलित लोक-नृत्यों की ही चर्चा होगी।

असम के नृत्य

असम प्रदेश में लोक-नृत्य के बहुत से प्रकार प्रचलित हैं जो वहाँ के निवासियों के दैनिक जीवन के अंग बन गये हैं। कुछ शताब्दी पूर्व श्री शंकरदेव ने वैष्णव धर्म के अनुसार धार्मिक और सामाजिक सुधार करते हुए अनेक सत्रों की स्थापना की थी, जहाँ वहुत से शिष्य गुरु के पास पढ़ने जाया करते थे। उसी प्रसंग में शंकरदेव ने कामरूप नृत्य का अध्ययन करके एक सत्रिय नाट्य-प्रणाली चलायी जो आज भी सत्रों के वैष्णव गुरु प्रयोग करते हैं। यह नृत्य शुद्ध धार्मिक और भक्तिपूर्ण है जिसमें से केली गोपाल नामक सत्रिय नृत्य में भगवान् कृष्ण के बाल-जीवन की लीलाओं का

चित्रण होता है। बकासुर, शंखासुर आदि असुरों के मारे जाने पर अनेक गोप मिल-कर नृत्य करते थे। इन सबके पश्चात् महारास नृत्य होता है, जिसे नाचने के पश्चात् गोपियाँ चली जाती हैं और कृष्ण के दशावतारों का नृत्य-नाट्य-प्रदर्शन होता है।

चैत की पूर्णिमा को विहू नाम का ऋतु-उत्सव होता है.जिसमें विहू नामक नृत्य किया जाता है। लड़के और लड़कियाँ सब मिलकर खुले खेतों में रात को देर तक नाचते रहते हैं।

असम की राजधानी शिलांग के आसपास खासी प्रदेश के आदि-निवासी बड़े सुन्दर होते हैं। वे ढोलक के साथ पैर और हाथ मिलाकर अत्यन्त कठोर और रीति-वद्ध नृत्य करते हैं। इस नृत्य में स्त्रियां ऊपर आँख नहीं उठातीं।

असम और उत्तरी बरमा के सीमान्त पर निवास करने वाले नागा लोग अपने मौलिक रूप में युद्ध-नृत्य अत्यन्त सुन्दर करते हैं जिसमें वे शरीर रँगते हैं, सींग और पंखों के मुकुट लगाते हैं, पत्थर और सींगों के हार पहनते हैं और हाथों पर चमकदार पीतल के भुजबन्द बाँधते हैं। इनका भाला-नृत्य बड़ा व्यापक है जिसमें लम्बे-लम्बे भाले चलाये और फेंके जाते हैं। इसमें नर्तक के ऊपर भी भाले फेंके जाते हैं और वह अत्यन्त सफलतापूर्वक स्वयं अपने शस्त्रों के आघात को बचाता है। जेमी नागाओं का एक विचित्र नृत्य होता है जिसमें वे पशु आदि जीवों की गतियों का अनुकरण करते हैं। इनमें मधुमक्खी का नृत्य और हार्नबिल नामक एक दुष्प्राप्य चिड़िया का नृत्य भी होता है जिसके पंख नागा योद्धाओं को वड़े प्रिय हैं। कबूयी नागाओं की स्त्रियाँ एक विचित्र नृत्य करती हैं जिसमें अनेक भावात्मक गतियों की शृंखला रहती है। वे बैठकर नृत्य प्रारम्भ करती हैं और उनके हाथ तथा भुजाएँ यंत्रवत् गति से चलती हुई ज्यामितिक रूपमान बनाकर चलती हैं। जब वे खड़ी होती हैं तो एक पैर आगे बढ़कर एक पैर की जाँघ के पीछे दूसरे पैर से ऐसी थाप देती हैं मानों वेग से ढोलक बज रही हो। जेमी नागाओं में बहुत से लोक-नृत्य प्रचलित हैं जिनमें खम्बा-लिम और त्रुइरालिम अधिक लोकप्रिय है। लवाई से पूर्व खम्बाली नृत्य में नर्तकों के दो दल बन जाते हैं जिनमें एक ओर स्त्रियाँ और एक ओर पुरुष हों। नृत्य करते हुए वे अपना स्थान-परिवर्तन करते रहते हैं किन्तु उनकी पंक्ति नहीं टूटती। त्रुइरालिम का अर्थ है कुक्कुटयुद्ध-नृत्य जिसमें एक ओर लड़के और दूसरी ओर लड़कियाँ दल बाँध-कर कृत्रिम युद्ध का नृत्य करते हैं। असम के मैदान की जातियों में रहने वाले बारो लोगों में भी अनेक नृत्य प्रचलित हैं, जिनमें से हवाजनाई, वैसाखू, विहू और नटपूजा प्रसिद्ध हैं, क्योंकि ये लोग शिव और शक्ति के उपासक हैं। ये लोग हबाजनाई नृत्य को विवाह के पश्चात् करते हैं और वैसाखू और विहू नृत्य बैसाखू और बिहू उत्सवों

पर करते हैं। नटपूजा नृत्य में ये दोनों हाथों में तलवार लेकर शिवजी का आह्वान करते हैं जो युद्ध में उन्हें विजय दिलवाते हैं।

कुकी नागाओं का बड़ा विचित्र नृत्य होता है जिसमें वे चार बाँसों को चारों ओर रखकर आयत बना लेते हैं, जिनके सिरों पर नर्तक बैठ जाते हैं और वे ढोल की ताल पर उस आयत को चौड़ा और सँकरा करते जाते हैं। जब सँकरा करना होता है तब नर्तक आर-पार रखे बाँस के बाहर कूदता है और जब उसे चौड़ा करना होता है तव भीतर कूदता है। जव दो या दो से अधिक व्यक्ति इस बाँस के नृत्य में एक साथ नाचते हैं और ढोल की गति बढ़ जाती है तब यह नृत्य बड़ा जटिल हो जाता है।

मणिपुर

असम का मणिपुर प्रदेश कलात्मक नृत्यों का भण्डार है। यद्यपि मणिपुरी नृत्य शुद्ध लोकनृत्य है किन्तु उसे अब लोगों ने शास्त्रीय वना डाला है। मणिपुर की प्रत्येक कन्या या स्त्री को नृत्य सीखना ही पड़ता है। यद्यपि पुरुषों के लिए ऐसा वन्धन नहीं है, फिर भी अधिकांश लोग नृत्य करते हैं। प्रसिद्ध मणिपुरी नाच मणिपुर के सुन्दर लोकनृत्यों से ही विकसित हुआ है। वहाँ प्रसिद्ध है कि एक वार शिव और पार्वती लीला के लिए स्थान ढूँढ़ते हुए मणिपुर पहुँचे और वहाँ जलमग्न द्रोणी देखकर उन्होंने अपना त्रिशूल गाड़ दिया, जिससे सव जल निकल गया और वहाँ उन लोगों ने नृत्य किया। वहाँ का पुंब (ढोल) और पेना (चिकारा) भी शिव और पार्वती द्वारा ही प्रवर्तित माना जाता है और शिव-पार्वती का नृत्य भी वहाँ का प्रसिद्ध लाइहरोबा नृत्य है। यद्यपि कुछ लोगों का विश्वास है कि यह नृत्य हिन्दू भावना से पूर्व का है, क्योंकि यह मणिपुर के ग्रामदेवताओं के सम्मान में प्रदर्शित किया जाता है जिसमें मइबा (पुरोहित) और मइबी (पुरोहिनियाँ) विशेष भाग लेती हैं। इसमें सृष्टि और मनुष्यों की उत्पत्ति का चित्रण किया जाता है, जिसमें मानव रूप की सृष्टि को फूलों पर मड-राती हुई मधुमक्खियों के प्रतीक से समझाया जाता है। जब इन नर्तकों के सिर पर वे देवता आ चढ़ते हैं तब यह नृत्य अत्यन्त भव्य और प्रभावशाली हो जाता है, तब वे पुरुष और स्त्री या प्रेमी-प्रेमिका के रूप में खम्बा और थाइबी की अमर कथा का नृत्य-नाट्य करते हैं।

इन लोगों में चैतन्य महाप्रभु के प्रभाव से कीर्तन का भी प्रचलन है जिसमें गायक और वादक बारी-बारी से अलग-अलग या दो-दो की जोड़ी में नृत्य भी करते हैं। इस कीर्तन-नृत्य से मणिपुर के दो नृत्य आविर्भूत हुए—पुंगचलन और करतालचलन।

पुंगचलन में ढोल बजाने वाले के शरीर की गति वेग से चलती है और करताल-चलन में करताल चलाने वाली की।

गोपों का एक नृत्य राखल (गोप) बड़ा प्रसिद्ध है, जिसमें छोटे-छोटे लड़के सुन्दर वेश-भूषा धारण करके वसंत ऋतु में खुले मैदानों में कृष्ण की बाल-लीला का नृत्याभिनय करते हैं। होली के अवसर पर मणिपुर में थावल चोंगबी (चाँदनी में कूदना) नामक नृत्य होता है, जिसमें जाति, पद आदि सब भेद भुलाकर सब सम्मिलित हो सकते हैं और जिसमें लड़के-लड़कियाँ चाहे जितनी देर रात तक बाहर रहकर नाच सकते हैं।

लगभग १७०० ईसवी में महाराज जयसिंह या भाग्यचन्द्र ने स्वप्न में संगीत के साथ विचित्र वेश-भूषा पहने हुए नर्तकों का नृत्य देखा, जिसे उन्होंने अपनी कन्या को सुनाया, जो नृत्य-कला में बड़ी प्रवीण थी और उससे स्वप्न के अनुसार रास-लीला खेलने को कहा और तब से रास-लीला नामक नृत्य का प्रचलन हुआ। इस रास-लीला के बहुत भेद हो गये, जैसे वसंतरास, कुंजरास, महारास, नृत्यरास, दिवारास, नटनारास, अष्ट-गोपी-अष्टश्याम रास आदि। रासलीला के नर्तक अत्यन्त सजीले वस्त्र पहनते हैं और इसके साथ का संगीत भी बराबर बदलता रहता है। बीच-बीच में दो स्त्रियाँ भी गाती रहती हैं जिससे नर्तकों को गाने से छुट्टी मिल जाती है और वे मुद्राएँ अधिक दिखाते हैं। प्रायः राधा के पाठ को स्त्रियाँ गाती हैं और कृष्ण के पाठ को पुरुष। इस रास-लीला के छः अंग होते हैं—१. कृष्ण का आकर नाचना, २. राधा का आकर नाचना, ३. कृष्ण और राधा का एक साथ नाचना, जो वास्तव में मुख्य रासलीला है। ४. भंगी अर्थात् मान जिसमें राधा या कृष्ण नृत्य में सम्मिलित होना अस्वीकार करते हैं और फिर मान जाते हैं। ५. मिलन अर्थात् राधा और कृष्ण का मिलन जब वे गोपियों को साथ लेकर नृत्य करते हैं। ६. प्रार्थना जिसमें राधा और गोपियाँ कृष्ण के प्रति शाश्वत प्रेम प्रकट करती हैं।

यद्यपि मणिपुरी रास भावों का नृत्य है किन्तु उसका प्रदर्शन अत्यन्त कलात्मक होता है। मणिपुरी नृत्य की मूल गतियों में पूरा घूमना या आधा घूमना अधिक होता है। खुरुम्बा या नमस्कार में दोनों कलाइयाँ साथ मिलाकर दो बार घुमायी जाती हैं। यह प्रक्रिया नृत्य की प्रत्येक पीठिका के पश्चात् की जाती है। चक्र या हाथ का चक्कर देना दूसरी क्रिया है जिसमें उँगलियाँ खुल जाती हैं और शरीर की ओर मुड़ जाती हैं। मणिपुरी की एक विशेषता यह है कि इसमें लास्यभाव या कोमल भाव तो हाथ की गतियों में रहता है और ताण्डव पैर की गतियों में।

बंगाल के लोक-नृत्य

लोगों का विश्वास था कि बंगाल का कोई अपना नृत्य नहीं होता। किन्तु कवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने सन्थाल और मणिपुरी लोक-नृत्यों की खोज करके यह भ्रम दूर किया और गुरु सदाइदत्त ने व्रताचार्य आन्दोलन प्रारम्भ करके बंगाल के लोक-नृत्यों को प्रचलित किया। बंगाल में कीर्तन-नृत्य का बड़ा प्रचार है जिसमें किसी प्रकार के भेद-भाव विना सब सम्मिलित हो सकते हैं और जिसका प्रचलन चैतन्य महाप्रभु ने किया था। यह नृत्य खोल (एक प्रकार के पखावज) के साथ किया जाता है जिसमें अनेक भक्त एक घेरे में खड़े होकर खोल की ताल के साथ हाथ उठाते और गिराते हैं और इसके साथ भक्ति के गीत भी गाये जाते हैं। कभी-कभी ये कीर्तन-मण्डल नगर में घूम-घूमकर नगर-कीर्तन भी करते हैं।

बंगाल के गाँवों में बाउल गीतों का वड़ा प्रचार है, जिनके साथ वाउल नृत्य भी होते हैं। इस नृत्य के साथ एकतारा वजाया जाता है जिसे भिक्षुक और चारण गाते-वजाते और नाचते-गाते घूमते हैं।

लगभग ४०० वर्ष के पूर्व से बंगाल में 'यात्रा' नामक एक नृत्य-नाट्य का भी प्रचलन हुआ, जिसे चलती-फिरती यात्रा-मण्डलियाँ गायन और नृत्य के साथ नृत्य-नाट्य (औपेरा) के रूप में खेलती चलती हैं। इसका एक अधिकारी होता है, वही इस मंडली को शिक्षा देता और व्यवस्था करता है। इस यात्रा-नृत्य-नाट्य में प्रायः कृष्ण-लीला ही खेली जाती है किन्तु स्वतंत्रता-आन्दोलन के समय देश-भक्तिपरक कथाएँ भी इसमें समाविष्ट हो गयीं। अब सामाजिक कथाएँ भी ली जाने लगी हैं।

मालदह जनपद में उनके अपने ही नृत्य और गीत का प्रचार है जिसमें मुख्यतः गम्भीर गीत गाये जाते हैं। इनमें धार्मिक विषयों से लेकर गाँव की दैनिक कथा तक आ जाती है और सामाजिक तथा राजनीतिक समस्याएँ भी कभी-कभी समाविष्ट हो जाती हैं। इन गम्भीर गीतों के साथ नृत्य भी चलता रहता है। पिछड़ी जातियों में कुछ-कुछ नृत्य भी प्राचीन युग के अवशेष के रूप में चलते आते हैं।

वर्दवान और बीरभूमि जनपदों के बहुरी और डोम लोग रायबेंशे नामक उद्धत नृत्य करते हैं जिसके साथ ढोल और काँसी बजती हैं। ये नर्तक अपने दायें पैर में नूपुर या घुँघरू वाँध लेते हैं और जब गति तीव्र हो जाती है तव वीच-वीच में वन्य-युद्ध, पुकार और आह्वान करते हैं। इनकी गतियों में धनुष खींचने, भाला चलाने, दाव निकालने आदि युद्ध-क्रियाओं का बाहुल्य होता है।

बंगाल में एक काठी नृत्य भी होता है जिसमें नर्तक लोग हाथ में छोटे-छोटे डंडे लेकर ताल के साथ पैर चलाते हुए डंडों पर आघात करते हुए गोल चक्कर में घूमते

हैं और बीच-बीच में अनेक प्रकार के घुमाव चक्कर देते हुए इधर से उधर हटते-बढ़ते चलते हैं किन्तु डंडे का आघात कभी नहीं छोड़ते। बीच में खड़े होने वाला नर्तक पूरी जाति के क्रोध के आखेट का रूपक धारण करता है।

बिहार

बिहार के छोटा नागपुर प्रदेश में सन्थाल लोगों के अत्यन्त सुन्दर ग्रामीण नृत्य होते हैं जिनमें वे नील चुनने, धान काटने और आखेट करने के दृश्य प्रस्तुत करते हैं। इसके साथ ही सौतों के झगड़े तथा घरेलू व्यवहारों के सम्बन्ध में भी वे दृश्य-नृत्य करते हैं।

पूर्णिमा की रात्रि को वहाँ के युवक बड़ा-सा नगाड़ा बजाकर लड़कियों को नृत्य का निमंत्रण देते हैं जिसे सुनकर सन्थाल कन्याएँ वसंत में फूलों का शृंगार करके और जाड़े में चिड़ियों के पंखों से शृंगार करके दो-दो कन्याएँ हाथ में हाथ डालकर लम्बी पाँत बना लेती हैं और फिर नगाड़े या ढोलक की ताल पर आगे-पीछे बढ़ती हुई सिर और शरीर को ताल के साथ मिलाती चलती हैं। सरायकेला के संथाली राजकुमार विजयप्रताप ने इनमें से कुछ नृत्यों को (छाउ मुखौटा) नृत्यों के रूप में परिवर्तित कर दिया, जिसे बहुत से लोग कत्थक, मणिपुरी, भरतनाट्यम् और कथकली के समान ही पाँचवाँ प्रमुख भारतीय नृत्य समझते हैं। ये छाउ नृत्य वसंत में होते हैं, जिनके लिए अत्यन्त कलात्मक ढंग से अनेक शिल्पियों के परिवार परंपरागत कलापूर्ण मुखौटे बनाते चले आते हैं। इन मुखौटों की रंग-रेखाएँ देखकर ही दर्शक उस नृत्य का भाव समझ जाता है। इन मुखौटों में यह सुविधा होती है कि सिर और ग्रीवा के राव अभिनय तो हो जाते हैं किन्तु आँख का अभिनय नहीं हो पाता। इन छाउ नृत्यों में पौराणिक कथाओं के साथ-साथ ऐतिहासिक और दैनिक घटनाएँ होती रहती हैं।

मिथिला की स्त्रियाँ वर्षा की चाँदनी रातों में जाता-जतिन नामक नृत्य करती हैं जिसमें युवतियाँ आँगन में इकट्ठी होकर ढोल की ताल पर रात भर नाचती रहती हैं। इस नृत्य के द्वारा वे जाता और जतिन की प्रेमकहानी प्रदर्शित करती हैं। इस नृत्य का सबसे अधिक नाटकीय भाग वह है जब एक दुष्ट मल्लाह नृत्य-मण्डल को तोड़कर भीतर आता है और सुन्दरी जतिन को उठा ले जाता है, किन्तु अंत में उसका अन्त सुखमय होता है।

छोटा नागपुर में एक और भी खेतिहर आदिम जाति है 'हो'। ये 'हो' लोग भाषा और रीति-नीति में मुण्डा लोगों से मिलते-जुलते हैं। इनके नृत्यों में और गीतों में इनके सुख और दुःख का, विशेषतः सुख का प्रदर्शन होता है। इनका एक धार्मिक नृत्य

है 'माय', जिसमें वे सालवन में रहने वाले अपने दसौली देवता का आवाहन करते हैं। इन सालवनों को वे जइया या दसौली देवता का आवास मानते हैं। इन लोगों का वसंत में एक 'बाँ' नामक उत्सव होता है, जिसमें वे लोग फूलों से अपने घर सजाते हैं और तीन दिनों तक नाचते-गाते रहते हैं। इसी प्रकार बोआई के समय दसौली देवता की कृपा प्राप्त करने के लिए भी उत्सव-नृत्य करते हैं और फसल कट चुकने पर जोम नामक उत्सव में गाते-नाचते हैं। इसके अतिरिक्त विवाह आदि उत्सवों के लिए और भी अनेक नृत्य हैं।

ओरावँ लोगों में ऋतुओं से सम्बद्ध अनेक नृत्य प्रचलित हैं। जैसे—जादूर (वसंत) नृत्य जिसमें एक ढोलकिया मर्दल (मादल) पर समुद्र के गर्जन की ध्वनि बजाता है और नर्तकों के पैर लहरों की गति दिखाते चलते हैं। इसमें नृत्य करने वाली कन्याएँ एक दूसरी के हाथ में हाथ डालकर एक पंक्ति में खड़ी हो जाती हैं। दो पग आगे उछलकर जाती हैं और फिर अपना शरीर पीछे को झुकाकर लौट जाती हैं। फिर वे बायीं ओर दो पग बढ़ती हैं और पहली गति की आवृत्ति करती हैं। पुरुष ढोलक बजाते हुए और चिल्लाते हुए स्त्रियों की ओर कूदते हैं। किन्तु जब स्त्रियाँ आगे बढ़ती हैं, पुरुष उसी गति से पीछे हट जाते हैं। यह जादूर नृत्य ओरावँ जाति का बड़ा पुराना नृत्य है।

गर्मी में ये लोग सरहुल नृत्य करते हैं, जिसमें पुरुष या स्त्रियाँ दो या अधिक पंक्तियों में खड़ी होकर नाचती गाती हैं किन्तु कोई वाद्य नहीं बजता। इसका गीतक्रम प्रारम्भ होता है "हो ! हो !" से जो निरन्तर ऊँचा उठता ही चला जाता है। तब गीत प्रारम्भ होता है और पंक्ति में खड़े हुए लोग नाचने लगते हैं। इसे एक प्रकार का युद्ध-नृत्य समझना चाहिए। इसके साथ गाया जाने वाला गीत उच्च स्वर में हर्षध्वनि के साथ समाप्त होता है और नर्तक तीन बार ऊपर कूदकर पैर पटकते हैं।

वर्षा ऋतु में इनका क्रमा नामक नृत्य होता है जिसमें बीच में कन्याएँ रहती हैं। इनके चारों ओर बालक घेरे रहते हैं और उस नृत्य के साथ वाद्य बजते रहते हैं। यह मन्दगतिक नृत्य होता है जिसमें ढोल की तालों पर सब अपने शरीर को अत्यन्त मन्द गति से झुकाते हैं और रोकते हैं। इस प्रकार इसमें एक प्रकार की उदासी व्याप्त रहती है। इस नृत्य में प्रति डेढ़ पग पर कन्याएँ उछलती हैं, आगे को झुकती हैं और एक पैर उठाकर दूसरे पग से फिर अपनी पहली स्थिति पर आ जाती हैं। उनके चारों ओर खड़े होने वाले बालक गाते और तालियाँ बजाते और कूदते-उछलते हैं। वाद्य बजाने वाले भी लड़कियों की ओर बढ़ते हैं किन्तु अत्यन्त सुन्दरतापूर्ण ढंग से कूदते हुए

पीछे लौट जाते हैं। लड़के और लड़कियाँ दोनों नृत्य के समय अपने कन्धों पर डंडे लिये रहते हैं।

वर्षा बीतने पर शरद ऋतु में वे 'माथा' नामक नृत्य करती हैं जिसके दो भेद हैं—लुझीरी और झूमर। इसमें आगे बढ़ते समय की गति छोटी और झटकेदार होती हैं किन्तु पीछे का पग मन्द और सुन्दर होता है।

उत्तर प्रदेश

कत्थक नृत्य उत्तर प्रदेश का ही प्रमुख नृत्य है। यहाँ पहले और भी बहुत से नृत्य होते थे किन्तु उन लोक-नृत्यों का अब कहीं अधिक प्रचलन नहीं दिखाई पड़ता। ब्रज-भूमि की रास-लीला उस प्रदेश की मुख्य नृत्य-शैली है जिसमें भगवान् कृष्ण की प्रेम-लीलाओं का तथा अन्य लीलाओं का वर्णन होता है। इसका संगीत अत्यन्त मधुर, गीत सूरदास के काव्य के और गतियाँ बड़ी जटिल होती हैं जिनमें भाव-भंगी की प्रधानता है। पैरों की गति प्रायः कत्थक शैली की होती है। होली या डोल यात्रा के उत्सवों में ब्रजभूमि की स्त्रियाँ रंग और गुलाल लेकर नाचती-गाती हैं।

उत्तर प्रदेश का एक और प्रमुख तथा लोकप्रिय नृत्य रूप है नौटंकी, जो शुद्ध नृत्य-नाट्य है। इन नृत्य-नाट्यों में धार्मिक कथाओं, प्रेम-कथाओं और ऐतिहासिक कथाओं का प्राधान्य रहता है, किन्तु कुछ नौटंकियों में राजनीतिक और सामाजिक समस्याओं पर भी रचनाएँ हुई हैं, जिनमें भगतसिंह का बलिदान बड़ा मार्मिक है। नौटंकी की मण्डलियाँ घूम-घूमकर नौटंकी करती हैं, किन्तु वे इतनी फूहड़ और बीभत्स हो गयी हैं कि उनका मौलिक नृत्य रूप समाप्त हो गया है। नौटंकी में नगाड़े की प्रधानता होती है, किन्तु अब तो उसमें हारमोनियम और तबले का प्रवेश हो गया है और उसका मूल रूप बिगड़ चला है।

पूर्वी प्रदेश में वर्षा के साथ-साथ कजरी का गीत-नृत्य प्रचलित हो जाता है। झूला झूलने के साथ झूला-गीत भी चल पड़ते हैं। एक मण्डली ऊपर और नीचे को झूलती हुई चलती है और दूसरी कजरी गाती चलती है। किन्तु सत्य बात यह है कि मुसलमानों के राज्य-प्रभाव से इस प्रदेश का नृत्य-गीत समाप्त हो गया और जो कुछ रहा भी वह वेश्याओं के पास पहुँचकर लोक-सीमा से बाहर हो गया।

लोक-नृत्यों में अहीरों का नृत्य विवाह या पुत्र-जन्म के अवसर पर होता है, जिसमें ढोलक और काँसी बजाकर नृत्य करते हैं। ये नृत्य करने वाले कसा हुआ जाँघिया पहनते हैं जिस पर घुँघरू टँके रहते हैं और कमर में भी घुंघरुओं की पेटी बँधी रहती है। ऊपर का शरीर नंगा रहता है जिस पर वे भुजबन्ध और हार पहने रहते हैं। इस

नृत्य में कमर की नृत्यक्रिया बड़ी जटिल, सूक्ष्म और वेग-पूर्ण होती है इसलिए कमर में बँधे हुए घुँघरुओं की ध्वनि उसके प्रभाव को और भी बढ़ा देती है।

कहारों का कहार-नृत्य भी बड़ा विचित्र होता है, जिसमें वे बड़े वेग से घूमकर नाचते हैं। किन्तु उनकी कुछ मुद्राएँ बड़ी बीभत्स होती हैं।

चमारों का भी एक प्रहसनात्मक नृत्य नाट्य शैली का नृत्य होता है, जिसमें मुख्य कथा तो पौराणिक और धार्मिक होती है किन्तु साथ-साथ प्रहसन के लिए भी पर्याप्त क्षेत्र रहता है, जिसे भँड़ैती कह सकते हैं और जिसमें प्रायः सामाजिक व्यंग्य की प्रधानता रहती है।

वास्तविक लोक-नृत्य पहाड़ी प्रदेश में होते हैं। कुमाऊँ के झोरा नृत्य में सब जातियों के पुरुष और स्त्री भाग लेते हैं। स्त्रियाँ हाथ में हाथ डालकर गोला बनाकर सरल पद्धति से नृत्य करती हैं और पुरुष भी इसी प्रकार नृत्य करते हैं, जो कभी इकट्ठे बैठते हैं, कभी झुकते हैं और कभी खड़े होते हैं। इनका छपेली नृत्य प्रेमियों का नृत्य होता है, जिसमें स्त्रियाँ एक हाथ में दर्पण और दूसरे में रंगीन रूमाल लेकर नृत्य करती हैं। इनका जागर नृत्य बड़ा विचित्र होता है, जिसे बहुत कम

चित्र ८२—सम्मिलित भरतनाट्यम् नृत्य, मानवभारती (मसूरी)

लोग कर पाते हैं, क्योंकि उसमें प्रेतावेश का बाहुल्य होता है और यह विश्वास किया जाता है कि उससे अनेक विपत्तियों और रोगों का परिहार होगा।

गढ़वाल और हिमालय प्रदेश के सीमांत पर रहने वाली जानसार जाति में अनेक लोक-नृत्य प्रचलित हैं जिनमें स्त्रियों का थाली-नृत्य बहुत सुन्दर होता है। जद्दा और झइन्टा ऐसे उत्सव-नृत्य हैं जिनमें पुरुष और स्त्रियाँ मिलकर नाचते हैं। इनका एक छारा नृत्य भी होता है जिसमें पुरुष नगाड़े की ध्वनि के साथ हाथ में तलवार लेकर उद्धत नृत्य करते हैं।

पंजाब

पंजाब के किसानों का प्रमुख पौरुष नृत्य है भाँगड़ा जो इस नाम की ऋतु में अर्थात् गेहूँ बोने के समय से लेकर वैशाखी तक चलता रहता है। इस बीच प्रति पूर्णिमा की रात्रि को गाँव के सब युवक मैदान में एकत्र हो जाते हैं और ढोल की ध्वनि के साथ घंटों वेग से नाचते रहते हैं। इस नृत्य में कोई भी सम्मिलित हो सकता है। इसके नर्तक एक चक्कर में नाचते चलते हैं, अतः नृत्य के बीच में भी जितने लोग चाहें वे नृत्य में बाधा दिये बिना ही सम्मिलित हो सकते हैं। एक ढोलकिया इस गोले के बीच में ही गले में ढोलक लटकाकर खड़ा हो जाता है और उसके पीछे दो या तीन व्यक्ति होते हैं जो नृत्य प्रारम्भ कर देते हैं। भांगड़ा नृत्य का कोई विशेष नियम नहीं है। इसमें नर्तक लोग घूमते, बढ़ते, ताली पीटते, लाठियाँ घुमाते और होई-होई करते हुए हर्षोल्लास प्रकट करते हैं। नृत्य के बीच-बीच में ढोल्ला या बोली (पंजाब के परंपरागत लोक-गीत) गाये जाते हैं। इसके पश्चात् नृत्य पुनः प्रारम्भ कर दिया जाता है।

नृत्य के समय वे लोग चमकीला, रंगीन, रेशमी पटका (पगड़ी), लम्बा सफेद कुर्ता, उसके ऊपर चमकदार सफेद बटनों वाली बास्कट और लच्छा (लुंगी) पहनते हैं। साथ ही पैरों में घुँघरू भी बाँधते हैं।

भाँगड़ा के ही समान पंजाबी स्त्रियों का एक नृत्य है 'गिद्धा' जिसमें स्त्रियाँ गोला बनाकर नाचती हैं और सुन्दर गीत गाती हैं।

कुलू घाटी में प्राचीन आर्य और ऋषियों की सन्तान निवास करती हैं। वहाँ लगभग वैशाख तक से दशहरे तक मेलों का ताँता लगा रहता है जो स्थानीय देवताओं को प्रसन्न करने के लिए लगाये जाते हैं। इनमें पुजारी लोग भर पेट नाचते हैं। यह उत्सव चैत में गेहूँ और जौ पकने के समय प्रारम्भ होता है। मन्दिर से देवता की मूर्ति सजाकर बाजे-गाजे के साथ मैदान में ले आते हैं और उनके चारों ओर फूलों और सुन्दर वस्तुओं से सजे हुए ग्रामीण वेग से नाचना प्रारम्भ कर देते हैं। ज्यों ही एक मण्डल थकता है, दूसरा मण्डल स्थान ले लेता है। सजधज के साथ कपड़े पहने हुए स्त्रियाँ या तो उसे देखती हैं या अलग मण्डल बनाकर नाचने लगती हैं। कहीं-

कहीं पुरुष और स्त्रियाँ साथ भी नाचते हैं। दशहरे पर सर्वप्रधान देवता रघुनाथ (रामचन्द्रजी) के भक्त वहाँ की प्राचीन राजधानी सुलतानपुर में एकत्र होकर धूमधाम से उत्सव मनाते हैं और अनेक प्रकार के लोक-नृत्य करते हैं।

हिमाचल प्रदेश

हिमाचल प्रदेश में भी दशहरे के अवसर पर लोक-नृत्य का ही व्यापक प्रचलन है। चम्बा में तो लोग आनन्द के लिए ही नृत्य करते हैं और वहाँ के गद्दी (गड़रिये) इस नृत्य में बड़े कुशल सिद्ध हुए हैं।

राजस्थान

झूमर और घूमर ये दोनों राजस्थान के लोक-नृत्य हैं जिनमें वहाँ की स्त्रियाँ गनगौर, दीपावली और होली पर नाचती हैं। पूर्वी राजस्थान के सेखावाटी प्रदेश में एक अत्यन्त लोकप्रिय नृत्य होता है 'गिन्दाद', जिसमें होली से एक पखवारे पूर्व सब जातियों के लोग एकत्र होकर मंच पर खड़े होकर और हाथ में छोटे-छोटे डंडे लेकर रंग-बिरंगे वस्त्र पहनकर ढोलक की ताल पर नाचते हुए एक मुहल्ले से दूसरे मुहल्ले में जाते हैं।

राजस्थान में 'खयाल' नाम का एक प्रकार का नृत्य-नाट्य पिछले ४०० वर्षों से प्रचलित हुआ है। किन्तु वह लोक-नृत्य न होकर व्यावसायिक नृत्य है जिसमें व्यवसायी नाट्य-मण्डलियाँ ही नाचती हैं। प्रायः भवाई जाति के लोग ही इस प्रकार के लोक-नृत्य को बचाये हुए हैं। इन भवाई-नृत्यों की विशेषता यह है कि इनमें बड़ी तीव्र गति और मुद्राओं के द्वारा अभिनयपूर्ण नृत्य होता चलता है। इनमें स्त्रियों की भूमिका लड़के ही ग्रहण करते हैं। इन नृत्य-नाट्यों की कथा भी या तो दैनिक जीवन से सम्बद्ध होती है या ऐतिहासिक घटनाओं पर या ढोला-मारू की प्रेमकथा पर। उत्तर प्रदेश की नौटंकी के समान कभी-कभी उनमें फूहड़पन अधिक होता है।

मारवाड़ का कठपुतली नृत्य बहुत प्रसिद्ध है, जिसमें कठपुतली वाला तो कठपुतलियाँ नचाता है और उसकी स्त्री ढोलक पर गाती है।

थार मरुभूमि के सुदूर प्रदेश में गुरु गोरखनाथ के शिष्य सिद्ध जाठ रहते हैं जो अनेक प्रकार के यौगिक कौशल दिखलाते हैं। आग जला ली जाती है। वंशी और ढोलक बजने लगती हैं और गीत के साथ नृत्य होने लगता है। इन सिद्ध जाठों का एक मण्डल झट आग में कूदकर लगभग घंटे भर तक नृत्य करता रहता है। यह अग्नि-नृत्य गुरु जशनाथ की स्मृति में होने वाले चैत्र के मेले में होता है।

राजस्थान की पहाड़ियों में रहने वाले लोग भी विवाह आदि उत्सवों पर प्राचीन युग के युद्ध-नृत्य करते हैं, जिनमें पुरुष और स्त्रियाँ दोनों एक घेरे में घूमर नाचती हैं।

चित्र ८३—राजस्थानी नृत्य

होली के उत्सव पर पुरुष हाथ में डंडे लेकर 'गेर' नामक अत्यन्त उद्धत शक्तिशाली नृत्य करते हैं। घूमरा में गेर और घूमर दोनों का सम्मिश्रण होता है और यह भीलों का अत्यन्त आकर्षक नृत्य होता है। राजस्थान के बागड़िया लोग होली के उत्सव पर जो नृत्य करते हैं, उनमें स्त्रियाँ तो एक द्वार से दूसरे द्वार पर बागड़िया नृत्य करती हैं और पुरुष चंग बजाते हैं। इन नृत्यों में लय और ताल के बहुत रूप दिखाई पड़ते हैं।

राजस्थान के कालबेलिया (सपेरे) बड़े कलात्मक होते हैं। इनकी स्त्रियाँ नाच-गाकर पैसा कमाती हैं। उनके प्रिय नृत्यों में शंकरिया और पनिहारी बड़े प्रसिद्ध हैं। शंकरिया नृत्य में पुरुष और स्त्री सज-धजकर गोला बनाकर उस कथा का अभिनय करते हैं जिसमें एक युवक उस स्त्री के प्रति प्रेम प्रकट करता है जो किसी दूसरे से प्रेम

करती है। पनिहारी नृत्य उसी नाम के एक प्रसिद्ध प्रेम-गीत पर आश्रित है, जिसमें पुरुष और स्त्री भाग लेती हैं।

वहाँ के कामद लोग भूमिया परिवारों के विवरण गाते हैं और उनके लिए ही नाचते हैं। इस कामद मण्डली में दो पुरुष और दो स्त्रियाँ होती हैं। पुरुष तो एकतारा पर गाते और बजाते हैं और स्त्रियाँ अपने शरीर पर बहुत से मजीरे एक विशेष प्रकार से बाँधकर अत्यन्त कल्पनातीत और दुःसाध्य मुद्राओं में नाचती हैं। इन मुद्राओं द्वारा वे अनाज साफ करना, काटना, आटा गूंदना, रोटी बनाना, मथना, चरखा कातना और अटेरना प्रदर्शित करती हैं।

मध्य प्रदेश

मध्य प्रदेश के गोंड़ों का मुख्य नृत्य है कर्मा, जिसमें स्त्रियाँ हाथ में हाथ डालकर आयताकार सीधी रेखाओं में लय और ताल के साथ आगे-पीछे झूलती हैं। पुरुष अलग गोल घेरा बना लेते हैं और अत्यन्त वेग से उद्धत नृत्य करते हैं कुछ देर पश्चात् उनमें से कुछ नर्तक अन्य नर्तकों के कन्धों पर चढ़ जाते हैं और आगे-पीछे बढ़ने लगते हैं, जिसके साथ स्त्रियों की तालियाँ और ढोलक बजती चलती हैं। उसके पश्चात् कन्धों पर चढ़े हुए नर्तक उतरकर नृत्य-चक्र में प्रविष्ट होकर चक्कर काटते हुए निकलते हैं। ढोल की गति वेगपूर्ण और उच्चस्वरी हो जाती है और अत्यन्त कोलाहल के साथ नृत्य समाप्त हो जाता है। इन गोंड़ों ने झूमर नृत्य के समान और भी अनेक नृत्य-शैलियाँ निकाली हैं, जिनमें लकड़घोड़ (स्टिल्ट) का प्रयोग होता है। इनके द्वारा ये लोग थोड़े ही समय में दूर तक पहुंच जाते हैं। किन्तु ज्यों-ज्यों इन्हें सभ्य बनाया जा रहा है त्यों-त्यों इनकी प्राचीन नृत्य-कला समाप्त होती जा रही है। वहाँ वस्तर जाति में भी बहुत से लोक-नृत्य प्रचलित हैं। भादों की पूर्णिमा में ये लोग नवरानी नृत्य, माघ में देवारी नृत्य और चैत्र में चैत्र डंडा नृत्य करते हैं। खेतों में बीज बोते समय ये लोग बीज फुटनी नृत्य करते हैं। सावन में गोदो नृत्य करते हैं और वर्षा की देवी को प्रसन्न करने के लिए गोंचा नृत्य करते हैं। इन जातियों के युवक एक लक्ष्मी जागर नाम का नृत्य करते हैं जिसके लिए वे सेमल के वृक्ष के तले लक्ष्मी-प्रतिमा स्थापित कर देते हैं और फिर दूर-दूर गाँवों के युवक और युवतियाँ वहाँ आकर रात भर नृत्य करते हैं। यह नृत्य महीने भर तक इसी प्रकार चलता रहता है।

उड़ीसा

उड़ीसा भी लोक-नृत्यों का भण्डार है। वहाँ की प्राचीन जातियों में शाओरिया,

गदबा, युवांग, खोंद, गोंड़, बैगा और मुरिया लोगों के अपने अलग-अलग नृत्य हैं। इनमें मुरिया लोगों का वृषभ-शृंग विवाह-नृत्य भारत के सब लोक-नृत्यों में से अत्यन्त नयनाभिराम है। वहाँ एक झावो नृत्य होता है जो सराय केला के झावो नृत्य से भिन्न है। यह नृत्य पैका (उड़िया क्षत्री) योद्धाओं का युद्ध-नृत्य है। पैका लोग प्राचीन कथाओं के आधार पर भी अनेक नृत्य करते हैं, जैसे किरात-अर्जुन, गरुड़-वाहन आदि। इनका एक सामूहिक नृत्य है 'मायाशबरी' जिसमें यह कथा दिखायी जाती है कि सत्युग में विष्णु ने मोहिनी रूप से महादेव को मोहित किया था। पार्वती को इस पर बड़ा क्रोध आया अतः द्वापर में उन्होंने शबरी का रूप धारण करके कृष्ण को ऐसा मोहित किया कि वे कैलास पर्वत पर उनके पीछे-पीछे चले आये। इसी बीच महादेवजी प्रकट हुए और कृष्ण को मारना ही चाहते थे कि पार्वतीजी ने प्रकट होकर यह समझाया कि किस प्रकार मैंने आपके अपमान का बदला लिया है।

मयूरभंज के भूमिया लोगों के बहुत से नृत्य इस प्रकार हैं—इनमें करम (भाग्य) नामक नृत्य भाद्रपद की एकादशी को होता है, जिसमें शिवजी से प्रार्थना की जाती है कि हमें धन-धान्य-समृद्धि दें। करम के ही समान एक मुदरी नृत्य होता है।

भूमिया लोग अपने जाति-देवता गुरु बौंगा को प्रसन्न करने के लिए जादूर नृत्य करते हैं। इस उत्सव के समय गाँवों के लोग पहले तो 'पचूवराज' नामक चावल की मदिरा पीते हैं और फिर नृत्य करते हैं।

पुराने मध्य भारत के भीलों और बंजारों आदि में बहुत से नृत्य प्रचलित हैं। इनमें से दगला नृत्य तो केवल पुरुष ही अपने आमोद-प्रमोद के लिए करते हैं किन्तु पालि नृत्य में पुरुष और स्त्री दोनों भाग लेते हैं।

बंजारे लोग श्रावण में राखी पूर्णिमा को और काली अमावस्या को लंगी नृत्य करते हैं। इनमें पृथ्वीराज चौहान की वीरता के गीत गाये जाते हैं। घेरों में पुरुषों का समूह एक दूसरे के कंधे पर हाथ रखकर नृत्य करता है। कम्बीनो नृत्य में छः या आठ पुरुष घेरे में घूमते हैं और प्रत्येक नर्तक के कन्धे पर एक नर्तक रहता है। होली के दिन रंग खेलने के पश्चात् बंजारे लोग हाथ में तलवार लेकर आग-नृत्य करते हैं। इनमें से एक व्यक्ति स्त्री का वेश बना लेता और कुछ लोग बैठकर बाजे बजाते हैं। स्त्रियाँ अलग-अलग नृत्य करती हैं। इनके दो नृत्य प्रसिद्ध हैं—लोटा और सौन्दर्या। लोटा नृत्य में तो स्त्रियाँ सिर पर घड़े रखकर नाचती हैं। सौन्दर्या नृत्य में आमने-सामने वे दो पाँतों में खड़ी हो जाती हैं और हाथ में हाथ मिलाकर पीछे और आगे को झूलती हुई गाती-नाचती चलती हैं।

गुजरात

गुजरात का प्रसिद्ध नृत्य है गर्बा। नवरात्र में प्रत्येक घर में गर्वी या कलश की स्थापना की जाती है और गाँव भर की लड़कियाँ अपनी-अपनी गर्बी सिर पर रखकर एक घर से दूसरे घर तक जाती हैं और वहाँ के घर की स्त्रियों के साथ मिलकर घर की गर्बी को बीच में रखकर उसके चारों ओर नाचती हैं। इनमें से एक स्त्री पहले एक पंक्ति गाती है और शेष ताली बजाते हुए ताल के साथ उसे दोहराती हैं। प्रत्येक पग पर वे अत्यंत शोभा के साथ एक ओर को झुकती हैं और इस प्रकार आगे, पीछे, नीचे और दायीं-बायीं ओर झुक-झुककर नृत्य करती हैं।

सौराष्ट्र का एक विचित्र नृत्य है 'कोली स्त्रियों का टिप्पणी नृत्य'। बहुत सी कोली स्त्रियाँ हाथ में टिप्पणी (छत पीटने की दुरमिश जिनके ऊपरी भाग में घुँघरू बँधे रहते हैं) लेकर चक्कर या आधे चक्कर में नाचती हैं और पूर्ण ताल और लय में नाचती हुई फर्श या छत को पीटकर बराबर कर देती हैं।

गुजरात में रास या कृष्ण-लीला भी गर्बा शैली में ही प्रस्तुत की जाती है किन्तु उसमें पुरुष भी भाग लेते हैं। डाँडिया रास में नर्तक लोग घुँघरू बँधे हुए छोटे-छोटे डंडे लेकर नृत्य करते हैं। सौराष्ट्र वालों का विश्वास है कि कृष्णजी की पौत्र-वधू उषा ने तो लास्य नृत्य गर्बा चलाया और कृष्णजी ने रास नृत्य चलाया।

महाराष्ट्र

महाराष्ट्र का प्रसिद्ध व्यायाम-नृत्य है 'लेजिम' जिसमें अग्रगति, उछलना, झुकना, बैठना सब कुछ लेजिम के झटके के साथ होता चलता है। अब तो यह लेजिम नृत्य विद्यालयों में शारीरिक शिक्षा का अंग बन गया है।

वहाँ का सबसे अधिक और व्यापक नृत्य है दहीकला-दहीहाँडी नृत्य जो गोकुला-ष्टमी के अगले दिन होता है, जिसमें कृष्ण की दधि-माखनलीला का प्रदर्शन होता है और जिसमें सब जाति के लोग भाग लेते हैं। ग्राम-मन्दिर के द्वार पर दही की हाँडी फोड़कर सब नर्तक गोविन्दा-गोविन्दा चिल्लाते हुए घर-घर घूमते हैं। प्रत्येक घर में दही की हाँडी लटकी रहती हैं। ये नर्तक एक-पर-एक चढ़कर सीढ़ी सी बना लेते हैं और फिर कृष्ण बना हुआ बालक उन सबके ऊपर चढ़कर हाँडी फोड़ देता है। उस फूटी हुई हाँडी के टुकड़ों के लिए बड़ी छीना-झपटी होती है क्योंकि यह विश्वास किया जाता है कि जहाँ यह टुकड़ा रहेगा वहाँ दूध-दही की कमी न होगी।

वहाँ का एक नकटा नृत्य भी होता है जिसमें तीन पात्र होते हैं कोली, कोलिन

और नकटा, जो विशेष प्रकार की वेश-भूषा पहनकर मुखौटा लगाते हैं। ये लोग संगीत की गति पर गीत के भावानुसार अभिनय करते हैं और इनमें नकटा अत्यन्त प्रहसनपूर्ण अभिनय करता है जो बीच-बीच में बूऊ बुऊ, बुऊ, बुऊ ध्वनि करके बच्चों को डराता है या उनकी ओर ऐसा बाण छोड़ता है जो धनुष से बाहर निकलता ही नहीं।

वहाँ का कोलिचा नाच वास्तव में मछुओं का नृत्य है। इसमें नर्तक लोग बराबर-बराबर खड़े हो जाते हैं और लख्वी (नेता) और कोलिन उसकी पत्नी बीच में खड़ी हो जाती है। कोलिन अपना बायाँ हाथ अपनी कमर पर रखकर और दायें हाथ में रूमाल लेकर दोनों ओर दिखलाती है और उसी के अनुसार पैर भी मिलते और अलग होते चलते हैं। उसके साथ नख्वी एक हाथ में प्याला और दूसरे हाथ में मदिरा की बोतल लेकर बीचो-बीच में कोलिन को देता चलता है। अन्य मछुए दो पंक्ति में खड़े हो जाते हैं और हाथ में छोटे-छोटे नाव के डाँड़े लेकर नाव खेने का अभिनय करते हैं। इस नृत्य के समय जब वे अपना शरीर आगे या पीछे को चलाते हैं तब ऐसा प्रतीत होता है मानो समुद्र की लहरों पर नाव चली जा रही है।

दशावतार या बोहढ़ा महाराष्ट्र का लोक-नृत्य-नाटच है जो रंगमंच पर खेला जाता है। इसमें सूत्रधार गणपति और सरस्वती का स्मरण करके विष्णु के दसों अवतारों का आह्वान करता है और वहाँ राम और रावण के युद्ध और हिरण्य-कशिपु तथा नृसिंह का अभिनय किया जाता है। तमाशा भी महाराष्ट्र का लोक-नृत्य नाटच है। पहले तो यह सेनाओं के मनोरंजन के लिए और उनमें वीरता के भाव जगाने के लिए किया जाता था किन्तु ब्रिटिश शासन काल में यह अश्लील हो गया।

महाराष्ट्र की कन्याओं का अत्यन्त लोकप्रिय नृत्य फूँगड़ी है। यह वास्तव में एक प्रकार का खेल है जिसे प्रायः दो लड़कियाँ खेलती हैं और यदि स्थान हो तो और भी सम्मिलित हो सकती हैं। लड़कियाँ एक दूसरी के सामने खड़ी होकर अपने एक हाथ पर दूसरा हाथ रखकर अपने दोनों पंजों से दूसरी के पंजे पकड़कर दोनों पर मिलाकर और शरीर पीछे की ओर डालकर बड़े वेग से चक्कर काटती हैं। इन फूँगड़ी नृत्यों के बहुत प्रकार हैं जिन्हें मनोरंजन-नृत्य और व्यायाम सब कुछ समझना चाहिए।

दक्षिण भारत

दक्षिण भारत तो लोक-नृत्यों की खान है। बंजारों में प्रत्येक स्त्री को काम करने के साथ-साथ नाचना आवश्यक माना जाता है। बंजारा नृत्यों में फसल काटने-रोपने और बोने आदि नित्य के कार्यों का अभिनय होता है। इनकी वेश-भूषा बड़ी भड़कीली

होती है जिसमें बीच-बीच में काँच की गुहियाँ और चमकदार सलमे-सितारे लगे रहते हैं। उत्तरी हैदराबाद के गोंड़ लोग दशहरे के पश्चात् दो सप्ताह तक सब काम-काज छोड़कर सजधज के साथ एक गांव से दूसरे गाँव नाचते हुए चलते हैं और फिर वहाँ सब मिलकर नाचते हैं और हाथ में डंडे लेकर उलटे चक्र से घूमते हैं। ये ही डाँडरिया नर्तक कहलाते हैं जिसका प्रारम्भ डाँडरिया ने किया था।

तेलंगाना में स्त्रियों का एक नृत्य प्रचलित है जिसका नाम है बातकम्मा। कथा यह है कि एक राजपूत राजा की इकलौती बेटी सैजनबाई ने कोई घर का काम-काज नहीं सीखा। विवाह के समय वर पक्ष वालों ने इसे बुरा समझा इसलिए उसे घर का काम सीखना पड़ा जिसमें पहला था उपले पाथना। विवाह के पश्चात् वह अपनी सास को प्रसन्न न कर सकी इसलिए वह लौटकर जीवन भर अपने मायके रही। यह बातकम्मा नृत्य नव-विवाहिता स्त्रियाँ अत्यन्त भावनापूर्ण गति से करती हैं।

हैदराबाद के सिद्धी लोग जो बहमनी राजाओं के समय अफ्रीका से लाये गये थे अपने जातीय युद्ध-नृत्य करते हैं और हाथ में चमकदार तलवार और ढाल लेकर आदिम वेश-भूषा धारण करके बड़े वेग से नाचते हैं।

तंजौर के मुसलमान मोहर्रम के दिनों में शेर और मोर के वेश बनाकर शेर और मोर नृत्य करते हैं।

केरल और तमिलनाड में स्त्रियाँ कोलट्टम या डंडा नृत्य करती हैं। केरल तथा दक्षिण के अन्य भागों में एक कुम्मी नृत्य भी प्रसिद्ध है जिसमें स्त्रियाँ गोलाकार घूमती हुई फसल काटने का नृत्य करती हैं। एक स्त्री गीत की एक कड़ी गाती है और शेष उसकी टेक दुहराती हैं।

केरल का मोहिनी अट्टम् अत्यन्त सुन्दर नृत्य है जो भगवान् विष्णु की मोहिनी लीला पर अवलम्बित है। मलयाली लोगों में और भी बहुत से पौरुषपूर्ण नृत्य प्रचलित हैं। वहाँ के पुलयानों में कुछ मल्ल-नृत्य प्रचलित हैं। वहाँ कथकली को जन्म देने वाले यक्ष-गान और ओत्तमतुल्ला नामक नृत्य अब भी प्रचलित हैं। कथकली तो अब शास्त्रीय नृत्य का रूप ले चुका, किन्तु ये उसके पूर्वज कुछ कम रोचक नहीं हैं।

कर्नाटक में यक्ष-गान का प्रदर्शन ग्रामीण मनोरंजन का अत्यन्त सरल नृत्य-नाट्यात्मक साधन है। इसे खुले मैदान में फसल काटने के पश्चात् खेलते हैं। इसमें कथकली के समान ही वेश-भूषा तो धारण करते हैं पर मुखराग उतना जटिल नहीं होता। इसमें दो प्रकार के पात्र होते हैं, सौम्य और रौद्र। इसकी कथा रामायण और

महाभारत से ली जाती है। इसमें नर्तक लोग स्वयं या तो बीच-बीच में या मुख्य दृश्य के पश्चात् गाते हैं।

ओत्तमतुल्ला नृत्य को केरल में दीनों का कथकली नृत्य मानते हैं। इसका अर्थ है दौड़ना और कूदना। इसमें एक ही पात्र कथकली की वेश-भूषा धारण करके नृत्य करता है जिसके साथ एक ढोलकिया और मजीरा बजाने वाला पर्याप्त होता है। यह नृत्य लगभग १५० वर्ष पूर्व कंचन नम्बीयर ने प्रारम्भ किया था, जिसे राजदरबार से निकाल दिया गया था। उसका बदला लेने के लिए सड़क पर ही वह नृत्य करने लगा जिसका परिणाम यह हुआ कि वह अत्यन्त लोकप्रिय हो गया। क्योंकि इसमें कथकली की अपेक्षा व्यय भी कम होता था, किन्तु इसका प्रचार कम हो रहा है, क्योंकि अभिनय, गीत और नृत्य सबका भार एक ही व्यक्ति पर रहता है।

तमिलनाड का लोक-नृत्य कूरवंजी भी भरतनाट्यम् का वास्तविक पूर्वज है। इसके नर्तक पहाड़ी प्रदेशों के कुरातिस नामक घुमन्तू लोग हैं जो भाग्य बता-बताकर पैसा कमाते हैं। इसमें नृत्य करने वाली सुन्दरी कन्याएँ घूम-घूमकर नृत्य करती और भाग्य बताती चलती हैं यद्यपि भरतनाट्यम् की अपेक्षा इसका नृत्य-कौशल अत्यन्त सरल है किन्तु कूरबंजी भी कम आकर्षक नहीं है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि हमारे देश के विभिन्न प्रदेशों में अनेक प्रकार के प्राचीन और नवीन लोक-नृत्य, लोक-नाट्य तथा लोक-नृत्य-नाट्य प्रचलित हैं, किन्तु कला की दृष्टि से कत्थक, मणिपुरी, भरतनाट्यम् और कथकली नृत्य ने लोक-वृत्ति को इतना प्रभावित किया है कि उनका रूप एक प्रकार से इतना व्यवस्थित हो गया है कि शास्त्रीय न होते हुए भी उन्हें लोग शास्त्रीय ही कहते और समझते हैं।

अध्याय ३४

विदेशी नृत्य-पद्धतियाँ

आदिम जातियों के लोगों में प्राय: सिर, पीठ, नितम्ब, हाथ, उँगलियाँ, पैर तथा मुख के सब पुट्ठे चलाये जाते हैं। कुल जातियों के नृत्यों में तो अत्यधिक शारीरिक परिश्रम पड़ता है जिनमें उछल-कूद भी बहुत होती है और अंग भी बहुत मरोड़े जाते हैं, जैसे—मौरी जाति के युद्ध-नृत्य हाका में। किन्तु साधारणत: नृत्य में हाथ-पैर ही अधिक चलते हैं। आदिम जातियों के कुछ नृत्य केवल अनुकरणात्मक होते हैं, जैसे आस्ट्रेलिया के टोटेनी नृत्यों में अनुकरण की प्रधानता है।

नृत्य में मुख्यत: तीन बातें होती हैं—१. किसी तीव्र आवेग की प्रेरणा से पुट्ठों की तात्कालिक क्रिया, जैसे—सामाजिक हर्ष या धार्मिक भावावेग, २. सुन्दर गतियों के निश्चित मेल जो नर्तक या दर्शक के आनन्द के लिए दिखाये जाते हैं। ३. सावधानी से शिक्षित वे गतियाँ जिनके द्वारा कोई नर्तक दूसरे लोगों की क्रियाओं और भावों को प्रदर्शित करता है। हुइतजिलो-पोखटली देवता के सम्मान में मैक्सिको में जो भोज दिया जाता है उसमें पुरुष और स्त्रियाँ एक दूसरे के गले के पीछे अपने दोनों हाथ डालकर और हाथ बाँधकर एक दूसरे से आलिंगन करते हुए नृत्य करते थे जो यूनानी बाल नृत्त के समान या बीयर्स फीट के समान होता था। अत्यन्त प्राचीन पिरोबियन नृत्त में सैकड़ों व्यक्ति अपने आगे वाले व्यक्ति से अगले व्यक्ति का हाथ पकड़कर लम्बी शृंखला बनाते थे और सब मिलकर तीन-तीन पग आगे और पीछे बढ़कर नृत्य करते हुए 'इनका' के सिंहासन तक पहुँचते थे। उत्तर एशिया की ओस्तियाक जाति में भेड़िये, रीछ तथा अन्य जंगली जीवों का अनुकरण कर नृत्य करते हैं। इसी प्रकार कामचदेल लोग अपने नृत्त में भालू, कुत्तों और चिड़ियों का अनुकरण करते हैं। तटप्रदेशीय हब्शी अपने कुरु नृत्यों में आखेट के दृश्यों का प्रदर्शन करते हैं। इसी प्रकार कांगो नदी तटवासी लोग गुरीलों की गतियों और स्वभाव का नृत्यानुकरण करते हैं। दमारा नृत्य में बैलों और भेड़ों की गतियों का अनुकरण होता है, जिसमें चार पुरुष अपना सिर नीचा करके मुँह से कठोर ध्वनि निकालते हुए नृत्य करते हैं। पुश्मैन लोगों के नृत्य में लम्बी, अनियमित कुदानें होती हैं जो वे बछड़ों के झुण्ड के अनुकरण में करते हैं। होतेंत लोग

बैबून का अनुकरण करने के लिए अपने चारों हाथ-पैर पर चलते ही हैं पर साथ ही मधुमक्खियों के भिनभिनाते हुए झुण्ड का भी नृत्याभिनय करते हैं। बोर्नियो के केनीविथ लोग नृत्य के लिए हरिण का अनुकरण करते हैं। आस्ट्रेलिया और टस्मानिया वाले अपने कोरोबी नामक नृत्यों में मेंढक और कँगारू का तथा एमू पक्षी के आखेट का अभिनय करते हैं। इसमें बहुत से लोग आग के चारों ओर घूमते हुए चारों ओर तीर फेंकते हुए इस प्रकार चलते हैं मानो एमू पक्षी दोनों ओर चुग्गे के लिए अपनी चोंच चला रहा हो। गोंड़ लोग विशन के आखेट का अभिनय करते हैं जिसमें एक व्यक्ति विशन की खाल और सींग लगाकर उसकी भूमिका ग्रहण करता है। इसी से मिलते-जुलते वे कृत्रिम युद्ध हैं जो प्राय: सभी जातियों में प्रचलित हैं। विन्ध्य पहाड़ियों के भीलों के दहोमन और होली नृत्य इसी प्रकार के होते हैं। कभी-कभी इन नृत्यों में प्रहसन का भी तत्त्व होता है, जैसे—फिजी के मुद्गर नृत्य में, जिसमें एक विदूषक मुखौटा पहनकर पत्तियों से शरीर ढककर नृत्य करता है। इसी प्रकार ग्वाटेमाला में एक लोक-नृत्य (बैले) होता है जिसमें सब नर्तक जानवरों की खाल और चेहरे लगाकर कृत्रिम युद्ध करते हैं जिसमें हरिण के सींग लगाने वाले लोग विजयी होते हैं।

प्राय: सभी वन्य जातियों में किसी न किसी प्रकार का युद्ध-नृत्य होता है जिसमें वे योद्धा की वेश-भूषा बनाते हैं, अस्त्र-शस्त्र लेते हैं और संघर्ष, आह्वान, आक्रमण और पराजय का चित्रण करते हैं और जिसमें स्त्रियाँ सदा संगीत से प्रेरणा देती हैं।

नेटाल के काफिरों का एक बड़ा रमणीक नृत्य होता है जिसमें युद्ध के लिए वीरों की विदाई का प्रदर्शन होता है। इस नृत्य में स्त्रियाँ अत्यन्त करुणा के साथ पुरुषों से अनुरोध करती हैं जो धीरे-धीरे पृथ्वी पर पैर पटकते हुए पीछे हट जाते हैं और अपने असेगेई या छोटे-छोटे भाले आकाश में भाँजते हुए चले जाते हैं। मैडागास्कर में जब पुरुष युद्ध पर चले जाते हैं तब स्त्रियाँ दिन भर इस विश्वास के साथ नाचती रहती हैं कि इससे युद्ध में उनके पतियों को साहस मिलेगा। किन्तु अब ये सब युद्ध-नृत्य लगभग बन्द हो गये हैं। इन प्राचीन नृत्यों में प्रेम, विवाह, मृत्यु, श्रम की पूजा, लुनाई और बोआई तथा जीवन के अन्य दृश्य और खेल दिखाये जाते थे। युकेटन में एक व्यक्ति डरता हुआ चक्कर में नाचता था और दूसरा उसके पीछे बोहोरडा या बेंत फेंकता हुआ चलता था। इसी प्रकार टस्मानिया में स्त्रियों के नृत्यों में वृक्षों की जड़ खोदने, मछली पकड़ने, बच्चों का पालन करने और अपने पतियों से कलह करने के दृश्य प्रदर्शित किये जाते थे। टोड़ा लोगों के अन्त्येष्टि नृत्यों में आगे और पीछे चलने और हा-हू की ध्वनि के साथ नृत्य करने की प्रथा है। दहूमी में लोहार, बढ़ई,

शिकारी, योद्धा और चारण अपने-अपने उपकरण लकर एक विचित्र प्रकार के नाटकीय नृत्य करते हैं। जंगली वेडा लोग तो बहुत से रोग अच्छे करने के लिए भयंकर प्रेत नृत्य करते हैं। किन्तु यह वैसा ही है जैसे हमारे यहाँ ओझा और सोखा लोग किया करते हैं।

यूरोपीय नृत्य (१५ से १९वीं शताब्दी)—सर्वप्रथम इटली में १५वीं शताब्दी में नृत्य का पुनरुद्धार हुआ और फ्रांस को तो वर्तमान सभी कलाओं की पोषण-भूमि समझना चाहिए, क्योंकि वहाँ सब देशों के राष्ट्रीय नृत्य सीखे गये, अध्ययन किये गये और पूर्ण किये गये, यहाँ तक कि अँगरेजी या बोहिमियन नृत्य जो किसान लोग करते थे वह भी फ्रांस में पहुँचकर, परिष्कृत होकर पुनः उस देश में ऐसा पहुँच जाता था कि यही पहचान नहीं होती थी कि यह यहाँ का है या बाहर का। वर्तमान यूरोपीय नृत्यों से सम्बन्ध रखने वाले सर्वप्राचीन नृत्य सम्भवतः १६वीं शताब्दी के दानसे बासे और दानसे हाउते हैं। दानसे बासे तो नवम चार्ल्स की राजसभा और सज्जनों का नृत्य था जिसमें सभी गतियाँ अत्यन्त गंभीर और भव्य थीं और उसके साथ धार्मिक गीत की धुन चलती रहती थी। किन्तु दानसे हाउते या बाला दिने में उछलने की गतियाँ होती थीं जिनका केवल विदूषक या गाँव के लोग अभ्यास करते थे। कैथराइन द मैदिसी ने इटली से फ्रांस में गायेलार्दे और वोल्ता नामक अत्यन्त सजीव नृत्य लाकर चलाये किन्तु ये भी नयनाभिराम मात्र थे। उस युग के अन्य नृत्यों में ब्रान्ले (जिसे इंग्लैण्ड में ब्रौले कहते थे) नामक एक नृत्य-प्रकार चला जिसमें असंख्य भेदोपभेद हो सकते थे। इस प्रकार कुछ अनुकरणात्मक नृत्य (ब्रान्ले मिमे) चले, जैसे—ब्रान्ले द अरमिते, ब्रान्ले द फ्लाम्ब्यू और ब्रान्ले द लवान्दिये। ब्रान्ले के मूल रूप में वैसे ही पद-संचार होता था जैसे अलेमान्दे में।

उस युग का सबसे अधिक प्रसिद्ध और भव्य नृत्य था स्पेनी नृत्य का एक रूप 'पवाने' जो नृत्य की अपेक्षा यात्रा के रूप में होता था, जिसमें स्त्रियाँ अपने कड़े कपड़ों में और पुरुष अपने भारी टोप लगाकर और तलवार लटकाकर नाचते चलते थे। पवाने और ब्रान्ले इन दोनों के अतिरिक्त १७वीं और १८वीं शताब्दी के सभी नृत्यों में चुम्बन की रीति बड़ी लोकप्रिय और व्यापक थी। दूसरा अत्यन्त लोकप्रिय नृत्य सारा बान्द था जो १७वीं शताब्दी में समाप्त हो गया। यह भी मूलतः स्पेनी नृत्य था। इसके साथ बजने वाली गत इतनी लोकप्रिय हुई कि सभी गिटार बजाने वाले उसे सीखने लगे और एक सज्जन ने तो अपने ८०वें वर्ष में यहाँ तक कामना प्रकट की कि अन्तिम समय में मुझे सारा बान्द की गत सुनने को मिले तो मेरी आत्मा हर्ष के साथ जा सके। कोरान्ते एक प्रकार का सभा-नृत्य था जिसे अँगूठों पर उछलकर

पद-संचार के साथ नाचते थे और जिसमें बहुत बार झुकना और घुटने झुकाकर नमन करना अधिक होता था। मिनोए और वाल्मज़ नामक दोनों नृत्य उसी से निकले थे और यह कुरान्ते स्पेन के सेगुइडिल्ला नृत्य से बहुत कुछ मिलता-जुलता था। १४वें लुई की राजसभा में यह नृत्य इतना सम्मान्य था कि जिसे यह नृत्य नहीं आता था उसे सज्जन नहीं समझा जाता था।

फ्रांस में यदि कोई नृत्य पूर्णता को प्राप्त हुआ तो वह मिनाए था। यह भी एक प्रकार का ग्राम-नृत्य था जो मूलतः पोइतू का ब्रान्ले नृत्य था और कुरान्ते से निकला था जो सन् १६५० में पेरिस में लाकर संगीत से सम्बद्ध कर दिया गया। पहले तो यह अत्यन्त उल्लासपूर्ण नृत्य था किन्तु आगे चलकर यह बहुत गम्भीर और उदात्त हो गया। लुई १५वें के राज-काल में इसमें दो-दो व्यक्ति साधारण त्रिताल में नाचते थे और इसके पीछे गवोते गति होती थी। आगे चलकर यह रंग-नृत्य हो गया और अब तो उसमें और भी बहुत प्रकार की नृत्य-गतियाँ और पद-संचार मिला दिये गये हैं। यह नृत्य इतना मांज दिया गया कि उसमें नृत्य करने वाली कन्याओं की मदभरी आँखें और मुस्कराते मुखड़े, सैकड़ों मन्द और कलापूर्ण हाव-भाव के साथ गतियाँ, नमन, स्थिरता, वेश-भूषा की भव्यता आदि इतनी मनोरम और सुन्दर होती थी कि अब वे दृश्य देखने को नहीं मिलते। वर्तमान ध्वनि-मेल (सिम्फनी) में मिनोए की ताल का समावेश हो जाना ही इस बात का प्रमाण है कि सभ्य समाज में उसका क्या महत्त्व था।

मिनोए के अन्त में नाचा जाने वाला गवोते नृत्य भी मूलतः ग्राम-नृत्य (दान्से द गवोत्सथ) था जिसमें चुम्बन और उछल-कूद की अधिकता होती थी। किन्तु यह भी आगे चलकर इतना कृत्रिम हो गया कि १८वीं शताब्दी के मध्य में चुम्बन के बदले महिलाओं को फूलों के गुच्छे दिये जाने लगे और फिर यह मंच-नृत्य हो गया और नृत्यशाला में स्थान प्राप्त नहीं कर सका।

फ्रान्स के अन्य नृत्यों में एकोसाइ, कोतिलोन (जो ग्राम ब्रान्ले से निकला था और जिसमें महिलाएँ छोटी लहँगियाँ पहनकर नाचती थीं), जर्मनी से लाया हुआ गालोप, १८३६ में लाबोदे द्वारा आविष्कृत लान्सर, सन् १८४० में प्रेग से लाया हुआ पोलका, सन् १८४४ में पहली बार प्रयुक्त होने वाला बोहिमियन नृत्य शोतीसे, फ्रान्सीसी काष्ठ-नृत्य, बूरी, क्वाड्रिले (जिसे १८वीं शताब्दी में कोन्तरे दान्से कहते थे) और वाल्मज़ जिसे फ्रांस का हेनरी तृतीय वोल्ता के रूप में नाचता था—ये सब थे।

स्पेन के नृत्य

यूरोपीय नृत्य का वास्तविक आवास स्पेन है। वहाँ वह लोगों के दैनिक और

राष्ट्रीय जीवन का मुख्य अंग है। यद्यपि वहाँ बहुत प्राचीन काल से नृत्य चले आ रहे हैं और उनमें परिवर्तन भी बहुत कम हुए, किन्तु १०वीं शताब्दी तक के नृत्य ज्यों के त्यों चले आ रहे हैं। अत्यन्त प्राचीन काल में कैडीज़ की नर्तकियाँ रोम में नृत्य करने जाया करती थीं, किन्तु अरब आक्रमण के पश्चात् उनमें शिथिलता आ गयी, फिर भी वे ज्यों के त्यों बने रहे। सर्वप्राचीन नृत्यों में टर्डीयन, गिबीडाना, पीएडी गीबाओ, मडामा और लीयान्स, अलेमाना और पवाना हैं। फिलिप चतुर्थ के समय नाट्य-नृत्य बहुत लोकप्रिय थे और बड़ी सज-धज के साथ नृत्य-नाट्य खेले जाते थे। ये इतने लोकप्रिय हुए कि १८वीं शताब्दी में ज़राबान्डा और चाकोना नृत्य लगभग समाप्त हो गये और वर्तमान स्पेनी नृत्य बोलेरो, सेगुइडिल्ला और फन्डांगो का प्रचलन हुआ।

इन नृत्यों में फन्डांगो सबसे अधिक महत्त्व का है जिसमें दो व्यक्ति ६-८ ताल में नृत्य करते हैं। पहले तो इसे धीरे और कोमलता के साथ प्रारम्भ करते हैं जिसमें केस्टेनेस्टस (दो खोखले हाथीदाँत के या लकड़ी के खोपड़े लेकर झाँझ के समान बजाये जाने वाले वाद्य-यंत्र) के खटके देकर, उँगलियाँ चटकाकर या पैर पटककर ताल देते हैं और फिर धीरे-धीरे गति इतनी बढ़ा लेते हैं कि अत्यन्त वेग से घूमने लगते हैं। फन्डांगो और सेगुइडिल्ला दोनों की एक विशेषता यह है कि प्रत्येक टुकड़े पर सहसा संगीत रुक जाता है और नर्तक भी उसी स्थिति में कठोर होकर खड़े हो जाते हैं जहाँ संगीत बन्द होता है और तभी पुनः प्रारम्भ करते हैं जब संगीत प्रारम्भ होता है, मानो बिजली के बटन से उनका संचालन हो रहा हो। इसमें गिटार, वायोलिन की ध्वनि, जूतों की एड़ियों (टापूनियोस) की खट्-खट्, उँगलियों और केस्टेनेस्ट्स की चटचट, नर्तकों का कलापूर्ण झूलना सब अत्यन्त आकर्षक होता है।

बोलेरो बहुत इधर का नृत्य है जिसे चार्ल्स तृतीय के समय प्रसिद्ध नर्तक सिबेस्टियन कैरोज़े ने आविष्कृत किया था। कहा जाता है कि यह प्राचीन उद्धत और स्वच्छंद ज़राबान्दा नृत्य से निकाला गया था और इसमें हाथ की अत्यन्त स्वच्छन्द गति चलती है। बोलेरो का पद-संचार नीचा और फिसलन-पूर्ण होता है किन्तु पूर्ण ताल में होता है। इसमें एक या कई जोड़े एक साथ नृत्य कर सकते हैं। सेगुइडिल्ला नृत्य फन्डांगो के समान ही होता है और उसी के समान प्राचीन भी है। स्पेन के प्रत्येक प्रान्त में अपने-अपने सेगुइडिल्ला होते हैं जिनके साथ पद्य (होप्लास) गाये जाते हैं। क्योंकि स्पेन के राष्ट्रीय संगीत में इन्हीं का प्राधान्य है।

आरागौन का राष्ट्रीय नृत्य है जोटा, जो अत्यन्त उल्लासपूर्ण, सुन्दर, भव्य और मौन है। यह १६वीं शताब्दी के पासा काइले नामक नृत्य से निकला था। अब भी धार्मिक नृत्यों में इसका प्रयोग होता है। कोचूका नृत्य चलता और सुन्दर नृत्य है जो

त्रिगतिक ताल में नाचा जाता है। इसमें एक ही नर्तक या नर्तकी नाचती है और इसमें सिर तथा कन्धों की गतियाँ ही अधिक होती हैं। स्पेन के अन्य प्रादेशिक नृत्यों में जिप्सियों का चक्कर नृत्य, जलेओडी ज़ेरेज़, पलोतिया, पोलो, गलेगाडा, मुइनियेरिया, हाबसवर्डेस, जापाटियाडो, ज़ारोंगो, विटो, टिरानो और ट्रिपोला ट्रपोला ये सब नृत्य या तो स्थान के नाम पर हैं या रचयिता के नाम पर, और बहुत कुछ फन्डांगो और सेगुइडिल्ला से मिलते जुलते हैं।

ग्रेट ब्रिटेन के नृत्य

ग्रेट ब्रिटेन के सभा-नृत्य तो वे ही थे जो फ्रान्स के थे किन्तु कुछ नृत्य वहाँ के अपने राष्ट्रीय हैं, जैसे—अण्डा नृत्य, (एग डान्स) और कैरोल। ये दोनों सेक्सनी नृत्य हैं, इनमें से कैरोल तो यूलटाइड उत्सव-नृत्य था जिसका वर्तमान रूप क्रिसमस कैरोल है। इंग्लैण्ड में सबसे प्राचीन नृत्य, जो आज तक अपरिवर्तित चले आते हैं, मोरिस नृत्य हैं। प्राचीनपंथी (प्योरिटन) शासन में नृत्य लगभग समाप्त हो गये, किन्तु पुनरुद्धार काल (रेस्टोरेशन) में वे पुनः लोकप्रिय हो गये और रानी ऐन के समय १८वीं शताब्दी के प्रारम्भ में उनका पुनः संस्कार हुआ।

स्कॉटलैंड के शुद्ध राष्ट्रीय नृत्य हैं—रील, स्ट्रेथ्स्पे और फिलिंग। आयरलैंड में जिग नाम का राष्ट्रीय नृत्य है जिसके अनेक भेद हैं। उसमें भावों का प्रदर्शन अधिक होता है और अत्यन्त उन्मादपूर्ण उल्लास से लेकर ग्राम्य शोक तक प्रदर्शित कर दिया जाता है। वेल्स के लोग भी नृत्य तो बहुत करते हैं किन्तु उनका कोई अपना राष्ट्रीय नृत्य नहीं है।

१९वीं शताब्दी के नृत्यों में सबसे अधिक लोकप्रिय वाल्वज़ है जिसे फ्रान्सीसी, इतालवी और बैबेरिया वाले सब अपना बताते हैं किन्तु यह वास्तव में जर्मनी से आया था। यह सत्य है कि यह फ्रान्सीसी बोलने का परिष्कृत रूप है जो खुद भी प्रावेन्स के लबोलता नामक प्राचीन फ्रान्सीसी नृत्य का परिष्कृत रूप है। लबोलता नृत्य १६वीं शताब्दी में बड़ा सम्मान्य था।

वाल्वज़ आ त्रोए त्रेम्पस में फिसलन पद-संचार होता था और घुटनों की गति अधिक होती थी। इसमें गति मध्यम होती थी जिससे प्रत्येक टुकड़े की तीनों तालें स्पष्ट दिखाई पड़ें। आजकल पूरे कक्ष में इधर से उधर चलना और बीच-बीच में तोड़ देना तथा अपने साथी को पीछे की ओर को ढकेलना, ये सब अंग्रेजी पद्धति की चीज़ें हैं, वाल्वज़ की नहीं, किन्तु वाल्वज़ के नर्तक को सब दिशाओं में घूमने, पैर चलाने और उलटा चलने का अभ्यास होना ही चाहिए। वास्तविक वाल्वज़ नृत्य में पैर भूमि से

उठना ही नहीं चाहिए। वाल्वज़ के कुछ और भी विकृत रूप हैं जिनमें लोग उछलते भी हैं और कूदते भी हैं।

क्वाड्रिले नृत्य बहुत पुराना है जिसे विजयी विलियम नारमंडी से इंग्लैंड में लाया था। यह १६वीं और १७वीं शताब्दी में बड़ा लोकप्रिय हुआ। क्वाड्रिले का अर्थ है एक प्रकार का तास का खेल। क्वाड्रिले में फ्रान्सीसी मिनाए के सब सौन्दर्य-पूर्ण कौशल विद्यमान हैं।

लांसर्स नृत्य फ्रान्स से इंग्लैंड में सन् १८५० में लाया गया। पोलका नृत्य जो बोहिमियन राष्ट्रीय नृत्य है वह १८३५ में प्रेग में स्वीकार किया गया, जहाँ से वह वियेना में फैलता हुआ पेरिस तक आ गया और फिर इंग्लैंड तथा अमेरिका में फैल गया। वास्तविक पोलका में तीन हलके उछलन पद-संचार होते हैं जो चार कंपन कड़ी (फोर क्वेवर बार) प्रथम तीन ताल पर नाचा जाता है और अंतिम ताल पर विश्राम लिया जाता है तथा दूसरे पैर का अँगूठा पृथ्वी पर जमे हुए पैर की एड़ी के पास पहुँचा दिया जाता है।

गैलप वास्तव में हंगरी का नृत्य है जो सन् १८३० में पेरिस में बड़ा लोकप्रिय हुआ, किन्तु बोलते और कुन्त्रेडान्से (ग्राम-नृत्य) के पश्चात् प्रायः गैलप से मिलता-जुलता नृत्य हुआ ही करता था। वहाँ के किसानों में एक कुठला नृत्य (बार्न डान्स) होता है जो १९वीं शताब्दी के अन्त में गाँवों में बहुत प्रचलित हुआ और अमेरिका से आया। गाँव के लोग अनाज रखने का कुठला बनाकर अपने सब पड़ोसियों को बुलाकर काम पूरा करने के बाद मिलकर नाचते हैं, जिसके साथ बेला या अन्य तार के बाजे बजाये जाते हैं। इन कुठला नृत्यों में पॉल जोन्स नामक नृत्य होता है जिसमें बहुत से जोड़े नाचते हैं और एक संचालक (कालर) सबको आदेश देता है।

वाशिंगटन पोस्ट शुद्ध अमेरिकी नृत्य है।

पोलका-मजूरका वियेना और बुडापेस्ट में बहुत प्रचलित है। इस नृत्य की छः गतियाँ दो कड़ियों और ३–४ ताल पर चलती हैं जिसमें पोलका के साथ मजूरका पद-संचार भी मिला रहता है। यह पोलिश नृत्य है। पोलानायसे और मज़रका दोनों ही पोलिश नृत्य हैं जो रूस और पोलैंड में बहुत प्रचलित हैं। शोतिसे भी एक प्रकार का परिष्कृत पोलिका है जिसे सन् १८५० में मार्कोवस्की ने प्रचलित किया था। हाइलैण्ड सोतिसे एक प्रकार का झटके का नृत्य है। फिलिंग और रील भी कैल्टिक नृत्य हैं जो स्कॉटलैण्ड और डेन्मार्क के राष्ट्रीय नृत्य समझे जाते हैं, जिनमें बहुत नियमित जटिल तालें हैं और जिनमें हाथ का, चिल्लाने और पैर पटकने का स्वतंत्र प्रयोग होता है। स्ट्रेत्सपे एक प्रकार का मन्द और रील का भव्य परिष्कृत रूप है।

प्राचीन अंगरेजी सामाजिक नृत्यों में सरवाज़रडी कार्वली बड़ा प्रसिद्ध नृत्य है। यह एक प्रकार का अत्यन्त उल्लासपूर्ण खेल है जिसमें पुरुष और स्त्रियाँ एक दूसरे के सम्मुख दो पंक्तियों में खड़े हो जाते हैं और यह नृत्य इस प्रकार किया जाता है कि सब नर्तक अपना स्थान इस प्रकार बदलते चलते हैं कि नृत्य के अन्त तक सब एक दूसरे के साथ नाच लेते हैं, जैसा हमारे यहाँ रास में होता है।

कोन्तीलोन भी उसी नाम के फ्रान्सीसी नृत्य का वर्तमान रूप है। यह अत्यन्त विशद नृत्य है जिसमें बहुत से खिलौने, मोमबत्तियाँ, बिस्कुट, गुब्बारे आदि का प्रयोग होता है और जिसे सैकड़ों प्रकार से नाचा जा सकता है। वर्तमान बाले या बैले का सर्वप्रथम प्रयोग सन् १४८९ में मिलान के ड्यूक गेलियाज़ो के सम्मुख टोर-टोना में हुआ था। फिर तो यह यूरोपीय राजसभाओं में बहुत लोकप्रिय हो गया। इसमें पाँच अंक होते थे, प्रत्येक अंक में बहुत प्रवेश (एन्त्री) होते थे और प्रत्येक प्रवेश में कई क्वाद्रिले नृत्य होते थे।

जापान के नृत्य

जापान के नृत्य की बड़ी विचित्र कथा है। ८वीं शताब्दी के कोजिकी के अनुसार जब आमात्रिरासु (सविता देवता) अस्ताचल की गुफा में जाकर विश्राम करने लगे तब अमा-नो-उजुमेनू-मिकोतू ने उसे गुफा से बाहर निकालने के लिए गुहा-द्वार पर नृत्य किया। आज का पवित्र कबूरा नृत्य इसी घटना के नृत्य से सम्बद्ध माना जाता है। यह वर्णन मिलता है कि सम्राट् इन्क्यो ने तो सन ४१९ में वा-गोन (जापानी वाद्य) को बजाया और सम्राज्ञी ने नृत्य किया। सन् ५४० में जब सात सहस्र चीनी परिवार जापान में पहुँचे तो वे अपने साथ अपने संस्कार भी लेते गये। चीन और कोरिया के चित्रमय नृत्य आज भी प्रति छमाही में वंशी की ध्वनि और पंखों के संचालन के साथ कन्फूची के अनुयायियों द्वारा नाचे जाते हैं। सन् १३६७ से १३९५ तक असीकागा सोगुन नामक नृत्य के लिए योसू मित्थुका नृत्य-विद्यालय स्थापित किया गया। इस सोगुन में चीन की भी अनेक ऐतिहासिक कथाएँ नाटकीय नृत्य में ले ली गयीं। क्वा-नामी क्योत्सुगु (१४०६) ने जब नो नाटक प्रारम्भ किये और उसके प्रसिद्ध पुत्र सेयामी मोटोक्यो ने उसका विस्तार किया, तब नृत्य भी राष्ट्रीय रंगशाला का प्रमुख अंग हो गया। १६वीं शताब्दी में प्रसिद्ध सुन्दरी नर्तकी ओकुनी ने सम्पूर्ण सभ्य समाज में नृत्य लोकप्रिय कर दिया। किन्तु १६४३ में जब नर्तक-समाज में स्त्रियों के कारण भ्रष्टाचार फैलने लगा तो मंच पर स्त्रियों का नृत्य बन्द कर दिया गया और केवल पुरुष अभिनेता ही कोरिया तथा चीन की प्राचीन रीति का अनुसरण करते रहे। वाल्वज़

और द्विपदी (टू स्टेप्स) आदि पश्चिमी बाल रूम नृत्य भी १९वीं शताब्दी के अन्त में जापान में प्रचलित हुए किन्तु वे शीघ्र ही छोड़ दिये गये।
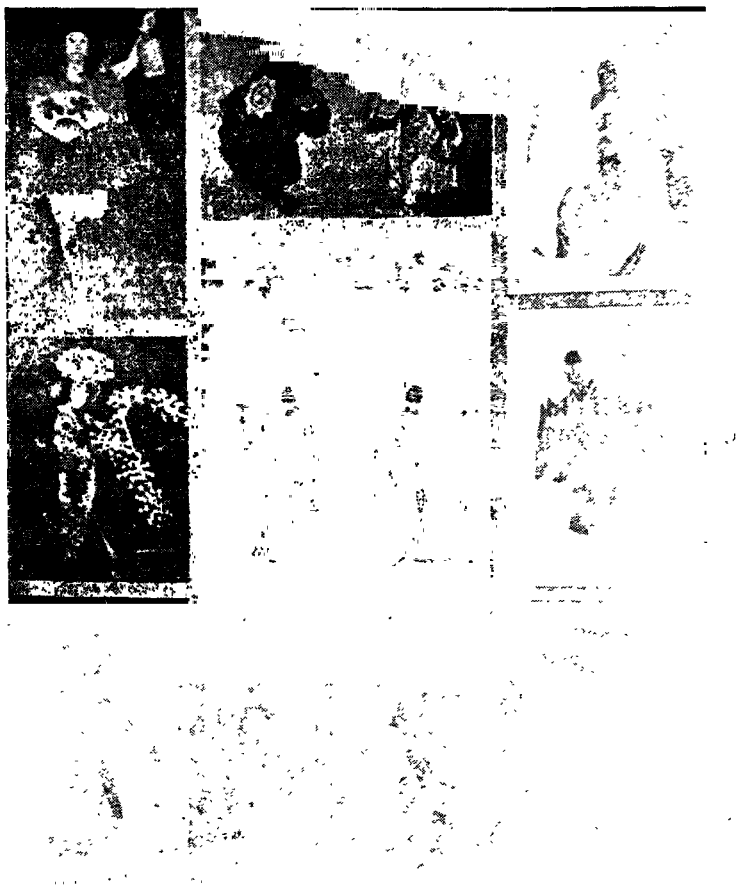
चित्र ८४—गेइशा और अभिनेताओं के विविध जापानी नृत्य

जापान का सुन्दर नृत्य होता है गेइशा बालिका नृत्य, जो केवल गेइशा तथा अन्य व्यवसायी नर्तकियाँ ही नहीं प्रदर्शित करतीं वरन् यह नो नृत्य के साथ भी होता है और जो कबूकी नामक प्राचीन अभिनय-शैली का मुख्य अंग होता है। क्योंकि वहाँ के एक प्रमुख प्राचीन अभिनेता का कहना है कि जो अभिनेता नृत्य नहीं जानता वह उस

मल्ल के समान है जिसमें बल नहीं रहता। कुछ मूर्तियों के सामने कन्याएँ सरल प्रकार के कबूरा नामक पवित्र नृत्य करती हैं और बौद्ध मन्दिरों में धार्मिक उत्सवों के समय नेमबुत्सु-ओदोरी नृत्य होते हैं।
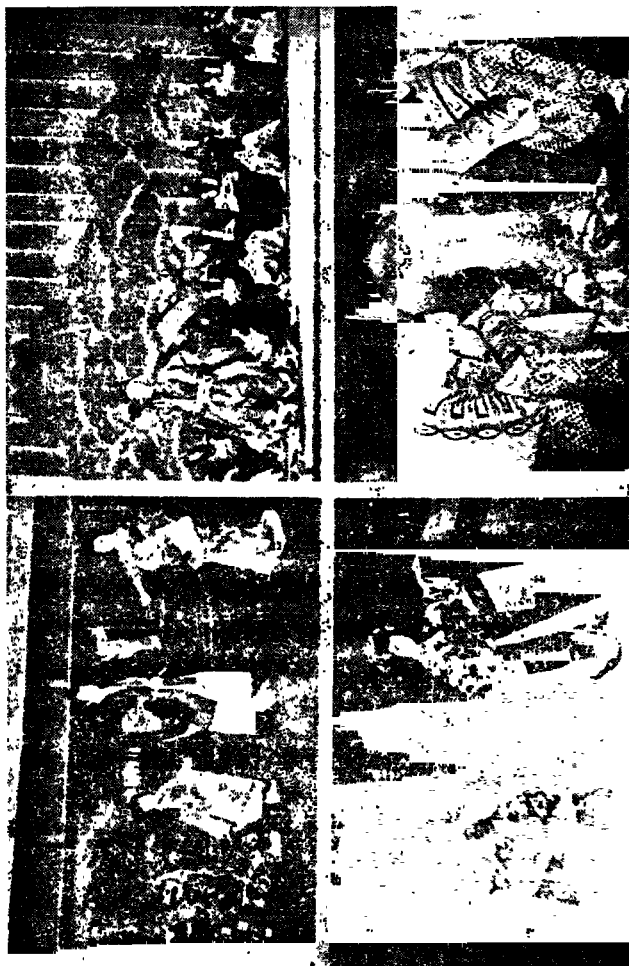
चित्र ८५—गेइशा और अभिनेताओं के जापानी नृत्य

जापान में नृत्य के लिए तीन शब्दों का प्रयोग होता है—माई, ओदोरी और फूरी वा शोशा, जिनका अर्थ तो नृत्य ही है, किन्तु तीनों के रूप में अन्तर है। माई नृत्य

प्राचीन शैली का, उच्च श्रेणी के व्यवसायियों का नृत्य है, जिसमें प्रातःकाल के समय सारस की सुन्दर गतियों का अभिनय अधिक होता है। दूसरा ओदोरी नत्य साधारण लोगों का नृत्य है, जिसमें हाथ और पैर चलाकर हर्षोल्लास प्रकट किया जाता है और जिसके सम्बन्ध में १५वीं शताब्दी से पूर्व कोई विवरण नहीं मिलता। तीसरा फूरी या शोशा रंगमंच के अभिनय से मिला हुआ होता है। इस दृष्टि से माई का अर्थ शास्त्रीय नृत्य, ओदोरी का लोक-नृत्य और फूरी का नाट्य-नृत्य है। माई नत्य के दो प्रकार हैं; एक तो शुद्ध शास्त्रीय है जो राजसभाओं में सिन्तो मूर्तियों के सामने कबूरा के रूप में या नो नाटकों में होता है और दूसरा जन-साधारण में प्रचलित है। माई नृत्य ओदोरी के समान ही होता है। यह माना जाता है कि माई में गम्भीरता, हाव-भाव की शिष्टता और सुन्दरता और गति में सरल तथा स्वाभाविक प्रवाह होता है। किन्तु ओदोरी में स्वच्छन्द गति होती है। भावभंगियाँ अधिक सक्रिय और चंचल होती हैं। उसमें अनेक प्रकार की आंगिक चेष्टा के लिए स्वतंत्रता रहती है और मँड़ैती तथा ग्राम्य चेष्टाओं के लिए भी स्वतंत्रता रहती है। फूरी तो शुद्ध रूप से कथकली के समान नाटकीय गुणों से पूर्ण होता है।

जापानी नृत्य को दो वर्गों में बाँट सकते हैं; एक जनता का और दूसरा व्यवसायियों का। लोक-नृत्यों में इसे-ओदोरी (इसे प्रान्त का नृत्य), तानाबाता ओदोरी (वेगा नक्षत्र के उत्सव का नृत्य), बोन ओदोरी (ग्रीष्म नृत्य) और नेम बुत्सु ओदोरी (बौद्ध उत्सवों के नृत्य) प्रसिद्ध हैं। किन्तु व्यावसायिक नृत्य में भरतनाट्यम् के समान ही बहुत धैर्य और अभ्यास की आवश्यकता होती है जिसे सीखने में कई वर्ष लग जाते हैं। अभिनयात्मक नृत्यों में किसी कथा के नृत्य की गतियों के साथ हर्ष, क्रोध, शोक, प्रेम, घृणा आदि भावों का अभिनय किया जाता है। इसके साथ गीत भी नागाउता, तोकिवाजू और कियोमोतो प्रकार की विभिन्न शैलियों में सामिसेन (तीन तारों वाले वाद्य-यंत्र) के साथ ढोल और वंशी के सहयोग से गाये जाते हैं।

नाटकीय नृत्य में पहले अभिनेता लोग ही स्वतंत्र रूप से गाते-नाचते थे। किन्तु १८वीं शताब्दी के प्रारम्भ में यह स्वतंत्र व्यवसाय हो गया। टोकियो में प्रसिद्ध नृत्य-शैलियों में फूजीमा-रियू, हानायागी-रियू और वाकायागी-रियू अधिक प्रसिद्ध हैं। रियू शब्द का अर्थ ही है शैली। क्योटो में इनाउये-रियू और शिनोजाकी-रियू प्रसिद्ध हैं। ओसाका में निशिकावा-रियू, यामामुरा-रियू और उमेमोता-रियू प्रचलित हैं और नगोया में निशिकावा-रियू का ही बोलबाला है। टोकियो के नृत्यों में नाटकीय तत्त्व अधिक हैं इसलिए वे अधिक गतिशील, उल्लासपूर्ण और भावपूर्ण हैं, जिन्हें पुरुष रंगमंच पर खेल सकते हैं। किन्तु नगोया, क्योटो और ओसाका की नृत्य-शैलियों

में कोमल भावभंगी और हाव-भाव पर अधिक बल दिया जाता है, इसलिए वे रंगमंच की अपेक्षा कक्षों में स्त्रियों द्वारा नाचे जाने योग्य होते हैं।

वहाँ के नृत्य का नियम है कि रंगमंच के मध्य से एक पग पीछे हटकर नर्तक प्रारम्भ करता और नृत्य के अन्त में मध्य स्थान में पैर पटककर नृत्य समाप्त कर देता है। इसमें प्रथम पग तो सक्रियता या गति के साथ और अन्तिम पग समर्पण की भावना के साथ चलाया जाता है। नृत्य के समय नर्तक खुले पंखे के रूप का वर्णन करता चलता है, जो नृत्य के अन्त में पहुँचकर खुलता हुआ समृद्धि का द्योतक होता है। उनकी मुद्रा में मुख या सिर तो स्वर्ग का द्योतक होता है, कन्धे पृथ्वी के और कमर मर्त्यलोक या मनुष्य-लोक की। साधारणतः शरीर के सब अंग अत्यन्त संतुलित, सुन्दर और प्रभावशाली ढंग से चलते हैं। किन्तु हाथ, भुजाएँ और अंग सब झटके के साथ और सौन्दर्यपूर्ण प्रवाह के साथ चलते हैं तो भी शरीर सन्तुलित बना रहता है। नृत्य के समय नर्तक हाथ में पंखा या तेनगुइ (रूमाल) लिये रहता है जिसके द्वारा वह सब प्रकार की वस्तुओं और भावनाओं का प्रतीक अभिनय करता है, जैसे सामने खुला पंखा सूर्योदय का बोधक होता है। मुँह पर लगाया हुआ मदिरा-पात्र का, बन्द पंखा डंडे, धनुष, तीर या बन्दूक का बोधक होता है। रूमाल को दुहरा करके अपनी कमर-पेटी में डाल लेने का अर्थ है छोटी तलवार लगाना, जो समुराई लटकाये रहते हैं। जब उसी रूमाल को चौहरा करके हाथ में लेकर मुँह से लगाते हैं तो वह सिगरेट का बोधक होता है और यदि उसी को खोलकर उसके दोनों सिरे पकड़कर एक ओर से दूसरी ओर झटके से चलाया जाय तो उसका अर्थ होगा बहता हुआ पानी।

जापान के प्रसिद्ध नर्तकों का सदा यह प्रयास रहा है कि नृत्य में भव्यता, सुसंस्कार और सौन्दर्य भरा जाय और उसे वास्तविक के बदले आदर्श बनाया जाय, व्याख्यात्मक के बदले व्यंजनात्मक बनाया जाय और केवल सजावट की भड़ेहर न बनाकर उसमें रोचक रूपमान प्रस्तुत किये जायँ। इसी लिए वहाँ के नृत्य वैसे ही सुन्दर होते हैं जैसे वहाँ के चेरी के फूल।

वर्तमान नृत्य-शैलियाँ

सन् १९१२ तक यूरोप और अमेरिका में १८वीं तथा १९वीं शताब्दी के नृत्यों की ही आवृत्ति होती रही, किन्तु २०वीं शताब्दी के व्यवसायी और श्रमिक समाज में राजसी नृत्य के पद-संचार छोड़कर अपनी नयी संस्कृत परिस्थिति के अनुसार नये पद-संचार निकाले और अमेरिका ने इसका नेतृत्व किया। २०वीं शताब्दी के प्रारम्भ तक यांकी नर्तक लोग वही पोलका, सोतिसे, वियेना का वाल्वज़ और कोतिलोन

नृत्य ही चलाते रहे। कुछ मण्डलों ने अपने नये सामूहिक नृत्य चलाये, जैसे पोलजोन्स नृत्य और चौकोर नृत्य (स्कावर डान्स)।

चित्र ८६—वर्तमान शैली के यूरोपियन नृत्यों की मुद्रा

सन् १९१२ में लोक-संगीत में रैंड टाइम और जाज़ धुनों के साथ संयुक्त राज्य

अमेरिका में यांत्रिक और नागरिक सभ्यता के भावों को प्रदर्शित करने वाले नये नृत्य जन्म लेने लगे। इस शताब्दी के प्रारम्भिक जाज़ नृत्यों में टर्की-ट्राट, बनीहग और ग्रेजलीबियर अत्यन्त फूहड़, बेढंगे और कुदर्शन थे। फिर भी जिसे देखो वही इन नृत्यों में मग्न हो गया और साधारण लोगों ने भी इनमें भाग लेना प्रारम्भ कर दिया। प्रथम विश्वयुद्ध (१९१४ से १९१८) में श्रीमान् और श्रीमती वर्नल कैसिल ने जाज़ नृत्यों से सब फूहड़पन और बेढंगापन निकालकर उन्हें सभ्य कक्ष-नृत्य बना दिया। उनके मूल नृत्यों में सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण कैसिलवाक था, जिसमें महिला साथिन लम्बे-लम्बे संचरण पदों के साथ पूरे कमरे में घुमायी जाती हैं। वर्नल कैसिल दम्पति ने तांगो नाम का अत्यन्त शक्तिशाली और सुन्दर नृत्य भी अर्जेन्टाइना से लेकर चलाया। सन् १९१२ और १५ के बीच सैकड़ों नये नृत्य चल पड़े, जिनमें वाल्वज़ संगीत पर आश्रित हैजिटेशन नृत्य और ब्राजिल से लाया हुआ मैक्सिकसे नृत्य अधिक लोकप्रिय हुए। १९३५ के बीच चार्लेस्टन को छोड़कर कोई नृत्य लोकप्रिय नहीं हो पाया जिसका प्रयोग सांगीतिक सुखान्त समवेत गानों में होता था। इसके पश्चात् ब्लैक बाटम नाम का अभद्र नृत्य चला किन्तु वह बहुत नहीं रुच पाया। सन् १९२५ में आर्थर मरे ने बाल-रूम नृत्य को व्यवस्थित किया और सम्पूर्ण वर्तमान नृत्य में पाँच पद-संचार का प्रवेश करके नृत्य को सरल कर दिया। सन् १९३० में मरे ने नृत्य की वेस्ट चेस्टर शैली चलायी जो कालेज के विद्यार्थियों में बड़ी प्रिय हुई। इस नयी नृत्य-शैली में नया छठा मौलिक पद-संचार धावन पद (रनिंग स्टेप्स) जोड़ दिया गया। वर्तमान पीढ़ी के मुख्य नृत्य पद-संचार में वाल्वज़ और फॉक्स ट्राट अधिक प्रसिद्ध हैं। बहुत दिन लोकप्रिय होकर भी तांगो समाप्त हो गया और उसका स्थान अत्यन्त जटिल नृत्य क्यूबन रुम्बा और कोंगा ने ले लिया। बड़े नगरों के सभ्य समाज में रुम्बा वैसा ही लोकप्रिय है जैसा फॉक्स ट्राट। साधारण वर्ग के युवकों में शाग और बिण्डीहाप अधिक प्रचलित हैं जिनमें झटके के साथ झूलना अधिक होता है। इनमें से शाग नृत्य बड़ा वेगपूर्ण, ओजपूर्ण उछलन नृत्य है। इन झूलन नृत्यों की लोकप्रियता के कारण सन् १९३७ में संयुक्त राज्य अमेरिका में एक बिग एपिल नाम का नृत्य चला जिसमें बहुत खटर-पटर (जिटरबग) पद-संचार मिले हुए थे जिनमें शाग और बिण्डी-हाप के अतिरिक्त सुजी-क्यू और ट्रकिन जैसी सजीव चेष्टाएँ भी होती थीं। बिग एपिल में १८वीं शताब्दी के सामूहिक नृत्यों का संचालक (कालर) भी आ गया। इस नृत्य में आठ या दस युगलों का समूह घेरा बनाकर नाचता है। सबकी एक गति हो चुकने के बाद संचालक किसी भी झूलन पद-संचार का नाम लेकर चिल्लाता है और प्रत्येक पुकार पर एक युगल बीच में आकर नृत्य करता है। सन् १९३८ में मरे

ने लंदन से लेम्बेथ वाक लाकर अमेरिका में चलाया। यह अत्यन्त रोचक, परिष्कृत, सुन्दर संचरण नृत्य था, जो अत्यन्त कृत्रिम गति के साथ नाचा जाता था। लैम्बेथ वाक के पश्चात् तीन और सामूहिक नृत्य क्रमशः इंग्लैण्ड से अमेरिका में पहुँचाये गये; पैलेग्लाइड, चेस्टनट्टी और बुम्प्स-ए-डेज़ी, किन्तु इनमें से कोई भी लेम्बेथ वाक के समान लोकप्रिय नहीं हो पाया। अब भी सबसे अधिक लोकप्रिय फॉक्स ट्राट और वाल्ज़ ही हैं। वर्तमान सभी नृत्यों में छः मूल पद-संचार होते हैं, जिनका ज्ञान प्राप्त किये बिना कोई भी नृत्य नहीं सीख सकता। वे छः पद-संचार हैं—१. वाकिंग स्टेप्स, २. शशा, ३. वाल्त्स, ४. बैलेन्स, ५. पिवट, ६. रनिंग स्टेप्स।

चित्र ८७—फ्रांसीसी तांगो नृत्य सोन जिसे हुम्मा भी कहते हैं।

वाकिंग स्टेप्स (चलित पद)

प्रत्येक चलित पद में दो ताल मात्राएँ (बीट) ली जाती हैं। पहली ताल मात्रा पर अपना पूरा पैर आगे बढ़ाकर फर्श पर इस प्रकार रखो कि पहले अँगूठा रखा जाय और एड़ी इस प्रकार रहे कि धरती को पूर्णतः स्पर्श न करे। यह पुरुष के लिए है। स्त्री को चाहिए कि वह जहाँ तक सम्भव हो अपने पैर के अँगूठे को पीछे की ओर ले जाय। दूसरी ताल मात्रा पर अँगूठे पर थोड़ा उठकर झटका देकर अपना पद-संचार

करे। इसमें फुर्ती और कोमलता के साथ इस प्रकार चलना चाहिए कि शरीर का भार एक पग से दूसरे पग पर बढ़ता चले। जब एक पैर से पद-संचार करना हो तो दूसरा पैर सदा फर्श के ऊपर उठा लेना चाहिए। कभी भी पैर को घसीटना या फिसलाना नहीं चाहिए। इसके लिए कमरे में लम्बे और मन्द पग रखने का अभ्यास करना चाहिए और स्त्रियों को पीछे चलने का अभ्यास करना चाहिए। अपने घुटने सदा सीधे और दृढ रखने चाहिए और अँगूठे के सहारे ही बढ़ना चाहिए। अर्थात् इस प्रकार नृत्य करना चाहिए मानो पैर में तलवा न हो, केवल अँगूठा ही हो। अपने अँगूठे को पीछे और आगे फैलाने का पूर्ण अभ्यास करना चाहिए, सदा सीधी रेखा में पग बढ़ाना चाहिए, सीधे पीछे बढ़ना चाहिए और सीधे इधर-उधर बढ़ना चाहिए। संतुलन, सौन्दर्य और अपने साथी के साथ एकता के भाव के लिए यह आवश्यक है।

शशा (पार्श्व-संचरण)

शशा में पार्श्व की ओर, दायें या बायें छोटा और द्रुत पग होता है। वाम शशा के लिए सीधे बायीं ओर पग रखना चाहिए और दायें पैर को बायें के पास ले जाना चाहिए। दक्षिण शशा के लिए सीधे दाहिनी ओर दायें पाँव से पग रखना चाहिए और बायाँ पग दाहिने के पास ले जाना चाहिए। यह पद-संचार अत्यन्त फुर्ती और सटीकता के साथ इस प्रकार करना चाहिए कि प्रति बार दोनों पैर एक दूसरे से स्पर्श करें।

वाल्त्स (चलित तथा पार्श्व गति)

वाल्त्स में चलित पद (वाकिंग स्टेप्स) और पार्श्व गति शशा (३–४ मात्रा) का मिश्रण होता है। वर्तमान वाल्त्स में वाकिंग स्टेप्स पर ही आघात होता है और सभी पद समान समय और मूल्य के होते हैं। वाल्त्स पद का अभ्यास करते हुए वर्तमान वाल्त्स संगीत के साथ एक-दो-तीन, एक-दो-तीन गिनते हुए एक पर ताल देते रहना चाहिए, या अच्छा यह है कि एक-दो-तीन के बदले पग, पार्श्व मिलाओ, (स्टेप, साइड, टू गेदर) कहते चलना चाहिए और स्टेप पर आघात (ऐक्सेन्ट) या सम देते चलना चाहिए। वाल्त्स को आगे-पीछे या दायें-बायें घूमने के लिए किया जा सकता है। फाक्स ट्राट संगीत पर ही वाल्त्स नृत्य किया जा सकता है जिसमें दो मात्रा में पहला पग और एक-एक मात्रा में वाल्त्स के दूसरे या तीसरे पग चलने चाहिए।

बैलेन्स (सन्तुलन)

बैलेन्स या संतुलन एक प्रकार का हैज़िटेशन है। एक पग आगे, पीछे या पार्श्व में बढ़ाते हुए एक पैर पर अपना पूरा भार डालो और फिर थोड़ा उठाकर स्वतंत्र पैर

को आगे-पीछे या पार्श्व में इस प्रकार सीधा बढ़ाओ कि अँगूठा केवल धरती का स्पर्श मात्र करता रहे। यही संतुलन कहलाता है। फाक्स ट्राट और वाल्त्स दोनों के बहुत सम्मिश्रित रूपों में संतुलन (बैलेंस) का प्रयोग होता है। फाक्स ट्राट संगीत के साथ नाचते समय बैलेंस में दो मात्रा तक रुकना पड़ता है और वाल्त्स संगीत में तीन मात्रा तक। यह अत्यन्त सुन्दर और शोभापूर्ण पद होता है और रोचक भी।

पिवट (चूल)

पिवट या चूल वेग से चक्कर लेने का अत्यन्त सुन्दर और प्रभावशाली ढंग है। इसमें यह ध्यान रखना चाहिए कि एक पैर सीधे दूसरे पैर के सामने हो। आगे को झुको, दाहिने पैर पर झुको, जिससे शरीर का सारा बोझ अगले पैर की एड़ी पर आ जाय और चौथाई चक्कर काट लो। फिर पीछे की ओर बायें पग पर बल देकर उसी प्रकार घूम जाओ।

रनिंग स्टेप्स (धावित पग)

धावित पग या रनिंग स्टेप्स को असम गति (सिन्कोपेटेड स्टेप्स) भी कहते हैं, क्योंकि चार मात्राओं में तीन पग ही लिये जाते हैं। तीन द्रुत धावित पग लेकर चौथी मात्रा पर रुक जाना पड़ता है। ये पग महिलाओं के लिए बड़े सहायक होते हैं, क्योंकि इससे उन्हें वेग से पद-संचार करने की शिक्षा मिलती है। यद्यपि ये रनिंग स्टेप्स निश्चय ही वाकिंग स्टेप्स से वेगपूर्ण होते हैं किन्तु उतने ही लम्बे होते हैं। सदा लम्बे पग ही लेने चाहिए, चाहे गति मन्द हो या तीव्र।

ह्रुम्बा पदगति

ह्रुम्बा पदगति अत्यन्त सुन्दर और आकर्षक होती है। इसमें एक-दो-तीन खाली, एक-दो-तीन खाली, इस प्रकार ताल चलती है। इसमें घुटने की क्रिया अधिक होती है इसलिए नर्तक लगभग ८ इंच एक दूसरे से दूर खड़े होते हैं। इसके लिए अपनी दोनों एड़ियाँ मिलाकर सीधे खड़ा होना चाहिए और फिर बायें पैर पर भार देकर अपने दायें घुटने को बायें पैर के सामने ले आना चाहिए। फिर दायें पैर पर भार देकर बायें घुटने को दायें पैर के सामने ले आना चाहिए। फिर एक बार बायें पैर की एड़ी पर भार देकर दायें घुटने को बायें के सामने ले आना चाहिए। फिर तीसरी मात्रा के पश्चात् रुकना चाहिए। यह मूल ह्रुम्बा गति है और सब प्रकार के ह्रुम्बा पद-संचरण में काम आती है, चाहे आगे चलना हो या पीछे।

शाग पद गति

शाग में एक ही पदगति होती है। बायें पैर से आगे बढ़कर बायें पर उछलो और बायें पर रुको, और फिर दायें पैर से बढ़ो, दायें पर उछलो और दायें पर ही टिक जाओ। द्रुत गति से बायें पैर पर अपना भार डाल दो, दायें पैर को धरती से दो इंच ऊपर उठाओ। फिर अपना भार दोनों पैरों पर डाल दो और धरती से दो इंच बायाँ पैर उठा लो। यही शाग नृत्य की गति है।

चित्र ८८—अमेरिकन डान्स

नृत्य की सटीक मुद्रा

नृत्य की सर्वश्रेष्ठ मुद्रा वह है जिसमें मनुष्य अत्यन्त सुखपूर्ण और स्वाभाविक स्थिति का अनुभव करे। अपने पैर के पंजे पर सीधे खड़े हो जाओ और अपने को जितना

लम्बे करते बने उतने लम्बे हो जाओ। जिस पैर का प्रयोग न करना हो उस पर शरीर का भार डाल दो और दूसरे पैर को स्वतंत्र छोड़ दो। अपनी पीठ सीधी रखो, कन्धे ढीले कर दो, छाती आगे को निकाल दो, सिर ऊपर उठा लो, दाढ़ी भीतर को रखो और आँखें अपने साथी के दायें कन्धे पर तथा बाँहें कन्धे की ऊँचाई तक उठाये रखो। नृत्य में अपनी बाँहें ऊपर रखना बहुत आवश्यक है। जो स्त्रियाँ अनजाने में अपनी भुजाएँ नीची कर देती हैं उन पर बड़ा भार पड़ता है। पुरुष को चाहिए कि वह अपनी स्त्री साथिन को सीधे अपने सामने रखे, एक ओर नहीं और दृढतापूर्वक इतने समीप रहे कि जिससे वह उसे सरलता के साथ चला सके। पुरुष का दायाँ हाथ स्त्री की पीठ के बीच में लगा रहना चाहिए और बायाँ हाथ पार्श्व में कोहनी पर थोड़ा-सा झुका हुआ फैला रहना चाहिए तथा बायें हाथ से स्त्री का हाथ हलके से पकड़े रहना चाहिए। स्त्री को चाहिए कि वह अपना बायाँ हाथ पुरुष के कन्धे पर हलके से रख दे और पुरुष के हाथ के नीचे अपना हाथ न मोड़े। स्त्री का दायाँ हाथ पार्श्व की ओर सरल, सुन्दर मोड़ के साथ पुरुष के हाथ में लगा रहे।

प्रारम्भ के समय पुरुष ही अपनी साथिन की ओर सीधे आगे बढ़ता है और अपने बायें पैर से सहारा देता है। स्त्री सीधे पीछे की ओर अपने दायें पैर से बढ़ती है। यूरोपीय नृत्य में छ: मूल पदों के क्रम के लिए कोई नियम नहीं है। वर्तमान नृत्य-शैली में नृत्य का नेता किसी भी समय किसी प्रकार का भी पग ले सकता है। अत: नृत्य में आत्म-विश्वास, सरलता, सुन्दरता और स्वाभाविकता होनी चाहिए।

भारतीय और यूरोपीय नृत्य-पद्धतियों का यह सम्पूर्ण विवरण तब तक किसी काम का नहीं है जब तक कुशल शिक्षक से उसकी शिक्षा न ली जाय, क्योंकि अभ्यास या व्यवहार भी विद्या है, अत: संगीत के समान ही इसका शिक्षण प्राप्त करके अभ्यास करना चाहिए।

नृत्य-नाट्यों में अभिनय की प्रधानता होती है अत: उनमें तो भाव-भंगिमा पर ही विशेष ध्यान दिया जाता है। किन्तु कभी-कभी नाटक के बीच-बीच में दृश्य की आवश्यकता के अनुसार अर्थात् आवश्यक नृत्य के दृश्य का प्रदर्शन करने के लिए भी नृत्य का प्रयोग होता है। इसमें यह ध्यान रखना चाहिए कि जिस देश, काल और पद्धति के नृत्य का अवसर हो वैसे ही नृत्य की योजना करनी चाहिए, मनमानी, अपने समय की असम्बद्ध नृत्य-योजना नहीं। नृत्य में जहाँ एक ओर भाव-प्रदर्शन का महत्त्व होता है, वहीं वेश-भूषा और नृत्त-गति का भी ध्यान रखना चाहिए तथा ऐसी नर्तकी का प्रयोग करना चाहिए जैसे—मालविकाग्निमित्र में मालविका।

अध्याय ३५

रस-सम्प्रदाय

राजशेखर ने काव्यमीमांसा में बताया है कि ब्रह्मा के कहने से नन्दिकेश्वर ने सर्वप्रथम रस का निरूपण किया था। यदि यह नन्दिकेश्वर अभिनयदर्पण का रचयिता ही है, तो उसने नाट्य की उत्पत्ति के वर्णन में कहा है कि **अपि ब्रह्मापरानन्दादिदमभ्यधिकं मतम्**। अर्थात् नाटक का आनन्द परमानन्द से भी बढ़कर है। यह आनन्द रस ही है, जिसे ब्रह्माजी ने अथर्ववेद से लेकर पंचम वेद नाट्य में प्रतिष्ठित किया था और जिसकी चर्चा भरत ने भी अपने नाट्यशास्त्र में की है —

पाठ्यं जग्राह ऋग्वेदात् सामभ्यो गीतमेव च।
यजुर्वेदादभिनयान् रसानाथर्वणादपि॥

[ऋग्वेद से पाठ्य अंश लिया, सामवेद से गीत, यजुर्वेद से अभिनय और अथर्ववेद से रस।]

अथर्ववेद से रस लेने की बात यों तो सभी ने कही है किन्तु अथर्ववेद में कहीं भी उन आठ (या नौ) रसों का कोई विवरण नहीं प्राप्त होता जिनका प्रयोग साहित्य के लिए किया गया है और जिनके कारण मम्मट ने कविभारती को "नवरसरुचिरा" कहा है। यह सम्भव है कि अथर्ववेद की जो शाखाएँ हमें प्राप्त हैं उनमें से अन्य किसी ऐसी शाखा में रसों का वर्णन हो जो अब प्राप्त नहीं है।

रस की परिभाषा और व्याख्या

रस का सर्वप्रथम विस्तृत विवेचन भरत ने नाट्यशास्त्र में किया है। उन्होंने बताया है कि 'नाटक का साध्य रस है।' रस की परिभाषा बताते हुए उन्होंने कहा है—**विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः**। अर्थात्, विभाव (आलम्बन और उद्दीपन), अनुभाव (आंगिक, वाचिक, सात्त्विक और आहार्य भाव-प्रदर्शन) और संचारी भाव के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है। अरस्तू ने काव्य के सब रूपों में नाटक को ही सर्वश्रेष्ठ माना है और भारतीय पण्डितों ने भी **काव्येषु नाटकं रम्यम्** (काव्यों

में नाटक ही सबसे सुन्दर) बताया है। इसलिए नाटक के आनन्द को भी उन्होंने नाट्य-रस कहा है।

भरत ने अपने उपर्यंकित सूत्र की विस्तार से व्याख्या करते हुए छठे अध्याय में कहा है—**न हि रसादृते कश्चिदर्थः प्रवर्तते** (रस के अतिरिक्त कोई दूसरा अर्थ ही नहीं निकलता), अर्थात् जितने भी अर्थ हैं वे सभी रसमय होते हैं। वास्तव में यही रस-सिद्धान्त है। रस की व्याख्या करते हुए दृष्टान्त देकर भरत ने समझाया है—'जैसे अनेक प्रकार के द्रव्य, ओषधि, व्यंजन आदि के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है और जैसे गुड़ आदि मधुर, अम्ल, लवण, तिक्त, कटु, कषाय के सम्मिश्रण से विलक्षण प्रकार के रस बनते हैं, उसी प्रकार स्थायी भाव भी अनेक भावों में पड़कर रस बन जाते हैं। रस क्या पदार्थ है? उत्तर है—स्वादिष्ठ पदार्थ है। इसका स्वाद कैसे लिया जाता है? उत्तर है—जैसे अनेक व्यंजनों से सिद्ध किये हुए अन्न को भक्षण करते हुए सुचित्त पुरुष रसों का आस्वादन करते हैं और हर्ष आदि का अनुभव करते हैं, वैसे ही अनेक प्रकार के वाचिक, आंगिक और सात्त्विक अभिनयों के प्रभाव से व्यक्त होने वाले स्थायी भावों का सुचित्त प्रेक्षक आस्वादन करते हैं अर्थात् हर्ष आदि का अनुभव करते हैं। इसी लिए हमने इनको नाट्य-रस कहा है'—

को दृष्टांतः। अत्राह–यथा हि नानाव्यंजनौषधिद्रव्यसंयोगाद्ररसनिष्पत्तिर्भवति। यथा हि गुडादिभिर्द्रव्यैर्व्यंजनौषधिभिश्च षाडवादयो रसा निर्वर्तन्ते तथा नानाभावोपगता अपि स्थायिनो भावा रसत्वमाप्नुवन्तीति। अत्राह—रस इति कः पदार्थः? उच्यते—आस्वाद्यत्वात्। कथमास्वाद्यते रसः? यथा हि नानाव्यंजनसंस्कृतमन्नं भुंजाना रसानास्वादयन्ति सुमनसः पुरुषा हर्षादींश्चाधिगच्छन्ति, तथा नानाभावाभिनयव्यंजितान् वागंगसत्त्वोपेतान् स्थायिभावानास्वादयन्ति सुमनसः प्रेक्षकाः हर्षादींश्चाधिगच्छन्ति, तस्मान्नाट्यरसा इत्यभिव्याख्यास्यामः।

इसी प्रसंग में भरत ने अरस्तू के भावों की अभिनिर्वृत्ति की भी व्याख्या की है और कहा है—'क्या रसों से भावों या भावों से रसों की अभिनिर्वृत्ति (सिद्धि) होती है? कुछ लोगों का मत है कि परस्पर सम्बन्ध होने से इनकी अभिनिष्पत्ति होती है। किन्तु यह बात नहीं है, क्योंकि भावों से रसों की अभिनिर्वृत्ति (सिद्धि) तो दिखाई देती है किन्तु रसों से भावों की अभिनिर्वृत्ति नहीं दिखाई देती'—

अत्राह—किं रसेभ्यो भावानामभिनिर्वृत्तिरुताहो भावेभ्यो रसानामिति? उच्यते—केषांचिन्मतं परस्परसम्बन्धादेषामभिनिष्पत्तिरिति। तन्न। कस्मात्? दृश्यते हि भावेभ्यो रसानामभिनिर्वृत्तिर्न तु रसेभ्यो भावानामभिनिर्वृत्तिरिति।

इतनी स्पष्ट व्याख्या हो चुकने पर भी इस विषय पर यह वाद-विवाद हुआ कि भरत ने अपनी परिभाषा में 'संयोग' और 'निष्पत्ति' शब्दों का जो प्रयोग किया है उनका वास्तविक अर्थ क्या है। इस बात को लेकर निम्नोक्त चार मत बड़े प्रसिद्ध हैं—१. भट्ट लोल्लट्ट का उत्पत्तिवाद, २. भट्ट शंकुक का अनुमानवाद, ३. भट्ट नायक का भुक्तिवाद और ४. अभिनवगुप्त का अभिव्यक्तिवाद। इन चारों शास्त्रार्थों में यह विचार किया गया है कि 'रस उत्पन्न होता है या उसका अनुमान होता है या वह भोगा जाता है या उसका केवल अभिव्यंजन या प्रकटीकरण मात्र होता है ? और यह रस भी कथा के मूल नायक या पात्रों में ही होता है या अभिनेता में होता है या दर्शक में ?

भट्ट लोल्लट का उत्पत्तिवाद या आरोपवाद

भट्ट लोल्लट का मत है कि रस तो मुख्य रूप से नाटकीय कथा के मल नायक में ही होता है और उसका सम्बन्ध उसी से है। अर्थात नाटक की कथा में सीताजी का साक्षात्कार होने पर राम के हृदय में जो स्नेह विशिष्ट परिस्थितियों में अंकुरित होकर उन्हें सीताजी में अनरक्त कर देता है वही वास्तविक रस है। जब कुशल अभिनेता राम का अभिनय करने लगता है तब उसके अभिनय-कौशल का ऐसा प्रभाव दर्शक पर पड़ता है कि वह राम का अभिनय करने वाले अभिनेता में राम का आरोप कर देता है, अर्थात् दर्शक उस अभिनेता (अनुकरण करने वाले अनुकर्ता) को ही राम (अनुकार्य अर्थात् जिसका अनकरण किया जाय) समझ लेता है। वास्तव में विभावों (१. आलम्बन अर्थात् राम के हृदय का रति भाव—स्थायी), सीताजी और २. उद्दीपन (पुष्पवाटिका) के सहारे (आलम्बित होकर) जागकर (उद्दीप्त होकर), अनुभावों (स्वेद, रोमांच, कम्प आदि) से प्रतीत होकर और संचारी भाव (हर्ष, औत्सुक्य आदि) से पुष्ट होकर रस बनता है। यह रस राम में ही उत्पन्न होता है किन्तु अभिनेता भी राम का ऐसा सच्चा अनुकरण करता है कि दर्शक उसी को राम समझ लेते हैं और उसके अभिनय-कौशल से प्रभावित होकर आनन्द लेते हैं। अर्थात् सामाजिक या दर्शक को जो आनन्द मिलता है वह अभिनेता में राम की समानता पा जाने से ही मिलता है (नटे तु तुल्यरूपतानुसन्धानवशाद् आरोप्यमाणः सामाजिकानां चमत्कारहेतुः)। अतः दर्शकों के सिद्धान्त के कारण भट्ट लोल्लट का मत आरोपवाद कहलाता है।

इनके मतानुसार 'संयोग' का अर्थ है सम्बन्ध। यह सम्बन्ध तीन प्रकार का होता है; १. उत्पाद्योत्पादक भाव, २. गम्य-गमक भाव, ३. पोष्य-पोषक भाव। अर्थात् विभाव, अनुभाव, संचारी के संयोग (सम्बन्ध) से रस की निष्पत्ति (उत्पत्ति) होती तो है किन्तु ये तीनों तीन प्रकार के संयोग (सम्बन्ध) से रस उत्पन्न करते हैं—१. विभावों

के द्वारा रस उत्पन्न किया जाता है इसलिए विभाव (आलम्बन और उद्दीपन) उत्पादक हुए और रस उत्पाद्य। २. अनुभावों के द्वारा रस की अभिव्यक्ति या प्रतीति होती है इसलिए अनुभाव हुए गमक (प्रतीति कराने वाले) और रस हुआ गम्य (प्रतीत होने वाला)। ३. संचारी भावों से रस की पुष्टि होती है इसलिए वे सब रस के पोषक हैं और रस पोष्य है। इसके अनुसार 'निष्पत्ति' के तीन अर्थ हुए—१. उत्पत्ति, २. अभिव्यक्ति या प्रतीति, ३. पुष्टि। इसी लिए भरत ने जो संयोग कहा है वह संयोग एक प्रकार का न होकर उपर्यंकित तीन प्रकार का होता है। इसी संयोग से भरत ने रस की निष्पत्ति बतायी है जिसका तात्पर्य है रस की उत्पत्ति।

उपर्यंकित विवरण से यह सिद्ध होता है कि १. भट्ट लोल्लट ने नाटक के नायक में ही रस का उत्पन्न होना और अभिनेता में उस रस की प्रतीति होना माना है, अर्थात् वे इस बात की चर्चा ही नहीं करते कि दर्शक का रस से या नाटक से क्या सम्बन्ध है? दर्शक क्यों नाटक में जाता है और क्यों देखता है? पहला प्रश्न तो यह है कि यदि नाटक में किसी प्रकार का आनन्द नहीं है तो दर्शक नाटक देखने जाते क्यों हैं? फिर दूसरी कठिनाई यह है कि राम या सीता या अन्य ऐतिहासिक पात्र न जाने किस युग में हुए, किस परिस्थिति में उन्होंने किन आचरणों पर, किस प्रकार के भाव व्यक्त किये। अब यदि उनमें रस की उत्पत्ति मानें भी, तो उसका प्रमाण हमारे पास क्या है? तीसरी बात यह है कि विभिन्न कवियों ने एक ही कथा को विभिन्न रूपों से वर्णित किया है। ऐसी स्थिति में नायक के मन में क्या मुख्य रस उत्पन्न हुआ होगा, कैसे निर्णय किया जाय। चौथी सबसे प्रमुख बात तो यह है कि बहुत से नाटकों की कथा भी पूर्णतः कल्पित होती है, ऐसी स्थिति में रस की उत्पत्ति होती कहाँ है? कल्पित कथा में रस किसमें माना जाय?

भट्ट लोल्लट ने यह भी कहा है कि 'अभिनय करने वाले अभिनेताओं को भी रस की प्रतीति होती है, अर्थात् उनमें भी मूल पात्रों का अनुकरण करने के कारण रस की उत्पत्ति होती है।' यदि अभिनेताओं में रस की उत्पत्ति हुआ करती तो केवल अभिनेता ही नाटक किया करते और वे ही रस लिया करते। दर्शकों की क्या आवश्यकता रह जाती? और दर्शक उनके आनन्द के साक्षी मात्र बनकर नहीं जाते? यूरोप में कुछ ऐसी घुमन्तू नाट्य-मण्डलियाँ चली थीं जिनके अभिनेताओं को वेतन मिला करता था। प्रायः ये नाट्य-मण्डलियाँ शेक्सपियर के त्रासदों का अभिनय किया करती थीं। जब उन अभिनेताओं को वेतन नहीं मिलता था तब वे लोग हड़ताल कर बैठते और कहते थे कि आज हैमलेट का भूत नहीं चलेगा, अर्थात् आज नाटक नहीं होगा। जब वेतन मिलने लगता था तब ये लोग घोषणा कर देते थे कि 'भत चलने लगा है' (घोस्ट बॉक्स)

अर्थात् अब नाटक होने लगा है। यदि अभिनेताओं को रस प्राप्त हुआ करता तो वे रस-प्राप्ति के लोभ से ही नाटक अवश्य करते, वेतन मिलता या न मिलता। तात्पर्य यह है कि अभिनेता तो आनन्द देने वाले हैं, आनन्द लेने वाले नहीं। भरत ने अपने नाट्यशास्त्र के इक्कीसवें अध्याय में कहा है--

यस्मात् स्वभावं संहृत्य सांगोपांगगतिक्रमैः।
अभिनीयते गम्यते च तस्माद् वै नाटकं स्मृतम् ॥

[क्योंकि इसमें सब अंगों, उपांगों और गतियों के क्रम से व्यवस्थित करके स्व-भाव अभिनय किया जाता है और यह भाव दर्शकों तक पहुँचाया जाता है, इसी लिए यह नाटक कहलाता है।] इसका तात्पर्य यह है कि अभिनय के द्वारा नाटक का भाव दर्शकों तक पहुँचाया जाता है, अर्थात् उसका विशेष रस या प्रभाव केवल दर्शकों के लिए होता है जिसका उपयोग या आनन्द दर्शक लेते हैं। भरत ने जहाँ नाटक की परिभाषा दी है वहाँ भी उन्होंने स्पष्ट रूप से कहा है—

मृदुललितपदार्थं गूढशब्दार्थहीनम्
बुधजनसुखयोग्यं बुद्धिमन्नृत्तयोग्यम्।
बहुरसकृतमार्गं सन्धिसन्धानयुक्तम्
भवति जगति योग्यं नाटकं प्रेक्षकाणाम् ॥

[जिसमें कोमल, ललित पद और अर्थ हों, गूढ़ शब्दार्थ न हों, जो विद्वानों को सुख देने योग्य हो, बुद्धिमान् जिसे खेल सकें, जिसमें बहुत से रसों के प्रवाह के लिए अवकाश हो और सब नाट्य-सन्धियाँ ठीक से बँधी हुई हों, इस प्रकार का नाटक प्रेक्षकों के लिए संसार में श्रेष्ठ समझा जाता है।]

इस श्लोक में 'बहुरसकृतमार्ग' शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है जिसका तात्पर्य यह है कि नाटक में प्रेक्षकों के लिए अनेक रसों के मार्ग बनते हैं। इतनी स्पष्ट व्याख्या होने पर भी भट्ट लोल्लट को जो भ्रम हुआ उसके चार कारण हैं; १. भट्ट लोल्लट कोरे दार्शनिक थे, २. उन्होंने कभी नाटक नहीं देखा, ३. आदि से अन्त तक नाट्यशास्त्र नहीं पढ़ा और ४. नाटक का आनन्द क्या वस्तु है, इसका ठीक-ठीक अनुभव नहीं किया। इसी कारण अन्य आचार्यों ने इस मत को अमान्य समझा।

शंकुक का अनुमितिवाद या अनुमानवाद

शंकुक का मत है कि 'रस केवल अनुमान का विषय है, वास्तविक नहीं। जब

रंगमंच पर कोई अत्यन्त अभिनय-कुशल तथा काव्य-नाटक में रुचि रखने वाला अभिनेता नाटक के नायकों तथा पात्रों का अभिनय अत्यन्त स्वाभाविकता, प्रभावशीलता तथा रोचकता से करता है, तब उसे देखकर दर्शक आनन्दमग्न हो जाते हैं और वे उस नट को ही वास्तविक नायक (राम या सीता) समझने लगते हैं। जैसे किसी चित्र में बने हुए घोड़े को देखकर उसे लोग घोड़ा ही मान लेते हैं वैसे ही राम की भूमिका ग्रहण करने वाले नट को भी लोग इस चित्र-तुरंग-न्याय से राम ही मान लेते हैं। इसलिए जो रस वस्तुतः राम में उत्पन्न होता है उसी का अनुमान अभिनय-कुशल नट में भी कर लिया जाता है और दर्शक-मण्डली भी इसी अनुमान के बल पर रस ग्रहण करती तथा आनन्दित होती है। अतः भरत के सूत्र में 'संयोगात्' शब्द का अर्थ हुआ 'अनुमान से' (अनुमानात्) और 'निष्पत्ति' का अर्थ हुआ 'अनुमिति' (किसी संचारी के अनुमान से रस की अनुमिति होती है)। किन्तु यह अनुमान न्यायशास्त्र के अनुमान-प्रमाण से भिन्न होता है। क्योंकि यद्यपि न्याय वालों का अनुमान वास्तविकता का उद्घाटन करता है, जैसे 'जहाँ धुआँ है वहाँ अग्नि भी होगी'। किन्तु यह सब अनुमान रूखा और नीरस होता है, रस का अनुमान उससे पूर्णतः भिन्न, आनन्दप्रद होता है।'

इस प्रकार शंकुक ने माना है कि १. अनुकरण करने वाले नट में दर्शकगण रस के अस्तित्व का अनुमान करते हैं और इसी अनुमान के कारण अनुमान करने वाले दर्शकों को भी आनन्द मिलता है। अतः शंकुक मानते हैं कि अभिनेता को राम मानकर उनकी रति का अनुमान ही रस बन जाता है। अतः रस का वास्तविक आधार अनुमान है।

भट्ट तौत

अभिनव गुप्त के गुरु भट्ट तौत ने शंकुक के अनुमानवाद का बड़ा खण्डन किया और कहा कि 'अनुमान के आधार पर रस-निष्पत्ति का कभी विचार ही नहीं हो सकता, क्योंकि अनुमान तो हेतु की विशुद्धि पर आश्रित होता है। अर्थात् अनुमान के लिए स्वयं कोई कारण चाहिए, किन्तु रस की उत्पत्ति के लिए कारण होते हुए भी शास्त्रीय दृष्टि से अनुमान का कोई अस्तित्व नहीं होता। इस मत की सबसे बड़ी त्रुटि यह है कि अनुमान कभी आनन्ददायक नहीं हो सकता, क्योंकि मनमोदक से भूख नहीं बुझती। चित्र में घोड़ा देखकर और उसे घोड़ा मानकर भी आप उस पर चढ़कर नहीं जा सकते, मोदक का चित्र देखकर आपको उसका स्वाद नहीं आ सकता, अतः कल्पना से आनन्द नहीं मिल सकता। यद्यपि इस मत में भी यह बात मानी गयी है कि दर्शक के हृदय में भी अनुमान के बल पर आनन्द प्राप्त होता है, किन्तु यह सिद्धान्त ही पूर्णतः निराधार है। क्योंकि रंगमंच

पर जिस विभाव (आलम्बन), अनुभाव और संचारी भाव का प्रदर्शन होता है और जिससे रस का अनुमान दर्शक द्वारा होने की बात कही गयी है, वह तो नट में ही रहता है। अतः दर्शक को भले ही अनुमान से थोड़ा-बहुत आनन्द मिल जाता हो किन्तु वह उस कोटि का आनन्द कभी नहीं हो सकता जो साक्षात् रसानुभूति के समय होता है। स्वादिष्ठ भोजन को दूर से देखकर मुँह में पानी तो आ सकता है किन्तु वह इसी बात का व्यंजक है कि उसके आस्वादन के लिए अत्यन्त तीव्र उत्कण्ठा है, यह आस्वादन का आनन्द नहीं है।

भट्ट तौत के इस खण्डन के अतिरिक्त भी यह स्पष्ट है कि आनन्द कभी अनुमान में नहीं होता, वह तो प्रत्यक्ष अनुभूति से ही होता है और उसी समय होता है जब कि हमारी इन्द्रियाँ मन के संयोग से उस आनन्द में मग्न हों। किन्तु नाटक में तो दर्शक की समस्त इन्द्रियाँ मन के साथ इतनी रम जाती हैं कि वे अभिनेता की गतिविधि, गीत, दृश्य आदि सबमें पूर्णतः तन्मय हो जाती हैं। ऐसी स्थिति में उसे अनुमान करने का अवसर कहाँ मिलता है? अनुमान के लिए तो ऐसी अनिश्चित वस्तु चाहिए जिसके सहारे वह निश्चित का अनुमान कर सके। किन्तु नाटक में तो प्रत्येक अभिनेता सजीव मूल नायक या पात्र ही समझ लिया जाता है और वह जितना भी कुछ आचरण करता है उस आचरण से दर्शक आनन्द लेता चलता है। अतः अनुमान से रस कभी उत्पन्न नहीं होता।

भट्ट नायक का भुक्तिवाद

भट्ट नायक ने ही रस की मीमांसा करते हुए दर्शक का महत्त्व सिद्ध किया है। ये न तो लोल्लट की भाँति रस को उत्पन्न हुआ मानते हैं, न उसकी प्रतीति मानते हैं और न उसको व्यक्त या प्रकट हुआ मानते हैं। इनका सिद्धान्त है कि काव्य में तीन प्रकार की क्रियाएँ होती हैं—१. अभिधा-क्रिया, जिसके द्वारा नाटक के शब्दों का अर्थ जाना जाता है। २. भावकत्व-क्रिया या साधारणीकरण की क्रिया, जिस भावना (बार-बार चिन्तन) के द्वारा हम नाटक के पात्रों या नायक आदि को विशिष्ट व्यक्ति (राम, सीता आदि) न समझकर उन्हें अपने ही जैसा साधारण पुरुष और स्त्री समझ लेते हैं। इस क्रिया से नाटक की कथा के व्यक्तियों का ऐतिहासिक तथा व्यक्तिगत स्वरूप हट जाता है और वे सामान्य पुरुष और स्त्री समझ लिये जाते हैं, अर्थात् अभिज्ञान-शाकुंतल नाटक के दुष्यन्त-शकुन्तला के प्रेम को दुष्यन्त-शकुन्तला का प्रेम-व्यापार न समझकर सामान्य पुरुष-स्त्री का प्रेम-व्यापार समझ लेते हैं। जिस शक्ति के द्वारा यह कार्य अर्थात् विशेष को साधारण समझ लेने की क्रिया होती है, उसी को भावकत्व-

क्रिया या भावनत्व-व्यापार कहते हैं। इस क्रिया से दर्शक सहसा दुष्यन्त-शकुन्तला के प्रेम-व्यापार में सबका व्यापार, अर्थात् अपना भी व्यापार मान बैठता है । भावना की यही क्रिया 'साधारणीकरण' कहलाती है । ३. भोजकत्व-क्रिया, जिसके द्वारा दर्शक नाटक के रस का भोग करता या आनन्द लेता है। इसी भोग करने के अवसर पर उसके हृदय में सब प्रकार के राजस और तामस भाव अर्थात् संसार भर के अन्य सम्बन्धों के सब भाव दबकर पूर्ण रूप से शुद्ध अकेला सात्त्विक भाव उत्पन्न होता है, जिसके प्रकट होते ही प्रकाश रूप से आनन्द का ज्ञान अर्थात् आत्मानन्द में वह तल्लीनता प्राप्त होती है जिसके द्वारा रस का अनुभव होता है। यही रस-भोग करने की अवस्था है। इस मत के अनुसार भरत के सूत्र का अर्थ यह होगा कि 'विभाव, अनुभाव और संचारी तो भोजक या भावक हैं और वे भोज्य (भोजन करने योग्य) अथवा भाव्य (भावित होने योग्य) रस की निष्पत्ति (अर्थात् भुक्ति या भोग) कराते हैं।' इसी लिए इनके मत को भुक्तिवाद कहते हैं।

अत: भट्ट नायक ही प्रथम व्यक्ति हैं जिन्होंने दर्शक की महत्ता समझकर रस के वास्तविक पात्र का विवेचन किया और उसकी ही दृष्टि से विचार किया। किन्तु उनके सिद्धान्त में भी यह दोष रहा कि उन्होंने सीधे रस की अवतारणा न मानकर भावकत्व और भोजकत्व का अड़ंगा लगा दिया। उन्होंने यह माना है कि १. दर्शक की दृष्टि से रस की मीमांसा होनी चाहिए, २. अभिनय देखने या काव्य पढ़ने से अभिधा, भावकत्व और भोजकत्व-क्रिया के द्वारा द्रष्टा या श्रोता रस का भोग करता है। जहाँ तक अभिधा की बात है, उसमें तो किसी को आपत्ति नहीं हो सकती, किन्तु इन्होंने काव्य में (शब्दों के अर्थ में) भावकत्व और भोजकत्व की जो कल्पना की है उसका कोई आधार नहीं। वास्तव में यदि भावकत्व-क्रिया या साधारणीकरण की क्रिया होती है तो वह केवल शब्द से न होकर रंगमंच पर उपस्थित अभिनेताओं की चेष्टाओं, वेश-भूषा, दृश्य आदि सभी साधनों के समन्वय से उत्पन्न होती है और उस समय भी साधारणीकरण अर्थात् उस मुख्य पात्र को साधारण व्यक्ति मानना सम्भव नहीं होता। यह कैसे कल्पना की जा सकती है कि जो दर्शक नाटक देखने आता है वह राम को साधारण व्यक्ति समझता है। जिस समय राम वन जाते हैं उस समय यही समझकर दर्शक की आँखों में आँसू आते हैं कि दशरथ के पुत्र राम इतना बड़ा राज्य छोड़कर जंगलों का दु:ख उठाने के लिए चले जा रहे हैं, जिसका उन्हें तनिक भी अभ्यास नहीं। वह राम की दृष्टि से, उनके महत्त्वपूर्ण पद की दृष्टि से, उनके भावी कष्ट की कल्पना करके दु:खी होता है। यदि वह उन्हें साधारण मनुष्य समझता तो कभी दुखी ही न होता। अत: इस प्रकार के साधारणीकरण या भावकत्व का सिद्धान्त ठीक नहीं है। यही बात

भोजकत्व के सम्बन्ध में है। यह ठीक है कि दर्शक जिस समय नाटक देखता है उस समय वह तन्मय होता है, किन्तु इस तन्मयता में कोई ऐसी विशेष स्थिति नहीं आती कि उसके राजस और तामस भाव सहसा दब जायँ और सात्त्विक भाव का उदय हो जाय। यह रसानुभूति की स्थिति तो नाटक में आदि से अन्त तक भी व्याप्त रह सकती है और बीच-बीच में भी आ सकती है। इसके अतिरिक्त केवल शब्द-व्यापार या अभिधा-व्यापार को महत्त्व देना तो पागल के प्रलाप को महत्त्व देना है, क्योंकि स्वतः शब्द में किसी प्रकार की कोई शक्ति नहीं होती। इसी लिए आलंकारिकों ने भावकत्व को अमान्य ठहराया और भोजकत्व-क्रिया को व्यंजना ही मानकर साधारणीकरण आदि को उसी व्यंजना का कार्य माना है।

अभिनव गुप्त का अभिव्यक्तिवाद

अभिनव गुप्त ने इन सब मतों का विरोध करते हुए कहा कि भरत के सूत्र में विभावा-नुभाव-व्यभिचारी के संयोग का अर्थ है कि ये विभाव, अनुभाव, संचारी तो व्यंजक या व्यक्त करने वाले हैं और रस है व्यंग्य (व्यक्त किये जाने योग्य) तथा निष्पत्ति का अर्थ है 'रस की अभिव्यक्ति' या 'व्यंजना'। इनका मत है कि 'प्रत्येक श्रोता या दर्शक में स्थायी भाव (रति, शोक, हास, उत्साह आदि) वासना के रूप में निरन्तर रहते हैं। यह वासना या तो पूर्वजन्म के संस्कार से या इस जन्म में काव्य आदि का अध्ययन करने या गुणियों और कवियों का सत्संग करने से उत्पन्न होती है और निरन्तर निश्चित संस्कार-रूप में रहती है। विभाव, अनुभाव और संचारी भाव के द्वारा इसी स्थायी भाव की अभिव्यंजना (प्रकटीकरण) होती है। ये स्थायी भाव सामान्य या सबमें साधारण रूप से रहते ही हैं। अभिनव गुप्त कहते हैं कि जब कोई भी वस्तु हमारे सम्मुख आती है, उस समय उस वस्तु को हम साधारण रूप से तथा सम्बन्धरहित होकर स्वीकृत करते हैं, अर्थात् यदि हम किसी सुन्दर वस्तु को देखते हैं तो हम आनन्दित तो होते हैं किन्तु उस वस्तु को ग्रहण करने के लिए न आगे बढ़ते हैं, न उसे शत्रु की समझकर उससे दूर भागते हैं और न किसी उदासीन व्यक्ति की समझकर उससे विरक्त ही होते हैं। वरन् उसे सबकी सुन्दर वस्तु समझते हैं। अभिनव गुप्त का मत है कि यही सामान्यता अर्थात् रागहीन आनन्दानुभूति ही साधारणीकरण है, अर्थात् रस को जगाने वाले जितने भाव हैं वे सब सर्वसामान्य के समझ लिये जाते हैं तभी रस की अभिव्यक्ति होती है। उस रस की अभिव्यक्ति के समय रस का अनुभव करने वाला दर्शक भी अपने को सामान्य ही समझता है और अनुभव करने के समय यह समझता है कि जितने भी सहृदय हैं उन सबके हृदय में उस रस की अनुभूति समान रूप से होती है।

इस दृष्टि से अभिनव गुप्त भी साधारणीकरण के पक्षपाती हैं किन्तु भट्ट नायक और अभिनव गुप्त के साधारणीकरण में थोड़ा सा अन्तर है। भट्ट नायक ने तो यह माना है कि कथा के पात्रों को साधारण बनाकर दर्शक रसानुभूति करता है और अभिनव गुप्त यह मानते हैं कि दर्शक जब यह निर्लिप्त भाव से मानता है कि किसी वस्तु को देखकर मेरे मन में आनन्द की जैसी अनुभूति हुई है, वैसी ही प्रत्येक सहृदय के हृदय में होती है तभी उसके हृदय में रस की अनुभूति या अभिव्यक्ति होती है। सहृदय दुष्यन्त-शकुन्तला को देखकर यह समझने लगता है कि वह दुष्यन्त-शकुन्तला मैं ही हूँ और ऐसा समझने से ही उसे आनन्द या रस मिलता है। अभिनव गुप्त यह मानते हैं कि दर्शक के हृदय में जो रति आदि स्थायी भाव अव्यक्त थे वे विभाव आदि (व्यंजनों) के द्वारा प्रकट हो जाते हैं अर्थात् रस उत्पन्न नहीं वरन् अभिव्यक्त होता है या जाग उठता है और यह वासना का जागना ही रस का उपभोग है।

रस वास्तव में आनन्द को ही कहते हैं। संसार में साधारणतः जो घटनाएँ शोक, क्रोध या भय उत्पन्न करती हैं, वे ही जब काव्य में वर्णित होती हैं तब ऐसा अलौकिक रूप धारण कर लेती हैं कि हम उन्हें पढ़ने में दत्तचित्त हो जाते हैं और उसमें एक प्रकार का ऐसा आकर्षण प्राप्त करते हैं जिसके कारण हम उसे पूरा किये बिना नहीं छोड़ते। इसका तात्पर्य यह है कि शोक, क्रोध या भय के वर्णन में भी कुछ सौन्दर्य या अलौकिकता आ जाती है जिससे हम उसकी ओर आकृष्ट होते हैं। यही 'रमना' या 'काव्य में डूबना' रस कहलाता है और यही वस्तु काव्य में वर्णित होकर अलौकिक रूप धारण कर लेती है, इसी लिए आनन्द उत्पन्न करती है। प्रायः सभी विद्वान् अभिनव गुप्त के इस साधारणीकरण के सिद्धान्त को मानते हैं।

साधारणीकरण

अभिनव गुप्त, मम्मट, आनन्दवर्धन और पण्डितराज जगन्नाथ के मत को संक्षेप में इस प्रकार समझा जा सकता है—कवि जब एक विशिष्ट सुन्दर शैली में शब्दों का प्रयोग करता है तब काव्य में व्यंजना की प्रतीति होती है। कारण, कार्य और सहायता का बोध कराने वाले शब्दों के समन्वय को ही काव्य कहते हैं। काव्य में जितने शब्दों का प्रयोग होता है उनमें से कुछ तो कारण अर्थात् विभाव (आलम्बन और उद्दीपन) का बोध कराते हैं। यह बोध कराने वाली शक्ति विभावन-व्यंजना कहलाती है। कुछ शब्दों से कार्य अर्थात् अनुभाव (सात्त्विक, वाचिक, आंगिक, आहार्य) का बोध होता है। जिस शक्ति से इस अनुभाव का बोध होता है उसे अनुभावन-व्यंजना कहते हैं। कुछ शब्दों से सहायता देने वाले तत्त्वों अर्थात संचारी भावों का बोध होता है। इसी

विभावन, अनुभावन और संचारण व्यंजनाओं की प्रतीति को साधारणीकरण कहते हैं।

इसका तात्पर्य यह है कि दर्शक लोग नाटक देखते समय आलम्बन, उद्दीपन, अनुभाव और संचारी को नाटक के किसी पात्र का न समझकर सब दर्शकों का समझने लगते हैं। ऐसा समझने से दर्शक उसे अपना अनुभव मान बैठते हैं। इस प्रकार बार-बार मानने से विभाव, अनुभाव और संचारी दर्शक के अन्तःकरण या मन के धर्म (गुण) बन जाते हैं और बार-बार ऐसा समझने या भावना करने से उनका मन ही विभाव, अनुभाव और संचारी बन जाता है। इस एकात्मता से दर्शकों की यह अविद्या या भ्रान्ति दूर हो जाती है जिसके कारण विभाव, अनुभाव और संचारी को वे अलग समझते थे। उस समय विभाव आदि के मूल चैतन्य (ज्ञान) का प्रकाश होता है। यही प्रकाश रस कहलाता है। इस प्रकाश की स्थिति को कुछ लोगों ने चैतन्य-विशिष्ट विभावादि कहा है, किसी ने विभावादि-विशिष्ट चैतन्य कहा है, किन्तु दोनों में कोई तात्त्विक अन्तर नहीं है।

इसे हम एक उदाहरण द्वारा समझा दें तो स्पष्ट हो जयगा। अभिज्ञानशाकुन्तल नाटक में दुष्यन्त के विरह में शकुन्तला को परितप्त होते देखकर दर्शक भी अपने को शकुन्तला ही समझकर (अर्थात् शकुन्तला के बदले स्वयं आश्रय बनकर) दुष्यन्त को आलम्बन और शकुन्तला के अनुभावों और संचारी भावों को अपने अनुभाव और संचारी भाव मानने लगता है। इस साधारणीकरण (साधारण मान लेने) से ही दर्शक को रस प्राप्त होता है, अर्थात् आश्रय के साथ तादात्म्य (तन्मयता) स्थापित करना ही रस की अवस्था है।

साधारणीकरण और व्यक्ति-वैचित्र्यवाद

साधारणीकरण पर विचार करते हुए आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने कहा है कि कोई क्रोधी या क्रूर प्रकृति का पात्र यदि किसी निरपराध या दीन पर क्रोध की प्रबल व्यंजना कर रहा है तो श्रोता या दर्शक के मन में क्रोध का रसात्मक संचार न होगा, बल्कि क्रोध प्रदर्शित करने वाले उस पात्र के प्रति अश्रद्धा, घृणा आदि का भाव जागेगा। ऐसी दशा में आश्रय के साथ तादात्म्य या सहानुभूति न होगी बल्कि श्रोता या पाठक उक्त पात्र के शील-द्रष्टा या प्रकृति-द्रष्टा के रूप में प्रभाव ग्रहण करेगा और यह प्रभाव भी रसात्मक ही होगा। इसे उन्होंने समवेदनात्मक रसानुभूति से भिन्न शीलद्रष्टात्मक रसानुभूति कहा है और इसे मध्यम कोटि की ऐसी अनुभूति माना है। इसी प्रसंग में यह भी कहा गया कि कवि

जब कोई ऐसी अनुभूति व्यक्त करता है जो सबके अनुभव की हो तो पाठक या श्रोता के साथ तादात्म्य स्थापित हो जाता है, किन्तु जब कवि की अनुभूति असाधारण या संसार के अनुभव से भिन्न होती है तब पाठक के साथ उसका तादात्म्य नहीं होता। ऐसी अनुभूतियों का विवरण पढ़कर भिन्न-भिन्न श्रोताओं या पाठकों के मन में भिन्न-भिन्न ऐसे भाव व्यक्त होंगे जिनमें वे उस रचना पर ही खीझेंगे, हँसेंगे, रुष्ट होंगे। अर्थात् कवि के भावों से पाठक या श्रोता का वैषम्य होने से पाठक या श्रोता के मन में कवि या उसकी रचना के प्रति अनेक प्रकार की भावनाएँ उठती हैं जिसका कारण व्यक्ति-वैचित्र्य या प्रत्येक व्यक्ति की रुचि-भिन्नता ही है।

अभिनव-भरत का तन्मयतावाद

अभिनव-भरत का मत है—'तन्मयत्वं रसः'। (तन्मयता ही रस है।) रस पर जितना विचार और शास्त्रार्थ हुआ है, वह सब दार्शनिक दृष्टि से किया गया, साहित्यिक या व्यावहारिक दृष्टि से नहीं, और सम्भवतः जितने लोगों ने इस पर मीमांसा की है उनमें से कोई भी ऐसा नाट्य-रसिक नहीं रहा, जिसने स्वतः नाटक लिखे हों, अभिनय किया हो और नाट्य-प्रयोक्ता बनकर नाटक का प्रयोग कराया हो। वास्तव में रस का विवेचन तीन दृष्टियों से करना चाहिए—१. नाटककार की दृष्टि से, २. अभिनेता की दृष्टि से और—३ सामाजिक की दृष्टि से। किन्तु इससे पूर्व हमें यह समझ लेना चाहिए कि रस है क्या ?

पहले हम लिख चुके हैं कि भरत ने रस की परिभाषा बताते हुए कहा है—विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावों के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है। जब आलम्बन और उद्दीपन ठीक हों, उनके प्रभाव से आश्रय में आंगिक, वाचिक, सात्त्विक और आहार्य अनुभाव प्रकट हों तथा विभिन्न संचारी भाव उस आश्रय के स्थायी भाव को यथोचित रूप से पुष्ट करते चलें, उस समय इन सबके संयोग (सम्यक् योग अर्थात् ठीक मेल) से रस की निष्पत्ति या सिद्धि होती है। इसे यों समझना चाहिए कि जब रंगमंच पर नायक या नायिका या दोनों या कोई पात्र किसी विशेष परिस्थिति में दिखाई पड़ें अर्थात् वे किसी विशेष स्थल (उपवन, नदी, पर्वत, घर, बन्दीगृह आदि) में इस दशा में दिखाये जायँ कि उन्हें पसीना छूटता हो, कँप-कँपी चढ़ी हो, सुध-बुध भूल गये हों, जँभाई ले रहे हों, आँसू बहा रहे हों, हाथ-पैर पटकते हों या विशेष रूप से शरीर के अंग हिलाते-डुलाते या चलाते हों या अन्ट-सन्ट कपड़े पहनते हों, त्रास, हर्ष, उद्वग, स्वप्न, विबोध, चिन्ता, क्रोध, चिढ़ आदि अनेक प्रकार के भाव उनके मुँह पर आते-जाते हों, तब इन सबके ठीक इकट्ठे होने से एक विशेष प्रभावपूर्ण परिस्थिति

उत्पन्न हो जाती है, जिसका परिणाम जानने की उत्कट व्यग्रता के कारण दर्शक की समस्त इन्द्रियों के अन्य व्यापार रुक जाते हैं। उस परिस्थिति में वह एकाग्र होकर जो तन्मयता स्थापित कर लेता है उसी को रस कहते हैं। अर्थात असाधारण तन्मयता की स्थिति को ही रस कहते हैं।

रस के अनुबन्ध

रस के सम्बन्ध में अग्रांकित बातें भली भाँति स्मरण रखनी चाहिए—१. दर्शक, पाठक या श्रोता में स्थायी भाव रहता है। २. रंगमंच पर उपस्थित पात्र (नायक-नायिका आदि) आलम्बन हैं। ३. ये पात्र (नायक-नायिका आदि) जिन परिस्थितियों या दृश्यों में कार्य करते दिखाई देते हैं वे परिस्थितियाँ उद्दीपन विभाव हैं। ४. रंगमंच पर उपस्थित पात्र अपनी चेष्टाओं और अपनी बातचीत में जब अनेक प्रकार के भाव चिन्ता, उत्सुकता, व्यग्रता, धैर्य आदि प्रकट करते हैं वही संचारी भाव हैं। ५. इन सब पात्रों (आलम्बन विभाव), परिस्थितियों (उद्दीपन विभाव), पात्रों की चेष्टाओं, मुखमुद्राओं, वचनों आदि से व्यक्त होने वाले भाव (अनुभाव) और संचारी भाव जब ठीक मेल के साथ इकट्ठे दिखाई देते हैं (उनका संयोग होता है) तब दर्शक के हृदय में उपस्थित रहने वाला स्थायी भाव उभड़ता है और उसके उभड़ने से दर्शक उस कथा में तन्मय हो जाता है। यही तन्मयता की अवस्था रस कहलाती है।

काव्य में रसानुभूति

नाटक में तो दर्शक प्रत्यक्ष रूप से अपनी आँखों के सामने पात्रों को देखता, उनकी वाणी सुनता और चेष्टाओं का सम्प्रेक्षण करता है, किन्तु काव्य में पाठक या श्रोता प्रत्यक्ष देखने के बदले इन पात्रों, परिस्थितियों तथा चेष्टाओं और वाणी द्वारा व्यक्त भावों का मानस-प्रत्यक्षीकरण करता है। अतः इस दृष्टि से काव्य से भी पाठक या श्रोता के हृदय में रस की अनुभूति हो सकती है। किन्तु काव्य में प्रायः भाषा की कठिनाई सदा रस-बोध में बाधक होती रही है। अतः आल्हा आदि जो काव्य सर्वबोध हों उनसे तो सार्वजनिक रूप से श्रोता के हृदय में रस उत्पन्न हो सकता है किन्तु महाकाव्यों से केवल विद्वज्जन ही रस प्राप्त कर सकते हैं, क्योंकि वहाँ रसानुभव के लिए केवल सहृदयता ही नहीं वरन् विद्वत्ता भी अपेक्षित है। अतः काव्य में तो भाषा की कठिनाई के कारण रसानुभूति में बाधा पड़ भी सकती है, किन्तु दृश्य होने के कारण नाटक में रसानुभूति होती ही है और वह रसानुभूति अनेक प्रकार की होती है।

रस के अनेक रूप

शारदातनय ने भावप्रकाशनम् में स्पष्ट कहा है कि 'नाटक में लोग अलग-अलग रूप से रस लेते हैं, यहाँ तक कि कुछ लोग केवल नायक-नायिकाओं के रूप का, कुछ वाणी का, कुछ लीला का, कुछ हाव का, कुछ उक्ति का, कुछ संगीत का, कुछ सज्जा का और कुछ दृश्य का ही रस लेते हैं। अत: नाटक के रस को केवल उपर्यंकित भावात्मक रस तक ही परिमित नहीं समझना चाहिए, उसमें शब्दात्मक, सज्जात्मक, संगीतात्मक अर्थात् रूपात्मक या बाह्य रस भी होते हैं। अतः भावात्मक सात्त्विक रसों की अपेक्षा रूपात्मक रसों को बाह्य रस समझना चाहिए, जो उतने ही महत्त्व के होते हैं जितने भावात्मक रस। शारदातयन ने भावप्रकाशनम् के अष्टम अधिकार में विस्तार से निरूपित किया है कि सब प्रकार के लोगों को नाट्य में किस प्रकार आनन्द मिलता है—

कामुकैश्च विदग्धैश्च श्रेष्ठिभिश्च विरागिभिः।
शूरैर्ज्ञानवयोवृद्धैः रसभावविवेचकैः॥
बालमूर्खाबलाभिश्च सेव्यं यन्नाट्यमुच्यते।
तत्तदर्थेषु तेषान्तु यस्मादेतत्प्रहर्षणम्॥
तुष्यन्ति तरुणाः कामे विदग्धाः समयाश्रिते।
अर्थेष्वर्थपराश्चैव मोक्षेष्वथ विरागिणः॥
शूरा बीभत्सरौद्रेषु नियुद्धेष्वाहवेषु च।
धर्माख्यानपुराणेषु वृद्धास्तुष्यन्ति नित्यशः॥
सत्त्वभावेषु सर्वेषु बुधास्तुष्यन्ति सर्वदा।
बाला मूर्खा स्त्रियश्चैव हास्यनेपथ्ययोः सदा॥

(कामी, सभा-चतुर, सेठ, विरागी, शूर, ज्ञानी, बड़े-बूढ़े, रस और भाव के पारखी गुणी जन, यहाँ तक कि बालक, मूर्ख और स्त्रियाँ, सभी नाट्य का आनन्द ले सकते हैं, क्योंकि नाट्य से वे अपने-अपने मन की रुचि के अनुसार आनन्द या हर्ष प्राप्त करते हैं। तरुण लोग काम की बातों में, सभा-चतुर लोग नीति की बातों में, सेठ लोग पैसा कमाने की बातों में, बड़े-बूढ़े लोग धर्म की कथाओं में और पण्डित लोग सात्त्विक भावों में आनन्द प्राप्त करते हैं। यहाँ तक कि बालक, मूर्ख और स्त्रियाँ हँसी-विनोद की बातें सुनकर और नटों की वेश-भूषा देखकर ही मगन हो जाती हैं।)

तीन प्रकार से रसानुभूति

तात्पर्य यह है कि रसानुभूति तीन प्रकार से होती है—१. द्रष्टा-रूप से, जिसमें

दर्शक उस विषय में अर्थात् नटों की चेष्टा, बातचीत आदि में द्रष्टा-रूप से अलग होकर आनन्द लेता है। यह रसानुभति हास्य, रौद्र, बीभत्स और अद्‌भुत में होती है। २. तादात्म्य रूप से, जिसमें नाटक के किसी पात्र से दर्शक तन्मयत्व सिद्ध कर लेता है और उसका दु:ख-सुख अपना दु:ख-सुख समझता है। इसमें स्त्रियाँ तो नायिका या स्त्री पात्र से और पुरुष दर्शक किसी नायक या पुरुष पात्र से तादात्म्य स्थापित कर लेते हैं। शृंगार और वीर-नाटक तथा काव्य में यही तादात्म्य-भाव होता है, यदि नायक या नायिका पूज्य या पूज्या हों तब द्रष्टा-भाव से ही रसानुभूति होती है। ३. संवादी रूप से, जिसमें भाव या घटना के परिणाम के कारण समवेदना का भाव व्याप्त होता है अर्थात यह भाव होता है कि कहीं यह बेचारा मारा न जाय आदि। करुण और भयानक रसों में यही समवेदना के भाव की संवादी रसानुभूति होती है।

रस किसमें होता है ?

जिसके लिए नाटक या काव्य लिखा जाय, वास्तव में रस उसी में उत्पन्न होता है, क्योंकि कवि रस की सृष्टि उसी के लिए करता है। अत: नाटक या काव्य में कवि का काम है—१. ऐसे आलम्बन खड़े करना जिनके कारण पाठक या दर्शक में कवि द्वारा उद्दिष्ट मानसिक तन्मयता उत्पन्न हो सके और २. ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न करना जिनसे उद्दिष्ट मानसिक तन्मयता उत्पन्न हो सकने में सहायता मिल सके। इन दोनों की सृष्टि करने से ही कवि और नाटककार का काम पूर्ण होता है। इसके पश्चात् नाटक में प्रयोक्ता का कार्य प्रारम्भ होता है—वह अभिनेताओं को ऐसी शिक्षा दे कि वे उचित आलम्बन बन सकें, नाटककार द्वारा निर्दिष्ट विभिन्न परिस्थितियों के अनुकूल ऐसा अभिनय कर सकें, जिससे दर्शकों में रसानुभूति हो और दर्शक इस योग्य हों कि नाटककार जो प्रभाव डालना चाहता हो वे उससे भावित हों। जब यह शक्ति नाटककार की रचना में हो तभी दर्शक भावित हो सकते हैं और यह भावित होना या तन्मयता (मन का उसमें पूर्णत: डूब जाना) ही रस है। अर्थात् दृश्य-काव्य की रचना इस प्रकार करनी चाहिए कि नट लोग उसके आधार पर आंगिक, वाचिक, आहार्य और सात्त्विक अभिनय करके ऐसा रस या आनन्द उत्पन्न कर सकें कि दर्शक उसमें तन्मय हो जायँ। जैसे खेल देखते समय दर्शक ऐसी भावभंगी करने लगता है कि वह भी खेल में भाग ले रहा है, उसी प्रकार दर्शक भी अच्छे नाट्य से प्रभावित होकर नाटक में नायक पर विपत्ति देखकर यह चाहता है कि अभी जाकर कह दूँ या कोई आकर इसे बचा दे। यही उसका आस्वादन या तन्मयता है। जैसे मोदक (आलम्बन) अपनी सुन्दर गन्ध (उद्दीपन) से उद्दीप्त करके मुँह में पानी (अनुभाव) भरते हुए मन को ऐसा प्रेरित करता है कि

हाथ चलाकर मुँह में मोदक डाला जाय, तब हमारी स्वाद-शक्ति (स्थायी भाव) हर्ष (संचारी) के साथ उसका स्वाद लेती है और फिर जीभ के साथ हमारा मन भी उसमें रस लेने लगता है, वैसे ही नाट्य में आँख-कान के साथ हमारे मन, आत्मा और बुद्धि सबको आनन्द मिलता है। जैसे पानक से दो कार्य होते हैं—१. आस्वादन और २. स्वास्थ्य-लाभ, वैसे ही रस से एक तो प्रत्यक्षानन्द होता है, दूसरे अप्रत्यक्ष रूप से चरित्र-संशोधन होता है, जो कान्ता-सम्मित उपदेश के समान स्वयं हमारी वृत्तियों का संस्कार करता चलता है।

रस का उपभोक्ता कौन ?

नाट्य में श्रृंगारादि रस कौन उपभोग करता है? नट या दर्शक या वे मूल पात्र जिनका रूपक धारण किया जाता है। यह स्पष्ट है कि यदि नट रस लेने लगेगा तो नाटक चौपट कर देगा। यदि दर्शक लेता है तो श्रृंगार का रस कैसे लेता है? नायिका से नायक जब प्रेमालाप करता है उस समय नटी में (यदि सुन्दर हो तो) अपनी पत्नी का भाव करके अर्थात् साधारणीकरण करके क्या वह काल्पनिक रस लेता है? काल्पनिक तो रस नहीं होता! और फिर यदि नटी में उसका स्वपत्नीत्व का भाव है तो वह नायक का अभिनय करने वाले से ईर्ष्या करेगा। फिर कभी-कभी रंगमंच पर रौद्र अभिनय देखकर (क्रोध में एक व्यक्ति किसी बालक को पीटता है) हमें करुणा आती है और बीभत्स को देखकर घृणा नहीं होती, तब रस का आस्वाद कैसे होता है? वह इस प्रकार से कि रस शाश्वत वस्तु है। जब हम कहते हैं कि अमुक नाटक के द्वारा अमुक रस उत्पन्न किया गया या 'उत्तररामचरित' करुण नाटक है तो उसका अर्थ यह होता है कि नाटककार ने अपने नाटक को अभिनेताओं के द्वारा इस प्रकार अभिनीत कराया कि दर्शक-गण के हृदय में सोयी हुई करुणा या करुणा का भाव ऐसा जग गया कि वे करुणा के अवसरों पर आँसू बहायें, अर्थात् उनका हृदय ऐसा सध जाय कि दूसरों की विपत्ति में उनकी करुणा वेग से उमड़ पड़े। हमारा मत है कि केवल नाट्य में रस होता है। इसका कारण यह है कि उसकी भाषा न समझने पर भी केवल दृश्य मात्र से मनुष्य प्रभावित हो सकता है, जैसे यदि दो भील परस्पर अपनी भाषा में तर्जन करके लड़ रहे हों और एक दूसरे पर आक्रमण कर रहे हों तो उन्हें देखकर हम पर उसका वैसा ही प्रभाव पड़ता है, जैसा किन्हीं हिन्दी भाषा-भाषियों को लड़ते देखकर। किन्तु काव्य के रस के लिए भाषा, अलंकार, रीति, शास्त्र आदि का ज्ञान परम आवश्यक है। नाट्य का रस लेने में भाषा बाधक नहीं होती। मूक चित्रपट इसके उदाहरण हैं।

उनमें तो अभिनेताओं के रूप, रंग, क्रिया, अभिनय आदि से ही रस मिल जाता है, भले ही भाषा समझ में न आये।

नट की रसानुभूति

फ्रान्स में एक 'पारादोक्से सुर ला कौमीदिएँ' का सिद्धान्त चला है, जिसका तात्पर्य यह है कि जो बड़े अभिनेता अपने भावमय अभिनय से जनता को प्रभावित करते हैं वे उस भाव को स्वयं अनुभव नहीं करते। वे अपनी भूमिका के चरित्र के सम्बन्ध में अपने मस्तिष्क में कुछ धारणा बना लेते हैं और उसकी वास्तविक प्रकृति का सीधा अनुकरण न करके उससे भी आगे बढ़कर आदर्श प्रतिकृति (मोदेल आइदियाल) के रूप तक पहुँच जाते हैं। अर्थात् वे जो कुछ करते हैं वह सब कलाकृति होती है, अर्थात् वे अपने स्वर, भावभंगी, हर्ष और विषाद को एक विशेष कौशल से दिखाते हैं। इन सबका भाव की एकात्मकता से कोई सम्बन्ध नहीं है जिसमें अभिनेता मूल चरित्र के साथ एकात्मकता नहीं स्थापित करता। इसे यों कह सकते हैं कि अनुभूति वास्तव में दर्शक में होती है, अभिनेता केवल भाव प्रस्तुत करता है।

रसों की संख्या

भरत ने आठ रस माने हैं—१. शृंगार, २. हास्य, ३. करुण, ४. रौद्र, ५. वीर, ६. भयानक, ७. बीभत्स और ८. अद्भुत। कुछ लोगों ने शान्त को भी नवम रस माना है। किन्तु भरत और धनंजय ने नाटक में शान्त रस का प्रयोग पूर्णतः अमान्य कर दिया है (शममपि केचित् प्राहुः पुष्टिर्नाट्येषु नैतस्य—दशरूपक)। यह मत ठीक भी है क्योंकि नाटक में तो आंगिक, वाचिक, सात्त्विक और आहार्य क्रियाओं के द्वारा ही उसका प्रदर्शन होता है और ये सब अभिनय कार्य के द्योतक हैं। कार्य होना शान्ति का लक्षण नहीं, क्योंकि शान्ति की अवस्था में सब बाह्य और मानसिक क्रियाओं का शमन या अवसान हो जाना चाहिए। अतः नाट्य में शान्ति की कल्पना ही करना व्यर्थ है। कुछ लोगों ने यह विचार किया है कि 'नाट्य' में तो नहीं किन्तु काव्य में शान्त रस अवश्य होता है, जैसे आनन्दवर्धन ने महाभारत में शान्त को ही मुख्य रस माना है। किन्तु यह भी उनका भ्रम है। महाभारत का अन्त बड़ा करुण है और वह वास्तव में शान्त न होकर करुण रस का परिचायक है। इसके अतिरिक्त महाभारत में अनेक व्यापारों में अनेक रस विद्यमान हैं। बहुत से आचार्यों ने पूरे काव्य में एक ही रस मान लिया है। यह उनकी सबसे बड़ी भूल है। रस तो प्रत्येक कथा से उत्पन्न होने वाला वह 'आनन्द' है जो भिन्न कथाओं में भिन्न रूप से उत्पन्न होता है, अतः आनन्दवर्धन का

यह कहना नितान्त भ्रामक है कि महाभारत जैसे पूरे काव्य में एक रस शान्त ही है। रुद्रट ने अपने काव्यालंकार में 'प्रेयान्' नाम का दशम रस माना है। विश्वनाथ कविराज ने साहित्यदर्पण में वात्सल्य को भी रस मान लिया है। गौड़ीय सम्प्रदाय के वैष्णवों ने माधुर्य रस को ही सर्वश्रेष्ठ रस माना है। इसी प्रकार कुछ भक्तों ने भक्ति को रस माना है और भानुभट्ट ने तो रसतरंगिणी में माया को ही रस मान लिया है। इस प्रकार यदि विचार किया जाय तो देश-प्रम, जाति-प्रेम भी अलग-अलग रस हो सकते हैं। किन्तु वास्तव में ये सब राग या रति के ही विभिन्न रूप और रस की विभिन्न श्रेणियाँ हैं।

काव्य में रस

ध्वनिवादी आचार्यों ने काव्य में रस का ही विशेष महत्त्व माना है। उन्होंने तीन प्रकार की ध्वनियाँ मानी हैं—१. वस्तु-ध्वनि, २. अलंकार-ध्वनि और ३. रस-ध्वनि और इन तीनों में उन्होंने रस-ध्वनि को ही सर्वश्रेष्ठ बताया है। भोजराज ने सम्पूर्ण वाङ्मय को ही तीन भागों में बाँट दिया है—(क) स्वभावोक्ति, (ख) वक्रोक्ति और (ग) रसोक्ति, जिनमें से वे रसोक्ति को ही सर्वश्रेष्ठ मानते हैं और श्रृंगार को ही प्रधान रस (श्रृंगारैक-रसः) मानते हैं। विश्वनाथ कविराज ने तो रस को 'काव्य का आत्मा' मानते हुए काव्य का लक्षण ही बताया है—'वाक्यं रसात्मकं काव्यम' और 'रस्यते इति रसः' (जो आनन्द दे वह रस है)। ध्वनि वालों ने ध्वनि के दो भेद १. लक्षणा-मूला और २. अभिधा-मूला बताते हुए अभिधा-मूला के दो भेद किये हैं—१. संलक्ष्यक्रम-व्यंग्य और २. असंलक्ष्यक्रम-व्यंग्य। उनमें से असंलक्ष्यक्रम-व्यंग्य को आठ प्रकार का बताया है—१. रस, २. भाव, ३. रसाभास, ४. भावाभास, ५. भाव-शान्ति, ६. भावोदय, ७. भाव-सन्धि, ८. भाव-शबलता। यह व्याख्या करके भाव, भावाभास, रसाभास आदि सबको उन्होंने रस के अन्तर्गत ही ले लिया है और इस प्रकार रस को अत्यन्त व्यापक बनाकर उसे काव्य का मूल तत्त्व मान लिया है। रुद्रट ने भी भरत की व्याख्या मानते हुए रस को ही काव्य का आत्मा माना है। अग्नि-पुराण में काव्य में वक्रोक्ति से उत्पन्न चमत्कार को प्रधान माना है किन्तु साथ ही काव्य का प्राण उसमें रस ही माना गया है—'वाग्वैदग्ध्यप्रधानेऽपि रस एवात्र जीवितम्।' राजशेखर ने भी अपनी काव्यमीमांसा में रस को काव्य का आत्मा माना है जो शौद्धौदनि को भी स्वीकार्य है—'अलंकारस्तु शोभायां रस आत्मा परैर्मतः' (शोभा में अलंकार होता है किन्तु आत्मा रस ही है)। इस प्रकार यह रस-सम्प्रदाय व्यापक रूप से आज तक मान्य सिद्धान्त रहा है।

विभाव

विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव के संयोग से रस की निष्पत्ति या सिद्धि होती है। विभाव का अर्थ है विभावन करने वाला या स्वाद लेने के योग्य बनाने वाला। ये विभाव दो प्रकार के होते हैं—१. आलम्बन, जिसके अन्तर्गत नायक या नायिका अथवा कोई ऐसा व्यक्ति आता है जिसके कारण दर्शक को रस प्राप्त हो, किन्तु यह कोई मनुष्य ही होना चाहिए। २. उद्दीपन विभाव, जिसके अन्तर्गत वे सब ऋतु, स्थान और परिस्थितियाँ आती हैं जिनकी अवस्थिति में आलम्बन कार्य करता है।

आश्रय

आचार्य मानते हैं कि आलम्बन की क्रिया, चेष्टा या रूप से जिस का हृदय प्रभावित हो उसे आश्रय कहते हैं, जैसे राम (आलम्बन) को लताकुंज (उद्दीपन) में देखकर सीताजी के मन में रति का उद्बोधन हुआ तो सीताजी 'आश्रय' हो गयीं। उसी समय सीताजी (आलम्बन) को फुलवारी (उद्दीपन) में देखकर राम के मन में अनुराग का उद्बोधन हुआ तो राम भी आश्रय हो गये। अर्थात् नाटक या प्रबन्ध-काव्य में आलम्बन के रूप, कार्य या वाणी का जिस पर प्रभाव पड़ना दिखाया या वर्णित किया जाय उसे आश्रय कहते हैं। जहाँ ऐसा कोई व्यक्ति दिखाया या वर्णित न किया गया हो वहाँ उस 'आश्रय' की कल्पना कर ली जाती है।

अनुभाव

विभावों के कारण जो आश्रय के हृदय में भाव उत्पन्न होकर प्रकट या अनुभूत होते हैं, उन्हें अनुभाव कहते हैं। ये तीन प्रकार के होते हैं—१. सात्त्विक, २. आंगिक और ३. वाचिक। सात्त्विक के अन्तर्गत आठ भाव लिये गये हैं—१. स्तम्भ—ठक रह जाना या जड़ हो जाना; २. स्वेद—पसीना आना; ३. रोमांच—शरीर के रोंगटे खड़े हो जाना; ४. स्वरभंग—बोली न निकलना; ५. कम्प—कँपकँपी छूटना; ६. वैवर्ण्य—मुँह पीला पड़ जाना; ७. अश्रु—आँसू बहाना और ८. प्रलय—हक्का-बक्का होकर चेतनाहीन व्यक्ति के समान गुमसुम हो जाना।

संचारी भाव

जब किसी विशेष परिस्थिति के उत्पन्न होने पर आश्रय के मन में अनेक प्रकार के भाव उठते और क्षण-क्षण पर आते-जाते रहते हैं, तब इन भावों को संचारी भाव

कहते हैं। इनकी संख्या तेतीस मानी गयी है। किन्तु यह गणना न तो उचित ही है और न विवेकपूर्ण ही। अभिनव-भरत का मत है कि संचारी भावों का जो विवेचन किया गया है उसमें अनेक प्रकार की त्रुटियाँ हैं। उनके मतानुसार कुछ पुराने संचारी निकाल-कर तथा कुछ नये जोड़कर बत्तीस संचारी भाव होने चाहिए, जिनका विवरण पीछे दिया जा चुका है।

स्थायी भाव

रसों के अनुसार अग्रांकित स्थायी भाव माने गये हैं—१. श्रृंगार का स्थायी भाव रति; २. हास्य का हास; ३. करुण का शोक; ४. रौद्र का क्रोध; ५. वीर का उत्साह; ६. भयानक का भय; ७. बीभत्स का जुगुप्सा या घृणा; ८. अद्भुत का विस्मय (और यदि शान्त को भी रस मान लिया जाय तो उसका स्थायी भाव निर्वेद या शान्ति होगा)। इन आठों स्थायी भावों का विवरण पहले विस्तार से दिया जा चुका है।

मम्मट का विवेचन

मम्मट ने काव्यप्रकाश में कहा है कि जैसे दूध ही जमकर दही बन जाता है उसी प्रकार विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावों से प्रेरित होकर स्थायी भाव ही रस बन जाता है। उनका कहना है कि सहृदयों के हृदय में रति, हास, शोक आदि भाव छिपे या दबे हुए रहते हैं किन्तु काव्य सुनने या पढ़ने अथवा नाटक देखने से वे उभड़-कर रस बन जाते हैं। पीछे नाटक के प्रकरण में नायक-नायिकाओं का वर्णन करते समय हम नायक-नायिकाओं के भेद और उनके गुण आदि सबका विस्तार से विवेचन कर आये हैं।

श्रृंगार को रसराज (सब रसों का राजा) कहा गया है, क्योंकि श्रृंगार में दो आलम्बन (नायक-नायिका) होते हैं, सभी अनुभाव हो सकते हैं और सभी संचारी भाव हो सकते हैं। श्रृंगार के दो पक्ष हैं—१. सम्भोग या संयोग-श्रृंगार, जिसके अन्तर्गत नायक-नायिका का पारस्परिक अवलोकन, आलिंगन आदि आते हैं, २. विप्र-लम्भ या वियोग-श्रृंगार, जिसमें शंका, उत्सुकता, मद, ग्लानि, निद्रा, प्रमाद, चिन्ता, असूया, निर्वेद, स्वप्न आदि व्यभिचारी भाव और सन्ताप, निद्राभंग, कृशता तथा प्रलाप आदि अनुभाव माने गये हैं। यह वियोग पाँच कारणों से माना गया है—(क) अभिलाषा, (ख) ईर्ष्या, (ग) विरह, (घ) प्रवास, (ङ) शाप। इनमें अभिलाषा से वह वियोग होता है जहाँ चित्र-दर्शन, प्रत्यक्ष-दर्शन, स्वप्न-दर्शन, गुण-श्रवण

आदि से पूर्वानुराग होता है। इस वियोग-शृंगार में दस काम-दशाएँ मानी गयी हैं—१.अभिलाषा, २.चिन्ता, ३.स्मृति, ४.गुण-कथन, ५.उद्वेग, ६.प्रलाप, ७.उन्माद, ८. व्याधि, ९.दृढ़ता और १०. मृति।

हास्य रस

बेढंगा आकार, बेढंगी बोली और वेश-भूषा तथा चेष्टा आदि से हास्य उत्पन्न होता है। यह दो प्रकार का होता है—१. आत्मस्थ और २. परस्थ। जो हास्य की वस्तु देखने से स्वयं उत्पन्न होता है वह आत्मस्थ और जो दूसरे को हँसते देखकर उत्पन्न होता है वह परस्थ कहलाता है। इस हास्य के छः भेद होते हैं—

(क) स्मित, (ख) हसित, (ग) विहसित, (घ) अवहसित, (ङ) अपहसित और (च) अतिहसित। ये सब भेद कम और अधिक हँसने के परिणाम के अनुसार बनाये गये हैं।

करुण रस

बन्धुओं के विनाश और वियोग से अथवा धर्म पर आपत्ति या द्रव्यनाश आदि अनिष्ट घटनाओं से करुण रस उत्पन्न होता है।

रौद्र रस

शत्रु का सम्मुख होना या कार्य करना, अपमानित होना, किसी के द्वारा बुराई होना या गुरुजनों की निन्दा आदि से रौद्र रस उत्पन्न होता है।

वीर रस

अत्यन्त उत्साह से वीर रस की उत्पत्ति मानी गयी है। इस वीर रस के चार भेद हैं; १. दानवीर, २. धर्मवीर, ३. युद्धवीर और ४. दयावीर। किन्तु अब इनमें पाँचवा 'विक्रमवीर' भी बढ़ा लेना चाहिए जो उन लोगों के लिए प्रयुक्त हो सकता है जो असाधारण कार्य करने का साहस करते हैं, जैसे हिमालय पर्वत पर चढ़ना। कुछ आचार्यों ने यह माना है कि 'वीर-रस का प्रयोग केवल युद्ध में ही करना चाहिए' किन्तु यह मत ठीक नहीं है। उत्साह के और भी बहुत से क्षेत्र हैं। जो व्यक्ति अपने प्राण संकट में डालकर डूबते को बचाता है वह भी वीर ही है।

भयानक रस

जब कोई बलवान् अपने ऊपर आक्रमण करे या कोई भयंकर वस्तु दिखलाई दे तब भयानक रस होता है।

बीभत्स रस

जहाँ रुधिर, मज्जा या अन्य घृणित वस्तुएँ देखने से ग्लानि हो वहाँ बीभत्स रस होता है।

अद्भुत रस

आश्चर्यजनक विचित्र वस्तुओं को देखने से अद्भुत रस व्यक्त होता है।

शान्त रस

जो लोग शान्त रस मानते हैं उनका कहना है कि 'तत्त्वज्ञान और वैराग्य से शान्त रस होता है।' इसका स्थायी भाव निर्वेद या शान्ति, संसार की असारता ही आलम्बन, आश्रय, तीर्थ, श्मशान, सत्संग आदि उद्दीपन, रोमांच और अश्रु आदि अनुभाव और स्मृति, मति आदि संचारी भाव होते हैं।

शेष आठ रसों के स्थायी भावों का विस्तृत विवरण हम पीछे 'साहित्य के विषय और प्रयोजन' के प्रकरण में दे आये हैं जहाँ यह भी बताया गया है कि प्रत्येक स्थायी भाव के कितने रूप होते हैं और उनके साथ कितने अनुभाव, संचारी भाव तथा चेष्टाओं का प्रदर्शन होता है।

भाव

देवता, गुरु, महापुरुष और पुत्र आदि के प्रति जो पूज्य-बुद्धि, श्रद्धा-बुद्धि या वात्सल्य-बुद्धि होती है वह 'भाव' कहलाती है। इसी प्रकार जब आलम्बन को देखकर उसके अनुकूल स्थायी भाव जाग तो जाय किन्तु उद्दीपन, अनुभाव और संचारी न हों, तब वे भी भाव ही कहलाते हैं। इनके अतिरिक्त जहाँ संचारी भाव ही प्रधानता से व्यक्त होते दिखाई पड़ें वे भी भाव होते हैं, जैसे हर्ष, उत्सुकता आदि।

रसाभास

जब अनुचित और असंगत रूप से रस का प्रयोग किया जाता है, जैसे चिड़ियों के

प्रेम का या नायक-नायिका में एकपक्षीय प्रेम दिखाना आदि। ऐसी स्थिति में रसाभास होता है, रस नहीं।

भावाभास

जब अनुचित और असंगत रूप से भाव का वर्णन किया जाता है, जैसे पक्षी द्वारा चिन्ता वर्णन या जहाँ रसाभास के अंग होकर भाव आते हैं उन्हें भावाभास कहते हैं।

भावशान्ति

जहाँ एक भाव का वर्णन हो रहा हो, उसी समय किसी दूसरे भाव के सहसा प्रकट हो जाने से पहले भाव की समाप्ति में जो चमत्कार आ जाता है उसे भावशान्ति कहते हैं। जैसे—

बहुविधि सोचत सोच-विमोचन। स्रवन सलिल राजिवदल-लोचन॥
प्रभु प्रलाप सुनि कान, बिकल भये बानर निकर।
आइ गये हनुमान, जिमि करुणा महँ बीर रस॥

भावोदय

जहाँ किसी भाव के समाप्त होने पर सहसा कोई दूसरा भाव उदय हो और उसके उदय होने में कोई चमत्कार हो वहाँ भावोदय होता है।

भाव-सन्धि

जहाँ समान चमत्कार वाले दो भाव एक साथ उपस्थित हों वहाँ भाव-सन्धि होती है।

भाव-शबलता

जहाँ एक साथ एक के अनन्तर दूसरे भाव आकर एकत्र हो जायँ वहाँ भाव-शबलता होती है।

अध्याय ३६

प्रेक्षकों के संस्कार और नाट्य-परीक्षा

जब सर्वप्रथम ब्रह्माजी से इन्द्र के नायकत्व में देवताओं ने कोई ऐसा क्रीडनीयक या खेल बनाने की प्रार्थना की जो दृश्य और श्रव्य दोनों हो, तब उन्होंने यह भी कहा था कि वह केवल तीन उच्च वर्णों के लिए ही नहीं वरन् सार्ववर्णिक हो, जिसमें सब वर्णों के लोग आकर नाट्य-वेद का आनन्द ले सकें। ब्रह्माजी ने जो सबसे पहला नाटक महेन्द्र-विजयोत्सव के समय देवासुर-संग्राम के रूप में किया था उसमें यह दिखाया गया था कि देवताओं ने किस प्रकार दैत्यों को जीत लिया। यह नाटक संफेट, विद्रव, क्लेद्य और भेद्य आदि घटनाओं से युक्त आरभटी वृत्ति का नाटक था। इस नाटक से देवता तो बहुत प्रसन्न हुए किन्तु इस दैत्य-दानव - नाशन प्रयोग से जितने दैत्य आये थे वे बड़े रुष्ट हुए और उन्होंने अपनी माया से अभिनेताओं की वाणी और स्मृति कीलित कर दी। यद्यपि इन्द्र ने उन दैत्यों को मार भगाया फिर भी उस पहले ही नाटक में विघ्न तो उपस्थित हो ही गया। इसका तात्पर्य यह हुआ कि नाटक में कोई ऐसी बात नहीं होनी चाहिए जो दर्शकों के किसी वर्ग को अप्रसन्न करने वाली, उनके आत्मसम्मान या मर्यादा को ठेस पहुँचाने वाली हो।

प्रेक्षकों के प्रकार

सिद्धियों के प्रसंग में ही भरत ने अपने नाट्यशास्त्र के सत्ताईसवें अध्याय में प्रेक्षकों के गुणों की सूची दी है। भरत ने अपने नाट्यशास्त्र के प्रारम्भ में ही बताया है कि यह नाटक (नाट्य-वेद) सार्ववर्णिक है अर्थात् सब वर्णों के लोगों के लिए दर्श-नीय है। किन्तु नाटक देखने चाहे जिस वर्ण के लोग भी जायँ, उनमें कुछ विशेष गुणों का होना आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य भी है। जो व्यक्ति ठीक इन्द्रियों वाला हो (पागल न हो,) प्रत्येक बात पर विचार कर सकता हो, दोष-रहित हो, अनुरागी हो वही प्रेक्षक हो सकता है। आगे उन्होंने बताया है कि सब प्रेक्षकों में ये गुण नहीं होते किन्तु विभिन्न प्रकृति के लोग विभिन्न प्रकार की बातों से तुष्ट हो जाते हैं। साधारण रूप से उन्होंने बताया है कि जो संतोष के अवसर पर तुष्ट हो,

शोक में शोकान्वित हो, क्रोध में क्रुद्ध और भय में भयभीत हो वही श्रेष्ठ प्रेक्षक होता है।

दर्शक जब किसी नाट्यशाला में जाते हैं तो उनका उद्देश्य यह भी होता है कि रंगमंच पर जो कुछ हो वह दिखाई भी दे और सुनाई भी दे। जब वह उन्हें दिखाई या सुनाई नहीं देता तब स्वभावतः वे कोलाहल करते हैं और बाधा पहुँचाते हैं। नाटक का प्रयोग सदा ऐसा होना चाहिए जो सब प्रकार की वृत्ति के लोगों को तप्त और प्रसन्न कर सके, क्योंकि वहाँ जितने लोग एकत्र होते हैं वे अनेक रुचि वाले होते हैं और अपने-अपने नित्य के काम-धन्धे से मुक्त होकर वहाँ मनोविनोद के लिए जाते हैं। अपनी रुचि को पुष्ट और तुष्ट करने वाली इस कला का आनन्द लेने के साथ जब दर्शक अपनी लौकिक चिन्ताओं से व्याप्त होने पर भी अपने सम्मुख रंगमंच पर जीवन की विभिन्न अवस्थाओं का मूर्त अभिनय देखते हैं तब उनका हृदय रंगमंच पर अभिनय करने वाले नटों तथा उनके अभिनय से इतना प्रभावित हो जाता है कि उनकी चिन्ताएँ उतनी देर के लिए नितान्त मौन हो जाती हैं और वे अपने सम्मुख होने वाले अभिनय में मग्न होकर उसका रस लेने लगते हैं और इस आनन्द तथा रस के साथ-साथ वे अव्यक्त रूप से अपने चरित्र, स्वभाव तथा वृत्तियों का अनजाने नाटकीय विभावन के द्वारा सुधार और परिष्कार भी करते चलते हैं। इस नाटकीय उदात्त विभावन (ड्रेमेटिक प्रेस्टीज सजेशन) से दर्शकों के मन में दो प्रकार की वासनाएँ अव्यक्त रूप से जड़ पकड़ती चलती हैं—एक तो यह कि अमुक प्रकार के कार्य अमुक प्रकार से करने भी हों तो अमुक प्रकार से करने चाहिए। इस मनोवैज्ञानिक विभावन पद्धति को भारतीय साहित्यशास्त्र के आचार्यों ने 'कान्तासम्मित उपदेश' बताया है जो अव्यक्त तथा अदृष्ट रूप से प्रभाव डालता रहता है और जो नाटक में होने वाली घटनाओं या व्यक्तियों की क्रियाओं के परिणामस्वरूप अपने आप दर्शक या सामाजिक के चरित्र में बिना अध्यवसाय के घुलता-मिलता बैठता चला जाता है। यही कारण है कि आज अनेक देशों में नाटक को शिक्षा-योजना का प्रमुख अंग मान लिया गया है। इसके पूर्व भी यूरोप में सोलहवीं और सत्रहवीं शताब्दी में ईसाई धर्म-प्रचार के लिए रहस्यमय तथा नैतिक नाटक खेलकर जनता की रुचि और जीवन का नैतिक संस्कार किया गया था।

फ्रांस के प्रसिद्ध नाट्य-समीक्षक देनी दिदरो ने इस सम्बन्ध में एक बड़ी विलक्षण बात अपने 'ला पारादोक्से सुर ला कोमेदिए' नामक ग्रन्थ में सन् १७७३ में ही भारतीय रस-सिद्धान्त का समर्थन करते हुए कही थी कि जिस श्रेष्ठ अभिनेता का भावात्मक अभिनय दर्शकों को अत्यधिक प्रभावित करता है वह अभिनय के समय पूर्णतः आत्म-

चेतनाहीन हो जाता है, अर्थात् वह जिस भाव की अभिव्यक्ति करता है उसका स्वतः अभिनय नहीं करता। अनेक प्रकार के चरित्रों के रूप की व्याख्या करने में कुशल होने के कारण वह अपनी भूमिका को भली भाँति समझ लेता है और फिर मन में यह बात खोज लेता है कि जिस व्यक्ति का वह अभिरूपण करने जा रहा है उसके लिए कौन सी क्रिया आदर्श और उसके अनुरूप होगी, अर्थात् वह प्रकृति का सीधा अनुकरण करता है और आदर्श प्रतिमूर्ति की भावना तक उठ जाता है। उसकी प्रत्येक बात कलाकृति हो जाती है। उसके शब्दों की गति और स्वरता नपी-तुली होती है, उसकी भावभंगी नियमित और निरन्तर नियंत्रित होती है, उसके हर्ष और विषाद उसकी भाषण-शैली की प्रणाली के अंग हो जाते हैं। ये सब बातें चेतना से अर्थात् मन की उस भावात्मक दशा से मेल नहीं खातीं जो मनुष्य की सब शक्तियों को आत्मसात् कर लेती है और उसकी चेतना को अविभक्त करके इतनी अशक्त कर देती है कि किसी भी सफल भूमिका के अभिनय की आवृत्ति असंभव हो जाती है। तात्पर्य यह है कि भावमग्न होने वाला या भावानुभूति करने वाला तो दर्शक होता है। अभिनेता उस भाव को प्रस्तुत करता है। हमारे यहाँ भी रस-सिद्धान्त में अन्त में यही निष्कर्ष निकलता है कि रस का आनन्द या रस का स्वाद दर्शक ही लेता है। अभिनेता तो रस की परिस्थिति प्रस्तुत करते हैं। किन्तु दर्शक तभी रस का आस्वादन कर सकते हैं जब उनके रस की सामग्री विद्यमान हो, उनकी रुचि की वस्तुएँ और सामग्रियाँ वहाँ एकत्र हों। ऐसा न होने पर चाहे जितने भी बड़े नाटककार के द्वारा कितना ही अच्छा नाटक प्रस्तुत किया जाय वह सफल नहीं होता। अतः चाहे दर्शकों को आकृष्ट करने के लिए, अथवा उनकी रुचि और उनके भाव का संस्कार करने के लिए, किसी भी उद्देश्य से नाटक प्रस्तुत किया जाय किन्तु उसमें जनता की रुचि को तृप्त करने की सामग्री अवश्य होनी ही चाहिए।

यूनान और रोम के नाटकों की रचना में जनता की रुचि का बड़ा प्रमुख हाथ था। यूनानी नाटक पूर्णतः यूनानी तथा स्वतः विकसित थे। उनकी जड़ें जनता के व्यापक राष्ट्रीय जीवन में फैली हुई थीं। यदि नाटककार अपने दर्शकों को शिक्षित करना भी चाहता था तो वह जानता था कि हमारे दर्शक काव्य को समझते हैं और उसके सौन्दर्य से प्रभावित होने की क्षमता भी रखते हैं। यहाँ तक तो ठीक है किन्तु किसी भी सामाजिक या लोकप्रिय कला के विकास के लिए यह भी आवश्यक है कि जनता की रुचि को भी विकसित किया जाय। यूनानी नाटक के ह्रास का कारण यही हुआ कि जनता की रुचि उधर से हट गयी।

रोम में नाटक की स्थिति इससे पूर्णतः भिन्न थी। वहाँ भी नाटक इसलिए लिखे जाते थे कि सम्पूर्ण नगर की जनता के सम्मुख खेले जायँ, जो काव्य से अनभिज्ञ, नाट्य

रूप से अनभ्यस्त और यूनानी त्रासद और प्रहसन की कथाओं से अपरिचित थी। तेंरस ने अपने हेकुरा (सास) नाटक के प्रयोग के सम्बन्ध में जनता की रुचि का बड़ा मनोरंजक विवरण दिया है। सन् १६५ ई० पू० में जब पहली बार नाटक खेला जा रहा था उसी समय ज़नता वहाँ से उठकर मुक्की और रस्सी पर चलने का खेल देखने के लिए भाग खड़ी हुई। सन् १६० ई० पू० में पुनः नाटक चल ही रहा था कि बीच में कहीं से यह समाचार फैल गया कि शस्त्र-युद्ध खेल हो रहा है। फिर क्या था, भगदड़ मच गयी, खेल नष्ट हो गया। उसी वर्ष के अन्त में बहुत परिश्रम के पश्चात् कहीं वह खेल पूरा हो पाया। इस प्रकार की घटनाएँ इस बात के प्रमाण हैं कि जिस समय इटली में 'फेबूला पैलियाता' (२४० ई० पू० में लिविएस अन्द्रोनिकल द्वारा रोम में चलाया हुआ प्रमुख लातिन प्रहसन) अपनी चरम सीमा पर था उस समय तक भी लोगों की रुचि इतनी दरिद्र थी। इतना ही नहीं, आगस्तन युग में (सम्राट् आगस्तस का राज्यकाल, ३१ ई० पू० से १४ ई० तक) भी जब लोगों की रुचि इतने उच्च स्तर पर पहुँच गयी थी कि लोगों ने वर्जिन के बुकोलिक्स काव्य का अभिनन्दन किया था, उस समय भी नाटक की दशा दयनीय थी, क्योंकि जनता नाटक की अपेक्षा जानवरों के जंगली युद्धों और अश्लील प्रदर्शनों में अधिक रुचि लेती थी, नाटक में कम। इसका अर्थ यह है कि जनता की एक सामान्य लोकरुचि होती है जिसे पूर्ण रूप से साधकर नाटक की ओर प्रवृत्त करना नाटककार का काम है, जैसा चलचित्र वालों ने किया भी है। किन्तु नाटककार का काम है जनता की रुचि-सामग्री इस प्रकार प्रस्तुत करना कि लोकरुचि का परिष्कार भी हो और नाटक में लोकरुचि की वृद्धि भी हो।

प्रारम्भिक काल में जब आग जलाकर या किसी देवी-देवता के सम्मुख लोग नाचते-गाते थे तब अन्य दर्शक लोग उसका रस लेते थे और उनके चारों ओर खड़े होकर उनके ताल और लय से युक्त गीत, नृत्य और वाद्य का आनन्द लेते थे। दर्शक जितने ही अधिक होते थे उतनी ही अधिक तन्मयता अभिनेताओं में आती थी। आज भी जिस खेल में दर्शक कम होते हैं उसमें अभिनेताओं को अभिनय करने में भी आनन्द नहीं मिलता, क्योंकि दर्शकों की चमकती हुई आँखें, विषाद के समय उनके मुख पर छाये हुए आँसू अर्थात् उनकी भावात्मक प्रतिक्रिया निरन्तर अभिनेता को उत्साहित किया करती है। यह सत्य है कि अभिनेता दर्शकों को प्रदीप्त करता है किन्तु उनके द्वारा वह प्रदीप्त भी होता है, यह उससे भी अधिक सत्य है।

कभी-कभी चलचित्र-शालाओं और रंगशालाओं में दर्शकगण अभिनेता के द्वारा गाये हुए गीत के साथ स्वर मिलाकर गाने भी लगते हैं। यह उसकी स्वाभाविक भूमिका की प्रतिध्वनि है। किन्तु रंगशाला में केवल जीवन के ऐसे आभास मात्र की आवश्य-

कता नहीं जिससे इस प्रकार की एकरूपता हो जाय, वरन् उस आभास की दबी हुई अभिज्ञता होनी चाहिए या वैसा उल्लास उत्पन्न होना चाहिए जैसा जीवन में किसी कलात्मक जागति के बदले होता है। आजकल प्रचार या आर्थिक लाभ के लिए इस प्रकार की उत्तेजना और उल्लास उत्पन्न करने की बहुत सी विधियों का प्रयोग किया जाता है, जैसे कुछ नाटक पूरी रंगशाला में खेले जाते हैं और दर्शकों को भी सह-अभिनेता बना लेते हैं, उदाहरण के लिए बारी और राइस का कौकरोबिल नाटक और सी० ओडेट्स का 'वेटिंग फ़ॉर लेफ्टी'। कुछ नाटकों में रंगमंच पर कचहरी का दृश्य दिखाया जाता है और इस प्रकार वह दृश्य चलाया जाता है मानो सब दर्शक कचहरी के कक्ष में हों, जैसे बी० वीलर का 'दि ट्रायल ऑफ़ मेरी डूगन'। इसी प्रकार के कुछ और भी उपाय निकाले गये हैं, जैसे काउफमान और कानली के 'बैंगर आन हार्स-बैंक' नाटक में दर्शकों में समाचारपत्र बाँटे जाते हैं। इस प्रकार के प्रयोगों में जब पूर्णतः भ्रान्ति उत्पन्न करने का प्रयत्न किया जाता है तब दर्शक सिसकारी भरते हैं, सीटी बजाते हैं जो फ्रान्स और इटली की रंगशालाओं में तो बहुत होते हैं। ह्यूगो के 'हर-नानी' नाटक में सन् १८३० में और पिरानदेलो के नाटक में १९२१ में तो दर्शकों और अभिनेताओं में परस्पर हाथापाई भी होने लगी थी। किसी नाटक के चरमोत्कर्ष के अवसर पर दर्शक ही इस प्रकार की भावात्मक अभिव्यक्ति का प्रदर्शन या इन्तर-नाशोनाह्ल (प्रदर्शनों के अवसर पर वर्गवादियों द्वारा गाये जाने वाले गीत) का गायन या अमेरिका के 'द स्टार स्पैंगिल्ड बैनर' जैसे राष्ट्रीय गीत का समवेत गायन करने लगते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि वे रंगशाला की कलात्मक अनुभूति में नहीं वरन् स्वयं नाटक के भावावेश में ही भागी हो जाते हैं।

इस प्रकार के प्रयोगों में सदा बड़ा संकट रहता है। प्रसिद्ध नाट्य-प्रयोक्ता फ्राक्स रीनहार्ट ने रोलेन्ड के 'डान्टन' नाटक में अभियोग के दृश्य में दर्शकों को ही उत्तेजित भीड़ के रूप में प्रयुक्त किया। दर्शकों के बीच में ही दर्शक बनकर अभिनेता भी बैठे थे जो अभियोग के समय विरोध करते, चिल्लाते, गाली देते और इस प्रकार जनता के क्रोध की अभिव्यक्ति करते थे। उस समय यह बताना संभव नहीं था कि जो महिला इस प्रकार पास बैठी हुई चिल्ला रही है वह अभिनेत्री है या सचमुच विक्षुब्ध होकर चिल्ला रही है। परिणाम यह हुआ कि उस दृश्य का कलात्मक प्रभाव नष्ट हो गया और यदि थोड़ी देर ऐसा और होता तो विप्लव हो जाता। प्रहसन में इस प्रकार के प्रयोग (जैसे 'हेलजा पापिन' में) अधिक सफल होते हैं। यद्यपि इस प्रणाली का प्रयोग बहुत संयम और सफलता के साथ किया गया था, फिर भी संकट बना ही रहता है कि कहीं दर्शक आपे से बाहर न हो जायें। यूनानी रंगमंच पर भी अभिनेतागण दर्शकों के बीच

जाते थे किन्तु वे ऊँची खड़ाऊँ और मुखौटे लगाते थे इसलिए किसी प्रकार का भ्रम होने की आशंका नहीं थी। यद्यपि यूनानी इतिहास में यह विवरण मिलता है कि जब अस्कुलस का 'क्यूरीज़' नाटक खेला गया तो अभिनेताओं का भयंकर रूप देखते ही बहुत सी गर्भवती स्त्रियों का गर्भस्राव हो गया, किन्तु आज के वास्तविकतावादी रंग-मंच पर किसी भी कलात्मक अनुभव को वास्तविक अनुभव के साथ मिलाकर गड़बड़-घोटाला नहीं करना चाहिए। कभी-कभी दर्शक इस प्रकार की भ्रान्ति को दूर करने के लिए ताली बजाकर यह स्पष्ट कर देते हैं कि यह जो कुछ हो रहा है वह नाटक का अंश है। किन्तु जब लोग एक मूल आनन्द को पूर्णतः तन्मय होकर देखते हैं तभी वास्तव में किसी नाटक के साथ दर्शकों का पूर्ण सहयोग होता है। अतः यह अत्यन्त आवश्यक है कि इस प्रकार के प्रयोगों को दिखलाकर ऐसी भ्रान्ति उपस्थित नहीं करनी चाहिए जिससे नाटक के रस में बाधा हो।

मनोवैज्ञानिक दूरी

इस सिद्धान्त को स्पष्टतः समझने के लिए मनोवैज्ञानिक दूरी या मानसिक दूरी (साइकिक डिस्टेन्स) का सिद्धान्त समझ लेना चाहिए। मानसिक दूरी का अर्थ है कि द्रष्टा यह समझ लेता है कि मैं किसी कलाकृति के सम्मुख हूँ और मेरे सम्मुख क्रिया हो रही है, जो पात्र हैं और जो भावावेग दिखाये जा रहे हैं वे वास्तविक या व्यावहारिक जीवन के अंग नहीं हैं। इस प्रकार की भावना से हम किसी कलात्मक वस्तु के प्रयोगात्मक पक्ष की अपेक्षा उसके कलात्मक पक्ष का अधिक आस्वादन करते हैं। सजीव अभिनेताओं के होने से रंगमंच पर इस प्रकार की दूरी आवश्यक है और फिर अभिनेता का सम्पूर्ण कौशल तभी दर्शकों को विभावित कर सकता है, जब उनको यह अनुभूति हो कि हम रसपूर्ण कलात्मक कृति देख रहे हैं, क्योंकि वास्तविक जीवन में जो हमारा अनुभव होता है वह भावात्मक होता है, रसात्मक नहीं। उसे रसात्मक बनाने के लिए यह आवश्यक है कि हम द्रष्टा रहें, उसके भागी या अंग नहीं।

इस प्रकार दर्शकों की भावना को परिष्कृत करने के लिए उनमें यह भावना उत्पन्न करना आवश्यक है कि वे किसी कलात्मक कृति के साक्षी हैं और दूसरे, लोक-रुचि के सम्पूर्ण साधन नाटक में इस प्रकार एकत्र करना आवश्यक है कि उनके माध्यम से ही हम लोकरुचि का संस्कार भी कर सकें और उनमें कलात्मक कृति के सौन्दर्य का आनन्द लेने, उसकी व्याख्या और समीक्षा करने तथा उसकी प्रशंसा करने की क्षमता उत्पन्न कर सकें।

नाट्य-परीक्षा

महाकवि कालिदास ने अपने अभिज्ञानशाकुन्तल नाटक की प्रस्तावना में ही यह कहलाया है कि हम तब तक अपने नाट्य-प्रयोग को सफल नहीं मानते जब तक कि विद्वान् लोग उसे ठीक न बता दें और उससे संतुष्ट न हो जायँ, क्योंकि अभिनेताओं को चाहे जितने अच्छे ढंग से भी सिखाया जाय फिर भी उन्हें अपने ऊपर भरोसा नहीं होता। यद्यपि नाटक की सफलता का बहुत सा श्रेय तो नाटक की कथा और नाटककार के नाट्य-ग्रथन-कौशल पर अवलम्बित होता है, फिर भी नाट्य-प्रयोक्ता के इस कौशल पर नाटक की सफलता अधिक अवलम्बित होती है कि वह उसे किस प्रकार प्रस्तुत करता है। इसे प्रस्तुतीकरण कौशल (आर्ट आफ़ प्रेज़ेन्टेशन) कहते हैं ; अर्थात् वेश-भूषा, दृश्य-सज्जा, संगीत-व्यवस्था, प्रकाश-व्यवस्था और अभिनय के संयोग से वह किस प्रकार नाटक को रमणीय और आकर्षक बनाता है। यद्यपि आजकल कुछ अभिनेता-सिद्ध (ऐक्टर प्रूफ) नाटक भी लिखे जाने लगे हैं, जिन्हें कोई भी नाट्य-मंडली खेले, वे अवश्य ही सफल होंगे, पर अधिकांश नाटक विशेष उद्देश्य और कला से लिखे जाते हैं जिनमें कुशल अभिनेताओं की आवश्यकता होती है और उन्हीं पर नाटक की सफलता अवलंबित होती है।

नाट्य-कला को प्रोत्साहन और इस प्रोत्साहन के द्वारा नाट्य-मण्डलियों में स्पर्धा उत्पन्न करके उन्हें श्रेष्ठतम नाटक प्रस्तुत करने की प्रेरणा देने के लिए हमारे यहाँ भी पहले नाट्योत्सव या नाट्य-प्रतियोगिताएँ होती थीं, जिनमें अनेक नाट्य-मण्डलियाँ आ-आकर अपने नाटक प्रस्तुत करती थीं और उनमें सफल नाटकों को विजय-पताका दी जाती थी। यूनान में भी दिअनुसस के उत्सव पर इसी प्रकार नाट्य-प्रतियोगिताएँ होती थीं जिनमें प्रायः एक-एक नाटककार तीन-तीन नाटक (ट्रायों) प्रस्तुत करते थे और ये नाटक दिन-भर होते रहते थे। प्रायः अन्य देशों में भी, जैसे यूनान में इन नाट्य-प्रयोक्ताओं या नाटककारों का परीक्षण करने के लिए कुछ निर्णायक होते थे और उनके निर्णय के अनुसार पुरस्कार दिये जाते थे।

नाट्य-सिद्धियाँ—शारीरिक सिद्धि

भरत ने भी अपने नाट्यशास्त्र में नाटकों के परीक्षण का विधान किया है। उन्होंने बताया है कि नाट्य-प्रयोजन की सिद्धि अर्थात् साध्य, प्रयोजन , सिद्धि और संपत्ति का निर्णय बारह गुणों या सिद्धियों पर अवलम्बित है। इनमें से दस तो मानुषी सिद्धियाँ हैं और दो दैवी। मानुषी सिद्धियों में से दो तो शारीरिक हैं और शेष आठ वाङ्मयी। जब कोई अभिनेता कुतूहल जगाने वाला और आवेग से पूर्ण ऐसा सुन्दर अभिनय करता है

कि दर्शक रोमांचित हो उठे तो वह अभिनेता की प्रथम शारीरिक सिद्धि मानी जाती है। जव रंगमंच पर होने वाली लड़ाई, झगड़े या मार-पीट के दृश्यों को देखकर उसे वास्तविक समझ कर दर्शक तन्मय हो जायँ और आत्म-विस्मृत होकर अपने स्थान पर खड़े होकर अपनी टोपी या कपड़े उछालने और उँगली चमकाने लगें, तो यह अभिनेता की दूसरी सिद्धि कहलाती है। अर्थात् अभिनेता के कलात्मक अभिनय-कौशल को देखकर जब दर्शकगण शारीरिक चेष्टाओं के द्वारा उसके अभिनय की सराहना करने लगते हैं तब वे अभिनेता की सिद्धियाँ शारीरिक सिद्धियाँ कहलाती हैं।

वाङमयी सिद्धि

जब दर्शकगण किसी अभिनेता के अभिनय को देखकर मुख से उसकी प्रशंसा करते हैं तव वह वाङमयी सिद्धि कहलाती है। ये सिद्धियाँ आठ प्रकार की होती हैं। स्मित, अर्द्धहास, अतिहास, साधुकार, अहोकार, कष्टकार, प्रवृद्धनाद और अवकृष्ट। जब अभिनेता के अभिनय को देखकर प्रेक्षक स्वाभाविक भाव से मुस्करा उठता है तो उसे स्मित सिद्धि कहते हैं। जब अभिनेता अपने हास्योत्पादक वचनों से प्रेक्षकों के मुख पर कुछ-कुछ हास्य प्रकट कर देता है उसे अर्ध-हास्य सिद्धि कहते हैं। जब अपनी किसी अटपटी या चतुरतापूर्ण वाणी से विदूषक अपनी बात से राजा के सुख में उसे रुला दे और दु:ख में उसे हँसा दे उस समय जब दर्शक ठठाकर हँस पड़ते हैं, उसे अतिहास सिद्धि कहते हैं। जब किसी अभिनेता का अतिशयोक्ति-पूर्ण मधुर भाषण सुनकर दर्शक सहसा 'साधु-साधु' कह उठते हैं, तो उसे साधु सिद्धि कहते हैं। जब आश्चर्य उत्पन्न करने वाली बात सुनकर या घटना देखकर दर्शक के मुख से सहसा 'अहो, वाह, अरे !' आदि निकलता है तो उसे हम अहो सिद्धि कहते हैं। जब किसी करुण दृश्य को देखकर दर्शक समवेदना से भरकर 'आह, हाय ! हाय !' कह उठता है उसे कष्ट सिद्धि कहते हैं। जब किसी विशेष कौशल को देखकर आश्चर्य-चकित होकर दर्शक अनेक प्रोत्साहन-सूचक और आश्चर्यसूचक शब्द कह उठते हैं, जैसे 'वाह ! क्या कहने, कमाल कर दिया' आदि, इसे प्रवृद्ध-नाद सिद्धि कहते हैं। यदि रंगमंच पर एक पात्र दूसरे की निन्दा करके दर्शकों में उस पात्र के प्रति ऐसी घृणा उत्पन्न कर दे कि दर्शकों के मुख से घृणा-सूचक शब्द निकले, उसे अवकृष्टा या साधिक्षेपा सिद्धि कहते हैं।

दैवी सिद्धि

मानुषी और वाङ्मयी सिद्धि के अतिरिक्त दैवी सिद्धि भी दो प्रकार की होती है। पात्र की भूमिका के अनुरूप वेश-भूषा और भाव-भंगी बना लेने को पहली दैवी सिद्धि

कहते हैं, और नाटक प्रारम्भ होने से लेकर पूर्ण होने तक किसी प्रकार की कोई बाधा न आना दूसरी दैवी सिद्धि है। ये बाधाएँ चार प्रकार की होती हैं—दैवी, नट-दोष, शत्रुकृत और औत्पातिक। आँधी, वज्रपात और आग लगना आदि दैवी विघ्न कहलाते हैं। जब कोई अभिनेता अपने शरीर, गुण, वाणी या योग्यता के प्रतिकूल भूमिका ग्रहण करता है अथवा भूमिका के अनुरूप अभिनय नहीं कर पाता, या अपना पाठ भूल जाता है या दूसरा पाठ कहने लगता है या अपनी भूमिका के योग्य वेश-भूषा धारण करना नहीं जानता या अपने संवाद-स्वर में स्वर ही बिगाड़ देता है, तब वे बाधाएँ नट के दोष से उत्पन्न समझी जाती हैं। जब नाटक चलते रहने के समय अभिनेता के शत्रु झगड़ा करते हैं, गाली देते हैं, चिल्लाते हैं, ताली पीटते हैं या ढेले फेंकते हैं इन्हें परसमुत्थ या शत्रुकृत विघ्न कहते हैं। जब नाटक होते समय अचानक कोई पागल या पशु आकर उपद्रव करने लगे या भूकम्प, उल्कापात आदि विघ्न हों उन्हें औत्पातिक विघ्न कहते हैं। कभी-कभी गायक और वादक भी बेसुर अलापकर, अनमेल वाद्य बजाकर नाटक के रस में बाधा डालते हैं। इन सबसे नाटक की सिद्धि या सफलता में बाधा आती है। इन्हीं सब बातों की दृष्टि से सिद्धि-लेखक (नाटक की सफलता का निर्णय करने वाले, निर्णायक) नाटक पर विचार कर निर्णय देते हैं।

सिद्धि-लेखक (निर्णायक)

अभिनेताओं के नाट्य-कौशल को देखकर और सिद्धियों की दृष्टि से परीक्षण करके निर्णय देने वाले सिद्धि-लेखक के सम्बन्ध में भरत ने बताया है कि चरित्रवान्, कुलीन, शान्त-स्वभाव, नाट्य से सम्बन्ध रखने वाली सभी बातों को जानने वाले, चतुर, पवित्र मन वाले, सम-दर्शी अर्थात् निष्पक्ष, गीत और वाद्य में कुशल, वेश-भूषा को ठीक रूप समझने वाले, विभिन्न देशों की भाषाओं के ज्ञाता, कला और शिल्प में निपुण, स्वयं अभिनय-कौशल में निष्णात, समाज की प्रकृति को भली भाँति समझने वाले ऐसे सहृदय व्यक्ति ही सिद्धि-लेखक हो सकते हैं जो दर्शकों की मुद्रा, चेष्टा और वचनों से निर्णय कर सकें कि जिस रस या भाव का अभिनय हो रहा है वह दर्शकों के मुख पर अभिव्यक्त होता है या नहीं। ये सिद्धि-लेखक भी विभिन्न वय, शील, रुचि और अनुभव वाले तथा नाट्यकला और नाट्यशास्त्र में प्रवीण होते थे जो सब गुण-दोष विचार कर नाट्य-मण्डलियों को पताका प्रदान करते थे।

प्राश्निक

जब सिद्धि-लेखकों में परस्पर मतभेद होता था कि पताका किसे दी जाय, तब

इसका निर्णय प्राश्निक या पंच करते थे। ये प्राश्निक भी शुद्ध चरित्र वाले, धर्म-दृढ, विद्वान्, लोकप्रसिद्ध, निर्लोभी, व्यसनहीन और पक्षपात-रहित, विभिन्न देशों की भाषा और रीति-नीति से अभिज्ञ और चारों प्रकार के अभिनय, संगीत और काव्य के गुण-दोष के ज्ञाता होते थे। यदि सिद्धि-लेखकों और प्राश्निकों में मतभेद होता था तो राजा ही निर्णय करता था कि किसको पताका दी जाय और यदि राजा को भी द्विविधा होती थी तब दोनों मण्डलियों को पताका दे दी जाती थी।

इस प्रकार प्राचीन भारतीय नाट्य-प्रयोग के समय दर्शकों के साथ नाट्य-समीक्षक, नाट्य-परीक्षक और नाट्य-निर्णायक भी बैठते थे। किन्तु वास्तव में नाटक का रस लेने वाले दर्शक ही होते थे।

नाट्य-समीक्षा

अभी तक नाटकीय समीक्षा या तो नाट्य-रचना और नाट्य-प्रयोग के सिद्धान्तों के प्रतिपादन तक ही परिमित रही या नाटकों और उनके प्रयोगों पर किन्हीं प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष आदर्शों के अनुसार व्यक्तिगत निर्णय के रूप में थी। त्रासद के सिद्धान्तों का सर्वप्राचीन व्यवस्थित विश्लेषण अरस्तू के काव्यशास्त्र में मिलता है। अरिस्तोफनेस ने अपने 'मेंढक' (फ्रॉग्स) में व्यंग्यपरिवृत्ति (पैरोडी) के रूप में कुछ चलती सी आलोचना दी है। रोम में भी महाकाव्य और त्रासद के रूपों की कविता पर विचार हुआ है। होरेस ने अपने 'अर्स पोएतिका' में पूर्ण सैद्धान्तिक विवेचन दिया है। सिसरो, क्विन्तीलियन और आउलस गैलियस की रचनाओं में भी नाटक और नाटककारों के सम्बन्ध में कुछ विवेचन मिलते हैं। प्रारम्भिक ईसाई आलोचकों ने भी स्वभावतः नैतिक और धार्मिक दृष्टि से नाट्यालोचन किया और ह्रासोन्मुख नाट्यशालाओं की बढ़ती हुई विलास-प्रियता और स्वच्छता का उन लोगों ने विरोध भी किया। पुनर्जागरण-काल में जब अरस्तू का काव्य-शास्त्र मिल गया तब से सभी समीक्षावादियों ने भाव-रेचन (कथासिर्स), सत्यतुल्यता या सम्भवता (वैरिसिमिली व्यूयड), तीनों एकत्व (स्थान, समय और व्यापार के एकत्व) की समस्याओं, तथा अरस्तू के सिद्धान्त के साथ होरेस के विचारों का सामंजस्य करने और उदात्तवादी (क्लासिकल) नियमों के साथ नये प्रयोग की संगति बैठाने को ही कई शताब्दियों तक नाट्यालोचन का आधार बनाये रखा। सेन्ट एवरेमौनड ने अरस्तू के करुण और भय के रेचन के विरुद्ध भली भाँति अभिव्यक्त आत्मा की महत्ता को अधिक महत्त्व दिया।

इन मौलिक सिद्धान्तों के साथ-साथ फ्रान्स में रंगशाला की दृष्टि से नाटक पर विचार होने लगा। मौलिए ने आनन्द देना ही नाटक का सबसे बड़ा गुण माना

प्रहसन में समाज की आलोचना को ही ठीक समझा और शेक्सपियर की शैली के अतिरंजित अभिनय की निन्दा करके स्वाभाविक शैली का समर्थन किया। इस नाटकीय समीक्षा में अधिकांश नाटककारों, अभिनेताओं तथा रंगशाला से सम्बद्ध अन्य कार्यकर्ताओं का ही हाथ रहा। इंग्लैंड के रेस्टोरेशन काल में फ़ॉक्स कॉर्नर में नाटकीय समीक्षकों का एक दल ही उठ खड़ा हुआ, किन्तु अठारहवीं शताब्दी में पत्रों में की हुई आलोचना ही मुख्य रूप से प्रभावशाली हुई, यहाँ तक कि कुछ पत्रों ने तो नाटकीय समीक्षा की प्रणाली ही स्थिर कर दी।

नवोदात्तवादियों (निओ क्लासिसिस्ट्स) के नियमों के विरुद्ध जर्मनी में झगड़ा उठ खड़ा हुआ, जहाँ शेक्सपियर ही नाटकीय पूर्णता और स्वतंत्रता का प्रतीक मान लिया गया था। लासिंग ने नये राष्ट्रीय थिएटर की जो समीक्षा (हाम्बुर्गिशे ड्रामाटुर्गी १७६७ से ६९ तक) लिखी, उसे ही वर्तमान नाटकीय समीक्षा का प्रारम्भ समझना चाहिए। हेगेल ने अपने इस सिद्धान्त के अनुसार कि विरोध ही सब वस्तुओं को गति प्रदान करता है, त्रासदीय संघर्ष को नाटकीय व्यापार की प्रेरणा-शक्ति माना है। इसके कारण अरस्तू के व्यापार-सिद्धान्त को फिर नाटक में प्रधानता मिल गयी और श्लेगे तथा कॉलरिज दोनों ने इस सिद्धान्त को स्वीकृत कर लिया। गुस्ताव फ्रटाग ने इसे पल्लवित किया और बूतेनिए ने अपने संकल्प (बौलिशन) के सिद्धान्त के साथ द्वन्द्व का सिद्धान्त (थियरी ऑफ कॉन्फ़्लिक्ट) मिलाकर इसे त्रासद के आगे ले जाकर सब प्रकार के नाटकों पर आरोपित कर दिया। विलियम आर्चर ने इस द्वन्द्व (कॉन्फ़्लिक्ट) को छोड़कर विषमावसर (क्राइसिस) को महत्त्व दिया। हेगेल के इन विचार-विस्तारों का परिणाम यह हुआ कि इब्सन आदि पीछे के नाटककारों ने इसके सहारे नये नाट्य-कौशलों का आविष्कार किया। यहाँ तक कि बर्नर्ड शा ने तो अपने नाटकों में भी इस प्रकार के विचार-सिद्धान्त की व्याख्या को प्रमुख स्थान दिया है। इस प्रकार हेगेल ने सामाजिक नाटक और सामाजिक भावनाओं द्वारा प्रेरित समीक्षण को जन्म दिया।

स्वैरवाद (रोमांटिसिज़्म) फिर भी चलता ही रहा। आलोचना के क्षेत्र पर ए० डब्ल्यू० श्लैगेल का अन्तर्वाद की श्रेष्ठता का सिद्धान्त, अन्तःप्रेरणा (इन्ट्यूशन), इन्द्रियों के भाव, ससीम का असीम के रूप में रहस्यात्मक परिवर्तन आदि वाद ही व्यापक रूप से छाये हुए थे। उसका मत था कि वास्तविक संसार से जो अनेक प्रकार (टाइप्स) या प्रतीक लिये जाते हैं वे कवि की निजी अन्तःप्रेरणा (इन्ट्यूशन) को उस स्पष्ट सीमा में पहुँचा देते हैं जिसे कला कहते हैं और जो प्रकृति की नग्न प्रवृत्ति होती है। कवि की ये अन्तःप्रेरणाएँ अत्यन्त महान्, रहस्यात्मक और दार्शनिक होती हैं और यही कारण है कि उनके सहारे वास्तविक संसार

के प्रतीक भी कला रूप में परिणत हो जाते हैं। ये सिद्धान्त स्वैरवादी नाटक-सिद्धान्त से इतना मेल खाते थे कि एम० मेटरलिंक, यीट्स, सोलोगुब और आन्द्रेयेव जैसे नवस्वैर-वादी नाटककारों के लिए नया क्षेत्र खड़ा हो गया और दूसरी ओर स्ट्रिंडबर्ग तथा गेओर्ग केसर के अभिव्यंजनावाद के लिए भी नया क्षेत्र खुल गया।

कॉलरिज ने भी इसी मत का समर्थन किया जिसका वर्तमान समीक्षावादी एलार्डिस निकल, जार्ज जीननेथन स्टौर्कयंग, जोसेफ वुडक्रच ने तथ्यवाद तथा सामाजिक नाटकों का विचार करते हुए प्रयोग किया है। ह्यूगो ने फ्रान्सीसी नाटक के नवोदात्तवादी रूपवाद को यह कहकर ललकार दिया कि संसार में किसी बात के लिए नियम और आदर्श नहीं हुआ करता। उसने नाटक को पृथ्वी की वस्तु अर्थात् स्वाभाविक बनाने का प्रयत्न किया है। उसने लिखा है कि हमें उदात्त और हास्यास्पद दोनों प्रकार का वैसा ही सुन्दर समन्वय करना चाहिए जैसा हम जीवन और सृष्टि में पाते हैं। दूसरा व्यक्ति जर्मन नाटककार फ्रीडरिख हेबेल है, जिसने स्वैरवादी नाटककारों पर टिप्पणी करते हुए प्रारम्भिक तथ्यवाद का समर्थन किया।

इंग्लैण्ड में विलियम हैज़लिट ने मार्निंग क्रॉनिकल पत्र में प्रकाशित नाटकों की आलोचना करने के बदले खेले हुए नाटकों की आलोचना प्रारम्भ की, जो प्रथा आज तक भी पत्रों में चली जाती है।

धीरे-धीरे सामाजिक नाटक और तथ्यवाद के पक्ष में समीक्षा बल पकड़ने लगी। समाधान-युक्त समस्या नाटक (थीसिस प्ले) का पक्ष ग्रहण करके एलेग्ज़ेन्डर ड्यूमा के पुत्र ने फ्रान्सीसी आलोचक सार-से को एक खुली चिट्ठी लिखकर बताया कि व्यक्तिगत और सामूहिक सुधार के लिए उपादेय नाटक ही अत्यन्त आवश्यक साधन है। उसकी इस प्रेरणा पर इब्सन ने और नाटक लिखे और स्वयं उसने भी अपने उपदेशात्मक नाटकों में अपने आलोचक फ्रान्सिस के सार-से का मुँह ही बन्द कर दिया, जो सुरचित संघर्षपूर्ण सुचारु नाटकों का, विशेषतः स्काइबे और सारदू के नाटकों का समर्थक था। दर्शकों को सन्तुष्ट करने वाले नाट्य-कौशल के फेर में सार-से ने अपना सीन अफ़ेयर (जनता को प्रसन्न करने वाला यह दृश्य जिसमें जनता ऊब न जाय और जिसमें जनता की रुचि का ध्यान हो) का सिद्धान्त निकाला। विलियम आर्चर ने इसका अनुवाद करके इसका नाम रखा था औपचारिक दृश्य (आब्लिगेटरी सीन)। सन् १८७३ में एमील ज़ोला ने फ्रान्स में नाटकीय स्वा-भाविकता या प्रकृतिवाद का प्रवर्तन किया। व्यवसायी आलोचक जीव जूलियन ने उसका समर्थन करते हुए कहा कि वास्तविक जीवन, मनोवैज्ञानिक विवेचन, विस्तृत सूक्ष्म विश्लेषण तथा मनुष्य की पाशविक प्रवृत्तियों के प्रदर्शन से युक्त स्वाभाविक

नाट्य-कौशल से नाटक रचे जाने चाहिए जो सुरक्षित नाटक की जटिलताओं और रचना-कौशलों से मुक्त हों। अपनी नाट्यशाला के असफल हो जाने पर नाट्य-प्रयोक्ता भी समीक्षक बन बैठा, किन्तु उसने अति-प्रकृतिवाद को थोड़ा शिथिल कर दिया। जर्मनी में जिस विद्वत्तापूर्ण स्वैरवादी प्रवृत्ति का प्रतिनिधित्व गुस्ताव फ्रेटाग कर रहा था उसके विरुद्ध ड्र्चे नाम की साहित्यिक गोष्ठी ने बर्लिन और म्यूनिख में केवल आन्दोलन ही नहीं किया, वरन् रंगमंच पर स्वयं प्रत्यक्ष प्रयोग करके भी दिखलाये। आडरो ब्राह्मा ने पहला प्रकृतिवादी रंगमंच जर्मनी में स्थापित किया जिसमें उसने अभिनय, नाट्य-निर्देश और नाटक पर अपनी आलोचना के सिद्धान्तों का प्रयोग किया। उधर स्केन्डेनेविया में इब्सन, स्ट्रिंडबर्ग और ब्योर्नसन ने नाटकीय समीक्षा प्रारम्भ की जिसे तत्कालीन प्रसिद्ध उदार समीक्षावादी गेओर्ग ब्राण्डिस का प्रबल समर्थन मिला हुआ था। रूस में भी उदार समीक्षकों ने प्रकृतिवाद का ही समर्थन किया जिसका प्रवर्तन और जिसकी अभिव्यक्ति मास्को आर्ट थिएटर के संस्थापक स्तानिसलवस्की और दन्तशेन्को द्वारा हुई, जिन्होंने अभिनय, दृश्य-विधान और नाट्य-निर्देश पर भी विशेष ध्यान दिया और तथ्यवादी आलोचना भी लिखी।

अमेरिका में यह तथ्यवाद बहुत धीरे और बहुत पीछे पहुँचा जहाँ हैनरी जेम्स और विलियम डीन हौनेल्स ने इसका थोड़ा-थोड़ा समर्थन किया। किन्तु विलियम विन्टर ने उसकी कसकर मर्त्सना की। वह विक्टोरिया-युग का नीतिवादी था इसलिए उसने इ सन का बड़ा विरोध किया। दूसरी ओर ब्राण्डेर मेथ्यूज़, क्लेटन हेमिल्टन केवल विचारों के बदले नाटकीय प्रभाव को अधिक महत्त्व देते थे। बीसवीं शताब्दी के प्रथम दशकों में जॉर्ज जीन नैथन और लुडविग ल्युइसोहन ने उस स्वाभाविकता-वाद का स्वागत किया जो हाउप्टमान और ओनील के प्रारम्भिक नाटकों में प्रकट हुआ था। इंग्लैण्ड में इब्सन का प्रबल समर्थन बर्नर्ड शा ने किया जिसने स्वैरवाद को बड़ी खरी-खोटी सुनायी। उसने मिथ्या प्रशंसकों (बार्डोलिटर्स) को कोसते हुए कहा कि शेक्सपियर के नाटकों को रंगशाला में काम करने वाले की दृष्टि से जाँचना चाहिए। वह 'कलार्थ कला' का भी पोषक था अर्थात् वह सामाजिक दृष्टि से संगत और प्रभावशील नाटक का पक्षपाती था। उसने विभिन्न पत्रों में जो नाट्य-समीक्षाएँ लिखीं, उन्होंने नाटकीय समीक्षा के क्षेत्र में नया मानदण्ड ही स्थापित कर दिया। विलियम आर्चर, जे० टी० ग्रीन, नाटककार सर आर्थर विनपनरो और हेनरी आर्थर जोन्स ने अत्यन्त समीक्षावादी शक्ति से तथ्यवाद को प्रदीप्त किया। ये लोग बर्नर्ड शा की अपेक्षा अधिक उदार थे इसलिए इनका प्रभाव भी शा की अपेक्षा अधिक रहा। ए० बी० वाक्ले, क्लीमेन्ट, स्कैट और मेक्स वीरवोहन ने अपनी शिष्ट तथा तर्कपूर्ण शब्दावली में नाटकों

की समीक्षा प्रारम्भ की। प्रभाववादिता के साथ उदार मानदण्ड स्थापित करने की यही प्रवृत्ति आजकल इंग्लैण्ड में प्रचलित समीक्षा-पद्धति है। यद्यपि ब्रिटेन की समीक्षा में उदारवादिता है किन्तु शा का प्रशंसक होते हुए भी नाटककार समीक्षक सेन्ट इरविन क्रान्तिकारी नाटक तथा सिद्धान्त दोनों का विरोधी है। उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम दशक में प्रकृतिवाद की अतिरेकताओं और बन्धनों के विद्रोहस्वरूप तथा वर्तमान नाटकों में बहुत कुछ अति साधारण अनपढ़ शैली की भरती ने एक नव-स्वैरवादी या प्रतीकात्मक समीक्षा को जन्म दिया। इस सिद्धान्त को कुछ तो रिचार्ड वैगनर के नाट्य-सिद्धान्तों से समर्थन मिला और कुछ फ्रान्स की प्रतीकात्मक कविता से। उसके सर्वश्रेष्ठ प्रवर्तक कुछ तो मैटरलिंक जैसे नाटककार थे जिन्होंने स्थिर, अचंचल, गम्भीर नाटकों का आदर्श स्थापित किया और कुछ यीट्स के जैसे लोग थे जिन्होंने रंगमंच पर कविता लाने का प्रयत्न किया। इनके अतिरिक्त सिब्ज, एशले, ड्यूक्स, सोलोगुब, एवर्शनोव आदि तथा दृश्य-विधायक गोर्डन क्रेग, अडोल्फी अप्पिया जैसे व्यक्ति थे, जिन्होंने कला-रंगशाला आन्दोलन (आर्ट थिएटर मूवमेन्ट) को अनुप्राणित किया। अलार्डिस निलक अभी तक भी आध्यात्मिक और काव्यात्मक नाटक के पक्षपाती हैं। इटली में पिरान्देलोवियारेली और सान सेकन्दो जैसे लोग अत्यलंकृत शैली के समर्थक थे। जर्मन अभिव्यंजनावाद के समर्थक भी इसी प्रकृतिवाद विरोधी दल में गिने जा सकते हैं।

तथ्यवादियों और तथ्यवाद-विरोधियों के विभिन्न पक्ष स्पष्ट करते हुए एलेक्ज़ेण्डर वाक्शी ने रंगशाला के दो भेद माने हैं—१—प्रकृतिवादी (रिप्रेज़ैन्टेशनल) अर्थात् अधिक यथार्थतापूर्ण तथा भ्रान्तिपूर्ण (इल्यूज़निस्टिक), २—आदर्श (प्रेज़ैन्टेशनल) अर्थात् वास्तविकतायुक्त, अभ्रान्तियुक्त, विशिष्ट शैलीयुक्त तथा नियमसिद्ध। आज के समीक्षक भी नाटक की भावना और उद्देश्य के अनुसार दोनों शैलियों को ठीक समझते हैं। कम से कम आदर्श की समीक्षा में तो यह बात ठीक ही है, जहाँ उदार-वादी और प्रभाववादी समीक्षकों की ही प्रधानता है। इन लोगों की समीक्षा-पद्धति के विरोध में सन् १९३० में एक वामपक्षीय समीक्षा-पद्धति चली जिसके आचार्य थे अनिता ब्लॉक, जॉन हौवर्ड, लासम, इलियानोर फ्लेक्सनोर। जॉन गैसनर ने मध्यम मार्ग ग्रहण किया जिसने राजनीतिक परीक्षण का विरोध करके रंग-कौशल तथा सार्वभौमता को आवश्यक बताया। साथ ही वह यह भी मानता है कि रंगशाला को सामाजिक बना देना चाहिए। सोवियत रूस की नाटकीय समीक्षा शुद्ध रूप से मार्क्सवादी है, यद्यपि अपने लेखों और छोटे भाषणों में मैक्सिम गोर्की ने नाटक को मानवित करने की भी प्रेरणा दी है। नात्सीवाद प्रारम्भ होने से ठीक पहले जर्मनी

में आल्फ्रड कर के लेखों में सुन्दर भौतिक उदारतावाद मिलता है और जूलियस बॉब तथा कुर्ट पिन्थस के लेखों में सामाजिक लोकतंत्रात्मक समीक्षा प्राप्त होती है।

वर्तमान नाटकीय नाट्य-समीक्षा की मुख्य प्रवृत्ति यह है कि रंगशाला का इस दृष्टि से गम्भीर परीक्षण किया जाय कि उसमें अनेक कलाओं का संयोजन किस प्रकार किया गया है, अनेक शैलियों को ग्रहण करके उन सम्भावनाओं की खोज करनी चाहिए जिनमें हम रंगशाला को अपने समय के जीवन के लिए उपयुक्त और संगत बना सकें। आजकल समाचार-पत्र और रेडियो वालों का बोलबाला है इसलिए ये लोग जैसा चाहें वैसा नाटक को बना-बिगाड़ लेते हैं, यद्यपि यह प्रयत्न किया गया है कि इन लोगों पर थोड़ा अंकुश रहे। रूस में यह नीति बना ली गयी है कि तब तक किसी नाटक की समीक्षा नहीं छापी जाती, जब तक वह थोड़े दिन चल न ले। इसके अतिरिक्त नाटक प्रारम्भ करने से पहले ऐसे समालोचकों को बुलाकर उनसे परामर्श भी कर लिया जाता है।

नाटक की अभिनव भावना

देनी दिदरो नामक फ्रांस के प्रसिद्ध नाटककार, आलोचक, दार्शनिक और सम्पादक ने एक नये प्रकार की अभिनेय रचना 'द्रामे' का प्रवर्तन किया। उसका कहना था कि इस नाटक का उद्देश्य शिक्षा देना तथा गुणों के प्रति प्रेम और दुर्गुणों के प्रति घृणा उत्पन्न करना है। वह चाहता था कि नाटक द्वारा सामाजिक और दार्शनिक विवेचन हो, यह दार्शनिक प्रचार का साधन बने, विश्वविद्या-प्रसारकों के भावों को प्रचारित करने का साधन बने और इस प्रकार स्वाभाविकता और विवेक के आधार पर नया समाज स्थापित करने में सहायक हो। इसी लिए उसने अपने नाटकों में व्यक्तियों को चित्रित करने के बदले जीविका-वृत्तियों (प्रोफ़ेशन) को स्थान दिया है। उसका कहना है कि नाटककार को साधारण मनुष्य की अपेक्षा सामाजिक मनुष्य को अधिक ध्यान में रखना चाहिए और जैसे फ्रांस के त्रासदों में चरित्र के प्रकार (टाइप्स ऑफ़ कैरेक्टर्स) चित्रित किये जाते हैं वैसे ही व्यवसाय के प्रकार को चित्रित करना चाहिए। वह चाहता था कि भावों और आवेगों की सीधी अभिव्यक्ति हो, अर्थात् आवेगात्मक भाषणों का स्वाभाविक अक्खड़पन और उजड्डपन ज्यों का त्यों रखा जाय, लम्बे भाषण छोटे कर दिये जायँ, अधिक अभिव्यंजक भाव, सामहिक अभिनय और स्थिर दृश्य (टेबलो) या मूकाभिनय (पेन्टोमीम) के समान पात्रों के समूह को चित्रमय रूप में उपस्थित करने की अधिक योजना हो। दिदरो ने दश्य-विधान, रंगनिर्देश, दृश्य-सज्जा और अभिनय के सम्बन्ध में जो विस्तार से

विचार किया उसके कारण नाटक की भावना ही बदल गयी। उसने बताया है कि नाटक पढ़ने की वस्तु नहीं है, रंगमंच पर खेलने की है।

अभिनीत नाटक की समीक्षा

किसी नाटक का प्रयोग और उस नाटक का पढ़ना, दो अलग वस्तुएँ हैं। जब हम किसी प्रयोग किये हुए नाटक पर विचार करते हैं तब हम विशेष कार्य की समीक्षा करते हैं, जिसमें नाट्य-निर्देश, अभिनय, दृश्य-विधान, वेश-भूषा, रंग-प्रदीपन तथा नाटक के अन्य तत्त्व मिलकर एक सम्मिलित प्रभाव उत्पन्न करते हैं। विलियम आर्चर ने गम्भीर नाटक की समीक्षा के लिए यह सिद्धान्त बताया कि नाटक के समीक्षक को तीन प्रश्नों का उत्तर देना चाहिए—१. क्या उस नाटक ने रूढि-परिवर्तन अथवा भद्दे अनुकरण से पूर्णत: मुक्त होकर जीवन के दृश्य और श्रव्य रूपक का शुद्ध अनु-करण या प्रतिरूप उपस्थित किया है? २. क्या कथा इस प्रकार विकसित हुई और चरित्र इस प्रकार उपस्थित किये गये हैं कि वे रंगमंच के पूरे साधनों का श्रेष्ठतम उप-योग करके जनता के हृदय में अत्यन्त प्रभावशाली रूप में रुचि, आशा, आकस्मिक और प्रत्यक्ष अनुभूति के ऐसे भाव उत्पन्न कर सके हैं जो नाटक द्वारा अवश्य उत्पन्न होने ही चाहिए? ३. ऐसा तो नहीं है कि नाटक में कहा कुछ जा रहा हो और अर्थ कुछ हो। जो कुछ कहा जा रहा है, क्या वह आचार और विचार की दष्टि से व्याव-हारिक है? नाटक में विनोद मात्र ही है या उससे हमें कुछ अनुभव भी मिलता है? अर्थात् हमें यह देखना चाहिए कि उस नाटक को देखकर हमारे ज्ञान और सदाचार में कुछ वृद्धि हुई है या नहीं?

कुछ लोगों का कहना है कि कुछ नाटक तो विशेष रूप से मनोविनोद करते हुए ज्ञान तथा सदाचार भी प्रदान करते हैं और कुछ ऐसे हैं जो केवल मनोविनोद ही करते हैं। सबका अलग-अलग स्तर या परिधि होती है। इस प्रकार प्रत्येक नाटक को उसकी विशेषता के साथ समझना और परखना चाहिए।

नाटकीय आलोचक

अत्यन्त अनुभवी और नाट्यशास्त्र के सब अंगों के पंडित लुई जुए ने बताया है कि साहित्यिक और नाटकीय आलोचना में बड़ा अन्तर है। नाटक की आलोचना का सम्बन्ध सजीव वस्तु से है। वह ऐसा सावयव पदार्थ है जो केवल एक कला से ही नहीं वरन् अनेक कलाओं के उस समन्वय से संबद्ध है जिसमें संगीत, गीत, दृश्य-कलाएँ (चित्रकला आदि), नृत्य और अभिनय सभी कुछ हैं। लिखा हुआ नाटक तो नाट्य

के जटिल स्वरूप का एक छोटा सा अंग है और वही ऐसी सामग्री है जिसकी साहित्यिक समीक्षा हो सकती है। वह महत्त्व का भाग अर्थात् नाटक का ढाँचा तो होता है, फिर भी पूर्ण नाट्य नहीं होता। इसलिए वास्तविक नाट्य-समीक्षक को अभिनय या नाट्यशाला का समीक्षक कहना चाहिए, क्योंकि उसकी समीक्षा की श्रेष्ठता इसी में है कि वह श्रेष्ठ नाट्य-प्रयोग को समझे और उसका गुण परखे। उसमें रंगमंच-वृत्ति (थिएट्रिकल सेन्स) की भावना वैसी ही होनी चाहिए जैसे मूर्तिकार में रूप की, चित्रकार में रंग की और संगीतकार में श्रुति की होती है, क्योंकि जब तक उसमें यह भावना न होगी तब तक न तो वह नाटक को ठीक परख सकता है, न इस जटिल कला के ठीक रूप की समीक्षा ही कर सकता है। उसका काम दुहरा हो जाता है। उसे जानना चाहिए कि (१) क्या श्रेष्ठ है या उसमें क्या गुण है? वह भी केवल इसलिए नहीं कि वह उसे अच्छा लगता है वरन् इसलिए कि उसका मस्तिष्क, उसका अनुभव, उसकी शिक्षा उसे इस योग्य बना देती है कि वह निर्णय कर सके कि इसमें जितने कलाकारों का समन्वय हुआ है उनके उद्देश्य क्या थे तथा कितनी पूर्णता और सहयोगिता के साथ उन्होंने अपना उद्देश्य सिद्ध किया है? (२) यह बात कहाँ तक कला के उद्देश्यों को पूर्ण करती है? क्या वह कला की सीमाओं का विस्तार करती है, उसकी परिधि को बढ़ाती है और अनुभव तथा प्रयोग के लिए नये मार्ग खोलती है? (३) जो नाटक प्रस्तुत किया गया है उसमें कौन सा तत्त्व ऐसा है जिसका उद्देश्य अत्यन्त सुखकर रूप से सिद्ध हुआ है? लिखे हुए नाटक से निकाल देने योग्य वे कौन कौन से गुण हैं जो शिक्षा ठीक न दी जाने के कारण या भद्दे अभिनय के दुर्गुणों से दब गये हैं? (४) किसी मौलिक कलाकार ने किसी चलते से दृश्य को किस प्रकार शील और अर्थ प्रदान किया? यह सब करने के लिए उसे स्पष्टतः रंगमंच के साधारण अनुभव के अतिरिक्त और भी बहुत कुछ जानना चाहिए। क—उसे रंगमंच के इतिहास की पृष्ठभूमि का अर्थात् उन सभी धाराओं का ज्ञान होना चाहिए जिन्होंने विभिन्न युगों की करोड़ों भावनाओं, आचार-विचारों, अभ्यासों, रूढियों, विश्वासों और स्वप्नों को बहाला कर आज के रंगमंच तक ला पहुँचाया है। ख—उसे रंगमंच की प्रयोग-समस्याओं का भी परिज्ञान होना चाहिए कि उसमें कितना श्रम लगता है? उसके श्रमिकों की क्या समस्याएँ हैं? रंगमंच कैसे बनता है? कितने भागों में उसका कार्य होता है, नाटक का चुनाव, अभिनेताओं का चुनाव, उनकी शिक्षा, रंगमंच का निर्णय, वेश-भूषा तथा मुखराग, रंगदीपन, प्रेक्षागृह, जनता को एकत्र करने के लिए विज्ञापन, बैठाने की सुविधा आदि कार्य किस प्रकार होते हैं। ग—उसे यह भी ज्ञान होना चाहिए कि नाटक में कौन सी ऐसी बात आवश्यक है जो

जनता को मंत्रमुग्ध और तन्मय किये रह सकती है, अर्थात् उसे लोगों की मनोवृत्ति, उनकी आवश्यकता, उनकी रुचि और प्रवृत्ति का ज्ञान होना चाहिए और उसके साथ यह भी जानना चाहिए कि ये दर्शक कहाँ से आ रहे हैं अर्थात् ये गाँव के हैं या नगर के और यदि नगर के भी हैं तो किस वृत्ति और संस्कार के हैं। यह सब उसे जानना तो चाहिए किन्तु जैसे ही वह नाटकीय प्रयोग की पहली रात्रि को परदे के सामने बैठे वैसे ही उसे यह सब भूल जाना चाहिए और उसी उत्सुकता के साथ उस रहस्य-भरे परदे की ओर देखना चाहिए जैसे एक प्रेमी अपनी प्रेमिका के लिए प्रतीक्षा करता हुआ उत्सुकता, आशा और प्रसन्नता से गद्गद और उत्कंठित हुआ रहता है।

ज्यों ही नाटक समाप्त हुआ कि समीक्षा का कार्य झट से उपस्थित हुआ। कभी-कभी तो समीक्षक से यह आशा की जाती है कि नाटक समाप्त होने से कुछ ही घण्टों के भीतर उसकी समीक्षा पत्रों में प्रकाशित हो जाय। इस प्रकार पत्रकारिता ने समीक्षा के क्षेत्र पर आधिपत्य जमा लिया है और इस कारण बेचारा समीक्षक भी साधारण संवाददाता या पुस्तक-समीक्षक के समान बन गया है। उससे समीक्षा, सत्य शंसन और निर्णयात्मक समीक्षा का कार्य ही छीन लिया गया है। सच्चा समीक्षक चाहे अपने पास प्रतिलिपि करने वालों को बैठाकर लिखवाये अथवा एक सप्ताह या महीने में जमकर लिखे, किन्तु उसका कार्य यही होना चाहिए जैसा जॉन मेसन ब्राउन ने कहा है कि उसको ध्वज-वाहक या मार्ग-दर्शक के समान कार्य करना चाहिए। जहाँ डण्डे की आवश्यकता हो वहाँ उसे डण्डा भी चलाना चाहिए। किन्तु उसका मुख्य कार्य यही होना चाहिए कि वह सब कलाकारों के सर्वश्रेष्ठ प्रयत्नों के सम्मिलित प्रभाव की ही समीक्षा करे, अर्थात् अदृश्य प्रकाश डालने वाले कलाकार से लेकर उस अभिनेता तक का उसे ध्यान रखना चाहिए जिस पर प्रकाश पड़ता है। किन्तु उसका सबसे बड़ा उत्तरदायित्व तो यह है कि वह उन आगे आने वाले प्रतिभाशाली नाट्य-कलाकारों के लिए मार्ग-दर्शक और अग्रदूत का कार्य करे जो रंगमंच के लिए अपना जीवन देने वाले हैं।

नाट्य-समीक्षण

नाटक की समीक्षा हमें दो दृष्टियों से करनी चाहिए—१. नाट्य-रचना और २. नाट्य-प्रयोग। रचना की समीक्षा में हमें इन प्रश्नों का उत्तर देना चाहिए—(१) नाटककार ने किस उद्देश्य से नाटक की रचना की है, (२) उस उद्देश्य की पूर्ति के लिए नाटककार ने किस प्रकार के कितने पात्रों और घटनाओं का समावेश किया है, (३) किस प्रकार नाटककार ने घटनाओं और पात्रों के संयोजन में कुतू-

हल का निर्वाह करते हुए पात्रों और घटनाओं का सामंजस्य स्थापित किया है। (४) कितने पात्रों का प्रयोग किया गया है? उनमें से कितने ऐसे हैं जिनका संयोजन अनिवार्य है। (५) कितने पात्र ऐसे हैं जिनके बिना भी नाट्य-व्यापार सरलता और सुचारु रूप से संचालित किया जा सकता था? (६) कितनी घटनाएँ ऐसी हैं जो पात्रों के चरित्र-विकास और कथा-प्रवाह के संवर्धन की दृष्टि से उचित और अपरिहार्य थीं। (७) उनमें से कितनी घटनाएँ अनावश्यक, असम्भव और अस्वाभाविक हैं और कितनी घटनाएँ सम्भव, स्वाभाविक और आवश्यक हैं? (८) नाटककार ने जो परिणाम निकाला है वह उसके उद्देश्य की दृष्टि से कहाँ तक संगत है? (९) उस घटना के परिणाम को किसी दूसरे रूप में प्रस्तुत करने से उस उद्देश्य की सिद्धि हो सकती थी या नहीं? (१०) स्वाभाविक होते हुए भी वह परिणाम कहाँ तक वांछनीय और घटनाओं के प्रवाह के अनुकल है?

विभिन्न पात्रों के लिए प्रस्तुत की हुई भापा-शैली का भली भाँति परीक्षण करते हुए नाट्य-समीक्षक को देखना चाहिए कि (१) विभिन्न श्रेणी के पात्र किस भाषा का प्रयोग करते हैं, वह उक्त श्रेणी के पात्र की मर्यादा के अनकूल है या नहीं? (२) भाषा के प्रयोग में सम्भावना और आवश्यकता के साथ-साथ स्वाभाविकता तथा औचित्य का विचार भी किया गया है या नहीं? (औचित्य का तात्पर्य यह है कि संवादों में परस्पर जोड़-तोड़, उत्तर-प्रत्युत्तर की संगति और क्रम ठीक है या नहीं?) (३) उसका कितना अंश कथा-प्रवाह को आगे बढ़ाने तथा पात्रों का चरित्र स्पष्ट करने के लिए आवश्यक है? (४) कितना भाग ऐसा है जिसे निकाल देने से नाटक के सौन्दर्य और कथा-प्रवाह में किसी प्रकार की कोई त्रुटि उपस्थित नहीं होगी? (५) उस संवाद को सुनकर सामाजिक या दर्शक उसे सरलता से समझकर भली भाँति उसका रस ले पायेंगे या नहीं, अर्थात् उसमें रस-विनोद, जोड़-तोड़ के प्रत्युत्तर, प्रत्युत्पन्न-मतिपूर्ण उक्तियाँ हैं या नहीं जिन्हें सुनते ही दर्शक या सामाजिक तदनुकूल प्रभाव से रस-मग्न हो जायँ? वास्तविक संवाद ही नाटक की प्राण-शक्ति होती है। अभिनेताओं को अभिनय करने में और दर्शकों को नाट्य का वास्तविक आनन्द लेने में सबसे अधिक सहायता संवाद से ही मिलती है। अतः संवाद का परीक्षण इस दृष्टि से नहीं करना चाहिए कि नाटककार ने इसमें काव्य कितना भरा है, वरन् इस दृष्टि से करना चाहिए कि नाटककार ने जिस उद्देश्य से नाटक लिखा है उस उद्देश्य की पूर्ति के निमित्त अभिनेताओं के सहयोग से वह जो विशेष प्रभाव उत्पन्न करना चाहता है उसकी सम्भावनाएँ संवाद में हैं या नहीं। इस दृष्टि से परीक्षण किया जाय तो प्रतीत होगा कि काव्य-कला की दृष्टि से जो संवाद अत्यन्त भावपूर्ण और सरस प्रतीत

होते हैं वे नाट्य-प्रयोग की दृष्टि से अत्यन्त नीरस और प्रभावहीन हो जाते हैं। इसके अतिरिक्त यह भी देखना चाहिए कि गीत, नृत्य और वाद्य आदि का संयोजन कहाँ तक उचित, उपयुक्त और आवश्यक हुआ है?

प्रयोग-दृष्टि से भी नाटक की परीक्षा करनी चाहिए और यह देखना चाहिए कि (१) नाटककार ने दृश्य-विधान इस क्रम से रखा है या नहीं कि निर्बाध रूप से नाट्य-प्रयोक्ता उन दृश्यों का सरलता से विधान कर सके और उस उद्देश्य-क्रम से नाटक की कथा-धारा का क्रम ठीक बनाये रखे। (२) नाटककार ने जो रंगनिर्देश दिये हैं वे असम्भव, अयोजनीय, अस्वाभाविक और अप्रयुक्त तो नहीं हैं। प्रायः नाटककार या तो रंग-निर्देश देने में अत्यन्त संकोची होते हैं या इतने उदार होते हैं कि वे कई पृष्ठ रंग-निर्देश में रँग डालते हैं। (३) रंग-निर्देश में रंग-व्यवस्थापक को दृश्य-सज्जा के लिए, नेपथ्य-विधायक को वेश और रूप-सज्जा के लिए, प्रकाश-विधायक को रंगदीपन के लिए तथा अभिनेता को अभिनय के लिए स्पष्ट, उचित और आवश्यक निर्देश मिले हैं या नहीं? (४) नाटककार ने अभिनेता के वाचिक, आंगिक और सात्त्विक अभिनय के लिए पर्याप्त संभावनाएँ उपस्थित की हैं या नहीं? अर्थात् संवादों में उसने इतनी गति भरी है या नहीं कि अभिनेता उसके अनुसार अभिनय करते समय अपना सम्पूर्ण अभिनयकौशल प्रदर्शित करके उचित नाटकीय प्रभाव उत्पन्न कर सके, अर्थात् नाटककार ने व्यापार-योजना, क्रिया-योजना इतनी पर्याप्त रखी है या नहीं कि अभिनेता उनका अनुसरण करके नाटककार द्वारा उद्दिष्ट प्रभाव उत्पन्न कर सके। प्रायः आजकल ऐसी प्रवृत्ति बन गयी है कि जब हम किसी बड़े लेखक की कृति का समीक्षण करने बैठते हैं तब उस लेखक की महत्कीर्ति का आतंक हमें तत्काल दबा बैठता है और हम समीक्षण करते-करते बलपूर्वक उसके दोषों को भी गुण बनाने के लिए बाध्य हो जाते हैं। (५) समीक्षक को इस प्रकार के दृष्ट आतंक से सदा बचे रहना चाहिए और उसे निष्पक्ष होकर यह देखना चाहिए कि वह जिन दर्शकों के लिए लिखा गया है उनकी समझ में आ सकेगा या नहीं? (६) उसका संविधान या कथा-क्रम ऐसा तो नहीं उलझा दिया गया है कि कथा समझने में ही दर्शकों को कठिनाई हो? (७) दृश्य-विधान इतना अव्यवस्थित, असम्भव और दुरूह तो नहीं है कि नाट्य-प्रयोक्ता उसे प्रस्तुत ही न कर सके? (८) उसका पात्र-विधान इतना जटिल तो नहीं है कि नाट्य-प्रयोक्ता को वैसे पात्र ही न मिल सकें? (९) उसका संवाद-विधान ऐसा कठिन तो नहीं है कि अभिनेता उसमें अभिनय की सम्भावनाएँ ही न पा सके? (१०) संवाद इतना पाण्डित्यपूर्ण तो नहीं है कि दर्शक तो दूर, स्वयं अभिनेता ही उसका अर्थ न समझ

पाये ? (११) वह जिस प्रकार के रंगमंच के लिए लिखा गया है उसके लिए कहाँ तक उपयुक्त है ? दर्शकों पर उसका क्या मनोवैज्ञानिक या सांस्कृतिक प्रभाव पड़ा है और वह कहाँ तक सफल हो पाया है ? (१२) उससे कोई अनैतिक या असामाजिक प्रभाव तो नहीं पड़ता है ?

इतने प्रश्नों का उत्तर देने पर ही नाट्य-समीक्षा पूर्ण होती है।